प्राच्य धर्म और पाश्चात्य विचार

डॉ॰ सर्वपल्लि राधाकृष्णन्

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

प्रोफेसर जे० एच० म्यूरहेड
को

प्राक्कथन

आधुनिक सभ्यता, जिसकी विशेषताए हैं वैज्ञानिक स्वभाव, मानववादी भावना और जीवन के प्रति पार्थिव तथा धर्मनिरपेक्ष दृष्टिकोण, ससार-भर मे सदियो पुराने रीति-रिवाजो को उखाड फेंक रही है और सर्वत्र अशान्ति एव विक्षोभ उत्पन्न कर रही है। नया ससार आवश्यकताओ, आवेगो, महत्त्वाकाक्षाओ और क्रियाकलापो का ऐसा गडवडझाला वनकर नही रह सकता जिसपर आत्मा का कोई निर्देशन या नियत्रण न हो। त्यक्त अधविश्वासो और उन्मूलित विश्वासो के कारण जो रिक्तता उत्पन्न हो गई है, उसको आध्यात्मिकता से भर देना आवश्यक हो गया है।

आज ससार एक इकाई वन गया है। परन्तु, भौतिक एकता और आर्थिक अन्योन्याश्रय एक सार्वभौमिक मानव-समाज का निर्माण करने मे स्वयमेव समर्थ नही हैं। इसके लिए आवश्यक हैं समाज की मानवीय चेतना और सभी मनुष्यो मे परस्पर वैयक्तिक सम्वन्ध-भावनाए। यद्यपि हाल तक यह मानवीय चेतना राजनीतिक राज्यो के सदस्यो तक ही सीमित थी, तथापि युद्धोपरान्त इस चेतना का तेजी से प्रसार हो रहा है। सभी मनुष्यो मे प्रचलित रीति और रिवाज सभी मनुष्यो की चेतना के अग हो गए हैं। मनुष्य आज मनुष्य का दर्शक वन गया है। क्षितिज पर एक नये मानववाद का उदय हो रहा है। परन्तु, इस वार इसकी व्याप्ति मे सारी मानव-जाति आ जाती है। लोगो के वीच आपस मे घनिष्ठ जानकारी वढ रही है और इससे विश्व-चेतना मे अभिवृद्धि हो रही है। विश्व-समाज की सदस्यता से अव हम नही वच सकते, उससे वच निकलने की वात उतनी ही अकल्पनीय है जितनी अपनी त्वचा के वाहर हमारे कूद निकलने की। तो भी, हमे यह देखकर हताश होना पडता है कि ससार मे अराजकता का दौरदौरा है और वह वेलगाम हो रहा है। उसका मन भ्रमित है और उसके मस्तिष्क की चूल उखड गई है, वह अस्त-व्यस्त है। आज ससार मे जितनी फूट है और जितनी भीषण वुराइयो से वह पीडित है उतना वह पहले कभी नही था। वर्तमान क्षोभ और अव्यवस्था का कारण है जीवन की प्रक्रिया के, जो अधिकाधिक वढनेवाले परस्परावलम्वन की है, और जीवन की 'विचार-पद्धति', मन की प्रवृत्तियो के समाकलन, निष्ठाओ और हमारे विधि-नियमो एव सस्थाओ मे प्रतिमूर्त्त अनुरागो के वीच सामजस्य का अभाव। शिक्षा का उद्देश्य हमे केवल विभिन्न कलाओ मे प्रवीण वनाना और विविध शिल्प-प्रविधियो मे दक्ष करना ही नहीं है, वरन् उसका उद्देश्य हमारे भीतर जीवनादर्शो और निष्ठाओ के प्रति अनुराग जगाना भी है, यही नही, वह स्नेह और समादर की प्रवृत्तियो को भी हमारे भीतर स्फुरित करती है, किन्तु आज उसी

शिक्षा का कार्यक्षेत्र कितना सीमित कर दिया गया है! वह इस नये ससार मे राष्ट्रीय प्रभुसत्ताओ का समर्थन करने, उनका औचित्य सिद्ध करने तथा आर्थिक आत्मनिर्भरता का राग अलापने मे ही व्यस्त है। ससार आज जिस रूप मे सगठित है, उसकी सगति न तो सुदूर क्षितिज पर चमकती हुई समय की मनस्विता से बैठती है, न धर्म की सच्ची भावना से। जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर केवल एक है, तो इसका अर्थ यह स्पष्ट करना भी होता है कि समस्त मानव-जाति का केवल एक समाज है, एक सगठन है। मानव-समाज के सगठन को अन्तर्राष्ट्रीय बिरादरी के रूप मे परिणत होने देने मे मुख्य बाधक उन लोगो के मन-मस्तिष्क हैं, जिनमे एक-दूसरे के प्रति पाई जानेवाली कर्त्तव्य-भावना अभी विकसित नही हो पाई है। हमको मानव-जाति की आत्मा को स्पर्श करना है, क्योकि आत्मा ही रूप को रूप और देह को देह बनाती है। हमे अपने लिए ऐसे आदर्शो, प्रवृत्तियो और भावनाओ का सस्कार करना है जो हमको एक विश्व-समाज का निर्माण करने और इस आस्था के लिए काम करनेवाले राष्ट्रमण्डल-सहकार मे रहने के योग्य बना सकें कि "जब तक एक मनुष्य भी बन्दीगृह मे है, मैं मुक्त नही हू, जब तक एक समाज भी दासत्व की शृ खला मे जकडा है तब तक मैं अपने को भी उसीका एक सदस्य मानता हू।"

हमारी पीढी के सामने जो सबसे बडा काम है, वह है बढती हुई विश्व-चेतना को एक आत्मा प्रदान करना, ऐसे आदर्शो और ऐसी सस्थाओ का विकास करना जो विश्व की आत्मा को रचनात्मक अभिव्यक्ति दे सकें, और इन निष्ठाओ तथा भावावेगो को भावी पीढियो तक सप्रेषित करना तथा उन्हे विश्व-नागरिक के रूप मे प्रशिक्षित करना। जीवनचर्या के एक नये स्वरूप का निर्माण एक महान कार्य है। इसके सदर्भ मे पौर्वात्य धर्मों, विशेषत हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म के कतिपय आधारभूत तत्त्वज्ञानो एव अतर्दृष्टियो का बहुत महत्त्व है, इसलिए इन व्याख्यानो मे उनकी ओर सकेत करने का प्रयत्न किया गया है। किसी भी सस्कृति और किसी भी देश को यह अधिकार नही है कि वह अपनी डेढ चावल की खिचडी अलग पकाए, केवल अपने लिए जीवित रहे। यदि मानवात्मा को समृद्ध और सम्पन्न बनाने मे वह कुछ योगदान करने की स्थिति मे हो, तो उसका यह कर्त्तव्य है कि अपनी उस देन को, अपने उस सदेश को वह यथाशक्ति ससार के अधिक से अधिक लोगो तक पहुचाए। प्राचीन यूनान, रोमन साम्राज्य और पुनर्जागरणकाल के इटली ने मानवीय प्रगति के लिए जो अशदान किया, जो देनें दी, उनका सम्बन्ध केवल आधुनिक यूनान या आधुनिक इटली के निवासियो से ही नही है। मानवता को प्राप्त उत्तराधिकार के वे एक अग बन गए है। मानसिक और आध्यात्मिक जीवन मे सकीर्ण मनोदशा का प्रदर्शन हमारे लिए हितकर नही होगा। कुछ भी हो, एक ऐसे समय मे जब नाना प्रकार के सगठनो और ससज्जनो का आतक हमारे ऊपर मडरा रहा है तब विश्व के मनीषियो द्वारा अर्जित तत्त्वज्ञान को एक स्थल पर जुटा देना, सघटित कर देना कोई अनुचित कार्य नही कहा जा सकेगा, उसका कुछ न कुछ औचित्य रहेगा ही।

जिन समस्याओ को मैं स्पर्श करने जा रहा हू, उनकी इयत्ता और कठिनाई

से मैं परिचित हू। मै कोई प्रशिक्षित धर्मशास्त्री नही हू, मै तो केवल दर्शनशास्त्र के उस विद्यार्थी के दृष्टिकोण से ही अपनी वात कह सकता हू जिसने ससार के प्रमुख धर्मो के उद्भव और विकास के सम्वन्ध मे जो आधुनिक छानवीन हुई है उसके साथ सम्पर्क रखने की चेष्टा की है, और मुझे तो यह लगता है कि विभिन्न धर्मो की रहस्यात्मक परम्पराओ मे एक उल्लेखनीय आत्मिक एकता विद्यमान है। चाहे जिस धर्म के वे अनुयायी हो, सभी रहस्यवादी, आध्यात्मिक दृष्टि से सगोत्र हैं, एक ही विरादरी के हैं। अपने ऐतिहासिक स्वरूपो मे विभिन्न धर्म जवकि हमे सीमित समूहो तक ही वाव रखते हैं और विश्व-समाज के प्रति निष्ठा के विकास का विरोध करते हैं, तव रहस्यवादियो ने सदा ही मानवता के वन्धुत्व का प्रतिपादन किया है। वे नामो के नाम पर किए जानेवाले अत्याचारो और धर्म-सप्रदायो की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता का अतिक्रमण करते हैं, साथ ही, प्रजातियो के सघर्षो और राष्ट्रो के कलहो से भी वे ऊपर उठे होते है। रहस्यवाद आत्मा का धर्म है, इसलिए वह किन्ही सिद्धान्तो या मान्यताओ का हठधर्मितापूर्वक खण्डन अथवा मण्डन करने की दो अतियो से दूर रहने की चेष्टा करता है। सभी लक्षणो से यही सकेत मिलता है कि रहस्यवाद (ब्रह्म-साक्षात्कारवाद) के ही भविष्य का धर्म होने की सम्भावना है।

मैं अनुभव करता हू कि जव मुझे सूचनाओ के लिए कम से कम आशिक रूप मे अनुवादो पर ही निर्भर रहना पडे, तव मेरा कोई पुस्तक लिखना कहा तक उचित होगा? परन्तु, मैंने सोचा कि एक ऐसे सुधी विद्वान की प्रतीक्षा मे वैठे रहने से कोई लाभ नही, जिसको सस्कृत, हिब्रू, ग्रीक, लेटिन, फ्रेंच, और जर्मन आदि भापाओ का सम्यक् एव आलोचनात्मक ज्ञान हो तथा जिसके लिए इन सभी भापाओ मे सग्रहीत तत्त्वज्ञान हस्तामलकवत् हो, क्योकि ऐसा कोई विद्वान अभी तक पैदा नही हुआ है। अनुवादो का भी सावधानी और विवेक से उपयोग किया जा सकता है। इसलिए मैंने अनुभव किया कि अव समय आ गया है कि किसी आदमी को जिसे कुछ ज्ञान हो, आगे आकर सभी धर्मो की मुख्य-मुख्य वातो को व्यवस्थित ढग से प्रस्तुत कर देना चाहिए। यहा मैं कह दू कि मैंने इस पुस्तक को लिखने मे एक इतिहासकार का तटस्थ दृष्टिकोण ही अपनाया है, इस या उस धर्म के पक्षपाती का नही। यदि मैंने किसी वास्तविक महत्त्व की वात को गलत ढग से पेश किया हो, तो मुझे निश्चय ही इसका गहरा दु ख होगा। जो लोग जानते है कि जिस काम मे मैंने हाथ लगाया है, वह कितना विशाल और जटिल है, वे नि संकोच मेरी कम गम्भीर भूलो को क्षमा कर देंगे।

ये व्याख्यान सन् १९३६–८ मे दिए गए थे। यद्यपि इनको प्रकाशनार्थ देते समय मैं इन्हे एक वार फिर दुहरा गया हू और यत्र-तत्र मैंने कुछ सशोधन और परिवर्द्धन भी कर दिए हैं, तथापि इनके अनौपचारिक रूप को वनाए रखा गया है। इस प्रकार की पुस्तक मे कुछ पुनरावृत्ति का होना अपरिहार्य-सा हो जाता है। मैंने इने वचाने का कोई गम्भीर प्रयास भी नही किया है, अशत इसलिए कि ऐसा करने से अलग-अलग व्याख्यानो की गठन विगड जाती और अशत. इसलिए भी कि यदि सामान्य सिद्धातो की भिन्न सदर्भो मे कुछ पुनरावृत्ति हो जाए, तो उसका भी अपने-आपमे कुछ

महत्त्व होता है। यह पुस्तक दर्शनशास्त्र के पेशेवर विद्यार्थी के लिए उतनी नही लिखी गई है जितनी जनता के उस बडे भाग के लिए, जो उच्चतर मानसिक अनुशीलनो तथा मानव-सस्कृति एव जीवनचर्या की समस्याओ मे रुचि रखता है। ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय पर लिखी गई पुस्तक मे जो सरचनात्मक पूर्णता होनी चाहिए, वह यद्यपि इस पुस्तक मे नही है, तथापि मुझे आशा है कि इसमे आपको दृष्टिकोण की एक ऐसी एकता अनुस्यूत मिलेगी जिसने पुस्तक के विभिन्न भागो को परस्पर सम्बद्ध कर दिया है।

क्लैरेण्डन प्रेस के व्यवस्थापको ने इस पुस्तक को प्रकाशित करने और उनके द्वारा पहले ही प्रकाशित सामग्री का इसमे उपयोग करने की अनुमति देने का जो अनुग्रह किया है, उसके लिए मैं उन्हे धन्यवाद देना चाहता हू। प्रेस के कर्मचारियो ने जिस ढग से इस पुस्तक को प्रकाशित किया है, उसके लिए वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। सर रिचर्ड लिविंग्स्टन ने कृपापूर्वक इस पुस्तक का प्रूफ-सशोधन किया है, तदर्थ मैं उनका ऋणी हू। अन्त मे मैं प्रोफेसर जे० एच० म्यूरहेड के प्रति, जिनको यह कृति समर्पित है, अपनी श्रद्धाजलि तथा कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हू। गत बीस वर्षों मे मैंने प्राय जो कुछ लिखा है, उसमे मुझे उनकी आलोचनात्मक मेधा और स्वच्छ विवेचना मे अव्यर्थ सहायता मिली है। फिर भी, न तो वे, न सर रिचर्ड लिविंग्स्टन इस पुस्तक मे सन्निहित विचारो के लिए उत्तरदायी हैं।

—सर्वेपल्लि राधाकृष्णन्

विषय-क्रम

पृष्ठ

संसार की अजात आत्मा[1]

इस प्राचीन विश्वविद्यालय ने प्राच्य धर्मों और नीतिशास्त्र से सम्बन्धित इस नवस्थापित आसन के लिए मुझे निर्वाचित करके मेरा जो सम्मान किया है, उसके प्रति यदि मुझे अपनी अनुभूतियो को भली प्रकार व्यक्त करना हो, तो मैं अपने उद्‌गारो को कुछ विस्तार से प्रकट करने का लोभ सवरण न कर पाऊगा और कदाचित् आपको वह रुचिकर न प्रतीत हो। अत 'धन्यवाद' जैसे सीधे-सादे शब्द से ही आपके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए मैं आपकी अनुमति चाहता हू।

छ वर्ष पूव मैंने इस विश्वविद्यालय मे कुछ महीने विताए थे। मैं तव इसके लिए एक अनजान व्यक्ति था, किन्तु इसके विषय मे मैं अनजान न था। आज मुझे ऐसे नर-नारियो की विरादरी मे सम्मिलित किया जा रहा है जो सत्य के महान आदर्श के प्रति अपनी निष्ठा और उसको मानवता के कल्याण के लिए व्यवहृत करने के अपने सकल्प मे ऐक्यवद्ध हैं। यह मेरा समादर है और मैं इसकी सराहना करता हू। जव मैं अपने सहकर्मियो के नामो पर दृष्टि डालता हू और उनकी विद्वत्ता एव पाण्डित्य का विचार करता हू, तव मुझे अपनी अल्पज्ञता का वोध होता है। ऐसी स्थिति मे मैं तो केवल उनके अनुग्रह का ही आग्रह कर सकता हू, जिसकी मुझे अत्यधिक आवश्यकता है।

[१]

अपने युग को समझने का प्रयत्न करना टेढी खीर है। कोई भी व्यक्ति अपने युग मे रहकर उसके विषय मे निर्लिप्त भाव से नही सोच सकता। फिर भी, एक विवेकशील प्राणी के नाते हम यह जिज्ञासा किए विना नही रह सकते कि यह आधुनिक जीवन अपनी समस्त क्रियाशीलता और त्वरित परिवर्तन-सहित क्या अर्थ रखता है, इस सवका तात्पर्य क्या है, क्योकि जैसा सुकरात ने वताया है, सव प्रकार के अनुसन्धानो मे सर्वोत्तम है यह अध्ययन कि मनुष्य को क्या होना चाहिए और क्या करना चाहिए।[2]

मानव-इतिहास आकारहीन या रूपहीन निरपेक्ष घटनाओ की शृ खला नही है; यह एक सार्थक प्रक्रिया है, एक महत्त्वपूर्ण विकास है। जो लोग इसको ऊपरी तौर से देखते हैं, वे युद्धो और महायुद्धो, आर्थिक अव्यवस्थाओ तथा राजनीतिक उत्क्रान्तियो के ही प्रवाह मे वह जाते हैं, किन्तु गहराई मे जाने पर सचमुच एक भव्य नाटक मिलेगा, मनुष्य के सीमित प्रयास और विश्व के महत्प्रयोजन के मध्य तनाव दृष्टिगोचर होगा। मनुष्य अनिश्चित विरोध की स्थिति मे नही रह सकता। उसे सामजस्य की खोज

१ २० अक्तूवर, १९३६ को ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में किया गया उद्घाटन-भाषण।
२. प्लेटो 'गॉर्जिअस', पृष्ठ ४८७।

करनी ही चाहिए, समन्वय के लिए प्रयत्नशील होना ही चाहिए। अपनी प्रगति के पथ मे वह निरन्तर ऐक्य-सूत्रो को गूथता चला है और उसने अधिकाधिक विशद सामजस्यो का निर्माण किया है। जब नई परिस्थितियो के कारण कोई ऐक्य-सूत्र अपर्याप्त हो जाता है तब वह उसे तोड डालता है और बृहत्तर पूर्णत्व की ओर अग्रसर होता है। यो तो सभ्यता सदा गतिशील रहती है, तो भी उसके कुछ काल अपने तीव्र सास्कृतिक परिवर्तन के कारण अन्यो से कुछ अलग दिखाई देते हैं। ईसापूर्व की छठी शताब्दी, पुरातन काल से मध्यकाल तक और यूरोप में मध्यकाल से आधुनिक काल तक के सक्रमण ऐसे ही विशिष्ट कालो को सूचित करते हैं। परन्तु, इनमे से किसी भी काल की तुलना उस वर्तमान तनाव और दुश्चिन्ता से नही की जा सकती, जो ससारव्यापी है और जिसने मानव-जीवन के प्रत्येक पक्ष को परिव्याप्त कर रखा है। हम ऐसा अनुभव करते जान पडते हैं कि सभ्यता की एक अवधि की समाप्ति शनै -शनै दृष्टिगत हो रही है।

हमारे भू-ग्रह के इतिहास मे पहली बार इसके निवासी एक पूर्ण इकाई बन पाए हैं। इस ग्रह का प्रत्येक भाग दूसरे भाग की समृद्धियो से प्रभावित हो रहा है। विज्ञान और प्रावैधिकी (टेकनॉलॉजी) ने इस परिणाम को अपना लक्ष्य न बनाते हुए भी एकता को उपलब्ध किया है। आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र की घटनाए हमें ससार को एक इकाई समझने के लिए विवश कर रही हैं। मुद्राए परस्पर सम्बद्ध कर दी गई हैं, वाणिज्य का स्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय हो गया है और राजनीतिक सफलताए भी अन्योन्याश्रित हो गई हैं। और इसपर भी, यह भावना कि मनुष्य-जाति को एक समुदाय बन जाना चाहिए, अब भी एक आकस्मिक सनक, अस्पष्ट महत्त्वाकाक्षा ही बनी हुई है, इसे सामान्यत अभी तक एक चैतन्य आदर्श या अत्यावश्यक व्यावहारिक आवश्यकता नही माना जाता, जो हमे सामान्य नागरिकता की गरिमा तथा सामान्य कर्तव्य के आह्वान को अनुभव करने के लिए प्रेरित कर सके। यान्त्रिक साधनो तथा राजनीतिक समन्वयो के द्वारा मानव-समाज मे एकता स्थापित करने के प्रयत्न निष्फल सिद्ध हो चुके हैं। मानव-जाति मे स्थायी एकता की उपलब्धि इन उपायो से नही हो सकती और केवल इन्हीं उपायो से तो कदापि नहीं।

व्यक्ति की भाति ही मानव-जाति का प्रारब्ध भी उसकी जीवनीशक्तियो की दिशा पर, उसका पथ-प्रदर्शन करनेवाले प्रकाशपुजो पर और उसको ढालनेवाले नियमों पर निर्भर करता है। देह और बुद्धि से भी परे एक क्षेत्र है जहा मानवीय चेतना रूढ नियमो के रूप मे नहीं, वरन् उच्चाकाक्षा के रूप मे अभिव्यक्त होती है। अपनी कल्पित कथाओ का सृजन करते समय प्लेटो भी इसी क्षेत्र मे प्रवेश करता है। इसीको प्राणी की आत्मा कहते हैं, यही तन और मन के अन्तर को स्पष्ट करनेवाला निर्णायक सिद्धान्त है। आज मनुष्यो की आत्माओ मे रग और जाति, राष्ट्र एव धर्म-सम्बन्धी सघर्षात्मक विचारो के ज्वार उठ रहे हैं, जो ऐसे पारस्परिक विद्वेषो, कल्पित कथाओ तथा स्वप्नो को जन्म देते हैं जिनके कारण मनुष्य-जाति शत्रु-समूहो मे विभाजित हो गई है। मानवीय कार्यो मे जो विरोध दिखाई दे रहे हैं, उनका कारण है मानव-आत्मा का खण्ड-खण्ड होना। सामान्य औसत मन यथास्थिति के प्रति श्रद्धालु

होता है और ऐसे भारी साहसिक कार्य करने को अनिच्छुक रहता है जिनके लिए उसे निश्चिन्तता और अतीत के पार्थक्य को तिलाजलि देनी पड़े। वर्तमान पद्धति राष्ट्रीय अहमन्यता के व्यूह पर आश्रित है। उसकी अहमन्यताए नियन्त्रित होती हैं पारस्परिक भय एव असमजस से, प्रभावहीन सन्धियो एव अन्तर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरणो के निरर्थक प्रस्तावो से। ऐसी वर्तमान पद्धति का जो नैतिक पतन हो रहा है, उससे इस सामान्य मानव-मन का पूर्णत समाधान नहीं हो पा रहा। प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' पुस्तक मे प्रश्न किया है "क्या आप यह कल्पना करते हैं कि राजनीतिक सविधानो का उद्-भव नागरिको की मनोवृत्तियो से, जो हवा के रुख को पलट देती हैं और अन्य सभी कुछ को अपनी ओर आकर्पित कर लेती हैं, न होकर किसी वृक्ष या चट्टान से हुआ है? · जैसे मनुष्य होते है, वैसे ही संविधान भी बनते हैं। सविधान नागरिको के चरित्रो से ही उद्भूत होते हैं।"[1] किसी भी समाज का पुनर्निर्माण मनुष्यो के हृदयों और मनों मे परिवर्तन करके ही किया जा सकता है। हम समस्त वस्तुओ को नवीन रूप देने की चाहे जितनी उत्कट इच्छा रखते हो, किन्तु हमारी जड़ें अतीत मे इतनी गहरी गड़ी हैं कि हम उससे छुटकारा नहीं पा सकते। आइए, हम कुछ दूर तक अतीत मे चल-कर देखें और उन विचारो का पता लगावें जो हमारे वर्तमान का नियमन करते हैं।

[२]

मानव-जीवन को अपने रंग मे रग देनेवाले आधुनिक सभ्यता के प्रभावो, विज्ञान और युक्तिवाद की चेतना, धर्मनिरपेक्ष मानववाद और प्रभुसत्तात्मक राज्य का मूल पौराणिक पुरातन युग मे खोजा जा सकता है।

१ : : यूनानियो ने यूरोपीय जगत् के निमित्त प्राकृतिक विज्ञान की नीव रखी। यूनानियों की यह महत्त्वाकाक्षा थी कि हर बात का विश्लेपण और अन्वेपण किया जाए, विवेक के प्रकाश मे सभी वस्तुओ का परीक्षण और पुष्टीकरण हो। जीवन का कोई भी अग राज्य के आदेशो या धर्मशास्त्रो की शकाओ की अधिकार-सीमा के बाहर नहीं है। सर्वप्रथम यूनानियो ने ही जीवन को विवेकशील बनाने और मानव-जीवन के सही स्वरूप को समझने की चेष्टा की। उन्होंने ही आदिम विश्वासो द्वारा समाज मे उत्पन्न अराजकता को विवेक और व्यवस्था के सिद्धान्तो का प्रयोग करके व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। सुकरात ने हमें अपरीक्षित जीवन के विरुद्ध चेतावनी दी और अपने युग की बहुप्रचलित, किन्तु अविश्लेपित मान्यताओ को उसने सावधानी से जाचने-परखने की चेष्टा की। उसकी यह दृढ आस्था थी कि ठीक काम करना और सीधे चलना मानव की सहज प्रकृति है। मानव-प्रकृति मूलत भली है और ज्ञान के प्रसार से सब प्रकार की बुराइयां स्वत दूर हो सकती हैं। पाप तो मनुष्य की केवल भूलचूक है। हम भला बनने का अभ्यास कर सकते हैं। पुण्य या अच्छाई की शिक्षा दी जा सकती है।

प्लेटो का कथन है कि सार्वभौम या साधारण विचार व्यक्ति-विशेप के स्वभाव का निर्धारण करता है और वह उसकी अपेक्षा कहीं अधिक वास्तविक है। दार्शनिक वह

१. देखिए 'रिपब्लिक' का जोवेट कृत अग्रेजी अनुवाद : आठवा अध्याय, पृष्ठ ५४४।

है जो अनित्यता के क्षेत्र से पलायन कर जाता है और एक ऐसे जगत् का चिन्तन करता है जिसमे नित्य चेतनात्मा हर प्रकार की भ्रान्ति और भूल से, जो नित्यप्रति के अनुभव मे आनेवाली वस्तुओं को भी संक्रमित कर देती हैं, मुक्त रहती है। विचारो का जगत् ही एकमात्र ऐसा असदिग्ध क्षेत्र है, जिसमें मनुष्य सम्मति और सम्भाव्यता से मुक्त होकर निश्चिन्ततापूर्वक रह सकता है। इस प्रकार के सत्य का सबसे स्पष्ट उदाहरण गणित-शास्त्र के सामान्य प्रमेयो मे मिल सकता है।

२ : : इसपर भी, यूनानी मनीषी यह कभी नही भूल सका कि उसकी विचारणा का मुख्य विषय अपनी सम्पूर्ण ठोस वास्तविकता से युक्त मनुष्य ही है। मनुष्य की शारीरिक इच्छाओ की पूर्ति उन्मुक्त रूप से होनी चाहिए, उसकी मानसिक शक्तियो को भी विकास के लिए पूरा अवसर मिलना चाहिए। उसकी प्रकृति के हर पक्ष का इस प्रकार विकास होना चाहिए, ताकि एक ऐसा सामजस्य उत्पन्न हो सके जिसमें कोई भी अग दूसरे अग को पीडित न करता हो। सुख की यह परिभाषा देखिए जो सोलॉन द्वारा कथित और हीरोडॉट्स द्वारा अनुमोदित है · "सुखी मनुष्य वह है जो विकलाग न हो, रोग से अपरिचित हो, दुर्भाग्य से मुक्त हो, अपने बच्चो को लेकर आनन्दमग्न हो और स्वयं सुदर्शन हो। इन सब बातो के साथ-साथ यदि उसके जीवन-नाटक का पटाक्षेप भी सुखद हो, तो सचमुच यही वह मनुष्य है जिसकी आपको तलाश है, ऐसे ही व्यक्ति को सही माने मे सुखी कहा जा सकता है।"[1] यूनानी लोग अपनी धार्मिक प्रतिभा या नैतिक उत्साह के लिए प्रसिद्ध नही थे। हमें उनके चिरन्तन के प्रति भूख अथवा न्याय के विरुद्ध कोई तीव्र आक्रोश नहीं दिखाई देता। यूनानियो का प्रधान धर्म था ओलिम्पयाई

१. १-३२, रॉलिन्सन कृत अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड १, पृष्ठ १६; सोलॉन सरस्वती देवी से प्रार्थना करता है : "वरद देवगण मुझे सदा सौभाग्य प्रदान करें और मैं लोक में सम्मान और प्रतिष्ठा का भागी बनूं।" इस्कॉमेकस ने ज़ेनोफोन के 'अर्थशास्त्र' में, प्रार्थित विषयों की श्रेणी में, इन वस्तुओं की गणना की है : "स्वास्थ्य, शारीरिक शक्ति, नगर में अच्छी मान-प्रतिष्ठा, मित्रों के साथ सहानुभूतिपूर्ण सम्बन्ध, युद्ध में सुरक्षा, धन की वृद्धि।" इसी दृष्टिकोण की प्रतिध्वनि हमें अरस्तू में भी मिलती है। 'रैटॉरिक' (जेब्स कृत अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ १३६० बी) में अरस्तू सुख की परिभाषा करते हुए कहता है कि सुख है क्या? वह है : "पुण्य से सयुक्त समृद्धि ; या जीवन-विधि की स्वतन्त्रता, या ऐसा अस्तित्व जो सुरक्षित होने के कारण सर्वाधिक आनन्दमय हो, या समृद्धि और शरीर की समुन्नत दशा। ये वस्तुए मनुष्य के पास हों, साथ ही उसमें इनको रक्षित और उत्पन्न करने की सामर्थ्य हो; क्योंकि यह कहा जा सकता है कि सभी मनुष्य इन वस्तुओं में से एक या अनेक के होने पर अपने को सुखी अनुभव करते हैं। तुम, यदि सुख इस प्रकार की वस्तु हो तो आगे लिखी बातें भी उसका अंग होनी चाहिए—कुलीन वश में जन्म, अनेक मित्रों और धन से सम्पन्न होना, कई सन्तानों की प्राप्ति और उनमें से सभीका सुशील होना, वृद्धावस्था में सुखोपलब्धि : इनके अतिरिक्त उत्तम कोटि का शरीर हो जिसमें स्वास्थ्य, सौन्दर्य, शक्ति, बड़ा डीलडौल, व्यायाम व खेल-कूद करने की शक्ति आदि गुण हों, साथ ही अच्छी प्रतिष्ठा, सम्मान, सौभाग्य तथा पुण्यकार्यों में प्रवृत्ति भी हो। यदि किसी मनुष्य को ये व्यक्तिगत गुण और बाह्य सुख-साधन उपलब्ध हों, तो उससे बढ़कर स्वाधीन और कौन होगा! इनके अलावा किसी मनुष्य को और चाहिए भी क्या!" प्लूटार्क ने भी एक प्रार्थना अंकित की है · "ओ तू सुन्दर 'अफ्रॉडाइट'! मुझसे बुढ़ापे को दूर रख।"

देवताओ की पूजा-आराधना। मूलत· ये देवता प्राकृतिक शक्तियो के प्रतीक थे, यद्यपि वे शीघ्र ही मानवीय गुणो के प्रतिनिधि वन गए। डायोनिसस, अफ्रॉडाइट, हर्मीज, आर्टेमिज मे से प्रत्येक मनुष्य के किसी न किसी गुण का प्रतिनिधित्व करता है। वे वार्द्धक्य और मृत्यु से मुक्त वृहदीकृत मानव थे।[1] कभी-कभी, जैसाकि एस्काइलस मे मिलता है, उनकी न्यायवृत्ति और सदाचरण पर वल दिया गया है; किन्तु वहुधा, जैसाकि यूरीपिडीज मे, देवतागण अपनी शक्ति का प्रदर्शन इस प्रकार करते हैं कि यदि उसे केवल मानवीय मानदण्ड से मापा जाए, तो उसमे न्याय और सन्तुलन की सर्वथा अवहेलना दिखाई देती है, भले ही प्राकृतिक शक्तियो के तौर-तरीको के अनुरूप उनका यह आचरण हो। जव तक दैवी शक्तिया प्राकृतिक शक्तियो के रूप मे मान्य होती रही, तव तक उनकी उपस्थिति मे रहस्यात्मक भावना की उत्कट अनुभूति होती रही, किन्तु ज्योही इन देवताओ का मानवीकरण हो गया, त्योही उसमे कुछ न्यूनता आ गई। कोई धर्म अपने अनुयायियो मे कितनी रहस्यात्मक भावना उत्पन्न करता है, यदि इस दृष्टि से किसी धर्म की प्रकृति को मापना हो, तो यह कहना पडेगा कि यूनानियो की पौराणिक गाथाओ मे एक उत्तम कोटि के धर्म के तत्त्व नहीं मिलते। 'सोफिस्ट्स' (हेत्वाभासवादी) धर्म के इस अधिकार को चुनौती देते हैं कि वह मनुष्य के आचरण का नियमन करने के लिए उपदेश दे सकता है। उनकी दृष्टि मे धर्म अधिक से अधिक एक मानवीय आचार-रूढि है।[2]

फिर भी, राजनीतिक प्रयोजनो के लिए धार्मिक विश्वास उपयोगी थे। ऐसी मान्यता थी कि कोई न कोई देवता प्रत्येक नगर की रक्षा करता था। धार्मिक त्योहारो मे केवल यूनानी लोग ही भाग ले सकते थे, इतर लोगो के भाग लेने पर प्रतिवन्ध था। परम्परागत धार्मिक विश्वासो पर आक्षेप करने के कारण यदि सुकरात को मृत्युदण्ड भोगना पड़ा और अनैक्सागोरस को निर्वासित होना पडा, तो यह उनके देशभक्ति-रहित अधर्माचरण का प्रतिफल था। यह धार्मिक दण्ड की अपेक्षा राजनीतिक दमन अधिक था। यदि 'सोफिस्ट्स' (हेत्वाभासवादियो) ने प्राचीन पूर्वजो की धर्मनिष्ठा को ध्वस्त करने का कार्य अधिक समय तक जारी न रखा, यदि एपिक्यूरस ने ससार के प्रशासन मे देवताओ का कोई हाथ होने की वात को अस्वीकार करते हुए भी उनके अस्तित्व को स्वीकार किया, यदि स्टोइकवादियों[3] ने अपने वहुघोपित विवेकवाद के वावजूद प्राचीन धार्मिक गत्यात्मक शक्ति का उपयोग किया, तो इसका कारण यह था कि ये सभी धर्म के सामाजिक महत्त्व को समझते थे।[4]

१ सोफोक्लीज कृत 'ओडीपस कॉलोनियस', पृष्ठ ६०७–१५।

२ 'सोफिस्ट्स' (हेत्वाभासवादियों) के इस सहज दृष्टिकोण को प्रोटैगोरस ने इस प्रकार स्पष्ट किया है : "मुझे नहीं मालूम कि ईश्वर का अस्तित्व है भी या नहीं, और न मैं यही जानता हूँ कि उसका स्वभाव कैसा है। इस प्रकार की जानकारी के मार्ग में कई बाधाएँ हैं. उनमें से एक तो है इस विषय की दुरूहता और दूसरी है मानव-जीवन की अल्पावधि।"

३. एथेन्स के तत्त्ववेत्ता ज़ीनो के शिष्य स्टोइक के अनुयायी।

४. यूनानियों की दृष्टि में धर्म अनिवार्यत. कितना गौण महत्त्व रखता था, इसको भावी जीवन (मरणोत्तर जीवन) सम्बन्धी सिद्धान्त के उल्लेख द्वारा उदाहृत किया जा सकता है। प्लेटो भी यदा-

यह सत्य है कि पाइथागोरस, प्लेटो, ऑर्फियाइयो और नवप्लेटोवादियो की विचारधारा मे रहस्यवादी तत्त्व नही पाए जाते, किन्तु ये प्रवृत्तिया किसी भी प्रकार से यूनानी भावना का प्रतिनिधित्व नहीं करती। पिण्डार और पेरिक्लीज़, थूसिडिडीज़ और सुकरात—जो सर्वोत्तम यूनानी प्रतिभा का प्रतिनिधित्व करते हैं, कला और विज्ञान-विषयक अपने दृष्टिकोण, नागरिक जीवन और उसकी उच्चाकांक्षा-सम्बन्धी अपनी धारणाओ के कारण अनिवार्यत मानववादी विचारक थे।[1] रहस्यात्मक धर्मों का विश्वास मनुष्य के देवत्व मे था, किन्तु एक विशिष्ट यूनानी के लिए यह बात निरर्थक है। पिण्डार ने लिखा है: "केवल दो ही चीज़ें हैं जो धन के सुन्दर पुष्पों के मध्य जीवन के यौवन को अधिकतम माधुर्य से पूरित करने को लालायित रहती हैं. अच्छी सफलता की प्राप्ति और तदर्थ उज्ज्वल यश की सिद्धि। ईश्वर बनने की चेष्टा मत कर, यदि इन सम्मानो का कुछ भाग भी तेरे पल्ले पड गया, तो तू समझ कि तूने पहले ही सब कुछ पा लिया। मर्त्यों की वस्तुएं सबसे अधिक मर्त्यता को शोभती हैं।"[2] प्लेटो के साहित्य मे कुछ ऐसे अश हैं जो हमे अपने स्वभाव पर ही अविश्वास करने को, इसको एक असाध्य रोग समझने को कहते हैं और हमे अदृष्ट के ससार मे रहने को प्रेरित करते हैं; किन्तु उनमे प्लेटो यूनानी भावना को मुखरित नहीं कर रहा।[3]

कदा मरणोत्तर जीवन के सम्बन्ध में दुविधा का अनुभव करता था। उसको यह निश्चय न था कि मृत्यु के उपरान्त का जीवन अमरत्व है या स्वप्नहीन निद्रा। ('रिपब्लिक', खण्ड २, पृष्ठ ३६३, खण्ड ३, पृष्ठ ३८७)। अरस्तू के विचार भी इस विषय में स्पष्ट नहीं हैं, क्योंकि उसका कथन है कि जब मनुष्य मर जाता है तब उसको अच्छाई या बुराई में से कोई प्रभावित नहीं करती। ('निकोमैशियन एथिक्स', १११५ ए २५)। स्टोइकवादियों ने व्यक्तिगत अनश्वरता को नहीं स्वीकार किया, यद्यपि यदा-कदा वे यह विश्वास प्रकट करते रहे कि कयामत के दिन तक आत्मा का विनाश नहीं होता। यूनानी लोग मरणोत्तर जीवन-सम्बन्धी विश्वास के प्रति कुछ कौतुक अवश्य रखते थे, किन्तु उससे वे बिलकुल प्रभावित न थे. अपनी उन्नति के महान दिनों में यूनानी मानस प्रत्यक्षवादी और मानववादी रहा तथा आत्मा के भाग्य के विषय में उसमें उपेक्षाभाव ही रहा। प्लेटो के 'रिपब्लिक' में एक साधारण एथेन्सवादी युवक ग्लॉकन इस प्रश्न का कि 'क्या तुमने नहीं सुना है कि आत्मा अमर है?' उत्तर इन शब्दों में देता है : 'नहीं, वस्तुतः मैंने नहीं सुना है।' (पृष्ठ ६०८)।

१. "यह मानते हुए भी कि प्लेटो और पिण्डार की विचारधारा में ऑर्फियसवाद (ऑर्फिज़्म) और अक-सम्बन्धी पाइथागोरस के विलक्षण विचारों का भी समावेश है, यह मानते हुए भी कि एस्काइलस के विचारों में रहस्यवाद का और यूरीपिडीज़ के विचारों में रहस्यवाद तथा अस्वस्थ वृत्ति का स्पर्श है, यूनानी प्रतिभा के किसी अध्येता को यह अधिकार है कि यदि वह अनुभव करे कि उसे ग्रीकवाद (हेलेनिज़्म) की एक अनिवार्य विशेषता का पता चल गया है, और उपर्युक्त सभी यूनानी विचारकों की उससे सगति नहीं बैठती, तो वह उनकी विचित्र बातों की अवहेलना कर दे।" (लिविंग्स्टन कृत 'द ग्रीक जीनियस एण्ड इट्स मीनिंग टु अस', द्वितीय संस्करण, १९१५, पृष्ठ २१; पृष्ठ २२ भी देखिए।)

२. इस्थ्म, ४, १२।

३. 'लॉज़' ९१८। 'साइक' (अंग्रेज़ी अनुवाद : संस्करण सन् १९२५) के तेरहवें अध्याय में रोडे कहता है कि प्लेटोवादी विचारधारा यूनान में एक विजातीय वृत्त के रूप में है। सर रिचर्ड लिविंग्स्टन ने लिखा है : "यद्यपि सहस्रों प्रकार से प्लेटो यूनानियों में एक आदर्श यूनानी है, तथापि उसके विचारों में जो सबसे बड़ी विशेषता है, उसके कारण वह एक अनास्थावादी नास्तिक ठहरता है।" ('द ग्रीक जीनियस एण्ड इट्स मीनिंग टु अस', द्वितीय संस्करण, सन् १९१५, पृष्ठ १८३)।

३ : : यूनानी चेतना मे जो आध्यात्मिक शून्य आ गया था, उसे नगर-राज्य के प्रति निष्ठा ने भर दिया। नगर यूनानी समाज की इकाई था और उसके प्रति उसके नागरिको की निष्ठा आवश्यक थी। कोई भी यूनानी नगर दूसरे नगर के नेतृत्व को स्वीकारने के लिए प्रस्तुत न था।[1] पेरिक्लीज़ ने एक अन्त्येष्टि-प्रवचन मे नगर-सेवा को श्रेष्ठतम कर्तव्य घोषित किया था, क्योकि नगर धर्मसस्था (चर्च) और राज्यसस्था दोनो का समाहित रूप है। चूकि प्रत्येक नगर अपनी ही श्रेष्ठता के प्रति जागरूक था, इसलिए यूनानी लोग समग्र यूनानी ससार की एकता के प्रति व्यापक निष्ठा विकसित न कर सके। वे न सगठित हो सके और न सयुक्त रूप से कार्य ही कर सके। उनके जीवन परस्पर घृणा करनेवाले स्वायत्तशासी राज्यो के उग्र सघर्षो मे ही व्यतीत हो गए। यह सच है कि प्लेटो एक आदर्श समाज का स्वप्नद्रष्टा था, किन्तु उसका आदर्श समाज भी एक नगर-राज्य के ही रूप मे था, मानव-जाति के राष्ट्रमण्डल के रूप मे नहीं। यूनानी सभ्यता का अन्त भी मुख्यत. इसीलिए हुआ कि उसने देशभक्ति के मिथ्या धर्म का अनुसरण किया।[2] इसके कारण यूरोप मे निरपेक्ष ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति तो उत्पन्न हुई[3], किन्तु इसने देशभक्ति को सर्वोच्च धर्म मानने का अयुक्तियुक्त निषेधात्मक दाय भी यूरोप को सौंप दिया। नगर-राज्यो के विलुप्त होने के पश्चात् यूनानी देशभक्ति या तो मर गई या लोकभावना के रूप मे अवशिष्ट रही। यूनान के वाद रोम का उत्कर्ष हुआ। कुछ समय तक रोम शक्तिशाली रहा, किन्तु उसका धर्म राज्य से एक विशेष प्रकार से सम्बद्ध था। पूजन-आराधन एक सार्वजनिक कर्तव्य अथवा नागरिक समारोह था, जो प्रशासन की ओर से नियुक्त पादरी-पुरोहितो द्वारा सम्पन्न कराया जाता था। नागरिकगण जव तक सार्वजनिक रूप से राज्य-स्वीकृत धर्म को मान्य करते थे, तव तक उनके व्यक्तिगत विश्वासो मे राज्य की ओर से कोई हस्तक्षेप न होता था। पूजा-आराधना की नई विधिया लोगो द्वारा तत्परता से स्वीकार कर ली जाती थी। फल यह हुआ कि शीघ्र ही रोम विचित्र-विचित्र धार्मिक मतो का अजायबघर बन गया। इसके अतिरिक्त, उस समय तो देवताओ की गरिमा मे भी वहुत कमी आ गई जव जूलियस सीजर और ऑगस्टस जैसे राज्य के सर्वोच्च सत्ताधारियो मे देवत्व का

इससे भिन्न विचार के लिए देखिए डब्ल्यू० आर० इग कृत 'द फिलॉसॉफी आव प्लॉटिनस' (सन् १९१८) खण्ड १, पृष्ठ ७१–४।

१. ग्रोटे ने लिखा है . "जहा तक राजनीतिक प्रभुसत्ता का सम्बन्ध है, उसके सर्वाधिक प्रिय सिद्धान्तों में ही पूर्ण अनेकता के तत्त्व पाए जाते हैं। यूनानी नागरिक जिस सर्वोच्च सत्ता के स्रोत के प्रति आदर और स्नेहभाव रखता था, वह उसके अपने ही नगर की चारदीवारी के भीतर प्राप्य था।" ('ए हिस्ट्री ऑव ग्रीस', खण्ड ३, पृष्ठ ४१)।

२ "यह राज्य-पूजन एक आध्यात्मिक रोग था, जिससे ग्रीकवाद (हेलेनिज्म) की मृत्यु हुई।" (आर्नल्ड जे० तोयन्वी) : 'एसेज इन ऑनर ऑव प्रोफेसर गिलबर्ट मुरे', सन् १९३६, पृष्ठ ३०८।

३. "मनुष्य पशुओं से और यूनानी जाति (हेलेनीज) असभ्य जगली मनुष्यों से इस बात में भिन्न हैं कि इन्हें वैचारिक दृष्टि से अच्छी शिक्षा प्राप्त हुई है और ये अपने विचारों को सुन्दर शब्दों में अभिव्यक्त कर सकते हैं।" (आइसोक्रेटीज, १५वा अध्याय, पृष्ठ २९३)।

आरोप कर दिया गया।[1] धर्म मे जो यत्किंचित् रहस्यमयता रह गई थी, उसको भी इस राजनीतिक देवत्वारोपण ने दूर कर दिया और उसे 'राष्ट्रीय गीत' का रूप दे दिया। इस प्रकार का धर्म न तो मनुष्य की अमर उत्कठाओ को ही तृप्त कर सका और न वह आध्यात्मिक एकता ही प्रदान कर सका जो रोम के विभिन्न प्रान्तो को एक सूत्र मे बाधकर रख सकती। उनमें से प्रत्येक के अपने अलग धार्मिक रूप और आचार थे। वे अपने पड़ोसियो के धार्मिक रूपो और आचारो को घृणा करते थे। जब रोम की परीक्षा की घडी आई, तब वहा क्षेत्रीयता का बोलबाला हो रहा था; परिणाम हुआ रोम का पतन। पुरानी परम्परा के भग होने के समय तक ईसाइयत की नूतन धारा अपना स्थान बना चुकी थी।

[३]

बारहवी और तेरहवी शताब्दियो मे मध्ययुगीन संस्कृति की श्रेष्ठ और सुन्दर अभिव्यक्ति हुई। उसको अपने विकास के लिए सजीव प्रेरणा यहूदियो और ईसाइयो की जीवन-सम्बन्धी मान्यता से प्राप्त हुई। कतिपय ग्रीकवादियो का यह विचार है कि इस क्रिया के कारण मानव-प्रगति के मार्ग मे दु खद व्याघात आया। यह कहा जाता है कि यदि स्टोइकवादियो को अपनी तात्विक विवेकशीलता और सार्वभौमता के आधार पर यूरोपीय जगत् का रूपान्तर करने दिया गया होता, यदि मार्कुस ऑरेलियस के उत्पीडनो ने ईसाई सम्प्रदाय का उन्मूलन कर दिया होता, तो यूरोप का रूप ही कुछ और होता, तब वह अधिक सदय और शान्तिप्रिय होता, राष्ट्रीय और जातीय विग्रह तथा सास्कृतिक एव धार्मिक सघर्ष की प्रवृत्ति वहा कम होती। इस प्रकार की परिकल्पनाए निरर्थक हैं, क्योकि इतिहास ने एक भिन्न ही पथ अपनाया। स्पष्टत प्रकृति का अभिप्रेत कुछ और ही था।

रोम की सामरिक विजयो ने उसे अन्य समुदायो के सम्पर्क मे ला दिया और उसके आध्यात्मिक दारिद्रय के कारण उसपर विदेशी धार्मिक प्रभाव पडने लगे। कुछ समय तक सघर्ष चला जिसमे ईसाइयत की जीत हुई। जैसे रोमन सम्राट जुस्टिनियन द्वारा एथेन्स के स्कूलो को बन्द करना प्राचीन ससार के अन्त का सूचक था, वैसे ही कॉन्स्टेण्टाइन का ईसाई-धर्म मे दीक्षित होना ईसाइयत की विजय पर राजकीय मुहर लगने का परिचायक था। ईसाई-धर्म ने जहा एक जीवन्त ईश्वर मे यहूदियो के विश्वास और न्यायनिष्ठा के प्रति उनके आवेश को ग्रहण कर लिया, वहा इसने यूनानी विचारो और रोमन परम्पराओ को भी आत्मसात् किया।

१ : : यूरोपीय चिन्तना को इसकी दो मुख्य देनें हैं—बौद्धिक अपूर्णता और ऐतिहासिक पूर्णता के महत्त्व पर बल। यहूदियत और ईसाइयत दोनो ही दैवी सदेश (इलहाम) को अपना आधार बनाकर चलती हैं। यूनानी विचारको मे जो बड़े से बड़े

१. अपने शासन के अन्तिम दिनों में कमोडस यह विश्वास करने लगा था कि उसमें और यूनानी देवता हरक्युलीज में कोई अन्तर नहीं है। उसीके रूप में हरक्युलीज ने पुन अवतार ग्रहण किया है।

आध्यात्मिक व्यक्ति कहे जा सकते हैं, वे तक जब ईश्वर को 'श्रेयस् की भावना', 'आदि प्रवर्तक', 'नियामक सिद्धान्त', 'ज्ञान-स्वरूप या शब्द ब्रह्म (लोगस)' के रूप मे जानते थे, तब यहूदियों और ईसाइयो की दृष्टि मे ईश्वर एक ऐसा सर्वोच्च व्यक्तित्व है जो अपने स्मृतिकारो या पैगम्बरो के माध्यम से अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति करता है। इसके साथ-साथ ईसाइयो को यह विश्वास भी है कि ईश्वर ने मानव के रूप में अवतार लिया और इस पृथ्वी पर मानव-जीवन व्यतीत किया। और भी एक बात है कि जब महानतम यूनानी विचारकों की भी इतिहास के प्रति यह धारणा न रही कि यह कोई प्रयोजनात्मक प्रक्रिया है जिसकी एक निश्चित दिशा और लक्ष्य है, वरन् वे उसे एक कालचक्रीय व्यापार ही मानते रहे, तब यहूदियों की आस्था एक ऐतिहासिक पूर्णता मे थी।[1] यहूदी चेतना किसी ऐसी महान निर्णायक घटना की उत्कट आशा मे रही जो ऐतिहासिक समस्या का कोई निश्चित समाधान प्रस्तुत कर देगी। मसीहा (मुक्तिदाता) सम्बन्धी विचार जो यहूदी इतिहास मे एक निश्चायक उपादान है, ईसाइयत मे भी विद्यमान रहा। ईसाई मतवाद यूनानी विचारधारा का समन्वित रूप जान पड़ता है और यहूदियों की धारणाएं ऐतिहासिक पूर्णता का। सन्त ऑगस्टाइन, जो दोनो संसारो—प्राचीन ग्रीक—लैटिन जगत् तथा ईसाई जगत्—के सधिस्थल पर आविर्भूत हुए थे, की कृतियो मे हम इन दोनो धारणाओं का सघर्ष पाते हैं। जब उन्होंने अपनी आंखो के सामने एक महान् अनर्थ—रोमन साम्राज्य का ह्रास और मृत्यु (रोमन साम्राज्य उस समय तक संसार का सर्वाधिक सुदृढ़ एवं सुगठित साम्राज्य माना जाता था; उसका अन्त एक महान अनर्थ ही तो था)—को घटित होते देखा, तब उन्होंने ईश्वर की इन्द्रियातीत वास्तविकता की ओर इंगित किया। उसको उन्होंने जीवन के समस्त सुयोगो और परिवर्तनो से परे एक अपरिवर्तनीय सत्ता बतलाया। उनकी 'पापों की आत्म-स्वीकृतियों (कॉन्फेशन्स) के मूल मे यही भावना है। यहूदियो द्वारा ऐतिहासिक पूर्णता पर बल और ईसाइयों का अवतारवादी सिद्धान्त—इन दोनों का ईश्वर के असीम और अनैतिहासिक व्यक्तित्व से सामंजस्य बैठना असम्भव है। मध्यकाल की प्रबल बौद्धिक जागृति का एकमात्र ध्येय था इस समस्या का स्पष्टीकरण करना और ईसाई-धर्म के अन्य सिद्धान्तो के लिए विश्वसनीय औचित्यो को ढूढ़ना। टॉमस ऐक्यूनस की धर्म-शास्त्रीय कृतियो मे हमे अरस्तूवादियो के रूक्ष तर्क की सहायता से ईसाई-धर्मशास्त्र की पद्धति के निर्माण का एक प्रभावशाली प्रयत्न मिलता है। फिर भी, इन महान प्रयत्नो के बावजूद इस समस्या का अब तक कोई समाधान नहीं मिल पाया है।[2]

१. तुलना कीजिए: 'ईसाइयाह' "यह एक ऐसा प्रयोजन है जिसने समस्त भूमण्डल को आच्छादित कर रखा है और यह एक ऐसी बांह है जो समस्त राष्ट्रों पर फैली हुई है। चूंकि स्वर्ग-दूतों के भी स्वामी ने अपने प्रयोजन का विस्तार किया है, अतः उसके प्रयोजन को खण्डित कौन करेगा? और चूंकि बाह उसकी फैली है, इसलिए उस बांह को लौटाने की सामर्थ्य किसमें है?" (चौदहवा परिच्छेद, पृष्ठ २६-७)।

२. एक महान रूसी धर्मशास्त्रज्ञ निकोलस बर्दायेव ने इस कठिनाई का उल्लेख इस प्रकार किया है: "ईसाई सम्प्रदाय के सिद्धान्तों और उसके प्रचलित दर्शन के अनुसार, दिव्यजीवन के अन्तस्तल में किसी आन्दोलन या ऐतिहासिक प्रक्रिया की सम्भावना ईसाई चेतना के साथ असंगत

किया। स्वयं प्रोटेस्टेंट आन्दोलन ने भी हेतुवादी पुनरुत्थान के लिए मार्ग प्रशस्त किया। मध्यकालीन मनीषियों को ईश्वरीय सत्ता और मनुष्य के पारस्परिक सम्बन्धो का परिज्ञान था। उन्होंने कहा है कि विधाता ने मनुष्य के सम्मुख दो उद्देश्य रखे हैं : ऐहिक जीवन का आनन्द सुख, जो उसकी प्राकृतिक शक्तियों के उपयोग से मिल सकता है, और चिरन्तन जीवन का परमानन्द, जो ईश्वर की प्रत्यक्षानुभूति के आस्वाद में सन्निहित है। धर्म और राज्यतन्त्र परस्पर विरोधी नहीं हैं; प्रत्येक को दूसरे की विशिष्ट देनो और अनुग्रहों की आवश्यकता रहती है। इस तथ्य की स्वीकृति के पश्चात् मनुष्य और समाज की दुनियादारी में विश्वास का मार्ग सरल हो गया, जिसको आगे चलकर धार्मिक रूढि का रूप दे दिया गया।

[४]

इटैलियन पुनर्जागरण (रेनेसां) वियोजन और पुनरुद्भव का महान युग है, जब कि [illegible] के लिए, मध्ययुगीन जीवन की अन्तर्वर्ती एकता जो उसके धार्मिक अनुशासन से उद्भूत थी, समाप्त हो गई और कॉपर्निकस तथा कोलम्बस, लूथर और काल्विन, गैलिलियो और डेकार्ट, मैकियावेली और हेनरी अष्टम के नये दृष्टिकोण ने जन्म लिया। यूरोप का यह चार सौ वर्षों का इतिहास राजनीतिक स्वाधीनता, आर्थिक समृद्धि, बौद्धिक उन्नति और सामाजिक सुधार के समकालिक विकास का इतिहास रहा है। परन्तु, इस काल में परम्परागत धर्म, नैतिकता और सामाजिक अनुशासन का मन्द किन्तु सुनिश्चित गति से ह्रास भी होता रहा है। यदि एक अर्थ में इसको प्रगति कह सकते हैं, तो दूसरे अर्थ में इसको प्रतिक्रिया भी कह सकते हैं, जिसमें जीवन के धार्मिक मूल सिद्धान्तो से विचलन की प्रवृत्ति विद्यमान थी। एक नई सभ्यता, जिसका आधार तीन यूनानी आदर्श—हेतुवादी दर्शन, मानववादी नीतिशास्त्र और राष्ट्रवादी राजनीति—हैं, विकसित होती जा रही है।

इटैलियन पुनर्जागरण ने यूरोप को यूनानी मानस की स्वतन्त्र और सुन्दर सिद्धान्तों के लिए उसकी उत्कट शोधवृत्ति तो प्रदान की ही, रोमन लोगों की विशद व्यावहारिकता तथा सामाजिक उपयोगिता से सा[illegible] दुनियादारी को व्यवस्थित करने की उनकी भावना भी उसको प्रदान की[illegible] सब एक आवेश, गम्भीरता तथा धार्मिक उत्साह से ही किया जा[illegible] यूरोप ने मध्यकाल की लम्बी शताब्दियो मे धार्मिक अनुशासन के द्वा[illegible] था।

मानवात्मा के पूर्ण पुनःस्थापन का लक्ष्य रखकर जो नया आ[illegible] हुआ था, उसके प्रभावो में आकर विज्ञान अपनी उन्मुक्त जीवनयात्रा [illegible] कॉपर्निकस के साथ आकाश बदल गया और अन्वेषको के साथ निवास-[illegible] रूपरेखा बदलने लगी। वैज्ञानिक और प्राविधिक उपलब्धियो ने संसार [illegible] सूत्र में गूंथ दिया और वर्तमान इतिहास शनैः-शनैः विश्व-इतिहास [illegible] हो गया।

दार्शनिक विचारधारा विज्ञान की प्रतिष्ठा के अनुरूप ढाली जाने लगी। ग्रीक-रोमन ससार की मानसिक वृत्तियों पर डेकार्ट के समय से पुन' जोर दिया जाने लगा। डेकार्ट उन बातो को अस्वीकार कर देता था जो उसकी बुद्धि मे नही समाती थी। लोगो की सम्मतियो मे जो अस्थिर विविधता होती थी, उसे वह आलोचनात्मक रीति के प्रयोग से दूर करने की चेष्टा करता था। सत्य केवल उसीमे है, जिसे स्पष्ट और विशिष्ट रूप से पहचाना जा सके। जो अस्पष्ट और रहस्यमय है, वह सत्य नही है। जहा सबका मतैक्य होता है, सत्य वहीं है। जो निर्णय सार्वभौमिक दृष्टि से वैध और विहित होते हैं, उन्हीमे सत्य का निवास होता है। गणितशास्त्र आदर्श सत्य का एक महान उदाहरण है। काण्ट की तरह ही स्पिनोज़ा का भी लक्ष्य था कि अध्यात्मविद्या को सही अर्थों मे वैज्ञानिक आधार प्रदान किया जाए, इसीलिए वह अपने विचारो को ज्यामिति के प्रमेयो के रूप मे प्रस्तुत करता था। अध्यात्मविद्या को यथार्थत विज्ञान होना चाहिए और उसमे किसी प्रकार का मनमानापन नहीं होना चाहिए। स्पिनोज़ा का कथन है "सत्य सनातन रूप से मानव-जाति के लिए प्रच्छन्न ही रह जाता, यदि गणितशास्त्र ने, जो निष्कर्षों का विचार न करके आकृतियो की प्रकृति और गुण-धर्म का विचार करता है, मनुष्य के सामने सत्य का एक अन्य प्रतिमान नही उपस्थित किया होता।'[1] इस प्रकार वह ईश्वर, प्रज्ञा और मानवीय लालसाओ के सम्बन्ध मे ऐसे विचार करता है, मानो वे वृत्त और त्रिभुज हो। प्रकृति एक विशाल मूक मशीन का रूप ग्रहण कर लेती है जो मनुष्य के जीवन-मूल्यो के प्रति उदासीन होती है। यदि हम प्रकृति को ईश्वर के नाम से भी पुकारें, तो भी यह मानव प्राणी के निकटतर नही आती, 'क्योकि जो विवेक और सकल्प ईश्वर के सारभूत अश हैं, उनमे तथा हमारे विवेक एव सकल्प मे आकाश-पाताल का अन्तर है, उनमे कोई समानता नही है, केवल नाम का ही साम्य है, और वह भी इतना कम, जितना श्वानमडल नक्षत्र-पुञ्ज (डॉग स्टार) का भूकनेवाले पशु (डॉग) से साम्य होता है।' स्पिनोज़ा ने तो केवल एक ससार की कल्पना की, किन्तु लाइब्निज ने उसके एक ससार को असख्य भागो मे खण्डित करके देखा और माना कि वे चिरन्तन काल से चले आ रहे नियमो के अन्तर्गत गतिमान रहते हैं। वे इस व्यवस्था से, जिसपर उनका बिलकुल भी वश नही, बाल बराबर भी व्यतिक्रम करने का न तो अधिकार रखते हैं, न शक्ति। काण्ट ने यह प्रश्न किया है कि जिस तरह सुस्थापित गणितशास्त्र और प्राकृतिक विज्ञानो की एक तर्कसम्मत सरचना है, क्या उसी तरह की सरचना अध्यात्मविद्या के विज्ञान के लिए भी सम्भव है? गणित एव प्राकृतिक विज्ञानो को वैज्ञानिक स्वरूप प्राप्त हुआ है उनके द्वारा प्रयुक्त सार्वभौमिक नियमो एव सश्लिष्ट निर्णयो के कारण। चूकि ये नियम केवल सम्भव अनुभव की सीमा के भीतर ही प्रयुक्त हो सकते हैं, इसलिए अनुभवातीत या इन्द्रियातीत शक्ति को अपना उद्देश्य बनाकर चलनेवाली अध्यात्मविद्या को इन नियमो की परिधि मे नहीं लिया जा सकता। काण्ट के दर्शन मे विधि और नियम के प्रति आवेग का प्राधान्य है। नियम सत्य को अभिव्यक्ति देता है और आचरण का

१. 'एथिक्स', भाग १, परिशिष्ट।

औचित्य प्रमाणित करता है। कोई भी क्रिया ठीक है बशर्ते हमारी कार्यपद्धति से उसके सिद्धान्त को एक सामान्य नियम का रूप दिया जा सके। हीगेल यह नहीं पूछता कि अध्यात्मविद्या का विज्ञान होना आवश्यक है या नही, वह तो विवेक की स्वायत्तता मे विश्वास करने पर अधिक बल देता है। उसके लिए दर्शनशास्त्र आत्मा का आत्म-विकास है, उसका स्वाभाविक और आवश्यक उद्‌घाटन है।

प्रत्यक्षवाद (एम्पिरिसिज्म) के अग्रेज समर्थक तो उन सब विचारो को अपने पास भी फटकने नही देते, जो वास्तविक तथ्यों से मेल नही खाते; वे उन सब प्रस्थापनाओं से दूर रहते हैं जिनको अनुभव की कसौटी पर न कसा जा सके। लॉक चाहता था कि दर्शनशास्त्र अचिन्त्य और अज्ञेय सत्ता के विषय में अटकलबाजी करने से बचे। यहा तक कि प्राकृतिक विज्ञान को भी वह निश्चयात्मक नहीं मानता था। उसका कथन है. "भौतिक वस्तुओ के विषय मे वैज्ञानिक जानकारी अब तक भी हमारी पहुच के बाहर रहेगी।" हमारी प्रज्ञा ही हमारी जानकारी का एकमात्र साधन है, किन्तु उससे भी निश्चयात्मक बोध नही हो सकता। यद्यपि लॉक के बौद्धिक उत्तराधिकारी बर्कले ने उसके प्रत्यक्षवाद को धर्मशास्त्रीय आवेग प्रदान किया और मानवीय तथा दैवी आत्माओ की वास्तविकता को स्वीकार किया, तथापि ह्यूम ने ही प्रयोग एव अनुभव के द्वारा जानने की वृत्ति के तार्किक फलितार्थों को विकसित किया। उसने हम लोगो की धारणाओ और विचारो को एक ऐसे ससार से परिचित कराया जिसकी उत्पत्ति और महत्त्व के विषय मे हम न के बराबर जानते हैं। हेतुवादी (रेशनलिस्ट) और प्रत्यक्षवादी (एम्पिरिकल) विचार-सम्प्रदाय के अनुगामियों पर आज वैज्ञानिक पद्धति का प्रभुत्व है। यथार्थवादियो के कुछ हाल के लेखो मे हमे ह्यूम की विश्लेपण-पद्धति और सशयवाद की झलक मिलती है। एक तत्कालीन जर्मन विचारक ह्यूसेर्ल कहता है. "मेरी इच्छा दर्शनशास्त्र (ब्रह्मज्ञान) के ऐसे तात्त्विक स्रोत को ढूढ निकालने की है, जो काण्ट के शब्दों मे, अपने को विज्ञान के रूप में उपस्थित कर सके। मेरी इच्छा है कि दर्शनशास्त्र को एक वैज्ञानिक स्रोत प्रदान कर दू।"[1] 'चर्च' की अमोघता ने वैज्ञानिक मीमासा के आगे हार मान ली। चूकि यह अपनी बारी आने पर हमे प्रवचित करता जान पडता है, अत हमारे भीतर इसके विरुद्ध प्रतिक्रिया का ज्वार उठ रहा है। स्वेच्छावाद (वॉलण्टरिज्म), उपयोगितावाद (प्रैग्मेटिज्म) और जीवनीशक्तिवाद (वाइटलिज्म) की जो विभिन्न प्रवृत्तिया दर्शनशास्त्रीय क्षेत्र मे पाई जा रही हैं, वे इस बात की सूचक हैं कि मानवीय विकास अपने प्रधानत हेतुवादी युग से सक्रमण कर रहा है।

२ : : पन्द्रहवी और सोलहवी शताब्दियो के मानववादी विचारकों की महत्त्वाकाक्षा थी कि प्राचीन ज्ञान की रक्षा की जाए और प्राचीन सद्‌गुणो को आचरण मे लाया जाए। उनका उद्देश्य था कठोर धार्मिक परम्परा द्वारा नियमित जीवन से अपने को बचाना और आनन्दपूर्ण स्वतन्त्रता तथा उन्मुक्त आत्मस्फूर्ति का जीवन जीना।

१. ह्यूसेर्ल कृत 'आइडियाज', डब्ल्यू० आर० बॉयस गिब्सन द्वारा अग्रेजी अनुवाद (१९३१ ई०), पृष्ठ २७ और ३०। अय्यर कृत 'लैंग्वुएज, ट्रुथ, एण्ड लॉजिक' (१९३६ ई०) को भी देखिए।

हमारे समस्त प्रयास एव कार्य पार्थिव जीवन को लक्ष्य बनाकर चलते हैं। हमारी आलोचनात्मक वृत्ति समस्त नैतिक आचार-सहिताओ का सापेक्षिक महत्त्व समझने मे हमारी सहायता करती है। क्या गलत है और क्या सही, इसके विषय मे हम केवल लोगो के वक्तव्यो से ही सतुष्ट नही हो जाते, वरन् यह भी जानना चाहते हैं कि कोई चीज़ गलत है तो क्यो गलत है और सही है तो क्यो सही है। हम रूढि या गतानुगति से स्वतन्त्र होना चाहते हैं और इसीको हम भूल से वास्तविक स्वतन्त्रता समझ लेते हैं। निषेधो को ही रूढिया कहा जाता है और रूढिनिष्ठता को ही आदतें। जिन गम्भीरतम वस्तुओं को लेकर मनुष्य अपना जीवन-यापन करता आया है, उनका यदि तटस्थ दृष्टि से विश्लेपण किया जाए, तो यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य ने अपने नैतिक आचरणो की दिशा मे स्वेच्छाचारी प्रयोग किए हैं। बौद्धिक और कलात्मक परिष्कार से पाशविक वासनाओ और असस्कृत लालसाओ पर कोई नियन्त्रण नही किया जा सकता। विवेक के प्रसार से समस्त अहेतुक भावावेगो का उन्मूलन हो जाएगा, यह विश्वास अब लुप्त हो गया है। आजकल पहले से कही अधिक हिंसा, दमन और निष्ठुरता का दौरदौरा है। मनुष्य अपनी आन्तरिक शक्ति से नहीं, वरन् बाह्य साधनों से; आत्मनियन्त्रण से नहीं, वरन् कार्यशैली (टेकनीक) से अपने आचरण का नियमन करने की चेष्टा करता है। आज यह नही स्वीकार किया जा रहा कि व्यक्ति का पुन. सस्कार करना और आन्तरिक रूपान्तर करना ही नैतिकता है।

सभी व्यक्ति समाज के सदस्य हैं और उसके समस्त जीवन एव विकास के लिए वे व्यक्तिश समर्थ हैं। समाज मे व्यक्तियो के अधिकारो की लोकतान्त्रिक धारणा के प्रभाव के कारण सामन्तवाद की प्राचीन भौमिक अर्थ-व्यवस्था भग हो गई और उसके स्थान पर नई मौद्रिक अर्थ-व्यवस्था विकसित हुई जिसमे आर्थिक व्यक्तिवाद का आरम्भ हुआ और आधुनिक उद्योगवाद की उन्नति की सम्भावनाए प्रकट हुईं। विशेषाधिकार और सामन्तवाद के उन्मूलन के पश्चात् मध्यमवर्ग का प्रादुर्भाव हुआ और उसके वाद आया श्रमिकवर्ग, जिसने अपने द्वारा उत्पादित धन मे समुचित भाग का दावा किया। श्रमिको को उनकी अज्ञानता, पृथक्ता और दरिद्रता से छुटकारा दिलाने के लिए क्रमश मानवोचित कानून वनाने और अधिक कर वढ़ाने आदि के जो उदार प्रयत्न किए गए, वे बहुत धीमे जान पडे, अत पूजीवाद को, जो समस्त राजनीतिक और सामाजिक बुराइयो का मूल कारण कहा जाता है, जहा तक सम्भव हो समझा-बुझाकर और वैधानिक रीतियो से तथा यदि आवश्यक हो, तो हिंसा और क्रान्ति के द्वारा भी उन्मूलन करने का एक नया कार्यक्रम अधिक लोकप्रिय वन गया। इस समय, राज्य को ही सर्वोच्च शक्ति मानने की प्रवृत्ति सर्वत्र बलवती हो रही है। बर्बरतावाद के दिनो मे व्यक्ति पर समाज का जितना प्रभावशाली दवाव था, उससे कम आज नही है। आज इस दृष्टिकोण को कोई समर्थन नही प्राप्त हो रहा कि सामाजिक अनुशासन का उद्देश्य है मनुष्य के प्राकृत सौजन्य का विकास करना, जिसको वह उस समय भी पूरी तरह नही त्यागता जिस समय भावावेश के कारण उसका स्वभाव उत्तेजित हो उठता है। राज्य के भीतर और वाहर—दोनो ही ओर वलप्रयोग न्यायसगत ठहराया जाता है।

'पुनर्जागरण' (रेनैसा) का प्रभाव पोप-तंत्र की शक्ति को भंग करने में, प्रोटेस्टैण्टवाद की जड़ जमाने मे और स्वतन्त्र छानवीन के अधिकार की स्वीकृति मे सहायक हुआ। लूथर के पूर्व तो यह माना जाने लगा था कि 'चर्च' (ईसाई-धर्म-संस्था) अमोघ है, निरपराध्य है, किन्तु लूथर ने इस मान्यता को चुनौती दी। उसने अमोघ 'चर्च' का स्थान बाइबल को दिया और माना कि ईश्वर का मनुष्य से जो सम्बन्ध है, उसकी यह भ्रान्त अभिव्यक्ति है। धर्मसुधार-आन्दोलन (रिफॉर्मेशन) इस बात पर बल देता है कि दैवी प्रेरणा द्वारा रचित धर्मग्रंथ (बाइबल) की तात्त्विकता का निर्णय करने का अधिकार मनुष्य की विवेकबुद्धि को है। यद्यपि सिद्धान्ततः तो यह बात व्यक्ति पर छोड़ दी गई थी कि वह बाइबल का जैसा चाहे वैसा भाष्य कर सकता है, तथापि व्यवहारतः विभिन्न चर्चों (ईसाई-धर्म-सम्प्रदायो) के सदस्यो के लिए बाइबल की विषयवस्तु के भिन्न-भिन्न भाष्य स्वीकार करने आवश्यक थे। प्रत्येक 'चर्च' अपने को ईश्वर की पूर्ण इच्छा के सही स्पष्टीकरण का विशेष धनी-धोरी समझता था।

दार्शनिक पक्ष की ओर से परम्परागत धर्म पर आक्षेप किए गए। यदि संसार नियम की अभिव्यक्ति है, यदि विश्व प्रकृत्यया यान्त्रिक है, तो उस यन्त्र को स्थापित करने के लिए कदाचित् ईश्वर की आवश्यकता है, ताकि वह यन्त्र स्वयमेव कार्य कर सके। वह (ईश्वर) विश्व का स्रष्टामात्र है। मध्ययुग का आस्तिकवाद देवतावाद में पर्यवसित हो जाता है। यदि यंत्र स्वयमेव कार्य कर सकता है, तो अपने को स्वय ही अवस्थित भी कर सकता है और कार्य करना आरम्भ कर सकता है।

जबकि सम्बोधि (एनलाइटेनमेंट) और जर्मन आदर्शवाद के दर्शनशास्त्री ईसाई-धर्म के सत्य का विवेकबुद्धि के निष्कर्षों के साथ सामजस्य करने का प्रयत्न करते हैं, तब श्लेयरमेकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि यह धार्मिक चेतना की परिस्थितियो के अनुरूप है। रिशल यह प्रमाणित करने के लिए सचेष्ट है कि सास्कृतिक विशिष्ट प्रकृति के साथ इसकी सगति बैठ जाती है। एक समय था, जब ईसाई-धर्मशास्त्र ईश्वर की एक सर्वशक्तिसम्पन्न क्रिया पर आधारित माना जाता था। यह क्रिया समझ-बूझ की समस्त मानवीय शक्तियो से परे थी। किन्तु अब वही ईसाई-धर्म अविरत रूप से बुद्धिगम्य बनता जा रहा है और उसकी इस आधार पर सस्तुति की जाती है कि उसका वैज्ञानिक सत्य एवं नैतिक मूल्यों के साथ सामजस्य किया जा सकता है। इस प्रकार, उसका यह बाद का स्वरूप दैवी सदेश (इलहाम) से भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यह नई चेतना, जिसने धर्म के रूढिगत रूपो और ईश्वर तथा मनुष्य के मध्य पुरोहितवर्ग की मध्यस्थता को शका की दृष्टि से देखा, केवल यहीं तक सीमित न रही, बल्कि उसने आगे बढकर स्वय पवित्र धर्मग्रन्थ (बाइबल), और फिर अपौरुषेयता की समस्त भावना पर सशय की अगुली रख दी।

मानववाद आज के अधिकाश बुद्धिजीवी व्यक्तियो का धर्म है। हममें से अधिकाश लोग जो अपने को धार्मिक कहने का दम भरते हैं, वे ऐसा या तो अभ्यासवश करते हैं, या भावनावश, या जड़तावश। हम अपने धर्म को उसी प्रकार स्वीकार करते हैं जिस प्रकार हम 'बैंक ऑव इंगलैण्ड' को या प्रगति के व्यामोह को स्वीकार करते है।

हम ईश्वर पर आस्था रखने की बात तो कहते हैं, परन्तु उसपर व्यवहार करने मे हमारी रुचि नहीं है। हम नाना प्रकार के विचारो से तो परिचित हैं, किन्तु उनमे से किसी-पर हमारा रचमात्र दृढ विश्वास नहीं है। जब लोग अपनी पुरानी आस्था खो चुके हो और उसके स्थान पर कोई ठोस वस्तु उन्हे प्राप्त न हुई हो, तब अन्धविश्वास पनपता है। आत्मा की चिरबुभुक्षित शक्तिया अपनी तृप्ति का आग्रह करती हैं और हमारे मन के मूलाधारो को बदल डालती हैं। निर्बल, आहत और अति बोझिल आत्माएं मनोविश्लेषण की शरण लेती हैं, जो अवबोध के छद्मरूप में और विज्ञान की प्रतिष्ठा के साथ, आत्मा की समस्याओ को सुलझाने की चेष्टा करता है। यह बतलाता है कि मनुष्य केवल आशिक रूप से ही विवेकशील है। स्वैरतन्त्री मतवाद (ऑथॉरिटेरियन क्रीड्स), जो हमे पूर्व-पुनर्जागरण युग की मन स्थिति मे ला रखते हैं, उन लोगो मे अधिक प्रिय हैं जो शुद्ध बौद्धिकता के जीवन को अत्यधिक अशान्तिमय पाते हैं। पुनरुत्थान की प्रवृत्तिया हमपर हावी होती रहती हैं और हम उनके आगे इस विश्वास के साथ आत्मसमर्पण कर देते हैं कि कुछ न होने से कुछ होना तो अच्छा है। आज का युग नये ज्ञान और पुराने विश्वास, बुद्धिजीवियो के ईश्वरविहीन तुच्छ प्रकृतिवाद और रूढिगत धार्मिक मता-नुयायियों की शुष्क पुनरुत्थानवादी प्रवृत्तियों के मध्य दिङ्मूढ-सा स्थित है। चूकि अधिकाश लोगों मे आज धर्मनिष्ठा अथवा ईश्वरभक्ति वास्तविक अर्थ मे रह नही गई है, इसलिए, राष्ट्रीय राज्य अब लोगो की समस्त सामाजिक, नैतिक और धार्मिक शक्तियो एव भावनाओ को आत्मसात् किए हुए है।

३ : : राज्य सर्वाधिक शक्तिशाली सगठन है। आन्तरिक विकल्पो या बाह्य प्रतिबन्धो से उसके मार्ग मे कोई रुकावट नही आती। समुदाय मे रहनेवाला मनुष्य कम से कम अर्धसभ्य तो होता ही है, किन्तु राज्य तो अब भी आद्य असभ्यावस्था मे है; वह अनिवार्यत. एक हिंसक वन्यपशु है। हमारे पास न कोई प्रबल लोकमत है और न कोई प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय कानून, जिससे इस हिंस्रवृत्ति वाले राज्य को नियन्त्रित किया जा सके। लोग या तो पराजय के या भीषण विनाश के भय से विद्रोह करने से रुके हुए हैं।

राज्य ऐसे रहस्यमय प्रतीक बन गए हैं जिनकी रक्षा के लिए हम उसी प्रकार एकत्र होते हैं, जिस प्रकार जगली जातियां अपने भूत-प्रेत देवताओ के चारो ओर एकत्र हो जाती हैं। वे अपने अस्थायी अस्तित्व का दावा करते हैं—प्रत्येक राष्ट्र अपने-आपको आत्मभरित और अन्यो से स्वतन्त्र अनुभव करता है। राष्ट्रो के मन में यह बात कूट-कूटकर बैठा दी जाती है कि यदि अन्य राष्ट्र विनष्ट हो जाएं और केवल वही अक्षुण्ण बचे रहें, तो ससार से गरीबी का नाम-निशान मिट जाएगा। एथेन्स के विषय मे चर्चा करता हुआ पेरिक्लीज कहता है "वर्तमान पीढी के हम लोगो ने अपने नगर को शान्ति या युद्ध की आवश्यकताओ का सामना करने के लिए हर प्रकार से आत्म-निर्भर बना लिया है।"[1] यदि आधुनिक फ्रासीसी, जर्मन या अमेरिकी व्यक्ति को इस बात का पूरा विश्वास है कि वह 'न्याय-व्यवस्था से हीन घटिया नस्ल' के लोगों की

१. 'थूसिडिडीज', II, मर्चैण्ट कृत अंग्रेज़ी अनुवाद।

अपेक्षा अत्यधिक श्रेष्ठ है, तो यही कहना पडेगा कि वह यूनानियों और यहूदियो का आध्यात्मिक उत्तराधिकारी-मात्र है। प्लेटो ने यह जानते हुए भी कि देशभक्ति ही सब कुछ नही है, बल्कि एक पवित्र प्रवचना है, सामाजिक उपयोगिता के आधार पर देशभक्ति का समर्थन किया।[1] उसकी दृष्टि मे असभ्य और बर्बर जातिया स्वभाव से ही यूनानियों की शत्रु थी, इसलिए उनके विरुद्ध युद्ध करना और उनको दास बनाना अथवा उनका समूल नाश तक करना—कुछ भी अनुचित नही था।[2] जैसे और लोग है, वैसे ही अपने को न होने देने के लिए यहूदी लोग अत्यधिक जागरूक रहते थे। उनके प्रभाव ने भी राष्ट्र के पवित्र अहवाद को सबल बनाने मे सहायता पहुचाई। पॉल ने जब 'दया के पात्र मनुष्यो को जो यश के भागी बनने के लिए पहले से ही प्रस्तुत हैं', 'रोप के पात्र मनुष्यों से जो विनाश के योग्य हैं' अलग करके दिखाया, तब उसने द्वन्द्व-विभाजन (डिकॉटॉमी) की ही पुनर्पुष्टि की। देशभक्ति ने इसीका उपयोग अपने उद्देश्यो के लिए किया। यूनानियो और बर्बर जातियो, यहूदियो और मूर्तिपूजक गैर-यहूदियों, नॉडिको (नार्वे की प्राचीन जाति) और गैर-नॉडिकों के मध्य जो विरोधाभास थे, वे एक ही थैली के चट्टे-बट्टे जैसे थे। अभी उस दिन हमने एक बड़े नेता की यह घोषणा सुनी . 'जर्मनी हमारा धर्म हैं', 'शाश्वत जर्मनी' के जन और भूमि के यशोवर्धन के लिए ही हम जिएगे या मरेंगे—हमारे जीवन का एकमात्र प्रयोजन यही है, जिसके निमित्त व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और विचार का कैसा भी बलिदान उचित है। राष्ट्रीय नायकत्व और जातीय प्रभुत्व के लिए की जानेवाली इन प्रतिध्वनिशील अपीलो का उद्गमस्थल एक ही है और एक-सी ही भावना पर ये बल देती हैं।

[५]

तो, आज की स्थिति क्या है ? अनिश्चितता, मूलभूत नास्तिकवाद और अशान्ति की भावना चतुर्दिक् व्याप्त हैं जिनको हम बिना समझे-बूझे, अनजाने परिणामो के लिए बढाते ही जा रहे हैं। अपने प्रसिद्ध व्यग्यचित्र (कार्टून)—'अनागत की ओर देखती हुई बीसवी शताब्दी' ('द ट्वेण्टिएथ सेंचुअरी लुक्स ऐट द फ्यूचर') में मैक्स बीरबोम ने दिखाया है कि एक लम्बी, अच्छी वेशभूषा मे सज्जित, किंचित् नमित मुद्रा मे एक मानवाकृति विस्तृत भूदृश्य (लैण्डस्केप) के पार एक प्रश्नचिह्न की ओर देख रही है जो दूरवर्ती क्षितिज पर धूमकेतु की तरह लटका हुआ है। भविष्य अनिश्चित है। हम नही जानते कि हम चाहते क्या हैं। पिछले युगो मे लोगो को अपने समुद्दिशित लक्ष्य की स्पष्ट धारणा रहती थी। यह या तो विवेकशील जीवन है या धर्म की विजय या प्राचीन परिपूर्णता की ओर प्रत्यावर्तन है। हम अपने जीवन की रिक्तता और अशुद्धता से परिचित हैं, परन्तु उससे बच निकलने का मार्ग हमे नही सूझता। कुछ लोग हमे परामर्श देते हैं कि हम विवेकबुद्धि के प्रति अपना आदरभाव बनाए रखें और अपने को भाग्य के भरोसे छोड दें। दूसरे लोग हमसे कहते हैं कि यह आदमी के बूते की बात नही है। हमे तो एक उद्धारकर्ता की बाट जोहनी है, केवल वही हमारी बिगडी को बना सकता

१. 'रिपब्लिक', पृष्ठ ४१४ बी। २. 'रिपब्लिक', ५, पृष्ठ ४७० सी–४७१ ए।

है। कुछ लोग भावनावश उन्नीसवी सदी, उसकी औद्योगिक समृद्धि, औपनिवेशिक प्रसार और उदार लोकोपकारिता की सरस वीथिकाओ की ओर टकटकी बाधकर देखते हैं; उनके मन मे सचमुच ही यह बात जम गई है कि कुलीन वश के मनुष्यो (राजाओ और सामन्तो) के नेतृत्व के अन्तर्गत ससार आज की अपेक्षा अधिक सुखी था। इसपर से वे अधिकार एव व्यवस्था के लिए अन्तिम जी-तोड प्रयास करने के लिए सन्नद्ध हो जाते हैं। कभी-कभी 'चर्च' और धर्मतन्त्र, सैन्यवाद और निरकुश शासन जैसे सिद्धान्तो की अनुगामिनी मध्ययुगीन व्यवस्था की झाकी हमारे सामने लाई जाती है। ये सारे प्रयत्न हमारे समय को देखते हुए असगत हैं। ये अफीम के सत (मॉर्फिया) की वे खुराकें हैं, जो हमे तात्कालिक लाभ तो पहुचाती हैं, किन्तु स्वास्थ्य की स्थायी क्षति कर देती हैं। उस ससार के लिए जो आत्मा का अन्वेषण करना चाहता है, न तो परितृप्त प्रारब्धवाद कोई अर्थ रखता है, न धार्मिक आशावादिता और न अतीत की ओर पुनरावर्तन। प्राचीन व्यवस्था के मन्द मरण से हमे निराश होने की कोई आवश्यकता नही, क्योकि यह प्रकृति का नियम है कि मृत्यु के पश्चात् ही जीवन का आविर्भाव होता है। प्रत्येक सभ्यता जीवन-सम्बन्धी एक प्रयोग है, निर्माण का एक प्रयास है, जो काम निकल जाने पर त्याग देने के योग्य है। एक ऐसे व्यक्ति के अपरिमित धैर्य के साथ, जिसके पास समय अनन्त है, असीम साधनो पर एकाधिकार रखनेवाली प्रकृति धीमे-धीमे, असमजसपूर्वक और बहुधा अनिष्टकर रूप से अपनी विजय-यात्रा पर अग्रसर होती जाती है। उसकी पद्धति यह है वह एक विचार को पकडती है, उसका व्यावहारिक रूप निर्धारित करती है; किन्तु उस विचार की पूर्ण अभिव्यक्ति होने के क्षण तक उसमे कुछ मूलभूत त्रुटि दिखाई दे जाती है, तब प्रकृति उसे तोड डालती है और उससे भिन्न एक दूसरे ढाचे की रचना के लिए नये सिरे से प्रयत्न आरम्भ कर देती है। तो भी, किसी न किसी प्रकार पिछले सभी स्वरूपो की बुद्धिमत्ता और भावना बाद वाले स्वरूपो मे प्रविष्ट हो जाती हैं और इतिहास के प्रयोजन के क्रमिक विकास को प्रेरित करती हैं।

आज मनुष्य की आत्मा सुरक्षित बुनियादो पर नही टिकी हुई है। मनुष्य के चारो ओर की प्रत्येक वस्तु, अस्थिर और परस्पर विरोधी है। उसकी आत्मा अधिक जटिल हो गई है, उसकी मनोभावना अधिक तिक्त, और उसकी दृष्टि अधिक भ्रमित हो गई है। किन्तु, उसकी अशान्ति केवल नकारात्मक शक्ति नही है। वह न केवल नये सन्देहो से आक्रान्त है, वरन् नूतन क्षितिजो और नई दृष्टिसीमाओ से भी अनुप्राणित है। उसमे अपने सहयोगी मनुष्यो के साथ नये सम्बन्ध स्थापित करने की पिपासा जाग्रत् हो गई है। वह आध्यात्मिक प्रौढता की अपेक्षाकृत अधिक उन्नत दशा को पहुच गया है, अतएव परम्परागत धर्मों के रूढ सिद्धान्तो से आज उसे अपने प्रश्नो के उत्तर नहीं प्राप्त हो रहे, उसकी शकाओ का समाधान उनसे नही हो पा रहा। आज का यह अत्यधिक सक्षोभ वास्तव मे विकास की वेदना का ही एक रूप है। नया ससार, जिसके लिए प्राचीन ससार प्रसवपीडा भोग रहा है, अब भी एक भ्रूण के रूप मे ही है। उसके उपादान सभी उपस्थित हैं, कमी है तो बस उनके सघटन की, उस पूर्णता की जिसको आगिक चेतना कहते हैं। विभिन्न तत्त्वो को एकसाथ सगठित करना, उनको सास लेने के योग्य बनाना

और उनमे प्राण फूकना ही शेष है। हम प्रातिभ ज्ञान, प्रवृत्ति या मनोभाव से ही जीवित नही रह सकते। हमे एक नये प्रकार के जीवन को धारण करने के लिए तथा हमे हमारी मानसिक क्लान्ति और आध्यात्मिक उद्वेग से बचाने के लिए एक विवेकशील आस्था की आवश्यकता है।

मानव-इतिहास की महान कालावधियो की यह विशेषता रही है कि उनमें राष्ट्रीय सस्कृतियों और विदेशी प्रभावो के सम्मिश्रण से प्राप्त आध्यात्मिक सजीवता की विस्तृत पैठ रही। यदि हम यहूदी धर्म का ही उदाहरण लें, तो हम पाते हैं कि अब्राहम मेसोपोटामिया से आया और जोज़ेफ तथा मोज़ेज़ मिस्र से आए। बाद में, यहूदी धर्म पर यूनानी सस्कृति का प्रभाव दिखाई देता है। एशिया माइनर और मिस्र ने यूनान के विकास पर पर्याप्त प्रभाव डाला। मध्यकालीन संसार की सृजनशील प्रतिभा तो फिलस्तीन से आई। आधुनिक ससार तक जो सक्रमण हुआ, उसमें पुरातन का पुनरादान स्पष्टत परिलक्षित हुआ। सकटकाल मे हमको बाह्य स्रोतो से, सद्य समुत्थापित अतीत से, या विभिन्न देशों के मनुष्यो की उपलब्धियों से अत्यधिक प्रेरणा प्राप्त होती है। इसलिए कदाचित् प्राच्य सभ्यताए, उनके धर्म और नीतिशास्त्र हमे उन कठिनाइयों का समाधान प्राप्त करने मे सहायता कर सकें जिनका प्रतिरोध आज हमे करना पड रहा है। मध्ययुग की दहलीज़ पार करके आधुनिक युग मे कदम रखनेवाले यूरोपीय लोगो को केवल एक अतीत का ही ज्ञान था, और वह था बाइबल-सम्बन्धी। उस अवधि मे सस्थापित महान विश्वविद्यालयो मे यूनानी और रोमन लोगों की सभ्यता का तथा ग्रीक एव लैटिन के उत्तमोत्तम शास्त्रीय ग्रन्थो का अध्ययन-अध्यापन होता था। अब चूकि सम्पूर्ण ससार ही हमारे लिए सास्कृतिक आधार का काम दे सकता है, अत. उच्चकोटि के शास्त्रीय ग्रन्थो की पुन. प्रतिष्ठा एवं उनमे प्रशिक्षण की प्रक्रिया ईसाइयाह और पॉल, सुकरात तथा सिसेरो की वाणियो को सुनने तक ही नही रुक जाती। यदि यह प्रक्रिया वही समाप्त हो जाती, तो यह एक सैद्धान्तिक भूल होती, हमारी दृष्टि-सीमा की असफलता होती। और भी लोग हैं जिन्होने युग-निर्माण के महान साहसिक कार्य में योगदान किया है, उनमे मिस्र के पैगम्बरो, चीन के सन्तो और भारत के ऋषियो की गणना की जा सकती है। ये हमारे लिए प्रकाश-स्तम्भ के सदृश हैं जिनसे हम मार्गदर्शन प्राप्त कर सकते हैं। गैर-यूरोपीय सभ्यताओ मे से जो आज भी वर्तमान हैं, उनमे से प्रमुख हैं—इस्लामी, चीनी और हिन्दू सभ्यताए। इस्लामी सभ्यता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वही है जो यहूदी और ईसाई सभ्यताओ की है, जिनसे पश्चिम के लोग भली भाति परिचित हैं। चीन की मानववादी सभ्यता भारत की धार्मिक विचार-धाराओ से, विशेषत' बौद्धधर्म से, बहुत प्रभावित हुई थी। जो हो, धर्म हिन्दू मनीषा का सबसे बडा भावावेश रहा है, धर्म उसके चरणो के लिए दीप, उसके पथ के लिए प्रकाश, उसकी सभ्यता की पूर्वकल्पना और आधार, तथा उसकी सस्कृति की प्रेरणा-शक्ति रहा है। अपनी दु खान्त असफलताओ, असगतियो, विभेदो और अध पतनो के बावजूद धर्म हिन्दुओ के पारमार्थिक जीवन की अभिव्यक्ति का साधन रह चुका है। पश्चिमी जगत् के जो लोग हिन्दू विचारधारा से बहुत अधिक सहानुभूति रखते हैं, वे

भी सामान्यतः केवल इसका आदर ही करते हैं, उनकी भावना दूर से अर्पित की जाने-वाली श्रद्धांजलि से अधिक नही है; हिन्दू विचारधारा से उनका जीवित सपर्क तो है ही नही। श्री और श्रीमती स्पाल्डिग ने इस व्याख्यान-आसन की स्थापना करके दूर-दर्शितापूर्ण उदारता का परिचय दिया है—इस प्रकार की उदारता आज के युग का एक लक्षण है और अर्थगर्भित है। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के इस 'आसन' पर एक एशियाई की अभूतपूर्व नियुक्ति भी, मेरी समझ मे, इस उद्देश्य से की गई है कि प्राच्य विचारणा को उसके एकान्तवास से बाहर निकाला जाए और आधुनिक मानव की आत्मा को रूपायित करने मे एक जीवन्त शक्ति के रूप मे इसके स्थायी मूल्य की ओर लोगो का ध्यान आकृष्ट किया जाए।

[६]

१ : . हिन्दूमत धर्म के विषय मे विवेकपूर्ण रुख अपनाता है। वह मानव-जीवन के तथ्यो का वैज्ञानिक भावना से अध्ययन करने की चेष्टा करता है। आध्यात्मिक दृष्टि से वे तथ्य केवल अचेतन मनुष्यो की विजयो और पराजयो से सम्बन्धित प्रत्यक्ष तथ्य ही नही होते, वरन् जीवन की गहराइयो से सम्बन्धित तथ्य होते हैं। धर्म आस्था के द्वारा प्राप्त होनेवाला ईश्वरीय ज्ञान उतना नही है जितना मनुष्य के अस्तित्व के गहनतम स्तरो का उद्‌घाटन करने और उनसे स्थायी सम्पर्क प्राप्त करने का एक प्रयास है।

विशेषता की दृष्टि से ससार के धर्मों को दो श्रेणियो मे विभाजित किया जा सकता है : एक वे धर्म जो कर्म (ऑब्जेक्ट) पर वल देते हैं और दूसरे वे धर्म जो अनुभूत ज्ञान का आग्रह रखते हैं। प्रथम श्रेणी वाले धर्मों के लिए धर्म किसी वाह्य शक्ति के प्रति आस्था और आचरण की एक प्रवृत्ति है। दूसरी श्रेणी वाले धर्मों के लिए यह एक अनुभूत ज्ञान है जिसको व्यक्ति सर्वोपरि महत्त्व देता है। हिन्दू और वौद्धधर्म इसी श्रेणी के हैं। उनके लिए धर्म मोक्ष का पर्याय है। यह रूपान्तरकारी अनुभव ही अधिक है, ईश्वरबोध कम। वास्तविक धर्म ईश्वर की निश्चित अवधारणा के विना भी टिक सकता है, किन्तु आध्यात्मिक और पार्थिव, पवित्र और धर्मनिरपेक्ष मे अन्तर किए विना वह नहीं रह सकता। आदिकालीन धर्म मे भी जिसमे जादू-टोने का विशिष्ट व्यवहार होता था, हमे धर्म का रूप तो मिलता है, परन्तु ईश्वर के प्रति विश्वास नही। आस्तिकवादी धर्मों मे ईश्वर का अस्तित्व अनिवार्य वस्तु नही, वरन् अनिवार्य है मनुष्य का रूपान्तरण करनेवाली धर्म की शक्ति। वुद्ध ने जिस 'वोधि' (एनलाइटनमेट) को प्राप्त किया और जिसे उनके अनुयायियो ने प्राप्त करने की चेष्टा की, एक अनुभूत ज्ञान (एक्सपीरियेन्स) ही है। 'सम्वोधि' (परिपूर्ण अन्तर्दृष्टि) वौद्ध-धर्म के अष्टाग मार्ग का लक्ष्य एव उद्देश्य है। हिन्दू विचारधारा मे साख्यदर्शन और जैनदर्शन ऐसी विचार-प्रणालिया हैं जो ईश्वर को स्वीकार नहीं करती, किन्तु आत्मिक चेतना की वास्तविकता की पुष्टि वे भी करती हैं। कुछ ऐसे आस्तिकवादी भी हैं, जैसे कि रामानुज, जिनके मत मे स्वय ईश्वर नहीं, वल्कि आध्यात्मिक चेतना ही वह साधन

है जिसके द्वारा ईश्वर को जाना जा सकता है। फिर भी, सब इस बात से सहमत हैं कि व्यक्ति के यथार्थ गौरव की उपलब्धि मोक्ष के द्वारा हो सकती है।[1] विश्वास और आचरण, धार्मिक अनुष्ठान और उत्सव, प्रामाणिक धर्मपुस्तकें तथा रूढ सिद्धान्त—इन सबको चैतन्य आत्मान्वेषण की कला और दिव्यशक्ति (परमात्मा)से सम्पर्क की अपेक्षा हीन समझा जाता है। हिन्दूधर्म की इस विशिष्टता का पालन हमारे प्राचीन पूर्वजों द्वारा भी किया जाता था। ट्याना के अपोलोनियस के मुख से फिलॉस्ट्रेटस ने ये शब्द कहलाए हैं. "सभी ईश्वर के सान्निध्य मे रहना चाहते हैं, किन्तु केवल हिन्दू ही उसे समीप ला पाते हैं।"[2]

ब्रह्म शोध का सिद्धान्त भी है और शोध का विषय भी। वह साधन भी है और साध्य भी। वह प्रेरक आदर्श भी है और उसकी निष्पत्ति भी।[3] निस्सीम की प्राप्ति के लिए आत्मा का प्रयत्न 'ब्रह्म' कहलाता है। जो अन्त.प्रेरणा हमें सत्य, ईश्वर के प्रश्न उठाने के लिए बाध्य करती है, वह स्वय दिव्यशक्ति है, ईश्वर है। ब्रह्म प्राण का ही दूसरा नाम है। जैसाकि 'विज़डम ऑव सॉलोमन' मे कहा गया है—यह 'ईश्वर की शक्ति का प्राण' है। ब्रह्म ईश्वरीय भावना भी है और साथ ही ईश्वर भी। उसके ये दोनो अर्थ परस्पर सम्बद्ध हैं। ऐसा लगता है मानो सासारिक कार्य के मोह से अभिभूत होकर अनुभवातीत आत्मा नमित होता है और आनुभविक आत्मा के नेत्रों को स्पर्श कर लेता है। जब व्यक्ति अपनी आत्मा को समस्त बाह्य व्यापारो से हटाकर अपनी प्रवृत्तियों को समेटकर अन्तर्मुख हो जाता है और ध्यान को केन्द्रित करने का प्रयत्न करता है, तब उसको अकस्मात् एक गुह्य, विचित्र और अद्भुत अनुभव होता है, जो उसके भीतर प्रखर से प्रखरतर होता जाता है, उसपर हावी हो जाता है, और अन्तत वह उसकी अपनी ही सत्ता, उसका अपना ही अस्तित्व बन जाता है।

भले ही ईश्वर एक विचार-मात्र हो और व्यक्ति की कल्पना से परे उसकी कोई वास्तविकता न हो, फिर भी जो शक्ति ईश्वर-सम्बन्धी विचार को जन्म देती है और उसको अनुभवगम्य बनाने की चेष्टा करती है, वह स्वय दिव्य है, ईश्वरीय है।[4] पूर्णत्व

१. 'आत्मप्राप्तिलक्षण मोक्षम्।'

२. आध्यात्मिक अनुभव के सम्बन्ध में चार्ल्स ईलियट ने लिखा है: "ऐसे व्यक्तियों के अनुभव के आधार पर इसकी सपुष्टि हो चुकी है, जिनके लेख उनकी बौद्धिक शक्ति के परिचायक हैं और ऐसे अनुभव जन-समाज के द्वारा भी समादृत हो चुके हैं। हमें भी इसका समादर करना चाहिए, भले ही यह हमारे समाज के विपरीत हो, क्योंकि यह एक महान देश का सतत आदर्श रहा है। इसको इन्द्रजाल या छल-कपट कहकर टाला नहीं जा सकता।" ('हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज़म', खण्ड १ (१६२१ ई०), पृष्ठ *lxii*)।

३ 'इण्डियन फिलॉसॉफी', द्वितीय सस्करण (१६२६ ई०), खण्ड १, पृष्ठ १६३ एन।

४. देवदूत ने इस विरोधाभास की शास्त्रीय अभिव्यक्ति की है. "भय और सकोच के साथ तुम अपनी मुक्ति के लिए स्वयं चेष्टा करो; क्योंकि यह ईश्वर ही है जो तुम्हारे भीतर मुक्ति की इच्छा जगाता है और उसको प्राप्त कराने का अनुग्रह भी करता है।" ('फिलॉसॉफी' द्वितीय अध्याय, पृष्ठ १२–१३)। "जब कोई आत्मा सत्यभावेन ईश्वर की इच्छा करती है, तो समझिए कि वह पहले ही उसको प्राप्त कर चुकी है।" (सेंट ग्रेगरी)। जब पैस्कल ने रात्रि की नि.स्तब्धता में अपनी आत्म-

के लिए हमारी चाह, अभाव की हमारी भावना, अनन्तता की चेतना प्राप्त करने के लिए हमारी चेष्टा, आदर्श के प्रति हमारी लगन—ये सब ईश्वरीय साक्षात्कार के ही साधन हैं। सभी प्राणियो मे ये बातें किसी न किसी मात्रा मे मिलती हैं। यह तथ्य ही कि हम ईश्वर का सन्धान करते हैं, स्पष्टत. सिद्ध करता है कि उसके (ईश्वर के) बिना जीवन की कोई स्थिति नही। ईश्वर ही जीवन है—इस तथ्य का अभिज्ञान ही आध्यात्मिक चेतना कहलाता है।

जब हम यह कहते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व है, तब इसका अर्थ है कि आध्यात्मिक अनुभव प्राप्तव्य है। इस अनुभव की सम्भाव्यता ईश्वर की वास्तविकता का सबसे बडा निर्णायक प्रमाण है। ईश्वर 'प्रदत्त' है और वह आध्यात्मिक अनुभव का वास्तविक सार है। अन्य सभी प्रमाण ईश्वर के विवरण-मात्र हैं, परिभाषा और भाषा के विषय हैं। ईश्वर का अस्तित्व केवल इस बात की अपेक्षा नहीं रखता कि लोगों ने उसके लिए क्या-क्या प्रमाण उपस्थित किए हैं अथवा तथाकथित चमत्कारिक घटनाओ से क्या साक्ष्य मिलता है। धर्मग्रन्थों के प्रमाण, धर्मसस्था (चर्च) की परम्पराए या अध्यापकों के, जो ईश्वर का उद्घोष तो कर सकते हैं परन्तु उसे प्रमाणित नहीं कर सकते, वाक्-छल हममे से कइयो के, जो विज्ञान और तर्कना की सतति हैं, मन मे ईश्वर के प्रति विश्वास नही जमा सकते, किन्तु हमे आध्यात्मिक अनुभव की तथ्यता को तो स्वीकार करना ही होगा, क्योंकि यह अनुभव प्राथमिक और प्रत्यक्ष होता है। धर्मशास्त्रो की बातो पर भले ही हम लोगो मे मतभेद हो, परन्तु तथ्यो को हम अस्वीकार नहीं कर सकते। अलाव के चारों ओर बैठकर हुक्का गुडगुडानेवाले लोगो की लालबुझक्कडी अटकलबाजियों से हमारे मन में भले ही ईश्वर के प्रति विश्वास न जमे, किन्तु हमारे भीतर जीवन की जो आग जल रही है, वह हमें विवश करती है कि हम उसके अस्तित्व को स्वीकार करें।

जबकि आत्मज्ञान तथ्य है, तब यथार्थता का सिद्धान्त एक अनुमान है। यथार्थ या सत्य के सम्पर्क मे आना एक बात है और उसके बारे मे राय प्रकट करना दूसरी बात। धार्मिकता के रहस्य और ईश्वर के प्रति विश्वास मे अन्तर है। कोई मनुष्य धर्मशास्त्र या अध्यात्मविद्या के सम्बन्ध मे बहुत कुछ ज्ञान रखकर भी धर्म की भावना से शून्य हो सकता है। हिन्दू मनीषियो ने हेतुवादी आत्मनिर्भरता के विरुद्ध हमें चेतावनी दी है। ज्ञानियो को अज्ञानियो की अपेक्षा कही अधिक सकट मोल लेना पड़ता है। जैसाकि बृहदारण्यक उपनिषद् मे लिखा है—जो अविद्या (कर्म) की उपासना करते हैं, वे तो अज्ञानरूपी अन्धकार मे प्रवेश करते ही हैं, किन्तु जो विद्या (कर्मकाण्डरूपी त्रयी विद्या) में रत हैं, वे उनसे भी अधिक अन्धकार मे प्रवेश करते हैं।[1] हम दो प्रकार से अपने-आपको धोखा देते हैं, एक प्रकार तो है उन अज्ञानियो का जो सहज ही यह मान लेते हैं कि जिस ससार को हम अपने चर्मचक्षुओ से देख रहे हैं, वही सब कुछ है, दूसरा

वेदना प्रकट की, तो उसने यह उत्तर सुना : "शान्त हो, तूने यदि मुझे पहले ही पा लिया न होता, तो तूने मुझे खोजा ही न होता।"

१. बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, मन्त्र १०; ईशोपनिषद्, मंत्र ९।

प्रकार, जो कुछ श्रमसाध्य है, उन ज्ञानियों का है जो प्रकृतिवाद की सत्यता की तो स्थापना करते हैं, परन्तु निर्णीत सत्य के विषय मे धोखे में रहते हैं। इनमे से दोनों ही हमें हमारे अस्तित्व की यथार्थता से अपरिचित रखने मे सफल हो जाते हैं।

आत्मान्वेषण की प्रक्रिया बौद्धिक विश्लेषण का परिणाम नही है, वरन् प्रकृति पर पूर्ण स्वामित्व प्राप्त करने से मनुष्य में जो समग्रता उत्पन्न होती है, उसीका परिणाम है। चिन्तना के प्रति यह प्राचीन आस्था कि यदि हम सही ढग से सोचें, तो हम उचित रूप से कार्य करेंगे, सत्य नही है। मात्र ज्ञान एक सजावट की सामग्री है, प्रदर्शन की वस्तु है, जिसकी जडें नही होतीं। यह मन को मोहमुक्त नहीं कर पाता। छान्दोग्य उपनिषद् मे नारद ने यह स्वीकार किया है कि धर्मग्रन्थो का सम्यक् आलोडन करने के पश्चात् भी उन्हें अहं (आत्म) की सत्य प्रकृति ज्ञात नही हो सकी। उसी उपनिषद् में, श्वेतकेतु के विषय मे कहा गया है कि एक निर्धारित अवधि तक धर्मशास्त्रों का अध्ययन करने के बाद भी उसमे अहंकार ही आया, सच्चा आत्मतत्त्वज्ञान नहीं।[1] आध्यात्मिक उपलब्धि से बुद्धिशाली व्यक्ति में पूर्णता आती हो, ऐसी बात नही, वरन् इससे तो उसमें एक प्रकार की ऊर्जा बाहर से प्रविष्ट होने लगती है और उसको अनुप्राणित कर देती है। कठोपनिषद् मे कहा है: "क्योकि स्वयंभू भगवान ने समस्त इन्द्रियो के द्वार बाहर की ओर जानेवाले ही बनाए हैं, इसलिए मनुष्य इन्द्रियो के द्वारा बाहर की वस्तुओ को ही देखता है, अपनी अन्तरात्मा को नही। किसी बुद्धिमान मनुष्य ने ही अमरपद पाने की इच्छा करके चक्षु आदि इन्द्रियो को बाह्य विषयों की ओर से विमुख करके अन्तरात्मा को देखा है।"[2] यहा इस बात पर बल दिया गया है कि अन्तरात्मा को वही व्यक्ति अपने आध्यात्मिक नेत्र से देख सकता है जिसका हृदय विशुद्ध हो; जो लोभ, ईर्ष्या, घृणा और सन्देह आदि मनोविकारों पर विजय प्राप्त कर चुका हो। यह मनुष्य के जीवन का पूर्णकाम हो जाना है। इस दशा मे उसके अस्तित्व का प्रत्येक पक्ष अपने उच्चतम उत्कर्ष पर पहुच जाता है, सभी चेतनाएं एकत्र हो जाती हैं, समग्र मन आगे बढकर एक ही स्पन्दनशील क्षण मे ऐसी बातों की अनुभूति कर लेता है जिनको सहज रूप से अभिव्यक्त नही किया जा सकता। यद्यपि वाणी इसे व्यक्त नहीं कर सकती और मन इसकी अवधारणा नहीं कर सकता, तथापि आत्मा की अभिलाषा और प्रेम, उसकी इच्छा और उद्वेग, उसकी साधना और चिन्तना—सभी कुछ उच्चतम चेतना से ओत-प्रोत हो जाता है। अपने अस्तित्व या जागरूकता की इस दशा को प्राप्त करना मनुष्य-जीवन की सार्थकता है। ईश्वर और जीवन-सम्बन्धी किसी व्यक्ति के विचारो के लिए धर्म को ही प्रमाण माना जा सकता है, उसके विषय मे कोरे तर्क-वितर्क को नहीं। ईश्वर कोई बौद्धिक विचार या नैतिक सिद्धान्त नही है, वरन् गम्भीरतम चेतना है जिससे विचार और नियम प्रसूत होते हैं। वह कोई तर्कसम्मत रचना नहीं है, अपितु ऐसी प्रत्यक्ष वास्तविकता है जो हममे से प्रत्येक के अन्तस् मे विद्यमान है और जो हममें से प्रत्येक को उसकी यथार्थता प्रदान करती है। हमारा उद्धार धार्मिक सम्प्रदायो के

१. छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ६, खण्ड १, मंत्र ३।
२. कठोपनिषद्, चतुर्थवल्ली, मंत्र १।

द्वारा नहीं होता, वरन् ज्ञान या आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा होता है। यह मनुष्य के पुनर्गठन का परिणाम है। तार्किक ज्ञान की तुलना उस अंगुली से की जा सकती है जो किसी पदार्थ की ओर इंगित तो करती है, किन्तु उस पदार्थ के दृष्टिगत होते ही विलुप्त हो जाती है। सच्चा ज्ञान जागरूकता है, परमात्मा के साथ आत्मा की एकरूपता की अनुभूति है, स्वच्छ दृष्टि वाली अन्त प्रेरणा है, अन्तर्दृष्टि का आरम्भ है, जिसको तर्कशास्त्र अपने विवेचन का विषय बनाता है और धर्मग्रन्थ जिसका उपदेश करते हैं। सयमी जीवन ज्ञान को प्रज्ञा मे बदल देता है, पण्डित को पैगम्बर बना डालता है।[1]

फिर भी, इससे यह न समझ लिया जाए कि भावावेश को बल प्रदान किया जा रहा है या अज्ञानता से प्रकाश पाने की चेष्टा की जा रही है। आनुभविक सत्य अपनी उत्पत्ति के रहस्य से या उसके कारण हमारे भीतर उत्पन्न होनेवाले उल्लास से नही उद्भूत होता। इसका कारण यह है कि यह हमारी आवश्यकताओ को—बौद्धिक आवश्यकताए भी इसमे सम्मिलित हैं—सन्तुष्ट करता है और इस प्रकार व्यक्ति को मानसिक शक्ति प्रदान करता है तथा समुदाय मे सामाजिक सामजस्य उत्पन्न करने मे योग देता है। जो कोई सत्य की झलक-भर पा लेता है, वह परिपूर्ण मनुष्य बन जाता है, उसका मन उद्वेगहीन और उसका समस्त अस्तित्व सुशान्त हो जाता है। हमारे लिए यह अत्यावश्यक है कि हम अपनी अन्त प्रेरणाओ को समझने और उनकी छानबीन करने की चेष्टा करें, क्योकि इस बात की गम्भीर सम्भावना है कि हम भ्रान्तिवश विरोधाभासो को अनुसन्धान मान बैठें, लक्षणा को प्रमाण समझ लें और शब्दो को सत्य मान लें। यदि हम बुद्धि की अधिकार-सीमाओं के प्रति सशक हैं, तो हम एक आत्मतुष्ट ज्ञानविरोधी मार्ग पर जा पड़ेंगे। कोई भी अनुभव, जिसका परीक्षित ज्ञान के साथ मेल नही खाता, उसको ऊलजलूल समझकर अस्वीकार कर देना चाहिए। आध्यात्मिक होने का अर्थ तर्कना को त्यागना नही है, बल्कि उसके पार जाना है। इसका अर्थ है इतनी गम्भीरता से सोचना कि सोचना ही जानना या देखना बन जाए। इसीको हम रचनात्मक विचारणा कहते हैं। दर्शनशास्त्र और धर्म एक ही आन्दोलन के दो पहलू हैं।

२ : . कुछ गहराई से देखने पर यह दृष्टिकोण मानवीय जान पडेगा। यह धर्म को वास्तविक मानव-जीवन का एक स्वाभाविक विकास मानता है। निस्सन्देह, मनुष्य सभी वस्तुओं का प्रतिमान है, केवल उसीकी प्रकृति ऐसी है जिसमे पदार्थ से लेकर परमात्मा तक के प्रकृत स्वरूप के प्रत्येक स्तर का समावेश होता है या प्रतिबिम्ब पड़ता है। वह बहुस्तरीय प्राणी है। उसके कृत्यो से उसकी पशुप्रकृति, उसका पार्थिव तथा भौतिक अस्तित्व, या उसका आत्मप्रबुद्ध विवेक सभी कुछ झलक जाता है। उपतार्किक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अपने-अपने स्थान पर भले ही अपरिहार्य और मूल्यवान हो, किन्तु

१. देखिए बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ४, ब्राह्मण ४, मंत्र २१। रीजब्रोक का कथन है : "यदि हम परमात्मा की अनुभूति अपनी अन्तरात्मा से करना चाहते हैं, तो हमें तर्कना से अपने को दूर ले जाना होगा।' ' "हमें निःस्व और सब प्रकार की भावनाओं से रहित होना चाहिए। .. हम अज्ञानता और अन्धकार की एक ऐसी स्थिति में पहुच जाए, जहा हमको शाश्वत शब्द का उच्चतर सन्देश और परमपिता परमेश्वर की प्रतिच्छाया प्राप्त हो सके।" ('द रिंग', अध्याय ९)।

जब वे किसी प्राणी का नियन्त्रण अपने हाथ मे ले लेते हैं, तो उसमें दुर्घटना की सम्भावना रहती ही है, क्योंकि कोई भी प्राणी सर्वांश मे न पशु है, न हो सकता है। आधुनिक मनुष्य के विचार और जीवन मे, अपने स्पष्ट विश्लेषण और सीमित उद्देश्यो-सहित आत्मचेतन बुद्धि सर्वोच्च स्थान ग्रहण किए हुए है। इसका परिणाम आत्मघाती सशयवाद के रूप मे सामने आ रहा है ; क्योंकि जब यह ज्ञानेन्द्रियो के साक्ष्य को और प्रज्ञा तथा अनुमिति के निष्कर्ष को स्वीकार करती है, तब यह गम्भीरतर अन्त प्रेरणाओं को, जो तर्कपूर्ण विवेक को स्वीकार्य होनी ही चाहिए, मिथ्या और काल्पनिक मानकर अस्वीकार कर देती है। जो अहवाद स्वार्थपरक अह को आत्मा का भयकरतम शत्रु बना देता है, उसी अहंवाद का तर्कसम्मत प्रतिरूप है प्रत्ययी विवेक पर आस्था। सच्चा मानववाद हमको बतलाता है कि मनुष्य की सामान्य चेतना में जो कुछ प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उससे भी कुछ अधिक उसमे है, उसमें कुछ है जो उसके आदर्शों और विचारो का निर्माण करता है ' इसको एक सूक्ष्मतर आध्यात्मिक चेतना की विद्यमानता कह सकते हैं। यही कारण है कि केवल पार्थिव व्यापारो से उसकी सन्तुष्टि नही होती। एक सिद्धान्त जिसकी बौद्धिक प्राचीन परम्परा सबसे लम्बी है, यह विश्वास है कि मनुष्य की जो सामान्य जीवन-दशा है, वह उसके अस्तित्व का चरम और अन्तिम रूप नही है, उसमें एक गहनतर 'स्व' है, जिसे प्राण या प्रेत, आत्मा या जीव कुछ भी कह सकते हैं। प्रत्येक प्राणी मे एक ज्योति जल रही है जिसे कोई शक्ति बुझा नही सकती—यह ज्योति उसकी अमर आत्मा है, जो सौम्य और सहिष्णु है, जो उसकी हृदयरूपी गुहा मे स्थित है। ससार के महानतम चिन्तक एक स्वर से हमसे कहते आ रहे हैं कि 'स्व' को, अपनी आत्मशक्ति को पहचानो। मेनसियस ने कहा है . "जो व्यक्ति अपनी प्रकृति को जानता है, वह परमात्मा को जानता है।" सन्त ऑगस्टाइन ने लिखा है · "हे प्रभु, मैं एक भटकी हुई भेड़ की तरह उत्कण्ठित बाह्य विवेक से तुझे खोजता हुआ न जाने कहा-कहा घूमता फिरा, जबकि तू मेरे अन्तस् मे ही था।······मैं इस ससाररूपी नगर की सडको, गली-कूचों तथा चौराहो पर तुझे ढूढता फिरा, पर तू न मिला मुझे, क्योकि मैं व्यर्थ ही तो उसको बाहर बाहर ढूढ रहा था जो मेरे अन्तर मे निवास करता था !" हम अपनी अन्तरात्मा तक पहुचने के लिए ससार मे चारो ओर चक्कर काटते फिरते हैं। ससार के प्राचीनतम विवेकशील मनुष्यो ने कहा है कि हम अपने इस शरीर मे रहते हुए ही चैतन्यावस्था मे परब्रह्म से युक्त हो सकते हैं, क्योकि वस्तुत. मनुष्य का जन्म हुआ ही इसीलिए है। यदि मनुष्य अपने इस प्रारब्ध को नही प्राप्त कर पाता, तो प्रकृति इसके लिए उतावली नही दिखाती, वह एक न एक दिन उसे पकड ही लेगी और अपना गुह्य प्रयोजन पूरा करने के लिए उसे बाध्य कर ही देगी। सत्य, सौन्दर्य, शान्ति, शक्ति और विवेक—ये सब दिव्यात्मा (परमात्मा) के ही गुण हैं; परमात्मा उस दिन की प्रतीक्षा मे रहता है जब हम स्वय उसे प्राप्त कर लेंगे।

हमारा सत्य आत्मरूप क्या है ? जबकि हमारे शरीर-सस्थान मे परिवर्तन होते रहते हैं, जबकि हमारे विचार मस्तिष्करूपी आकाश मे मेघो के सदृश घिरते हैं और फिर बिखर जाते हैं, हमारा यह आत्मरूप सदा अपरिवर्तित रहता है। यह सबमें

विद्यमान है, पर सबसे अलग भी है। सामान्य घटनाए इसके स्वभाव पर कोई प्रभाव नही डाल पाती। अनेक देह-परिवर्तनो के मध्य एक यही है जिसका परिवर्तन नही होता, एकात्मता की भावना का यही स्रोत है। यह आत्मा स्वय तो वही रहती है जो है, पर यह सभी वस्तुओ को देखती है। ब्रह्माण्ड मे अनवरत और बहुविध क्रियाए होती रहती हैं, शरीर-सरचना में भी मन्दगति से परिवर्तन होते रहते हैं, मन मे सवेदनाओ की बाढ़ आती रहती है, विचार विच्छिन्न एव विकीरित होते रहते हैं तथा स्मृतिया क्रमश धुधली पडती जाती हैं, किन्तु एक चीज़ है जो सतत और अपरिवर्तनशील रहती है, वह है हमारी यह आत्मा। हमारा व्यक्तित्व, जिसको हम सामान्यतया आत्मा ही समझ लेते हैं, यदा कदा ही चैतन्य रहता है। चेतनता से रहित होने पर इसमे बडे व्यवधान आ जाते हैं। द्रष्टा (आत्मा) का अस्तित्व सदा बना रहता है। मृत्यु भी आ जाए, तो भी द्रष्टा का मरण नही हो सकता। "हे याज्ञवल्क्य ! आदित्य के अस्त होने पर, चन्द्रमा के अस्त होने पर, अग्नि के बुझ जाने पर और वाक् के भी शान्त होने पर इस पुरुष को ज्योति कहा से मिलती है ?" "आत्मा ही इसकी ज्योति होती है (आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति)। यह पुरुष आत्मज्योति के द्वारा ही बैठता, इधर-उधर आता-जाता, कर्म करता और फिर लौट आता है।"[1] 'कर्म' से सम्बन्धित कोई वस्तु 'कर्ता' को स्पर्श नही कर सकती। अनुभूतिया और विचार, जहा तक वे प्रेक्षणीय हैं, उसी धरातल पर हैं जिस धरातल पर वस्तुए और घटनाए हैं। आत्मा मे कोई विकार आए बिना भी वस्तुओं मे विकार आ सकता है। शंकराचार्य का कथन है कि यह नित्य आत्मा, जो समस्त दृष्ट वस्तुओ की सार्वभौम द्रष्टा है, जो एक ऐसी अनिवार्य जागृति है जिसका दमन कोई शक्ति नही कर सकती, जो न जन्म लेती है, न मरती है, जो समस्त ज्ञानो, स्वप्नो और परमानन्दो-का आधार है, प्रमाणित करने के योग्य नही है, इसे किसी प्रमाण अथवा साक्ष्य की आवश्यकता नही है, क्योकि यह 'स्वयसिद्ध' है। यद्यपि यह स्वय अकल्पनीय है, तथापि यह कल्पना की प्रत्येक सम्भावना और ज्ञानयुक्त प्रत्येक क्रिया का मूलाधार है। यहा तक कि जो इसके अस्तित्व को अस्वीकार करता है, वह भी उस सीमा तक, जिस सीमा तक वह सोच सकता है, उसका पूर्वानुमान करता ही है। यह कोई इन्द्रिय या कार्यशक्ति नही है, वरन् वह वस्तु है जो प्रत्येक इन्द्रिय और प्रत्येक कार्यशक्ति को अनुप्राणित और प्रवृत्त करती है, यह हमारे अस्तित्व की वह विशाल पृष्ठभूमि है जिसमे समस्त इन्द्रिया, बुद्धि और सकल्प समा जाते हैं। इस चेतना के ऊपर शरीर, मन और ससार के मनमाने प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। यह सार्वभौम आत्मा हमारे साधारण जीवन मे मनोवैज्ञानिक अपवित्रताओ और अनस्थिरताओ के कारण कान्तिहीन हो जाती है और इसको भ्रमवश आनुभविक आत्मा (एम्पिरिकल सेल्फ) समझ लिया जाता है। आनुभविक आत्मा, जो मनोवैज्ञानिक और तार्किक शक्तियो की एक प्रणाली है, बिना यह जाने-समझे कि वह शाश्वत परिवर्तन के द्वारा ही अपने को सुरक्षित रख सकती है, पूर्ण स्वतन्त्रता और वैयक्तिकता का दावा करती है। हम अपने व्यक्तित्व को अपनी सर्वाधिक घनिष्ठ और भारी सम्पत्ति समझते हैं, उसे

१ बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, मंत्र ६।

अपना सर्वोच्च हितैषी मानते हैं, किन्तु यदि आत्मा के साथ इसकी तुलना करें, तो यह कर्मपक्ष से सम्बन्धित दिखाई देता है और अनिर्धारित एव आकस्मिक सापेक्ष घटनाओ से इसका स्वरूप निर्मित होता है। हम इसके विषय मे सोच सकते हैं, इसके हितों का आकलन कर सकते हैं और यथावसर उनका बलिदान भी कर सकते हैं। यह एक प्रकार का मनोवैज्ञानिक प्राणी है, जो नामरूपात्मक है; यह अवेक्षणीय सारणी का एक अक है, इसको सुख भी होता है और दु ख भी, प्रशसा करने पर यह फूल उठता है, आलोचना करने पर यह सकुचित हो जाता है, स्वय अपनी सराहना करता है और बहुरूपियापन मे खो जाता है।[1] मुण्डकोपनिषद् एक ही वृक्ष पर रहनेवाले दो पक्षियो का उदाहरण देकर व्यक्तित्व और आत्मा के अन्तर को स्पष्ट करता है। एक पक्षी है जो फल (सुख-दु खरूपी कर्मफल) खाता है और दूसरा (उस फल का भोग न करके तटस्थ भाव से देखता रहता है।[2] इनमे से प्रथम को आनुभविक आत्मा (जीवात्मा) और द्वितीय को इन्द्रियातीत आत्मा कहते हैं। उसे ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वरूप परमात्मा समझना चाहिए।

आनुभविक आत्मा (जीवात्मा) का इन्द्रियग्राह्य स्वरूप और ससार का उसके साथ जो सम्बन्ध है, उसको 'माया' शब्द से जाना जाता है, जिसका तात्पर्य विश्व की विनश्वरता है। 'माया' से यह तात्पर्य नही कि यह गोचर जगत्, जिसमे इतनी जीवात्माएं निवास करती हैं, एक छलना-मात्र है, क्योकि ब्रह्माण्ड की सारी क्रियाओ का निर्देशक और पोषक एक परमात्मा है जो प्रत्येक वस्तु से विरक्त होते हुए भी प्रत्येक वस्तु में अनुरक्त है। इस आलोचना का कि हिन्दू विचारणा बहुदेववादी है, तात्पर्य यह है कि परमात्मा यद्यपि पूर्ण और अगम्य है, तथापि वह ऐसी वस्तुओ से भरित है जो अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार चलती-फिरती और जीवित रहती हैं। यदि इस सार्वभौम पृष्ठभूमि की बात छोड़ दें, तो कोई भी वस्तु किसी भी अश मे न तो जन्म ले सकती है, न जीवित रह सकती है, न मर सकती है, और न ही उसका कोई समय, स्थान, स्वरूप या अर्थ ही हो सकता है। हमारे भीतर एक ऐसी प्रवृत्ति है कि हम अपने प्रत्यक्ष आत्म-रूप से अपना तादात्म्य कर लेते हैं और अति शुद्ध एव असन्दिग्ध, अपनी आध्यात्मिक चेतना से अपना सम्बन्ध तोड़ लेते हैं। हमारी यह प्रवृत्ति भी 'माया' के नाम से जानी जाती है। यह प्रवृत्ति आत्मचेतन विवेक की क्रिया की अभिव्यक्ति है। बौद्धिक क्रियाए एक प्रकार के निर्वचन और निर्वाचन हैं और जब तक वे अपने गुप्त स्रोत—सत्य से विलग रहती हैं, तब तक वे सत्य ज्ञान का विकृत रूप—'अविद्या' होती हैं, जिसका स्वाभाविक परिणाम स्वार्थपरता है। समस्त मानवीय जीवनचर्या का उद्देश्य आत्मपरिभाषा है। यह उस तात्विक स्थायित्व को अलग कर देने का प्रयास है, जो प्रयोगसिद्ध घटनाओं के सघर्ष की तह मे भी प्रत्येक ससीम जीवन मे वर्तमान रहता है। मानवचेतना जिन सीमाओ के अन्तर्गत रहकर कार्य करती है, उनको हम सामान्यतया बढा सकते हैं। मनुष्य अपने पंचभौतिक शरीर से अपने को पृथक् कर सकता है। वह अपनी अनुभूतियो एव इच्छाओं,

१. छान्दोग्य उपनिषद्, अध्याय ८, खण्ड ३, मत्र १२।
२. मुण्डकोपनिषद्, अध्याय ३, खण्ड १, मंत्र १।

यहा तक कि अपने विचारो से भी, जो उसके मन की सतह पर लहरो की तरह उठते हैं, स्वयं को तटस्थ कर सकता है और एक विशुद्ध चेतना को प्राप्त कर सकता है, जो उसके अविकारी आत्मत्व की प्रकृत दशा है। अनवरत अभ्यास एव सयम के द्वारा मनुष्य चाहे तो स्वय को अपनी विशुद्ध सत्ता तक, उस कर्ता तक जो अपने को सवमे प्रतिबिम्बित करता है, ले जा सकता है और उस व्यवधानहीनता तथा एकत्व की स्थिति मे पहुच सकता है जिसमे जाकर समस्त उद्वेग समाप्त हो जाते हैं। आत्मा के चारो ओर विभ्रम का जो धुआ छा रहा है, उसके घेरे को जब हम भेद देते हैं, जब हम आत्मा को आवृत करनेवाले आवरणो को हटा लेते हैं, तब हम यही, इसी जगत् मे, इस पार्थिव देह को धारण करते हुए भी अपने अस्तित्व के प्रारब्ध को उपलब्ध कर सकते हैं। यह जो 'अह' है, जिसे 'आत्मा' या 'विश्वात्मा' भी कहते हैं और जो चिरन्तनरूप से शुद्ध-बुद्ध है, सत्-चित्-आनन्द की त्रिमूर्ति है। इस प्रकार हम बौद्धिक शब्दावली मे अपने अस्तित्व के सत्य को, जिससे अब हमारी साधारण चेतना पृथक् है, प्रकट करते हैं। इस सत्य को शुद्ध सर्वोच्च व्यक्तित्व या जागतिक व्यक्तित्व के रूप मे, जिससे ब्रह्माण्ड का आविर्भाव हुआ है, कल्पित करके हम दूसरो से इसकी सस्तुति करते हैं। नकारात्मक विधि से यह प्रकट होता है कि ईश्वरानुभूति की पवित्रता किसी प्रकार अभिव्यक्त नहीं की जा सकती। यह विधि चाहती है कि हम भौतिक सुखो को त्याग दें। गुणातीत हो जाए और धीरे-धीरे समस्त विभेदो से अपने को अलग कर लें। इस परमानन्द, इस अचचल ध्यानावस्थिता, इस पवित्र और गम्भीर निर्मलता को, जो उस प्रशान्त, गहरे समुद्र की तरह होती है जिसमें नीलाकाश प्रतिबिम्बित होता है, वर्णन करना कठिन है। श्रीमद्भगवद्गीता मे इसका रूपक निर्वात स्थान में जलती हुई निष्कम्प दीपशिखा से दिया गया है जो मानो अचिन्त्य तेजस् मे स्नात हो। इस परमानन्द की स्थिति का जिसने अनुभव किया है, वह इसके विषय में सर्वथा मौन रहता है और जिसने अनुभव नही किया है, वह केवल यह कहता है कि मैं कुछ नही जानता। फिर इस विषय मे हमें बताए कौन ? फिर भी, जब हम इस दशा से अपनी साधारण चेतनावस्था मे लौटते हैं, तब हम ऐसी आत्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अपने अनुभवातीत परमात्म प्रभु से भिन्न होती है। हम थर-थर कापते हैं, पसीने-पसीने हो जाते हैं तथा लालसाभरी दृष्टि से उस अपने प्रभु को देखने की चेष्टा करते हैं, परन्तु हम अपनी पलकें ऊपर उठाने का साहस नहीं कर पाते। हम कलहमय और सघर्षमय ससार से पलायन कर जाने की इच्छा से भर उठते हैं। इस मनोदशा मे हम परमात्मा के उस सर्वोच्च व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करने लगते हैं जो इस समस्त ससार मे परिव्याप्त है तथा जो ब्रह्माण्ड एव हमारे माध्यम से सार्वभौम साम्राज्य के सगठन मे सलग्न है। यदि व्यक्तिगत धारणा अधिक प्रमुख हुई तो व्यक्ति ईश्वर के सम्मुख विनम्र और विश्वासपूर्ण शरणागति मे अपना विकास खोजता है। यह हमारी इच्छा पर है कि हम भक्ति का मार्ग ग्रहण करें या ज्ञान (ध्यान व चिन्तन) का मार्ग, जिससे हमारी आत्मा सब अनात्म वस्तुओ से मुक्त होकर अपने शुद्ध-बुद्धस्वरूप को पुन. प्राप्त कर सके। इस तर्कसगत विश्व का विश्लेषण करने पर यह जान पड़ता है कि आध्यात्मिक पद की प्राप्ति ईश्वरीय अनुकम्पा का ही फल है।

शकराचार्य ने अक्षर ब्रह्म, ईश्वर और देही (ससारी जीव) के बीच के अन्तर को इस प्रकार स्पष्ट किया है :

> "अत उपाधिशून्य आत्मा के अनिर्वचनीय, निर्विशेष और एक होने के कारण उसको 'नेति-नेति' कहकर उपदिष्ट किया जाता है। अविद्या, काम और कर्म-विशिष्ट देह एव इन्द्रियरूप उपाधि वाली आत्मा ससारी जीव कही जाती है तथा नित्य, निरतिशय ज्ञानशक्तिरूप उपाधि वाली आत्मा अन्तर्यामी ईश्वर कही जाती है। वही निरुपाधि, केवल और शुद्ध होने पर अपने स्वरूप से अक्षर या परब्रह्म कही जाती है।"[1]

जब हम निर्गुण सत् को, जो सार्वभौमिक दृष्टि से सगुण होता है, धारणात्मक रीतियो से हृदयगम करना चाहते हैं, तब हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि तार्किक दृष्टि से सटीक रीतिया चाहे जितनी उत्तम हो, वे अस्थायी और अपूर्ण ही होती हैं। प्रतीको की निश्चयता और सुस्पष्टता का यह अर्थ नही कि निर्दिष्ट वस्तु पूर्णतया हृदयगम हो ही गई है। जिन लोगों का सत् से कोई सम्पर्क नही, सत्य में जिनकी कोई अन्तर्दृष्टि नही, वे सापेक्ष प्रतीक को निरपेक्ष सत्य की जगह अगीकार कर लेते हैं। प्रतीको और परिभाषाओं को लेकर वे जो जादूगरी करते हैं, उसमें उनका इतना विश्वास होता है कि वे मूल वस्तु को ही भला बैठते हैं। शब्दो की थोथी ध्वनियो के पीछे सत् होने पर ही, वे सत्य की महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति कर सकते हैं। हम लोग भगवान के जो चित्र अकित करते हैं, उनमे आध्यात्मिक वास्तविकता को छोडकर और कोई वास्तविकता नही होती। हमसे बाहर, वस्तुओ मे उनकी कोई स्थिति नही होती। ऋग्वेद कहता है कि 'अमर्त्य ने मर्त्य की रचना की।' छठी शताब्दी ईस्वी के भारतीय बौद्धभिक्षु बोधिधर्म ने सम्राट लियाग वू ती से कहा था · "आत्मा से बाहर बुद्ध की कोई स्थिति नहीं। आत्मा की वास्तविकता के अतिरिक्त और सब कुछ काल्पनिक है। आत्मा बुद्ध है और बुद्ध आत्मा है। यह कल्पना करना कि कोई बुद्ध है जो आत्मा के बाहर है, या यह सोचना कि वह किसी बाह्य स्थान मे देखा जा सकता है, सन्निपातिक प्रलाप-मात्र है।"[2] निर्गुण और सगुण का भेद सभी रहस्यवादी धर्मों में पाया जाता है, चाहे वे प्राच्य हो या पाश्चात्य। यदि शकराचार्य ब्रह्म और ईश्वर में अन्तर करते हैं, तो एकहार्ट 'गॉडहेड्' (Deitas) और 'गॉड' (Deus) में भेद करते हैं। जबकि 'गॉड्' 'चर्च' के सिद्धान्त का सगुण त्रयात्मक ईश्वर है, जो 'अस्ति' और 'नास्ति' दोनो है, तब विशुद्ध 'गॉडहेड्' 'गॉड्' से बहुत उच्च सिद्ध होता है और वह 'गॉड्' की,

१. "तस्मान्निरुपाधिकस्यात्मनो निरुपाख्यत्वान्निर्विशेपत्वादेकत्वाच्च नेतिनेतीति व्यपदेशो भवति। अविद्याकामकर्मविशिष्टकार्यकरणोपाधिरात्मा ससारी जीव उच्यते। नित्यनिरतिशयज्ञानशक्त्युपाधिरात्मान्तर्यामीश्वर उच्यते। स एव निरुपाधिः केवलः शुद्धः स्वेन स्वभावेनाक्षर पर उच्यते।" (बृहदारण्यक उपनिषद् का शाकर भाष्य, अध्याय ३, ब्राह्मण ८, मत्र १२)।

२. वीगर कृत 'ए हिस्ट्री ऑव द रिलीजियस बिलीफ्स एण्ड फिलॉसॉफिकल ओपिनियन्स इन चाइना' (अंग्रेजी अनुवाद), सन् १९२७ का सस्करण, पृष्ठ ५२४।

जो 'गॉडहेड्' मे अन्तर्भुक्त हो जाता है, सम्भावना का आधार है। 'गॉडहेड्' सत्य और शिव से परे है। (हिन्दूदर्शन मे जो ब्रह्म और ईश्वर हैं, वही ईसाई-दर्शन मे क्रमश 'गॉडहेड्' और 'गाड्')।

हिन्दूधर्म के विषय मे प्राय दो आलोचनाए की जाती हैं, पहली यह कि हिन्दू विचारधारा के अनुसार यह ससार 'माया' है और दूसरी यह कि ससार मे जो कुछ दिखाई दे रहा है वह सब कुछ ब्रह्म ही है ('सर्वं खल्विद ब्रह्म' का सिद्धान्त)। ये दोनो आलोचनाए एक दूसरे को काट देती हैं और बताती हैं कि हिन्दू को ऊर्ध्वमुखी और अधोमुखी दोनो प्रकार की विचारधाराओ का ज्ञान है। ईश्वर का ज्ञान प्राप्त करने के दो मार्ग हैं, एक नकारात्मक और दूसरा निश्चयात्मक। नकारात्मक मार्ग हमे आध्यात्मिक चेतना की ओर ले जाता है। आध्यात्मिक चेतना ऐसा मौन साक्ष्य है जो सब प्रकार के रूपो और विचारो को विलीन कर देता है। इसीको नवप्लेटोवादी ईसाई सूफी प्लॉटिनस ने 'डायोनिसस द एरिओपैगाइट' कहा, एकहार्ट और रीज़ब्रोक भी इसीको अपना लक्ष्य बनाते हैं, इसीको दिव्यान्धकार', 'अनाम और अरूप शून्य' भी कहते हैं। किन्तु, एक निश्चयात्मक मार्ग भी है जिसमे ब्रह्मचेता मनुष्य इस बात को पूर्ण निश्चय के साथ कहता है कि जिसके रहस्यमय आलिगन मे आबद्ध होकर व्यष्टि अपना नाम और रूप खो देता है, वह अनन्तता का महाशान्त समुद्र भी सर्वप्रभावी, सर्वव्यापी प्राणतत्त्व ही है। छादोग्य उपनिषद् भी यही बात कहता है "वह जो यह अणिमा है, एतद्रूप ही यह सब है। वह सत्य है, वह आत्मा और हे श्वेतकेतो! वही तू है।"[1] आत्मा समस्त अस्तित्व का उद्गम है, अस्तित्व का वह आन्तरिक सूत्र है जिसपर अपने सम्पूर्ण वैविध्यो-सहित यह ससार टिका हुआ है। यह सत्य का भी सत्य है (सत्यस्य सत्यम्)। यह नाना नामरूपात्मक जगत् माया नही है, यह एक अस्तित्व है, यद्यपि है यह एक निम्नश्रेणी का अस्तित्व, जो परिवर्तन, ह्रास, वृद्धि, विकास और सकुचन का पात्र है। पुन तुलना कीजिए: "जो पृथिवी के अभ्यन्तर मे है, जो पृथिवी से बाह्य है, जिसे पृथिवी जानती नही, पृथिवी जिसकी देह है, जो भीतर रहकर पृथिवी का नियमन करता है, वह तुम्हारी आत्मा, तुम्हारा अन्तर्यामी अमृत परमेश्वर है।" यह बात ससार की सभी वस्तुओ के प्रसग मे, चाहे वे सूक्ष्म हो या स्थूल, सही है, क्योकि वे सब 'अदृष्टद्रष्टा' परमात्मा का ही रूप है।[2] शकराचार्य भी इसे इन शब्दो मे स्वीकार करते हैं "नामरूपादि विकारजात, ये नाना प्रकार के प्राणी, जहा तक सत्स्वरूप ब्रह्म के सारभूत रूप हैं, वहा तक ये सत्य ही हैं। यदि इन्हे स्वतन्त्र या उस सत् से पृथक् माना जाए, तो ये मिथ्या हैं।"[3] प्रत्येक वस्तु सर्वत्र सत्य पर ही आधारित है।[4] हिन्दू मनीषियो की दृष्टि मे वस्तु जगत् का अपना अस्तित्व है। वह माया-मात्र नही है। वह परम सत्य तो नही है, पर उसका रूप सत्य

१. छांदोग्य उपनिषद्, अध्याय ६, खण्ड १०, मत्र ३।

२. बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ३, ब्राह्मण ७, मत्र ३।

३. "सर्वं च नामरूपादिविकारजात सदात्मनैव सत्य स्वतस्त्वनृतम्।" (छादोग्य उपनिषद् का शांकर भाष्य, अध्याय ६, खण्ड ३, मंत्र २)।

४. "सदास्पदं सर्वं सर्वत्र" (भगवद्गीता का शाकर भाष्य, अध्याय १३, श्लोक १४)।

है और वह परम सत्य—ब्रह्म—की अभिव्यक्ति है। ससार को अन्तिम रूप से सत्य या यथार्थ समझना 'मोह' है।

संसार की प्रकृति मायिक है, इस आलोचना से जहा यह पता चलता है कि ईश्वर निर्गुण और निरुपाधि है, वहा सर्वेश्वरवाद से ज्ञात होता है कि ईश्वर अनवरत रूप से आत्माभिव्यक्ति करने मे सलग्न है। इस बात में कोई सचाई नहीं है कि कालातीत और पूर्ण शुद्ध सत्ता का अनुभव हमारे भीतर यथार्थ जगत् के प्रति, जिससे हम अधिक परिचित हैं तथा जो दुर्भाग्यवश अपूर्णताओ से भरा हुआ है, वितृष्णा उत्पन्न करता है। सत्य और अस्तित्व को आध्यात्मिक दृष्टि से एक-दूसरे के विपरीत नही समझा जाना चाहिए। पृथिवी की कोई भी वस्तु न तो सर्वांश मे पूर्ण है और न सर्वांश मे अपूर्ण। जिन्होने पूर्णता के दर्शन कर लिए हैं, वे पूर्णता की वृद्धि तथा अपूर्णता की न्यूनता के लिए सतत सचेष्ट रहते हैं। जीवन अपने परिपूर्ण सृजनात्मक प्रकाशन के लिए सदैव प्रयत्न करता रहता है। जिसको परमात्मा की झलक मिल गई है, वह जीवन, व्यक्तित्व और इतिहास को महत्त्वपूर्ण समझने लगता है। ईश्वर-भक्ति का जीवन हमारे जीवन की परिपूर्णता है।

जब मनुष्य को ईश्वर का वोध होता है, तब वह अमूर्त से मूर्त की ओर लौटता है, उसके सत्य के प्रकाश मे वह अपने जीवन को सयमित करता है, और तब वह पूर्ण मनुष्य बन जाता है। वह लगभग अचिन्त्य सार्वभौमिकता की स्थिति में पहुंच जाता है। उसकी शक्तिया जो अब तक निम्नकोटि के कार्यों मे लगी हुई थीं, महत् उद्देश्यों की सिद्धि मे प्रवृत्त हो जाती हैं। मायावाद का सिद्धान्त यह कहता है कि यदि हम सत्य की, जो आनुभविक वस्तुओ और भौतिक इच्छाओ को मूल्य प्रदान करता है, उपेक्षा करके उनमे अपने को भुला वैठते हैं, तब अपने प्रामाणिक अस्तित्व से पतित हो जाते हैं। वे वस्तुए और इच्छाएं इतनी आकर्षक और मोहक होती हैं कि वे हमारे भीतर अपनी प्राप्ति के लिए उत्कट इच्छाए जाग्रत् कर देती हैं, किन्तु वे हमारे आन्तरिक अस्तित्व को तो सन्तुष्ट कर ही नही पातीं और वाह्य सासारिक जीवन मे भी उनके कारण एक प्रकार की अनियंत्रित अव्यवस्था फैल जाती है। इसका यह अर्थ नहीं कि हमको भौतिक कल्याण की उपेक्षा करनी चाहिए अथवा शरीर और मन को घृणा करना चाहिए। शरीर वह मन्दिर है जिसमे आत्मा प्रतिष्ठित होती है, अत वह आत्मा के लिए आवश्यक वस्तु है। जो विचारधारा पुनर्जन्म के सिद्धान्त मे विश्वास करती है, वह भौतिक जीवन को घृणा नहीं कर सकती, क्योकि प्रत्येक आत्मा को इसकी आवश्यकता रहती है। धर्म के लक्ष्य को उपलब्ध करने के लिए व्यक्तिगत जीवन का दमन नही करना चाहिए। उच्चतर सत्य के प्रकाश मे इसकी पुनर्रचना और परिशुद्धि करनी चाहिए। जिस व्यक्ति मे आत्मा की ज्योति उद्भासित हो उठती है, वह एक नया ही मनुष्य हो जाता है, वह 'वैष्णवजन' ईश्वरीय प्रसादप्राप्त मनुष्य बन जाता है, उसका समस्त अस्तित्व रूपान्तरित हो जाता है। ईश्वरीय शक्ति उसकी आत्मा में पैठ जाती है, आत्मा मे दिव्यता का उत्स फूट निकलता है, और भीतर ही भीतर वह आत्मा को ओतप्रोत करके उसे समृद्ध कर डालता है।

उसके लिए ईश्वर भिन्न आत्मा नही रहा जाता, वह उसकी सत्य आत्मा ही हो जाता है, वह उसको अपने अहं से भी सन्निकट प्रतीत होता है। "मैं जीवित हू, तो भी मैं नही जीवित हू, मेरे भीतर तो ईसा जीवित हैं।" जहा तक प्रकृति-जगत् की बात है, वह अपना अलग व्यक्तित्व बनाए रखता है, किन्तु आत्मिक जगत् मे उसका अलग व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है, ईश्वर उसको अपना चुका होता है और उसके व्यक्तित्व को नये साचे मे ढाल रहा होता है। आत्मचेतन व्यक्ति की अहता का स्थान परमात्मकेन्द्रित व्यक्ति की विनम्रता ले लेती है। वह इस आस्था के साथ ससार मे कार्य करता है कि जीवन अपने विशुद्ध रूप मे सदा ही गरिमापूर्ण और सुन्दर होता है, केवल उसका विगलित रूप ही बुरा होता है।

३ : : आध्यात्मिक धर्म का यह मूलभूत सत्य है कि हमारी आत्मा अपने वास्तविक रूप मे परमात्मा ही है। हमारा काम है कि हम आत्मा के इस परमात्मरूप का अन्वेषण करें और प्रबुद्ध होकर अपने को वही समझने लगें। यह समझना हमे 'एकोऽहं बहु स्याम्' की स्थिति मे ला देगा। जिस आत्मा ने अपने को पा लिया है, अपना साक्षात्कार कर लिया है, वह परमात्मा से भिन्न अपना कोई एकान्त अस्तित्व नही समझती। इसके बजाय वह सार्वभौमिक जीवन के प्रति जो सभी व्यक्तियो, जातियो और राष्ट्रो का विशिष्ट समुच्चय है, चैतन्य रहती है। मनुष्य के समस्त साहसिक कृत्यो और उच्चाकाक्षाओ के मूल मे एक मानसिक प्रेरणा कार्य करती रहती है। समस्त प्राणिजगत् के साथ अनिवार्य एकता का आत्मा का अनुभव ही इन शब्दो मे व्यक्त हुआ है "तू मुझमे है, और मैं तुझमे।" साहचर्य ही जीवन है और साहचर्यहीनता मृत्यु है। मानव-मात्र मे एक ऐसा गुप्त ऐक्यभाव विद्यमान है जिससे हम बचना चाहें भी तो नही बच सकते। ससार मे यदा-कदा जो पागलपन और शक्ति के उन्माद दिखाई देते हैं, उनसे इस एकता को मिटाया नही जा सकता। जो लोग समस्त मानव-जाति और समस्त प्राणियो के साथ शान्तिपूर्वक रहने को उत्सुक है, उनके गले यह बात कभी उतर नही सकती कि बहुत-से लोगो की निर्मम हत्या केवल इसलिए कर दी जाए, क्योकि वे उनके देश या जाति या नस्ल के नही हैं। ऐसे व्यक्ति उदार और सार्वजनीन दृष्टिकोण से देखने की चेष्टा करते हैं और जीवनयापन की उन कृत्रिम विधियो से दूर ही रहते हैं जो हमे जीवन के प्रकृत स्रोतो से पथभ्रष्ट करती हैं। अन्य जातियो और राष्ट्रो के प्रति हमारा जो सामान्य दृष्टिकोण है, वह बनावटी नकाब से तथा विचार एव अनुभूति की ऐसी आदतो से अधिक कुछ नही है जिनको कपटपूर्ण आचरण के दीर्घकालीन अभ्यास के द्वारा हमने प्रयासपूर्वक सीखा है। मनुष्य के रक्त मे विद्वेष का विष इतना और इस प्रकार मिलाया जाता रहा है कि उसकी सामाजिकता की प्रकृति विचित्र ढग से विकृत हो गई है और वह परिवर्तित होकर एक शिकारी पशु बन गया है। जो लोग आध्यात्मिक रूप से प्रबुद्ध हैं, उनको इस बात से बड़ी घृणा होती है कि हम जातिवाद और राष्ट्रवाद के नाम पर अपनी निम्न लालसाओ का प्रयोग दूसरो को डराने-धमकाने, लूटने-ठगने और मारने के लिए करें, और यह सब कुछ इस भावना के साथ कि हम जो कुछ कर रहे हैं, बहुत ठीक कर रहे हैं, हम बिलकुल दूध के धोए हैं और ईश्वर का ही

कार्य कर रहे हैं। ऐसे प्रबुद्धचेता व्यक्तियो को सभी जातिया और राष्ट्र एक ही आकाशीय वितान के नीचे रहनेवाले जान पड़ते हैं। वे एक नई सामाजिक सम्बन्ध-भावना की घोषणा करते हैं और एक ऐसे नये समाज की सेवा का व्रत लेते हैं जिसमे सभी व्यक्तियो को नागरिक-स्वातन्त्र्य और छोटे-बड़े सभी राष्ट्रों को राजनीतिक स्वाधीनता उपलब्ध हैं।

[७]

एक ऐसी सभ्यता के पतन से हमें निरुत्साह होने की आवश्यकता नहीं है जो काल्पनिक सन्देहो की धृष्टता, नैतिक प्रभाववाद और जातियो तथा राष्ट्रो के प्रति भीषण और भ्रमित उत्साहो पर आधारित है, क्योकि इसके भीतर कुछ ऐसे समाज-विरोधी तथा नैतिकताविरोधी तत्त्व हैं जो विनष्ट होने के ही योग्य हैं। यह सभ्यता मानव-जाति के कल्याण का उद्देश्य लेकर नही चल रही, वरन् कुछ शक्तिशाली और सुविधाप्राप्त व्यक्तियो एव राष्ट्रो की ही भलाई इससे हो रही है। इस सभ्यता में कुछ अच्छाइया भी हैं। इसमे जो कुछ अच्छा और मूल्यवान है, वह उस नये ससार के द्वारा, जो जन्म लेने के लिए छटपटा रहा है, अपना लिया जाएगा। यो तो ऊपरी तौर से कुछ और ही दिखाई दे रहा है, फिर भी हमको ऐसे आसार लग रहे हैं कि वर्तमान अशान्ति में से एक महाज्योति का उदय हो रहा है, एकसाथ मिलकर जीने की भावना प्रकट हो रही है और लोगो में यह समझ आती जा रही है कि कोई ऐसी गुप्त चेतना है जो हम सबमें विद्यमान है, जिसको इस धरती पर व्यक्त करने का सर्वोच्च साधन मानवता ही है। इस ज्ञान के अनुसार जीवन-निर्माण करने और इस धरातल पर आत्मा का राज्य स्थापित करने की इच्छा लोगो मे बलवती होती जा रही है। विज्ञान ने मनुष्यो के यातायात और विचार के सचार के लिए सुविधाजनक साधन प्रस्तुत कर दिए हैं। बौद्धिक दृष्टि से, ससार सामान्य विचारो और आदान-प्रदानात्मक ज्ञान के जाल मे आबद्ध हो गया है, धार्मिक रूढ़ियो की बाधाए भी आज उतनी दुर्जेय नहीं हैं जितनी वे भूतकाल मे थी। विचार और मीमासा की प्रगति से भी विभिन्न धर्मों को चिरन्तन, सार्वभौम तथा आत्मा के एकमेव सत्य परमेश्वर का, जिसका सब काल और सब स्थान में यह जीवन अनुगमन और अन्वेषण करता है तथा आनन्द लेता है, उद्-घोष करने मे सहायता मिल रही है। हमारे सामने अब यह कुछ अधिक स्पष्ट होता जा रहा है कि किसी धर्म का सत्य वह नही है जो उस धर्म की विशिष्ट या निजी चीज हो, न वह केवल लकीर का फकीरपन है जिसपर उसके उपासक बल देते हो और उसके प्रति आस्थावान लोग जिसपर लड़ने-झगड़ने को उतारू रहते हो, वरन् धर्म का सत्य उसका वह अश है जो अन्य सभी धर्मों मे भी एक-सा पाया जाता है। मानवता स्वय को और ससार को तभी जान और समझ पाएगी जब वह सार्वभौम तथा मानवीय मूल्यों को अधिकाधिक विकसित करती जाए। मानव-जाति का विकास अभी अधूरा ही है, वह अपनी निर्माणावस्था मे है। भविष्य मे हमारा मानव जीवन जैसा होगा, आज का मानव-जीवन उसका उपादान-मात्र है। हमारी इस मानव-

जाति को वह सब समृद्धि, स्वतत्रता और सुख सुलभ हो सकते हैं जिनका इसने कभी सपना भी न देखा होगा, बस, शर्त केवल एक है कि हम ऐक्य-सूत्र मे बध जाए और महत् उद्देश्य तथा सुन्दर सकल्प लेकर आगे बढ़ते चले जाए। हमे व्यवसायो और कार्य-क्रमो की आवश्यकता नही है, अपितु आवश्यकता है मनुष्यो के हृदयो मे आत्मशक्ति की। यह आत्मशक्ति ही लोभ और स्वार्थ की हमारी लालसाओ को अनुशासित करेगी तथा ससार को, जिसकी हमारी जैसी ही इच्छाए-आकाक्षाए हैं, सगठित करने मे सहायक होगी।

२

परम आध्यात्मिक आदर्श : हिन्दू दृष्टिकोण[1]

[१]

जब हम आदर्शों के जगत् में प्रवेश करते हैं, तब धर्मों के मध्य पाए जानेवाले अन्तर तो नगण्य हो जाते हैं और उनके मतैक्य अधिक स्पष्ट। मनुष्य के सामने केवल एक ही आदर्श है . स्वय को सर्वभावेन एव पूर्णरूपेण मानवीय बनाना। "तू पूर्ण बन।" सम्पूर्ण मानव, परिपूर्ण मानव ही आदर्श मानव, दिव्य मानव है। पॉल सेंट ने कहा था : "परब्रह्म मे विलय हो जाना ही तुम्हारी पूर्णता है।" अपनी सर्वोच्च और अन्तरतम आत्मा के लिए हमारी साधना ही परमात्मा के लिए की गई साधना है। आत्मान्वेषण, आत्मज्ञान और आत्मसिद्धि ही मनुष्य का प्रारब्ध है।

अपने इतिहास के आदिकाल से ही भारत ने सैनिको और राजनीतिज्ञो, वैज्ञानिकों और अग्रणी व्यवसायियो को, यहा तक कि कवियो और दार्शनिको को, जो अपने कार्यों और शब्दो से ससार को प्रभावित करते हैं, अपना श्रद्धाभाजन और आदर्श नही बनाया है, वरन् उन विरलतर एव पवित्रतर आत्माओ को अपनी श्रद्धा का अर्घ्य चढाया है और अपना आदर्श बनाया है जिनकी महानता उनके कार्य मे नही, अपितु चरित्र मे रही है, जो ऐसे मनुष्य रहे हैं जिन्होने देश की विचारधारा और जीवन पर अनन्तता की छाप लगा दी है, जिन्होने ससार की अदृश्य कल्याणकारी शक्तियों मे वृद्धि की है। एक ऐसे ससार मे, जो भौतिक शक्ति और सुख, धन और यश की आराधना मे रत हैं, वे अदृष्ट ससार की वास्तविकता और आध्यात्मिक जीवन के आह्वान का उद्घोष करते है। उनकी आत्मनिष्ठा, उनका आत्मसयम, उनकी अद्भुत गभीर प्रज्ञा, उनका अतिशय सौजन्य, उनकी विनम्रता और आत्मा की शालीनता, उनकी प्रभूत मानवता इस बात की घोषणा करती हैं कि मनुष्य का प्रारब्ध है अपने-आपको जानना, और इस प्रकार सार्वभौमिक जीवन को आगे बढाना जिसका वह भी एक अविभाज्य तत्त्व है।

इस आदर्श ने भारतीय धार्मिक जगत् पर चालीस से भी अधिक शताब्दियों तक शासन किया है। यदि हम किसी ऐसे धर्म की आत्मा को जानना चाहे जिसके पीछे विकास की एक लम्बी परम्परा रही हो, तो हम किसी एक स्तर पर उसके सम्प्रदाय या मतवाद पर विचार कर उसको नही जान सकते। धर्म की आत्मा का पता न तो उसके प्रारम्भिक रूपो मे लगता है, न उसके बाद के विकसित रूपों मे। किसी भी ऐतिहासिक प्रक्रिया को समस्त विकास का सर्वेक्षण करके और उस आन्तरिक अर्थ को हृदयंगम करके ही जाना जा सकता है जो प्रत्येक स्तर पर अपनी अभिव्यक्ति के लिए सचेष्ट होता है, यद्यपि किसी भी स्तर पर वह अपने को पूर्णतया अभिव्यक्त कर नही पाता। आत्मा

१. 'क्वीन्स हॉल', लन्दन में आयोजित 'वर्ल्ड कांग्रेस ऑव फेथ्स' (विश्व धर्म सम्मेलन) में ६ जुलाई, १६३६ को किया गया भाषण।

ही है जो धार्मिक इतिहास के विभिन्न स्तरो को एक सूत्र में गूथती है, जो सबसे आरम्भ और सबसे बाद के स्तरो पर विद्यमान रहती है। यह अर्थ, हिन्दूधर्म का यह आध्यात्मिक केन्द्रबिन्दु क्या है ?

यदि हम सिन्धुघाटी सभ्यता की ओर दृष्टिपात करें, जिसको पुरातत्त्वविदो ने पिछले दिनो उद्घाटित किया है, तो हमे पता चलता है कि मोहनजोदडो में जो धार्मिक स्वरूप के अवशेप प्राप्त हुए हैं, उनमे केवल मा भगवती की मूर्तिया ही नही हैं, वरन् एक नरदेवता की भी मूर्ति है जो ऐतिहासिक शिव का आदिरूप जान पडती है। स्पष्टत. आधुनिक हिन्दूधर्म की कई बातो का स्रोत बहुत पूर्व के पुरातनकाल मे मिलता है। सर जॉन मार्शल ने लिखा है कि मोहनजोदडो मे जिस नरदेवता की मूर्ति प्राप्त हुई है। वह त्रिमुखी है, वह देवता एक कम ऊचे पीठासन पर योगमुद्रा मे बैठा है, उसके दोनो पैर इस प्रकार मुडे हैं कि एडी से एडी मिल रही है, अगूठे नीचे की ओर झुके हैं और हाथ घुटनो के ऊपर आगे की ओर फैले हैं, उसके पीठासन मे, उसके चारो ओर मृग, हस्ति, सिंह, गैडा और भैंस आदि की आकृतिया उत्कीर्ण हैं।[1] यदि और अधिक पूर्व से नही, तो कम से कम ईसापूर्व ३२५० वर्ष से तो योगिराज शिव की यह मूर्ति वहा पडी ही हुई है, क्योकि पुरातत्त्वविदो ने सिन्धुघाटी सभ्यता को इतना ही प्राचीन बताया है। शिव की यह मूर्ति देशी निवासियो और प्राय आते-जाते रहनेवाले विदेशी आक्रामको मे से उन सब लोगो को, जिनके पास सुनने के लिए कान हैं, पुकार-पुकारकर कह रही है कि दूसरो के ऊपर राजा मत बनो, अपने ऊपर राजा बनो , केवल आत्मविजय, साहस, कठोर तपस्या, एकता और बन्धुत्व से ही जीवन मे पूर्णता प्राप्त की जा सकती है।

आजकल हम योग के विपय मे बहुत कुछ सुन रहे हैं, पश्चिम तक मे इसकी काफी चर्चा हो रही है। योग का अर्थ है हमारी प्रकृति के विभिन्न पक्षो को सन्तुलित करने की प्रक्रिया और साथ ही उससे प्राप्त परिणाम। हमारी प्रकृति के कई पक्ष होते हैं—शरीर, मन और आत्मा, वस्तुगत और भावगत, वैयक्तिक और सामाजिक, सान्त और अनन्त। भगवद्गीता के एक श्लोक मे कहा है कि इस ससार की जड़ें आकाश में हैं और इसकी शाखाए पृथिवी की ओर फैली हुई हैं।[2] मनुष्य की जडें 'अदृश्य' मे हैं जबकि उसका जीवन 'दृश्य' जगत् की प्रवहमान धारा से सम्बन्धित है। जब वह दृश्य, मूर्त, देश और काल से मापे जा सकनेवाली वस्तुओ की दिशा मे बढ रहा होता है, जब उसका जीवन विकासशील और परिवर्तनशील होता है, जब उसमे विकार और मृत्यु के लिए स्थान होता है, तभी वह ऐसी आत्मा भी होता है जिसका सम्बन्ध अदृश्य और अमूर्त जगत् से है, ऐसे जगत् से जिसके विपय मे भले ही हम सोचते हो और इसी अपने ससार मे उपलब्ध प्रतीको तथा रूपको की शब्दावली मे जिसके बारे मे बातें करते हों, फिर भी जिसका आकलन हम किसी प्रकार भी नहीं कर सकते। यदि हम यह

१ सर जॉन मार्शल कृत 'मोहनजोदडो एण्ड द इण्डस सिविलिजेशन', खण्ड १, पृष्ठ ५२-५३, (सस्करण १९३१)।

२ 'ऊर्ध्वमूलमध'शाखम्', पन्द्रहवा अध्याय, प्रथम श्लोक।

सोचते हो कि हमारी प्रकृति हमारे अस्तित्व की, जो हमारी चेतन जाग्रत् आत्मा है, लघुतरग के द्वारा सीमित कर दी गई है, तो हम अपने सच्चे अस्तित्व से अनजान हैं। हमारे जीवन का सम्बन्ध एक विशालतर आध्यात्मिक जगत् से है, इस बात का पता हमारी जाग्रत् चेतना में हमारे बौद्धिक आदर्शों, हमारी नैतिक उच्चाकाक्षाओ, सौन्दर्य के प्रति हमारी लालसाओ और पूर्णता के लिए हमारी अभिलाषा के द्वारा भी चल जाता है। हमारी चेतनात्मा के पीछे हमारा गुप्त अस्तित्व है जिसके बिना हमारी बाह्य चेतना न तो बनी रह सकती है, न कार्य ही कर सकती है। हमारे भीतर जो चेतना है, वह अशत. प्रकट है और अशत. अप्रकट। हम अपने अस्तित्व के अभी तक अप्रकट अशो को सक्रिय करके अपनी चेतना के जाग्रत् अश को विस्तृत कर सकते हैं। हमारा यह कर्तव्य है कि हम अपने को भ्रमवश शरीर, जीवन या मन समझने के बजाय यह जानें कि हम आध्यात्मिक प्राणी हैं। भले ही हम तात्कालिक और यथार्थ वस्तुओ से तथा अपनी सीमित आत्मचेतना से अपनी जीवनयात्रा प्रारम्भ करते हो, तथापि हम दृष्ट और अदृष्ट जगत् से अपने चतुर्दिक् के और अपने से ऊपर के भी ससार से प्राप्त अनुभवो को इसमे सगृहीत करके इसको सतत विस्तृत और समृद्ध कर सकते हैं। यही मनुष्य का लक्ष्य है। उसका विकास इसीमे है कि वह निरन्तर अपने इन्द्रियातीत आत्मरूप को जानने की चेष्टा करता रहे और तब तक करता रहे जब तक वह अपनी सम्भावी एवं मूलप्रकृति तक न पहुच जाए, जिसको जीवन के बाह्य रूप या तो छिपाए रखते हैं या ठीक तरह से अभिव्यक्त नही होने देते। इस प्रक्रिया के द्वारा हम अपनी वैयक्तिकता को नष्ट नही करते, वरन् सर्वव्यापी अस्तित्व के चेतनरूप मे परिवर्तित कर डालते हैं, उसे इन्द्रियातीत दैवी सत्ता की वाणी बना देते हैं, जिसके माध्यम से वह अपने को व्यक्त करता है। मूलप्रवृत्त्यात्मक और बौद्धिक—दोनो प्रकार के प्राणी आध्यात्मिक व्यक्तित्व मे अपनी पूर्णता को प्राप्त करते हैं। आत्मा के द्वारा पंचभौतिक शरीर पवित्र और एकतान हो जाता है, बुद्धि प्रदीप्त होकर जीवन के लक्ष्यो की ओर नियोजित कर दी जाती है। शरीर और मन, मूलप्रवृत्ति और बुद्धि आत्मा के निरकुश स्वामी न बन-कर उसके आज्ञानुवर्ती सेवक बन जाते हैं।

मनुष्य, प्रकृति के अन्य उत्पादनों से इस बात मे अद्वितीय है कि उसमे प्रकृति चैतन्यरूप से अपना अतिक्रमण करने की चेष्टा करती है। अपने अन्य उत्पादनो की भाति प्रकृति की क्रिया मनुष्य मे स्वयचालित या अचेतन नही होती, वरन् उसमे मान-सिक और आध्यात्मिक प्रयास रहता है। मनुष्य कोई पौधा या पशु नही है, बल्कि एक चिन्तनशील और आध्यात्मिक प्राणी है, जो अपनी प्रकृति को उच्चतर प्रयोजनो की सिद्धि के लिए नियोजित करता है। वह अपनी प्रकृति के विभिन्न अगो मे व्यवस्था और सामजस्य स्थापित करने की चेष्टा करता है और समन्वयात्मक जीवन के लिए प्रयत्न-शील रहता है। जब तक वह संगठित और पूर्ण जीवन की प्राप्ति नही कर लेता, तब तक अपने को सुखी नही अनुभव करता। उसमे सदा एक मानसिक और नैतिक विक्षुब्धता बनी रहती है, वह जो है और जो होना चाहता है, इसके मध्य बराबर एक तनाव बना रहता है; भूतद्रव्य, जिससे मनुष्य का अस्तित्व सम्भव हो पाता है और आत्मा, जो भूत-

द्रव्य को एक महत्त्वपूर्ण प्राणी मे परिवर्तित कर देती है, के मध्य सघर्ष छिड़ा रहता है।

[२]

मानव-जीवन मे जो वर्तमान सक्टपूर्ण स्थिति उत्पन्न हुई है, उसका कारण यह है कि मानव-चेतना मे आपत्काल उपस्थित हो गया है, सगठित एव पूर्ण जीवन मे न्यूनता आ गई है। लोगो की ऐसी प्रवृत्ति हो गई है कि वे आध्यात्मिकता की उपेक्षा कर रहे हैं और बौद्धिकता को बढावा दे रहे हैं। इस प्रवृत्ति का मूलस्रोत मुख्यत. यूनानियो के प्रभाव मे खोजा जा सकता है। यूनानियो ने पाश्चात्य मस्तिष्क का झुकाव विज्ञान की ओर सुनिश्चित कर दिया और सत्य के लिए सत्य के अन्वेषण पर वल दिया। यूनानी सभ्यता मानवीय मनीषा की एक श्रेष्ठ उपलब्धि थी और वह किसी भी प्रकार एकागी न थी। पश्चिम ने यूनानियो से उत्तराधिकार मे जो प्राप्त किया, उसीके द्वारा वह ससार का पुनर्निर्माण करने मे समर्थ हुआ है। पृथिवी, समुद्र और पवन को मानव की सेवा करने के लिए विवश कर दिया गया है। यद्यपि वुद्धि की सफलताए महान हैं, तथापि उसकी असफलताएं भी कम महान नही हैं। जीवन की कुछ अत्युत्तम वस्तुए इसकी छलनी मे छनकर निकल गई हैं। ये वस्तुए गवार और अपढ कहे जानेवाले किसानो के पास तो थी जो अधिक प्रकृत जीवन विताते थे तथा जिनकी जीवन-सम्वन्धी धारणाए अध्यात्मपरक थी। यद्यपि उनकी दशा सदा से ही दयनीय और हीन रही थी तथापि उनके हृदयो में आशा की ज्योति दीपित थी, उनके जीवन मे कविता की चिनगारी थी, और उनके मानवीय सम्वन्धो मे थी एक आनन्दपूर्ण भावना की अनुभूति। वे भले ही अज्ञानी और अन्धविश्वासी रहे हो, परन्तु मानवीय मूल्यो से पूर्णत रहित वे कभी नही रहे। उनके जीवन मे रिक्तता न थी और न था सन्तुष्टि का अभाव। उनमे स्नेह की गम्भीरता थी, जीवन मे तुच्छ दिखाई देनेवाली वस्तुओ को भी वे वहुत महत्त्व देते थे, उनमे प्रेम, साहचर्य और अपने परिवार के प्रति ममत्व था, उनके जीवन-सगठन मे एक रहस्यात्मक तत्त्व था, अदृष्ट परमेश्वर मे उनकी अगाध आस्था थी, भाग्य और भगवान के भरोसे ही उनके सारे स्वप्न टिके होते थे। वुद्धि का कार्य है रहस्य का परदा हटाना, स्वप्नो को मिटाना, जीवन को उसकी माया-मरीचिका से रहित करना और मानव-जीवन के महान नाटक को, जो सुखान्त तो यदा-कदा ही होता है, पर दु खान्त वहुधा, नीरस तमाशे में वदल देना। आदिकालीन विश्वासो एव सम्प्रदायो को, जो स्वस्थ और सुखी जीवन विताने मे अपने अनुयायियो की सहायता उनके स्तर पर करते थे, भद्दे अन्धविश्वास कहकर टाल दिया जाता है। प्रत्येक वस्तु आत्मा और आन्तरिक जीवन से विच्छिन्न कर दी गई है। हमे मानने को कहा जा रहा है कि यह ससार ही सव कुछ है और हमे इसीसे सतुष्ट रहना है।

किन्तु, धर्म से इतनी आसानी से पीछा नही छुडाया जा सकता। जव मनुष्य मे यह भाव या भय आ जाता है कि अन्तत जीवन की कोई सार्थकता है ही नहीं, इसका कोई लक्ष्य नही है और इसके मूल मे वस्तुत. न तो किसीकी आवश्यकता है और न कोई वस्तु इसके उपयुक्त ही है, तव वह जीवन धारण नही कर सकता। भले

हो, जीवन का कोई उद्देश्य न हो, तो भी मनुष्य को कुछ स्वप्न तो अवश्य पालने चाहिए। मनुष्य को आशा से वंचित करना जीवन के प्रति उसकी रुचि को छीन लेना है। धर्म मानव-जीवन की इस आवश्यकता से, सर्वव्यापक प्रत्यक्षवाद की इस मूलभूत अपर्याप्तता से, साहचर्य की इस आद्यबुभुक्षा से अपना काम बनाने की चेष्टा करता है। जीवन की क्षणभंगुरता को देखकर मनुष्य के मन में यह उत्कट आशा जागती है कि शरीर के अन्त के साथ ही उसके जीवन का भी अन्त नही हो जाता, वह यह भी समझता है कि निर्दोष व्यक्ति के जीवन मे दुःख की अंधियारी के बाद सुख की उजियारी भी अवश्य आती है, और दुष्ट व्यक्ति की विजय एक न एक दिन पराजय मे परिणत होती ही है। यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्य का अपना महत्त्व है। विभिन्न धर्म मनुष्य मे जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न कर, उसको जीवनयापन की विधि बतलाकर और उसे एक धार्मिक सम्प्रदाय तथा जाति मे दीक्षित कर उसकी इस आधारभूत आवश्यकता को सन्तुष्ट करने की चेष्टा करते हैं, और इस प्रकार ऊपर के आध्यात्मिक जगत् एवं चतुर्दिक् के मनुष्य जगत् से उसका जो सम्बन्ध टूट चुका होता है, उसे जोड देते हैं। जबकि धर्मों के प्रणेता महापुरुष, मसीहा और पैगम्बर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं और यहूदी तथा गैर-यहूदी, यूनानी और बर्बर गैर-यूनानी मे कोई अन्तर नहीं करते, तब धर्म के व्यापारी यह ऐलान करते हैं कि अपने धार्मिक सम्प्रदाय और समूह की महानता ही व्यक्ति का साध्य है और बलप्रयोग तथा हिंसा ही उसके साधन है। वे विश्वनिष्ठा को क्षीण करके उसके स्थान पर समूहनिष्ठा को प्रश्रय देते हैं। इस प्रकार की रणोद्यत परिस्थिति में ही अधिकाश लोगो को जीवन सार्थक लगता है। इन धर्मों मे से किसे अच्छा कहे और किसे बुरा, सभी एक ही थैली के चट्टे-बट्टे हैं, क्योंकि सभी अन्धविश्वास और धर्मान्धता को बढावा देते हैं तथा समूह-निष्ठाओ, निहित स्वार्थों एवं अति प्राचीन, अति असंस्कृत और आदिकालीन मतवादो को प्रश्रय देते हैं। ये व्यावसायिक धर्म अधिक भ्रष्ट होते हैं, अधिक भयावह होते हैं, क्योंकि उनकी रचना उस बुद्धि के द्वारा हुई होती है जो मनुष्य के स्वाभाविक सम्बन्धो में व्यवधान उपस्थित करती है।

यदि मनुष्य को अपने प्रकृत स्वभाव का अनुसरण करने दिया जाए, तो वह समस्त विश्व के साथ, विशेषतः सजीव वस्तुओ और मनुष्यो के साथ अपनत्व अनुभव करता है। सामाजिकता की भावना मनुष्य के हृदय मे बद्धमूल है। इस दिखावटी संसार में भी, जहा बुद्धि ने हमारे ऊपर कौम-कबीला, जाति-बिरादरी और राष्ट्र आदि के प्रतिबन्ध आरोपित कर दिए हैं, मनुष्य की मूलभूत मानवीयता का उत्स समय-समय पर फूट निकलता है। जब कभी जापान मे कोई भूकम्प होता है, या भारत मे अकाल पड़ता है, या ब्रिटेन की किसी खान मे विस्फोट होता है अथवा अतलान्तिक महासागर मे कोई वायुयान टूट गिरता है, तब हमारे हृदय की समवेदना इन आकस्मिक विपत्तियो के शिकार व्यक्तियों के प्रति सहज ही प्रस्रवित हो उठती है। जब कभी वीरता या साहस का कार्य होता है, विज्ञान या कला मे प्रतिभा की कोई उपलब्धि होती है, तब हमें गर्व का अनुभव होता है, हम यह पूछने के लिए नही रुके रहते कि इन कार्यो का कर्ता किस धर्म

या जाति का है। ससार के महान व्यक्तियो के प्रति सम्मान प्रकट करने के लिए हमारे हृदयो मे स्वत स्फूर्ति होती है और हम यह जानने के लिए प्रतीक्षा मे बैठे नहीं रहते कि कोई रणजी या कोई रॉबिसन हमारे समुदाय या जाति का है या किसी अन्य का। प्रकृति का एक स्पर्श हमारे भीतर समस्त ससार के प्रति आत्मीयता ला देता है। सम्पूर्ण मानवता के साथ साहचर्य और मैत्री की भावना हमारी प्रकृति मे बद्धमूल है। हम एक ही विश्व-समाज के सदस्य हैं। हमारी बौद्धिक चेतना ही हमारे भीतर वैयक्तिक अलगाव की भावना उत्पन्न करती है। मनुष्यो मे पुन साम्प्रदायिक सम्बन्ध स्थापित करने के कृत्रिम उपायो के द्वारा यह अस्वाभाविक विकास रोक दिया जाता है। दुर्भाग्यवश, ये उपाय बिना किसी रंग या जातिगत भेदभाव के, मनुष्य को मनुष्य से जोड़नेवाले अदृश्य सम्बन्ध-सूत्रो को दृढ करने और मानवता के एकत्व की प्रकृत भावना को पनपाने के बजाय मनुष्यो को परस्पर विरोधी शिविरो मे विभक्त कर देते हैं। हमे जाति और राष्ट्र की रहस्यात्मक आराधना की शिक्षा दी जाती है। कूटनीतिज्ञ और पण्डे-पुजारी बलात् और धोखेधडी से, राजनीति और मिथ्या धर्मों के नाम पर हमारे भीतर भय और लोभ जैसी नीच वासनाओ को उभारकर अपना उल्लू सीधा करते हैं और रक्त, जाति तथा राष्ट्र के भयकर अकुश हमपर लगा देते हैं। इस प्रकार, वे मनुष्य की आत्मा मे भेदवृत्ति को उकसाते हैं। किसी भी देश और काल मे राजनीतिक तानाशाहो और धार्मिक रूढि-वादियों ने मानव-मात्र मे पाई जानेवाली एकात्मता की भावना को, उसकी लालसाओ और प्रतिक्रियाओ को, उसके आदर्शो और उच्चाकाक्षाओ को समझने की कभी चेष्टा नही की। धर्म जनता को नरक और शाप का भय दिखाते हैं और न जाने ऐसी ही कितनी भ्रमात्मक बातों का प्रचार करते हैं, वे अपने को दिव्यसन्देश का एकमात्र अधिकारी बताने की धृष्टता तक करते हैं, राजनीतिक शक्ति का सहारा लेते हैं, 'मुक्ति-प्रदाता' अपने मिशनो के स्वप्नो से सारी की सारी जनता को धार्मिक नशे मे चूर कर देते हैं, लोगो के मनो मे मिथ्या स्मृतिया जगाते हैं, पुराने घावो को कुरेद-कुरेदकर ताज़ा रखते है और लोगो मे अहम्मन्यता तथा उत्पीडन का उन्माद उत्पन्न करते हैं। अपने इन कार्यो से धर्म मनुष्य के हृदय से ससार के साथ एकात्मता की भावना नष्ट कर देते हैं और मानवता को ऐसे सकीर्ण समूहों मे विभाजित कर देते हैं, जो घमण्डी, महत्त्वा-काक्षी, कटुभाषी एव असहिष्णु होते हैं। राजनीति के साथ गठबन्धन करके धर्म अपना अध पतन कर डालता है और भौतिकवाद की ही एक किस्म बनकर रह जाता है।

हम केवल इसलिए प्रकृति पर विजय पा लेने का विश्वास करते हैं, क्योकि विज्ञान ने अज्ञात की सीमाओ को हमसे कुछ और दूर धकेल दिया है, तो भी हम खुद अपनी प्रकृति पर विजय प्राप्त करने मे अभी उतने ही असफल हैं जितने कभी थे। अपने जीवन को बाह्यत सगठित करने की हमारी समस्याए किन्ही अशो मे बहुत अनिवार्य नही हैं, परन्तु जब तक हम अपने लोभ और स्वार्थ की लालसाओ पर विजय नहीं पा लेते, तब तक हमारी बाह्य विजय हमारी आन्तरिक बर्बरता के प्रयोग की सामग्री-मात्र बनकर रह जाएगी। सदियो तक हमें जो एकागी प्रशिक्षण मिला है, उसीके कारण हमारी प्रकृति मे बर्बरता को अधिक स्थान प्राप्त हो गया है। हमारी यह स्वभावगत

बर्बरता सब प्रकार की बाह्य शक्तियों के सामने नाक रगड़ने को प्रस्तुत रहती है। इसको नैतिक नियम या आध्यात्मिक आदर्श आकर्षित नही करते, वरन् पाशविक शक्ति आकर्षित करती है। हम भय, लोभ, स्वार्थमय लालसाओ तथा मन की संस्कारहीनता के वशीभूत होकर ही किसीका आदर करते हैं। ससार की समस्त दु खान्त परिस्थितियो का, चाहे वे परिस्थितिया व्यक्तिगत हो अथवा राष्ट्रीय, कारण मुख्यत. यह है कि हम विनाशकारी तथा विस्फोटक वासनाओ के चगुल मे फस गए हैं। ये वासनाएं सहज ही हमारे मन से दूर नहीं हो पातीं, फल यह होता है कि हम अपरिहार्य रूप से अपने सर्वनाश की ओर खिचे जा रहे हैं।

अपनी भौतिक सम्पत्तियो और बौद्धिक उपलब्धियों, अपनी नैतिक आचार-सहिताओ और धार्मिक सिद्धान्तो के बावजूद आज हमारा जीवन सुखी नही है। यदि हम आज लोगो के अन्तरतम के विचारो को किसी प्रकार जान पाते, तो हमे पता चलता कि लाखो लोग खुद अपने से और अपने उन व्यवसायो से, जिनमें उनकी सारी शक्तिया खप रही हैं, असन्तुष्ट हैं। उनका जीवन कान्तिहीन और निरानन्द हो गया है, उनके जीवन मे ऐसी आशाए नही जो उन्हे प्रेरणा प्रदान कर सकें, ऐसी महत्त्वाकाक्षाए नही जिन्हें वे उपलब्ध करें, ऐसा कोई सुख नही जो भविष्य मे उन्हें प्राप्त होनेवाला हो, और न कोई ऐसी आस्था ही है जिसके सहारे वे अपनी जीवन-नौका खे सकें। उनके मन और मस्तिष्क विभ्रान्त हो गए हैं, अत उनके कार्यों में कोई सगति और सार्थकता नहीं दिखाई देती। उदाहरण के लिए, इस एक समस्या को ही लीजिए जिसपर इस समय हमारा सारा ध्यान और प्रयास केन्द्रित है। समस्या यह है कि ससार को शान्ति और मानवता के लिए सुरक्षित स्थान कैसे बनाया जाए। यह महान देश इस प्रश्न पर आज दुविधा मे पडा हुआ है। यह आज निर्णय नहीं कर पा रहा कि शक्ति की राजनीति और शान्ति की राजनीति मे से यह किसे चुने, दूसरे देशो के साथ किए गए गुप्त समझौतों और 'लीग ऑव नेशन्स' के प्रतिज्ञापत्र (कॉवेनैंट) मे से किसे अपनाए, अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था तथा न्याय मे से यह किसे अगीकार करे। युद्ध की निरर्थकता, उसकी विभीपिका और सभ्यता के लिए उसके होनेवाले भयकर परिणामो को हम भली प्रकार समझ चुके हैं, फिर भी स्वनिर्मित व्यवस्था के वशवर्ती होकर हम युद्ध की दिशा मे बढते चले जा रहे हैं। ऐसा जान पडता है मानो हम विवेकशील मनुष्य न होकर उन अन्ध और गूढ शक्तियो के शिकार-मात्र हैं, जो धीमे-धीमे, किन्तु अदम्य रूप से हमसे सब वस्तुओ को दूर हटाती जा रही हैं। आज ससार की जो दशा है, वह हमको जोजेफ कोनरड के 'टाइफून' (तूफान) मे वर्णित एक कहानी की याद दिलाती है। कहानी एक जहाज मे यात्रा कर रहे कुछ चीनी कुलियो से सम्बन्धित है। जब जहाज एक भयकर तूफान मे फसा होता है तब उसके यात्री चीनी कुली कुछ खोए धन के विवाद को लेकर एक-दूसरे की हत्या करने लग जाते हैं। हम राष्ट्रीय गौरव और प्रतिष्ठा के निमित्त, जो 'काल्पनिक भावत्मकता' और बाजारू मूर्तिया हैं, बडे से बड़ा बलिदान करने के लिए, सामूहिक आत्मघात का सकट मोल लेने के लिए प्रस्तुत हैं, किन्तु अपने अधीनस्थ राष्ट्रो को स्वतत्र करके, राष्ट्रीय प्रभुसत्ता पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्वीकार करके और

पिछडे क्षेत्रो को स्वशासन का अधिकार देकर हम विश्वशान्ति के लिए कोई बलिदान करने को तैयार नही हैं। व्यक्तियो की भाति ही राष्ट्रो का निर्माण भी केवल उनकी उपलब्धियो से नही होता, वल्कि इस बात से होता है कि वे कितना त्याग करने की क्षमता रखते हैं। हमारे जीवन और ससार मे विराट परिवर्तनो का क्षण उपस्थित है, विभिन्न प्रकार के विचारो मे सघर्ष हो रहे हैं। समझ मे नही आता कि जिन राष्ट्रो पर समाज के नैतिक नेतृत्व का उत्तरदायित्व आ पड़ा है, वे कुख्यात आदर्शों से क्यो चिपके हुए हैं ? क्या यह आवश्यक है कि हम युद्ध के सागर का सन्तरण करें ही, नरक की विभीषिका से गुजरें ही ? क्या इसके पूर्व ही हम अपने झगडो को नही निपटा सकते ? विभिन्न राष्ट्रो के परस्पर विरोधी स्वत्वाधिकारो मे क्या हम औचित्य और न्याय की भावना से सामञ्जस्य नही स्थापित कर सकते ? किसी भी युद्ध के पश्चात्, जब प्रतिपक्षी राष्ट्रो में घृणा का ज्वार अपने उफान पर होता है, यदि कोई शान्ति-सन्धि की जाए, तो उसमे निश्चित रूप से विजित पक्ष के साथ अन्याय किया जाता है, पराजित शत्रु को हर प्रकार से दवाने और नीचा दिखाने की कुचेष्टा की जाती है। वार्साई की सन्धि इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस समय कोई युद्ध नही छिडा हुआ है जिससे हम उद्विग्न और विभ्रान्त हो। अत यही वह समय है जब सारी परिस्थिति का उचित आकलन किया जा सकता है और रचनात्मक शान्ति के लिए कार्य करना सम्भव हो सकता है। जिन उद्देश्यो को लेकर युद्ध किए जाते हैं, उनकी पूर्ति कठिनता से ही हो पाती है, और यदि उनकी पूर्ति हो भी जाए, तो उनके द्वारा जो अन्य परिणाम पैदा होते हैं, वे इतने अनिष्टकर होते हैं कि विजेताओ को भी अपनी सफलताओ से कोई लाभ नही पहुचता। यदि हम तनिक कल्पना कर पाते कि जिन अस्त्र-शस्त्रो का ढेर हम लगाते जा रहे हैं, उनका जब प्रयोग होगा, तब सामान्य जन पर कितनी विपत्ति और विनाश का पहाड टूट गिरेगा, कितनी आह-कराह और हाहाकार का दृश्य उपस्थित हो जाएगा! युद्ध यदि हुआ तो उस स्थिति मे कितना विनाश होगा, इसका अनुमान लगानेवाले आकडो मे यह तथ्य तो आखो से ओझल ही कर दिया जाता है कि मानव-हृदय कितना शोकसतप्त हो रहेगा और मानव-मन पर कितना अधिक तनाव पडेगा। ऐसा लगता है कि वे आकडे रक्त-मासयुक्त प्राणियो की स्थिति पर विचार न करके मिट्टी और पानी जैसी निर्जीव वस्तुओ पर विचार करते हो—इतने सवेदनशून्य वे होते हैं! क्या मानवता की नीतिज्ञता और विवेकशीलता का एकदम दिवाला ही निकल जाएगा और वह अपने भविष्य को सहारकारी युद्ध के निर्णय के भरोसे छोड देगी ? क्या हम युगो तक प्रवुद्ध और ज्ञानवान रहने के पश्चात् अपने विवेक की हार स्वीकार करने जा रहे हैं और अन्धयुग की वर्वरता की ओर पुन लौट जाना चाहते हैं ?

हम सतही जीवन जीने के अभ्यस्त हो गए हैं, गम्भीरतापूर्वक सोचने-विचारने से डरने लगे हैं, क्योकि हमारी विचारणा भ्रान्त और अव्यवस्थित हो चुकी है; हम मानसिक द्वन्द्वो से पीडित हैं। हम अपनी वास्तविक प्रकृति से अलग हो गए हैं, हमारे अन्त करण मे जो विश्वजनीन भावना है, उससे हम अपने अहवादी सवेगो तथा अपनी विघटनकारी प्रवृत्तियो के कारण दूर होते जा रहे हैं। रॉडिन ने एक अद्भुत मूर्ति का

निर्माण किया है जिसका शीर्षक है 'द थिंकर' (चिन्तक)। उस मूर्ति में एक विशालकाय पुरुष को इस मुद्रा मे दिखाया गया है : वह बैठा है और उसका सिर झुका हुआ है; वह शून्य मे आंखें गडाए देख रहा है; उसके चेहरे पर कष्ट और चिन्ता की रेखाएं उभरी हुई हैं, लगता है जैसे वह किसी ध्यान मे निमग्न है, वह देखता जा रहा है, देखता जा रहा है ' पर, किसे ? वह एक युग के वाद दूसरे युग पर, एक ससार के वाद दूसरे ससार पर दृष्टिपात करता जा रहा है। वह देखता है कि मनुष्य काल की दीर्घा मे चलता चला जा रहा है, वह अपने जटिल, विसवादी एव विभाजित 'अह' को नियन्त्रित करने की चेष्टा करता है और पूछता है—क्या इस विभाजन से हमारा पीछा कभी न छूटेगा ? क्या हम सदैव उच्च लक्ष्य वनाकर भी ओछा व्यवहार ही करते रहेगे ? क्या हमारे भाग्य मे यही लिखा है कि हमारा 'अह' सदा-सदा के लिए विभक्त वना रहे, हम सदा उद्भ्रान्त दृष्टि से देखा करे, सार्वभौम मानवीय शील एव सौजन्य का तो महत् आदर्श लेकर चलें और आचरण ऐसी नीतियो पर करें जो हमे सार्वभौम वर्वरता की ओर ले जाती है ? क्या कारण है कि हमारे भीतर औचित्य और न्याय के सिद्धान्तो के आधार पर अपने व्यवहारो और कार्यों का नियमन करने का साहस, आत्मत्याग, कल्पना और उदारता नही है ?

हिन्दू और वौद्ध दार्शनिक इस वात मे विशेषत: एकमत हैं कि हमारे दारुण दु खो का कारण है 'अविद्या' या अज्ञान और हमारे मोक्ष का कारण है 'विद्या' (विवेक) तथा 'वोधि' (ज्ञान का प्रकाश)। 'विद्या' वह वौद्धिक ज्ञान है जो मनुष्य मे आत्मचेतना और आत्मनिग्रह उत्पन्न करता है। हमारी चिन्ताए हमारी वौद्धिकता से सम्वद्ध हैं। वुद्धि के कारण हमारे जीवन मे दरार पड जाती है। मानव-जीवन मे सामान्य और प्राकृतिक व्यवस्था का जो व्यतिक्रम दिखाई देता है, उसका कारण प्रत्यक्षत. मनुष्य की वौद्धिकता मे खोजा जा सकता है, वुद्धि के कारण ही मनुष्य का अपने को जानने और दूसरो की अपेक्षा अपने को विशिष्ट दिखाने का तरीका अन्य प्राणियो से भिन्न है। 'पहली वात' तो यह है कि वह चिन्तनशील प्राणी है और अनिश्चित भविष्य की कल्पना कर सकता है जिससे उसमे आशाओ और भयों की उत्पत्ति होती है। शेष प्रकृति अवाधित रूप से प्रशान्त स्थिति मे रहती है, किन्तु मनुष्य को ज्ञात रहता है कि मृत्यु अपरिहार्य है। मृत्यु का यह ज्ञान मनुष्य मे मृत्यु का भय पैदा करता है। वह उन उपायो तथा साधनों की खोज के लिए चिन्तित रहता है जिनसे वह मृत्यु पर विजय पा सके और चिरन्तन जीवन की उपलव्धि कर सके। उसकी पुकार है—इस मृत्यु मे मेरी रक्षा कौन करेगा ? यद्यपि वह ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया से उत्पन्न हुआ है, तथापि वह उससे शत्रुता रखता है। प्रकृति, जो मनुष्य की जन्मदात्री और पोषणकर्त्री है, उसके विषय मे कल्पना की जाती है कि वह मनुष्य के अस्तित्व के लिए संकट है। भय उसपर इतना हावी हो गया है कि वह उसके जीवन को निष्फल किए दे रहा है, उसकी दृष्टि को दूषित कर रहा है और उसके सवेगो का गला घोट रहा है। 'दूसरी वात' यह है कि सजीव ब्रह्माण्ड के साथ मनुष्य की अकृत्रिम एकात्मता, उसकी अनिवार्य निर्दोषता या साहचर्य की भावना नष्ट हो गई है। समाज के तर्कसगत सगठन मे वह स्वेच्छा से सह-

योग नही दे रहा। वह सामाजिक कल्याण से भी अधिक अपनी व्यक्तिगत रुचियों को महत्त्व देने लगा है। 'तीसरी बात' यह है कि मृत्यु का ज्ञान और पार्थक्य का ज्ञान आन्तरिक विभेद को जन्म देते हैं। मनुष्य खण्डात्मकता का शिकार हो जाता है। वह एक विभक्त, खण्डित प्राणी बन जाता है जिसको सन्देह, भय तथा कष्ट सदा सताते रहते हैं। उसकी व्यक्तिसत्ता टूक-टूक हो जाती है, उसका मूल केन्द्रबिन्दु स्खलित हो जाता है और उसकी स्वभावगत ऋजुता समाप्त हो जाती है। वह स्वतन्त्र आत्मा नहीं रह जाता। वह निष्ठुर भय और पार्थक्य से बचने के लिए वाह्य साधनो की सहायता खोजता है। वह कभी तो प्रकृति का पल्ला पकडता है, कभी अपने पडोसियो का और कभी जो कुछ उसे मिल जाता है उसीका। जीवन से भयभीत होकर वह लोगो की भीड मे समा जाना चाहता है। मानव-जाति की वर्तमान भयातुर दशा आध्यात्मिक मृत्यु का ही दूसरा नाम है, क्योंकि इस दशा मे हमारी चेतना मे भय व्याप्त हो गया है, हम सदा सतर्क रह रहे हैं, झझटो और उलझनो को दूर-दूर रखने की चेष्टा करते हैं, हमारा जीवन सदा दूसरो के आक्रमण से अपना बचाव करने के लिए सन्नद्ध रहता है, हमने प्रकृति और मानव-समुदाय से अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया है। जिस ससार मे आज हम रह रहे हैं, उसमे निरन्तर भय और हिंसा का बोलबाला है, युद्ध और युद्ध की अफवाहो से वह आतकित हो रहा है, यहा हम हर चीज से डरे हुए हैं, अपने पैरो के नीचे हमे विस्फोटक सुरगो के होने की आशका होती है, झुरमुटों को देखते ही हमें सन्देह होता है कि इनके पीछे छिपा हुआ कोई हमपर गोली न चला दे, जिस हवा मे हम सास लेते हैं और जो भोजन हम खाते हैं, उनमे विष होने का हमे भय होता है—यह सब क्या है ? हमको तो लगता है कि आज का हमारा जीवन केवल अज्ञानता का सामान्य जीवन है जो तीव्रगामी, सकुल और अतिरजित है। दु ख तो इस बात का है कि हम अपनी इस अज्ञानता से अनजान हैं। रोग जितना ही अधिक होता है, रोगी उतना ही कम समझदार होता है—'आरत के हिय रहत न चेतू।'

महान मनीषियो के कथन से इस बात की पुष्टि होती है कि धर्म की समस्या मनुष्य की प्रकृति मे अन्तर्निहित है, यह मनुष्य की आत्मा के विभाजन से उत्पन्न होती है। एक प्रचलित आख्यान के अनुसार, अतिपुरातनकाल के धुधलके मे गम्भीर तनाव पैदा होने से मानव-इतिहास का आरम्भ हुआ और तभी से द्वन्द्वात्मक आन्दोलन भी प्रारम्भ हुआ जिसको आज भी हम देख रहे हैं। प्रथम अतिचार के फलस्वरूप फूट की भावना का प्रवेश हुआ। मानव-चेतना मे प्रबल विक्षोभ होने से प्राकृतिक सम्बन्धो में एक क्रान्ति हो गई। स्वर्ग से शैतान के पतन की कथा सामजस्य के विघटन का, पुरातनकालीन ऐक्यभावना की अनैक्य मे परिणति का, सहयोगात्मक जीवन का वियुक्त आत्मकेन्द्रित जीवन मे परिवर्तन का प्रतीक है। मोक्ष का अर्थ है मानव-प्रकृति का पुन. एकीकरण।

धर्म का अर्थ है भय पर विजय, विफलता और मृत्यु का प्रतिकार। भय मनुष्य की बौद्धिकता की अभिव्यक्ति है, उसे मनुष्य की परिस्थितियो मे परिवर्तन करके दूर नहीं किया जा सकता। यह कोई मूलप्रवृत्यात्मक भय नही है जिसे अन्य नैसर्गिक

प्रवृत्तियो को उत्तेजित करके विस्थापित किया जा सके। हम पशुओ की भांति उप-बौद्धिक स्थिति को अपनाकर अथवा मनस्ताप उत्पन्न करनेवाली तर्कना को पूर्णत. हटाकर इससे छुटकारा नही पा सकते। मनुष्य अपनी बौद्धिकता को नही त्याग सकता। हम काल्पनिक कथाओ और भ्रमात्मक बातो से अपना मन तो बहला सकते हैं, परन्तु अपनी शकाओ का समाधान नहीं कर सकते। हम एक प्रकार की मनोवैज्ञानिक शान्ति तो प्राप्त कर सकते हैं, किन्तु वह टिकाऊ नही होगी। भय से सच्ची मुक्ति तो ज्ञान या विवेक के द्वारा ही मिल सकती है। ज्ञान या विवेक ही वह सत्य है जो भय को दूर भगाता है। जब तक धर्म स्वय भय की अभिव्यक्ति हैं, तब तक उनसे प्राप्त होनेवाली सुरक्षा हमे बहुत महगी पडती है और उनसे मानव-जीवन विकृत ही होता है। धार्मिक रूढ सिद्धान्त हमे पारस्परिक विनाश की ओर ले जाते हैं, धार्मिक श्रद्धाए निरर्थक आत्मबलि के लिए डाला हुआ फन्दा सिद्ध होती हैं। आपस मे लडने-झगडनेवाले ऐसे धार्मिक सम्प्रदायो के प्रति, जो स्वय निरकुश और अप्रमाण्य हैं, निष्ठा रखने की मांग करके हम मनुष्यो को एक-दूसरे का विरोधी बना देते हैं। धर्म के वे आदर्श तत्त्व जो सार्वभौमवाद की प्रेरणा देते हैं और वे प्रचलित विश्वास तथा सस्थागत आचरण जो सकुचित समूहनिष्ठा को प्रोत्साहन देते हैं, एक-दूसरे से मेल नही खाते।

हमे तो एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो मानवात्मा को मुक्त करता हो; जो मनुष्य के मन मे भय को नही, आस्था को, औपचारिकता को नही, स्वाभाविकता को, यात्रिक जीवन की नीरसता को नही, नैसर्गिक जीवन की रसात्मकता को बढावा देता हो। हमे नही चाहिए ऐसा धर्म जो मनुष्य के मन का यत्रीकरण कर देता हो, जिसका फल धार्मिक कट्टरता के रूप मे सामने आता है। हमे ऐसा धर्म नहीं चाहिए जो लक्ष्यो का यत्रीकरण करके अपने अनुयायियो से बिलकुल एक जैसा आचरण करने की माग करने लगता हो। जब कोई व्यक्ति जीवन के सार्वभौम स्रोत के सपर्क मे आ जाता है, तब वह प्राणशक्ति से भर उठता है और अभय हो जाता है। जब हम आत्मा के गुप्त बीज को, जो हमारी प्रकृति के आवरणो के भीतर छिपा हुआ पडा है, खोज निकालते हैं और अपने जीवन का उसके अनुरूप सगठन कर लेते हैं, तो जीवन प्रकाश और आनन्द से परिपूर्ण शुद्ध ज्योति बन जाता है। "ब्रह्मानन्द से परिचित होने के पश्चात् वह किसी वस्तु से नही डरता।"[1] "केवल एक उसीको जानकर पुरुष मृत्यु के पार हो जाता है।"[2] "एकमात्र परमेश्वर का साक्षात् करनेवाले पुरुष के लिए कौन-सा मोह और कौन-सा शोक रह जाता है?"[3] आत्मा एकाकी या पृथक् नहीं रह जाती। वह अपने चतुर्दिक् के संसार के साथ एकाकार हो जाती है और निराशा तथा अवज्ञा से वह बच जाती है। जीवन मे आध्यात्मिकता को स्थान मिल जाता है जिससे उसको एक नवीन गम्भीरतर महत्त्व तथा प्रयोजन प्राप्त हो जाता है। 'अभय' मन की

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, बल्ली २, अनुवाक् ८। "क्या मैं उस ज्योति तक पहुंच सकता हूं जिस तक पहुंच जाने पर मनुष्य को अभय प्राप्त हो जाता है?" (ऋग्वेद, ii, २७)।

२ श्वेताश्वतर उपनिषद्, बल्ली ६, अनुवाक् १५।

३. ईशोपनिषद्, श्लोक ७।

एक प्रवृत्ति है, किसी विश्वास की स्वीकृति या किसी धार्मिक कृत्य का आचरण नही। ऐसी आस्था की अन्तर्दृष्टि पा लेने के बाद हमारे साथी मनुष्य हमारी दृष्टि मे केवल काल और स्थान की सीमाओ मे आबद्ध प्राणी ही नही रह जाते, वरन् उनसे कुछ विशिष्ट हो जाते हैं—यह तो प्राकृतिक सयोग है कि वे हमसे अलग हो गए हैं और प्राणिगत अस्तित्व की आवश्यकताओं के कारण हमारे विरुद्ध कर दिए गए हैं। वही व्यक्ति धार्मिक कहा जा सकता है जो अन्य आत्माओ की वास्तविकता का अनुभव करता हो। प्रेम के नियम का पालन इसलिए नही किया जाता कि उससे हम परिचित हैं या वह वाछित है, वरन् इसलिए कि प्रेम का समावेश होने पर ही जीवन का सम्यक्-रूपेण उद्घाटन हो पाता है। जब उपनिषद् यह कहती है कि 'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानत', तो उसका अभिप्राय यह होता है कि जो सार्वभौम आत्मा का साक्षात्कार कर लेता है, वह सभी मनुष्यो को एक ही परम सत्य के राज्य का अधिवासी मानता है। जो आत्माए आत्मसाक्षात्कार कर लेती हैं, उनको आपस मे भी एक-दूसरे से एकात्मता का अनुभव करना ही चाहिए। स्वार्थी व्यक्ति के रूप मे जीवनयापन करना सृष्टि के प्रयोजन को विफल करना है। 'अहिंसा' या सभी प्राणियो के लिए सौहार्दभाव रखना, निम्न से निम्न प्राणी को भी अपनी करुणापूर्ण बाहो का आलिगन देना 'अभय' या आध्यात्मिक जीवन का स्वाभाविक परिणाम है।

सच्चे धर्म का लक्षण 'अभय' है जो अपनी अभिव्यक्ति सामजस्य तथा सन्तुलन के रूप मे करता है, जो शरीर और आत्मा तथा श्रम और बुद्धि के मध्य पूर्ण समझौते के रूप मे और अहिंसा या प्रेम के स्वरूप मे प्रकट होता है। अभय और अहिंसा, ज्ञान एव सहानुभूति, स्वतत्रता और प्रेम—ये युग्म धर्म के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप हैं। स्वतत्र व्यक्ति के मन मे किसी प्रकार का द्वन्द्व नही व्यापता। उसे न क्रोध होता है, न अवसाद—यहा तक कि संयत आक्रोश भी नही, क्योकि जो हमारे विरोधी हैं, वे भी हमारे भाई हैं जिनसे हम किसी कारणवश विमुख हो गए हैं, हम चाहें तो प्रेम और सहानुभूति से उनको जीत सकते हैं। एक गान्धी जो यह घोषित करता है कि 'यदि मेरे देश के हितसाधन के लिए असत्य और हिंसा आवश्यक हैं, तो मेरा देश पराधीन रहे, यही अच्छा है', वह उन तथाकथित धर्मध्वजी व्यक्तियो से कहीं अधिक धार्मिक है जो कहते हैं कि कभी-कभी हत्या करना भी हमारा धार्मिक कर्तव्य हो उठता है![1] इस प्रकार के तथाकथित धार्मिक व्यक्ति ऐसी बातें धार्मिक व्यक्तियो के रूप मे नही, राज-नीतिज्ञों के रूप मे करते हैं। इस अपूर्ण ससार मे बाह्याक्रमण के विरुद्ध अपनी सुरक्षा-

१. लन्दन के बिशप ने वेस्टमिन्स्टर ऐबे में २८ नवम्बर, १९१५ को प्रवचन करते हुए कहा था : "प्रत्येक वह व्यक्ति जो अपने सिद्धान्त को अपनी सुख-सुविधा से बढ़कर समझता है और रोजी-धन्धे से ऊपर जीवन के महत्त्व को स्वीकार करता है, जर्मनों को मारने के इस महान धर्मयुद्ध में सैनिक बन चुका है। जर्मनों को मारने में उसका उद्देश्य हत्या के लिए हत्या करना नहीं है, वरन् ससार को बचाना है; उनको मारते हुए वह यह विचार नहीं करेगा कि कौन-सा जर्मन अच्छा है और कौन-सा बुरा। जिन जर्मनों ने हमारे आहत व्यक्तियों के प्रति दया दिखाई है, वह उनको भी मारेगा और उन जर्मनों को भी जो कभी उसके मित्र रह चुके हैं।" ['द पॉटर एण्ड क्ले', लेखक : रायट रेवरैण्ड ए० एफ्० डब्ल्यू० इन्ग्रैम (१९१७)]।

व्यवस्था को यथासमय सुदृढ करना तो एक अत्यावश्यक राजनीतिक कर्तव्य हो सकता है, किन्तु अपने साथी मनुष्यो की हत्या करना तो किसी भी दशा में धार्मिक कर्तव्य नहीं हो सकता। राष्ट्र और सभ्यताए शाश्वत नही होती। वे जीवित रहती हैं और मर भी जाती हैं। मनुष्य को आत्मा, सत्य और सौजन्य के चिरन्तन मूल्यो के लिए जीवित रहना है। स्वतत्र मनुष्य मे वह श्रेष्ठ निष्ठा होती है जिसका सम्बन्ध सच्ची आध्यात्मिक स्वतत्रता से है।

जीवन से वढकर श्रेष्ठ दूसरी वस्तु नही, यह प्रत्येक व्यक्ति को सुख की सम्भावना प्रदान करता है। इससे पहले किसी भी पीढी को इतना अधिक सुअवसर कभी नहीं मिल पाया। तो भी, पृथिवी को जो वरदान प्राप्त हुए थे, वे आज ईर्ष्या, घृणा, अहंकार, लोभ, मूढता और स्वार्थ के कारण अभिशाप मे परिणत हो गए हैं। आज मनुष्य का जो रूप है, उसको देखते हुए लगता है कि वह जीने के योग्य नही है। उसे या तो परिवर्तन के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए या विनाश का सकट मोल लेना चाहिए। मनुष्य के वर्तमान रूप को सृष्टि की चरम उपलब्धि नहीं कहा जा सकता। यदि मनुष्य स्वय को और अपनी सस्थाओ को नये ससार की आवश्यकताओ के अनुरूप नही ढालता या ढाल सकता है, तो वह अपना स्थान किसी ऐसे प्राणी को दे देगा जो अधिक सवेदनशील और स्वभाव की दृष्टि से कम जड होगा। यदि मनुष्य अपना करणीय कार्य नही करेगा, तो उसको करनेवाला दूसरा प्राणी उठ खडा होगा।

हमे नही सोचना चाहिए कि हमारे आदर्श सदा अपरिवर्तित ही रहेगे और हमारा जीवन सदा अव्यवस्थित वना रहेगा, अपितु हमे आशा करनी चाहिए कि हमारे आदर्शों में समयानुसार परिवर्तन होते रहेंगे और हमारा जीवन भी व्यवस्थित होगा। हम प्रकृति से वर्वर और हिंसक नही हैं, हम वहुत सम्मोहनीय और सवेदनशील हैं। हमको अपनी प्राकृतिक विशेपताओ को वनाए रखने की चेष्टा करनी चाहिए और अपनी वुद्धि का प्रयोग उनको पुष्ट करने मे करना चाहिए, न कि उनको क्षीण करने मे। हमको चैतन्य होकर विश्व के साथ यथार्थता और आत्मीयता की भावना को तथा मानव-जाति की अनिवार्य एकता को पुन. प्राप्त करना और वनाए रखना चाहिए। जव हिन्दू मनीपी हमसे कहते हैं कि 'माया' से अपने को मुक्त करो, तो उनका तात्पर्य यही होता है कि हम अपने उन असत् जीवन-मूल्यो के वन्धन को तोड फेंकें जो हमपर हावी हो चुके हैं। वे यह नहीं कहते कि जीवन को माया या असत् समझो अथवा ससार के कल्याण के प्रति उदासीन हो जाओ। 'वे हमे उस भ्रम या माया से वचने की सलाह देते हैं जिसने हमारा गला दवोच रखा है तथा जो शारीरिक सुख-सतोप और सगठित स्वार्थसाधन को जीवन का चरम लक्ष्य मानने के लिए विवश करती है। धर्म का यह कर्तव्य है कि वह हमारे भीतर जीवन के प्रति सहजनिष्ठा और मानवीय प्रकृति की एकता के प्रति विश्वास उत्पन्न कर दे। पृथक्त्व के भ्रमजाल से हमे वाहर निकालना और सत् की ओर हमे पुन उन्मुख करना भी धर्म का ही काम है। धर्मात्मा व्यक्ति कभी यह नही चाहता कि वर्तमान जीवन मे उसको दु.ख से छुटकारा मिल जाए या अगले जीवन में उसे स्वर्ग मे स्थान मिल जाए। उपनिपद् के शब्दो मे उसकी प्रार्थना

तो यही होती है "मुझे असत् से सत् की ओर ले चल, अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चल, मृत्यु से अमृत की ओर ले चल।"[1] कयामत का मतलब कब्रो से मुर्दों का पुन उठना नही है, वल्कि उसका अर्थ है आत्मलीनतारूपी मृत्यु से नि स्वार्थ प्रेमरूपी जीवन की ओर गमन, स्वार्थमय व्यक्तिवाद के अन्धकार से विश्वात्मा के प्रकाश की ओर सक्रमण, असत्य से सत्य की ओर प्रत्यावर्तन और ससार की दासता से छूटकर चिरन्तन की स्वतत्रता की ओर प्रवृत्ति। सृष्टि 'विकृति के वन्धन से मुक्त होकर ईश्वर की सन्तान होने के गौरव की स्वतत्रता प्राप्त करने' की 'प्रसववेदना मे आर्तनाद कर रही है।'

[३]

यह प्रश्न हमारे सामने है कि ससार को देखने का हमारा जो दृष्टिकोण है, जिसमे अराजक व्यक्तिवाद, इतिहास की आर्थिक व्याख्याओ तथा जीवन-सम्वन्धी भौतिकतावादी विचारो को प्रश्रय मिला हुआ है, उससे ऊपर हम कैसे उठें। माया के इस ससार ने हमारी चेतना पर से हमारा ध्यान हटा दिया है। हमको चेतना के ध्यान-केन्द्र को वदलना चाहिए और पहले से अधिक अच्छी तरह तथा उदारता से वस्तुओ को देखना-समझना चाहिए। निर्वैयक्तिकता की वुद्धि तथा परमात्मा के साथ आत्मा के एकीकरण के द्वारा ही हमारा विकास सम्भव है। प्रार्थना, आराधना और ध्यान के साथ-साथ दर्शन, कला और साहित्य हमारे आन्तरिक अस्तित्व को पुनर्जागरित एव शुद्ध करते हैं तथा परमात्मा के साथ सम्पर्क करने की रुझान इसमे उत्पन्न करते हैं। निग्रह के कई स्तर हैं जिनका पारस्परिक अन्तर वहुत स्पष्ट नही है। स्थूलत तीन स्तर तो स्पष्ट हैं—विशुद्धीकरण, ध्यान का केन्द्रीकरण और एकात्मीकरण या समाधि।

ये तीनो स्तर 'वाया परगेटिवा', 'वाया कॉण्टेम्प्लेटिवा' और 'वाया यूनीटिवा' के समानार्थक हैं। वे क्रमिक सोपान नही हैं, वरन् विभिन्न दृष्टिकोण हैं। पूर्णता का पक्ष ढालुवा अधिक है, सीढीनुमा कम। निग्रह का पहला स्तर—विशुद्धीकरण—इस वात पर वल देता है कि यदि हम आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि चाहते हैं, तो उसके पूर्व हमे अपनी नैतिक तैयारी कर लेनी चाहिए, क्योकि यह पहली अनिवार्य शर्त है। मन का समस्त कलुप धुल-पुछ जाना चाहिए और वह स्वच्छ दर्पण के समान हो जाना चाहिए, तभी परमात्मा उसमे प्रतिविम्वित हो सकेगा। विशुद्ध नैतिक जीवन का विकास साधारण दायित्वों के पालन से ही नही होता, इसके लिए मनुष्य को पवित्र एवं निर्धन जीवन की कठोर व्रतसाधना करनी पडती है। जिसके पास कोई सम्पत्ति नही होती, वह कई चिन्ताओ से मुक्त रहता है। यदि उसने किसी गुरु के आज्ञानुपालन की प्रतिज्ञा कर रखी है, जिसको कभी-कभी अन्य गुरुजन अपशव्द कहते हैं, तो उसके सामने धर्माधर्म-सम्वन्धी कोई समस्या परेशान करने के लिए नही होती। तप एव सयमपूर्ण जीवन का अभ्यास साधक की प्रकृति को अनुशासित करने और उसकी इच्छा को वलवती वनाने के लिए किया जाता है, किसी क्रुद्ध देवता को प्रसन्न करने के लिए या किसी पुराने

१. "असतो मा सद् गमय। तमसो मा ज्योतिर्गमय। मृत्योर्माऽमृत गमय।"

आदर्श का अनुकरण करने के लिए नही किया जाता। चिन्ता और पूर्वाग्रह से रहित होना आध्यात्मिक जीवन के लिए अनिवार्य है। पतञ्जलि के 'योगसूत्र' मे, जो योग-विषयक शास्त्रीय ग्रन्थ है, इस नैतिक प्रशिक्षण का समावेश अष्टाग योग के यम और नियम के प्रथम दो शीर्षको के अन्तर्गत किया गया है।[1] कामुकता, लोभ, अत्याहार, ईर्ष्या और आलस्य—ये कुछ सामान्य दुर्गुण हैं जिनसे जीवन की पूर्णता के मार्ग मे रुकावट आती है, अत. इनसे बचना चाहिए। योगमार्ग के जो अगले तीन स्तर हैं, उनका उपयोग भौतिक पक्ष की ओर से मन का निग्रह करने मे किया जाता है। वे हैं—आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार। मनन-चिन्तनमय जीवन मे इनसे सहायता मिलती है। शरीर के एक सुखद आसन से और श्वास-प्रश्वास के नियमन से मन को विश्राम मिलता है। मनोनिग्रह का प्रारम्भ इन्द्रियदमन से होता है। यदि लोग साधना के लिए कभी-कभी पर्वत के शिखरो पर, मठो मे, रेगिस्तानी टीलो पर और गुफाओ मे चले जाते हैं, तो इसका कारण यह है कि ये स्थान ऐसे हैं जहा जाने से आत्मा अपने परिचित वातावरण से अलग हो जाती है। सासारिक जीवन से हटकर एकान्त जीवन बिताना अनिवार्य तो नही है, परन्तु इससे उसमे सहायता अवश्य मिलती है। सासारिक वस्तुओं के मोह से अपनी ज्ञानेन्द्रियों को पृथक् कर लेने को ही सामान्यत 'प्रत्याहार' के नाम से जाना जाता है। शेष तीन स्तर हैं—'धारणा' (एकाग्रता), 'ध्यान' (चिन्तन-मनन), 'समाधि' (आत्मा-परमात्मा की योगावस्था)। यह माना जाता है कि मनुष्य की मूलप्रकृति को और ईश्वरप्राप्ति के लिए उसकी अन्तर्निहित क्षमता को मिटाया नही जा सकता। हम अपनी प्रकृति के बाह्य स्तरो का विभेदन करके ही अपनी मूलप्रकृति की गहराइयो तक पहुच सकते हैं। अपनी ही आत्मा की गहन गहराई मे ईश्वरीय रहस्य छिपा हुआ है, उस तक हमें अवश्य पहुचना चाहिए। इस हमारी अन्तरात्मा पर ऊपर से जितने दिखावटी और विरोधी रूप आरोपित किए जाते हैं, वे गौण होते हैं, और हमारी आत्मा का वह रूप, जो विश्व के साथ हमारी सतत एकता का समर्थन करता रहता है, मुख्य होता है। यदि प्लेटो की अभिव्यजना में कहे, तो अपनी आत्मा तक पहुचने की हमारी प्रक्रिया स्मरण करने की क्रिया है, क्योकि वह तो वहा पहले से ही उपस्थित रहती है।[2] हमे तो उसे पहचानना-भर रहता है। यह प्रक्रिया शान्त अन्तरावलोकन से प्रारम्भ होती है। आध्यात्मिक चिन्तन का यह छोटा-सा आरम्भ है। किसी धर्मपुस्तक के पाठ या किसी मंत्र के जप द्वारा, या मन को किसी बाह्य वस्तु, जैसे अपने किसी इष्टदेव की प्रतिमा, चित्र आदि पर केन्द्रित करके हम मन में बलात् प्रविष्ट होनेवाले

१. 'यम' नकारात्मक है, इसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय (ईमानदारी, या किसीकी चीज को न चुराना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (किसी प्रकार की सम्पत्ति संग्रह न करना) सम्मिलित हैं। 'नियम' प्रत्यक्ष गुणों के अभ्यास से सम्बन्धित है। इसके अन्तर्गत शौच (पवित्रता), सतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (ईश्वर के प्रति भक्ति) की गणना की जाती है। 'योगसूत्र' (प्रथम अध्याय, श्लोक २३) में समाधि की स्थिति उपलब्ध करने के कई उपायों में से ईश्वर-प्रणिधान को एक उपाय माना गया है—एकमेव उपाय नहीं।

२. "मै अपने नियम को उनके अन्तर्भागों में रख दूगा और उनके हृदय पर इसे अकित कर दूगा।" (जेरेमिआह, *xxxi*, ३३)।

विचारो को वाहर ही रोक देते हैं और आत्मस्थ होने की चेष्टा करते हैं। चित्त की एकाग्रता को ही 'धारणा' कहते हैं। इच्छाशक्ति और ध्यान का नियमन इसीका नाम है। साधारणतया मन की उपमा चचल वन्दर से दी जाती है। ऐसे मन को किसी एक वस्तु से संलग्न करना सरल नही है। अप्रासगिक विचार मन के भीतर आने लग जाएगे, इच्छाए और चिन्ताए हमारा ध्यान भग करेंगी, केवल प्रयत्नपूर्वक ही हम अपने मन को अपनी निर्वाचित वस्तु पर केन्द्रित कर पाएगे। जब हमारा ध्यान कम चचल होने लगता है, चित्त की एकाग्रता गहनतर हो जाती है और मन का नौ कोठो मे भटकना वन्द हो जाता है, तब हम 'ध्यान' या चिन्तन-मनन की दशा मे पहुच जाते है। आत्मा सब प्रकार के विचारो से शून्य हो जाती है, केवल उसी एक चीज़ का विचार उसमे रहता है जिसका मनन हम कर रहे होते हैं, वह विचार ही हमारी आत्मा पर अधिकार कर लेता है। 'एकाग्रता' की स्थिति तब मानी जाती है जब आत्मा केवल उसी सत्य के प्रति जागरित रहती है जिसकी ओर उसे निर्देशित किया जाता है, और अन्य सब कुछ उसे विस्मृत हो जाता है। गहन अन्धकार मे से प्रकाश का उदय होता है।

वाह्य ज्ञान तो सरलता से अर्जित किया जा सकता है, परन्तु आन्तरिक सत्य का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मन का अपनी मननीय वस्तु पर पूर्णतः एकाग्र होना आवश्यक होता है। अत 'समाधि' या योग की तृतीयावस्था मे परमात्मा से आत्मा का, कर्ता से कर्म का चेतन विभेद और पार्थक्य, जो आध्यात्मिक दृष्टि से अनुन्नत मनुष्यो मे सामान्यत. पाया जाता है, मिट जाता है। साधक अपने लक्ष्य के आगे आत्मसमर्पण कर देता है और लक्ष्यमय बन जाता है। वह जो कुछ देखता है, उसीका तद्रूप हो जाता है। द्रष्टा और दृश्य का, विषयी और विषय का, कर्ता और कर्म का अन्तर लुप्त हो जाता है। उस दशा मे किसी वस्तु का स्वाद न लेती हुई, किसी विशिष्ट वस्तु की अवधारणा न करती हुई, अपने को शून्यावस्था मे रखती हुई साधक की आत्मा यह अनुभव करती है कि उसके पास सब कुछ है, वह पूर्णकाम हो चुकी है। तभी एक विद्युत् की सी चमक, ज्वाला की सी एक आकस्मिक लपट क्षण-भर मे ही सम्पूर्ण जीवन पर एक चिरन्तन प्रभा विकीर्ण कर देती है। आत्मा मे एक अद्भुत नीरवता समा जाती है, एक महाशान्ति से उसका अस्तित्व आक्रान्त हो जाता है। वह दर्शन, वह स्फुलिग, परमात्मा से आत्मा के एकीकरण एव चेतन साक्षात्कार का वह चरम क्षण साधक के समस्त अस्तित्व को प्रदीप्त कर देता है—उद्देश्य की पूर्ण प्राप्ति हो जाती है। वह सर्वोच्च चेतना की स्थिति, परमात्मा के सान्निध्य की वह अनुभूति साधक के मन मे एक ऐसा परमानन्द भर देती है जो सामान्य उल्लास से भिन्न होता है, एक ऐसे ज्ञान की ज्योति जगा देती है जो तर्क से परे है; एक ऐसा स्फुरण उत्पन्न कर देती है जो स्वयं जीवन के स्फुरण से अधिक तीव्र होता है। उस समय की शान्ति और समरसता अनन्त होती है। जब यह सब हमारी अन्तरात्मा मे घटित होता है तव हमारी कठोरता भञ्जित हो जाती है, 'हम पुन प्रवहमान हो उठते हैं' और 'हम अपने भीतर इतने सातत्य का अनुभव करते हैं जितना हमने कभी नही किया था' एवं 'हमारे जीवन का जो अल्पाश इस सासारिक जीवन के रूप मे व्यक्त है, उससे भी वहुत कुछ अधिक को जान जाते

हैं।''[1] जब हम सत्यरूप परमेश्वर को अपने ही हृदय मे प्राप्त कर लेते हैं तब हमारा हृदय आनन्दातिरेक से झूम उठता है और हममे नम्रता आ जाती है। इस चिरन्तन ज्ञान-दीप्ति की स्मृति का प्रभाव चिरस्थायी होता है और हमारे अस्तित्व का पुनर्नवीकरण आवश्यक हो जाता है। प्लॉटिनस ने इस दशा का ज्वलन्त वर्णन किया है .

> ''परमात्मा के उस साक्षात्कार के समय द्वित्व का बोध नही था, द्रष्टा और दृष्ट दोनो एक हो गए थे। परमात्मा से मनुष्य की आत्मा का जो योग हुआ था, यदि उस दशा की स्मृति उसको सदा बनी रह सके, तो उसको अपने भीतर ईश्वर की प्रतिमा साक्षात् ही दिखाई देगी, क्योंकि उस सयोगावस्था मे वह ईश्वर के साथ एक हो गया था और उसमे तथा ईश्वर में, अपनी दृष्टि से या दूसरो की दृष्टि से, कोई अन्तर नही रह गया था। यदि कहे तो उसके अन्त - करण मे कोई सवेदना शेष न थी—न क्रोध की, न कामवासना की, न विवेक की, न आध्यात्मिक अनुभूति की और न उसके अपने व्यक्तित्व की ही। परमानन्द की स्थिति में पहुचकर, ईश्वर से अचचल और एकान्तभाव से मिलकर साधक एक अभग शान्ति और निःस्तब्धता का आनन्द लेता है। अपने सारभूत सत्‌रूप से एकात्म होकर उसमे इस या उस ओर झुकने की प्रवृत्ति नि.शेष हो गई। वह स्वय अपनी ओर भी उन्मुख नहीं हो सकता था, वह पूर्ण स्थितप्रज्ञता की स्थिति मे पहुच गया था, वह साक्षात् स्थैर्य बन गया था।......हमको कदाचित् साक्षात्कार के विषय मे कुछ कहना नही चाहिए, क्योकि यह ईश्वर-दर्शन का ही एक प्रकार है, यह आनन्दातिरेक और सरलीकरण है, यह आत्मत्व का त्याग है, उस अभय पद को प्राप्त कर साधक जिसे देखता है, उसके साथ तत्क्षण सम्पर्क की इच्छा, स्थिरता और अपनी आत्मा को युगनद्ध कर देने की चाह उस साक्षात्कार का ही एक रूप है।''[2]

प्लॉटिनस के शब्दों मे, यह शक्ति सबमे है, परन्तु कुछ ही लोग इसका उपयोग करते हैं।[3] इस शक्ति का विकास मन की सामान्य क्रियाओ से भिन्न कोई वस्तु नही है, अपितु उन मानसिक क्रियाओ को परमात्मा की ओर पूरी तरह एकाग्र करने से ही इस शक्ति का विकास किया जा सकता है। यह कोई रहस्यात्मक शक्ति नही है, क्योकि इन्द्रियबोध से सत्य के दर्शन तक एक निरन्तर विकास का क्रम होता है। ईश्वर-साक्षात्कार के जो विभिन्न सोपान होते हैं, वे इसलिए नहीं हैं कि लोग एक-एक सोपान को पार कर सत्य तक पहुचें, जैसाकि तार्किक प्रदर्शन की प्रक्रिया मे हुआ करता है,

१. देखिए, चार्ल्स मॉर्गन कृत 'स्पार्केनब्रोक' (१९३६ ई०), पृष्ठ ७१।

२. एन्नीड्स, vi ९ ७।

३. तुलना कीजिए : ''मै यह नहीं बखाना करता कि मुझे ईश्वर का कोई असाधारण साक्षात्कार हो गया है या कोई वरदान मुझे मिल चुका है; ऐसा कुछ नहीं है, किन्तु इतना मै कहता हू कि मुझे जितना कुछ साक्षात्कार हुआ है, उतना प्रत्येक सच्चे ईसाई को होना चाहिए और उसे इसके लिए आशा तथा ईश्वर से प्रार्थना करनी चाहिए।'' (जॉन वेज़ली)।

वरन् वे इस निमित्त हैं कि लोगो को ऐसी मानसिक दशा मे ले आया जाए जिसमें सत्य का स्वत. प्रकाश होता है और वह उनको दर्शन भी देता है।

ईश्वर का यह चेतन साक्षात्कार हममे से उन लोगो के लिए सुविधाजनक नही है जो दैहिक सुख और गोचर वस्तुओ के प्रेम मे लिप्त हैं। जो लोग अहकार और स्वेच्छाचार के कारण अपनी प्रकृति को उदात्त नही बना पाए हैं, उनके लिए आध्यात्मिक उन्नति के शिखर तक पहुचने का मार्ग बहुत कटकाकीर्ण होगा। अज्ञान आत्मा के केन्द्र मे स्थित है, वह इसका सजातीय बन गया है। उस अज्ञान को ज्ञानरूपी अग्नि मे जला डालना और ध्वस्त कर देना आवश्यक है। हमारे अचेतन मन मे जो भाव-ग्रन्थिया हैं, उनको खोलना भी आवश्यक है। जो वासनाए और अपूर्णताए हमारे भीतर बाबा आदम के ज़माने से चली आ रही हैं, वे हमारी आत्माओ के साथ घुल-मिल गई हैं। हमारी आत्माओं को वेदना से छटपटा उठना चाहिए और द्रवित होकर चिरन्तन जीवन की दिशा मे प्रवहमान होना चाहिए। हमारा सब कुछ इस आत्मदर्शन की वेदी पर समर्पित हो जाना चाहिए। सब कुछ खोकर ही सब कुछ पाया जा सकता है। शून्य होकर ही पूर्ण हुआ जा सकता है। खुदी को मिटाने पर ही खुदा मिलता है। जीवन्मृत की दशा इसी प्रकार प्राप्त होती है।[1] अपरिग्रही और नि सत्त्व होने की हमारी साधना पूर्ण होनी चाहिए।

'समाधि' या परमानन्ददायी चेतनावस्था मे हमारे भीतर परम सत्य के साथ तात्कालिक सम्पर्क की और अपनी प्रकृति के विभिन्न पक्षो के एकीकरण की भावना रहती है। यह विशुद्ध बोध की वह दशा होती है जिसमे हमारा समस्त अस्तित्व एकात्म-भाव मे लीन हो जाता है। ईश्वर के प्रति हमारे समग्र व्यक्तित्व की इस पूर्ण शरणागति को केवल क्षणिक और अस्थायी घटना न रहने देकर, उसे एक सुनिश्चित स्वभाव, एक स्थायी भाव-दशा बना देना धार्मिक अनुशासन का उद्देश्य है। धार्मिक प्रयत्नो का लक्ष्य परमोल्लास या भावात्मक उत्तेजना प्राप्त करना नहीं है। परमात्मा का सम्पर्क-लाभ करने के बाद हमारी आत्मा मे जो एकात्मभाव आता है, हमे जिस यौगिक जीवन की उपलब्धि होती है, वह आत्मा का चिरस्थायी धन बन जाना चाहिए।

धर्मों के द्वारा ध्यान और पूजा-आराधना की जो विधिया बताई जाती हैं, उनका उद्देश्य यही होता है कि हमारी चित्तवृत्तियो मे स्थिरता आवे और हमारे समस्त अस्तित्व के विधिवत् विशुद्धीकरण मे सहायता मिले, क्योकि आत्मदर्शन करने और ईश्वरीय सत्य को हृदय मे प्रतिष्ठित करने के लिए ये बातें अनिवार्य हैं। हमारी सारी शक्तिया एक ऐसे जीवन की अभ्यस्त हो गई हैं जिसमे हम कुछ देकर बदले में कुछ पाने की आशा रखते हैं। यदि उन शक्तियो को सार्वभौम जीवन के अनुरूप बनाना है, तो हमें अपने भीतर आमूलचूल परिवर्तन करने की आवश्यकता है। जब धर्म के द्वारा हमारा जीवन आध्यात्मिक बना दिया जाता है तब हमारे मानसिक द्वन्द्व परिशमित हो जाते हैं और हम अपने को जीवन की प्रशस्त, अखण्ड धारा मे बहता हुआ पाते हैं।

१ क्रॉस के सेंट जॉन ने कहा है : "सर्व अस्तित्वशाली परमात्मा को पाने के लिए अकिंचन बन जाओ।"

जिन वस्तुओ का भी मनुष्य से सम्बन्ध है, वे वस्तुएं हमारे लिए पराई नही रह जातीं। जब हम इस स्थिति मे पहुंच जाते हैं, तब हम इस या उस सप्रदाय-विशेष के सदस्य न रहकर समग्र मानवता के अपने हो जाते हैं। मानवता के प्रति हमारा प्रेम ही हमारी प्राथमिक देशभक्ति का स्वरूप होता है। ससार के पदार्थों मे जो नैसर्गिक भिन्नता या अनेकता पाई जाती है, उसके प्रति मन मे आदर रखते हुए भी हम उनके अन्तस् मे वर्तमान एकता को समझते हैं। हम अपनी अन्तरात्मा मे अपने साथी मानवो के प्रति एकात्मता और जीवन के साथ एकता का अनुभव करते हैं। ईश्वर ने जिस विशिष्ट प्रयोजन को लेकर प्रत्येक मनुष्य को संसार मे भेजा है, उसको समझने की हम चेष्टा करते हैं। जीवन की जिस एकता को सिद्ध करने का विज्ञान ने बौद्धिक दायित्व ग्रहण कर रखा है, वह एकता ही साधक की दृढ आस्था का सम्बल बनती है। साधक जितना और जैसा कुछ जानता है, उसीके अनुरूप अनुभव और कार्य करता है। आत्मसयम और पवित्रता के द्वारा वह अपने अन्तर्तम में इतनी तृप्ति, आत्मा मे इतनी निर्मलता तथा परिपूर्ण 'शान्ति' का अनुभव करता है कि वह यह कहने की स्थिति में होता है: 'मैंने ससार को जीत लिया है।' ससार मे दुष्टो की क्या कमी है! यहा की पीडाओ और कष्टो का भी कोई वार-पार है! परन्तु जिस मनुष्य ने इस शान्ति का स्वाद चख लिया है, वह इनसे कभी विचलित नही होता, क्योकि वह देख चुका होता है कि सारी वस्तुए अपनी आन्तरिक गहराई मे अच्छी होती हैं और ससार मे एक ऐसी शक्ति है जो अनवरत रूप से बुराई पर विजय पाती जा रही है तथा उसे भलाई में परिणत करती जा रही है। इस विश्व का परिचालन जिस केन्द्रीय शक्ति के द्वारा हो रहा है, उसको वह जान चुका होता है। विश्व की यह यात्रा उसके भीतर से भी होती है, अत. वह जानता है कि इस यात्रा का गन्तव्य क्या है, वह है—ईश्वर की अन्तर्यामिता को चेतन तथ्य के रूप मे परिवर्तित कर देना, प्रत्येक व्यक्ति के लिए ईश्वर-साक्षात्कार की सम्भावना या आशा। उसमे ऐसी शक्ति होती है कि वह मानुषी इच्छाओ और वासनाओ के द्वन्द्वो में से भी सार्थकता और सौन्दर्य का सग्रह कर लेता है। अपनी आत्मा को पवित्र रखने के लिए वह स्वेच्छा से दरिद्रता और निर्वासन को अगीकार कर लेता है और अपनी जिह्वा से असत्य-भाषण करने की अपेक्षा उसे काटकर फेंक देना उसे अधिक श्रेयस्कर लगता है। वह ससार से विरक्त होकर किसी गुहा-कन्दरा मे जाकर केवल अपनी आत्मोन्नति के लिए साधना मे व्यस्त नहीं रहता, प्रत्युत् ससार मे आध्यात्मिकता का प्रसार करने और उसे उच्चतम स्तर तक उठाने मे वह अपनी सारी शक्ति लगा देता है। जब संसार कष्ट और पीड़ा से त्राहि-त्राहि कर रहा हो, तब कोई भी व्यक्ति कान में तेल डाले नहीं पडा रह सकता, और वह व्यक्ति तो कदापि नही जिसने पूर्णत्व की उपलब्धि कर ली हो। उसे सबसे अधिक चिन्ता परहित की रहती है। वह अपने साथी मनुष्यों को इतना स्नेह करता है जितना दूसरा कोई नही कर सकता। जिस प्रकार सूर्यमुखी का फूल चाहे, न चाहे, उसका मुख सूर्य की ओर उन्मुख हो ही जाता है, उसी प्रकार वह व्यक्ति मानवता को प्यार किए बिना नही रह सकता—वह उसका स्वभाव बन जाता है। आत्मा के उद्धार हो जाने का अर्थ आनन्दपूर्ण सुख और

अनन्त विश्राम की स्थिति मे पडा रहना नहीं है। जिस आत्मा का उद्धार हो चुका होता है, वह प्रकृति की एक तात्विक शक्ति बन जाती है, चेतना का 'डायनामो' हो जाती है और बहुत तीव्र गति से काम करने लगती है। सन्यास ले लेने या विरक्त हो जाने का अर्थ यह नही है कि व्यक्ति कर्मक्षेत्र से पलायन कर जाए, वरन् उसका तो अर्थ इतना ही है कि वह अपने अहभाव को नष्ट कर डाले। चिरन्तन जीवन के लिए कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है, वह तो यहीं पर है। हमारे भीतर जो चिरन्तन का अश है, जो शाश्वत प्रकाश है, जो प्रज्ञा और प्रेम है, उसीका समष्टिरूप जो जीवन है, उसीके कर्म विकारहीन होते हैं।

नि सग आत्मा ही धर्म को जन्म देती है। सिनाई पर्वत की निर्जनता मे मोजेज को, वोधिवृक्ष के नीचे ध्यानमग्न बुद्ध को, जॉर्डन नदी के तट पर प्रार्थना की नीरवता मे ईसा को, रेगिस्तान के एकान्त प्रवास मे पॉल को, मक्का के एक विजन पर्वत पर मुहम्मद को और अलवेर्नो के पर्वतीय प्रदेश की एक खुरदरी चट्टान पर प्रार्थनारत अस्सीसी के फ्रैंसिस को दिव्यशक्ति और ईश्वर के आश्वासन की उपलब्धि हुई थी। धर्म मे जो कुछ महान है, जो कुछ नवीन और रचनात्मक है, वह मौन प्रार्थना और एकान्त मनन के क्षणो मे आत्मा की अगाध गहराइयो से उद्भूत होता है।

[४]

यदा-कदा हिन्दू आदर्श के सम्बन्ध मे यह आलोचना की जाती है कि यह तत्त्वतः पर्याप्त रूप से नैतिक नही है। इस आलोचना से लोगों का ठीक-ठीक क्या तात्पर्य है, इसे समझना कठिन है। जो आदर्श चाहता हो कि हम अपने जीवन को नैष्ठिक बनावें, आत्मा की उन्नति के मार्ग मे रोड़ा अटकानेवाली वासनाओ से सतत सघर्ष करते रहे तथा कामवासना, क्रोध और चिन्ता के विरुद्ध युद्ध छेड दें, वह गम्भीर रूप से नैतिक नही है तो और क्या है? आत्मशुद्धि के लिए जो कठोर और अविराम प्रक्रिया चलती रहती है, उसका पुरस्कार यही है कि हम सत्य को देखने, उसको आत्मसात् करने और उसके द्वारा आत्मसात् होने की शक्ति प्राप्त कर सकें।

यह भी कैसे कहा जाए कि साधक पुरुष मानवोचित कार्यों की उपादेयता मे, ससार को सुधारने के लिए कष्ट सहने और वलिदान करने की शक्ति मे विश्वास नही करता? जो लोग यह अनुभव करते हैं कि प्रत्येक आत्मा ईश्वर से सम्बन्धित है, वे ससार को दिव्य बनाने के लिए कार्य किए बिना नही रह सकते। साधु-सन्त मानव-जाति के स्वाभाविक नेता हैं। वे अपने प्रयत्न और उदाहरण से सुदूर दिव्य आदर्श की ओर मानवता के महाभियान को निर्देशित ही नही करते, वरन् उसको सत्पथ पर भी रखते हैं। धर्म को वे यथार्थ जगत् से बचने के लिए आड नही समझते। कल्पनालोक मे पलायन करके जीवन के उत्तरदायित्वो से पीछा छुडाने की चेष्टा नहीं करते। हिन्दू आदर्श इस वात पर बल देता है कि मनुष्य अपने अमर प्रारब्ध को इसी जन्म और इसी ससार मे प्राप्त कर सकता है। ईश्वर का राज्य तो हमारे भीतर ही है। उसकी उपलब्धि के लिए हमे अनिश्चित भविष्य तक न तो प्रतीक्षा करनी है, न सन्देश देनेवाली किसी

आकाशवाणी के भरोसे हाथ पर हाथ धरे बैठे रहना है। यह तो सत्य है कि आध्यात्मिक जीवन का गहनतम रहस्य सामान्य जन की दृष्टि से छिपा हुआ है और उसे कुछ प्रयत्न करके ही जाना जा सकता है। यह प्रयत्न सामूहिक न होकर वैयक्तिक होता है; अकेला व्यक्ति अकेली शक्ति तक पहुचने की चेष्टा करता है। यह भी सत्य है कि जब हम ससार से थक जाते हैं तब हम अपने अन्तःकरण की ओर मुडते हैं, हम अपने आध्यात्मिक अस्तित्व के गहरे कूप मे डुबकी लगाते हैं और जब उसमे से बाहर निकलते हैं तब अपने को विश्रान्त, निर्मल, सन्तुष्ट और प्रसन्न अनुभव करते हैं। परन्तु केवल इसीलिए हम यह नही कह सकते कि जीवन वैयक्तिक हो गया है। तथ्य तो यह है कि यह व्यक्तिवाद से पलायन है। जब पूर्णत्व प्राप्त किया हुआ मनुष्य ससार के हितार्थ कार्य करता है, तब उसीके माध्यम से दिव्य प्रभाव निःसृत होता है। वह केवल निमित्त-मात्र होता है। वह 'मैं', तथापि 'मैं नही' (कर्त्तारमकर्त्तारम्) की भावना से कार्य करता है।

उपर्युक्त आलोचना का कारण स्पष्टतः यह जान पडता है कि इतने महान आध्यात्मिक आदर्शों का शखनाद करके भी भारत राजनीतिक दृष्टि से पराधीन बन गया। जबकि असख्य सेनाएं पास से गुज़रती रहीं, भारत के आध्यात्मिक नेता ईश्वर की प्रार्थना मे लीन रहे। एकान्त और एकाकीपन ही उनके जीवन का आधार था। अधिक से अधिक जो सासारिक कार्य वे करते थे, वह था हरिणो को हरित दूर्वा खिलाना और रात्रि के गहन अन्धकार मे नक्षत्रो से वार्तालाप करना। रोगियों की चिकित्सा-शुश्रूषा और ईश्वरीय सदेश का उपदेश भी उनके कार्य के अग थे।

इस आलोचना मे कुछ सार तो अवश्य है। यह सही है कि हाल के कुछ वर्षों तक भारत ने राष्ट्रवाद की आराधना आरम्भ नहीं की थी। हमने अपने देश को ऐसे किसी राष्ट्रीय देवी-देवता का रूप नही दिया जिसका कोई ऐतिहासिक प्रारब्ध हो, कोई पवित्र उद्देश्य हो और विस्तार का जिसे अधिकार हो। जैसाकि अन्य देश वालो ने 'ब्रिटानिया', 'लॉ फ्रान्स', 'फादरलैण्ड' (पितृभूमि) नाम देकर अपने देश को गौरवा-न्वित किया, वैसे हमने अपनी भारतमाता को पूजा की वेदी पर नही बैठाया। हमने लोगो से यह नही कहा कि भारत का शत्रु ईश्वर का भी शत्रु है, और यदि शत्रु यह कहे कि उसका भी अपना ईश्वर है, तो वह ईश्वर झूठा होगा, सच्चा नही। हमारे नेताओ ने गिरोहबाज़ी नही की, उन्होने कभी नही यह घोषित किया कि भूतल पर हमसे बढ-कर अच्छा कोई है ही नही, हम ही विश्व की सबसे बढिया नस्ल और जाति के लोग हैं।

दूसरी बात यह है जो हमे स्मरण रखनी है कि धार्मिक सदाचारो के अभ्यास द्वारा देशो की विजय और साम्राज्यो की स्थापना नहीं हुआ करती। विलियम वाट्सन की इन पक्तियो को स्मरण करना समीचीन होगा :

"कहते हैं कुछ—
करने से ईश्वर-स्मरण
हमारी साम्राज्यीय उपलब्धिया सुरक्षित रह पाती हैं,

किन्तु देखता हूं मैं, बहुधा
आता है सौभाग्य हमारे द्वारे उस दिन,
जिस दिन हम ईश्वर को विस्मृत कर देते हैं।"

कही ऐसा तो नही है कि दुर्दैव ने राष्ट्रों को उनकी आत्मा के मूल्य पर सुरक्षा और अभ्युदय का वरदान दिया हो। "यदि तुम घुटने टेक दो और राष्ट्र-राज्य (नेशन-स्टेट) के रूप में मेरी पूजा करो, तो मैं ये सारी चीजें तुम्हें दे दूगा।" आदर्श भारतीय प्रवृत्ति वाह्य सफलता और भयानकता के प्रति कभी आकृष्ट नही हुई।

स्वाधीनता प्राप्त करना तो प्रत्येक देश का न्यायसिद्ध अधिकार है, परन्तु आक्रामक राष्ट्रवाद, जो साम्राज्यवाद में परिणत हो जाता है, एक अश्लील और असस्कृत प्रवृत्ति का द्योतक है। जब यह हमपर हावी हो जाता है, तब यह हमारी दृष्टि को दूषित कर देता है, हमारी मानसिक शान्ति छीन लेता है, हमारे जीवन-मूल्यो को भ्रांत कर डालता है और इसके कारण हम अस्थायी वस्तुओ को स्थायी वस्तुओ की अपेक्षा अधिक महत्त्व देने लगते हैं। वर्तमान सकटापन्न स्थिति मे इग्लैंड अपने साम्राज्यीय स्वार्थों और महत्त्वाकाक्षाओ के कारण न तो वस्तुस्थिति को स्पष्ट रूप से देख रहा है, न ईमानदारी ही वरत रहा है। स्वतन्त्र प्रभुसत्तात्मक राष्ट्रो के ससार का रहस्यात्मक महत्त्व लुप्त होता जा रहा है और वह दिन दूर नही जब यह सामन्तवादी ससार की तरह ही मानव-इतिहास का एक वीता हुआ अध्याय वन जाएगा। आइए, हम पहले मनुष्य वनें।

इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि भारतीय सस्कृति अपने आदर्शों को राजनीतिक रूप से अभिव्यक्त करने मे असफल रही है। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से यह मान लिया गया था कि धन और शक्ति के उपार्जन से आत्मा की अभिव्यक्ति मे भी सहायता मिलती है, परन्तु व्यवहारत इसका प्रयोग नही हुआ। इस प्रमाद के लिए भारत को क्षति उठानी पडी है। यद्यपि भारत ने अनजान विजेताओ तक पर, जो आने के वाद यही वस गए, गहरा प्रभाव डाला है, तथापि राजनीतिक दृष्टि से वह असफल रहा है। किन्तु, आज भारत के लोग राष्ट्रीयता की भावना से अनुप्राणित हैं और उनमे से कुछ तो ऐसे भी हैं जो यह समझते है कि यदि राजनीतिक स्वतन्त्रता की न्याय-पूर्ण माग शान्तिपूर्वक स्वीकार नही की जाती, तो इसके निमित्त ससार के इतिहास द्वारा अनुमोदित सगठित हिंसा की विधिया अपनाना भी सर्वथा उचित है। इस नवीन राष्ट्र-भावना का श्रेय पाश्चात्य जगत् के साथ भारत के सम्पर्क को है। समस्त ससार में सैन्यवाद के औचित्य को सिद्ध करने के लिए जो तर्क दिए जाते हैं, भारत उनसे अपरिचित नही है। सैन्यवाद के पक्ष मे यह कहा जाता है कि युद्ध मनुष्य मे स्वामि-भक्ति और सयम, साहस और सहकारिता, स्वास्थ्य और शक्ति आदि गुणो को पोषित करता है। किन्तु भारत के धार्मिक नेता गाधीजी सौभाग्य से उसके राजनीतिक नेता भी है। भारत को राजनीतिक दासता से मुक्त कराने के लिए उन्होंने ऐसी विधि निकाली है जो देश की धार्मिक परम्पराओ और मानसिक पृष्ठभूमि के अनुरूप ही है।

यद्यपि इस विधि का प्रयोग बडे पैमाने पर अभी तक नहीं हुआ है, तथापि विलियम जेम्स के शब्दो में कहें, तो यह भली प्रकार युद्ध का नैतिक पर्याय बन सकता है। 'तलवार का सिद्धान्त' शीर्षक अपने एक प्रसिद्ध लेख मे गाधीजी कहते हैं :

> "मेरा निश्चित विश्वास है कि जब मुझे कायरता और हिंसा मे से एक को चुनना होगा, तो मैं चाहूंगा कि भारत इसके बजाय कि एक कायर की भाति विवश होकर अपमान का घूट पीता रहे, अपनी सम्मानरक्षा के लिए शस्त्र उठा ले। किन्तु मेरा विश्वास है कि अहिंसा हिंसा की अपेक्षा शाश्वत रूप से श्रेष्ठ है, क्षमा मे दण्ड से अधिक पौरुष है। 'क्षमा वीरस्य भूषणम्'।...... जिस प्रकार पशु-जगत् का नियम हिंसा है, उसी प्रकार मानव-जाति का नियम अहिंसा है। पशु मे आत्मा अविकसित रूप मे रहती है और वह शारीरिक शक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई नियम जानता ही नही। मानव का गौरव इससे उच्चतर नियम तथा आत्मा की शक्ति का अनुगामी बनने मे है। जिन ऋषियो ने हिंसापूर्ण वातावरण में रहकर अहिंसा के नियम का आविष्कार किया, वे न्यूटन से अधिक प्रतिभाशाली थे। वे स्वय वेलिंगटन से बढकर योद्धा थे। यह नहीं कि उन्हे अस्त्र-शस्त्रो का प्रयोग करना न आता हो ; नही, इसमे वे पारगत थे, तो भी वे उनकी व्यर्थता को समझ चुके थे। इसलिए, उन्होने श्रान्त-जर्जर ससार को यह उपदेश दिया था कि उसको हिंसा से नहीं, अहिंसा से मोक्ष की प्राप्ति होगी। अपने गत्यात्मक रूप मे अहिंसा का अर्थ है—स्वेच्छा से कष्ट सहन करना। इसका अर्थ यह नही है कि दुष्ट व्यक्ति की इच्छा के सामने चुपचाप आत्मसमर्पण कर दिया जाए, अपितु इसका अर्थ है कि अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध अपनी समस्त आत्मिक शक्ति को जुटा दिया जाए। हमारे अस्तित्व के इस नियम के अन्तर्गत यदि कार्य किया जाए, तो एक किसी भी व्यक्ति के लिए यह सम्भव है कि वह किसी अन्यायी साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति की अवज्ञा कर दे, अपनी प्रतिष्ठा, अपने धर्म, अपनी आत्मा की रक्षा कर ले और उस साम्राज्य के पतन या सुधार की नींव रख दे।...... मैं भारत को अहिंसा का मार्ग इसलिए अपनाने को नही कह रहा कि भारत कमजोर है। मैं तो चाहता हू कि भारत अपनी शक्ति और सामर्थ्य के प्रति पूर्ण जागरूक बनकर अहिंसा का प्रयोग करे। मैं चाहता हूं, भारत यह अनुभव करे कि उसकी भी एक आत्मा है जो विनष्ट नही हो सकती, जो किसी भी भौतिक निर्बलता पर विजय पा सकती है और जो किसी भी विशाल साम्राज्य की पार्थिव शक्ति की अवज्ञा कर सकती है।"

भारत भले ही गरीब हो, भले ही उसका अधःपतन हो गया हो, दुःख और दासता की बेडियों मे वह भले ही जकडा हुआ हो, किन्तु भारत का अध्यात्मवाद अभी मृत नहीं हुआ है, इसके प्रमाण मौजूद हैं।

यह शिकायत सच नही है कि भारत आध्यात्मिक आदर्शों का अनुसरण करने

के कारण असफल रहा। असफल तो वह इसलिए रहा कि उसने आध्यात्मिक आदर्शों का पूर्णरूपेण पालन नही किया। उसने यह नही सीखा कि आत्मा को जीवन का पूर्ण स्वामी कैसे वनाया जाए। पिछले दिनो मे तो उसने जीवन और आत्मा के वीच खाई खोद दी है और दोनो मे समझौता करने का प्रयास किया है। हमारे कुछ साधु-सन्त विरक्त जीवन विताते हैं, वे चिरन्तन का प्रिय बनने के लिए ऐहिक जीवन से दूर भागते हैं। यदि ईश्वरप्राप्ति की आतुरता मे हम मानवता के हितो की उपेक्षा कर देते हैं, तो भले ही हम कुछ महान सिद्धो और सन्तो को पैदा कर सकें, किन्तु हम अपनी नस्ल या जाति को समुन्नत नही कर पाएगे। हम पहले यह वता चुके हैं कि आध्यात्मिकता के अभ्यास से किस प्रकार उच्चकोटि के मानवो का विकास हो सकता है और इसकी एकागिता से किस प्रकार कोई जाति पतन के गर्त मे गिर सकती है। जीवन का स्वामित्व प्राप्त करना, उसे स्वीकार करना और उसमे सुधार करना किसी भी व्यक्ति के लिए कठिन है तथा किसी जाति के लिए तो और भी कठिन है। सामाजिक व्यवस्था मे सामजस्य लाना आध्यात्मिक पुरुष का अनिवार्य उद्देश्य है।

दिव्यज्ञान से अपने विचारो को प्रेरित करने, दिव्य प्रयोजन से अपनी इच्छा को स्पन्दित करने, दिव्य परमानन्द से अपने भावावेगो मे सामजस्य लाने, सत्य शिवं सुन्दरम्, जिसको हम ईश्वर का आध्यात्मिक रूप मानते हैं, की महान आत्मा को उपलब्ध करने, अपने समस्त अस्तित्व और जीवन को दिव्यपद तक उठाने मे ही मानव-जीवन की चरम सार्थकता और सफलता है। इस दिव्यत्व और सामजस्य को कुछ लोग ही प्राप्त कर पाए हैं, और वे अपवादस्वरूप हैं। अभी तक मानवता जिस उच्चस्तर तक पहुच पाई है, उसके वे नमूने हैं और उनको देखकर पता चलता है कि मानवता का अन्तिम स्वरूप कैसा होगा। वे नवमानवता के अग्रदूत हैं।

विवेकशील और जीवनीशक्तिसम्पन्न, सतत जागरूक और अथक सामाजिक प्रयास वाले ये मनुष्य नस्ल और देश पर आधारित सकीर्ण समूहो के सदस्य नही हैं, अपितु उस ससार के नागरिक हैं जो अभी अजन्मा है और काल के गर्भ मे है।

व्यक्ति ने जो कुछ किया है, उसे करने में जाति भी अन्तत सफल हो सकती है और उसे होना भी चाहिए। जव भगवान का अवतार कुछ व्यक्तियो मे नही, वरन् सम्पूर्ण मानवता मे हो जाएगा, तभी हमे नई सृष्टि, नर-नारियो की नई जाति के दर्शन होंगे, तभी मानवता रूपान्तरित होगी, तभी उसका उद्धार और पुनर्जन्म होगा तथा नये सिरे से ससार की रचना होगी। ससार का यही प्रारव्ध है, यही परम आध्यात्मिक आदर्श है। यही और केवल यही हमारे भीतर गम्भीरतम सर्जनात्मक शक्तियो को प्रोत्साहित करेगा, शुष्क तर्कजाल मे उलझने से हमे वचाएगा, रचनात्मक लालसाओं के द्वारा हमे प्रेरणा प्रदान करेगा और मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि से यही हमें ऐक्यवद्ध करके विश्वसाहचर्य मे परिणत करेगा।

३

हिन्दू विचारणा में रहस्यवाद और आचारनीति[1]

[१]

यद्यपि अंग्रेज भारत मे कई दशकों से रह रहे हैं और इस देश के ईसाई मिशनरी वहां बहुत सख्या मे पाए जाते हैं, तथापि उनके विचारो और अध्ययनो मे भारतीय सस्कृति को कम स्थान प्राप्त है जबकि पश्चिम के कतिपय अन्य देशो के लोग उसके विषय मे अधिकाधिक जानना और समझना चाहते हैं। एक साधारण अंग्रेज कानून और व्यवस्था मे, राजनीतिक और आर्थिक सम्बन्धो मे अधिक रुचि लेता है, किन्तु जीवन तथा विचार के सम्बन्ध मे उदासीन रहता है। वह नहीं जानता कि केवल जीवन और विचार के द्वारा ही लोगो को एकता के सूत्र मे बाधा जा सकता है। वह सोचता है कि चूकि उसने भारत को विजय किया है, वह उसको राई-रत्ती जान गया है। परन्तु सर जॉर्ज बर्डवुड इस सामान्य नियम के अपवाद थे। भारतीय सस्कृति के प्रति उनके मन मे बडी तडप थी और किसी वस्तु के मर्म तक पहुचने की उनमे समर्थ कल्पना थी। मानवता के ये दो बडे विभाग—एक तो ग्रेट ब्रिटेन जो यूरोप के सर्वोत्तम का प्रतिनिधित्व करता है और दूसरा, भारत जो पूर्व का चरम प्रतीक है—यदि अपनी विशिष्ट प्रवृत्तियों और परम्पराओ के सहित एक ऐसी राजनीतिक पद्धति के सहभागी बन सकें जिसका आधार प्रभुता और दासता न होकर समता और मैत्री हो, तो यह इतिहास की एक सबसे बडी उपलब्धि होगी। यदि दोनो देशो के बीच के सम्बन्ध को परस्पर विरोधी उद्देश्यो के कारण दु खान्त नहीं बनना है तो यह अत्यावश्यक है कि एक-दूसरे के सांस्कृतिक मूल्यो और मनोवैज्ञानिक अन्तरो को सहानुभूति एव सौहार्द की भावना से समझने की चेष्टा की जाए। सर बर्डवुड ने अपने लेखो मे भारतीय सभ्यता का उचित मूल्याकन किया है, क्योकि वे समझ गए थे कि भारतीय जीवन की प्रमुख प्रेरणा धर्म है।

बहुत समय से विचारशील लोग इस प्रश्न पर गम्भीर विचार-विमर्श करते रहे हैं कि धर्म का मानव-जीवन मे क्या स्थान होना चाहिए। हमारे जीवन में जो उतावली और परेशानी समाई हुई है, वह तो स्पष्ट ही है; शाश्वत मूल्यो की सत्यता पर गहरी आस्था और उसके प्रकाश मे व्यक्तिगत तथा सामाजिक जीवन-यापन करने के लिए गम्भीर प्रयत्न की ओर आज हमारा ध्यान नही जा रहा। सगठित धर्मसस्थाओ के प्रति हमारी आज की उदासीनता का कारण धर्मनिरपेक्षवाद का बढता हुआ प्रभाव उतना नही है जितना आध्यात्मिकता का चढता हुआ रग है।

सत्य की खोज के प्रति हममे इतनी सूक्ष्म विवेकपूर्ण संवेदनीयता है कि हम धर्माधिकारियो या धर्मग्रन्थो द्वारा की गई धर्म की सदेहास्पद व्याख्याओ तथा अधकचरी

१. रॉयल सोसाइटी ऑव आर्ट्स, लन्दन में ३०-४-३७ ई० को हुआ बर्डवुड-स्मारक भाषण।

परम्पराओ को मानने के लिए प्रस्तुत नहीं हो पाते। यदि कई लोग विशुद्ध धार्मिक विश्वासो को भी जीर्ण-शीर्ण सिद्धान्त मानने लगे हैं, तो इसका कारण यह है कि धर्मों ने ऐहिक तथ्यो के द्वारा शाश्वत सत्य को ढक दिया है और अध्यात्मवाद पर इतिहास का रोगन चढा दिया है। वे धर्म अधिकतर अतीत का राग अलापते हैं। उदाहरणत ईसाई-धर्मशास्त्र इस प्रकार के प्रश्नों का समाधान करने में व्यस्त है—क्या इजील दिव्य सदेश (इलहाम) की उपज है? बाइबल मे सृष्टि-रचना का जो वर्णन दिया गया है, उससे हम आधुनिक विज्ञान का सामजस्य कैसे स्थापित करेंगे? क्या 'ओल्ड टेस्टामेंट' (बाइबल के प्राचीन सस्करण) की भविष्यवाणिया पूर्ण हो गईं? क्या हम 'न्यूटेस्टामेंट' की चमत्कारिक घटनाओ को विश्वसनीय मानें? गहन चिन्तनशील व्यक्ति प्राचीन शास्त्रो मे आधुनिक विचारो को ढूढने में अथवा उन अर्थों को खोजने मे, जिनका लेश भी उनमे नही है, अपना समय और शक्ति व्यय करते हैं। जब तक ईसा-मसीह के जीवन को हम इतिहास की एक घटना-मात्र समझते हैं, जो लगभग उन्नीस सौ वर्ष पूर्व हुई थी, तब तक आज के सदर्भ मे उस जीवन की सार्थकता हमारी समझ मे नही आ सकती। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन ने धर्म-धर्म के बीच खडी की गई उन दीवारो को ढहा दिया है जिसके पीछे धर्मान्ध व्यक्ति शरण लेते हैं और यह दिखाने की चेष्टा करते हैं कि एक उनका ही धर्म ससार मे अनूठा धर्म है। इसके अतिरिक्त, ईश्वरविषयक अवतारवादी धारणा, जो ईश्वर को राजा या विजेता, पिता या नियामक, अच्छा चरवाहा या सत्यनिष्ठ न्यायाधीश मानती है तथा कल्पना करती है कि ईश्वर मे शील और शक्ति, जिनका मनुष्यो मे पाया जाना अत्यन्त प्रशंसनीय होता है, इन्द्रिया-तीत मात्रा मे हैं, वह कुछ लोगो की दृष्टि मे पुरातन और असस्कृत धारणा जान पड़ती है। वे इस केन्द्रीय सत्य को छिपाने की चेष्टा करते हैं कि ईश्वर आत्मा है, अत उसकी वास्तविक पूजा तो आत्मा और सत्य की पूजा ही हो सकती है। हम नही कह सकते कि धारणाओ की निश्चयता किसी धर्म मे गहराई लाती है। ईश्वर का यह मूर्तीकरण इस विचार को कि ईश्वर मनुष्य की पहुच की सीमा मे है, कुछ सकीर्ण बना देता है और ब्रह्मविषयक एक अधिक आध्यात्मिक धारणा के विरुद्ध जाता है। चूकि हमें इस दुनिया मे रहना है, इसलिए ईश्वर का सगुण रूप धार्मिक दृष्टि से हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है, किन्तु स्पष्टत परिभाषित सगुणवाद अनुदारता और असहिष्णुता को स्थान देता है और कभी-कभी तो बडे बेतुके काम वह हमसे करा डालता है। कहते हैं कि जब 'टिटैनिक' जहाज समुद्र मे डूब रहा था, तब एक अमेरिकी लखपती अपने केबिन में चला गया—प्रार्थना करने के लिए नही, वरन् सान्ध्य-भोजन के समय पहनी जानेवाली अपनी पोशाक पहनने के लिए। जब उससे इसका कारण पूछा गया, तब उसने उत्तर दिया कि मैं अपने स्रष्टा के सम्मुख एक भलेमानुस के रूप मे उपस्थित होना चाहता हू। हम ऐसे देवताओ से सन्तुष्ट नही रह सकते जो अस्थिर और चचल वृत्ति के हैं, जिनको न तुष्ट होते देर लगती है, न रुष्ट होते हुए, जो तुच्छ-सी उत्तेजना पाकर ही भड़क जाते हैं और प्रतिशोध लेने पर उतारू हो जाते हैं तथा जो मामूली-सी बातो से ही परेशान हो उठते हैं। यदि हम लोगो के मन मे यह विश्वास जमा दें कि पितृसत्तात्मक

समाज मे जो स्थिति पिता की होती है, वही स्थिति इस संसार मे ईश्वर की है; वह हमारा पिता है; उसके कुछ प्रिय पुत्र भी हैं जिनसे वह अपने मन की बात कहता है; तो सम्भव है कि सीधे-सादे व्यक्ति यह मान बैठें कि कुछ लोगों को—ईश्वर के कुछ प्रिय पुत्रो को—रहस्यात्मक साधनो से ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति हुई है। ऐसा मान बैठने के लिए हम उनको दोष नही दे सकते। यदि रोमन कैथॉलिक लोग पोप के विवाह-सम्बन्धी गश्तीपत्र (एन्साइक्लिकल) को स्वीकार करते हैं, तो राष्ट्रीय समाजवादी (नात्सीवादी) हिटलर के फरमानो को बाइबल की तरह पवित्र मानकर स्वीकार करते हैं। जो लोग 'सत्य धर्म' के विषय में शंका करते हैं, उनको 'कंसण्ट्रेशन कैम्पों' मे झोंक दिया जाता है, इन शिविरों के विषय में दान्ते व मिल्टन ने सविस्तार बताया है।[1]

एक बात और, जीवन-पद्धति के रूप मे धर्म का प्रयोजन चिरन्तन सत्ता की शोध है। धर्म विश्वास की अपेक्षा व्यवहार अधिक है। यदि हम ईश्वर पर विश्वास करते हैं, तो हमे अपनी उस आस्था के अनुसार कार्य करना चाहिए। कई लोग अनुभव करते हैं कि उनसे केवल बाह्य सादृश्य की ही आशा की जाती है। यदि हम जन्म के समय बपतिस्मा लेने से लेकर मृत्यु के उपरान्त शरीर को कब्र मे दफनाने तक के सस्कारो को पूरा करते जाते हैं, तो हम धार्मिक हैं, भले ही इस प्रक्रिया मे कोई तीव्र आन्तरिक अनुशासन या आध्यात्मिक अनुभव का समावेश न हो। यदि हम श्लोको या वाक्याशो को दुहराते जाते हैं और यथानुरूप सकेत करते जाते हैं, तो शेष बातों के लिए हमे चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है। जो लोग ईश्वर या भावी जीवन मे दृढ विश्वास करते हैं, उनमे से कई लोग ऐसा आचरण करते हैं मानो इन दोनो का कोई अस्तित्व न हो। अपने विश्वास के प्रति हमारी धारणा मे और वास्तव मे हम क्या विश्वास करते हैं, इसमे अन्तर है। आपको उस पादरी की कहानी तो ज्ञात ही होगी जिसने समुद्री तूफान आने पर जहाज के कप्तान से पूछा था कि तुम क्या कर रहे हो? कप्तान ने उत्तर दिया: "हम जो कर सकते थे, सब कर चुके, अब तो ईश्वर का ही भरोसा है।" पादरी ने कहा: "क्या स्थिति वास्तव मे इतनी भयानक है?" आज मनुष्यो के जीवन या सार्वजनिक कार्यों मे धर्म एक प्रभावशील शक्ति नही रह गया। जो देश अपने को सभ्यता का अलमबरदार बतलाते हैं, वे भी अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए हजारो-लाखो मनुष्यो का वध करने मे तनिक नही हिचकते। लेडी मैकबेथ ने डकन की मृत्यु पर टीका करते हुए कहा था: "थोडे-से पानी से हमारा यह पाप धुल जाएगा।" गगा का पवित्र जल छिडक लिया जाए और कुछ आप्त श्लोक गुनगुना लिए जाए, तो हमारी सारी सासारिक पीड़ाए और निष्ठुरताए छू-मन्तर हो जाएगी। वस्तुत कठिनाई तब उपस्थित होती है जब हम ईश्वर का स्थान धर्म को और अमोघ 'चर्च' या इजील को व्यक्तिगत प्रयास का स्थान ले लेने देते हैं। यदि धर्म को पुनरुज्जीवित होना है, तो प्रामाण्य सत्य के आधार पर उसका स्थापन आवश्यक है। बाह्य

१. क्या यह केवल सयोग की बात है कि हिटलर और मुसोलिनी का पालन-पोषण रोमन कैथॉलिक समाज में हुआ है, जहा अपने धर्माधिकारी को निरपराध्य माना जाता है और उसकी आलोचना करना निन्दनीय समझा जाता है?

निर्देश पर भरोसा करना छोडकर, क्योकि उसका औचित्य अधिकाधिक संदेहास्पद होता जा रहा है, हमे घनिष्ठ और निजी अनुभव पर भरोसा करना सीखना चाहिए। लोगो मे यह इच्छा उत्कट होती जा रही है कि रूढ़िगत सिद्धान्तो वाले धर्म का स्थान जीवन के धर्म को दिया जाए और राष्ट्र-राज्य की पूजा के स्थान पर विश्व-समाज के प्रति निष्ठा प्रकट की जाए।

धर्म का प्रारम्भ हमारे जीवन मे तब होता है जब हम यह जान जाते हैं कि हमारा जीवन केवल हमारे ही निमित्त नही है। हमारे इस जीवन से भी एक बृहत्तर जीवन है जिसने हमे जकड रखा है और जो हमारा पोषण करता है। जो धर्म इस महत्तर आत्मा के लिए मनुष्य की शोध का साधन बन चुका होगा, वह किसी भी मत-वाद को अपने मे पूर्ण या किसी भी नियम को निर्दोश नही मानेगा। वह विकासशील और प्रगतिशील होगा। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समर्थन न केवल महान धार्मिक उपदेष्टा और मानव-जाति के नेता करते हैं, अपितु साधारण जन तक करते हैं जिनके अन्तर्तम अस्तित्व मे आत्मा का कूप गहराई मे स्थित है। हमारे सामान्य अनुभव मे ऐसी घटनाए घटित होती हैं जिनका यह तात्पर्य निकलता है कि कोई आध्यात्मिक ससार भी है। हम प्रार्थना या चिन्तन-मनन करते हैं, अपनी सामान्य आत्मा से परे एक शक्ति का सन्धान करते हैं और उसके प्रति आत्मनिवेदन का भावावेग हमारे भीतर होता है; कभी-कभी अकस्मात् ही सौन्दर्य की एक झलक-मात्र से हमारे अन्तस् मे ईश्वरीय साक्षात्कार का स्फुरण हो जाता है, किसी-किसी व्यक्ति का निर्णायक सम्पर्क हमारे विश्रृखलित जीवन को सार्थक और सगत बना देता है। ये सब तथ्य इस बात के सूचक हैं कि हम अनिवार्यत आध्यात्मिक प्राणी हैं। स्वय को जान लेने का अर्थ है सबको जान लेना या जिनको जानना आवश्यक है, उनको तो जान ही लेना। जीवन को देखने का जो हठधर्मी दृष्टिकोण है, उससे भिन्न है आध्यात्मिक दृष्टिकोण। यह दृष्टिकोण विज्ञान की प्रगति और इतिहास की आलोचना से अप्रभावित रहता है। धर्म कुछ बाह्याचारो की आवश्यकता समझता है, वह एक ऐसी पद्धति है जिसमे नियन्त्रणो और आश्वासनो को स्थान प्राप्त है, किन्तु आध्यात्मिकता उच्चतम आत्मा को जानने, उसी-मे निरत रहने तथा जीवन को उसके अगो-उपागो-सहित उच्च बनाने की आवश्यकता पर जोर देती है। आध्यात्मिकता धर्म का मर्म और आन्तरिक सार है। रहस्यवाद धर्म के इसी पक्ष पर बल देता है।

रहस्यवाद एक ऐसा शब्द है जिसको न तो हेतुवादी पसन्द करते हैं, न कट्टर धर्मशास्त्री। इसकी आलोचना यह कहकर की जाती है कि यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो वस्तुओ को अस्पष्ट रूप से एक स्वर्णिम या भावुकतापूर्ण कुहासे मे आवृत करके देखना चाहती है, जो मानव-मन के इस स्वभाव को उचित सिद्ध करती है कि परस्पर विरोधी विश्वासो को एक ही साथ मन मे पाला जा सकता है, जो विचार-विभ्रम को बढावा देती है। वस्तुतः रहस्यवाद इनमे से कोई भी चीज नही है। यह तो केवल ससार की रहस्यमयता की स्वीकृति है।[1] एक ऐसे संसार मे जो सभी तर्कसंगत कारणो से रहस्य-

१. व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाए तो रहस्यवादी वह व्यक्ति है जो समस्त बाह्य

समाज मे जो स्थिति पिता की होती है, वही स्थिति इस संसार में ईश्वर की है, वह हमारा पिता है; उसके कुछ प्रिय पुत्र भी हैं जिनसे वह अपने मन की बात कहता है; तो सम्भव है कि सीधे-सादे व्यक्ति यह मान बैठें कि कुछ लोगों को—ईश्वर के कुछ प्रिय पुत्रो को—रहस्यात्मक साधनों से ईश्वरीय ज्ञान की प्राप्ति हुई है। ऐसा मान बैठने के लिए हम उनको दोष नही दे सकते। यदि रोमन कैथॉलिक लोग पोप के विवाह-सम्बन्धी गश्तीपत्र (एन्साइक्लिकल) को स्वीकार करते हैं, तो राष्ट्रीय समाजवादी (नात्सीवादी) हिटलर के फरमानो को बाइबल की तरह पवित्र मानकर स्वीकार करते हैं। जो लोग 'सत्य धर्म' के विषय में शंका करते हैं, उनको 'कसण्ट्रेशन कैम्पों' में झोंक दिया जाता है, इन शिविरो के विषय मे दान्ते व मिल्टन ने सविस्तार बताया है।[1]

एक बात और, जीवन-पद्धति के रूप मे धर्म का प्रयोजन चिरन्तन सत्ता की शोध है। धर्म विश्वास की अपेक्षा व्यवहार अधिक है। यदि हम ईश्वर पर विश्वास करते हैं, तो हमे अपनी उस आस्था के अनुसार कार्य करना चाहिए। कई लोग अनुभव करते हैं कि उनसे केवल बाह्य सादृश्य की ही आशा की जाती है। यदि हम जन्म के समय बपतिस्मा लेने से लेकर मृत्यु के उपरान्त शरीर को कब्र में दफनाने तक के सस्कारों को पूरा करते जाते हैं, तो हम धार्मिक हैं, भले ही इस प्रक्रिया मे कोई तीव्र आन्तरिक अनुशासन या आध्यात्मिक अनुभव का समावेश न हो। यदि हम श्लोको या वाक्याशो को दुहराते जाते हैं और यथानुरूप सकेत करते जाते हैं, तो शेष बातो के लिए हमें चिन्तित होने की आवश्यकता नही है। जो लोग ईश्वर या भावी जीवन मे दृढ विश्वास करते हैं, उनमे से कई लोग ऐसा आचरण करते हैं मानो इन दोनो का कोई अस्तित्व न हो। अपने विश्वास के प्रति हमारी धारणा में और वास्तव मे हम क्या विश्वास करते हैं, इसमे अन्तर है। आपको उस पादरी की कहानी तो ज्ञात ही होगी जिसने समुद्री तूफान आने पर जहाज के कप्तान से पूछा था कि तुम क्या कर रहे हो? कप्तान ने उत्तर दिया. "हम जो कर सकते थे, सब कर चुके, अब तो ईश्वर का ही भरोसा है।" पादरी ने कहा. "क्या स्थिति वास्तव मे इतनी भयानक है?" आज मनुष्यो के जीवन या सार्वजनिक कार्यों मे धर्म एक प्रभावशील शक्ति नही रह गया। जो देश अपने को सभ्यता का अलमबरदार बतलाते हैं, वे भी अपने राजनीतिक स्वार्थों के लिए हज़ारो-लाखो मनुष्यो का वध करने मे तनिक नही हिचकते। लेडी मैकबेथ ने डकन की मृत्यु पर टीका करते हुए कहा था "थोडे-से पानी से हमारा यह पाप धुल जाएगा।" गगा का पवित्र जल छिडक लिया जाए और कुछ आप्त श्लोक गुनगुना लिए जाए, तो हमारी सारी सासारिक पीड़ाए और निष्ठुरताए छू-मन्तर हो जाएगी। वस्तुत. कठिनाई तब उपस्थित होती है जब हम ईश्वर का स्थान धर्म को और अमोघ 'चर्च' या इजील को व्यक्तिगत प्रयास का स्थान ले लेने देते हैं। यदि धर्म को पुन-रुज्जीवित होना है, तो प्रामाण्य सत्य के आधार पर उसका स्थापन आवश्यक है। बाह्य

१. क्या यह केवल संयोग की बात है कि हिटलर और मुसोलिनी का पालन-पोषण रोमन कैथॉलिक समाज में हुआ है, जहा अपने धर्माधिकारी को निरपराध्य माना जाता है और उनकी आलोचना करना निन्दनीय समझा जाता है?

निर्देश पर भरोसा करना छोडकर, क्योकि उसका औचित्य अधिकाधिक सदेहास्पद होता जा रहा है, हमे घनिष्ठ और निजी अनुभव पर भरोसा करना सीखना चाहिए। लोगो में यह इच्छा उत्कट होती जा रही है कि रूढिगत सिद्धान्तो वाले धर्म का स्थान जीवन के धर्म को दिया जाए और राष्ट्र-राज्य की पूजा के स्थान पर विश्व-समाज के प्रति निष्ठा प्रकट की जाए।

धर्म का प्रारम्भ हमारे जीवन मे तव होता है जव हम यह जान जाते हैं कि हमारा जीवन केवल हमारे ही निमित्त नही है। हमारे इस जीवन से भी एक वृहत्तर जीवन है जिसने हमे जकड रखा है और जो हमारा पोषण करता है। जो धर्म इस महत्तर आत्मा के लिए मनुष्य की शोध का साधन वन चुका होगा, वह किसी भी मत-वाद को अपने मे पूर्ण या किसी भी नियम को निर्दोश नही मानेगा। वह विकासशील और प्रगतिशील होगा। इस आध्यात्मिक दृष्टिकोण का समर्थन न केवल महान धार्मिक उपदेष्टा और मानव-जाति के नेता करते हैं, अपितु साधारण जन तक करते हैं जिनके अन्तर्तम अस्तित्व मे आत्मा का कूप गहराई मे स्थित है। हमारे सामान्य अनुभव मे ऐसी घटनाए घटित होती हैं जिनका यह तात्पर्य निकलता है कि कोई आध्यात्मिक ससार भी है। हम प्रार्थना या चिन्तन-मनन करते हैं, अपनी सामान्य आत्मा से परे एक शक्ति का सन्धान करते हैं और उसके प्रति आत्मनिवेदन का भावावेग हमारे भीतर होता है, कभी-कभी अकस्मात् ही सौन्दर्य की एक झलक-मात्र से हमारे अन्तस् मे ईश्वरीय साक्षात्कार का स्फुरण हो जाता है, किसी-किसी व्यक्ति का निर्णायक सम्पर्क हमारे विशृंखलित जीवन को सार्थक और सगत वना देता है। ये सव तथ्य इस वात के सूचक हैं कि हम अनिवार्यत आध्यात्मिक प्राणी हैं। स्वय को जान लेने का अर्थ है सवको जान लेना या जिनको जानना आवश्यक है, उनको तो जान ही लेना। जीवन को देखने का जो हठधर्मी दृष्टिकोण है, उससे भिन्न है आध्यात्मिक दृष्टिकोण। यह दृष्टिकोण विज्ञान की प्रगति और इतिहास की आलोचना से अप्रभावित रहता है। धर्म कुछ वाह्याचारो की आवश्यकता समझता है, वह एक ऐसी पद्धति है जिसमे नियन्त्रणो और आश्वासनो को स्थान प्राप्त है, किन्तु आध्यात्मिकता उच्चतम आत्मा को जानने, उसी-मे निरत रहने तथा जीवन को उसके अगो-उपागो-सहित उच्च वनाने की आवश्यकता पर जोर देती है। आध्यात्मिकता धर्म का मर्म और आन्तरिक सार है। रहस्यवाद धर्म के इसी पक्ष पर वल देता है।

रहस्यवाद एक ऐसा शब्द है जिसको न तो हेतुवादी पसन्द करते हैं, न कट्टर धर्मशास्त्री। इसकी आलोचना यह कहकर की जाती है कि यह एक ऐसी प्रवृत्ति है जो वस्तुओ को अस्पष्ट रूप से एक स्वर्णिम या भावुकतापूर्ण कुहासे मे आवृत करके देखना चाहती है, जो मानव-मन के इस स्वभाव को उचित सिद्ध करती है कि परस्पर विरोधी विश्वासो को एक ही साथ मन में पाला जा सकता है, जो विचार-विभ्रम को वढावा देती है। वस्तुतः रहस्यवाद इनमे से कोई भी चीज़ नही है। यह तो केवल ससार की रहस्यमयता की स्वीकृति है।[1] एक ऐसे ससार मे जो सभी तर्कसगत कारणो से रहस्य-

१. व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया जाए तो रहस्यवादी वह व्यक्ति है जो समस्त वाह्य

मय है, यह बात भर्त्सना के योग्य नही है। यदि हम केवल उतने और वही होते जो हम अपनी सामान्य आत्मचेतना को जान पडते हैं, तो इसमें कोई रहस्य की बात न होती; यदि इस ससार का रूप केवल वही होता जो हमारी ज्ञानेन्द्रियो के प्रत्यक्ष अनुभव और तार्किक विश्लेषण मे समा पाता है, तो कोई पहेली न होती। जो हो, रहस्य है भी तो गहरा नही और पहेली है भी तो अनबूझ नही। अपनी तर्कसगत चेतना में हम अपने-आपसे अनजान होते हैं, क्योकि हम अपने भीतर केवल उसी वस्तु को पहचानते हैं जो क्षण-क्षण मे परिवर्तित होती रहती है। अपने भीतर के चिरस्थायी अश को हम नही जानते। हम ससार के प्रति अनजान इसलिए होते हैं, क्योकि हम केवल इसके बाह्य स्वरूपो से ही परिचित होते हैं, इसके सत्य अस्तित्व से नही। रहस्यवाद प्रकृतिवाद और धार्मिक रूढिवाद के विपरीत है, क्योकि प्रकृतिवाद जहा ईश्वर के अस्तित्व को ही स्पष्टत. अस्वीकार करता है, वहा धार्मिक रूढिवाद ऐसी बातें करता है मानो वह ईश्वर के विषय मे सब कुछ जानता हो। दोनो (प्रकृतिवाद और रूढिवाद) इस बात मे सहमत हैं कि ससार से सब प्रकार की रहस्यमयता को मिटा दिया जाए। वैज्ञानिक निष्ठा की उमंग मे हेतुवादी कभी-कभी उतना ही उग्र हो सकता है जितना धार्मिक रूढिवादी और उतना ही सकीण भी हो सकता है जितना कोई सम्प्रदाय, जिसका मूलोच्छेदक होने का श्रेय वह स्वयं को दे डालता है। अज्ञात के समक्ष यदि सम्भ्रम की भावना न हो, तो धर्म एक तुच्छ वस्तु बन जाएगा।[1] सेंट ऑगस्टीन के विषय में एक कहानी प्रसिद्ध है कि एक दिन जब वे समुद्रतट पर अपनी पुस्तक 'डी ट्रिनिटेट' (त्रिमूर्ति) के सम्बन्ध मे चिन्तन-मनन कर रहे थे, तब उन्होने एक ऐसे बच्चे को देखा जो एक शख को समुद्र के जल से भर-भरकर उसे अपने द्वारा बालू मे बनाए एक गड्ढे मे उडेलता जा रहा था। यह पूछने पर कि तुम क्या कर रहे हो, उस बच्चे ने उत्तर दिया कि मैं समुद्र के सारे पानी को अपने गड्ढे मे उलीच देना चाहता हूं। जब उस महान धर्मतत्त्वज्ञ ने उस बच्चे को उसके प्रयास की निरर्थकता के सम्बन्ध मे मीठी-सी झिड़की दी, तब उसने तपाक-से उत्तर दिया· "आप जो कार्य कर रहे हैं—अर्थात् परमात्मा की प्रकृति को समझने का कार्य—उसके पूर्ण होने की सम्भावना उतनी भी नही है जितनी सम्भावना मेरे इस कार्य के पूर्ण होने की है।" रहस्यात्मक धर्म में ईश्वर एक तार्किक धारणा नही है, न वह मिथ्यानुमान का निष्कर्ष है, वरन् एक सत्य अस्तित्व है जिसके आधार पर सब प्रकार के ज्ञान तथा मूल्य स्थित एव सम्भव हैं। रहस्यवाद, जो ईश्वर की व्यक्तिगत अनुभूति और सृजनात्मक आत्मा के साथ प्रत्यक्ष सपर्क पर बल देता है, बर्गसन के शब्दो मे 'खुला धर्म' है। साम्प्रदायिक तथा धार्मिक

वस्तुओं की ओर से आंखें मूद लेता है और जिन दिव्य रहस्यों की झलक उसे प्राप्त हो गई है, उनके विषय में सर्वथा मौन रहता है।

१. आइन्स्टीन ने इस बात को इस प्रकार कहा है : "सबसे सुन्दर वस्तु, जिसका अनुभव हम कर सकते हैं, रहस्यमय है। यह वह आधारभूत मनोभाव है जो सच्ची कला और सच्चे विज्ञान के पालने में झूलता रहता है। जो उसे जानता नहीं, वह उसपर विस्मय नहीं कर सकता, उससे चकित नहीं हो सकता; वह मृतप्राय है दीपक की दग्धवर्त्तिका के समान।" ('द वर्ल्ड सेज़ आइ सी इट')।

सस्कारवादी धर्म, जो भयभीत मानव-जाति मे सुरक्षा की भावना उत्पन्न करते हैं, सकीर्ण धर्म कहे जा सकते हैं। आज मानवता अपनी ही प्रगति के वोझ के नीचे आधी कुचली जा चुकी है, इसको अब केवल एक उदार धर्म ही बचा सकता है जो चाहता हो कि हम आध्यात्मिक स्रोतस्विनी मे पैठें और अपनी आत्मा को स्फूर्तिमय तथा सशक्त बनावें।

रहस्यवाद के सम्बन्ध मे यह आलोचना की जाती है कि यह राजनीतिक प्रतिक्रियावादियो के हाथो मे एक आध्यात्मिक साधन बन जाता है। परन्तु, यह तो उसके दुरुपयोग की वात हुई। रहस्यात्मक या अन्तर्ज्ञानीय (इण्ट्युइटिव) चेतना और सहज ज्ञानमूलक (इंस्टिक्टिव) चेतना को एक ही नही समझ लेना चाहिए। यह अविवेक की ओर उडान या अज्ञानता और अस्पष्टता का महिमागान नहीं है। यह मानव-जीवन की अविभाज्य एकता की, जिसकी आशंकाए विवेक के विपरीत नही जा सकती, कल्पना करता है।

पैस्कल ने विश्वास की तीन रीतिया बताई हैं—आचार-रूढि, विवेक और प्रेरणा। उनका यह वर्गीकरण वहुत प्रसिद्ध है। ये तीनो रीतिया मानसिक विकास के तीनो स्तरो—सहजवुद्धि, विवेक और अन्तर्ज्ञान—की ओर सकेत करती हैं, यद्यपि उनको कालानुसार क्रमागत और अलग नहीं मानना चाहिए। शैशव के निम्नतम स्तर मे ज्ञानेन्द्रिया सर्वाधिक सक्रिय रहती हैं। युवावस्था मे हम आनुभविक स्तर से द्वन्द्वात्मक स्तर तक उठ जाते हैं, उस समय हम तर्क-वितर्क करते हैं और पर्यवेक्षित आकडो के आधार पर निष्कर्ष निकालने लगते हैं। कुछ अधिक प्रौढ़ता प्राप्त करने पर हम अनुभव के द्वारा, जो समग्र आत्मा मे परिव्याप्त हो जाता है, सत्य का सश्लिष्ट और अन्त.स्फूर्तिकर ज्ञान प्राप्त करते हैं। यद्यपि अन्तर्ज्ञान इच्छा और अनुभूति के द्वारा प्रमाणित होता है, तथापि विना अविरत वौद्धिक प्रयत्न के उसे कभी भी उपलव्ध नहीं किया जा सकता। यह विवेकवुद्धि के अनुशासन और प्रमाण की प्रविधि के विना एक कदम नही चल सकता। स्वय धर्म तीन स्वरूप ग्रहण कर सकता है—आदिकालीन या ऐन्द्रीय, विचारात्मक और रहस्यात्मक। रहस्यात्मक अर्थ मे धर्म विवेकवुद्धि का अनुमान-मात्र नही है, न पराश्रयता की अनुभूति ही है, न व्यवहार की एक पद्धति ही। यह कुछ है जो हमारी सारी आत्मा है, यह अनुभव करता है, कार्य करता है, यह विचार, अनुभूति और इच्छा की सहवर्ती सक्रियता है। यह (धर्म) शाश्वत निश्चयता की तार्किक माग को, प्रशान्ति की सौन्दर्यात्मक लालसा को और पूर्णत्व के लिए नैतिक इच्छा को सन्तुष्ट करता है। उपनिषदो के महान रहस्यवादी मन्त्रद्रष्टा ऋषियो, वुद्ध, शकराचार्य और सैकडो अन्य महात्माओ में पुण्यता और विद्वत्ता, आत्मा की पवित्रता और अनुभूति की प्रखरता सामंजस्यपूर्ण एकत्व मे घुल-मिल गई हैं।

[२]

उच्चकोटि के रहस्यात्मक अनुभवो का अध्ययन करने पर यह पता चलता है कि उनमें एक प्रकार की आश्चर्यजनक एकता है जिसपर जाति, प्रदेश या आयु का

प्राय. कोई प्रभाव नहीं पडता।[1] सभी मनुष्यो की आत्मा आतरिक रूप से समान है, इसका यह तात्पर्य नही कि सबके रहस्यात्मक अनुभव भी एकसमान होते हैं। उन अनुभवो मे व्यक्तिश. कुछ अन्तर होता है। उदाहरण के लिए, पूर्व में उपनिषदो, भगवद्गीता, शकराचार्य, रामानुजाचार्य, रामकृष्ण परमहस, बौद्धधर्म और जलालुद्दीन सभीके रहस्यवाद एक-दूसरे से भिन्न हैं। इसी प्रकार पश्चिम में प्लेटो और पॉल के, प्रोक्लस और टौलर के, प्लॉटिनस और एकहार्ट के रहस्यवाद परस्पर भिन्नता रखते हैं। वे भिन्नताएं जाति, जलवायु या भौगोलिक परिस्थिति के द्वारा निर्धारित नही होती। वे जाति या सस्कृति के एक ही वृत्त मे पास-पास प्रकट होते हुए भी भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियो और परम्पराओ का विकास करती हैं।

दुर्भाग्य से, कुछ दिनो से लोगो मे प्राच्य रहस्यवाद को पाश्चात्य रहस्यवाद से, या कुछ अधिक ठीक कहें, तो हिन्दू रहस्यवाद को ईसाई रहस्यवाद से भिन्न दिखाने की चेष्टा की जा रही है। इसके लिए वे ईसाई-धर्म की अत्यधिक नैतिक गम्भीरता और हिन्दूधर्म की नैतिकता के प्रति उदासीनता को तुलना का विषय बनाते हैं। कहा जाता है कि ईसाई विचारणा गत्यात्मक और सृजनात्मक है। यह ससार की यथार्थता और जीवन की सार्थकता की पुष्टि करती है। दूसरी ओर, हिन्दू विचारणा के विषय मे कहा जाता है कि वह ससार की यथार्थता और मानव-जीवन की निराशा को अस्वीकार करती है, वह विचार और क्रिया के मूलस्रोतो को ही विषाक्त बना देती है, और मृत्यु तथा जडता को पनपाती है, वह ऐसी शक्ति और प्रयोजन नही उत्पन्न करती जो मनुष्य को उच्च लक्ष्यो की ओर ले जा सकें।

ईसाई और हिन्दू विचारणा के बीच का यह तुलनात्मक अन्तर विशेष रूप से डॉ० श्वेट्ज़र की पुस्तक[2] मे वर्णित है। उसपर हम दो कारणो से विचार करेंगे। पहला कारण तो यह है कि डॉ० श्वेट्ज़र एक प्रभावशाली और महत्त्वपूर्ण विचारक हैं। उनकी कृतियो मे चाहे जो त्रुटिया हो, फिर भी वे कृतिया हमारे आदर और कृतज्ञता की पात्र हैं। दूसरी बात यह है कि उनकी पुस्तक मे हिन्दू विचारणा से सम्बन्धित मुख्य-मुख्य आलोचनाएं एकत्र ही सुविधाजनक रूप से आ गई हैं। डॉ० श्वेट्ज़र का सारा तर्क मुख्यत इन दो मनोवृत्तियो के विरोधाभास पर आधारित है, जिन्हे वे 'ससार और जीवन का अनुमोदन' और 'ससार और जीवन का निषेध' कहकर पुकारते हैं। इनमे से प्रथम तो ससार और जीवन की यथार्थता तथा महत्त्व को

१. तुलना कीजिए : "रहस्यवाद में सब कालों और स्थानों में एक अनूठी एकरूपता पाई जाती है। सभी देशों और कालों के रहस्यवादियों ने परमात्मा के साथ आत्मा के सम्मिलन की बात को एक जैसी अभिव्यक्ति प्रदान की है, चाहे वे रहस्यवादी प्लॉटिनस जैसे नवप्लेटोवादी हों, चाहे कोई मुसलमान सूफी सन्त हों, कोई कैथॉलिक पादरी हों या कोई 'क्वेकर' ('सोसाइटी ऑव फ्रेण्ड्स' का सदस्य) हों। रहस्यवाद धर्म का स्पन्दनशील हृदय है। उसका उद्गम 'चर्चों' (धार्मिक सम्प्रदायों) को विभाजित करनेवाले मतभेदों तथा इतिहास के युगों को विभाजित करनेवाले सांस्कृतिक परिवर्तनों के उद्गमों से कुछ अधिक गहराई में से होता है।' —डॉ० इगे कृत 'फ्रीडम, लव एण्ड ट्रुथ' (१९३६ ई०), पृष्ठ २५–२६।

२. 'इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेंट' (अंग्रेजी अनुवाद), १९३६ ई०।

स्वीकार करती है और द्वितीय, ससार तथा जीवन का कोई वास्तविक अस्तित्व मानने से इन्कार करती है। ससार तथा जीवन को निरर्थक और शोकपूर्ण वताया गया है। यदि डॉ० श्वेट्ज़र के ही शब्दो का प्रयोग किया जाए, तो इस विचारधारा मे "व्यक्ति से अपेक्षा की जाती है कि वह जीवित रहने की अपनी इच्छा का दमन करके और ऐहिक जीवन की दशाओ को सुधारने के लिए किए जानेवाले समस्त कार्यों का परित्याग करके अपने भीतर जीवन की गति को नि.स्पन्द कर दे।"[1] ससार और जीवन के अनुमोदन का परिणाम सामाजिक सेवा है, जबकि इसका प्रतिपक्षी दृष्टिकोण ससार मे कोई रुचि नही लेता और उसको रगमच का अभिनय समझता है, या अधिक से अधिक यह मानता है कि काल के माध्यम से चिरन्तन की ओर की जानेवाली यह कष्टमय तीर्थयात्रा है। यह जो दूसरा दृष्टिकोण है, वह जीवन के साथ समझौता किए विना नही रह सकता, क्योकि "नैतिक ससार और जीवन का निषेध—ये दोनों बातें परस्पर विरोधी तथा अव्यावहारिक हैं, क्योकि नीतिशास्त्र मे ससार और जीवन के अनुमोदन का समावेश है।"[2] हमारे भीतर जीवित रहने की नैसर्गिक प्रवृत्ति है और वह ससार के अनुमोदन की दिशा में कार्य करती है।

एक अन्य महान जर्मन धर्मतत्त्वज्ञ प्रोफेसर हेलर ने अपनी 'प्रेयर' (प्रार्थना)[3] शीर्षक पुस्तक मे इसीसे मिलते-जुलते शब्दों में रहस्यात्मक धर्म के विरुद्ध पैगम्वरी धर्म का समर्थन किया है। तुलना की दृष्टि से उस पुस्तक से कुछ उद्धरण यहा दे देना रुचिकर होगा। प्रो० हेलर मानते हैं कि ये दोनो प्रकार के धर्म भारत मे भी पाए जाते हैं और पश्चिम मे भी उनके वैषम्य-प्रदर्शन का आधार भौगोलिक नही है।

> प्रो० हेलर का कथन है "आत्मिक अनुभव, जो रहस्यवाद की मूलभूत वस्तु है, जीवन की अन्त प्रेरणा को अस्वीकार करता है, जीवन की थकान ही इस अस्वीकृति को जन्म देती है। रहस्यवाद का आत्मिक अनुभव अनन्त परमेश्वर के सम्मुख सर्वात्मभाव से आत्मसमर्पण है, इसीकी परिणति परमानन्द मे होती है। 'पैगम्वरी धर्म' मे पाया जानेवाला आत्मिक अनुभव जीवन की अदम्य इच्छा का प्रतिरूप है ; वह जीवन की अनुभूति के आग्रह, संपुष्टि और सवर्द्धन के लिए एक सतत अन्त प्रेरणा है। रहस्यवाद निष्क्रिय, शान्त, विरक्त और मननशील है ; पैगम्बरी धर्म सक्रिय, अनुरक्त, कामनाशील और नैतिक है।"
>
> "रहस्यवाद प्राकृतिक जीवन तथा जीवन के सुख-भोग से इसलिए दूर-दूर भागता है तथा उन्हे अस्वीकार करता है, क्योकि वह उनसे भी परे एक अनन्त जीवन का अनुभव करना चाहता है। इसके विपरीत, पैगम्वरी धर्मनिष्ठा जीवन मे विश्वास करती है, इसे स्वीकार करती है और अपने-आपको दृढ निश्चय

१. 'इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेंट', (अं० अ०) १९३६ ई०, पृष्ठ १–२।
२ वही, पृष्ठ १११।
३ अंग्रेजी अनुवाद (१९३२)।

तथा उल्लास के साथ जीवन की गोद मे डाल देती है। एक ओर तो हमे जीवन का दुराग्रहपूर्ण निषेध मिलता है, और दूसरी ओर जीवन के प्रति अजेय विश्वास।"

"रहस्यवाद स्त्रियोचित प्रकृति का धर्म है। इसकी विशेषताए हैं—उत्साहप्रद आत्मसमर्पण, अनुभूति की सूक्ष्म सवेदन शक्ति, कोमल सम्बन्ध-बोधकता। इसके विपरीत, पैगम्बरी धर्म निभ्रान्त रूप से पुरुषोचित प्रकृति का धर्म है। नैतिक कठोरता, निर्भय दृढसकल्पता, परिणाम के प्रति उपेक्षा तथा प्रबल क्रियाशीलता इसकी विशेषताए हैं।"

पैगम्बरी धर्म कठोर, युयुत्सु, दुराग्रही और असहिष्णु होता है, जबकि रहस्यात्मक धर्म पूर्ण, पारलौकिक तथा शान्तिपूर्ण होता है।

"इन दोनो प्रकार के धर्मों मे इतनी अधिक प्रतिकूलताए हैं कि हम उनमे किसी प्रकार एकरूपता स्थापित नही कर सकते। इनमे से एक यदि 'व्यक्ति-पूजक' धर्म है, तो दूसरा 'व्यक्ति-निषेधक', एक मे ईश्वर के अनुभव पर, जो इतिहास का समादर करता है, बल दिया गया है, तो दूसरे मे उसकी अवहेलना की गई है; एक मे दिव्य सन्देश (इलहाम) को स्थान है, तो दूसरे मे परमानन्द को; एक पैगम्बरवाद मे विश्वास करता है, तो दूसरा सन्यास या वैराग्य मे, एक ससार के रूपान्तरण का विश्वासी है, तो दूसरा उससे पलायन करने का; एक यदि पवित्र धर्मग्रन्थ (बाइबिल, कुरान आदि) के उपदेश पर ज़ोर देता है, तो दूसरा चिन्तन-मनन पर।"[1]

प्रो० हेलर यह तो स्वीकार करते हैं कि ईसाई और हिन्दू धर्म मे उपर्युक्त दोनो प्रकार की विशेषताए मिल जाती हैं, किन्तु उनका यह भी कथन है कि ईसाई-धर्म मे जो रहस्यात्मक प्रवृत्ति है, वह भारतीय स्रोतो से ग्रहण की गई है और जो पैगम्बरी प्रवृत्ति है, वह यहूदी इलहाम (दिव्य सन्देश) पर आधारित है। दूसरे शब्दो में, वह अप्रत्यक्ष रूप से श्वेट्ज़र महोदय की इस मान्यता का ही समर्थन करते हैं कि भारतीय धर्म, जो मुख्यत: रहस्यात्मक है, पारलौकिक और इह जीवन-निषेधक है, जबकि ईसाइयत का पाश्चात्य विकास स्वाग्रहशील और स्वेच्छाप्रेरित है। इन दोनो विचारको के अनुसार ईसाइयत मे 'जीने की अदम्य इच्छा, जीवन की भावना की अभिव्यक्ति, अधिकार और उत्कर्ष के लिए अनियन्त्रित आवेग' प्रतिष्ठापित मिलता है। पश्चिम का धार्मिक मनुष्य जीवन मे विश्वास करता है, वह जीवन का समर्थन करता है और उल्लास तथा दृढ सकल्प के साथ जीवन के कार्यों में दत्तचित्त होता है। जब रहस्यवादी ईश्वर के चिन्तन मे निमग्न रहता है, तब पश्चिम का मनुष्य अपनी व्यक्तिगत योग्यता के सवर्द्धन मे जुटा होता है, वह अपनी सारी शक्तिया हमारे हर्षों और विषादो, हमारी उलझनो और आपदाओ

१. प्रोफेसर हेलर की 'प्रेयर' (प्रार्थना) विषयक पुस्तक का अग्रेजी अनुवाद, (१९३२ ई०), पृष्ठ १४०, १४६, १६३, १७०–१।

तथा हमारी योजनाओं और विश्वासों की ओर लगा देता है। मुझे आशा है कि धर्म-शास्त्र के क्षेत्र के इन दो महारथियो के विचारो को मैंने गलत रूप से प्रस्तुत नही किया है, किन्तु इस निष्कर्ष पर पहुचे ,विना नही रहा जा सकता कि इन्होंने पैगम्वरी और ससार-समर्थक धर्मों के विषय मे जो धारणाए बनाई हैं, वे आत्मत्यागी एव आत्म-विस्मरणशील प्रतिमा वाले ईसाई-धर्म की अपेक्षा, जिसका प्रतीक 'क्रॉस' है, नवमूर्तिपूजक (काफिर) धर्मों से अधिक साम्य रखती हैं। प्रो० हेलर ने ईसाई रहस्यवाद का जो स्वरूप-निरूपण किया है, उससे कई लोग सहमत नहीं होंगे, किन्तु यह स्वीकार करेंगे कि हिन्दू रहस्यवाद के सम्बन्ध में उनके विचार कदाचित् सत्य हों, और इस प्रकार वे श्वेट्ज़र के दृष्टिकोण का समर्थन करेंगे।

इस प्रकार की समालोचना और तुलना इतने अधिक लोगो द्वारा इतनी अधिक वार की जाती है कि इसको किसी जाच-परख के विना, अविवादास्पद सत्य की तरह स्वीकार कर लिए जाने का सकट कम नही है। वड़े-वडे ऐतिहासिक आन्दोलनो मे अतिरजित सादृश्य के दर्शन की चेष्टा व्यर्थ है। प्रकृति हमारे विधि-विधानो के अनुरूप कार्य नहीं करती। यदि हम इतिहास को साफ-सुथरे साचों मे 'फिट' करने की चेष्टा करें, तो अनिवार्य तथ्यो की उपेक्षा करने और उनको तोड-मरोडकर कुरूप करने का लोभ सवरण हम कठिनता से ही कर पाएगे। श्वेट्ज़र के मतानुसार ससार और जीवन का समर्थन करनेवाली तथा ससार और जीवन का निषेध करनेवाली विचारधाराए या तो एक-दूसरे की विलोम हैं या एक-दूसरे मे न समा सकनेवाली विकल्प हैं। किन्तु, वास्तविकता यह है कि ये दोनो शब्दविलास-मात्र हैं जिनपर कम या अधिक वल दिया जाता है। तथ्यो के साक्ष्य के कारण उन्हे मानने को विवश होना पडा है कि हिन्दू विचारणा के भी ऐसे पहलू हैं जो संसार-समर्थक कहे जा सकते हैं और ईसाई विचारणा मे भी ऐसे पहलू हैं जिन्हे ससार-निषेधक कहा जा सकता है। परन्तु, जिस परिकल्पना से उन्होने प्रारम्भ किया है, उसके कारण उन्हें इन दोनो विचारणाओ को परस्पर असगत मानना पडा है।

हिन्दू विचारणा मे चार आश्रमो की व्यवस्था, जिसका दूसरा आश्रम गार्हस्थ्य है, तथा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो की मान्यता कुछ ऐसी प्रमुख वातें हैं जिनका तात्पर्य यही निकलता है कि हमे यथार्थ जगत् के लिए काम करना चाहिए। प्राचीन हिन्दू विचारणा मे, जिसका रूप हमे ऋग्वेद और उपनिषदो मे मिलता है, गृहस्थाश्रम, कर्म और पुनर्जन्म-सम्बन्धी इन विशिष्ट विचारो का समावेश है। यही कारण है कि श्वेट्ज़र महोदय केवल यही कह सके कि "ब्राह्मणवाद मे ही असगत होने का साहस है।"[1] इसके अतिरिक्त, वौद्ध आचारनीति को तो जिसमें दु खी के प्रति करुणा और प्रत्येक सवेदनशील जीवन के लिए सहानुभूति का प्रतिपादन किया गया है, ससार-निषेध की विचारधारा के विरुद्ध कहा ही जा सकता है। वुद्ध की चिन्तना भी उतनी ही स्पष्ट और वस्तुपरक थी जितनी उनकी अनुभूति सवेदनापूर्ण और कोमल थी। वे जगल मे घटों अकेले वैठे रहते थे और जैसाकि उन्होंने कहा है :

१. प्रो० हेलर की 'प्रेयर' (प्रार्थना) पुस्तक का अग्रेजी अनुवाद, (१९३२), पृष्ठ ३८।

तथा उल्लास के साथ जीवन की गोद मे डाल देती है। एक ओर तो हमे जीवन का दुराग्रहपूर्ण निषेध मिलता है, और दूसरी ओर जीवन के प्रति अजेय विश्वास।"

"रहस्यवाद स्त्रियोचित प्रकृति का धर्म है। इसकी विशेषताएं हैं—उत्साहप्रद आत्मसमर्पण, अनुभूति की सूक्ष्म सवेदन शक्ति, कोमल सम्बन्ध-बोधकता। इसके विपरीत, पैगम्बरी धर्म निभ्रान्त रूप से पुरुषोचित प्रकृति का धर्म है। नैतिक कठोरता, निर्भय दृढसकल्पता, परिणाम के प्रति उपेक्षा तथा प्रबल क्रियाशीलता इसकी विशेषताए हैं।"

पैगम्बरी धर्म कठोर, युयुत्सु, दुराग्रही और असहिष्णु होता है, जबकि रहस्यात्मक धर्म है पूर्ण, पारलौकिक तथा शान्तिपूर्ण होता है।

"इन दोनो प्रकार के धर्मों मे इतनी अधिक प्रतिकूलताएं हैं कि हम उनमे किसी प्रकार एकरूपता स्थापित नही कर सकते। इनमे से एक यदि 'व्यक्ति-पूजक' धर्म है, तो दूसरा 'व्यक्ति-निषेधक', एक मे ईश्वर के अनुभव पर, जो इतिहास का समादर करता है, वल दिया गया है, तो दूसरे मे उसकी अवहेलना की गई है; एक मे दिव्य सन्देश (इलहाम) को स्थान है, तो दूसरे मे परमानन्द को; एक पैगम्बरवाद मे विश्वास करता है, तो दूसरा सन्यास या वैराग्य मे; एक ससार के रूपान्तरण का विश्वासी है, तो दूसरा उससे पलायन करने का, एक यदि पवित्र धर्मग्रन्थ (वाइविल, कुरान आदि) के उपदेश पर ज़ोर देता है, तो दूसरा चिन्तन-मनन पर।"[1]

प्रो० हेलर यह तो स्वीकार करते हैं कि ईसाई और हिन्दू धर्म मे उपर्युक्त दोनो प्रकार की विशेषताए मिल जाती हैं, किन्तु उनका यह भी कथन है कि ईसाई-धर्म मे जो रहस्यात्मक प्रवृत्ति है, वह भारतीय स्रोतो से ग्रहण की गई है और जो पैगम्बरी प्रवृत्ति है, वह यहूदी इलहाम (दिव्य सन्देश) पर आधारित है। दूसरे शब्दो में, वह अप्रत्यक्ष रूप से श्वेट्ज़र महोदय की इस मान्यता का ही समर्थन करते हैं कि भारतीय धर्म, जो मुख्यत: रहस्यात्मक है, पारलौकिक और इह जीवन-निषेधक है, जबकि ईसाइयत का पाश्चात्य विकास स्वाग्रहशील और स्वेच्छाप्रेरित है। इन दोनो विचारको के अनुसार ईसाइयत मे 'जीने की अदम्य इच्छा, जीवन की भावना की अभिव्यक्ति, अधिकार और उत्कर्ष के लिए अनियन्त्रित आवेग' प्रतिष्ठापित मिलता है। पश्चिम का धार्मिक मनुष्य जीवन में विश्वास करता है, वह जीवन का समर्थन करता है और उल्लास तथा दृढ सकल्प के साथ जीवन के कार्यों मे दत्तचित्त होता है। जब रहस्यवादी ईश्वर के चिन्तन मे निमग्न रहता है, तब पश्चिम का मनुष्य अपनी व्यक्तिगत योग्यता के सवर्द्धन मे जुटा होता है, वह अपनी सारी शक्तिया हमारे हर्षों और विषादो, हमारी उलझनो और आपदाओ

१. प्रोफेसर हेलर की 'प्रेयर' (प्रार्थना) विषयक पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद, (१९३२ ई०), पृष्ठ १४२, १४६, १६३, १७०–१।

तथा हमारी योजनाओ और विश्वासों की ओर लगा देता है। मुझे आशा है कि धर्म-शास्त्र के क्षेत्र के इन दो महारथियो के विचारों को मैंने गलत रूप से प्रस्तुत नही किया है, किन्तु इस निष्कर्ष पर पहुचे बिना नहीं रहा जा सकता कि इन्होंने पैगम्बरी और संसार-समर्थक धर्मों के विषय मे जो धारणाए बनाई हैं, वे आत्मत्यागी एव आत्म-विस्मरणशील प्रतिभा वाले ईसाई-धर्म की अपेक्षा, जिसका प्रतीक 'क्रॉस' है, नवमूर्तिपूजक (काफिर) धर्मों से अधिक साम्य रखती हैं। प्रो० हेलर ने ईसाई रहस्यवाद का जो स्वरूप-निरूपण किया है, उससे कई लोग सहमत नही होगे, किन्तु यह स्वीकार करेंगे कि हिन्दू रहस्यवाद के सम्बन्ध मे उनके विचार कदाचित् सत्य हों, और इस प्रकार वे श्वेट्ज़र के दृष्टिकोण का समर्थन करेंगे।

इस प्रकार की समालोचना और तुलना इतने अधिक लोगो द्वारा इतनी अधिक वार की जाती है कि इसको किसी जाच-परख के विना, अविवादास्पद सत्य की तरह स्वीकार कर लिए जाने का सकट कम नही है। बड़े-बडे ऐतिहासिक आन्दोलनो मे अतिरजित सादृश्य के दर्शन की चेष्टा व्यर्थ है। प्रकृति हमारे विधि-विधानों के अनुरूप कार्य नही करती। यदि हम इतिहास को साफ-सुथरे साचों मे 'फिट' करने की चेष्टा करें, तो अनिवार्य तथ्यो की उपेक्षा करने और उनको तोड़-मरोडकर कुरूप करने का लोभ सवरण हम कठिनता से ही कर पाएंगे। श्वेट्ज़र के मतानुसार ससार और जीवन का समर्थन करनेवाली तथा ससार और जीवन का निषेध करनेवाली विचारधाराए या तो एक-दूसरे की विलोम हैं या एक-दूसरे मे न समा सकनेवाली विकल्प हैं। किन्तु, वास्तविकता यह है कि ये दोनो शब्दविलास-मात्र हैं जिनपर कम या अधिक वल दिया जाता है। तथ्यो के साक्ष्य के कारण उन्हें मानने को विवश होना पड़ा है कि हिन्दू विचारणा के भी ऐसे पहलू हैं जो ससार-समर्थक कहे जा सकते हैं और ईसाई विचारणा मे भी ऐसे पहलू हैं जिन्हे संसार-निषेधक कहा जा सकता है। परन्तु, जिस परिकल्पना से उन्होने प्रारम्भ किया है, उसके कारण उन्हें इन दोनों विचारणाओ को परस्पर असंगत मानना पड़ा है।

हिन्दू विचारणा मे चार आश्रमो की व्यवस्था, जिसका दूसरा आश्रम गार्हस्थ्य है, तथा कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो की मान्यता कुछ ऐसी प्रमुख बातें हैं जिनका तात्पर्य यही निकलता है कि हमे यथार्थ जगत् के लिए काम करना चाहिए। प्राचीन हिन्दू विचारणा में, जिसका रूप हमें ऋग्वेद और उपनिषदो मे मिलता है, गृहस्थाश्रम, कर्म और पुनर्जन्म-सम्बन्धी इन विशिष्ट विचारो का समावेश है। यही कारण है कि श्वेट्ज़र महोदय केवल यही कह सके कि "ब्राह्मणवाद में ही असगत होने का साहस है।"[१] इसके अतिरिक्त, बौद्ध आचारनीति को तो जिसमे दु खी के प्रति करुणा और प्रत्येक सवेदनशील जीवन के लिए सहानुभूति का प्रतिपादन किया गया है, ससार-निषेध की विचारधारा के विरुद्ध कहा ही जा सकता है। बुद्ध की चिन्तना भी उतनी ही स्पष्ट और वस्तुपरक थी जितनी उनकी अनुभूति सवेदनापूर्ण और कोमल थी। वे जगल मे घटों अकेले बैठे रहते थे और जैसाकि उन्होने कहा है :

१. प्रो० हेलर की 'प्रेयर' (प्रार्थना) पुस्तक का अग्रेज़ी अनुवाद, (१९३२), पृष्ठ ३८।

"मेरे मन मे जो दया या परोपकारिता है, उसकी शक्ति का विस्तार मैं विश्व के प्रथम चतुर्थांश मे करता हूं; उसी प्रकार विश्व के द्वितीय चतुर्थांश, तृतीय चतुर्थांश और अन्तिम चतुर्थांश मे तथा आकाश और पाताल मे, पृथ्वी के आरपार तथा सब ओर सब दिशाओ मे मैं अपनी करुणा की स्निग्ध किरणें प्रकीर्ण करता हू। मैं अपनी आत्मा मे आपूरित दया की शक्ति को, अपनी उस विस्तृत, विशाल और अतुल सवेदना को, जो घृणा करना नही जानती, जो किसीका अनिष्ट नही करती, इस समग्र ब्रह्माण्ड में विकीरित करता हू।"

बुद्ध इस बात का आग्रह करते हैं कि हर प्रकार और हर दशा के मनुष्यो के लिए, यहा तक कि पशुओं और अन्य सब सजीव प्राणियो के लिए हमें सद्भावना का सक्रिय और क्रमबद्ध अभ्यास करना चाहिए।[1] करुणा का यह जो गरिमामय रूप प्रस्तुत हुआ है जिसमे मनुष्यो के लिए ही नही, वरन् समस्त जीवधारियों तक के लिए स्थान है, उसकी ओर श्वेट्ज़र का ध्यान नही गया। वे तो कहते हैं : "जीव-हिंसा न करने और किसीको हानि न पहुचाने की शास्त्राज्ञा···करुणा की भावना से नहीं उद्भूत होती है, वरन् ससार से अपने को विरक्त रखने की भावना से। मूलत. इस भावना का सम्बन्ध अधिक पूर्ण बनने की नीति से है, कर्मशील होने की नीति से नहीं।" समझ में नही आता कि हम पूर्णत्व और कर्म को परस्पर विरोधी क्यो मानें? रामायण और महाभारत महाकाव्यो मे जीवन के आनन्द और मानव की गरिमा, व्यक्तिगत पूर्व-प्रतिष्ठा के लिए आतुरता तथा साहसिकता के प्रति प्रेम पर बल दिया गया है। भगवद्गीता ईश्वरप्रप्ति के लिए कर्म के साधन को महत्त्व देती है, किन्तु श्वेट्ज़र हमे याद दिलाते हैं कि इस प्रकार के कर्म को निष्काम होना चाहिए। यह अनिवार्यतः निष्क्रियता का ही एक रूप है। फिर भी, हमे नही बताया गया कि कर्म वस्तुतः कर्म कब होता है। यदि रामानुज और उनके बाद होनेवाले बहुत-से आस्तिकवादी ससार की यथार्थता और कर्म की उपयोगिता का अनुमोदन करते हैं, तो उनको मुख्य परम्परा से अलग हटा हुआ माना जाना चाहिए। यदि गाधी और टैगोर आज जीवन के प्रति नैतिक दृष्टिकोण अपनाते हैं, तो निश्चय ही उसका स्रोत ईसाई पाश्चात्य जगत् से उनके संपर्क मे खोजना होगा। भारतीय विचारणा का सम्पूर्ण विकास 'ससार और जीवन-निषेध' से क्रमश. हटते जाकर 'संसार और जीवन-अनुमोदन' का अधिक तर्क-संगत दृष्टिकोण अपनाने के रूप मे वर्णित हुआ है।

यह तर्क देना सरल नहीं है कि ईसाई विचारणा संसार की यथार्थता, जीवन के मूल्य और सामाजिक सेवा की आवश्यकता पर बल देती है। ईसाई-धर्म के एक ऐतिहासिक आलोचक के रूप मे डॉ० श्वेट्ज़र ने वही दृष्टिकोण अपनाया जो जॉनीज़ वीस, ल्वायसी और बैरन वान ह्यूगेल ने अपनाया था। इन लोगो का दृष्टिकोण यह

१. अशोक के द्वितीय शिलालेख में लिखा है : "पुण्यभाग, महामहिम सम्राट ने दो प्रकार की चिकित्सा-व्यवस्थाएं कर रखी हैं : मनुष्यों के लिए चिकित्सा की व्यवस्था और प्रत्येक स्थान पर पशुओं के लिए चिकित्सा की व्यवस्था।"

था कि ईसा मसीह ने अपने शीघ्र ही अधिकारारूढ होने की भविष्यवाणी की थी, किन्तु उस निर्धारित समय मे उनके अधिकारारूढ होने की घटना नही घटी। ईसा ने प्रलय के सम्बन्ध मे भी कहा था कि ससार का अन्त अब होने ही वाला है, किन्तु उनकी इस मान्यता मे भी ससार और जीवन के प्रति उनके निषेधात्मक दृष्टिकोण का ही परिचय मिलता है, कारण कि वे यह मानकर नहीं चले कि 'ईश्वर का राज्य' इसी प्राकृतिक संसार में प्रत्यक्ष हो जाएगा, इसके विपरीत, उनको आशा थी कि कोई अतिप्राकृत शक्ति ईश्वरीय राज्य का उद्घाटन अकस्मात् ही करके हमे चौका देगी।[1] इस आगामी ईश्वरीय राज्य मे राज्य तथा अन्य भौतिक सस्थाए तथा दशाए या तो अस्तित्व मे ही नहीं रहेगी, या रहेगी तो अपने उदासीकृत रूप मे। केवल एक ही नैतिक नियम जिसका उपदेश ईसा मसीह कर सकते हैं, वह नकारात्मक है, वह उपदेश है मनुष्य को इस योग्य बनाना कि वह अपने को ससार से मुक्त करके ईश्वर के राज्य के उपयुक्त बना सके। यह अनुतापजनित अनुशासन तो हो सकता है, पर मानवतावादी आचारनीति नही। पार्थिव वस्तुए किसी अनिवार्य मूल्य से शून्य होती हैं। हमारे उच्चतम आदर्शो और भव्यतम मनोवेगो को तितर-बितर हो ही जाना है, क्योकि नया ससार वर्तमान ससार से तो नितान्त भिन्न होगा। चूकि नये ससार का उद्घाटन तब होगा जब ईश्वर एकान्तभाव से अपनी प्रलय-क्रिया कर चुकेगा, अत हमारा दृष्टिकोण इस ससार के साथ समझौते का न होकर शत्रुता का होना चाहिए। ईसा यह नही विचारते थे कि ईश्वरीय राज्य मानव-प्रकृति और समाज मे भ्रूण रूप से विद्यमान है और उसको क्रमिक तथा निश्चित प्रगति से प्रत्यक्ष एव पूर्ण किया जा सकता है। ईश्वर के चाहे बिना कोई भला कार्य नही हो सकता। कई धर्मग्रन्थो से ऐसे उद्धरण दिए जा सकते हैं जो पार्थिव सुखो तथा आदर्शों, नैसर्गिक सौन्दर्य, गार्हस्थ्य सुख और नागरिक व्यवस्था की वैधता का समर्थन करते हैं, किन्तु श्वेट्जर को इस बात का निश्चय है कि 'उसके द्वारा ससार का स्वीकरण केवल उस पूर्णता की अतिम अभिव्यक्ति है जिसके साथ वह ससार को अस्वीकार करता है।' 'विशुद्ध और अनन्य रूप से ईसा की शिक्षाए ससार से सन्यास लेने से सम्बन्धित हैं।[2] स्वर्गीय बिशप गोर के मत से 'सरमन ऑन द माउण्ट' ('पर्वत पर किया गया प्रवचन')

१. जब एक धनी युवक ईसा के पास आकर बोला : "मैं क्या करूं कि मुझे शाश्वत जीवन की उपलब्धि हो सके?" तब ईसा ने उससे पहले तो यह पूछा कि क्या उसे दस धर्मादेशों ('टेन कमाण्डमेंट्स') की जानकारी है? जब उसने कहा : "इन सब चीजों का पालन तो मैं अपनी युवावस्था से ही कर रहा हू।" तब ईसा ने कहा : "जाओ, तुम्हारे पास जो कुछ सम्पत्ति है, उसे बेच डालो या गरीबों को दे डालो। फिर, तुम्हें स्वर्ग में खजाना मिलेगा।" (मार्क X, पृष्ठ १७–२२)। "इसी प्रकार तुममें से कोई भी क्यों न हो, जिसने अपने सर्वस्व का त्याग नहीं कर दिया है, वह मेरा शिष्य नहीं बन सकता।" (ल्यूक xiv, पृष्ठ ३३)। "ससार को प्रेम मत करो, न ससार की वस्तुओं से करो। यदि कोई मनुष्य ससार को प्यार करता है, तो परम पिता का प्रेम उसे नहीं प्राप्त होगा।" (I जॉन ii, पृष्ठ १५)। इन वक्तव्यों का अर्थ सब प्रकार के सामाजिक मूल्यों का आत्यन्तिक निषेध भी लगाया जा सकता है।

२. 'द क्वेस्ट ऑव द हिस्टॉरिकल जीसस', अंग्रेजी अनुवाद, (१९१० ई०), पृष्ठ २४८–२४९।

"घोरतम सासारिकता की घोषणा है। निर्धन लोग या वे लोग जो धन की कोई परवाह नही करते, जो लोग अन्याय को चुपचाप दीनभाव से सह लेते है और जो पद या शक्ति या उपाधि की कोई इच्छा नही रखते, जो अपने दु ख-भार को तत्परता से झेलने को प्रस्तुत रहते हैं, ऐसे ही लोग ईश्वरीय राज्य के वरदानों का आनन्द ले सकेंगे। इन नकारात्मक विशेषताओ पर—जो 'ससार' और उसकी सभी सामान्य इच्छाओ के परित्याग की अभिव्यक्ति करती हैं—निरन्तर बल दिया जाता है।"[1]

प्रलय-सम्बन्धी इस उपदेश से कि ससार का अन्त सन्निकट है, 'अन्तरिम आचार-नियम' तक का मेल स्वाभाविक रूप से नही बैठता। इस बात से इकार नही किया जा सकता कि ईसा ने प्रलय के सन्निकट होने की जो अनुभूति की थी, वह सच्ची और तीव्र थी। मत्ती और मर्कुस द्वारा लिखित ईसा मसीह के जीवनचरित से पता चलता है कि ईसा जब जीवित थे तभी उनके शिष्य इस आशा से भविष्य की ओर टकटकी लगाए देखने लगे थे कि उनके प्रभु (ईसा मसीह) का ससार मे पुनरागमन होगा। एशिया माइनर के प्रदेशो मे दूर-दूर तक बिखरे नवदीक्षित ईसाइयो के लिए लिखते हुए सेंट पीटर ने इस बात को स्पष्ट शब्दो मे कह दिया . "सभी चीजो का अन्त अब आ गया है।" ईसा के पुनरागमन मे जब विलम्ब होने लगा और लोगो मे यह सन्देह घर करने लगा कि मसीही राज्य की अवतारणा भी अनिश्चित-सी है, तब हिब्रू (यहूदी) लोगो के लिए लिखित धर्मपत्र के लेखक ने ईसाई-मत मे विश्वास करनेवालो को प्रेरित किया कि वे आशा न छोड़ें, अपितु अन्त तक अपने विश्वास पर डटे रहे।[2] जब शकाशील लोगो ने ज़ोर देकर कहना आरम्भ किया कि ईसा का ससार मे पुनरागमन कभी होने का नही, तब सेंट पीटर द्वारा लिखित द्वितीय धर्मपत्र मे कहा गया कि ईश्वर की कालगणना मनुष्यो की कालगणना से भिन्न होती है। हमारे हज़ार वर्ष ईश्वर की दृष्टि मे एक दिन के बराबर हैं। यदि ईसा मसीह इतने पर भी नही लौटते और अधिक विलम्ब करते हैं, तो यह मानना चाहिए कि वे लोगो को पश्चात्ताप करने के लिए अधिक समय देना चाहते हैं।[3] जॉन का दिव्य सन्देश (इलहाम) इन शब्दो के साथ समाप्त होता है . "निश्चय ही मैं शीघ्रता से आ रहा हू। शान्ति ! प्रभु ईसू तुम पधारो।"[4] एफिशियाई लोगो के लिए लिखे गए अपने धर्मपत्र (लगभग ११० ई०) मे इगनेशियस कहते है . "अन्तिम काल आ गया है।" जस्टिन भी ट्राइफो से कहते हैं . "हम लोगो से अपना सम्बन्ध जोडने के लिए अब तुम्हारे पास थोडा-सा ही समय है, ईसा मसीह के पुन. लौटने पर तुम्हारा सारा अनुताप और रोना-धोना किसी काम का न रहेगा, क्योकि फिर वह तुम्हारी ओर ध्यान नही देंगे।"[5] 'जो लोग इस समय जीवित हैं, उन्हीके जीवनकाल मे' ईसा के द्विरागमन का यह विचार लोगो के मन को उद्विग्न करता रहा

१ 'न्यू कमेण्टरी ऑन होली स्क्रिप्चर', *iii*, पृष्ठ २८७-८।

२. वही, *vi*, पृष्ठ ११-१२; *x*, पृष्ठ २३, ३५; *xii*, पृष्ठ १२-१४।

३. वही, *iii*, पृष्ठ ४-६।

४. 'रेविलेशन', *xxii*, पृष्ठ २०।

५. डायल *xxviii*, पृष्ठ २।

और सामान्य जीवन पर इसका अनर्थकारी प्रभाव पडा। ईसाई अपनी सम्पत्ति दान करने लगे, क्योकि उन्होने सोचा कि जब 'प्रभु ईसू का राज्य आएगा', तब उसमे इसका कोई उपयोग उनके लिए नही रहेगा। उनको विवाह करने या कराने के लिए प्रोत्साहित नही किया जाता था, क्योकि जब सारी चीजो का अन्त सन्निकट है, तब घर-गृहस्थी बसाने और सन्तति उत्पन्न करने से ही क्या लाभ ? ईसा के द्विरागमन की आशा जैसे-जैसे धूमिल पडने लगी, वैसे-वैसे एक दूसरी आशा ने, जो यद्यपि दूरस्थ थी तो भी पहली आशा से कम निश्चित न थी, ईसाइयो के मन मे उसका स्थान ले लिया। यह आशा थी मरणोपरान्त ईसा से भेंट होने की। तीसरी शताब्दी के बीतते-बीतते अधिकाश ईसाई-धर्मावलम्बी भावी जीवन की इस आशा को मन मे पालते हुए जी रहे थे। ईसा के देहावसान के चार सौ वर्ष बाद ऑगस्टीन ने रोम पर आधिपत्य और उसके विध्वस की घटना देखी, तब उन्होंने अपनी पुस्तक 'सिटी ऑव गॉड' लिखी, जिसमे उन्होने अपने को और रोम-साम्राज्य की जनता को इस विचार से सान्त्वना प्रदान की कि हमारे भौतिक नगरो का ध्वस कोई महत्त्वपूर्ण घटना नही है, क्योकि ईश्वर का एक आध्यात्मिक नगर यहा भी और आनेवाले ससार मे भी गर्व से सिर उठाए रहेगा, वह नगर कभी विध्वस्त नही होगा, सदा-सदा के लिए अमर रहेगा।[1] ऑगस्टीन की दृष्टि मे इस ससार का निर्माता 'कैन' (हत्यारा) और उसका सरदार 'डेविल' (शैतान) है।[2] सदियो तक ईसाई-धर्म-सिद्धान्त और अनुशासन का मूलमन्त्र रहा है ऐहिक जीवन के परे के जीवन की तैयारी और मरणोपरान्त मिलनेवाले स्वर्ग या नरक की प्रतीक्षा। सेंट बासिल कहते हैं . "हम अपने इस मानव-जीवन का कोई महत्त्व नही समझते , न हमारे इस जागतिक जीवन मे जो वस्तुए लाभकर हैं, उनको हम पूर्णत अच्छा ही समझते या कहते हैं। .... 'अपितु, हम आशा की डोर मे बधे हुए आगे की ओर बढते जाते हैं और प्रत्येक कार्य अपने दूसरे जीवन को दृष्टि मे रखकर करते हैं।'"[3] इस विषय मे ईसाई प्रवृत्ति का नमूना हमे बनियन कृत 'द पिलग्रिम्स प्रॉग्रेस' मे मिलता है। ईसाई-धर्म के इस पाठ्य-ग्रंथ मे कहानी के नायक को, जिसे सोद्देश्य 'क्रिश्चियन' नाम दिया गया है, यह पता चलता है कि जिस नगर मे वह रह रहा है, उसका विनाश सन्निकट और सुनिश्चित है। भयासन्न होकर जब वह किंकर्तव्यविमूढ बना होता है, तभी एक व्यक्ति से, जिसका नाम 'इवैन्जेलिस्ट' है, उसकी भेंट होती है। वह उसे भाग जाने का परामर्श देता है। क्रिश्चियन तुरन्त भाग खडा होता है। उसके इस तरह अचानक भाग खडे होने पर भयभीत होकर उसकी पत्नी और बच्चे 'उससे लौट आने का आग्रह करते हुए कुछ दूर तक

१ श्री एडविन बेवान बतलाते हैं कि ईसाई-धर्म के कुछ मतवाद ससार-निषेधक थे। उनके शब्दों में : "पार्थिव वस्तुओं की नश्वरशील परिवर्तनशीलता को जानकर शाश्वत और अपरिवर्तनशील का चिन्तन करना उचित है।—पूर्वीय ईसाई-धर्म में जो बात धर्म का आधार या उच्चतम लक्ष्य मानी जाती थी, वह थी वैराग्य और शान्ति—यद्यपि इसके विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि विशेष रूप से ईसाई-धर्म में ही यह बात पाई जाती है, वरन् नवप्लेटोवाद-सहित पूर्वीय ईसाई-धर्म और हिन्दूधर्म में भी यह बात समान रूप से मिलती है।" ('क्रिश्चियैनिटी' : १९३२ ई० ; पृष्ठ १४१)।

२. 'द सिटी ऑव गॉड', xv, पृष्ठ १ (२)।

३. 'ए मान्युमेंट टू सेंट ऑगस्टीन' (१९३० ई०), पृष्ठ १३३।

उसके पीछे-पीछे चीखते-चिल्लाते जाते हैं', किन्तु क्रिश्चियन 'अपनी अगुलियो से कानो को वन्द कर लेता है' और 'जीवन ! जीवन ! चिरन्तन जीवन !' की पुकार मचाते हुए अधिक तेजी से भाग छूटता है। उसके मित्रो और पडोसियो ने भी उसको रोकने की चेष्टा की, परन्तु क्रिश्चियन तो इतना भी नही रुका कि कुछ क्षण ठहरकर वह उनसे यह तो कह देता कि इस नगर का विनाश होने ही वाला है और तुम लोग भी मेरी तरह इसमे से निकल भागो। वह केवल अपने विषय मे, अपने ही मोक्ष के विषय मे सोच रहा था। जहां तक नगर का प्रश्न था, वह उसकी पत्नी, बच्चो, समस्त मित्रो और पडोसियो सहित इस दुनिया के परदे पर से मिट सकता था, परन्तु क्रिश्चियन को इसकी कोई चिन्ता न थी, उसके लिए तो इतना ही काफी था कि वह बच गया।

अनेक धार्मिक व्यक्तियो ने अपनी इन्द्रियो पर नियन्त्रण करने के लिए भोग-सयम, कशाघात, तथा व्रत-उपवास का अभ्यास करना आरम्भ किया। बहुधा उनकी इस तपश्चर्या का लक्ष्य उनका अपना ही हित होता था।[1] कष्टसहन की महिमा बढ़ जाने से प्रारम्भिक ईसाई-धर्म-सस्था (चर्च) मे शहादत को उत्कर्ष मिल गया। सेंट जेरोमी ने पादरी हेलिओडोरस को लिखा कि तुम ससार से सब नाता तोड़ लो और अपनी माता के घर को छोड़ दो। इसके साथ ही उन्होने यह भी लिखा : "यदि तुम्हारा छोटा भतीजा तुम्हारे कन्धे से झूल जाए, तो उसकी ओर भी कुछ ध्यान मत देना। यदि जीर्ण-शीर्ण वस्त्रो वाली तुम्हारी धवलकेशा माता भी तुम्हारे सामने आ जाए और अपने उन स्तनों को उघाड़कर दिखाने लगे जिनको पीकर तुम बडे हुए थे, तो उसकी ओर भी तुम ध्यान न देना। यदि तुम्हारे पिता मकान की देहलीज़ पर साष्टांग आ गिरें, तो उनको भी पैरो से रौंदकर तुम अपनी राह पर आगे बढ जाना।" जिस कृच्छ्र साधना से हम पूर्वीय लोग परिचित हैं, उससे पश्चिमी लोग अपरिचित नही हैं। वहा भी कुछ लोगो ने जल से भरी खाइयों और सोतो मे रात-रात-भर खड़े रहकर शरीर की इन्द्रियो को वश मे करने का प्रयास किया, दूसरे कुछ लोगो ने गुफाओ और कुण्डो मे अपना निवास-स्थान बनाया। कुछ ने ग्रीष्मऋतु की चिलचिलाती धूप में और जाड़े की रात की कडाके की सर्दी में नगे शरीर रहकर शरीर पर विजय पाने की चेष्टा की। कुछ लोगो ने एक पैर पर खडा होने की, मोटी-वज़नी सांकलें पहनने की और भारी बोझ उठाने की साधनाएं कीं। डोरोथियस का जीवनचरित वर्णन करते हुए सोज़ोमेन कहते हैं कि डोरोथियस दिनभर मे केवल छ औंस रोटी, कुछ सब्ज़ी और थोडा-सा पानी लेकर रहता था। 'उसे किसीने चटाई या बिस्तर पर लेटकर विश्राम करते नहीं देखा, और न वह किसी सरल आसन से ही बैठता या खड़ा होता था, अथवा न स्वेच्छा से नींद के आगे आत्मसमर्पण करता था।' जब कोई पूछता कि वह अपने शरीर को इस तरह विनष्ट क्यों कर रहा है, तब उसका उत्तर होता था : "क्योकि [illegible] विनाश कर रहा [illegible]

१. तुलना कीजिए : "अब से आगे केवल कष्टसहनपूर्वक [illegible] को धारण [illegible] पाऊगा। मेरी सारी प्रियतम कामनाएं दुःख-भोग ही चाहती हैं। [illegible] अपने [illegible] हृदय से ईश्वर को पुकार उठा हूं : 'हे प्रभु, मैं कष्टसहन या [illegible] एक [illegible] चाहता हूं।' "—सेंट थेरेसा।

है।"[1] सूसो और 'द सोसाइटी ऑव द सैक्रेड हार्ट' (पावनहृदय व्यक्तियो का समाज) के संस्थापक मारगेराइट मेरी के जीवनचरित मे आत्मसयम और कष्टसहन पर अत्यधिक वल दिया गया है। अठारहवी शती मे रूसो ने लिखा था .

> "ईसाइयत समग्रत एक आध्यात्मिक धर्म है जो पूर्णत- अलौकिक वस्तुओ से सम्वन्वित है : ईसाई का देश इस ससार से सम्वन्धित नही है। वह अपना कर्तव्य करता है, यह सच है; परन्तु वह अपने प्रयत्नो की सफलता या असफलता के प्रति पर्याप्त अनासक्त रहकर कर्तव्य करता है। यदि कोई ऐसी चीज न हो जिसके लिए वह स्वय अपनी भर्त्सना कर सके, तो वह इस वात की किंचित् चिन्ता नहीं करता कि इस ससार का क्या वनता और क्या विगडता है। यदि राज्य की उन्नति होती है, तो वह सार्वजनिक हर्षातिरेक मे शायद ही कभी भाग लेने का साहस करता है और यदि राज्य की अवनति होती है, तो वह विधाता के विधान को धन्यवाद देता है जिसके कारण उसकी जनता को दुर्दिन देखने पड़े।"[2]

कई सामाजिक आदर्शवादी जिनके हृदयो मे मानवता की सेवा के प्रति वास्तविक आस्था की ज्योति जल रही है, ईसाइयत से इसलिए विमुख होते जा रहे हैं, क्योकि उसकी परम्परा सयमशीलता की है। साम्यवादी डके की चोट यह कह रहे हैं कि वे अपने पडोसी को प्यार करने के धर्म का पालन उससे भी कहीं अधिक सम्यक्‌रूपेण कर रहे हैं जिससे ईसाइयत ने कभी किया था।[3] यह कहना सरल नही है कि ईसाई-धर्म का मुख्य सम्वन्ध ससार और जीवनानुमोदन से है, तथा ससार और जीवन-निषेध की प्रवृत्ति केवल आकस्मिक या उपान्तीय भूल-मात्र है।

जव श्वेट्ज़र के सामने ईसाई-धर्म की ससार-निषेधक प्रवृत्ति का ऐतिहासिक साक्ष्य उपस्थित होता है, तव वे पैंतरा वदलकर यह कहने लगते हैं कि ईसाई-धर्म ससार का निषेध नही करता, वरन् भविष्य के गर्भ मे छिपे हुए पूर्ण ससार की प्रत्याशा मे इस अपूर्ण ससार का निषेध करता है। इस दृष्टिकोण को प्रमाणित करना सरल नही है। सेंट जॉन ने कहा है · "समस्त संसार दुष्टता मे पडा हुआ है।" इजील के सृष्टि-उत्पत्ति (जेनेसिस) सम्वन्धी तृतीय अध्याय मे स्वर्ग से शैतान के पतन की घटना का जो उल्लेख हुआ है, उसको और इस सम्वन्ध मे प्लेटो के जो विचार हैं, उनको ईसाई-धर्मशास्त्र

१. 'एक्लिजियास्टिकल हिस्ट्री', जिल्द ६, अध्याय २६। वफन कृत 'सेंटस गियोन्स लाइफ', अध्याय १६, पृष्ठ १४० भी देखिए।

२. 'द सोशल कॉण्ट्रैक्ट', जिल्द ४, अध्याय ८।

३. डॉ० नीडहैम कम्युनिस्टों के धर्म के विषय में कहते हैं . "धर्म ने अव तक जो भी उच्चतम स्वरूप ग्रहण किया है, उनका (कम्युनिस्टों का) सिद्धान्त उसके समकक्ष है।' 'केवल उन्होंने ही देवदूत (अपॉसल) की इस चेतावनी पर ध्यान दिया है : 'जो मनुष्य से घृणा करता है, वह मनुष्य से नहीं, ईश्वर से घृणा करता है।' एक सत्यनिष्ठ समाज-व्यवस्था की पवित्र आत्मा के रूप में पुनर्जन्म ग्रहण करने के लिए धर्म के वर्तमान स्वरूप को मरना ही चाहिए।" ('फेथ्स एण्ड फेलोशिप'—'वर्ल्ड कांग्रेस ऑव फेथ्स' १९३७ ई० की कार्यवाहियों का सकलन। पृष्ठ १२५–१२६)।

शाब्दिक तथ्य के रूप मे ग्रहण करता है और ईश्वर और मनुष्य के बीच के अन्तर तथा मानव-प्रकृति की दुर्वृत्तता को अतिरजित करके दिखाता है। आदम द्वारा आज्ञा-उल्लघन के फलस्वरूप पापी मनुष्य के लिए यह असम्भव है कि वह अपने निज के प्रयास से नैतिक नियम का पालन कर सके और मोक्ष पा सके। सेंट पॉल के विचार मे "रक्त-मास का पुतला मनुष्य ईश्वर के राज्य का उत्तराधिकारी नही बन सकता।"[1] ईश्वर का अनुग्रह होने पर ही मनुष्य का उद्धार हो सकता है। ४०० ई० के आसपास पेलैमियस ने बलपूर्वक यह कहने का साहस किया था कि मनुष्य प्रकृति से भला होता है और वह ईश्वर के आदेशो का पालन करने मे स्वतन्त्र है। इसका आशय यह है कि मनुष्य के मोक्ष के लिए ईश्वर का अनुग्रह एक सहायक साधन-मात्र है, कोई आवश्यक शर्त नही। ऑगस्टीन ने प्लॉटिनस के प्रभाव से मुक्त होने के पश्चात्, पेलैगियस के विपरीत, यह कहा कि मनुष्य प्रकृति से ही दुष्ट और असहाय है, केवल ईश्वर की अनुकम्पा ही उसका उद्धार कर सकती है। ऑगस्टीन जीवन को केवल अपूर्ण ही नही समझते थे, वरन् नितान्त भ्रष्ट भी। मनुष्य को यदि मोक्ष मिल जाए, तो वह ईश्वर-कृपा का चमत्कार ही समझना चाहिए। जिस आस्था से कोई व्यक्ति पूर्वप्रदत्त अनुग्रह को स्वीकार करने की ओर प्रवृत्त होता है, वह भी उसको प्राप्त एक प्रकार का दैवी वरदान ही है। मनुष्य की आद्यन्त दुर्वृत्तता के कारण ही ईसा के माध्यम से मनुष्य को मोक्ष देने की ईश्वरीय योजना कार्यान्वित हो पाती है। 'चर्च' (ईसाई-धर्म-सस्था) ने निर्णय किया कि ऑगस्टीन सही थे और पेलैगियस गलत। मार्टिन लूथर इस दृष्टिकोण को स्वीकार करते हैं और काल्विन तथा नॉक्स भी। 'रोमन कैथॉलिक चर्च' मे जैनसनवादी आन्दोलन और सत्रहवी शताब्दी के निवृत्तिवाद की रहस्यात्मक तीव्रता—ये दोनो एक ही प्रकार की विचारणा की अभिव्यक्तियां हैं। मनुष्य अपने निमित्त कुछ भी नहीं कर सकता, वह ईश्वर का अन्वेषण नही कर सकता, अपना मोक्ष स्वय नही प्राप्त कर सकता, या आध्यात्मिक मूल्यो का साधन नही बन सकता—इन कार्यों के लिए मनुष्य की नितान्त असमर्थता पर कार्ल बार्थ और उनके अनुयायियो के 'आपत्कालीन धर्मशास्त्र' ('क्राइसिस थियोलॉजी') मे नये सिरे से बल दिया गया है। उनके मत से, मानव-जीवन और विचार मे ईश्वर की प्रकृति का कभी भी साक्षात्कार नही हो सकता। पूरी बात दूसरे प्रकार से भी कही जा सकती है। एक परम्परावादी ईसाई की दृष्टि मे, ईश्वरीय राज्य की अवतारणा अनर्थकारी है, वह विकास की सतत विस्तारित प्रक्रिया का शान्तिपूर्ण परिणाम नही है, वह इतिहास मे ईश्वर का सीधा हस्तक्षेप है, इतिहास की प्रकृत उपज वह नही है। उसे इस भौतिक जीवन से निराशा होती है और उसे इलहाम होता रहता है कि एक न एक दिन ईश्वरीय हस्तक्षेप अवश्य होगा। ईसाइयत में खमीर और सरसो के दाने से सम्बन्धित नीतिकथाओ पर तथा इस प्रकार के कथनो पर भी कि 'ईश्वर का राज्य तो तुम्हारे भीतर ही है' जोर दिया जाता है।

यथार्थता के जटिल रूपो के अत्यन्त सरलीकरण की चेष्टाएं भ्रामक हैं। लोगो को ऐसी दो श्रेणियो मे विभाजित करना, जिनमे से एक संसार को बिलकुल स्वीकार न

१. देखिए, 'रोमन्स', अध्याय ६, पृष्ठ १५–२१।

करती हो और दूसरी उसके अतिरिक्त और किसी चीज़ को स्वीकार करने के लिए तैयार न हो, उचित नही कहा जा सकता। श्वेट्ज़र ने ससारानुमोदन और ससार-निषेधन के दो विचार-वर्ग निर्धारित करके उनको एक-दूसरे से सर्वथा विपरीत दिखाने की चेष्टा की है, परन्तु ऐसा करते हुए उनको कई अपवाद भी स्वीकार करने पडे हैं, और यह वात सूचित करती है कि उनकी यह योजना पर्याप्त तथ्यो पर आधारित नहीं है। सर जॉर्ज वर्डवुड ने इससे वहुत भिन्न विचार इन शब्दो मे प्रकट किया है .

> "दुर्भाग्य से, रोम के सैनिक अनुशासन मे दीक्षित कुछ प्रारम्भिक ईसाइयो ने अधीरतावश यूरोपीय ईसाई-धर्म को उसके आदिकाल मे ही गैर-ईसाइयो (काफिरों) की सामान्य दार्शनिक, साहित्यिक, कलात्मक और वैज्ञानिक सस्कृति के विरोध मे ला खडा किया। यह एक दुर्घटना ही थी। उसके वाद से तो यूरोपीय ईसाइयत पाश्चात्य जगत् के आधुनिक धर्मनिरपेक्ष जीवन से भी न्यूनाधिक रूप मे स्पष्ट विद्वेषभाव रखती आई है। सौभाग्यवश, भारतवर्ष मे " ब्राह्मणीय धार्मिक जीवन ने सामान्य जन के दैनिक व्यावहारिक जीवन से अपने को कभी अलग नही किया, अपितु वह उसका अविभाज्य अग रहा और ठोस रूप से उससे सम्वद्ध रहा।"

वे अपनी प्रमुख कृति 'स्व' को इन आशाजनक शव्दो से समाप्त करते हैं :

> "सम्भव है कि अव भी यह भारत के ही भाग्य मे लिखा हो कि वह ईसाइयत और ससार का समझौता कराने का मार्ग तैयार करे और पार्थिव जीवन के साथ आध्यात्मिक जीवन का व्यावहारिक ताल-मेल वैठाकर मानवता के नैतिक विकास मे उस अवधि को निकट लाने की चेष्टा करे, जव मनुष्यो मे—वे चाहे जिस नाम से पुकारे जाए—जाति, सम्प्रदाय, वर्ग या राष्ट्रीयता का कोई विभेद नही रहेगा, वे सव उसी यथार्थता और उत्तरदायित्व के साथ अपने को सामान्य वन्धुत्व का भागीदार मानेंगे जिससे उन्होने दो हज़ार वर्ष पहले ईश्वर के पितृत्व को स्वीकार किया था, और उससे भी दो हज़ार वर्ष पूर्व, अपवाद रूप से प्रतिभाशाली सेमेटिक कवीले ने जिससे वाह्य एशिया के ठीक केन्द्र-स्थान मे सव काल के सव मनुष्यो के लिए एकता के प्रेरणाशील और उत्कर्षशील सिद्धान्त की रचना की थी।"[1]

दूसरे शव्दो मे, सर जॉर्ज वर्डवुड का यह विश्वास है कि हिब्रू लोगो ने यदि संसार को ईश्वरत्व की एकता का विचार दिया और ईसाइयों ने ईश्वर के पितृत्व का, तो हिन्दू लोग इन सत्यो को जीवन मे प्रभावकर वनाएगे और इस प्रकार मनुष्य की वन्धुत्व-भावना को चरितार्थ करेंगे। श्वेट्ज़र और वर्डवुड मे एक वडा अन्तर यह है कि श्वेट्ज़र का भारत-सम्वन्धी ज्ञान तो पुस्तको पर आधारित है, जवकि वर्डवुड भारतीयो के वीच पूरा जीवन विता चुके हैं। यही कारण है कि जव श्वेट्ज़र का विचार है कि हिन्दुत्व हमें

१. 'स्व' (१९१५ ई०), पृष्ठ ३५४–६।

जीवन से पलायन करना सिखाता है, तब बर्डवुड यह आशा करते हैं कि अब भी हिन्दू-धर्म ही जूडावाद (यहूदियत) और ईसाइयत के सत्यो का पार्थिव जीवन से सामजस्य बैठाएगा।

मेरे मन में हिन्दूधर्म और ईसाई-धर्म की विपरीतता का विचार उतना हावी नही है जितना धर्म और आत्मनिर्भर मानववाद के वैषम्य का विचार। प्राच्य जीवन मे तो धर्म को अधिक महत्त्व दिया जाता है और पाश्चात्य जीवन में मानववाद को। सभी सच्चे धर्मों की तरह हिन्दूधर्म भी अनिवार्यतः 'पारलौकिक' है। वह इस लोक को परलोक मे प्रवेश करने के पूर्व पडनेवाली ड्योढी-मात्र या केवल प्रशिक्षण-क्षेत्र मानता है। उसके मत से परलोक का ही जीवन सत्य, समृद्ध और शाश्वत है। फिर भी, हिन्दू-धर्म लोगो को मानवीय साहस, शक्ति और लगन का अत्यन्त प्रभावशाली और निरन्तर प्रदर्शन करने की प्रेरणा देता है तथा स्वय धर्मनिरपेक्ष रूप धारण कर लेता है। इसके अनुयायी अपने को इस पृथ्वी पर रहनेवाले अपरिचित व्यक्तियों तथा तीर्थयात्रियो के रूप मे समझते हैं। इनके सबसे यशस्वी प्रतिनिधि हैं साधु सन्त तथा अन्य हुतात्माए।[1] धर्म और मानववाद दोनो दो अलग चीजें नही हैं। यदि हम गलती से धर्म को सासा-रिकता और जीवन-निषेध की भावना का समरूप समझ लेते हैं और आचारनीति को मानववाद तथा सामाजिक प्रगति से सम्बद्ध कर देते हैं, तो दोनो परस्पर बिलकुल भिन्न बन जाते हैं, और तब आवश्यक हो जाता है कि दोनो के अलग सिद्धान्तो के अनुसार दोनो की अलग-अलग पद्धति का अनुसरण किया जाए। इसके विपरीत, दोनों एक-दूसरे के आंगिक हैं। धर्म का प्रधान महत्त्व आन्तरिक मनुष्य को उन्नत और विकसित करने की उसकी शक्ति में निहित है, किन्तु वह निर्दोष तब तक नही बन पाता जब तक वह अपने बाह्य अस्तित्व को सम्यक्रूपेण संवार नही लेता। इसके लिए हमे एक स्वस्थ राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन की तथा एक ऐसी शक्ति और कार्यकुशलता

१. कवि मैथ्यू आर्नल्ड की इन बहुप्रसिद्ध पंक्तियों—'The East bow'd low......She shivered and obey'd' में प्राच्य और पाश्चात्य दृष्टिकोणों का अन्तर स्पष्टतः निरूपित हुआ है। पहले वे यह बतलाते हैं कि शक्ति-मद में मत्त यूरोप का एशिया पर क्या प्रभाव पड़ा :

"पूर्व झुका झंझा के आगे,
धीर और गम्भीर अवज्ञा मन में धारे ;
मौन देखता रहा
गुजरती रहीं गरजती वाहिनियां अनगिन,
और पुनः वह निज विचार में मग्न हो गया।"

ईसाई-धर्म को स्वीकार कर लेने पर यूरोप ने, जो मानववाद और धर्मनिरपेक्ष विकास से ऊब गया था, पूर्व की वाणी की ओर ध्यान दिया :

"अस्त्र-शस्त्र औ' मुकुट-सुसज्जित
विजयी पश्चिम ने पूरब की वाणी सुन ली,
हृदय की रिक्तता, शून्यता अपनी
उसे अनुभव हुई।
कांप गया वह,
और पूर्व की आज्ञा उसने शिरोधार्य की।"

की आवश्यकता है, जो लोगों को केवल जीवित ही न रखे, वरन् सामूहिक पूर्णत्व कं
ओर भी बढावे। यदि कोई धर्म इन उद्देश्यों की पूर्ति नही करता, तो समझना चाहिए
कि उसमे कही कोई दोष है—वह दोष चाहे उसके अनिवार्य सिद्धान्तो मे हो, या उन
सिद्धान्तो के प्रयोग मे। केवल अन्तर्दृष्टि के द्वारा ही आध्यात्मिक दृष्टिकोण का निर्माण
नही होता, वरन् इसके लिए एक तर्कसगत दर्शन और दृढ सामाजिक सस्थाओ का होन
भी आवश्यक है।

[३]

श्वेट्जर महोदय अपनी स्थापना के समर्थन मे जो तर्क देते हैं, उनपर भी आइए
हम यहा विचार कर लें। उनके तर्क ये हैं . (१) हिन्दू विचारणा मे परमानन्द पर जं
बल दिया जाता है, वह स्वभावत मनुष्य को ससार और जीवन के निषेध की ओ
ले जाता है। (२)हिन्दू विचारणा अनिवार्यत पारलौकिक है और मानववादी आचार
नीति तथा पारलौकिकता ये दोनो परस्पर असगत है। (३) 'माया'-सम्बन्धी हिन
सिद्धान्त मे, जो जीवन को भ्रम या मरीचिका बतलाता है, एक त्रुटि यह है कि व
ससार और जीवन का निषेध करता है। फलतः हिन्दू विचारणा आचारनीति-विषयक
नही है। (४) विश्व की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे हिन्दूधर्म जो बडी से बडी बात क
सकता है, वह यह है कि यह भगवान की लीला है। (५) मोक्ष का साधन ज्ञान य
आत्मसाक्षात्कार है। यह बात नैतिक विकास से भिन्न है, इसीलिए हिन्दूधर्म आचारिव
या नीति-विषयक नही है। (६) मानव-प्रयासो का लक्ष्य पलायन है, समन्वय य
समझौता नही। यह तो ससीम के बन्धनो से आत्मा की मुक्ति हुई, असीम के आत्म
प्रकाश और उसके साधन के रूप मे ससीम को परिवर्तित करने की बात इसमे नहं
आई। धर्म जीवन और उसकी समस्याओ से बचने की एक आड है, उससे सुखद भावं
जीवन के लिए मनुष्य को कोई आशा नही बधती। (७) हिन्दूधर्म का आदर्श व्यक्ति
अच्छाई और बुराई के नैतिक अन्तर से परे होता है। (८) हिन्दू विचारणा आन्तरिव
पूर्णता के लिए जिस शीलाचार पर जोर देती है, उसका सक्रिय आचारनीति और अपन
पडोसी को सहृदय प्रेम देने की बात से विरोध है।

[४]

श्वेट्जर के शब्दो मे . "ब्राह्मणो का वास्तविक विश्वास यह है कि मनुष्य
अपनी ज्ञान-प्राप्ति की नैसर्गिक शक्ति की किसी उपलब्धि के द्वारा ब्रह्म के साथ एकत्व
नही प्राप्त करता, वरन् एकमात्र परमानन्द की दशा में इन्द्रिय-जगत् को त्यागकर औ
इस प्रकार अपने विशुद्ध अस्तित्व की वास्तविकता को जानकर ही वह ब्रह्म के सा
एकात्म हो पाता है।"[1] प्रकारान्तर से यहा यह सुझाव मिलता है कि व्यक्तित्व की
समृद्धि एव पूर्णता तथा आध्यात्मिक जीवन की उन्नत अभिव्यक्ति ईसाई रहस्यवाद मे
मिलती है, हिन्दू रहस्यवाद तो मनुष्य को अपने-आपसे पलायन कर जाने की प्रेरणा देत

१. डॉ० श्वेट्जर कृत 'इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेंट', (अ० अ०), १९३६ ई०, पृष्ठ १८

है। किसी विचारधारा के अतिसरलीकरण का यह एक और उदाहरण है। जहा तक हिन्दू रहस्यवाद को समझने का प्रश्न है, डॉ० श्वेट्ज़र का उपर्युक्त विचार सही होने से कोसो दूर है। हिन्दूमतावलम्वी आध्यात्मिकता को मानव-प्रकृति का आधार-भूत तत्त्व मानता है। आत्मिक साक्षात्कार जीवन की समस्याओ का कोई चमत्कारिक समाधान नही है, अपितु जीवन का अपनी पूर्णता की ओर पहुचने का यह क्रमिक प्रयास है; यह एक ऐसा फल है जो जीवनरूपी वृक्ष पर उस समय फलता है जब वह वृक्ष परिपक्व हो जाता है। परमानन्द या समाधि की दशा में आत्मा जीवन की धारा मे प्रविष्ट हो जाती है, उसके प्रवाह मे वह चलती है और अपने अस्तित्व का सन्धान वह एक विशालतर व्यापक जीवन मे कर लेती है। यह आध्यात्मिक जीवन, जिसमे दैहिक या यहा तक कि मानसिक सीमाओ की भावना से स्वतत्रता अनुभव होती है और एक असीम तथा अनन्त जीवन की विशालता मे मानवात्मा का प्रवेश होता है, ठीक वही चीज़ नही है जो चमत्कारिक या जादुई रहस्यवाद है।

विशुद्ध आत्मा के साथ मनुष्य-मन का सयोग होने पर उसमे जो आकस्मिक आवेग उठता है, जिसे श्वेट्ज़र अतिप्राकृतिक या चमत्कारिक कहते हैं, वह अत्यन्त सामान्य बात है, यद्यपि इस स्वस्थचित्तता के साथ हममे से अधिकाश के मन की तुलना की जाए, तो हम या तो निर्बल मन वाले निकलेंगे या कम स्वस्थ चित्त वाले।

आनन्दातिरेक एक ऐसा शब्द है जिसमे मादक द्रव्यो के सेवन से उत्पन्न नशा और भूत-पिशाच की बाधा से लेकर प्लॉटिनस के अत्युल्लास तक उसकी सीमा मे आ जाते हैं।[1] मौन चिन्तन-मनन की स्थिति का जो परमानन्द है, वह उस उद्दाम आवेश से भिन्न होता है जो भौतिक साधनो से उत्पन्न किया जाता है और नशा लाने के लिए जिनका सेवन किया जाता है। ईश्वर-सम्बन्धी समस्त अनुभव जब तीव्र हो जाता है तब वह परमानन्द कहलाता है, यद्यपि प्रत्येक भावोन्माद को ईश्वरीय अनुभव समझना भी भूल होगी। फिर भी, यह सच है कि एक मनोदशा ऐसी होती है जिसमें व्यक्ति मे सहज ही भावोत्कर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, किन्तु यह सक्षोभ की दशा से बिलकुल भिन्न होती है। प्रत्यक्ष तथ्य के आधार पर यदि यह कहा जाए, तो इसमे आश्चर्य की कोई बात नहीं कि कुछ इसी प्रकार की मनोदशा कवियो, दार्शनिको, चित्रकारो और सगीतकारो मे भी उत्पन्न हो जाती है। यदि हम कलाकारों की प्रतिभा के विषय मे यह नही कहते कि यह मानसिक अपकर्ष या स्नायविक अस्थिरता के कारण है, तो धार्मिक प्रतिभाओ के विषय मे अन्यथा सोचने का कोई औचित्य नही है। रहस्यात्मक दशाओ मे प्राय अत्युल्लास की भावना आती ही रहती है, किन्तु किसी भी प्रकार इसका अर्थ आत्मा का वियोजन नही लगाया जा सकता। अत्यन्त हर्षित होना अपनी आत्मा की सीमाओ का अतिक्रमण करना नहीं, वरन् अत्यन्त स्वस्थ होना है; आत्मचेतना खो देना नही है, वरन् खूब चैतन्य रहना है। मनुष्य

[1] ईश्वर से सयोग होने पर जो परमानन्द प्राप्त होता है, उसके विषय में पढ़िए—विलियम जेम्स कृत 'द वैरायटीज ऑव रिलीजस एक्सपीरियेन्स', (१९०६ ई०), पृष्ठ ३७९–४२२; आर० एच० थाउलेस कृत, 'ऐन इट्रोडक्शन टू द साइकॉलाजी ऑव रिलीजन', (१९२४ ई०), पृष्ठ २३०–२, २४६–५१।

अपने पार्थिव जीवन की सामान्य परिस्थितियो से वाहर नही निकल सकता। यह जानते हुए भी कि उसकी देह और उसका मन एक उच्चतर जीवन की प्राप्ति के साधन हैं, वह उनकी पार्थिव आवश्यकताओ से निरपेक्ष कैसे रह सकता है ? वह न तो अपनी वुद्धिमत्ता पर फूला समाता है और न वह आत्मार्थी ही होता है, क्योंकि उसके पास अपना कहने को कुछ नही होता। यदि उसको एक अतीन्द्रिय व्यक्तित्व प्राप्त हो गया है और ऐसी स्वतन्त्रता मिल गई है जिसको इस ससार की कोई शक्ति छीन नही सकती, तो इसका कारण वह नही है, वरन् वह परम आत्मा है जो उसमे निवास करती है और उसको भी नि सीम वना देती है। रहस्यात्मक अनुभव कलाकार के आनन्द या प्रेम के हर्षातिरेक से जो सभी कायदे-कानून तथा प्रतिवन्ध का अतिक्रमण कर जाता है और जीवन मे वास्तविक सम्पर्क की सम्भावना को सूचित करता है, कुछ अशो मे समान होते हुए भी सुखानुभूति की एक दीप्ति-मात्र नही है। उत्तेजित भावुकता जो रोमाच और ऐन्द्रिक अत्युल्लास की तलाश मे रहती है, 'सम्यक् दर्शन' से नितात भिन्न होती है। मननशील सन्त प्रतिमाओ और अन्य चाक्षुष्-प्रत्यक्षो को गौण स्थान देते हैं। ये प्रतीक हैं जिनका उपयोग हम मूलवस्तु को समझने के लिए करते हैं। प्रतीक सदा ही अनुभव या अववोध से भिन्न होता है। ज्ञान या विद्या शीतल एव स्वच्छ दृष्टि की कल्पना है। परमानन्द की दशा मे आत्मा यह अनुभव करती है या अनुभव करने की भावना करती है कि वह अमित प्रकाश से उद्भासित होकर ईश्वर का दर्शन कर रही है, किन्तु हमको इससे भी आगे वढकर उस दशा तक पहुचना चाहिए, जहा परमात्मा के साथ हमारे अस्तित्व की चेतना की एकता सतत वनी रह सके। परमानन्द की दशा की उपमा इस प्रकार दी जा सकती है आप अपने स्वप्नो के देश को अपने सामने सुविस्तृत देख रहे हैं, किन्तु उसकी धरती पर आपके पैर अभी नही पड़े हैं। यह कैवल्य या दिव्यसत्य का पूर्ण आध्यात्मिक अविग्रहण नही है, वरन् यह तो उस दिशा मे केवल श्रीगणेश है, उस गहराई मे उतरने की पहली सीढी ही है। भगवद्गीता के ग्यारहवें अध्याय मे अर्जुन को दिव्य-दृष्टि का जो महत् अनुभव हुआ है, उसके उपरान्त भी पुस्तक समाप्त नही होती। ज्ञान का प्रकाश अनन्त सत्ता के साथ मनुष्य की आध्यात्मिक एकता मे परिणत हो जाना चाहिए। जव परमानन्द समाप्त हो जाता है, तव आत्मा अपने को एकाकी पाती है और परमात्मा के साथ अपनी एकता के अपूर्ण रह जाने के कारण अपने को असहाय तथा असन्तुष्ट अनुभव करती है। कुछ समय तक चकाचौंध करनेवाले प्रकाश मे रहने के वाद आत्मा गहनान्धकार मे अन्धे की तरह टटोलती फिरती है ; वह अपने भीतर हृदय की वह पवित्रता और मन की सत्यता लाने के लिए सचेष्ट हो रहती है जो आध्यात्मिक जीवन के लिए अनिवार्य है। आध्यात्मिक जीवन मे तात्पर्य मानव-चेतना मे ईश्वर का क्रमश प्रविष्ट होना है। जव तक आत्मा-परमात्मा की एकता पूर्ण नहीं हो जाती, जव तक व्यक्तित्व का स्थायी रूप से रूपान्तरण नहीं हो जाता, जव तक यह आत्मा ईश्वरचालित आत्मा नही वन जाती, तव तक आत्मा को जीतने और उसको पूर्णत वशवर्ती वनाने का प्रयत्न अनवरत रूप से चलता

रहता है ।[1]

आध्यात्मिक जीवन प्राप्त करने के लिए परमानन्द या भावोन्माद एकमेव मार्ग नहीं है। यह बहुधा रहस्यवाद का निदर्शन होने की अपेक्षा उसका विकृत रूप ही होता है। चूकि लोग भूल से इसे ही आध्यात्मिक जीवन समझ लेते हैं, इसलिए इसके विरुद्ध हमे चेताया गया है। सारे संसार के आध्यात्मिक रहस्यवादी साधक भावोन्माद, छाया और आश्रवण को गौण महत्त्व की वस्तु समझते हैं और इनसे वचने की सलाह देते हैं। वे रहस्यवादी साधको के जीवन की कुछ ऐसी असगतिया हैं जो उन्हे यदा-कदा परेशान करती हैं। परिवर्तित अन्तर्जगत् के साथ ठीक-ठीक सामजस्य न वैठा पाने के कारण वे लक्षण साधक मे उत्पन्न होते हैं। जव रहस्यवादी साधक का व्यक्तित्व एक ऐसे स्तर तक उठ जाता है जो उसके सामान्य आत्मकेन्द्रित जीवन के लिए असगत प्रतीत होने लगता है, तव उसमे कुछ अव्यवस्थाए दिखाई देने लगती हैं। आध्यात्मिक अनुभव का मानव-शरीर-रचना पर वहुत तनाव पडता है। यदि आम की गुठलिया गमलो मे आरोपित कर दी जाए, तो एक समय ऐसा आएगा जब गमले टूक-टूक हो जाएगे। जव नई शराव पुरानी वोतलो मे भरी जाती है, तव वे टूट जाती हैं। यदि मनुष्य चाहता है कि वह आध्यात्मिक प्रकाश को झेल सके, तो उसे एक नया पात्र, एक नया प्राणी वनना ही चाहिए। यही कारण है कि योग की हिन्दू-पद्धति स्वस्थ स्नायुओ के विकास पर अधिक वल देती है।

भावोन्मादी अनुलक्षण हिन्दूधर्म की ही विशेषता नही है। वलाम के आख्यान की सख्या-सम्वन्धी पुस्तक ('वुक ऑव नम्वर्स') मे हमको भावोन्माद का एक वृत्त मिलता है . "दिवास्वप्न-सा देखता हुआ वह गिर पडा और उसकी आखें खुली की खुली रह गई ।"[2] भावोन्मादी मूर्च्छा की स्थिति मे जो कुछ दिखाई देता है, उसीके आधार पर यशायाह और इज़ेकियल ने भविष्यवाणिया की थी।[3] सेंट पॉल आध्यात्मिक हर्षातिरेक को इन्द्रियातीत वतलाते हैं, ज्ञानेन्द्रियो के अस्तित्व का भान तो उन्हें तव हुआ जव मासल सुखो की लालसा ने अपना डक चुभोया। प्रारम्भिक 'चर्च' मे चमत्कारी शक्तियो का अनुभव, अटपटी वाणिया वोलना और उन वाणियो का अर्थ निकालना तथा पैगम्वरो द्वारा दिए गए सन्देश[4]—ये सव वाह्य आक्रमण अधिक हैं, आन्तरिक विकास कम। मॉनटेन का त्यागवाद (तपश्चर्या का सिद्धान्त) जिसका प्रचार

१. तुलना कीजिए . सेंट थेरेसा के विचार में परमानन्द एक प्रकार की सगाई (वाग्दान) है, जो आध्यात्मिक विवाह में परिणत होती है, 'जिसमें आत्मा सदा अपने केन्द्र में ईश्वर के साथ अवस्थित रहती है।' ('द इण्टीरियर कैसिल', सातवीं मजिल, अध्याय ?, विभाग २-४)।

२. *xxiv*, ४, इसाइयाह *vi* भी देखिए। ३. एज़रा *vi*, पृष्ठ ३?।

४. 'ऐक्ट्स ऑव द अपॉसल्स' और 'द फर्स्ट लेटर टू द कॉरिन्थियन्स' देखिए। मार्क, *i* पृष्ठ १२ ; ल्यूक *iv*, पृष्ठ १ भी देखिए। "प्रेरणा की जो धारणा सेमेटिक स्रोत के सभी धर्मों में पाई जाती है, उससे जितने भी महान पैगम्बर हो चुके हैं वे मतभेद नहीं रखते। उनकी दृष्टि में यह किसी बाह्य शक्ति का मानव-व्यक्तित्व पर आक्रमण है। इस बाह्य शक्ति को वे प्राय· आत्मा या 'याहवेह' नाम से पुकारते हैं।" अडॉल्फ लॉड्स कृत 'द प्रॉफेट्स एण्ड द राइज़ ऑव जूडाइज़्म', (१९३७ का संस्करण), पृष्ठ ५३।

दूसरी और तीसरी शताब्दियो मे अधिक रहा, निश्चित रूप से भावोन्मादी था। सेंट थेरेसा और जेनोआ की सेंट कैथेराइन तथा अन्य कुछ सन्त ईश्वर की छाया तथा भावोन्माद से पीडित थे। भावोन्मादी सिद्धान्त पर आधारित कोई भी तर्क सभी धर्मों पर लागू होगा।

[५]

कोई भी आचारिक सिद्धान्त जो मानव-आचार और परम सत्य के सम्बन्ध का दार्शनिक निरूपण करता हो, अध्यात्मशास्त्र मे स्थान पाने के योग्य है। हम परम सत्य के विषय मे जैसी भावना करते हैं, वैसा ही आचरण हम करते है। मनोरथ और कार्य साथ-साथ चलते है। यदि हम ऊलजलूल बातो मे विश्वास करें तो कुछ बेतुके काम भी हमसे हो जाएगे। आत्मभरित मानववाद की कुछ अपनी आध्यात्मिक पूर्वधारणाए होती हैं। यह चाहता है कि हम केवल देश-काल से मुक्त प्रस्तुत ससार तक ही अपना ध्यान सीमित रखें। इसका तर्क है कि प्रकृति के अनुसार कार्य करना और उसके क्रियागत सिद्धान्तो के अनुरूप ही अपने आचरण को ढाल लेना मनुष्य का नैतिक कर्तव्य है। यह मानव-जीवन के कारणो को विशुद्ध प्राकृतिक साधनो से परिपूर्ण करने का प्रयास करता है। नीतिशास्त्र का विषय समाजशास्त्र की एक शाखा समझा जाता है या मनोविज्ञान का एक विभाग। यदि सकुचित दृष्टि से विचार किया जाए तो लगेगा कि वैज्ञानिक भौतिकवाद और रहस्यात्मक राष्ट्रवाद दो प्रकार के मानववादी नीतिशास्त्र हैं। वे मनुष्य को विशुद्ध प्राकृतिक व्यापार समझते हैं और मानते हैं कि उसका दृष्टिकोण देश और काल से किसी प्रकार स्वतत्र नही हो सकता। वे इस बात के लिए प्रोत्साहित करते हैं कि मनुष्य अपने को प्रकृति तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया के पूर्णत अधीन समझ ले और केवल व्यवहार्य को ही चुपचाप स्वीकार कर ले। व्यवहार मे प्राकृतिक नियमो का जो रूप दिखाई देता है, उसमे आत्मत्याग, आत्मबलिदान एव मानवता की नि स्वार्थ सेवा आदि सद्‌गुणो को कोई प्रोत्साहन नही मिलता।

भौतिक वस्तुओ की प्रचुरता हो जाने से ही जीवन सरस नही हो जाएगा। ससार के धनी लोगो का जीवन प्राय नीरस, स्फूर्तिहीन, सीधा-सपाट और अलाभकर दिखाई देता है, यहा तक कि जिस सामाजिक चेतना द्वारा मनुष्य भौतिक सभ्यता के लाभो को सर्वसाधारण तक पहुचाने की प्रेरणा प्राप्त करता है, उसके लिए भी यह नही कहा जा सकता कि वह वैज्ञानिक प्रकृतिवाद के सिद्धान्तो की देन है। भौतिक आधार अनिवार्य होते हुए भी, वह वास्तविक जीवन यापन के लिए बहुत ही सकुचित प्रतीत होता है। नात्सीवाद, फासिस्तवाद और साम्यवाद की जो समूह-कल्पना है, वह हमसे आशा करती है कि हम विवेक और मानवता-सम्बन्धी सभी विचारो को तिलाञ्जलि देकर राज्य की पूजा करें, क्योंकि इसीसे जीवन समृद्ध और महत्त्वपूर्ण हो सकेगा। मनुष्य केवल भावात्मक प्राणी नही है। राष्ट्र-राज्य मे मानवीय तथा सार्वभौम मूल्यों के लिए कोई स्थान नही है, वह मनुष्य मे सार्वभौमिकता का विकास करने के मार्ग मे भयकर सकट पैदा करता है, जबकि स्थिति यह है कि विज्ञान की

प्रगति के कारण आज सार्वभौमिकता का विकास अधिक गति से हो रहा है और मानव-समाज का कल्याण भी सार्वभौमिकता के द्वारा ही हो सकता है।

इस प्रश्न का केन्द्र मनुष्य के स्वभाव मे है। मनुष्य क्या केवल शरीर है जिसे खिलाया-पिलाया, ओढाया-पहनाया और आवासित किया जा सकता है, या वह आत्मा भी है जिसकी कुछ उच्चाकाक्षाए हैं? जिन लोगो को भौतिक सभ्यता की न्यामतें, सारी सुख-सुविधाए प्राप्त हैं, उन लोगो को भी जब हम हताश और कुण्ठित देखते हैं, तब यह समझ मे आ जाता है कि मनुष्य केवल रोटी या भावात्मक उत्तेजना पर ही जीवित नही रह सकता। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि प्रगति अपने-आपमे कोई लक्ष्य नही है। यदि यही चरम सत्य हो, तो इसके कभी पूर्ण होने का प्रश्न ही नही उठता। हम अपने लक्ष्य के निकट से निकटतर पहुच सकते हैं, पर उसको पूर्णतः उपलब्ध नही कर सकते। इसकी प्रक्रिया का न कोई आदि है, न कोई अन्त। यह न कही से प्रारम्भ होती है, न कही ले जाती है। इसका कोई उद्देश्य नही, कोई लक्ष्य नही। पुनरावृत्ति का निरर्थक चक्र जीवन को सार्थक नही बना सकता। यह तर्क दिया जा सकता है कि भले ही विश्व का अपना कोई प्रयोजन न हो, तो भी विश्व के कुछ उपादानो के, जैसे राष्ट्रो और व्यक्तियो के, तो अपने प्रयोजन ही हो सकते हैं। राष्ट्रो का उत्थान और पतन, व्यक्तियो का विकास और विनाश काफी दिलचस्प हो सकते हैं, और विश्व को सान्त प्रयोजनो की अनन्त शृखला के रूप मे देखा जा सकता है। इसको नीतिशास्त्र का सन्तोषप्रद लक्ष्य नही माना जा सकता। क्या मानववादी इस पृथ्वी पर ही एक ऐसे स्वर्ग के निर्माण की आशा नही करते जिसमे कलाकारो और विचारको की एक सर्वांगपूर्ण जाति निवास करेगी? हमसे यह कहने का लाभ ही क्या कि यद्यपि हमारे सूर्य, चन्द्र और तारे वर्तमान पार्थिव जीवन को विनष्ट करने मे भाग लेंगे, तो भी दूसरे सूर्यो, चन्द्रो और तारो का उद्भव हो जाएगा? हम तो एक ऐसे कल्याण के आकाक्षी हैं जो अपने-आपमे अन्यतम हो और जिसे कभी भुलाया न जा सके। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि जो वस्तु केवल सापेक्ष है, उससे मनुष्य को सतुष्ट नही किया जा सकता और मनुष्य स्थायी रूप से सान्त तथा अनुभव-सापेक्ष सत्य की सीमाओ के भीतर नही रह सकता। मनुष्य अपने ही रहस्य-मन्दिर के द्वार पर खडा होता है। जिस क्षण वह अपनी चिरन्तनता के प्रति जागरूक हो जाता है, उसी क्षण वह उस मन्दिर मे प्रविष्ट होने का अधिकारी बन जाता है। यदि सच पूछा जाए तो चिरन्तनता को छोडकर ऐसी कोई वस्तु नही है जिसे मानवीय कहा जा सके। एक सार्थक नैतिक आदर्श को घटनाओ के तात्कालिक प्रवाह से परे की वस्तु होना चाहिए।

एक बात और, क्या यथार्थ के गूढ स्वभाव को देखते हुए नैतिक जीवन सम्भव हो सकता है? कुछ विचारक हमे प्रेरित करते हैं कि हमको जो उचित और सही प्रतीत हो, उसीको करें, भले ही हमे उसको कार्यान्वित करने की विधि न ज्ञात हो। नैतिक उत्साह तभी उत्पन्न हो सकता है जब नैतिक आदर्शो की उपलब्धि के लिए कुछ योगदान करने की क्षमता पाने की आशा लेकर हम अपने प्रयोजन मे प्रवृत्त हो। यदि

हमे यह निश्चय नही है कि आदर्शों का सक्रिय पोषण उनके क्रियान्वय मे भी सहायक होगा, तो हम उनके औचित्य के सम्बन्ध मे भी निश्चित नहीं हो सकते ।

हम स्वय से यह पूछे बिना भी नही रह सकते कि हमारे आदर्श केवल हमारे अपने स्वप्न हैं या समाज के द्वारा निर्मित बन्धन-सूत्र है या मानव-जाति मे विशेष रूप से पाई जानेवाली उच्चाकाक्षाए है ? केवल वही दर्शन, जो मानता हो कि उच्चाकाक्षाए वस्तुओ की सार्वभौम प्रकृति मे बद्धमूल है, नैतिक जीवन मे गम्भीरता और स्फूर्ति ला सकता है , नैतिक कठिनाइयो के समय साहस तथा विश्वास दिला सकता है । हमे यह दृढ विश्वास होना चाहिए कि ब्रह्माण्डीय योजना का ही प्रयोजन है कि हम अपने आदर्शों को मन मे पालते रहे ; उनके प्रति हमारी निष्ठा या अनिष्ठा केवल हमारे लिए या समाज के लिए, या मानव-जाति के लिए ही गम्भीरतम चिन्तन का विषय नही है, प्रत्युत वस्तुओ की प्रकृति के लिए भी है । यदि नैतिक विचार निर्दोष और सर्वांगपूर्ण है, तो वह नैतिकता को ब्रह्माण्डीय प्रेरणा प्रदान करता है । आदर्शों की सत्यता मे जब तक दृढ विश्वास न हो, तब तक नैतिक चेतना नही उत्पन्न हो सकती । यदि सत्य आदर्शों को ही धर्म कहा जाए, तो नैतिक मानववाद को कार्यवाहक धर्म कहना होगा । जब मनुष्य समस्त प्राणी-जगत् के साथ अपनी अनिवार्य एकता का अनुभव करता है, तब वह अपने जीवन मे इस एकता की अभिव्यक्ति करता है । रहस्यवाद और आचारनीति, पारलौकिकता और लौकिक कार्य कन्धे से कन्धा भिडाकर चलते हैं । आदिकालीन धर्मों मे हमको यह मेल मिलता है । पारलौकिकता 'मान' के रूप मे दिखाई देती है जिसको असभ्य जगली मनुष्य प्रत्यक्ष ज्ञान-विषय के भीतर तथा दृश्य जगत् की घटनाओं के पीछे छिपी किसी रहस्यमय शक्ति की सहज भावना से प्राप्त करता है । उसको नैतिकता अभिशप्त और वर्जित जान पड़ती है और वस्तुओ तथा व्यक्तियो मे उसको पवित्रता की भावना अनुभव होती है, जो अपने विधि-निषेधो के द्वारा उसके समस्त आचरण को नियन्त्रित करती है । मानव-जाति के उच्चतर धर्मों मे इन्द्रियातीत के प्रति विश्वास तथा प्राकृतिक जगत् मे कार्य—दोनो का निकट सपर्क मे रहते हुए विकास हुआ है और दोनो मे पारस्परिक क्रिया भी हुई है । इन्द्रियातीत जगत् के चरम सत्यो के प्रति आत्मा की जो प्रवृत्ति, प्रतिक्रिया तथा समन्वयशीलता रहती है, उसीको धर्म कहते है । आचारनीति पार्थिव जीवन, विशेषकर मानव-जीवन मे सही सामजस्य को अपना विषय बनाती है । धर्म हो, चाहे आचारनीति, दोनो ही आदर्शों के प्रकाश मे जीवन-यापन करने की इच्छा से प्रेरणा प्राप्त करते हैं । यदि हम 'जो है', उसीसे सन्तुष्ट हैं, तो 'जो चाहिए' का कोई अर्थ हमारे लिए नहीं है ; यदि हम केवल अस्थायी गोचर जगत् के प्राणी हैं, तो हमारे लिए धर्म का भी कोई अर्थ नही है । धर्म का जन्म मनुष्य के इस दृढ विश्वास से होता है कि दृश्य और पार्थिव ससार से परे भी कोई दूसरा ससार है जिससे मनुष्य का काम पडता है । नीतिशास्त्र चाहता है कि हम दूसरे ससार पर अनिवार्यत. दृष्टि रखते हुए इस ससार मे कार्य करें । अपने मन को इन्द्रियातीत लोक मे स्थित रखते हुए हमको अपने यथार्थ जीवन को आदर्श जीवन के निकटतर लाने का प्रयास करते रहना है । केवल धर्म ही आचार-

प्रगति के कारण आज सार्वभौमिकता का विकास अधिक गति से हो रहा है और मानव-समाज का कल्याण भी सार्वभौमिकता के द्वारा ही हो सकता है।

इस प्रश्न का केन्द्र मनुष्य के स्वभाव मे है। मनुष्य क्या केवल शरीर है जिसे खिलाया-पिलाया, ओढाया-पहनाया और आवासित किया जा सकता है, या वह आत्मा भी है जिसकी कुछ उच्चाकाक्षाए हैं? जिन लोगो को भौतिक सभ्यता की न्यामतें, सारी सुख-सुविधाए प्राप्त हैं, उन लोगो को भी जब हम हताश और कुण्ठित देखते हैं, तब यह समझ मे आ जाता है कि मनुष्य केवल रोटी या भावात्मक उत्तेजना पर ही जीवित नही रह सकता। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि प्रगति अपने-आपमे कोई लक्ष्य नही है। यदि यही चरम सत्य हो, तो इसके कभी पूर्ण होने का प्रश्न ही नही उठता। हम अपने लक्ष्य के निकट से निकटतर पहुच सकते हैं, पर उसको पूर्णत. उपलब्ध नही कर सकते। इसकी प्रक्रिया का न कोई आदि है, न कोई अन्त। यह न कही से प्रारम्भ होती है, न कही ले जाती है। इसका कोई उद्देश्य नही, कोई लक्ष्य नही। पुनरावृत्ति का निरर्थक चक्र जीवन को सार्थक नहीं बना सकता। यह तर्क दिया जा सकता है कि भले ही विश्व का अपना कोई प्रयोजन न हो, तो भी विश्व के कुछ उपादानो के, जैसे राष्ट्रो और व्यक्तियो के, तो अपने प्रयोजन ही हो सकते हैं। राष्ट्रो का उत्थान और पतन, व्यक्तियो का विकास और विनाश काफी दिलचस्प हो सकते हैं, और विश्व को सान्त प्रयोजनो की अनन्त शृखला के रूप मे देखा जा सकता है। इसको नीतिशास्त्र का सन्तोषप्रद लक्ष्य नही माना जा सकता। क्या मानववादी इस पृथ्वी पर ही एक ऐसे स्वर्ग के निर्माण की आशा नही करते जिसमे कलाकारो और विचारको की एक सर्वांगपूर्ण जाति निवास करेगी? हमसे यह कहने का लाभ ही क्या कि यद्यपि हमारे सूर्य, चन्द्र और तारे वर्तमान पार्थिव जीवन को विनष्ट करने मे भाग लेंगे, तो भी दूसरे सूर्यो, चन्द्रो और तारो का उद्भव हो जाएगा? हम तो एक ऐसे कल्याण के आकाक्षी हैं जो अपने-आपमे अन्यतम हो और जिसे कभी भुलाया न जा सके। इस बात से इन्कार नही किया जा सकता कि जो वस्तु केवल सापेक्ष है, उससे मनुष्य को सतुष्ट नही किया जा सकता और मनुष्य स्थायी रूप से सान्त तथा अनुभव-सापेक्ष सत्य की सीमाओ के भीतर नहीं रह सकता। मनुष्य अपने ही रहस्य-मन्दिर के द्वार पर खड़ा होता है। जिस क्षण वह अपनी चिरन्तनता के प्रति जागरूक हो जाता है, उसी क्षण वह उस मन्दिर मे प्रविष्ट होने का अधिकारी बन जाता है। यदि सच पूछा जाए तो चिरन्तनता को छोडकर ऐसी कोई वस्तु नही है जिसे मानवीय कहा जा सके। एक सार्थक नैतिक आदर्श को घटनाओ के तात्कालिक प्रवाह से परे की वस्तु होना चाहिए।

एक बात और, क्या यथार्थ के गूढ स्वभाव को देखते हुए नैतिक जीवन सम्भव हो सकता है? कुछ विचारक हमे प्रेरित करते हैं कि हमको जो उचित और सही प्रतीत हो, उसीको करें, भले ही हमे उसको कार्यान्वित करने की विधि न ज्ञात हो। नैतिक उत्साह तभी उत्पन्न हो सकता है जब नैतिक आदर्शो की उपलब्धि के लिए कुछ योगदान करने की क्षमता पाने की आशा लेकर हम अपने प्रयोजन मे प्रवृत्त हो। यदि

हमे यह निश्चय नही है कि आदर्शों का सक्रिय पोषण उनके क्रियान्वय मे भी सहायक होगा, तो हम उनके औचित्य के सम्बन्ध मे भी निश्चित नहीं हो सकते ।

हम स्वय से यह पूछे बिना भी नही रह सकते कि हमारे आदर्श केवल हमारे अपने स्वप्न है या समाज के द्वारा निर्मित बन्धन-सूत्र हैं या मानव-जाति मे विशेष रूप से पाई जानेवाली उच्चाकाक्षाए हैं ? केवल वही दर्शन, जो मानता हो कि उच्चाकाक्षाए वस्तुओ की सार्वभौम प्रकृति मे बद्धमूल है, नैतिक जीवन मे गम्भीरता और स्फूर्ति ला सकता है , नैतिक कठिनाइयो के समय साहस तथा विश्वास दिला सकता है । हमे यह दृढ विश्वास होना चाहिए कि ब्रह्माण्डीय योजना का ही प्रयोजन है कि हम अपने आदर्शों को मन मे पालते रहे , उनके प्रति हमारी निष्ठा या अनिष्ठा केवल हमारे लिए या समाज के लिए, या मानव-जाति के लिए ही गम्भीरतम चिन्तन का विषय नहीं है, प्रत्युत वस्तुओ की प्रकृति के लिए भी है । यदि नैतिक विचार निर्दोष और सर्वांगपूर्ण है, तो वह नैतिकता को ब्रह्माण्डीय प्रेरणा प्रदान करता है । आदर्शों की सत्यता में जब तक दृढ विश्वास न हो, तब तक नैतिक चेतना नही उत्पन्न हो सकती । यदि सत्य आदर्शों को ही धर्म कहा जाए, तो नैतिक मानववाद को कार्यवाहक धर्म कहना होगा । जब मनुष्य समस्त प्राणी-जगत् के साथ अपनी अनिवार्य एकता का अनुभव करता है, तब वह अपने जीवन मे इस एकता की अभिव्यक्ति करता है । रहस्यवाद और आचारनीति, पारलौकिकता और लौकिक कार्य कन्धे से कन्धा भिड़ाकर चलते हैं । आदिकालीन धर्मों मे हमको यह मेल मिलता है । पारलौकिकता 'मान' के रूप मे दिखाई देती है जिसको असभ्य जगली मनुष्य प्रत्यक्ष ज्ञान-विषय के भीतर तथा दृश्य जगत् की घटनाओ के पीछे छिपी किसी रहस्यमय शक्ति की सहज भावना से प्राप्त करता है । उसको नैतिकता अभिशप्त और वर्जित जान पडती है और वस्तुओ तथा व्यक्तियो मे उसको पवित्रता की भावना अनुभव होती है, जो अपने विधि-निषेधो के द्वारा उसके समस्त आचरण को नियन्त्रित करती है । मानव-जाति के उच्चतर धर्मों मे इन्द्रियातीत के प्रति विश्वास तथा प्राकृतिक जगत् मे कार्य—दोनो का निकट सपर्क मे रहते हुए विकास हुआ है और दोनो मे पारस्परिक क्रिया भी हुई है । इन्द्रियातीत जगत् के चरम सत्यो के प्रति आत्मा की जो प्रवृत्ति, प्रतिक्रिया तथा समन्वयशीलता रहती है, उसीको धर्म कहते हैं । आचारनीति पार्थिव जीवन, विशेषकर मानव-जीवन मे सही सामजस्य को अपना विषय बनाती है । धर्म हो, चाहे आचारनीति, दोनो ही आदर्शों के प्रकाश मे जीवन-यापन करने की इच्छा से प्रेरणा प्राप्त करते हैं । यदि हम 'जो है', उसीसे सन्तुष्ट हैं, तो 'जो चाहिए' का कोई अर्थ हमारे लिए नही है , यदि हम केवल अस्थायी गोचर जगत् के प्राणी हैं, तो हमारे लिए धर्म का भी कोई अर्थ नही है । धर्म का जन्म मनुष्य के इस दृढ विश्वास से होता है कि दृश्य और पार्थिव ससार से परे भी कोई दूसरा ससार है जिसमे मनुष्य का काम पडता है । नीतिशास्त्र चाहता है कि हम दूसरे ससार पर अनिवार्यत दृष्टि रखते हुए इस ससार मे कार्य करें । अपने मन को इन्द्रियातीत लोक मे स्थित रखते हुए हमको अपने यथार्थ जीवन को आदर्श जीवन के निकटतर लाने का प्रयास करते रहना है। केवल धर्म ही आचार-

नीति को आश्वस्त कर सकता है और उसका क्षेत्र-विस्तार कर सकता है तथा मानव-जीवन को एक नया अर्थ प्रदान कर सकता है। हम व्यक्तिगत जीवन और सामाजिक जीवन का नैतिक मूल्याकन केवल इसलिए करते है कि हम सामाजिक प्राणी ही नही है, वरन् आध्यात्मिक प्राणी भी हैं।

यदि कोई सिद्धान्त ऐसा है जो अन्य किसी भी सिद्धान्त की अपेक्षा हिन्दू विचारणा की विशेषता को अधिक प्रकट करता है, तो वह यह विश्वास है कि मानवात्मा की एक आन्तरिक गहराई है, जो साररूप मे अजन्मा, अमर और पूर्णत: सत्य है। मनुष्य की आत्मा उसके अह से भिन्न वस्तु है, यह वह वस्तु है जो व्यक्ति को, उसके अस्तित्व की विस्तृत पृष्ठभूमि को जिसमे सभी व्यक्तियो को प्रश्रय मिलता है, अनुप्राणित और सक्रिय करती है। यह समस्त अस्तित्व का केन्द्र है, यह वह आन्तरिक सूत्र है जिसमे गुथकर ससार का अस्तित्व बना रहता है। मनुष्य की आत्मा मे परस्पर विरोधी प्रवृत्तिया रहती हैं एक है अनन्त के आकर्षण की प्रवृत्ति—उस अनन्त के प्रति जो शाश्वत, अपरिवर्तित, अविकृत तथा ससार के द्वारा अस्पृष्ट होता है, दूसरी प्रवृत्ति है सान्त का सम्मोहन, जो पवनान्दोलित जल-तल की तरह एक क्षण के लिए भी एक-सा नही रहता, जो सतत परिवर्तनशील है। प्रत्येक मनुष्य एक सम्भाव्य आत्मा है और जैसाकि कहा गया है, वह ईश्वर होने की आशा का प्रतिनिधित्व करता है। वह सदा अपना रूप बदलनेवाले बादलो के जमघट या कैलीडोस्कोप के क्रियाकलाप की भाति घटनाओ का केवल आकस्मिक समवाय-मात्र नही है। यदि मनुष्य मे ईश्वर-विषयक अनुभूति न होती, तो इसका मनुष्य के हृदय मे आरोपण उतना ही असम्भव होता जितना पत्थर मे से खून निचोडना। धर्म का मर्म यह है कि मनुष्य वस्तुत एक दूसरी व्यवस्था से सम्बन्धित है और मनुष्य के जीवन का अर्थ इस ससार मे नही मिल सकता, अपितु ऐतिहासिक यथार्थ से परे उसका अर्थ खोजना होगा। ऐतिहासिक आवागमन से, जिसको जन्म और मृत्यु के नाम से जाना जाता है, अपने को छुटकारा दिलाना मनुष्य का उच्चतम उद्देश्य है। जब तक वह ऐतिहासिक प्रक्रिया मे खोया हुआ है और ऐतिहासिक लक्ष्य से भी परे एक चरम लक्ष्य को अपने सामने रखकर वह नही चल रहा है, तब तक वह केवल 'एकजन्मा' है और उसको दु ख-शोक हो सकते है। हमारी आत्माओ के लिए सच्चा वातावरण ऐतिहासिक जगत् से नही, वरन् ईश्वर से प्राप्त हो सकता है। यदि हम इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की उपेक्षा कर दें और आचारनीति या संसारानुराग को धर्म या ससार-विराग से स्वतत्र बना ले, तो हमारे जीवन और विचार कृपाशील बन जाते हैं, यद्यपि यह कृपालुता समाज-सेवा या दानशीलता का रूप ग्रहण कर सकती है। परन्तु, यह अनिवार्यत अपने महत्त्व-स्थापन का ही एक रूप है, इसमे परकल्याण की उतनी चिन्ता नही होती। यदि शुभेच्छा, विशुद्ध प्रेम और वैराग्य हमारे आदर्श हैं, तो हमारी आचारनीति की जड पारलौकिकता की भावना मे होनी ही चाहिए। यह आध्यात्मिक ज्ञान की एक महान शास्त्रीय परम्परा है। यूनान के रहस्यवादी धार्मिक सम्प्रदायो का यह मुख्य सिद्धान्त था कि मनुष्य की आत्मा की उत्पत्ति दिव्यशक्ति से हुई है और वह ईश्वर की आत्मा

से मिलती-जुलती है। स्पष्ट ही, इन रहस्यवादी सम्प्रदायो का प्रभाव सुकरात और प्लेटो पर पडे विना न रहा। जव ईसा निकोडेमस से कहते हैं कि जव तक किसी मनुष्य को ऊपर से जन्म न मिले, तव तक वह ईश्वर के राज्य का न तो दर्शन कर सकता है, न उसमे प्रविष्ट ही हो सकता है[१], जव सेंट पॉल घोषित करते हैं कि "जो देह के लिए वोता है, वह देह के द्वारा भ्रष्टाचार का फल काटेगा, किन्तु जो आत्मा के लिए वीज वोता है, वह आत्मा के द्वारा शाश्वत जीवनरूपी फल प्राप्त करेगा,"[२] तव उनका मतलव यही होता है कि हमारा प्राकृतिक जीवन नाशवान है और पाप तथा मृत्यु के द्वारा आक्रान्त है[3] और आत्मा का जीवन ही ऐसा है जो अमर है। सेंट जॉन प्रथम एपिस्टल मे कहते हैं "ससार तो नष्ट हो जाता है और उसके साथ ही समस्त वासनाए भी, किन्तु जो ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करता है, वह सर्वदा के लिए टिका रहता है।"[४] प्लॉटिनस के अनुसार, हम उभयचर प्राणी हैं। हम पृथ्वी पर भी रहते हैं और आत्मा के ससार मे भी।

[६]

मनुष्य और ईश्वर के अभिन्न सहअस्तित्व तथा अन्तर्व्याप्ति की वात भले ही सत्य हो, परन्तु क्या हिन्दू विचारणा यह घोपित नही करती कि जीवन शून्य और अवास्तविक है तथा इसका कोई प्रयोजन या अर्थ नही है? डॉ० श्वेट्ज़र ने कहा है कि उपनिषदो की दृष्टि मे यह इन्द्रियगम्य ससार एक जादू का नाटक है जिसे विश्वात्मा अपने आनन्द के लिए खेलता है। इस जादुई नाटक मे मनुष्य की आत्मा सम्मोहन के वशीभूत होकर प्रवेश करती है। अपने विपय मे चिन्तन-मनन के पश्चात् वह ससार के भ्रमजाल को समझ जाती है। फिर, यह उस अभिनय मे भाग लेना छोड देती है। यह उस समय तक चुपचाप प्रतीक्षा करती रहती है जिस समय तक मृत्यु आकर उसे दवोच नहीं लेती। इसके वाद इस जादुई नाटक का अस्तित्व उसके लिए समाप्त हो जाता है।[५] "एक ऐसे ससार मे जिसका कोई अर्थ नही है, मनुष्य नैतिक कार्यों मे जुट नही सकता।"[६] "माया के सिद्धान्त मे विश्वास करनेवाले व्यक्ति के लिए आचारनीति का केवल सापेक्षिक महत्त्व ही हो सकता है।"[७] ये कथन किसी भी प्रकार उपनिपदो की विचारधारा का सही प्रतिनिधित्व नही करते। आस्तिकता की एक लम्वी परम्परा इससे विलकुल भिन्न रूप से उपनिपदो का तात्पर्य निकालती है। शकराचार्य ने ही 'माया' का सिद्धान्त प्रतिपादित किया था। उनके विचारो का स्पष्टीकरण डॉ० श्वेट्ज़र के दृष्टिकोण मे हो जाता है, इसमे सन्देह है। धार्मिक अनुभव से जव इस वात की पुष्टि होती है कि विश्व का मूलभूत तथ्य आध्यात्मिक

१ जॉन *iii*, पृष्ठ ५। २. गैलेशियन्स *vi*, पृष्ठ ८। ३ रोमन्स *vi*, पृष्ठ २३।

४. १ जॉन *ii*, पृष्ठ १७।

५. डॉ० श्वेट्ज़र कृत 'इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेंट', अंग्रेजी अनुवाद (१९३६ ई०), पृष्ठ ५९।

६. वही, पृष्ठ ६०। ७ वही, पृष्ठ ६५।

है, तो इसका तात्पर्य यही होता है कि शब्द-व्याप्त तथा इन्द्रियग्राह्य ससार अपने-आपमे अतिम एव पूर्ण नही है। सब प्रकार के अस्तित्व का उद्गम और सहायक परम सत्य सत्ता है जिसका स्वभाव आत्मा है। जिस ससार को हम देखते हैं, वह अपने से भी अधिक वास्तविक एक दूसरे ससार का प्रतीक है। यह एक आत्मिक ससार का प्रतिविम्ब है जो इसको जीवन और महत्त्व प्रदान करता है।

पूर्ण मूलसत्ता (ब्रह्म) का ऐतिहासिक सृष्टि-विकास से और चिरन्तनता का काल से क्या सम्बन्ध है? क्या परम्परा, इतिहास और प्रगति अपने-आपमे सत्य और पर्याप्त हैं, या मनुष्य का गहन अन्तर्बोध सत्य है जो उसको अपरिवर्तनशील विन्दु से चिरन्तन पूर्णत्व तक ले जाता है? चिरन्तन पूर्णता ही इस ससार को सार्थक और समर्थ वनाती है। क्या वह आवागमन सत्य है जिससे हम वच नही सकते, या कोई ऐसी भी चीज़ है जो शाश्वत है? धार्मिक चेतना इस वात का समर्थन करती है कि दृश्य जगत् के पीछे कोई है जो सत्य है, जिसकी अस्पष्ट झलक ही प्राप्त होती है, किन्तु जो आकर्षित भी करता है और अव्यवस्थित भी, जिसके सदर्भ मे इस परिवर्तनशील जगत् को असत्य या अवास्तविक कहा जाता है। हिब्रू लोगो ने ईश्वर की चिरन्तनता के साथ मानव-सतति के तीव्र प्रवाह की तुलना करके उनकी भिन्नता प्रदर्शित की है। "जब पर्वत वनाए गए और तूने यह पृथिवी और यह संसार वनाए, उससे पहले से, हे ईश्वर, तू है।"[1] स्तोत्रकार डेविड अपने ईश्वर को पुकारकर कहता है "वे (आकाश और पृथिवी) वदल दिए जाएगे, किन्तु तू तो सदा वही का वही रहेगा और तेरी आयु अनन्त होगी।"[2] ईसाई चिल्ला-चिल्लाकर कहता है. "जो वस्तुए आखो से दिखाई देती हैं, वे नाशवान हैं, क्षणिक हैं, किन्तु जो वस्तुए दिखाई नही देती, वे चिरन्तन हैं।"[3] विश्व-साहित्य मे पदार्थों की परिवर्तनशीलता या अस्थिरता का जो उल्लेख होता आया है, उससे वही तात्पर्य निकलता है जो 'माया' शब्द से। पादरी-पुरोहितो का यह कथन कि "काल और सयोग के ग्रास सभी वनते हैं" एक ऐसी टेक है जिसे हम वहुधा सुनते रहते हैं।[4]

१. साम्स *xc*, पृष्ठ २। २. साम्स *cii*, पृष्ठ २६, २७। ३. २ कोरिन्थियन्स *iv*, पृष्ठ १८।

४. शेक्सपीयर अपने ६५वें सॉनेट 'Since brass, nor stone . but Time decays ?' में वस्तुओं की नश्वरता के विषय में कहते हैं

"क्योंकि न तो पीतल, न पत्थर, न पृथ्वी, न अनन्त सागर,
वरन् दुखद मर्त्यता उनकी शक्ति को विजित कर लेती है,
इस क्रोध के ज्वार को वेचारी सुन्दरता झेल कैसे सकेगी,
जो खुद फूल से भी अधिक नाज़ुक है!
तोड़-फोड़कर चकनाचूर कर देनेवाले दिनों की घेरेबन्दी के विरुद्ध
वेचारे ग्रीष्म की मधुरवासें कब तक मोरचा ले सकेंगी?
अभेद्य चट्टानें तक इतनी दृढ़ नहीं,
न इस्पात के दरवाजे ही इतने मजबूत हैं,
कि समय के ह्रासकारी प्रभाव से बच सकें, बचा सकें।"

मिल्टन 'Then all this earthly grossness quit Chance and thee, O Time' में लिखते हैं:

गौडपाद तर्क देते हैं कि "जो चीज़ आदि और अन्त मे अस्तित्व मे नही है, उसका अस्तित्व मध्य मे भी नही होता।"[1] दूसरे शब्दो मे इसका अर्थ हुआ कि सासारिक पदार्थ शाश्वत नही हैं। समार माया है अर्थात् वह विनाश को प्राप्त हो जाता है, किन्तु ईश्वर शाश्वत है। परिवर्तन, आकस्मिकता और सक्रियता आदि सान्त बातें हैं और शाश्वत इनसे ऊपर उठा हुआ है। ईश्वर विश्व की व्याख्या करनेवाला अथवा मानव-समाज को समुन्नत करनेवाला एक साधन-मात्र नही है।

'माया' के सिद्धान्त को व्यवस्थित रूप देने का श्रेय जिनको है, वे शकराचार्य भी कहते हैं कि सर्वोच्च सत्ता अपरिवर्तनशील होती है[2], अत मानव-इतिहास जैसी परिवर्तनशील सत्ता मे पारमार्थिक सत्ता नही है। फिर भी, वे हमे उस वस्तु को, जो पूर्णत सत्य नही है, नितात मायिक या भ्रमपूर्ण मान लेने के विरुद्ध चेतावनी देते हैं। संसार की व्यावहारिक सत्ता है जो प्रातिभासिक सत्ता से बिलकुल भिन्न है। मानवीय अनुभव न तो अन्तत सत्य है, न पूर्णत भ्रमात्मक। केवल इसीलिए कि आनुभविक ससार सत्य का पूर्ण रूप नही है, यह अर्थ नही निकलता कि यह मिथ्या

"तारों के झिलमिल वस्त्र पहने
जब पार्थिव स्थूलता और प्रचुरता यहा से विदा हो लेंगी,
उस समय भी हम सदा-सदा के लिए बने रहेंगे
और ओ मृत्यु, संयोग और समय!
हमारी विजय-पताका तुमपर लहराती ही रहेगी।"

'एडोनाइस' में शैले की ये पक्तिया 'Life, like a dome ,Death tramples it to fragments' बहुत प्रसिद्ध हैं

"जीवन बहुरगी शीशों के गुम्बद की तरह
चिरन्तनता की शुभ्र प्रभा को बदरग कर देता है,
और तभी आती है मृत्यु,
जो इस गुम्बद को टूक-टूक कर देती है।"

ऐसे ही किंग्सले 'They drift away Thou wilt not drift away' पक्तियों में कहते हैं

"वे विचलित होते हैं, निरन्तर विचलित ही होते रहते हैं, हे ईश्वर,
मैं देखता हूँ सरिता सागर की ओर बढती ही जाती है,
" ईश्वर! हे मेरे ईश्वर! एक तू ही है जो
कहीं नहीं जाएगा, कहीं नहीं हटेगा।"

कभी-कभी हम फेबर के 'O Lord, my heart is sick. Thy mute eternity' शब्दों के साथ कह उठते हैं

"हे प्रभु, मेरा हृदय ऊब चुका है,
ऊब चुका हू मैं इस अनन्त परिवर्तन से;
और जीवन है कि अपनी अविश्रान्त भाग-दौड़ और विविध विस्तार में
बड़ी तीव्र गति से प्रधावित है।
परिवर्तन को तुझमें अपना कोई सादृश्य नहीं मिलता,
और तेरी मूक शाश्वतता में उसकी कोई प्रतिध्वनि नहीं होती।"

१. "आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।" 'कारिका ऑन माण्डूक्य उपनिषद्', ii, ६।
२ दैवी-सदेश वाले दसवें अध्याय में स्वर्गदूत कहता है "अब काल अनावश्यक है।"

है, प्रपच है और इसका कोई महत्त्व नही है। ससार भले ही सत्य नही है, परन्तु यह छायाभास (फैण्टम) भी नही है।[1] ब्रह्म को 'सत्यस्य सत्यम्'—सत्य का भी सत्य कहा जाता है। सभी वस्तुगत चेतना मे, हम एक प्रकार से सत्य के प्रति जागरूक रहते हैं।

इसी प्रकार सभी प्रकार के ज्ञान यह मानकर चलते हैं कि ज्ञाता की स्थिति मे सातत्य है, जबकि ज्ञेय की स्थिति मे अस्थिरता है। जब प्लेटो यह कहते हैं कि हम सार्वभौम विचारो को अपने साथ उस ससार से लेकर आते हैं जिसमे हम अपने जन्म के पूर्व रहते थे, तब उनका सकेत हमारी अदृश्य तथा कालातीत अन्त शक्ति की ओर होता है जो इस दृश्य जगत् से भिन्न किसी ससार से सम्बन्धित होती है। जो मेधा-शक्ति अनुभव के तथ्यो को सगठित करती है और उनकी व्याख्या करती है, वह स्वय अनुभव के तथ्य नही होती। उसका सम्बन्ध किसी अन्य ससार से ही होना चाहिए और उसकी उत्पत्ति भी उसीसे होनी चाहिए। यह अपने स्वभाववश चिरन्तन सत्यो का दर्शन कर लेती है। हमारे भीतर इसकी उपस्थिति इस बात का आश्वासन है कि हम सत्य के सम्पर्क मे हैं। *आत्मा ही सत्य यथार्थ है और शेष सब इसकी सीमित क्रियाए हैं।* आत्मा विशुद्ध अस्तित्व है, यह आत्मचेतन, स्थानातीत, कालातीत और निरुपाधि है, यह अपने अस्तित्व के लिए पदार्थों के अपने ज्ञान पर निर्भर नही है, इसका आनन्द बाह्य पदार्थों के स्थूल सस्पर्शों पर निर्भर नही करता। यह प्राणी-समुदाय मे विभाजित नही होती। शकराचार्य के अद्वैतवाद की मुख्य स्थापना यह है कि व्यष्टिगत आत्मा और ब्रह्म मे अभेद-स्थिति है। भेद या नानात्व की बात को सत्य नही मानना चाहिए। इसका आत्मविभेदी स्वभाव यह सूचित करता है कि यह केवल देखने को ही सत्य जान पडता है। अद्वैत विचारधारा को माननेवाले सभी सम्प्रदाय इन दो परिकल्पनाओ के विषय मे सहमत हैं। मतभेद तो तब खडे होते हैं जब नाना नामरूपात्मक ससार की यथार्थता को सत्य से भिन्न बतलाकर वर्णन किया जाता है। शकराचार्य ससार की व्यावहारिक सत्ता को स्वीकार करते हैं। इस व्यावहारिक सत्ता को तभी अस्वीकार किया जा सकता है जब सबके एकत्व की पूर्ण अन्तर्दृष्टि या अन्त प्रेरणा हमारे भीतर आ जाए। जब तक ऐसा हो नही जाता, तब तक इसकी आनुभविक वैधता है या फलमूलक औचित्य। ऐसे अद्वैतवादी भी हैं जो यह तर्क देते हैं कि भेदमूलक ससार को तो आनुभविक वैधता भी नही प्राप्त है। फिर भी, शकराचार्य का कथन है कि जब तक हम माया के जगत् मे रह रहे हैं और जब तक हमारे दृष्टिकोण द्वैतमूलक हैं, तब तक संसार से पीछा नही छूट सकता, वह हमारे ऊपर छाया हुआ है और हमारी अनुभूतिया तथा आचरण उससे निर्धारित होते हैं।

इसके अतिरिक्त, जिस ससार को हम देखते और छूते हैं, वह स्वतन्त्र तथा

१. यहा तक कि गौडपाद ने भी कहा है . "मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थत ।" यह द्वैत चमत्कारिक है, अलौकिक है, अद्वैत ही सर्वोपरि सत्ता है (१, १७)। माया अस्तित्वहीन है। "अस्तित्व-हीन का जन्म न तो वास्तव में हो सकता है और न माया के माध्यम से ही। ऐसा इसलिए कि बध्या का पुत्र न तो वास्तव में हो सकता है और न माया के माध्यम से ही" (३, २८)।

आत्मभरित नही है। यह अपनी कोई व्याख्या प्रस्तुत नही करता। यह एक ऐसा ससार है जो हमारी मनोदशा को प्रतिविम्बित करता है, यह ससार आत्मचेतन वैयक्तिकता की लालसाओ तथा इच्छाओ से विवश होकर अपर्याप्त आकडो के आधार पर निर्मित एक अपूर्ण सरचना है। यहा हमको वही चीजें दिखाई देती हैं जिनको देखने में हमारी रुचिया हैं और वही चीजें सार्थक जान पडती हैं जिनको समझने-बूझने की शक्ति हममे है। हमारी लालसाए हमारी समझ-बूझ से सीमित हैं, अत हमको जो ससार दृष्टिगत होता है, वह सामान्य बुद्धि की समझ मे आनेवाला ससार है। ब्रह्माण्ड के प्रत्यक्ष तथ्यो को ही लीजिए। पदार्थ कोई आद्य वस्तु नही है, वरन् निर्मित वस्तु है, वह स्वयभू नही है। यह असत्य नहीं है, अपितु हमारी इन्द्रियो के अनुभव मे आता है। यह एक कपोलकल्पित कथा नही है, वरन् अपने-अपने निम्नतम रूप मे यह सत्य का भ्रान्त-निरूपण है और अपने उच्चतम रूप मे सत्य का अपूर्ण निरूपण अथवा सत्य की निम्नस्तर पर अवतारणा है। जिस प्रकार हमारे ज्ञान से तात्पर्य है एक सतत चेतना, उसी प्रकार हमारे ज्ञान के विपय से तात्पर्य है हमारे विशुद्ध अस्तित्व की सत्यता। हम किस मात्रा मे चैतन्य हैं, यह इससे पता चलता है कि हम इस विश्व के सम्बन्ध मे कैसी धारणा रखते हैं। हमारी चेतना का विस्तार जितना बढता जाता है, उतनी ही अधिक स्पष्टता से हम विश्व का दर्शन कर सकते हैं। हम इस समय अशत मनुष्य के रूप मे और अशत पशु के रूप मे देखते है। कभी-कभी तो ससार आत्मतोप के रूप मे देखा जाता है और कभी वह कुतूहल तथा ध्यान-चिन्तन की वस्तु माना जाता है। इसको सच्चे रूप मे देखने के लिए मनुष्य को इन्द्रियासक्ति से अपने को मुक्त करना होगा और अपनी चेतना की सारी शक्ति सत्य के स्वरूप को समझने मे लगा देनी होगी। यही एक मार्ग है जिससे हम सत्य की स्पष्ट चेतना—जैसी भी वह है—को उपलब्ध कर सकते हैं और छिटपुट झाकिया लेने के वजाय हम ससार की सही तस्वीर देख सकते हैं। जो ज्ञान हम अपनी ज्ञानेन्द्रियो और बुद्धि के माध्यम से प्राप्त करते हैं, उसको पूर्ण या निर्दोप नही माना जा सकता। उसमे असत्याभास तथा असगति का दोप आ जाता है। अविद्या की शक्ति के द्वारा हम एक ही सत्य पर ससार की विविधता को लाद देते हैं। जीव जो एक होता है, आत्मा को बहुविध दिखाई देता है और आत्मा अपने को ससार मे जन्म और मृत्यु की शृखला मे उलझी हुई दिखाई देती है। मानव-मन के लिए अविद्या नैसर्गिक है और ससार मूलत इससे सम्बन्धित है। अत यह जाग्रत्स्वप्न ही नही है।

'माया' आत्मवाद नही है। यह नही कहती कि सूर्य और विश्व किसी एकाकी मन के आविष्कार हैं। शकराचार्य विज्ञानवाद या मन वाद के विरुद्ध हैं। उनका तर्क है कि जारिगतावस्था के अनुभव स्वप्नावस्था के अनुभवो से अलग होते हैं, यद्यपि दोनो मे से कोई भी आध्यात्मिक दृष्टि से सत्य नही समझा जा सकता। जागरितावस्था मे अनुभव होनेवाला हमारा यह ससार परम सत्य नही है, किन्तु यह छाया-दर्शन भी नही है। हम अपने अतिरिक्त कुछ ऐसी चीजो से घिरे रहते हैं जिनको हम अपनी चेतना की दशाओ मे परिवर्तित नही कर सकते। यद्यपि ससार सतत परिवर्तनशील

तो यह मानना पडेगा कि एक पूर्ण या निर्दोष कर्ता ने एक अपूर्ण या सदोष वस्तु को उत्पन्न किया है। यदि यह अच्छी है, तो यह नई नही है, क्योकि पूर्णता की परिभाषा ही यह है कि जो कुछ अच्छा है वही पूर्ण है, निर्दोष है। यदि यह कहा जाता है कि ईश्वर अपनी सृष्टि के बिना पूर्ण नही है और उसकी (ईश्वर की) पूर्णाभिव्यक्ति के लिए सृष्टि आवश्यक है, तो यह मानना पडेगा कि ईश्वर पूर्ण या परम सत्य नही है। ईश्वर और ससार—दोनो मिलकर ही पूर्ण सत्य का निर्माण करते है। अकेला ईश्वर अपूर्ण है। कोई सत्ता, जो पूर्ण और चिरन्तन हो, खण्डनीय एव पार्थिव वस्तु पर निर्भर नही कर सकती। यदि ईश्वर के लिए सृजन करना एक अनिवार्य धर्म है, तो वह आराधको या भक्तो का आश्रित है, अत वह पूजा का पात्र नही वन सकता। और यह सव होते हुए भी, एक परिवर्तनशील ससार है जो एक अर्थ मे ईश्वर से भिन्न है। ईश्वर और ससार दोनो ही सत्य कैसे हो सकते हैं? यदि ससार के बिना ही ईश्वर एक पूर्ण सत्य है, तो कोई दूसरी चीज उत्पन्न ही कैसे हो सकती है?

शकराचार्य ने सृष्टि और स्रष्टा के पारस्परिक सम्वन्ध की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, उसमे उन्होने स्वीकार किया है कि विश्व पूर्ण ब्रह्म का आश्रित है, पर पूर्ण ब्रह्म विश्व का आश्रित नही है, वह उसपर निर्भर नही करता। आविर्भाव या 'परिणाम' तथा एकपक्षीय निर्भरता या 'विवर्त' के वीच अन्तर किया गया है। निर्भरता के प्रकार का स्पष्टीकरण करने के लिए जो उदाहरण दिए गए है, उनसे ससार-विषयक मायिक सिद्धान्त का सकेत मिलता है। जिस प्रकार रस्सी से साप का भ्रम हो जाता है, चमकीले वालुकाकणो की मरीचिका से पानी का भ्रम होता है और सीपी से चादी का भ्रम होता है, उसी प्रकार यह जगत् भी पूर्ण ब्रह्म का भ्रमात्मक रूप है। इन उदाहरणो को देने का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि प्रातिभासिक वस्तुओ की उत्पत्ति और समाप्ति का उन मूल वस्तुओ पर कोई प्रभाव नही पडता जिनका प्रतिविम्व वे प्रातिभासिक वस्तुए होती हैं। रूपान्तरण मे तो पदार्थ मे आमूलचूल परिवर्तन हो जाता है। जब कार्य नष्ट हो जाता है, तव उसका कारण तो अपने-आप नष्ट हो जाता है। यदि पूर्ण ब्रह्म का रूपान्तरण ससार के रूप मे हो जाए, तो अमर नश्वर वन जाएगा।[1] इसलिए यह कहा जाता है कि ब्रह्म स्वय एक से अनेक नही वन जाता, अपितु 'माया' के द्वारा अनेक हुआ प्रतिभासित होता है। अरस्तू ने कहा है कि ससार ईश्वर पर निर्भर करता है, यद्यपि ईश्वर इस वात से पूर्णत अनभिज्ञ और अप्रभावित रहता है। पार्थिव जगत् को देखने से यह जान पडता है मानो वह सचमुच ही चिरन्तन सत्ता का रूप है, हालाकि उसमे न तो चिरन्तन सत्ता होती है, न चिरन्तन उसमें सम्पूर्ण रूप से व्यक्त हो पाता है। चिरन्तन सत्ता पार्थिव जगत् से एकाकार होकर उसकी प्रक्रिया मे भाग नही लेती। हम पार्थिव जगत् के माध्यम से ही चिरन्तन ब्रह्म के दर्शन कर पाते हैं, परन्तु यह दर्शन साक्षात् रूप से, आमने-सामने नही होता, अपितु अवगुठन के भीतर से होता है। सृष्टि मूल सत्ता (स्रष्टा) का अपूर्ण एव सदोष प्रतिनिधित्व ही

१. "मर्त्यताममृत व्रजेत्।" गौडपाद ('कारिका ऑन माण्डूक्य उपनिषद्', iii श्लोक १६); iii, श्लोक १०-४, iv श्लोक ६-८ भी देखिए।

कर सकती है। विवर्त (एकपक्षीय निर्भरता) का यह सिद्धान्त ईश्वर और ससार के मध्य अन्तर्वर्ती सम्बन्ध-विपयक विचारो के, जो आजकल लोकप्रिय हैं, विपरीत जाता है। ईश्वर के जीवन मे विकास का समावेश कर दिया गया है। विलियम जेम्स का विचार तो यह है कि "हमारी भक्ति के कारण ईश्वर को भी भारी शक्ति प्राप्त हो सकती है और उसकी सत्ता तक का विस्तार हो सकता है।"[1] वर्गसन जिसको जीवनी-शक्ति मानते हैं और अलेक्जैण्डर जिसको आविर्भूत देवता कहते हैं, वे सान्त आत्म-शिक्षक देवता ही हैं। निकोलस वरदेव के विचार मे तो इतिहास की प्रक्रिया का सम्वन्ध ईश्वर की अन्तरतम की गहराइयो से है।[2] उनका विचार है कि ईश्वर मे भी परि-वर्तन हो सकने की सम्भावना है और उसे दु ख या पीडा भी व्यापती है। हिन्दू विचारणा पूरी दृढता से इस वात का प्रतिपादन करती है कि जागतिक परिवर्तन पूर्ण ब्रह्म की अखण्डता या पूर्णता को किसी रूप मे प्रभावित नही करते। विकास और नव्यता का भी अस्तित्व तो है, किन्तु उनका सम्वन्व केवल ब्रह्माण्डीय पक्ष से है और उनका कार्य है ब्रह्म की निर्विकल्प उपस्थिति की अभिव्यक्ति करना, परन्तु ब्रह्म को उससे कुछ प्राप्त नही होता। अद्वैत वेदान्त यह घोषित करता है कि यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म का अतिम या एकमेव लक्ष्य नही है, ब्रह्म तो अपनी सृष्टि से सर्वथा स्वतन्त्र रहता है। जव हम ब्रह्म को ब्रह्माण्डीय पक्ष से देखते हैं—वह स्वत जैसा है, उस दृष्टि से न देखकर, ससार के सदर्भ मे वह कैसा जान पडता है, इस दृष्टि से देखते हैं—तव ब्रह्म की कल्पना ईश्वर या इष्टदेव के रूप मे की जाती है जो स्वरचित सृष्टि की प्रक्रिया का मार्गदर्शन तथा निर्देशन करता है। उपनिपदो मे कहा गया है कि ब्रह्म व्यावहारिक सत्ता से विलकुल परे रहता है। वह स्वत पूर्णत्व है, यद्यपि उसको भी व्यक्तित्व प्रदान कर दिया गया है। शकराचार्य ने वतलाया है कि उपनिपदो मे दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त हैं, एक तो इस गुह्य सत्य को प्रकट करता है कि ब्रह्म निर्वैयक्तिक है, वह अज्ञेय निरुपाधि ब्रह्म है, दूसरा सिद्धान्त सामान्य लोगो के लिए सुवोघ है, और वह यह है कि ब्रह्म ही ईश्वर है जो विश्व के रूप मे अपनी अभिव्यक्ति करता है। उपनिपदो का विश्वाम था कि सिद्धान्त केवल एक है। आस्तिकवादी दर्शन ब्रह्म को वैयक्तिक ईश्वर (ईष्टदेव) के रूप मे कल्पित करता है। शकराचार्य का कथन है कि निर्वैयक्तिक ब्रह्म, जो शव्दातीत और विचारातीत है, ज्ञान की सीमाओ से सम्वद्ध होकर वैयक्तिक ईश्वर वन जाता है।[3] ईश्वर की अपनी सत्ता मे कुछ ऐसे चिरन्तन मूल्य हैं जिनको मानव-इतिहास स्थान, काल और कारण के स्तर पर मूर्त करने की चेप्टा करता है। सृप्टि ईश्वर की सत्ता का एक आवश्यक अग है। ईश्वर को अपनी सत्ता की पूर्णता के लिए सृप्टि की आवश्यकता है। आत्मचेतन ईश्वर, जिसको ईमाई 'गॉड' कहकर पुकारते हैं, एक महान मायावी है जिसने ससार की उत्पत्ति की है। संसार की जडें ईश्वर मे हैं।

लीला की उपमा का उपयोग यह दिखाने के लिए किया जाता है कि विश्व

१. 'द विल टू विलीव, एण्ड अदर एसेज' ।

२. 'द मीनिंग ऑव हिस्ट्री', अग्रेजी अनुवाद (१९३६), पृष्ठ ४५–६ ।

३ 'कमेण्टरी ऑन ऐतरेय उपनिषद्', ए, श्लोक ३ ।

मे ईश्वर मुक्तभाव से ओतप्रोत है। इसका यह अर्थ नही कि सर्वकाल मे जो कुछ घटित हो रहा है, उसमे कोई वास्तविकता या महत्त्वशीलता नही है। यह ससार ईश्वरीय प्रकृति की सबसे पूर्ण अभिव्यक्ति है। गौडपाद ने सृष्टि-रचना के विभिन्न सिद्धान्तो का उल्लेख किया है। कुछ ईश्वर की चमत्कारिक शक्ति–'विभूति'–को इसका कारण बताते हैं, दूसरे इसे स्वप्न और माया की सी प्रकृति का मानते हैं—'स्वप्नमायासरूप', कुछ यह मानते है कि ईश्वर ने इच्छा-मात्र से सृष्टि की रचना कर दी—'इच्छामात्र प्रभो सृष्टि', दूसरे कुछ लोग काल (समय) से सभी प्राणियो का उद्भव मानते हैं—कालात्प्रसूर्ति भूतानाम्'। कुछ का विचार है कि सृष्टि ईश्वर के आनन्द के लिए—'भोगार्थम्'—है, अन्य कुछ लोग मानते हैं कि उसने केवल मन वहलाने के लिए—'क्रीडार्थम्'—सृष्टि की रचना की। किन्तु, सत्य यह है कि सृष्टि का स्वभाव भी वही है जो परमेश्वर का, क्योकि जो स्वय पूर्णकाम है, उसकी इच्छा ही क्या हो सकती है?[1] लीला की उपमा यह नही सुझाती कि यह विश्व कोई निरर्थक तमाशा है जो विनोद के क्षणो मे किया गया है।[2] ससार की रचना ईश्वर ने अपने प्रभूत आनन्द के लिए की है।[3]

[८]

डॉ० श्वेट्ज़र का कथन है कि "यदि ससार की सत्यता से इन्कार किया जाता है, तो आचारनीति का किंचित् भी महत्त्व नही रह जाता। मनुष्य के लिए केवल एक काम रह जाता है कि वह भौतिक ससार मे विश्वास करने के मिथ्यात्व को समझ जाए।"[4] इसके अतिरिक्त "माया के सिद्धान्त मे विश्वास करनेवाले व्यक्ति के लिए आचारनीति का केवल सापेक्षिक महत्त्व ही हो सकता है।"[5] उनका दूसरा कथन पहले कथन से कुछ भिन्न है, क्योकि यह आचारनीति का माया के सिद्धान्त से अविरोध प्रमाणित करता है, यद्यपि पहला कथन दोनो मे किसी प्रकार की सगति का होना स्वीकार नही करता। जहा यह सिद्धान्त वतलाता है कि ससार रहने योग्य स्थान नही है, वहा इसका मन्तव्य यह भी है कि यदि सासारिक जीवन आध्यात्मिक आदर्शों के द्वारा निर्देशित होता हो, तो यह जीने योग्य है। मानवता की सेवा मे हमे तभी उत्साह अनुभव हो सकता है जब हमारी आस्था एक इन्द्रियातीत लक्ष्य मे हो। आध्यात्मिक श्रद्धा या ज्ञान के विना केवल नैतिकता से हमको सन्तोष नही मिल सकता।

ज्ञान—अर्थात् माया के धोखे मे न आना—मनुष्य का आध्यात्मिक प्रारब्ध है।

१. "देवस्यैष स्वभावोयमाप्तकामस्य का स्पृहा" ('कारिका', १, ७–९)। गौड़पाद ने इस सिद्धान्त को कि संसार स्वप्नवत् या मायावत् है, अस्वीकार कर दिया है।

२. कुरान पूछता है "क्या तू यह समझता है कि मैंने आकाश और पृथ्वी की रचना केवल विनोद के क्षणों में कर दी?"

३. तुलना कीजिए "सृष्ट्यादिक हरिर्नैव प्रयोजनमपेक्ष्यतु।
कुरुते केवलानन्दाद् यथा मत्तस्य नर्तनम्॥"

४. डॉ० श्वेट्ज़र कृत 'इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेंट', अ० अ० (१९३६), पृष्ठ ६०।

५ वही, पृष्ठ ६५।

आचारिक अच्छाई से ज्ञान कुछ वढ-चढकर ही है, यद्यपि इसके बिना ज्ञान की प्राप्ति नही हो सकती। ज्ञान और आचारिक अच्छाई के वीच वही अन्तर है जो पूर्णता और प्रगति मे है, जो चिरन्तन जीवन और पार्थिव विकास मे है, जो कालस्थगिति और कालविस्तृति मे है। एक तो मानव-स्वभाव का सुधार है और दूसरा उसका पुनर्नवीकरण। वादल जिस विन्दु पर क्षितिज को स्पर्श करते हैं, उस तक दौडकर पहुचने की हमारी चेष्टा यदि सफल हो सके, तो प्रगति के द्वारा पूर्णता तक पहुचने की हमारी चेष्टा भी सफल हो सकती है। परन्तु, हम जानते हैं कि यह असम्भव वात है।

प्राचीन ऋपि याज्ञवल्क्य ने मोक्षमार्ग का अनुसरण करने के निमित्त अपनी समस्त सम्पत्ति का परित्याग कर दिया और उसे अपनी दोनो पत्नियो को सौंप दिया। किन्तु उनकी विदुषी पत्नी मैत्रेयी ने इन शव्दो के साथ उस सम्पदा को अस्वीकार कर दिया : "यदि मैं इस धन-सम्पत्ति के द्वारा शाश्वत जीवन की उपलव्धि नही कर सकती, तो इसका मेरे लिए क्या उपयोग है?"[1] सव प्रकार की क्रिया केवल नश्वर वस्तुओ की ही सहायता करती है, पूर्णत्व को प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाला सावक इससे सन्तुष्ट नही होता। एक प्रसिद्ध सस्कृत श्लोक मे यह प्रश्न किया गया है : "मनुष्य के पास यदि इतना धन है कि वह अपने उद्देश्यो की पूर्ति कर सके, तो इससे क्या? यदि वह अपने शत्रुओ को हरा देता है, तो इससे भी क्या? अपने मित्रो को नाना प्रकार की भेंट देकर सहायता करने से भी क्या? यदि वह सशरीर अनन्तकाल तक जीवित भी रहे तो क्या?"[2] हम पूर्णता को तो तभी प्राप्त कर सकते हैं जव हम स्वार्थपरता पर विजय पा लें। नैतिक आचारो को पालनेवाला मनुष्य स्वार्थपरता से तो सघर्ष करता है, किन्तु हर समय अस्मिता के भ्रम के अन्तर्गत रहकर कार्य करता है। साधु पुरुप "विश्वात्मा के सत्य से अपने को आच्छादित कर लेता है।" यदि हम असत्य को अपना आधार वनावें, तो हम भले ही पहले से अच्छी या वुरी प्रगति करें, किन्तु पूर्णता तक हम नही पहुच सकते।

वैविध्य को अन्तिम या पूर्ण माननेवाला विचार माया है, क्योकि यह अलग और स्वतन्त्र जीवन विताने की कामना हममे उत्पन्न करता है। माया के प्रभाव मे होने पर हम अपने को पूर्णत भिन्न सत्ताए मान लेते हैं, हम दूसरो के साथ वहुत कम सहयोग करते है और वैयक्तिकता को भूल से पृथक्ता मान लेते हैं। हम नही जानते कि देश-काल से सीमित हमारे इस जीवन के लिए वैयक्तिकता कितनी आवश्यक है। हम अपने अलग अस्तित्व की कठोर रूपरेखा को खोना नही चाहते। माया हमे परात्पर अनुगामी और सीमावद्ध ससार मे उलझाए रखती है। यह हमारी आत्माओ मे एक प्रकार की वेचैनी और हमारे रक्त मे उत्ताप उत्पन्न करती है। जो वुद्वुद टूट

१. "येन नामृतास्या, किं तेन कुर्याम्"।

२ "प्राप्ताश्श्रियस्सकलकामदुघास्ततः किं,
न्यस्त पद शिरसि विद्विषता तत किम्।
सम्पादिता प्रणयिनो विभवैस्तत किं,
कल्प स्थित तनुभृता तनुभिस्तत किम् ॥"

जानेवाले हैं और जो मकडी के जाले तीन-तेरह हो जाने को हैं, उनको सत्य समझने का प्रलोभन यह माया हमे देती है। यह हमारा मुखौटे लगाना, यह हमारा जागतिक अभिनय, हमारा यह कठपुतली का सा नृत्य भ्रम से सच समझ लिया जाता है। हम यह भूल जाते हैं कि हम परस्पर आत्मिक रूप से उससे कही अधिक निकटता से सम्बद्ध हैं जितना हम समझते हैं। यदि यह ऐहिक जीवन ही सब कुछ होता, यदि इस प्रकाशोज्ज्वल रगमच पर हमारी अल्पकालिक स्थिति ही महान वास्तविकता होती, यदि कोई अदृश्य जगत् न होता, यदि हमारे मनो मे महत् सहयोग न होता, यदि आत्मा की साहसिक उपलब्धियो के हम सब सहभागी न होते, तो हम कदाचित् यह अनुभव न कर पाते कि हम एक अभिशप्त ससार के चलते-फिरते प्राणी हैं। जब हम अपनी तुलना उन लोगो के साथ करते हैं, जिन्होने सत्य का साक्षात्कार कर लिया है, जिन्होने वस्तुओ की वास्तविकता जान ली है, जिनको हम जाग्रत् आत्माए कहते हैं, तब हमे लगता है कि हम निद्रित अवस्था मे चलने-फिरनेवाले आदमी हैं। गेटे ने एक स्थल पर कहा है कि भ्रान्ति और सत्य के बीच वही सम्बन्ध है जो निद्रा और जागरण के बीच है। भगवद्गीता मे भी कहा है "जब अन्य प्राणी जागते रहते हैं, तब उसको सयमी पुरुष अपनी रात समझता है।"[1] कोई व्यक्ति सत्य को किस सीमा तक समझ सका है, सीधे उसी अनुपात मे उसके जाग्रत् होने की सचाई जानी जा सकती है। ज्ञान मुक्त करता है, जबकि अज्ञान बधन मे डालता है। पूर्णत्व प्राप्त करने के लिए आन्तरिक परिवर्तन अनिवार्य है। डॉ० श्वेट्ज़र की यह शिकायत है कि यह आत्मज्ञान या अनन्त सत्ता के साथ एकात्म होना "एक विशुद्ध आत्मिक क्रिया है जिसका आचारनीति से कोई सम्बन्ध नही है।"[2] अज्ञान की ओर से ज्ञान की ओर बढने का नाम ही प्रगति है। यह ज्ञान केवल बौद्धिक नही होता, ठीक वैसे ही जैसे अज्ञान केवल विभ्रम नहीं होता। अविद्या और काम एक ही कार्य-व्यापार के दो रूप हैं। पतजलि ने कहा है कि अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एव अभिनिवेश-जनित जितने भी कार्य हैं, वे मनुष्य को जन्म और मृत्यु के चक्र से बाधनेवाले हैं। ये पाचो ही मूलभूत अविद्या या अज्ञान की विभिन्न अभिव्यक्तिया हैं। मनुष्य जब वासना-रहित हो जाता है और स्वार्थपूर्ण राग-भावना से ऊपर उठकर कार्य करता है, तभी वह वस्तुत मुक्त हो पाता है। हमारा अह हममे सतत वर्तमान अज्ञान की ग्रन्थि है। जब तक हम अहमस्मिता के फेर मे रहते हैं, तब तक विश्वात्मा के आनन्द के सहभागी नही बन पाते। हमारा अह शरीर, जीवन और मन की दीवारो के भीतर कैद रहता है, जब तक हम अपने इस अह को लेकर अपने को दूसरो से अलग समझते रहेगे, तब तक हम सत्य को नही समझ सकते। सत्य को समझने के लिए हमे अहमस्मिता का त्याग करना होगा। हमे सकुचित विचार-क्षितिज, स्वार्थपूर्ण रुचि और मिथ्या प्रयोजन को तिलाजलि दे देनी चाहिए। यह एक आचारशास्त्रीय प्रक्रिया है। सत्य का साक्षात्कार केवल वही लोग कर सकते हैं जो अच्छाई

१. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ६९।
२. 'इण्डियन थॉट एण्ड इट्स डेवलपमेंट' (अंग्रेज़ी अनुवाद), १९३६ ई०, पृष्ठ ४३।

को प्यार करते हैं। साथ ही, यह बात भी है कि केवल निरपेक्ष ज्ञान के द्वारा माया के फन्दे से नही छूटा जा सकता। बौद्धिक प्रगति मिथ्या कल्पनाओ और छायाभासो, भ्रान्तियो और व्यामोहो के मानसिक वातावरण को स्वच्छ करने मे हमारी सहायता करती है। इन बाधाओ के दूर हो जाने पर आत्मा का सत्य उद्भासित होता है। यह सत्य स्वावलम्बी, निरपेक्ष और असदिग्ध होता है तथा यह हमारे समग्र जीवन-क्षितिज को आपूरित कर देता है। आन्तरिक परिवर्तन होने पर ही आत्माए चिरन्तन जीवन के उपयुक्त बन पाती हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी है कि हमारा सत्य-बोध तब तक अन्तिम नही होता जब तक वह पूर्ण न हो जाए। इसे हमारे समस्त स्वभाव, विचार, अनुभूति और इच्छा मे ओतप्रोत हो जाना चाहिए। जहा कही सत्य-बोध विचार, अनुभूति और इच्छा के क्षेत्र मे आशिक होता है, वहा शान्ति और विश्रान्ति के मध्य भी मनुष्य को अशान्ति और असतोष ही मिलते हैं। अपने भीतर जो कुछ अपवित्र और स्वार्थमय है, उसको दूर फेंककर अपने ऊपर ईश्वर का पूर्ण नियत्रण स्वीकार करने का प्रयत्न साधक करता है। इसके लिए उसे पूरी चेष्टा करनी पडती है। 'विद्या' की प्राप्ति सरलता से नही होती। इसको कठिन बलिदान, अनुशासन, सघर्ष तथा पीडा की सहनशीलता से उपलब्ध किया जाता है। जीवन को पूर्ण और निर्दोष बनाकर इसको पाया जा सकता है। मानवात्मा जब नश्वर शरीर, चचल बुद्धि, स्वार्थ-मय कामना के भ्रमजाल का भेदन करने के लिए अनवरत प्रयास करती है, तभी वह उन्मुक्त आत्मा का साक्षात्कार कर सकती है। एकनिष्ठ एव लक्ष्य-प्राप्ति के लिए सकल्पित जीवन मनुष्य की सबसे बडी सफलता है। ऐसे ही जीवन के द्वारा वह प्रकृति के अशान्त प्रवाह, अपनी अनुभूतियो और कामनाओ के पीछे छिपे सत्य तक पहुचने की चेष्टा करता है। मनुष्य की आत्मा का यही प्रारब्ध है कि वह परमात्मा के साथ अपनी एकता का साक्षात् करे। परमात्मा के साथ आत्मा की चेतन एकता और प्रचुर अन्तर्भूति मे अन्तर है, क्योकि चेतन एकता व्यक्ति से अपेक्षा करती है कि वह ऐच्छिक एकात्मभाव स्थापित करेगा। यदि मानवात्मा मे आत्मा के सब गुण सन्निहित हो जाए, तो विकास या आध्यात्मिक जीवन का अर्थ होगा आधारभूत सत्य का चेतन साक्षात्कार। बृहदारण्यक उपनिषद् हमे बताता है कि जब व्यक्तिगत आत्मा (पुरुष) सर्वव्यापक आत्मा के साथ (प्रज्ञेनात्मना) परिवेष्टित हो जाता है, तब वह अपना उचित स्वरूप ग्रहण कर लेता है और आप्तकाम हो जाता है, अकाम बन जाता है तथा शोक से छूट जाता है (शोकान्तरम्)।[1] हृदय अपने चिन्ता-भार से छुटकारा पा जाता है। अतीत के दुःख और विभ्रम, अतृप्त कामना की चिन्ता तथा आक्रोश की कटुता दूर हो जाती है।

[६]

एक दूसरे प्रकार से हिन्दू विचारणा को अनाचारिक कहा जाता है। हिन्दूधर्म मे व्यवस्थित आचारिक चिन्तन का तो अभाव है और इसका स्पष्ट कारण यह है कि

१ बृहदारण्यक उपनिषद्, अध्याय ४, ब्राह्मण ३, मत्र २१।

यह मनुष्य का सर्वोच्च लक्ष्य यथार्थता की अगीभूत दशाओ से छुटकारा पाना मानता है। 'पुनर्जन्म से मुक्ति केवल तभी मिल सकती है जब ससार से और जीने की इच्छा से स्वतन्त्रता मिल जाए।'[1] शंकराचार्य कहते है कि सब प्रकार के सयम और अनुशासन का एक ही लक्ष्य है, पुनर्जन्म के कारणो से पूर्णत निस्तार पाना।[2] यह प्रश्न 'यथार्थता की अगीभूत दशा' से सम्बन्धित है। अहभाव के कारण ही हमे यह भ्रम होता है कि हममे से प्रत्येक एक विशिष्ट इकाई है जिसका उसके स्थानगत शरीर और कालगत अनुभव से भिन्न जो कुछ भी है, उससे तीव्र वैषम्य है। जब तक एक अलग अह का भ्रम बना हुआ है तब तक पार्थिव प्रक्रिया मे जीव का पडे रहना अपरिहार्य है। नकारात्मक दृष्टि से, छुटकारा पाने का अर्थ है बाधा पहुचानेवाली अस्मिता से स्वतन्त्रता, और विध्यात्मक दृष्टि से, यह व्यक्ति के आध्यात्मिक प्रारब्ध का प्रत्यक्षीकरण है। अह को त्याग देने का तात्पर्य यह है कि साधक अपने को एक अधिक पूर्ण जीवन और चेतना के साथ एकात्म कर लेता है। आत्मा सार्वभौमिकता की भावना तक अपना उत्थान कर लेती है। आत्मा अपने अस्तित्व को केवल अपने लिए छोडकर विश्व की चेतना के साथ सयुक्त हो जाती है। अब इसकी कोई निजी कामना शेष नही रह जाती। 'गेथेसमेन' मे ईसा ने एक व्यक्ति के रूप मे अनुभव किया कि प्याले को एक हाथ से दूसरे हाथ मे जाना चाहिए। वह उनकी निजी इच्छा थी। 'क्रॉस' का रहस्य है अहभाव का बलिदान और ईश्वरेच्छा पर अपने को छोड देना। 'तेरी इच्छा पूर्ण हो।' प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा को ईश्वर की इच्छा मे विलय करके और अपनी आत्मा को ईश्वर के आगे समर्पित करके आत्मा मे निहित सत्य की उपलब्धि कर सकता है। अनुभव का भार हम लोगो पर इसलिए डाल दिया जाता है, ताकि हम अस्मिता को दूर कर अपनी शुद्धि कर सकें।

शाश्वत जीवन वह जीवन है जिसमे सार्वभौम चेतना ही सर्वेसर्वा होती है। ज्ञानी पुरुष या द्रष्टा सासारिक कार्यों से अपने को विरत नही करता, प्रत्युत् वह शाश्वत शक्ति पर अपनी दृष्टि केन्द्रित रखकर उन कार्यों को करता है। धर्म मनुष्य को ससार से पलायन करना या इहलोक की चिंतनीय अव्यवस्था से हताश होकर स्वर्ग की व्यवस्थित प्रशान्ति मे शरण लेना नही सिखाता। मनुष्य इहलोक और परलोक दोनो मे ही सम्बन्धित होता है। उसका धर्म है तो यही है, अन्यथा कही नही है। काल-सीमित जीवन बिताते हुए भी उसके बीच मे एक अन्य प्रकार का जीवन बिताना शाश्वत जीवन के अन्तर्गत ही आता है। धार्मिक जीवन तो एक लययुक्त प्रवाह है जिसमे चिन्तन-मनन, क्रिया, आध्यात्मिक जीवन की पुनर्प्राप्ति एव पुनर्जागृति तथा ससार मे सेवा की भावना से कार्य करने के कुछ क्षण आते रहते हैं। द्रष्टा की क्रिया अधिक कुशल होती है, क्योकि उसका उद्भव दृढ विश्वास और अन्तरतम की गहराई से होता है और उसकी अन्विति मे एक सन्तुलन एव निर्मलता पाई जाती है। भगवद्गीता के अनुसार, प्रज्ञावान पुरुष सभी प्राणियो के हित मे रुचि रखता है—वह 'सर्वभूतहिते रत' होता है। आन्तरिक शुचिता का पता इस बात मे लगता है कि मनुष्य बाह्य रूप से कितना

१. पृष्ठ ४२।

२. 'सहेतुकस्य संसारस्यात्यन्तोपरमम्।'

उल्लास विकीर्ण कर पाता है। प्रामाणिक आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि की कसौटी है व्यक्तिगत जीवन का पहले की अपेक्षा अधिक एकीकरण, तीव्र सवेदनीयता, उदग्र शक्ति और विश्वजनीन करुणा। ससीम और असीम, तलीय चेतना और अन्तर्तम की गहराइयो की सायुज्यता नवसृजन का भाव उत्पन्न करती है। जानते-समझते भी केवल ससीम मे रहने का अर्थ है अज्ञानता और अस्मिता, पीडा और मृत्यु के बन्धन मे बधे रहना। जब हम स्वय मे तन्मय रहने की अज्ञानता को छोड देते हैं, तब मन, जीवन तथा शरीर की सीमाओ से अप्रभावित आध्यात्मिक अस्तित्व को हम पुन प्राप्त कर लेते हैं। इससे होता यह है कि जिस ससीम मे हम बाह्य रूप से रहते हैं, वह परमात्मा का प्रतिनिधि बन जाता है। इस प्रकार वह अपने प्रत्यक्ष बन्धन से छूटकर वास्तविक स्वतत्रता प्राप्त कर लेता है।

स्वतंत्रता, प्रेम, प्रकाश और शक्ति को निराश दृष्टि और उदास मन के साथ मिलाकर घपला नही करना चाहिए। मनुष्य जिस पूर्णता की उपलब्धि के लिए सचेष्ट रहता है, उसका उद्देश्य मन-रहित आत्मा या देह-रहित आत्मा नही है। मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन के सघटन के लिए देह और मन तो साधन हैं, उनके बिना तो काम ही नही चल सकता। देह और मन अपने-आपमे मूल्यवान नहीं हैं, वरन् वे उस आत्मा के कारण मूल्यवान हैं जो उनके भीतर निवास करती है। 'मैत्री उपनिषद्' मे आत्मा के ज्ञाता की उपमा निर्धूम अग्नि से दी जाती है जो पूरी चमक-दमक के साथ प्रज्वलित रहती है।[1] देह एक ऐसी पारदर्शक वस्तु बन जाती है जिसके भीतर से आत्मा उद्भासित होती है, वह भीतर जलनेवाली ज्योति को प्रभासित करनेवाले शीशे की भाति होती है। आध्यात्मिक प्रवृत्ति अमूर्त के क्षेत्र मे गतिमान नही होती, अपितु उसकी पकड यथार्थ पर होती है और वह विचार की जटिलता तथा जीवन की समृद्धि को गले लगाती है। शरीर और मन मनुष्य के आध्यात्मिक जीवन के लिए साधन तो हैं ही, इनके बिना उसका अस्तित्व रहेगा कहा ?

शरीर और आत्मा के मध्य द्वैतवाद तात्त्विक नही है। शरीर के साथ दुर्व्यवहार किए बिना ही हम आत्मा की स्वतत्रता प्राप्त कर सकते हैं। एक प्रसिद्ध श्लोक मे हमसे कहा गया है कि हम देह, इन्द्रियो, वाणी और विचार को उनमे निवास करनेवाली अनन्त आत्मा के उपयुक्त बनावें। "जिन पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—पचभूतो से मेरे शरीर का निर्माण हुआ है, वे पवित्र होवें, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पवित्र होवें · मेरे विचार, वाणी, क्रिया पवित्र हो ·मेरी आत्मा पवित्र हो, ताकि मैं ऐसी प्रकाशमान आत्मा बन सकू जिसपर वासना और पाप के कलुष का कोई प्रभाव न पड सके।"[2] हिन्दू दृष्टिकोण की विशेष बात यह है कि यह मन, जीवन और शरीर

१. प्रथम अध्याय, श्लोक ७।
२. पृथिव्यापस् तेजो वायुराकाश मे शुद्ध्यन्ताम् ··
शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा मे शुद्ध्यन्ताम्·
मनोवाक्कायकर्माणि मे शुद्ध्यन्ताम् ·
आत्मा मे शुद्ध्यन्ताम्, ज्योतिरहं विरजा
विपाप्मा भूयासम्। (तैत्तिरीय उपनिषद्, x, ६६)

के विकास को जीवन का प्राथमिक उद्देश्य नही मानता। शारीरिक स्वास्थ्य और स्फूर्ति सजीव शक्ति तथा मानसिक सतुष्टि के लिए अनिवार्य हैं। आध्यात्मिक अभिव्यक्ति की भाति ही शारीरिक पुष्टता भी मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन का एक अविभाज्य अग है। शारीरिक पुष्टता की आवश्यकता तो शरीर को नीरोग रखने की दृष्टि से है ही, किन्तु उससे भी अधिक उसकी आवश्यकता इसलिए है कि शरीर उन मानुपिक कार्यों को करने की सामर्थ्य रखता है जिनका उद्देश्य मनुष्य मे ईश्वर की शोध और अभिव्यक्ति करना—'धर्मसाधनम्' होता है। इसी प्रकार, हमसे यह आशा नही की जाती कि हम मानव-जीवन के प्राकृतिक सवेगो को कुचल दें या मानव-अस्तित्व के बौद्धिक, भावात्मक और सौन्दर्यात्मक पक्षो की उपेक्षा कर दें, क्योकि वे मनुष्य की कोमलतर प्रकृति के अग हैं और उनका विकास न केवल व्यक्ति को सतुष्टि प्रदान करता है, अपितु उसके भीतर की आत्मा को भी अभिव्यक्त करता है। तप और सयम का उद्देश्य है मनुष्य के समस्त व्यक्तित्व की अन्त शुद्धि। एक बात और है, नैतिकता, चाहे वह व्यक्तिगत हो अथवा समाजगत, मनुष्य के अपने साथियों के साथ सम्बन्धो को बौद्धिक रूप से व्यवस्थित ही नही करती, वरन् आत्मा के रूप मे उसके विकास के लिए भी यह एक साधन है। हमारे सभी उद्देश्यो और कार्यों के लिए यह बात सही है। उपनिषद् का कथन है कि स्वास्थ्य और धन, पति और पत्नी हमको अपने-आपमे प्रिय नही हैं, वरन् वे हमे उनमे निवास करनेवाली आत्मा के लिए—'*आत्मनस्तु कामाय*'—प्रिय हैं। आध्यात्मिक सत्य की शक्ति मनुष्य के प्राकृतिक जीवन पर अपना प्रकाश डालती है और उसे अपनी परिपूर्ण आध्यात्मिक गरिमा को प्राप्त करने मे सहायता करती है। इस प्रकार का दृष्टिकोण मनुष्य को उसके साधारण जीवन से दूर नही ले जाता, क्योकि जब हम यह अनुभव करने लगते हैं कि साधारण जीवन आध्यात्मिक जीवन के साथ नैसर्गिक रूप से विद्यमान है और उसकी अभिव्यक्ति के लिए एक अवलम्ब है, तब वह हमारे लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हो उठता है।

कुछ कट्टरपथी रहस्यवादी ऐसे भी हैं जो सत्य को आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के रूप मे देखते हैं और उसको बन्धनयुक्त यथार्थ से भिन्न बतलाते हैं। उनकी मान्यता होती है कि जन्म आत्मा की एक भूल है और बन्धन की इन शृखलाओ को छिन्न-भिन्न करने पर ही हमारी मुक्ति हो सकती है। माया के सिद्धान्त को इसी नकारात्मक अर्थ मे लिया गया है और ऐसा करने का उद्देश्य इस सिद्धान्त को समर्थन प्रदान करना है कि मानव-जीवन का कोई वास्तविक अर्थ नही है, यह आत्मा की एक भूल है, यह एक ऐसी भूल है जो हमारे अस्तित्व मे अनजाने ही प्रविष्ट हो गई है—क्यो और कैसे हो गई है, इसकी कोई व्याख्या नही दी जा सकती। चूंकि सत्य परब्रह्म है, इसलिए करणीय कार्य एक ही है कि पारलौकिक और सासारिक सब प्रकार के अस्तित्वो से दूर हो जाया जाए। माया अपने-आपमे सत्य है और जब तक हम इसका आश्रय लिए रहते हैं, तब तक यह हमको अपने मोहपाश मे बाधे रखती है। हमारा सच्चा लक्ष्य इस मरीचिका से मुक्त होने और इस प्रकार जीवन से मुक्त होने का होना चाहिए। मोक्ष व्यक्ति का निर्वाण है, ब्रह्म मे उसका विलीन हो

जाना है। चूकि ससार भ्रम है, माया है, इसलिए इसकी केवल मायिक भ्रामक घटनाओ के साथ सघर्ष करने मे श्रम और शूरता का प्रयोग करना शक्ति का अपव्यय-मात्र है। हमारा तो कर्तव्य यह है कि सत्य के साथ इसके सादृश्य से जो खीज हममे उत्पन्न होती है, उसे विना शिकायत-शिकवे के सहज भाव से ग्रहण करें। मौन और वैराग्य का अभ्यास अपने आचरण मे करके हम ब्रह्म की, जो भूल और भ्रान्ति से परे है और जो अथक रूप से विश्राम की स्थिति मे रहता है, शान्तिपूर्ण सत्ता मे कुछ अश तक प्रविष्ट होने मे समर्थ हो जाते हैं। यदि इस दृष्टिकोण को हम स्वीकार कर लेते हैं, तो विश्व का मार्ग निरुद्देश्य हो जाता है। इतिहास-जगत् और आवागमन का चक्र ये दोनो आत्मवचनारूपी मशीन के पुर्जे हैं। जीवित न रहने की कामना सर्वोत्तम वस्तु है, सव प्रकार की जीवन-विधियो का यही एक वाछित परिणाम है।

इस प्रकार की अतिरजनाए रहस्यवाद मे मिलती हैं, चाहे वह प्राच्य हो या पाश्चात्य। कुछ लोग इस दृश्य जगत् की सत्ता को विलकुल स्वीकार नही करते, और कुछ लोग इसके अतिरिक्त और किसी चीज़ को स्वीकार करने को तैयार नही। किन्तु शकराचार्य का मत इन दोनो से ही नहीं मिलता। एक अति-ऐतिहासिक लक्ष्य के प्रति जो एकान्त भक्ति होती है, उससे ऐसा अनुभव होता है कि सभी पार्थिव वस्तुए इतनी क्षणभगुर एव परिवर्तनशील हैं कि वे कदाचित् गम्भीर रूप से ध्यान देने योग्य भी नही है। किन्तु चिरन्तन सत्ता ऐतिहासिक जगत् से बिलकुल असम्बद्ध नही होती। यद्यपि हम ससीम के वन्धन मे पड़े हुए हैं, तथापि हम असीम की आकाक्षा करते हैं। जन्म और पुनर्जन्म की लम्बी शृखला एक अर्थ मे तो भारी वन्धन है, परन्तु दूसरे अर्थ मे यह आत्मज्ञान का साधन भी है। भौतिक प्राणी होते हुए भी आध्यात्मिक प्राणी के रूप मे अपने को विकसित कर लेना मानवीय विकास की उच्चतम उपलब्धि है। नश्वर शरीर से सम्वद्ध रहते हुए भी आत्मा की अमरता मे निवास करना इसीको कहते हैं। आत्मप्राप्ति और आत्मविकास के द्वारा इस स्थिति मे पहुचा जा सकता है। इस स्थिति को प्राप्त करने के लिए हमे अपने अह की खोल से वाहर निकलना होगा और अपनी कई कमियो को दूर करना होगा, किन्तु जिस रूपान्तरण की हम आकाक्षा रखते हैं, वह तो हमारी प्रकृति का एक आवश्यक नियम है। अज्ञान और आत्मज्ञान की अपूर्णता के कारण यह तथ्य हमारी आखो से ओझल रहता है।

जीवन्मुक्त दशा को प्राप्त व्यक्ति लोककल्याण के लिए कार्य करता है। भगवद्गीता हमे वतलाती है "मनुष्य कोई भी कर्म न करके अकर्म की दशा को नही पहुच पाता, और न वह ससार से पलायन करके पूर्णत्व को उपलब्ध कर सकता है।" जव ईश्वर तक विश्व के सरक्षण एव भरण-पोषण के लिए कार्य करना स्वीकार किए हुए है, तव मनुष्य द्वारा सासारिक कार्यों मे भाग न लेना सर्वथा अनुचित है। इसके अतिरिक्त यह वात भी है कि मनुष्य जव तक जीवित है, तव तक वह एक पल के लिए भी विना कर्म किए रह नही सकता।[1] ईश्वर के प्रति हमारा प्यार उसकी

१. भगवद्गीता, तृतीय अध्याय, श्लोक ८ ।

वस्तुए होती है, किन्तु जव वह अपनी अस्मिता (अहकार) को दूर भगा देता है, तव नैतिक वैशिष्ट्य का कोई अर्थ नही रह जाता। "जो कुछ ईश्वर से उत्पन्न है, उससे पाप हो ही नही सकता।"[1] ऑगस्टीन ने ईश्वर के मन का उदाहरण लेकर वताया है कि गलत काम करनेवालो को पूर्ण स्वतन्त्रता नही दी जा सकती, किन्तु ईमानदारी से काम करनेवाले अपने उत्तरदायित्व और स्वतन्त्रता को पर्याय मानकर चलते हैं। ग्रीन का तर्क यह है कि स्वतन्त्रता अच्छी चीज़ के चुनाव को कहते है, बुरी चीज़ के चुनाव को नही। यह अच्छे और वुरे के वीच चुनाव करने का प्रश्न नही है। सवेग-शील दैहिक-मानसिक व्यक्ति वास्तविक मनुष्य नही है। यह एक ऐसा आच्छादन है जो व्यक्ति के वास्तविक स्वरूप को छिपाए रखता है। जव किसी व्यक्ति की आत्मा अपनी दिव्य प्रकृति को समझ जाती है और उसीके अनुरूप कार्य करने लगती है, तव वह अच्छाई और वुराई के अन्तरो से परे हो जाती है। इसका मतलव यह नही कि ऐसी आत्मा वाला मनुष्य बुरा कार्य करके भी पाप से मुक्त रह सकता है, अपितु यह है कि उसके द्वारा गलत काम होना ही असम्भव है, क्योकि वह न तो अभिकर्ता रह जाता है और न भोक्ता ही। अच्छाई और बुराई पहले से ही अहकार का आधार कल्पित कर लेते है। अच्छे कार्य वे हैं जिनसे 'स्व' और 'पर' दोनो का भला होता है और बुरे कार्य वे हैं जिनसे न 'स्व' का भला होता है न 'पर' का। इस 'स्व' और 'पर' की सीमारेखा ठीक कहा पडती है, यह परम्परा पर निर्भर है। जव हम उस क्षेत्र का अतिक्रमण करते हैं जो दूसरे व्यक्ति का समझा जाता है, तभी हम बुराई की ओर कदम वढाते हैं। यो तो, अपने को दूसरो से अलग सत्ता मानकर जो भी कार्य किए जाते हैं, वे तत्त्वत बुरे होते है, तो भी 'बुरा काम' मुख्यत उन कार्यों को कहते है जिनमे मनुष्य का अहकार अपने क्षेत्र का अतिक्रमण करके दूसरे के क्षेत्र मे प्रवेश कर जाता है और उसके अधिकार को अस्वीकार कर देता है। नैतिक या अनैतिक आचरण से उच्चतर या निम्नतर प्रकार का पुनर्जन्म होता है। जव मनुष्य लगातार अच्छे कार्य करता रहता है, तो अन्तत. उसका अस्तित्व ऐसी उच्चतम कोटि को पहुच जाता है जिसमे मनुष्य विश्वात्मा के साथ अपनी आत्मा की एकता का अनुभव करने में समर्थ हो जाता है। यद्यपि नैतिक आचारमय जीवन मनुष्य के अस्तित्व को उच्च-तर वना सकता है, तथापि वह स्वयमेव मोक्ष नही प्रदान कर सकता, क्योकि उसके लिए आवश्यक है कि मनुष्य अपने जीवन और क्रिया का आधार ही परिवर्तित कर दे। डॉ० श्वेट्ज़र ठीक ही कहते हैं कि "हमारा अगला जन्म अव से उत्तम हो, इसके लिए नैतिक आचरण सहायक तो हो सकता है, किन्तु यह हमे मोक्ष नही दिला सकता।"[2] नीतिशास्त्र यह मानकर चलता है कि जीवन के प्रति सवका दृष्टिकोण अलग-अलग प्रकार का होगा। जव हम इसका अतिक्रमण कर जाते हैं तव हम नैतिक नियमो के परे पहुच जाते हैं।[3] शकराचार्य के अनुयायी मीमासा के इस विचार का

१. १ जॉन, iii, ९।   २ पूर्वोल्लिखित उनकी पुस्तक, पृष्ठ १६५।

३ सन्त पॉल कहते हैं "यदि तुम अपनी आत्मा के निर्देशन मे चलते हो, तो तुम नियम के बन्धन से मुक्त हो।" १ जॉन iii, ६ ९, १४ भी देखिए।

खण्डन करते हैं कि कार्यों से ही मोक्ष प्राप्त होता है ; वे कहते हैं कि आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि (ज्ञान) से ही मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है। जब ईसाई-धर्म मे आडम्बरपूर्ण सिद्धान्त चल पडा कि 'एक पेनी (पैसा) दान-पात्र के छेद मे डालो और उसके दूसरे सिरे से क्षमा-दान प्राप्त कर लो', तब मार्टिन लूथर को कहना पडा था कि औचित्य केवल आस्था मे है, कार्यों मे नही। मोक्ष तो शाश्वत है जबकि कर्मानुसरण अनित्य है, अस्थिर है। कर्मानुसरण आध्यात्मिक जीवन के मार्ग मे आनेवाली बाधाओ को अवरुद्ध करने मे सहायक होता है। साधुत्व-सम्बन्धी यह मान्यता कि साधु पुरुष पाप और पुण्य से परे होता है, उसको अनैतिक आचरण के लिए आमन्त्रण नही देती। 'कठोपनिषद्' ने स्पष्ट कहा है "जो पापकर्मों से निवृत्त नही हुआ है, जिसकी इन्द्रिया शान्त नही हैं, जो असमाहित है और जिसका चित्त शान्त नही है, वह परमात्मा को आत्मज्ञान या विवेक के द्वारा नही प्राप्त कर सकता।"[1] दुश्चरित और आध्यात्मिक जीवन दोनो का मेल नही बैठ सकता, क्योकि जो चिरन्तन है, वह विशुद्ध है और सभी पापो से मुक्त—'अपहतपाप्मा' है। वह विशुद्ध सत्ता ('तत् शुभ्रम्') केवल उन्ही लोगो के द्वारा जानी जा सकती है जिनका स्वभाव विशुद्ध है, (जो 'विशुद्ध सत्व' वीतराग हैं)।[2] ईश्वर सत्य भी है और पुण्य भी।[3] "जब किसीकी समस्त प्रकृति विशुद्ध होती है, केवल तभी ईश्वर से आत्मा को अलग रखनेवाले बन्धनो से मनुष्य को छुटकारा मिलता है।"[4]

यह मान्यता ईश्वर-सम्बन्धी इस धारणा पर आधारित है कि वह सासारिक स्तरो से श्रेष्ठ है। हम उसके विषय मे यह नही कह सकते कि वह अच्छा करता है या बुरा करता है। अपने अन्तर्तम रूप मे सत्य न तो अच्छा है न बुरा, न नैतिक है न अनैतिक, न ऊचा है न नीचा, न रगीन है न रगविहीन। इन विभेदो का सत्य से कोई सम्बन्ध नही, बल्कि मानव-जगत् से है, क्योकि मानव-जगत् इस ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया का एक अश है, वह स्वय एक स्थिति है जिसमे प्राण-सत्ता अपने-आपसे विलग कर दी जाती है। यह बात नही है कि पुण्य और पाप अथवा अच्छाई और बुराई सम्बन्धी जो विभेद किए गए हैं, वे मनमाने या रूढिगत हैं, निश्चय ही वे तर्कसम्मत और स्वाभाविक हैं और वे नैतिक व्यवस्था के परम सत्यो को प्रकट करते हैं, किन्तु वे बुनियादी रूप से इस जगत् की ही विभिन्न सरणिया हैं। वे प्रतिमाए या छायाए न होकर प्रतीकात्मक हैं। प्रतीकवाद कृत्रिम, आकस्मिक या मिथ्या नही है। इससे हमको चरम सत्य के विषय मे ज्ञात होता है, परन्तु वह सत्य अन्धकार की, अज्ञान की पृष्ठभूमि मे हमे प्रतिभासित होता है, वह ससाररूपी दर्पण मे प्रतिबिम्बित होता है। चूकि पाप और पुण्य इस ससार से ही सम्बन्धित होते हैं और सत्य पाप तथा पुण्य से परे होता है, इसलिए मनुष्य के सामने जो समस्या है वह यह है कि प्रतीको से सत्य की ओर कैसे बढा जाए ? जब उसका प्रयत्न सफल हो जाता है, तब पाप और पुण्य

१ कठोपनिषद्, प्रथम अध्याय, द्वितीय बल्ली, चौबीसवा श्लोक।
२. माण्डूक्य उपनिषद्, ११, २/७। ३ बृहदारण्यक उपनिषद्, ११, ५/११।
४ छान्दोग्य उपनिषद्, ८, १०/७।

वैराग्य की भावना धार्मिक जीवन मे बहुत गहराई तक प्रविष्ट हो चुकी है और अब उसको भूल या भ्रान्ति कहकर टाला नही जा सकता, यद्यपि हमे डर है कि उद्देश्य की पवित्रता और आत्मिक शक्ति प्राप्त करने के लिए सासारिक कार्यों से विरक्त होने के हमारे किसी भी प्रयास के विषय मे हमारे आलोचक यही कहेगे कि हम अपने पडोसी के प्रति अपने कर्तव्यो को पूरा नही कर रहे। नियमो और परम्पराओ के पालन का ही नाम नैतिकता नही है, वरन् उसका अर्थ है मन की पवित्रता, जिसकी झलक हमारे कार्यों मे मिलनी चाहिए।

बाह्य क्रिया का विलोम अक्रिया नही है, अपितु आन्तरिक क्रिया है। बुद्ध एक बार काशी के एक धनी किसान के पास गए और उन्होने उससे भिक्षा मागी। किसान ने बुद्ध से कहा : "मैं खेत जोतता-बोता हू, तब खाता हू और तुम हो कि बिना खेत को जोते-बोए खाने की इच्छा रखते हो !" बुद्ध ने उत्तर दिया कि मैं तुम्हारी इस खेती से भी अधिक महत्त्वपूर्ण आत्मा की खेती करने मे जुटा हुआ हू। "श्रद्धा बीज है, तपस्या वर्षा का जल है, ज्ञान मेरा हल और 'जुआठ' है, विनय हल की 'हरिस' है, मन 'नरैली' (वह रस्सी जिससे जुआठ और हरिस को सलग्न किया जाता है) है, विचारशीलता मेरे हल का 'फाल' और 'पैना' है।' 'प्रयास मेरी सवारी है जो बिना पीछे लौटे, मुझे सतत उस स्थान की ओर लिए जा रही है जहा पहुचकर कोई व्यक्ति परिताप नही करता। इस प्रकार यह खेती होती है जिसमे अमरता की फसल पैदा होती है।"[1] जिसको निश्चेष्टा कहते हैं, वह जडता नही है। हमारी पीढी के कई नेता जो सफलता और कुशलता के सन्देशवाहक हैं, हिन्दूधर्म द्वारा आन्तरिक जीवन पर जोर देने को मात्र समय का अपव्यय समझते हैं। हमसे कहा जाता है कि इन बेकार की बातो को छोडकर हम कुछ काम करें। जो आदमी रोटिया पकाता है या मकान बनाता है, उसके लिए कहा जाता है कि वह कोई उपयोगी कार्य कर रहा है, जबकि उस आदमी के लिए, जो चित्र बनाता है या गीत लिखता है या सगीत की राग-रागिनिया बनाता है, कहा जाता है कि वह स्वान्त सुखाय कोई स्वार्थमय कार्य कर रहा है। इस विस्मयकारी मान्यता के किंचित् परिवर्तित रूप से आज समाज के कुछ उन्नायको को प्रेरणा मिल रही है। आज माना जा रहा है कि क्रान्ति या सर्वहारा के अधिनायकत्व का मार्ग ही 'स्वर्णिम युग' तक पहुचने का प्रशस्त राजमार्ग है ये सारे तरीके समाजरूपी मशीन के कल-पुर्जों और उनके सगठन पर बल देते हैं। इनका परिणाम इस रूप मे सामने आ रहा है कि आज जीवन के तन्तु रूक्ष हो गए हैं और जीवन के मूल्य घटिया तथा सस्ते हो गए हैं। मानवता आज वर्ग और राष्ट्र, राज्य और समाज जैसी बाह्य वस्तुओ की गहराई मे गोते लगा रही है। मनुष्य को वस्तु-जगत् का ही एक अग माना जाता है और उसको अपना निजत्व जानने नही दिया जाता, उसे अपनी आन्तरिक सत्ता को प्राप्त करने से विमुख किया जाता है। शालीनता तथा प्रेम, निश्चेष्टता और अनाक्रमकता जैसे नकारात्मक गुणो पर, जो मनुष्य को अपने अधिकारो के लिए सघर्ष करने के बजाय आत्मसमर्पण करना सिखाते हैं, बल दिया जाना राजनीति और मौज-बहार

१ 'मैन्युअल ऑव बुद्धिज़्म', पृष्ठ २१५—लेखक : हार्डी।

के व्यस्त जीवन मे पडे हुए व्यक्तियो की दृष्टि मे निर्बलता और कायरता है। भारतवर्ष मे ऐसे लोगो की कमी नही है जो यह विश्वास करते हैं कि यदि कोई बलवान आदमी किसी भीड मे से धक्का-मुक्की करके अपना रास्ता बनाने से इन्कार करता है, तो वह डरपोक और कायर है।[1] किन्तु सभी प्राच्य धर्मों की भाति ईसाई-धर्म भी त्याग, निश्चेष्टा, बाह्य वस्तुओ मे रस लेने के प्रति विराग का उपदेश देता है। 'क्रॉस' इस बात का प्रतीक है कि प्रगति वे नही करते जो प्रगति के लिए लडते हैं, वरन् प्रगति वे करते हैं जो उसके लिए कष्ट-सहन करते हैं। इस विचार ने पाश्चात्य मन को रोमन साम्राज्य के उन अशान्त दिनो मे भी स्पर्श किया था जब जीवन असुरक्षित हो गया था और अन्याय का दौरदौरा था। क्या अब हमको विश्वास करना पडेगा कि नकारात्मक गुणो के प्रति आग्रह केवल तभी आकर्षक जान पडता है जब जीवन की चमक-दमक मद्धिम पड जाती है, जब शक्ति भार बन जाती है और हमारा साहस छूट जाता है ।

मनुष्य की पूर्णता का वही अर्थ नही है जो किसी औजार या मशीन की पूर्णता का है। हम औजार या मशीन की पूर्णता की जाच इस बात से करते हैं कि वह अपने से बाह्य किसी वस्तु का निर्माण कितनी तेजी और खूबी से कर सकती है। मानव-सभ्यता को भी गति और कुशलता के इसी मापदण्ड से मापना ठीक नही कहा जा सकता, हालाकि आज हम सब करते यही हैं। जिन शान्तिप्रिय राष्ट्रो की मशीनें बहुत तेजी से औद्योगिक उत्पादन नही कर रही, वे राष्ट्र यदि मूर्खतापूर्ण झगडो और क्रूर हत्याओ को अमानुषिक घोषित करते हैं, तो उनको अयोग्य, निर्बल तथा राजनीतिक दृष्टि से पिछडा हुआ बतलाया जाता है, उनकी सभ्यता को जीर्ण-जर्जर कहकर यह फतवा दे दिया जाता है कि उनकी नसो मे जवानी के खून का जोश नही रहा।

ससार के सभी महान उपदेष्टा इस विचार मे एकमत है कि मनुष्य की आत्मा ससार की विशालता से अधिक मूल्यवान है और मानवात्मा की उन्नति अवकाश तथा ध्यान-चिंतन के क्षणो मे ही होती है। मनुष्य को अधिक पूर्ण एव पारगत बनने तथा अनिवार्य सत्य को हृदयंगम करने की विशेष सुविधा प्राप्त है। किन्तु, इसका यह अर्थ भी नही है कि मनुष्य सासारिक उत्तरदायित्वो से जी चुराए और जीवन से पलायन कर जाए।

रहस्यवाद और सर्वोत्तम आचारनीति मे कोई असगति नही है। चिन्तन-मनन की एकपक्षीय दृष्टि ही उसे नैतिक क्रियाओ से विलग कर देती है। आन्तरिक पूर्णता और बाह्य आचरण—ये दोनो एक ही जीवन के दो पक्ष है। चिन्तन और क्रिया, कृष्ण का योग और अर्जुन का गाण्डीव—इन दोनो रूपो का लक्ष्य एक ही कार्य की निष्पत्ति है। प्रेम आध्यात्मिक जीवन का अभिन्न अग है। जब आखे चिरन्तन सत्ता की ओर उठी होती हैं तब बाहे सारी सृष्टि का आलिगन करने के लिए फैली रहती हैं। ससार के कुछ सर्वोत्तम चिन्तक और मनीषी ऐसे भी हुए है जिन्होने दूसरो की सेवा मे अपना अधिकाश समय बिताया। रहस्यवादियो मे भी कुछ लोग अतिवादी हैं—और ऐसे लोग किसी एक ही धर्म मे नही पाए जाते—जो ईश्वर के साथ एकाकार हो जाने

१ तुलना कीजिए : "यदेव क्षमया युक्तमशक्त मन्यते जन ।" (महाभारत, शान्तिपर्व, *clx* ३४)।

के लिए तो उत्कठित रहते हैं, पर दु खियो की कराहें और भग्नहृदयो की आहें उनका ध्यान आकर्षित नही कर पाती। जो रहस्यवादी अतिवादी न होकर सामान्य होगा, वह सामाजिक न्यायनिष्ठा के प्रति भी उतनी ही तीव्र उत्कठा रखेगा जितनी आत्मचिंतन के प्रति। सन्यास या वैराग्य के प्रति हम चाहे जितनी अरुचि प्रकट करें, पर हमे यह नही भूलना चाहिए कि जब बर्बर जातियो के गिरोहो ने यूरोपीय सभ्यता को नष्ट-प्राय कर दिया था, तब ईसाई साधुओ ने ही उसका पुनर्निर्माण करने मे अग्रणी भाग लिया था। इतिहास के अन्धयुगो मे ज्ञान की ज्योति मठो और आश्रमो मे ऐसे गुरुओ और विद्वानो द्वारा जाग्रत् रखी गई, जो सत्य के गम्भीर अन्वेषी और इतर बातो को कूडा-करकट समझनेवाले थे। स्वय डॉ० श्वेट्ज़र के जीवन और कार्य सयम और सन्यास का उदाहरण एक ऐसे समय मे प्रस्तुत कर रहे हैं जब ससार मे उद्देश्य और अनुशासन दोनो का ही अभाव दिखाई दे रहा है।

मुझे यह कहने मे सकोच नही कि भारतवर्ष मे ऐसे भिखारी साधुओ की कमी नही जो उस विशाल महाद्वीप मे एक स्थान से दूसरे स्थान मे घूमते रहते हैं और अपने चतुर्दिक् के ससार को उसके भाग्य पर छोड देते हैं। किन्तु वे भारत की प्रतिभा के सच्चे प्रतिनिधि नही हैं। भारत की वास्तविक प्रतिभा तो वह है जो सभी वस्तुओ में एकत्व के दर्शन करती है—'एकत्वमनुपश्यति'—उसे आध्यात्मिक ससार और ऐन्द्रिक ससार दोनो से ही सहज गति प्राप्त है।

ससार के प्रति वैराग्यपूर्ण दृष्टिकोण रखना हिन्दूधर्म की प्रकृति है, इस कथन मे यदि कुछ सत्याभास जान पडता है, तो उसका कारण यह है कि लोगो पर ऐसी छाप पडी है कि हिन्दू सस्कृति यूरोपीय सस्कृति के समान जीवन का सफल और सबल सगठन नही कर पाई है। चूकि भारत ने जीवन मे भारी भूल की है और अपने भौतिक साधनो का सदुपयोग करने मे वह असफल रहा है, अतएव उसको अव्यावहारिक स्वप्न-द्रष्टाओ, सतोषी, विनम्र, अनुपयुक्त और अकुशल ससार-त्यागी सन्यासियो का राष्ट्र कहा जाता है। चूकि पश्चिम ने पिछले कुछ वर्षों मे विज्ञान और प्राविधिकी, सामाजिक सुधार और राजनीतिक उन्नति के क्षेत्र मे अद्भुत प्रगति कर दिखाई है, इसलिए पश्चिम जिस ईसाई-धर्म का अनुयायी है, उसे लोग ससार-समर्थक धर्म कहने लगे है। इस तरह का तीव्र विभेद जब किया जाने लगता है, तब बहुत सारे प्रश्न परस्पर उलझ जाते हैं। एक प्रश्न तो यही है कि आप सभ्य जीवन कहते किसे हैं? क्या पाश्चात्य सभ्यता ही हमारे पास एकमेव ऐसा मापक और मानक है जिससे हम मानवीय उपलब्धियो को परख सकते हैं? पूर्व और पश्चिम जिस रूप मे आज दिखाई दे रहे हैं, उसका कारण क्या वे धर्म हैं जिनके अनुयायी वे हैं? क्या वे अपने यथार्थ जीवनो और सार्वजनिक कार्यों मे धार्मिक विचारो के द्वारा निर्देशित होते हैं? यदि हा, तो किस सीमा तक? उन उन्मत्त महत्त्वाकाक्षाओ को, जो जीवन को भयकर आतकपूर्ण शासन का रूप दे देती हैं, क्या धर्म से सम्बन्धित बताया जा सकता है? क्या वे धर्म के प्रति प्रवचनाए नही हैं? क्या तीन या चार शताब्दी पहले भी पूर्व और पश्चिम के बीच इतने बुनियादी विभेद दिखाई देते थे? सत्य मे जो भीतरी भिन्नताए पाई जाती हैं, वे कभी इतनी

स्पष्ट और दो टूक नही होती, जितने वे शीर्षक जिनके अन्तर्गत हम समझने की अपनी सुविधा के लिए सत्य को विभाजित कर लेते हैं।

[१२]

आज जब क्रियाशील मनुष्य चिन्तनशील मनुष्य मे काफी आगे बढ गया है, तब हमारे लिए यह आवश्यक हो गया है कि हम जीवन की गहराई और शक्ति को बढावें। हमारे पास उत्तम से उत्तम और श्रेष्ठ से श्रेष्ठ आदर्श तो हैं, परन्तु वह शक्ति नही है जो उन्हें कार्यरूप मे परिणत कर सके। मानव-जाति कुछ समय से विश्व-राष्ट्रमण्डल की स्थापना की बात सोच रही है, किन्तु आज वह आत्मा नही है जो विश्व-राष्ट्र-मण्डल की देह को रूप दे सके। सारे ससार मे आज हालत यह है कि धार्मिक सिद्धान्त तो एक ओर जाते हैं और सामाजिक प्रवृत्तिया दूसरी ओर सरकती जा रही हैं। ससार के महान धर्मों को वे सारी सुविधाए और अवसर प्राप्त हो चुके है जो शक्ति, प्रतिष्ठा और धन के कारण सुलभ हो सकते हैं, तो भी ससार आज सदा की भाति पारस्परिक सहकार, शान्ति और प्रसन्नता से कोसो दूर है। बेईमानी की एक ऐसी सामान्य परम्परा बन चुकी है जिसकी ओर ध्यान देने की इच्छा ईमानदार लोगो तक मे नहीं है। चूकि वे अपने चित्त की स्वस्थता और मन की शान्ति को भग करने से डरते हैं, अत वे एक नीतिकथा मे वर्णित पवित्र पादरी और धर्मनिष्ठ 'लेवाइट' (लेवी कबीले के सिद्धान्तो के अनुयायी) की भाति, सावधानी से दूसरी पटरी से गुज़र जाते हैं। हम अपने को कहते तो धार्मिक हैं, परन्तु, पाशविकता और उच्छृङ्खल हिंसा का नगा नाच नाचते हैं। हम सर्वथा भिन्न नैतिक स्तरो पर एक दुहरा जीवन जीते हैं।

टॉल्स्टॉय ने लिखा है कि जब वे सेना मे थे, तब उन्होंने अपने एक साथी अफसर को एक ऐसे सैनिक को पीटते हुए देखा जो प्रयाण के समय पिछड गया था। टॉल्स्टॉय ने उससे कहा "एक साथी मनुष्य के साथ इतना क्रूर व्यवहार करते तुम्हें लज्जा नही आती? क्या तुमने बाइबल नही पढ़ी है?" उस अफसर ने उत्तर दिया "और तुमने क्या सेना के आदेशो को नही पढ रखा है?" जो लोग आज मनुष्य को भौतिक वस्तुओ की विजय-यात्रा पर आगे लिए जा रहे हैं, वे न्याय और औदार्य की आवश्यकता अनुभव करते नही जान पडते। आत्मसाक्षात्कार से जैसा दृढ विश्वास पैदा होता है, वैसा दृढ विश्वास धर्म हमे नही दे पाता। हमारे आन्तरिक जीवन रिक्त हैं। हममे आगे बढकर काम करने की प्रवृत्ति नहीं है और कल्पना का भी हमारे भीतर अभाव है, हमने अपने-आपको इतना निश्चेष्टमन बना दिया है कि हम विवश होकर हर प्रकार के प्रचार तथा प्रदर्शन के शिकार बन गए हैं। यदि हम नही सभलते, तो इसमे सन्देह नही कि एक दूसरा अन्धयुग संसार को तमाच्छन्न कर लेगा।

धर्म का पुनर्जन्म भी आवश्यक है। धर्म ने ससार के साथ समझौता कर लिया है, ससारानुमोदन की प्रचुर भावना धर्म मे आ गई है। धर्म ने यह मान लिया कि उसका काम तो आत्माओ को मुक्ति दिलाना है और राजनीति का काम समाज की रक्षा करना है, और उसने अपना हाथ राजनीति से खीच लिया, किन्तु इस प्रकार उसने

सभ्यता को उसके बुरे से बुरे शत्रु की गोद मे ढकेल दिया। जीवन से कल्पना और दूरदर्शिता का हट जाना एक वहुत गम्भीर वात है। हम इतने अनुभूतिशून्य होते जा रहे हैं कि हम ईश्वर के नाम को भी अपने लाभ के लिए प्रयोग करने लगे हैं। हम इस वात से सन्तुष्ट हो जाते हैं कि धर्म सैन्यवाद और साम्राज्यवाद का अविरोधी है, सामूहिक हत्याओ और मानवीय सद्प्रवृत्तियो को कुचलने के विरुद्ध वह अगुली नही उठा रहा। सगठित धर्म हमारे अस्त्र-शस्त्रो को अपना आशीर्वाद प्रदान करते हैं और यह विश्वास दिलाकर हमे राहत देते हैं कि हमारी नीतिया उचित एव अपरिहार्य हैं। प्रत्येक युग मे धर्म ने मनुष्य की भूलो और क्रूरताओ के साथ अपना तालमेल वैठा लिया है। अगर ठग अपनी तलवारें मा काली को समर्पित करते थे, और साडो की लडाई के अखाडो को रोमन कैथॉलिक गिरजाघरो का समर्थन प्राप्त है और अगर साडो के हत्यारे अपने इष्ट सन्त के नाम पर यह क्रूर कार्य कर सकते हैं, तो सिद्धान्तत वे युद्धो को आशीर्वाद देने की उन आदतो से किस अर्थ मे भिन्न हैं जिनको हमारे धार्मिक नेताओ की ओर से प्रोत्साहन मिल रहा है ? मैं इस वात से इकार नही करता कि इस अपूर्ण ससार मे शक्ति एक खेदजनक आवश्यकता है। कोई धार्मिक गुरु हमे मानव-हत्या के लिए प्रेरित करता है, इसके लिए मैं उसकी निन्दा नही कर रहा। मैं उसकी देशभक्ति को समझ सकता हू। मुझे तो परेशानी तव होती है जव वह यह वहाना वनाने की चेष्टा करता है कि मानव-हत्या के लिए प्रेरणा देने मे उसका धर्म उसके आडे नही आता। मानव-हत्या के लिए प्रेरित करके वह धर्म के नियम का उल्लघन कर रहा है, इस वात की अवहेलना वह नही कर सकता। दोनो स्थितियो के वीच जो वास्तविक अन्तर है, वह कार्डिनल लैविगेरी के एक कथन से स्पष्ट हो जाता है। उनसे जव पूछा गया "अगर कोई आपके दायें गाल पर चाटा मारे, तो आप क्या करेंगे ?" तव उन्होंने कहा "यह तो मैं जानता हू कि मुझे ऐसी स्थिति मे क्या करना चाहिए, परन्तु मैं यह नही जानता कि उस स्थिति मे मैं क्या कर वैठूगा।" वे चाहे जो कर वैठें, परन्तु इतना तो वे जानते हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए था। आधुनिक ससार तो टॉल्स्टॉय की एक कहानी के उस वटमार की तरह है जिसने एक साधु के सामने अपने पापो की आत्म-स्वीकृति की और साधु ने आश्चर्य के साथ कहा "दूसरे वटमार कम से कम अपने इस व्यवसाय के कारण लज्जित तो थे ; लेकिन इस आदमी का क्या हो, जो अपनी वटमारी के लिए गर्व अनुभव करता है ?"

आज हमको प्रकृतिदत्त मृत्यु के विरुद्ध नही लडना है, वरन् लडना है मानव-कृत मृत्यु के विरुद्ध। अकाल, वाढ और भूकम्प की महान आपत्तिया हमारे सिर पर मडरा रही हैं। उनसे मानव-जाति को कष्ट होता है, वह वरवाद हो जाती है, फिर क्या गिव्वन सही नही हैं जव वे कहते हैं "मनुष्य को पार्थिव तत्वो के सक्षोभो की अपेक्षा अपने सजातीय प्राणियो की लालसाओ से कही अधिक डरने की आवश्यकता है ?" गिव्वन ने ये शब्द कई वर्ष पहले लिखे थे, किन्तु हम क्या तव से कुछ उन्नत हुए हैं ? क्या हमने मानव-मानव के मध्य पाई जानेवाली प्रतिद्वन्द्विताओ का अन्त कर दिया है ? क्या आर्थिक प्रतियोगिता आज उतनी ही निर्मम नही है जितने कि स्वय

युद्ध—भले ही उनसे कम नाटकीय और प्रत्यक्ष यह हो ? तिल-तिल कर भूखो मरना प्रभाव की दृष्टि मे बमो और गोलियो की अपेक्षा कम भयकर नही होता ! धर्म को युद्धो के विरुद्ध लडना है—ये युद्ध चाहे सैनिक हो अथवा आर्थिक—और यह सोचकर लडना है कि इससे कुछ व्यक्तियो के लाभाश को क्षति पहुचती हो तो भले पहुचे।

हमे फिर से जोर देकर यह कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे युग के मुख्य प्रलोभन क्या है और उन्होंने जीवन मे भाग-दौड को कितना अधिक महत्त्व प्रदान कर दिया है। मनोविज्ञान मे प्रयसन को, दर्शनशास्त्र मे उपयोगवाद (फलवाद) को और धर्म मे सामाजिक आचरण के सिद्धान्तो को जितनी प्रमुखता दे दी गई है, उससे हम आत्मा के आन्तरिक जीवन से दूर हटते जा रहे हैं और आत्माधिकार की आवश्यकता हमारी दृष्टि मे गौण होती जा रही है। यह एक ऐसा युग है जिसमे शक्ति और गति को वैचारिक सहिष्णुता तथा प्रेम से भी अधिक महत्त्वपूर्ण मान लिया गया है, यह उत्पीडन का और सफलता की असारता का युग है। हम सासारिकता के मोह मे आकण्ठ लिप्त हैं और ससार-निषेध की बात इस युग मे सोचना भी दूभर है। हम 'यही और अभी' की प्रवृत्ति पर नियत्रण करने मे असमर्थ हो रहे है, क्योकि हम उस महत् सत्ता से अपना चेतन सम्पर्क खो चुके है जो हमारे निजी अस्तित्व से भी श्रेष्ठतर है। जो सम्प्रदाय ससार को बचाने के लिए उत्सुक हैं, वे कई रूप धारण कर हमारे सामने आ रहे हैं, उनमे से कुछ हैं नवदेवार्चनवाद (निओ-पैगेनिज्म), फासिस्तवाद, नात्सीवाद, साम्यवाद (बोलशेविज्म) और परम्परागत धर्म। उन सभीमे हिंसा और पाशविकता को प्रमुखता प्राप्त है। साथीपन ही सभ्यता है। शिष्टता, मैत्रीभाव और अपने पडोसियो के प्रति अशत्रुता—इसीको सभ्यता कहते हैं। निरीह अबीसीनियावासियो को, जिनको शूरवीर युवा इटालवी वैमानिको ने पहले ही तरल विषैली गैस छोडकर अन्धा बना दिया है, बहादुर इटालवी सैनिक मशीनगन की गोलियो से भूनते है। रूसी कम्युनिस्ट रूसी किसानो और रईसो को, राज्यभक्तो और राज्यद्रोहियो को निष्पक्ष होकर मटियामेट कर रहे हैं। सुनहरे केश वाले जर्मन इसलिए यहूदियो को निर्दयतापूर्वक मारते-पीटते हैं, क्योकि उनके केश उतने सुनहरे—चमकीले नहीं हैं और उनकी आखें उतनी नीली नही हैं जितनी जर्मनो की। जर्मनो की दृष्टि मे यह उनका एक बहुत बडा गुनाह है। स्पेनिश लोग स्पेनिशो की हत्या इतनी बर्बरता के साथ कर रहे हैं जिसका उदाहरण बर्बर जातियो में भी नही मिलता। अरबो और यहूदियो का दैनिक मनबहलाव ही यह है कि वे एक-दूसरे को गोली मारते रहें। जापान के सैनिक खुलेआम चीन के प्रतिरक्षाविहीन चीनियो पर आक्रमण करते हैं और उनपर अकथ विपत्ति और कष्ट ढा रहे हैं। और ससार है कि चुप-चाप यह सब देख रहा है और घटनाओ की प्रक्रिया को रोकने या सुधारने में अपने को असमर्थ पा रहा है। ससार की नित्यता का समर्थन करनेवाले ये सभी समूह अपने इन क्रूर कार्यो को भी ससार का त्राण करने के शुभ प्रयोजन से अनुप्राणित बतलाते हैं। वे समार को यदि बचाएगे तो बस अपने ही तरीके से, अन्यथा इसको टूक-टूक कर डालेंगे ! समाज के कष्टो के प्रति इतनी अन्यमनस्कता जीवन के तत्त्वों

के प्रति इतनी घातक अश्रद्धा यही प्रदर्शित करती हैं कि मानव-जाति मे नैतिकता की भावना का ह्रास हो रहा है और धार्मिक मूल्य छीजते जा रहे हैं। यदि सभ्य कहलानेवाला आदमी मशीनगन चलाता है और निहत्थे स्त्री-बच्चो की हत्या करता है, तो उसको हम नैतिक प्रकृति की दृष्टि से उस जगली आदमी से अच्छा किस तरह कह सकते हैं जो नि.शक होकर बलात्कार और हत्याए करता था। आज घृणा एक विशाल काले बादल की तरह चारो ओर फैल रही है। राज्यो के पास काम करने का एक ही ढग रह गया है—आतक जमाना। सदियो के सतत प्रयास से प्राप्त स्वतन्त्रता को बात की बात में प्रबल शत्रु के चरणो में समर्पित कर दिया जाता है। ससार में भय व्याप्त हो गया है और हमारे हृदय हमको ही प्रवचित कर रहे हैं। एक ओर तो हम युद्ध की तैयारिया करते जा रहे हैं और दूसरी ओर शान्ति की लम्बी-चौडी बातें करते नही अघाते। यह तो ठीक वैसा ही हुआ कि कोई मास-विक्रेता अपने शाकाहारी होने का ढोल पीटता फिरे।

लेकिन ऐसा है क्यो ? हमारी इस हत्यारी मानव-जाति में इससे बढकर कोई दूसरी अच्छाई नही है कि हममें जिज्ञासा की भावना है, हम किसी बात को समझने की अशान्त और उत्कट लालसा रखते हैं। हम यह पूछे बिना नही रह सकते कि हम अपना उद्धार करने में आज असमर्थ क्यो हो रहे हैं ? क्यो यह दुर्बोध ससार इतना बर्बर, दुष्ट और उत्पीडक बन गया है, क्यो हम ऐसी अनोखी घटनाओ और पैशाचिक कृत्यो के लिए अपने को उत्तरदायी बना रहे हैं ? इसका कारण है मनुष्य की स्वार्थपरता और जाति, राष्ट्र तथा साम्राज्य जैसे अमूर्त देवताओ की उसके द्वारा उपासना। हम जब इस बात की जड तक पहुचते हैं तो हम पाते हैं कि व्यक्तिगत चेतना ही ससार की परिस्थितियो की रचना करती है। हमारी प्रकृतियो के भीतर से ही वह सब उपजता है जो या तो मनुष्य को ऊचा उठाता है या नीचे गिरा देता है। जीवन के विचारणीय तत्त्वो का निकास हमारे हृदय मे से ही है।[1] हृदय की लालसाए हमारे मन के सन्तुलन को बिगाड देती हैं और ससार की समगति विषम बन जाती है। यह मानव-हृदय ही है जो पतनोन्मुख, धनलोलुप, बर्बर और स्वार्थी है। तृप्तिवादी (एपिक्यूरिअन) पेटर्स मैरियस एक दिन प्राचीन रोम मे खड्गपट्टु पहलवानो (ग्लैडियेटर्स) द्वारा की जानेवाली नृशस हत्याओ को देख रहा था। उसके मन मे विचार आया कि आज अगर किसी चीज़ की कमी है तो ऐसे 'हृदय' की जो इन सब बर्बरताओ को देखना असम्भव बना देगा—और भविष्य उन शक्तियो के साथ होगा जो इस प्रकार के हृदय को उत्पन्न कर सकेंगी। ससार के त्राण का अब एक ही उपाय है कि स्त्रियो और पुरुषो का हृदय ऐसा बन जाए कि पारस्परिक हत्याओ

१ जेरेमिआह कहते हैं "हृदय सब वस्तुओं से अधिक प्रवचनापूर्ण है और असाध्य रूप से रुग्ण है—इसको समझ ही कौन सकता है ?" (*xvii* ९)। ईसा का भी कथन है "अप्राकृतिक मैथुन, चोरी, हत्या, व्यभिचार, लोलुपता, दुष्टता, धूर्तता, लम्पटता, कुदृष्टि, दुर्वचनता, घमण्ड और मूढता आदि जितने बुरे विचार हैं, उन सबका उत्पत्तिस्थल हमारा हृदय ही है।" (मार्क, *vii*, २१, २२)।

और उत्पीडनो को चुपचाप बैठकर देखना उनके लिए असम्भव हो जाए। मनुष्य की पतित प्रकृति ही मानवता के भयकर अनैक्य का स्रोत है। जब तक जीवन की गरिमा, मानवीय सुख का महत्त्व, किसी भी प्रच्छन्न वेश मे आनेवाली पराधीनता के प्रति सत्रास हमारे सामाजिक जीवन के व्यावहारिक सत्य नही बन जाते, तब तक हमारे आर्थिक, जातीय और राष्ट्रीय काल्पनिक आदर्श अमानुषिक पैशाचिकता-मात्र रह जाएगे और उनकी पूर्ति के लिए मनुष्यो के शरीरो एव आत्माओ की बलि चढाई जाती रहेगी। इसके अतिरिक्त और जो कुछ है सब कुतर्कता और धूर्तता है। भावी सघर्ष फासिज्म और कम्युनिज्म के बीच उतना नही, जितना सगठित धर्मों और प्रान्तीय देशभक्ति से समर्थित भौतिक मूल्यो के प्रस्तोता साम्राज्यों तथा आध्यात्मिक आदर्शों की प्रभुसत्ता के बीच है। जो लोग हमसे कहते हैं कि त्याग-तपस्या निरर्थक है, मनन-चिन्तन भयावह है और "पूर्ण बनो" उपदेश का अर्थ है "जीवन को सफल, बनाओ और यदि हो सके तो अन्तकाल को सुखी बनाने की ओर भी कुछ ध्यान दो," वे मनुष्य के उच्च प्रारब्ध को समझते ही नही। हमारे जीवन की गम्भीरतम आवश्यकता है आध्यात्मिक मूल्यो के प्रति पुनर्जात जीवन्त आस्था। केवल वही धर्म, जो व्यक्तिगत परिवर्तन को अपना प्राथमिक सिद्धान्त बनाता है, जो आत्मा मे अज्ञान की काली प्रतिमा के स्थान पर ज्ञानसप्रभ दिव्यशक्ति को प्रतिष्ठित करता है, लोगो मे उस नये हृदय की रचना कर सकता है, उनमे वह साहस और विश्वास भर दे सकता है जो उनको अपने पथ पर अडिग रूप से बढाते चलें, और उनके बर्बरतापूर्ण जीवन तथा सस्थाओ को बहुश बदल सकता है, ताकि वे अपने धर्म के प्रति निष्ठावान रह सकें।

४

भारत और पाश्चात्य धार्मिक विचार : यूनान

[१]

यद्यपि एशिया और यूरोप परस्पर भिन्न हैं, तो भी वे इतने पूरी तरह भिन्न नहीं हैं कि उनमे भौतिक या आध्यात्मिक वस्तुओ का आदान-प्रदान न हो सके। यह आदान-प्रदान सदियो से होता रहा है और इसीसे सिद्ध होता है कि मानवीय मन मे एकता का सूत्र प्रच्छन्न रूप से वर्तमान है। भारत, जो एक प्रकार से एशियाई चेतना का प्रतिनिधि है, वह भौगोलिक, भाषागत और जातिगत बाधाओ के होते हुए भी पश्चिमी महाद्वीप से कभी भी अलग-थलग नही रहा है। पाश्चात्य विचारणा पर इसका प्रभाव—या कहें तो उससे इसका सम्बन्ध सतत और निरन्तर न रहते हुए भी बहुत महत्त्वपूर्ण रहा है। जिस तरह हम असीरिया, मिस्र, क्रीट या बेबीलोन के विषय मे बातें करते हैं, उसी तरह भारत के विषय मे नही कर सकते, क्योकि इसके इतिहास का अभी निर्माण हो रहा है और इसकी सभ्यता अब भी प्रगति की ओर है।

पाश्चात्य चेतना के भीतर विचारो, आकारो और कल्पनाओं के एक नये ही ससार का अकस्मात् समावेश हो जाने के कारण आज पश्चिम एक नवीन पुनर्जागरण-काल से गुज़र रहा है। जिस प्रकार पुनर्जागरण-काल मे यूनान और रोम की पुरातन सस्कृति के रहस्योद्घाटन के कारण यूरोप की चेतना विस्तृत हुई थी, उसी प्रकार उसमे आज एक नई भावना का उदय अचानक ही हुआ है जिसपर एशिया के नव उत्तराधिकार का, जिसके साथ भारत भी सलग्न है, प्रभाव पड रहा है। मानवता के इतिहास मे आज पहली बार ससार की एकता की चेतना का उदय हमारे मानस-क्षितिज पर हुआ है। हम चाहे या न चाहे, पूर्व और पश्चिम एकसाथ हो गए हैं और अब वे अलग नही हो सकते। स्थानगत नैकट्य आध्यात्मिक सामीप्य और मन तथा कल्पना के कोष के आदान-प्रदान के लिए मार्ग तैयार कर रहा है। यदि हम यूरोप तथा एशिया के अतीत को लेकर ही ताना-बाना बुनते रहे, तो हम अपने को सुसस्कृत कहने के अधिकारी नही। मानवता के अर्द्धांग के विचारो और अनुभवो की उपेक्षा करना खतरे से खाली नही। यदि हम चाहते हो कि पौर्वात्य या पाश्चात्य विचारणा मे किसी एक के साथ एकपक्षीय लगाव रखने से हमारे मन-मस्तिष्क मे जो सकीर्णता आ चुकी है, उसे दूर करें, यदि हम चाहते हो कि अपने आन्तरिक जीवन को अधिक पूर्ण और सार्वभौमिक अनुभव की गरिमा से सुदृढ करें, तो यह आवश्यक है कि हम एक-दूसरे की सस्कृतियो को समझने का प्रयत्न करें। हम लोगो मे से कुछ के मन मे सभी बाह्य प्रभावो का प्रतिरोध करने का जो विचार चलता है, उसका कारण हमारा मूर्खतापूर्ण घमण्ड ही है। मानव-परिवार की कोई शाखा यदि आध्यात्मिक या वैज्ञानिक क्षेत्र मे कोई प्रगति करती है, तो उसका

लाभ उस अकेली शाखा को नही मिलेगा, वरन् समस्त मानव-जाति उससे लाभान्वित होगी। इसके अतिरिक्त, मनुष्यो की किसी भी जाति के पास कोई भी ऐसी शक्ति नही है जिसको कुछ न कुछ अश मे दूसरे लोग भी न रखते हो। अन्तर केवल न्यूनाधिकता का ही है। प्राचीन भारत का रहस्यवाद अथवा आधुनिक यूरोप का बुद्धिवाद किसी ऐसी वस्तु का ही परिपूर्ण विकास है जिसपर मनुष्य होने के नाते हर मनुष्य का अधिकार है। आज जिस नये ससार की अवतारणा हो रही है, वह किन वातो मे पुराने ससार से भिन्न है, इसका पर्यवेक्षण करनेवाला व्यक्ति यह स्पष्टतः समझ रहा है कि हम एक ऐसे युग मे हैं जिसमे सस्कृतियो का सम्मिश्रण हो रहा है। किसी भी सभ्यता के हृदय तक पहुचने के लिए हमे उसकी विचारणा का, उसके धार्मिक आदर्शों के गुप्त स्रोतो का अध्ययन करना चाहिए। प्रारम्भ से ही धर्म मानव-सस्कृति का वाहक रहा है। धर्म मनुष्य के समग्र अनुभव की महानतम उपलब्धि है। यह जीवन का वह गम्भीरतम रूप है जिसमे मानव-जीवन के विभिन्न जटिल और सघर्पशील स्वरूप प्रतिविम्वित होते हैं। लाखो मनुष्यो के मन, उनके विचार और स्वप्न किसी भी धर्म का निर्माण करते हैं। ससार के एक वडे भाग ने अपनी धार्मिक शिक्षा भारत से प्राप्त की थी। अन्धविश्वास और धर्मशास्त्रीय सम्भार के साथ निरन्तर सघर्ष करते रहने के वावजूद भारत सदियो तक आत्मा के आदर्शों का दृढता से पालन करता रहा है।[1]

[२]

इस सक्षिप्त रेखाचित्र मे पूर्वीय अथवा पश्चिमीय विचारधारा की एक रूपरेखा तक देना असम्भव है। मेरा उद्देश्य वहुत सीमित है। मैं दोनो धाराओ मे पाई जानेवाली रहस्यवादी प्रवृत्तियो की ओर सकेत-मात्र कर देना चाहता हू और दोनो के मूल-स्रोत की अभिन्नता की ओर दृष्टिपात कराने से अधिक मैं उनकी प्ररूप-सम्वन्धी घनिष्ठता की ओर ध्यान दिलाना चाहता हू। मेरी चेष्टा यह दिखाने की है कि रहस्यवादी उच्चाकाक्षा मानव-प्रकृति का एक विशुद्ध अग है और जहा कही यह विकसित

१. "यह सच है कि हिमालय जैसे ऊचे पर्वत की रुकावट के रहते हुए भी भारत ने व्याकरण, तर्क, दर्शनशास्त्र और पौराणिक कथाए, सम्मोहन विद्या (हिप्नोटिज्म) और शतरज का खेल आदि महत्त्वपूर्ण उपहार हमको दिए हैं, और इनसे भी वढ़कर भारत ने जो चीज हमें दी है, वह है हमारी सख्याक और दशमलव पद्धति। किन्तु, ये चीजें भारत की आत्मा का साररूप नहीं हैं; हम भविष्य मे भारत से जो कुछ सीख सकते हैं, उसके सामने तो ये वस्तुए नगण्य हैं। जैसे-जैसे वैज्ञानिक आविष्कार, उद्योग और व्यापार महाद्वीपों को घनिष्ठता के वन्धन मे वाधते जा रहे हैं, या जैसे-जैसे ये हमें एशिया के साथ प्रतियोगिता के संघर्ष में डाल रहे हैं, वैसे-वैसे हम इसकी सभ्यता का निकटता से अध्ययन करते जाएगे और चाहे शत्रुता के भाव से ही क्यों न हो, हम इसकी जीवन-विधियों और विचारों में से कुछ न कुछ तो अवश्य ही आत्मसात् करेंगे। सम्भवत हमारी विजयों, उद्दतता और लूटपाट के वदले में भारत हमको प्रौढ मन की सहिष्णुता और भलमनसाहत का पाठ पढाएगा। इससे हमें प्राप्त होगी अलिप्सु आत्मा की शान्त तृप्ति, सहानुभूतिपूर्ण चेतना की शान्ति और सभी प्राणियों के लिए समन्वभावेन शान्तिप्रद प्रेम।" [विलियम डुरैण्ट लिखित 'द स्टोरी ऑव सिविलाइज़ेशन अवर ओरिएण्टल हेरिटेज' (१६३५), पृष्ठ ६३३]।

होती है, एक-सा सामान्य स्वरूप ग्रहण करती है। यह कार्य भी सरसरी तौर पर ही किया जा सकता है। इसलिए दार्शनिक और धार्मिक समस्याओ के सागोपाग अध्ययन मे जिस ढग से विषय-निरूपण किया जाता है, उससे बहुत भिन्न मेरा यह विवेचन होगा। यदि पाठक को इससे सतोष न हो, तो मैं उससे निवेदन करूगा कि वह इस निरूपण को इस विषय की प्रस्तावना-मात्र समझे।

हिन्दू सभ्यता का पता सिन्धु-घाटी सभ्यता के समय से लगता है जबकि ऐसे-ऐसे विशाल नगर थे जिनमे स्नानघर और स्वच्छता की अन्य व्यवस्थाओ से युक्त सुनियोजित भवन-निर्माण हुआ करते थे। अभी तक केवल दो ही विध्वस्त नगरो का पता चल सका है, जिनमे से एक है मोहनजोदाडो सिन्धु नदी के तट पर और दूसरा है हडप्पा रावी नदी के तट पर। ये दोनो नगर एक-दूसरे से चार सौ मील दूर हैं, तो भी इनकी सभ्यताओ मे आश्चर्यजनक रूप से सादृश्य है।[1] दोनो ही नगरो मे एक जैसी वास्तुकला और नगर-नियोजना, एक जैसे धातु के औजार और हथियार पाए गए हैं। ईसा के चार सहस्र वर्ष पूर्व यह सभ्यता प्रचलित थी। इस सभ्यता के सदस्य मानव अन्न की खेती करते थे, पशु पालते थे, घोडो को पालतू बनाते थे, दो पहियो की गाडी मे बैलो को जोतते थे और हाथी को बोझा ढोना सिखाते थे। ताबे और कासे के औजार इस्तेमाल किए जाते थे और कारीगर चादी का काम करते थे तथा रग-रोगन करना जानते थे। एक प्रकार का चित्र-आलेखन भी प्रचलित था। इस सभ्यता की कई आवश्यक बातें सुमेर, मिस्र और मिनोस की सभ्यताओ से मिलती-जुलती थी।

सर जॉन मार्शल के अनुसार, चारो सभ्यताए अफ्रेशियन ताम्रयुगीन सस्कृति मे से ही मूलत विकसित हुई होगी और उसीकी उपशाखाए ये थी। उनका कथन है "इसमे सन्देह नही कि प्रत्येक की एक विशेष प्रकार की सभ्यता थी जिसको स्थानीय आवश्यकताओ के अनुसार अपना लिया गया था। किन्तु, उन सबमे विचारो की एक आधारभूत एकता थी जिसको केवल वाणिज्य-सम्बन्धी आदान-प्रदान का ही परिणाम नही कहा जा सकता।"[2] वे अपने मत की पुष्टि मे कुछ उदाहरण भी देते हैं: (१) वस्तुओ, धारणाओ और वास्तविक ध्वनियो को प्रकट करने के लिए चित्र-चिह्न प्रयोग करने का विचार; (२) कातने और बुनने की कला की जानकारी, (३) रगे हुए मिट्टी के बर्तन। सिन्धु-घाटी सभ्यता इस आधार पर विकसित हुई एक ऐसी विशेषता को लेकर, जो उसकी ही थी। प्रोफेसर चाइल्ड ने इसको इस प्रकार कहा है· "सिन्धु-घाटी सभ्यता एक विशिष्ट वातावरण के साथ मानव-जीवन के एक बहुत पूर्ण समायोजन का, जो वर्षों के धैर्यपूर्ण प्रयास का ही प्रतिफल हो सकता था, प्रतिनिधित्व करती है। यह सभ्यता काल की कसौटी पर खरी उतरी, यह पहले से ही विशेषत भारतीय है और आधुनिक भारतीय सस्कृति के लिए आधार प्रस्तुत करती है।"[3] जब हम सिन्धु-घाटी

१. "सिन्धु-घाटी सभ्यता के अन्तर्गत जो क्षेत्र था वह मिस्र के प्राचीन राज्य का दोगुना और कदाचित् सुमेर तथा अक्कद का चौगुना तो होगा ही।" [प्रो० चाइल्ड 'न्यू लाइट ऑन द मोस्ट ऐन्श्येण्ट ईस्ट' (१९३४), पृष्ठ २०६]।

२. 'मोहनजोदाड़ो ऐण्ड द इण्डस सिविलाइजेशन' (१९३१), खण्ड १, पृष्ठ ९३-५।

३. 'न्यू लाइट ऑन द मोस्ट ऐन्श्येण्ट ईस्ट' (१९३४), पृष्ठ २२०।

के लोगो के धार्मिक और सामाजिक सिद्धान्तो की वात कहते हैं तब हम अनुमान का ही आश्रय लेते हैं। मूर्तिकला-विषयक जो छिट-पुट नमूने मिले हैं, उनसे हम अनुमान कर सकते हैं कि उस समय शिव और शक्ति की पूजा का विधान था और योग-पद्धति प्रचलित थी। स्पष्ट ही, वहुदेववाद और मनोवैज्ञानिक विकास की एक प्रविधि का, जैसाकि मिस्र के हरमेटिक समूहो मे भी पाया जाता था, प्रचलन था। अस्थि-अवशेषो तथा कई स्पष्ट शारीरिक गठन वाली आकृतियो से, जिनमे आस्ट्रेलियाई, यूरोपीय, अफ्रीकी, एशियाई, आल्प्स-क्षेत्रीय तथा मगोलियाई[1] ढग की आकृतिया मिलती हैं, हम यह कल्पना कर सकते हैं कि उस काल की सामाजिक व्यवस्था किसी एक जाति या धर्म पर आधारित नहीं थी। स्पष्ट ही इसका जीवन-दर्शन—यदि था कोई—सामाजिक और धार्मिक दृष्टि से काफी उदार रहा होगा। यह सस्कृति सुमेर की सस्कृति से, जो वेवीलोनिया की सस्कृति के रूप मे परिवर्तित हो गई, सम्वन्धित थी और इसके साथ ही उस परम्परा का भी इसने निर्माण किया जिसको यूरोप ने उत्तराधिकार मे प्राप्त किया है।

[३]

भारतीय सभ्यता का दूसरा सोपान ऋग्वेद-काल है जो हमको ईसा के दो सहस्र वर्ष पूर्व ले जाता है। उस समय हम एक ओर तो भारतीयो और ईरानियो की, और दूसरी ओर यूनानियो, रोमनो, केल्टो, जर्मनो और स्लावो की भाषाओ तथा पुराण-कथाओ एव धार्मिक परम्पराओ और सामाजिक सस्थाओ के वीच घनिष्ठ सारूप्य पाते हैं। आकाश के देवता द्यौस पितर् (ज्यूपिटर), पृथिवीमाता, वरुण, उषस् (औरोरा), सूर्य आदि देवता यूनानियो और भारतीयो मे समान रूप से पूज्य है। प्रारम्भिक रूप से उनकी कल्पना प्रकृति की शक्तियो या कारणो के रूप मे हुई थी। यद्यपि उनमे कुछ मानवीय गुण भी हैं, तथापि वे स्पष्टत सगुणवादी सृष्टि नही थे। यूनानियो के ओलम्पियाई धर्म और वैदिक विश्वासो मे पृष्ठभूमि की समानता थी। होमर की कविताओ और वेदो की ऋचाओ मे जिस सामाजिक जीवन का वर्णन आया है, उनमे भी उल्लेखनीय सादृश्य मिलता है। दोनो ही पितृ-सत्तात्मक और कवायली (जन-जातीय) हैं। ये सादृश्य यह सूचित करते हैं कि किमी प्रारभिक काल मे दोनो लोगो मे परस्पर घनिष्ठ सम्वन्ध था, किन्तु इनमे से किसीको उन दिनो की स्मृति नही रही और फारसी साम्राज्य के अन्तर्गत ये दोनो अजनवी की तरह एक-दूसरे से मिले। इस प्रकार ऋग्वेद मे यूरोपवासियो को अपने प्रजातिगत उत्तराधिकार के स्मृति-चिह्न मिल जाएगे।[2] अपने पश्चिमी सगोत्रियो से विछुडने के वाद वहुत समय तक भारतीय और

१ वही पृष्ठ ७०८–९।

२. तुलना कीजिए मैक्समूलर के कथन से "जहां तक हम भाषा में, अर्थात् विचार में आर्य हैं, वहा तक ऋग्वेद हमारी प्राचीनतम पुस्तक है।" "यदि कोई व्यक्ति ऐसे लोगों और युग के जीवन तथा विचार, कविता और कार्य की कल्पना करने का कष्ट कर सके, जिनमें हमारी अपनी प्रजाति की बौद्धिक क्रियाशीलता के प्रथम विकास का सबसे अच्छा प्रदर्शन हुआ है, तो वह कई प्रकार से इन ऋचाओं के प्रति आकर्षित होगा।...." देखिए कैगी द्वारा लिखित 'द ऋग्वेद' (१८९८ ई०), पृष्ठ ७५।

ईरानी लोग साथ-साथ रहते रहे। ऋग्वेद के देवताओ मे से सर्वप्रमुख देवता वरुण हैं जिनको चतुर, सर्वप्रभुतासम्पन्न तथा आकाश, पाताल और पृथिवी को अपने पवित्र अध्यादेश 'ऋत' के द्वारा शासित करनेवाला वताया गया है। वह नैतिक विधान के सरक्षक कहे गए हैं। कोई भी वस्तु उनकी आखो से छिपी नही है। वह पवित्र और शुद्ध मन वाले—'पूतदक्ष' हैं।

> "स्वर्ग और पृथिवी के बीच जो कुछ है, और उससे भी ऊपर जो है,
> उस सव कुछ को राजा वरुण स्पष्टत देख लेते हैं—
> मनुष्य की पलको का गिरना तक वे गिन लेते हैं।
> जो चलता है, जो खडा रहता है, जो अपने को छिपाता है,
> जो चुपके-से भाग जाता है या गुप्त रूप से ओट मे चला जाता है
> उन सवकी गतिविधियो को और उन दो व्यक्तियो की गोपनीय बातो को
> जिनपर वे परस्पर बैठकर वाद-विवाद करते हैं,
> राजा वरुण जान जाते हैं मानो वे वहा उपस्थित कोई तीसरे व्यक्ति हो।"

वरुण का अपना साम्राज्य है जो आध्यात्मिक और सत्याश्रित है; इस अपने साम्राज्य को वह "सभी विरोधो के होते हुए भी विजयी बना देते हैं।"[1] इस विचार का समर्थन पारसी धर्मगाथाओ मे उल्लिखित अहरीमान के विरुद्ध ओर्मुज्द के संघर्ष मे होता है जो दैवी प्रकाश की पैशाचिक अन्धकार के साथ प्रतियोगिता के रूप में वर्णित हुआ है।[2] वरुण का साम्राज्य ईश्वरीय राज्य (ब्रह्मलोक) और स्वर्गीय राज्य का अग्रिम रूप है।

तो भी, वैदिक ऋचाओ की रचना उस काल के पश्चात् हुई जव भारतीय ईरानियो से अलग हो चुके थे। जिस समय[3] उनकी रचना हुई, उस समय भारतीय सिन्धु-प्रदेश मे निवास कर रहे थे।

फारसी देवता दो बार पश्चिम को जीतते-जीतते रह गए। पहली बार उनको

१. ऋग्वेद, *vii*, पृष्ठ ८७।

२. "यहा पर सबसे पहले एक ऐसे अस्तित्व की अवधारणा मिलती है जो प्रकृत्या ईश्वर का विरोधी है, और विरोधी वह है केवल सामान्यत पैशाचिक जुगुप्सा के अर्थ में नहीं, अपितु उस देवता की पवित्र आत्मा के विपक्षी के रूप में जिसके साथ उसका बुनियादी सघर्ष है। यह विचार इजरायल की भूमि में नहीं उत्पन्न हुआ, वरन् आर्यकाल में इसका उद्भव हुआ।" [रुडॉल्फ ओटो कृत 'द किंगडम ऑव गॉड एण्ड द सन ऑव मैन' (अंग्रेजी अनुवाद—१९३८), पृष्ठ २७२]। दैवी युद्ध का विचार 'ऐजम्प्शन ऑव मोजेज (*x*, १, २) की 'बुक ऑव एनॉक' में मिलता है।

३. मैक्समूलर का मत है कि वैदिक ऋचाओं की रचना का काल १५००–१२०० ई० पू० के मध्य है ('चिप्स', *i* और *ii*); वेवर इस काल को १६वीं शती ई० पू० में ले जाते हैं ('हिस्ट्री ऑव इण्डियन लिटरेचर' पृष्ठ २), हौग का मत है कि इनका रचनाकाल २४०० से १४०० ई० पू० के मध्य है ('इण्ट्रोडक्शन टू 'ऐतरेय ब्राह्मण', प्रथम अध्याय, पृष्ठ ४७), ह्विटनी २००० से १४०० ई० पू० के बीच का काल-निर्णय करते हैं ('ओरियण्टल एण्ड लिंग्विस्टिक स्टडीज', पृष्ठ २१), कैगी इनका रचनाकाल २००० से १५०० ई० पू० के मध्य मानते हैं ('द ऋग्वेद'—१९९८ ई०, पृष्ठ ११)। उनका मत है कि वैदिक ऋचाओं की रचना १५०० ई० के लगभग समाप्त कर दी गई थी (पृष्ठ २२)।

सैलेमिज के पास रोक दिया गया। कई शताब्दियो बाद आर्सेसिड के राजत्वकाल मे मिथ्र देवता ने रोमन ससार मे प्रवेश पा लिया। वेद और आवेस्ता की ऋचाओ मे मिथ्र का उल्लेख मिलता है। वैदिक 'मित्र' और ईरानी 'मिथ्र' मे कई वातो को लेकर सादृश्य है, यहा तक कि दोनो एक ही हैं, इस वात मे कोई सन्देह नही रहता। दोनो ही धर्मों मे उसको प्रकाश का देवता माना गया है और आकाश के साथ ही उसका भी आह्वान किया जाता है। आकाश को वेदो मे वरुण और आवेस्ता मे अहुर कहा गया है। मिथ्र सत्य का रक्षक और असत्य तथा भ्रान्ति का शत्रु है। मित्र-वरुण और पाच अन्य आदित्य, जैसेकि मिथ्र-अहुर और अमशस्पन्द आदि मूल आर्य देवकुल मे नही पाए जाते। ऐसा लगता है कि उनका उद्भव उत्तरकाल मे हुआ जब कि हिन्दू और ईरानी लोग अभी साथ-साथ ही रह रहे थे। पारसी धर्म मे मिथ्र ने अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। "अहुरमज्द ने इस समस्त गतिशील ससार के पालन और देखरेख के लिए उसकी स्थापना की।"[1] सर्वोच्च देवता मे जो नक्षत्रो के ऊपरी लोक मे शाश्वत प्रशान्ति मे निवास करता है और एक सक्रिय देवता मे जो अन्धकार की शक्ति के साथ अनवरत सघर्ष मे रत है, अन्तर किया गया है। मिथ्र का यश एजियन सागर की सीमाओ तक फैल गया था और उसका नाम प्राचीन यूनान मे सुविख्यात था। आर्टाजिरज़ेस ने मिथ्र की उपासना को अपनी विभिन्न राजधानियो— वेवीलोन, दमिश्क, सार्डिज, सूसा, एक्वैटना और पर्सेपोलिस मे लोकप्रिय वनाया। वेवीलोन मे सरकारी पादरी (मैगी) देशी पादरियो की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली वन गया। वे मिथ्र को ओर्मुज़ या प्रकाश और अहरीमान या अन्धकार का मध्यस्थ मानते थे। उन्होंने शीघ्र ही मेसोपोटामिया को पार कर एशिया माइनर के वीचोवीच तक प्रवेश पा लिया। वे पोण्टस, गैलेशिया और फ्राइजिया मे दल के दल एकत्र हो गए। फारसी साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने के वाद, मकदूनिया साम्राज्य की विजय के द्वारा जो धार्मिक उत्तेजना उत्पन्न हुई, उसमे मिथ्रवाद को निश्चित स्वरूप प्राप्त हुआ। यूनानी और ईरानी विश्वासो मे सादृश्य ढूढा जाने लगा, जीयस के साथ अहुर-मज्द का, हेरेक्लीज के साथ वेरेथ्रघ्न का, आर्टेमिज़ टौरोपोलस के साथ अनाहित का जिसको वृषभ समर्पित किया जाता था और हेलिओज के साथ मिथ्र का सारूप्य स्थापित किया गया। मिथ्र की रहस्यात्मकताओ ने रोमन साम्राज्य मे भी स्थान पा लिया। नीरो (५४–५८ ई०) धार्मिक समारोहो मे मैगी को अपना पुरोहित वनाना चाहता था। मिथ्र महामाता आइसिस के साथ सम्वन्वित हो गया और उसने वही राजकीय सरक्षण प्राप्त कर लिया जो महामाता आइसिस को प्राप्त था। कम्मोडस (१८०–१९२ ई०) एक कुशल राजा हुआ, उसने धार्मिक समारोहो मे भाग लिया। २७० ई० मे औरेलियन ने मिथ्र के नाम पर विजय प्राप्त की। ३०७ ई० मे डायोक्लेटियन, गैले-रियस और लिसिनियस ने डेन्यूब नदी के तटवर्ती कारनुनट्रम मे मिथ्र का एक मंदिर वनवाया जिसमे मिथ्र के लिए 'साम्राज्य का रक्षक' शब्द अकित किए गए थे। अतिम 'पेगन' (मूर्तिपूजक) हुआ जूलियन अपोस्टेट जो सीजर राजवश के सिहासन पर वैठा,

१ 'भारत', दशम अध्याय, पृष्ठ १०३।

वह मिथ्र का बडा भक्त था। ईसाई चर्च ने कास्टैण्टाइन से गठबन्धन किया। उसके पूर्व यदि उसका कोई भयकर प्रतिद्वन्द्वी था तो वह थी मिथ्र की उपासना। कोई आश्चर्य नही कि रेनन ने यह लिखा : "यदि ईसाइयत का विकास किसी भयकर रोग के द्वारा अवरुद्ध कर दिया गया होता, तो ससार आज मिथ्रवादी होता।" तव गिरजाघरो मे 'क्रॉस' की जगह 'वृषभ' के प्रतीक को पूजनीय स्थान मिला होता।

सिन्धु नदी के मुहाने और फारस की खाडी के मध्य वाणिज्य और व्यापार का सिलसिला अटूट रूप से बौद्धकाल तक जारी रहा था। हमारे पास इस बात के साक्ष्य हैं कि लेवाण्ट के फोनिशियन लोगो और पश्चिमी भारत के बीच ९७५ ई० पू० तक समुद्र-मार्ग से व्यापार हुआ करता था। उस समय टायर के राजा हीरम ने राजा सॉलोमन के महलो और मदिर को सजाने के लिए पश्चिमी भारत से 'हाथी-दात, बनमानुसो और मयूरो' का आयात किया था।[1]

सिन्धु नदी घाटी और दजला नदी (यूफ्रेटीज़) घाटी के मध्य बहुत प्राचीनकाल से व्यापार होता आया था, क्योकि मित्तनी (एशिया माइनर) के हिट्टी राजाओ के कैपाडोसिया मे पाए गए कीलाक्षर मे लिखे शिलालेखो मे, जो सोलहवी या पन्द्रहवी शती ईस्वीपूर्व के बताए जाते हैं, वैदिक देवताओ इन्द्र, मित्र, वरुण और अश्विनो का उल्लेख आया है। उनको उसमे उनकी वैदिक उपाधि 'नासत्या' से पुकारा गया है। हिट्टी राजाओ के नाम भी आर्यों जैसे होते थे।[2]

यहूदियो के नीतिशास्त्रीय और धार्मिक चिन्तनो का स्रोत बहुत कुछ वह सस्कृति थी जो सुमेर, मिस्र और सिन्धु घाटी मे एकसमान व्याप्त थी। यहूदियो (हिब्रू लोगो) का इतिहास मे सर्वप्रथम उल्लेख आता है १४०० ई० पू० मे लिखे गए तेल—अल्—अमरना के पत्रो मे। इन पत्रो मे लिखा है कि किस प्रकार हिब्रू खानाबदोश फिलस्तीन मे चले आए और मिस्रियो की सैन्यसेवा मे भरती हो गए, क्योकि फिलस्तीन पर उस समय मिस्रियो का ही नियन्त्रण था। उन दिनो यहूदी कौम एक खानाबदोश जाति थी जिसमे सामाजिक स्वरूप अपने अत्यन्त आदिमरूप मे ही थे। स्पष्ट है कि जिन हिब्रू खानाबदोशो ने मिस्र मे शरण ली, उनको दास बना लिया गया। उनको दासत्व से छुडाया था एक प्रतिभाशाली और यशस्वी नेता ने, जिसका नाम आज भी हमे ज्ञात है। मोज़ेज़ ने हिब्रू लोगो को समझाया कि वे देवपूजा करना छोड दें। प्रसिद्ध मिस्री पुरातत्त्वविद् प्रोफेसर ब्रेस्टेड का कथन है कि 'कहावतो की पुस्तक' (बुक ऑव प्रॉवर्ब्स) और धर्मगीत (साम्स) का अधिकाश प्राचीन मिस्री साहित्य पर आधारित है और ड्यूटरोनॉमी (इजील की प्रथम पाच पुस्तको मे से एक के लेखक) ने जिस आचार-सहिता का उल्लेख किया है, वह और कुछ नही हैमुरबी आचार-सहिता का ही एक घटिया रूपान्तर है।

१ 'किंग्स', x, पृष्ठ २२।
२ 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया', खण्ड १, (१९२२ का सस्करण), पृ० ३२०।

[४]

प्राचीनतर या आप्त उपनिषदो[1] तक, जिनका रचना-काल ६०० से ६०० ई०पू० का माना जाता है और जो बौद्धकाल से पहले के हैं, आते-आते हम भारतीय सभ्यता के तृतीय सोपान तक पहुच जाते हैं। इन आप्त उपनिषदो मे हिन्दू विचारणा की आधार-भूत धारणा प्रस्तुत हुई है। आज भी उनकी विचारधारा से भारतीय मन प्रशासित हो रहा है। सर्वोच्च ज्ञान यही है कि हम आत्मा को जानें (आत्मान विद्धि)। आत्मा क्या है ? उपनिषद् इस प्रश्न का उत्तर इस रूप मे देते हैं, वे कहते हैं कि यह मौलिक आत्मा है, शुद्ध 'विद्या' है जो शारीरिक दशाओ और मानसिक घटनाओ से भिन्न है। विश्लेषण की प्रक्रिया के द्वारा आत्मा का अनात्मा से अन्तर स्पष्ट किया जा सकता है। जीवन के बहुविध अनुभवो के मध्य भी जो एकरूप रहती है, उसे आत्मा माना गया है। आत्मा शरीर नही है, क्योकि शरीर सतत परिवर्तनशील है। स्वप्नद्रष्टा अह को भी आत्मा नही कह सकते, क्योकि स्वप्नद्रष्टा अह यद्यपि सापेक्ष रूप से बाह्य पदार्थों से कोई सम्पर्क नही रखता, तथापि उसे दु ख और सुख, पीडा और आनन्द होते हैं। स्वप्नहीन गहरी निद्रा से भी आत्मा को एकरूप नही माना जा सकता, क्योकि ऐसी दशा मे वह अस्तित्वहीन-सी लगती है। छादोग्य उपनिषद्[2] मे आत्मा का विश्लेषण करते हुए निष्कर्ष रूप मे ज़ोर देकर कहा गया है कि आत्मा जो परिवर्तनो की धारा का आधार है, ऐसा परम प्रकाश है जिससे हम देखते और सुनते है, चिन्तन और मनन करते हैं। माण्डूक्य उपनिषद् मे भी आत्मा के इस विश्लेषण का समर्थन मिलता है। यह उपनिषद् चेतना की चार स्थितिया बतलाता है तुरीय (इन्द्रियातीत चेतना), सुपुप्ति (स्वप्नरहित निद्रा), स्वप्न और जाग्रत्। जागरितावस्था मे आत्मा शरीर की क्रियाओ के द्वारा भौतिक वातावरण के सम्पर्क मे आती है, परन्तु शरीर आत्मा नही है, क्योकि हमारे शरीरो के आहत होने और उससे मस्तिष्को के प्रभावित होने पर भी आत्मा की चेतना बनी रहती है। आत्मा को यह ज्ञान रहता है कि उसने शरीर धारण किया है, इसलिए उसको और शरीर को एक ही नहीं कहा जा सकता। स्वप्नावस्था मे आत्मा को भौतिक ससार का नही, अन्य संसारो का ज्ञान रहता है। स्वप्नहीन निद्रा अर्थात् सुपुप्ति की अवस्था मे आत्मा यद्यपि भौतिक ससार और जागरितावस्था के उसके अनुभवो से अनजान रहती है तथा स्वप्नो के रहस्यमय संसार का ज्ञान उसे नही होता, तथापि उसका अस्तित्व बना रहता है। पदार्थनिष्ठता का सिद्धान्त तो वहा रहता है, परन्तु अव्यक्त रूप मे। आत्मा के सिद्धान्त के बिना न तो शरीर और न मन ही कार्य कर सकते हैं। यद्यपि बुद्धि ही अह की चेतना को उत्पन्न करती है, तथापि दूसरे अर्थ मे यह स्वय इसकी उपज है। मनोवैज्ञानिक अह विचारो और कल्पनाओ, स्मृतियो और स्नेहो, इच्छाओ और आदतो का सश्लिष्ट रूप होता है।

१. 'उपनिषद्' शब्द का अर्थ निरुक्त की दृष्टि से है 'उप'=समीप, 'नि'=श्रद्धापूर्वक, 'षद्'=बैठना। बाद में इस शब्द का अर्थ उन आध्यात्मिक उपदेशों से लिया जाने लगा जो गुरु-शिष्य की एकान्त कक्षा में दिए जाते थे।

२. वल्ली ८, मत्र ७–१२।

यह आत्मा नही है, क्योकि इसमे हम अपनी आशाओ और भयो, अपने प्रेम और निराशाओ को स्रोतस्विनी की लहरो की तरह देखते हैं और इनको हम अपने आन्तरिक प्रकाश के द्वारा अगीभूत भी बना सकते हैं और इनका प्रदर्शन भी कर सकते हैं। आत्मा अह से कुछ ऊपर की चीज है, व्यक्तित्व सचमुच एक मुखौटा है। आत्मा चिरन्तन मौन दर्शक है, वह एक ऐसी ज्योति है जिसे कोई शक्ति बुझा नही सकती, सत्य और सौन्दर्य, शान्ति और विवेक जिसके गुण हैं, आत्मा ही हमारा सच्चा अस्तित्व है जिसे हम अपनी आखो पर पड़े अज्ञान के परदे के कारण नही देख पाते। फिर भी, इसको हम हृदयाकाश मे और आन्तरिक मनुष्य के शून्य कक्ष मे ('अन्तर्भूतस्य खे') देख सकते है। जब भीतरी अज्ञान पर ज्ञान का प्रकाश पडता है तब हमारी चेतना पर उस सिद्धान्त की प्रतिच्छाया पडती है जो हमारे जीवन की बुनियाद है, जो अपनी निरन्तर उपस्थिति से जीवन के छिन्नित अगो को सजीव रखता और उन्हे परस्पर सम्बन्वित करता है। यह वह रहस्यात्मक गहराई है जिसमे आत्मा अपने को ही देखने लगती है—यह आत्मा का बडा ही गुप्त आयाम है। यह आत्मिक चेतना कोई आध्यात्मिक अद्भुत कल्पना नही है, वरन् एक ऐसी चीज है जिसको हममे से प्रत्येक अनुभव कर सकता है। इस अनुभवातीत चेतना की स्थिति मे जिसमे शरीर निश्चेष्ट रहता है, मन क्रियाशून्य हो जाता है और विचार विश्राम करता है, हम विशुद्ध आत्मा से सम्पर्क करते हैं। यह विशुद्ध आत्मा ऐसी है जिसकी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति की दशाए अपूर्ण व्यजनाए हैं। उपनिषदो के अनुसार यह शुद्धात्मा अदृश्य है (ज्ञानेन्द्रियो के अनुभव से परे है), जागतिक पदार्थों से इसका कोई सम्बन्ध नही है, मन की गति भी इस तक जाकर समाप्त हो जाती है, इसका कोई लक्षण नही है जिसके आधार पर इसका अध्याहार किया जा सके, यह असोच्य है, अवर्ण्य है, अनिवार्यत यह उस चेतना की तरह है जो आत्मा का गुण है, यह शुद्धात्मा सभी प्रत्यक्ष ज्ञान-विषयो का निषेध है, यह प्रशान्त है, परमानन्दमय है, 'अद्वैत' है।[1] यह नकारात्मक ज्ञान केवल अज्ञानता नही है। यह जान लेना कि कोई भी ऐसी वस्तु जिसका जीवन मे अनुभव किया जा सके ऐसी नही है जिसको परमात्मा के समकक्ष समझा जा सके, इसके विषय का अत्यन्त पूर्ण ज्ञान है। जब हम यह कहते हैं कि यह हमारे लिए अज्ञात रहता है तब भी इसे हम जानते हैं। हम दावे के साथ यह कहते हैं कि जागरितावस्था के अनुभव मे आनेवाले बाह्य पदार्थों से अथवा आन्तरिक पदार्थों से, जिनको हम स्वप्नो मे देखते हैं, इसका कोई सम्बन्ध नहीं है, और यह एक ऐसी दशा है जो सभी साधारण अनुभवो के परे है,[2] हालाकि वह साधारण अनुभवो का आधार लेकर चलती है। सत्य ज्ञान का विषय नही है, अपितु ज्ञान ही है, क्योकि जब ज्ञान को विषयाश्रित बना दिया जाता है तब ज्ञाता और ज्ञेय दोनो परस्पर पराये हो जाते हैं। ऐसे मामलो मे हम वस्तु को नही

१. "अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसार प्रपञ्चोपशम शान्त शिवमद्वैतम्।" (माण्डूक्य उपनिषद्, प्रथम वल्ली, मंत्र ७)।

२ "अवस्तु-अनुपलम्भ लोकोत्तरम्" माण्डूक्य उपनिषद पर गौड़पादीय कारिका—अध्याय ४, श्लोक ८८।

जान सकते, वरन् केवल उसके विषय मे जान सकते हैं। यथार्थ वस्तु का सत्य ज्ञान प्राप्त करते हुए हमको यथार्थ को ही जानना चाहिए, न कि केवल तत्सम्बन्धी विचारो को। हमको आत्मा को आत्मा के द्वारा जानना चाहिए (आत्मानमात्मना) और यदि आत्मा कोई पदार्थ हो तो यह सम्भव नही हो सकता। जिस क्षण हम इसको एक विषय या वस्तु मान लेते हैं, हम इसकी प्रकृति को विरूप कर देते हैं।

आत्मा की चार दशाओ के सन्तुलन मे यथार्थ (सत्य) के विषय मे भी चार मत हैं। ब्रह्म निर्वैयक्तिक-अक्षर ब्रह्म है जिसको किसी भी ससीम चिह्नो या प्रतीको का प्रयोग करके नही जाना जा सकता। यह हमारी सीमित बुद्धि द्वारा दी जानेवाली समस्त उपमाओ से परे है। उपनिषदो मे निषेध की रीति प्रमुख रूप से पाई जाती है।[1] हम केवल यही कह सकते हैं कि "मैं वही हू" (सोऽहमस्मि)।[2] "जिसमे मनुष्य और कुछ नही देखता है, और कुछ नही सुनता है तथा और कुछ नही जानता है, वह असीम ब्रह्म ही है।"[3] इस विषय मे नारद का प्रश्न है "असीम कहा प्रतिष्ठित होता है ?" (स कस्मिन् प्रतिष्ठित)। जो इस प्रकार का प्रश्न उठाता है, उसने असीम ब्रह्म की प्रकृति को ठीक से समझा नही है। इसलिए सनत्कुमार कहते हैं "वह अपनी महिमा मे (स्वे महिम्नि) प्रतिष्ठित रहता है।" पर, उनको यह भय भी है कि उनका उत्तर कही यह न सुझा दे कि असीम कुछ और है, और उसकी महिमा कुछ और। इसलिए वे पुन कहते हैं "अथवा वह अपनी महिमा मे भी प्रतिष्ठित नहीं रहता है" (यदि वा न महिम्नेति)। उपनिषद् चाहते हैं कि हम अक्षर ब्रह्म के विषय मे पूर्ण मौन की स्थिति ही धारण किए रहें। यदि उसका वर्णन करना ही हो तो वह निषेधात्मक शब्दो मे ही किया जा सकता है। इसका अर्थ यह नही है कि असीम ब्रह्म असदात्मक (अनस्तित्वमय) है, क्योंकि जब मनुष्य की आत्मा उसे जान सकने मे समर्थ है तो उससे क्या यह नहीं सूचित होता कि असीम ब्रह्म का सम्बन्ध मनुष्य की अन्तरात्मा से है ? ब्रह्म आत्मा है। 'तत् त्वमसि'। यदि इससे अधिक विस्तृत वर्णन ब्रह्म का आवश्यक हो, तो उसे सच्चिदानन्द कहा जाता है।

यह स्पष्ट है कि इन ग्रन्थो के प्रणेता इस बात को जानते हैं कि इस प्रकार जिस सर्वोच्च सत्य की कल्पना की जाती है, वह सामान्य बुद्धि के लोगो को तो यही जान पडेगा कि वह कोई है जिसमे अन्तर्वस्तु का परिमाण न्यूनतम है, जो सभी सूक्ष्म या अमूर्त तत्त्वो से भी अधिक सूक्ष्म है। धार्मिक चेतना के लिए ईश्वर की सत् रूप मे कल्पना कोई बहुत महत्त्व की चीज़ नही है। उपनिषदो मे ज़ोर देकर यह कह दिया गया है कि परब्रह्म की प्रकृति का वर्णन हमारे ससीम मन के परिचित शब्दो या प्रतीको से ठीक-ठीक नही किया जा सकता, तो भी उन्होंने अपने आराध्य ब्रह्म के एकमेवता, ज्ञानत्व, पूर्णता आदि गुण बतलाए हैं। "वह जो एक है, जो अवर्ण (रगहीन) है, जो अपनी विविध शक्तियो के द्वारा विभिन्न स्वभाव वाले मनुष्यो की अनेकानेक प्रच्छन्न आवश्यकताओ को पूरा करता है, जो सब वस्तुओ को आद्यन्त जानता है, वह हमे शुद्ध बुद्धि

१. देखिए बृहदारण्यक उपनिषद्, II, ३, ६।
२. ईशोपनिषद्, श्लोक १६।
३. छांदोग्य उपनिषद्, VII, २४, १।

प्रदान करे।"[1] परमात्मा के रूप में सत्य की यह अवधारणा स्वप्न-रहित निद्रा की अवस्था के समकक्ष है।

स्वप्न-रहित निद्रा की अवस्था में पदार्थनिष्ठता का सिद्धान्त, जिससे स्वप्न और जाग्रत् अवस्थाए दोनो उत्पन्न होती है, उपस्थित रहता है, यद्यपि होता वह निष्क्रिय है। इसी प्रकार जब ब्रह्म ईश्वर बन जाता है तब उसका सामना पदार्थनिष्ठता के सिद्धात से होता है। ब्रह्म की विश्रान्ति भग होकर कर्ता और कर्म की द्वैतता मे बदल जाती है, आत्मचेतन प्रज्ञा पदार्थनिष्ठता के सिद्धान्त का सामना करती है, पदार्थनिष्ठता का सिद्धान्त ससार की प्रलयावस्था मे जबकि वस्तुओं का विभेद लुप्त हो जाता है, अव्यक्त (अव्याकृत) रूप मे रहता है। सृष्टि का प्रारम्भ कैसे होता है, इसकी अवधारणा नही की जा सकती, किन्तु यदि अपने दुर्बल मन से हम इसकी कोई धारणा बनाना ही चाहे, तो हम इस रूप मे सोच सकते हैं कि अक्षर ब्रह्म अपने-आपको विभक्त कर देता है और उसीमे से ब्रह्माण्ड का उदय होता है। अविभक्त ब्रह्म न समय है, न कोई इतिहास। भगवान अपने को इसलिए खण्डित कर देता है ताकि एक ससार की रचना हो सके। अक्षर ब्रह्म का ईश्वर (कर्ता) और कर्म के रूप मे विभक्त हो जाना ही सृष्टि का उषाकाल है। कर्म (पदार्थ) को शून्य, स्थान और काल का ढाचा-मात्र समझा जाता है। यह एक अगाध गहराई है, एक अथाह रात्रि है, तमस् है, जिसका उल्लेख ऋग्वेद के नासदीय सूक्त मे हुआ है। समस्त विश्व सिमटकर शून्यता मे परिणत हो जाता है, यद्यपि उसमे सीमाहीन सम्भावनाए छिपी होती हैं जो परमात्मा के द्वारा, सागर पर तैरती हुई ईश्वर की चेतना के द्वारा सक्रिय बना दी जाती हैं। परमात्मा की उपमा प्रकाश से दी जाती है जो अन्धकार मे उद्भासित होता है और इतने पर भी प्रकाश यह मानकर चलता है कि अन्धकार असीम है।

नितान्त शून्यता की स्थिति सम्भव हो सकती है, इस बात का चिन्तन हमे इस विचार की ओर ले जाता है कि किसी प्रकार के भी अस्तित्व के लिए आवश्यक है कि कोई पूर्ण अस्तित्व हो जो नितान्त अनस्तित्व पर हावी हो जाए। न्यूनतम अस्तित्व का होना भी यह मानकर चलता है कि अनस्तित्व प्रत्यक्ष अस्तित्व से हार गया है। अगर हम किसी भी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार करते हैं, तो उसके पहले यह मान लेना पडेगा कि कोई पूर्ण याथार्थ्य है, कोई चिरन्तन सत्ता है तथा कोई क्रिया है और कोई रूप है जो सम्भाव्यता को प्रत्यक्ष बना देता है। द्वैत की स्थिति मे ईश्वर वैयक्तिक सत्ता के रूप मे कल्पित होता है जिसका ज्ञान और जिसकी इच्छा पूर्णत: उसीपर निर्भर हैं, उससे बाहर की किसी वस्तु पर नही; और जो बदले मे स्वय पूर्ण ब्रह्म से तदाकार हो जाता है। "वह (ईश्वर) सबका स्वामी है, सबका ज्ञाता है, अन्तर्यामी है, अन्तर्नियामक है, सब उसीसे उद्भूत हैं; वह ऐसा रूप है जिससे सभी

१ य एकोऽवर्णो बहुधा शक्तियोगाद्
वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधाति।
विचैतिचान्ते विश्वमादौ स देव
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु॥

पदार्थों ने आकार ग्रहण किया है और वही है जिसमे अतत वे सब पदार्थ विलीन हो जाते हैं।"[1] वह शब्द ब्रह्म ('लोगोस') है, सबके हृदयो मे विद्यमान (सर्वस्य हृदि सस्थितम्) सभी सत्ताओ को जाननेवाला है। यदि हम ब्रह्माण्डीय रचना की दृष्टि से प्रारम्भ करें, तो यह कहना सत्य है कि "आरम्भ मे शब्द ब्रह्म था" जिसे वैयक्तिक स्रष्टा ईश्वर कहा गया। ईश्वर और प्रकृति, सत् और असत्, नित्य और अनित्य की द्वैतता अन्तिम रूप से सत्य नही है, जैसाकि कुछ ज्ञानवादी और मानिकीवादी मानते हैं। यह आधारभूत ब्रह्मवाद के अन्तराधीन है। यह सब होते हुए भी, पाप की समस्या एक वास्तविक समस्या है।[2] उपनिषदो के मत मे ब्रह्म ससार का स्रष्टा नही है। ईश्वर सर्जक है जो शून्यता की स्थिति मे रहता है, ईश्वर ही प्राथमिक क्रिया है, और शेष सृष्टि गौण क्रिया है। ससार की रचना ईश्वर ने की है, क्योकि जो कुछ नही है, वह कुछ—ऐसा कुछ नया जो कभी अस्तित्व मे नही था—केवल प्राण-सत्ता की गतिवादिता के द्वारा ही बन सकता हैं। प्रकृति के गर्भ से पुरुष सृजन करता है। सृजन की सामर्थ्य जीव या अस्तित्व से स्वतन्त्र होने पर आती है और प्रकृति या अनस्तित्व से जन्म अथवा उत्पत्ति होती है। पुरुष (आत्मा) ही सृजन करनेवाला पिता है और प्रकृति (अनात्मा) माता है जो उत्पन्न करती है। दोनो सिद्धान्तो की परस्पर प्रतिक्रिया होती है और दोनो एक-दूसरे के अनुपूरक हैं। स्वतन्त्र मानव-प्राणी ईश्वर का शिशु है, साथ ही प्रकृति (अनस्तित्व) की उत्पत्ति है—प्रकृति से ही ईश्वर ससार की रचना करता है। ईश्वर जीव भी है और प्रकृति भी। वह सदसदात्मक है। मनुष्य की प्रगति इसमे है कि वह अपनी आतमा को चैतन्य बनावे, अपने स्वभाव मे प्रकृति (जडता) की जो अथाह गहराई है, उसपर विजय करे। ससार का सृजन ब्रह्म से हुआ है, ऐसा अनुमित नही किया जा सकता, क्योकि ब्रह्म पूर्णत आत्मनिर्भर है और ससार के समस्त वैशिष्ट्यो से परे है, किन्तु ससार का उद्भव ही ईश्वर मे गति का सूचक है और इसका ईश्वर से सम्बन्ध आकस्मिक या अनावश्यक नहीं है।[3]

स्वप्न जैसी अवस्था मे ईश्वर हिरण्यगर्भ, विश्वात्मा बन जाता है, जो ईश्वर का ज्येष्ठ पुत्र कहा जाता है।[4] विश्वात्मा की अवधारणा से न केवल ब्रह्माण्ड की

१. माण्डूक्य उपनिषद्, प्रथम अध्याय, श्लोक ६।

२. ईश्वर ने अपने द्वारा रचित प्राणियों को जो स्वतंत्रता प्रदान की, उसके दुरुपयोग से पाप की उत्पत्ति नहीं मानी जाती। इस प्रकार की व्याख्या कठिनाइयों से युक्त है। यदि ईश्वर ने हमको स्वतंत्रता प्रदान की जिसका प्रयोग हमने पाप को, बुराई को चुनने में किया, तो इस प्रकार के घातक दान को देनेवाला ही दुःख और पाप का कारण होना चाहिए। चूंकि वह त्रिकालदर्शी है, अत उसने ससार के दुःख और पाप को पहले से ही देख लिया होगा। यह देख-सुनकर उसने मनुष्य की रचना की और उसके सर्वनाश का यह स्रोत उसको दे दिया। काल्विनवादी धर्मशास्त्र का यह कथन है कि ईश्वर ने अनन्तकाल से कुछ लोगों के लिए शाश्वत मुक्ति और कुछ लोगों के लिए शाश्वत नरक-यातना देने का निश्चय पहले से ही कर लिया था। यह धर्मशास्त्र ईश्वर की त्रिकालदर्शिता के सिद्धान्त का ही स्वाभाविक परिणाम है।

३ इस विचार ने गारसिओन जैसे ज्ञानवादियों (नास्टिक्स) में भ्रान्त धारणा उत्पन्न कर दी है। ज्ञानवादी यह मानते हैं कि इस बुरे ससार की सृष्टि एक बुरे ईश्वर—'डेमिअर्गास'—ने की।

४. देखिए श्वेताश्वेतर उपनिषद्, III, ४, IV, १२, VI, १८।

एकता सिद्ध होती है, वरन् मानवता की व्यवस्थित एकता और उसके सामाजिक प्रारब्ध का महत्त्व भी प्रमाणित होता है। जब ससार जाग्रत् अवस्था की भाति प्रव्यक्त होता है, तब विराट या ब्रह्माण्डीय व्यक्तित्व का उद्‌भव होता है। इस प्रकार हम परब्रह्म तक पहुचते हैं जो प्रथम सिद्धान्त है तथा जिससे ईश्वर और विश्वात्मा (हिरण्यगर्भ) ब्रह्म और जगत् के बीच मध्यस्थता करने के लिए उद्‌भूत होते हैं। 'ॐ' एक प्रतीक है जिसमे तीन ध्वनिया 'अ', 'उ', 'म्' की हैं, यह प्रतीक परब्रह्म के स्थूल, सूक्ष्म और आनुषगिक तीनो पक्षो का प्रतिनिधित्व करता है। जिस प्रकार मनुष्य के अनुभव की समग्रता मे जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति (स्वप्न-रहित निद्रा)[1] की तीन स्थितियों का समावेश होता है, उसी प्रकार ब्रह्म की वास्तविकता मे स्थूल, सूक्ष्म और आनुषगिक पक्ष सम्मिलित रहते हैं। जैसाकि उपनिषद् कहता है · "जो कुछ भूत, वर्तमान और भविष्य है, वह वस्तुत 'ओ३म्' है, जो कुछ काल की इन तीन दशाओ से परे है, वह भी वस्तुत· 'ओ३म' ही है।"[2] उपनिषदो के ब्रह्म को 'एन्स ऐब्स्ट्रैक्टिसिमम' (अमूर्त सत्ता) के साथ मिलाकर भ्रमित होने मे कोई औचित्य नही है। ब्रह्म की शुद्ध सत्ता विश्लेषण और अमूर्तीकरण का, जो लगभग शुद्ध अनस्तित्व के सदृश ही हैं, अन्तिम अवशेष नही है, वरन् वह एक ऐसा इन्द्रियातीत तथ्य है जिसमे सव तथ्य समाविष्ट हो जाते हैं। वह अगम्य इसलिए नही है कि वह शून्य है, अपितु इसलिए है, जैसा उपनिषद् मानता है, कि वह 'पूर्ण' है।[3] वह अवधारणा की हमारी शक्तियों के परे है। उच्चतर सत्ता के विषय मे हम जो भी विचार या आकार वनाते हैं, वह एक अर्थ मे अमूर्तीकरण ही है। इसके वारे मे हम अधिक से अधिक जो ठोस विचार वना सकते हैं, वह है एक दैवी व्यक्तित्व का, और भले ही वह वोधगम्य जान पड़े, परन्तु है वह भी अमूर्तीकरण ही। परम सत्ता इस अर्थ मे अगम्य है कि वह तार्किक कथनो के रूप मे अभिव्यक्त नही की जा सकती, परन्तु शुद्धीकृत मन के लिए वह अधिकाधिक सुवोध हो जाती है। परम सत्ता के प्रति यह वोध वुद्धि के माध्यम से उतना नही होता जितना हृदय के शुद्धीकरण से, जितना आत्मा के ध्यान को उसकी अपनी केन्द्रीय आवश्यकताओ की ओर मोडने की प्रक्रिया से। यह धारणा कि समस्त अस्तित्व का आधार ईश्वर है और दैवी सत्ता के साथ मानवात्मा का निकट सम्वन्ध है, इस विचार के मूल मे है कि मनुष्य की आत्मा निर्वासिन की स्थिति मे है और वह सदा अपने घर लौटने को लालायित रहती है। यह अपने प्रियतम के साथ सयोग के लिए हृद्‌गत लालसा का स्रोत है।

१ गौड़पाद, १, २ "त्रिधा देहे व्यवस्थित।" "त्रिषु धामसु यत्तुल्य सामान्यम्", १, २२ को भी देखिए।

२ "भूत भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव, यच्चान्यत् त्रिकालातीतम् तदप्योंकार एव।" माण्डूक्य उपनिषद्, १ १, ८–११ भी देखिए।

३. यह दुर्भाग्य की वात है कि इस प्रश्न को वार-वार गलत ढग से समझ लिया जाता है। तुलना कीजिए—फादर टाइरेल के इस कथन से "आकाश और पृथ्वी भी उतने अधिक दूर-दूर नहीं हैं, जितने प्राच्य और ईसाई रहस्यवाद एक तो अनस्तित्व को नि श्रेयस् के रूप में देखता है और दूसरा असीम अस्तित्व की पूर्णता को।" 'वॉन ह्यूगल एण्ड टाइरेल'—लेखक एम० डी० पेट्रे (१९३७), पृष्ठ २८।

नित्यप्रति हमारे अनुभव मे आनेवाला ससार वास्तविक ससार से भिन्न है। वास्तविक ससार के अस्तित्व का आभास हमे प्रत्यक्ष प्रातिभ ज्ञान के अनुभवसिद्ध तथ्यों से मिलता है। नानात्व का ससार अक्षर ब्रह्म की अपेक्षा कम वास्तविक कहा जाता है। जिसने सत्य का अन्तर्दर्शन कर लिया है, वह समझ सकेगा कि नानात्व वाला ससार भी अद्वैत ब्रह्म ही है, जो विशुद्ध, मुक्त और शाश्वत रूप से प्रकाशमान है। जब ईश्वर की परिभाषा एकमेव वास्तविकता के रूप मे की जाती है, तब प्राणियो के अस्तित्व के साथ ठीक-ठीक न्याय नही किया जा रहा, ऐसा नही लगता। ससार की प्रस्थिति तो एक विवृति है, न कि एक आनुभाविक तथ्य, जैसाकि ईश्वर का अस्तित्व है। सभी तरह के रहस्यात्मक अनुभवो मे अन्य प्रत्येक वस्तु, जिसमे सान्त व्यक्ति भी आ जाता है, की तुलनात्मक अवास्तविकता का अनुभव करना पडता है। प्राणियो का सापेक्ष अनस्तित्व एक आनुभाविक तथ्य है जिसकी व्याख्या दार्शनिक पद्धतियो ने विभिन्न प्रकार से की है। आस्तिको के लिए यह ईश्वर पर एकान्त निर्भरता से अधिक कुछ नही है। उपनिषदो की विचारधारा वास्तविकता की भावना और ऐतिहासिक प्रक्रिया के महत्त्व का खण्डन नही करती। इतिहास एक निरर्थक पुनरावृत्ति-मात्र नही है, वह एक सृजनात्मक प्रक्रिया है जिसका निर्धारण व्यक्ति की स्वतन्त्र क्रियाए करती हैं। आध्यात्मिक ससार भौतिक ससार की अपेक्षा अधिक वास्तविक है, और यदि हम सचमुच आध्यात्मिक जीवन मे विश्वास करते हैं और उसकी साधना करते है, तो हम जैसा चाहे इस पृथ्वी का पुनर्निर्माण कर सकते हैं।

उपनिषद् प्रत्येक वस्तु को तार्किक भावना के एकान्तिक प्रयोग द्वारा जानने का विरोध करते है, वे इस बात का भी विरोध करते हैं कि जो वस्तु बोध और प्रज्ञा का विषय है, उसे अनुभव की कठोर परिधि मे बाध दिया जाए। वे ऐतिहासिक दैवी-शक्ति-स्फुरण (इलहाम), आकाशवाणियो, प्रार्थनाओ के उत्तर और इसी तरह के किसी अन्य बाह्य माध्यम के द्वारा केन्द्रीय सत्य के साथ समागम पर विश्वास नही करते, वरन् उनका विश्वास है कि उससे प्रत्यक्ष समागम किया जा सकता है। एक प्रकार के अन्त स्फूर्तिकर अभिज्ञान के द्वारा, जिसमे व्यक्ति सचमुच ही दैवी प्रकृति का साझीदार बन जाता है, उस केन्द्रीय सत्य को जाना जा सकता है। चूकि जिसको खोजा जाता है, वह एक है, इसलिए जो उसका साक्षात्कार करना चाहेगा उसको भी अपने भीतर एकत्व के सिद्धान्त को पाना होगा। अनेक होने के बजाय उसको एक होना चाहिए। पार्थिव शरीर मे स्थित प्राण जो हमारे ऊपर अपना मोहजाल फेकता है, हमारी वास्तविक आत्मा नही है। ज्ञानेन्द्रिया और बुद्धि साधन-मात्र है, क्योकि आत्मा इन दोनो से तटस्थ रहकर देखनेवाला साक्ष्य है। यदि हम चाहते हो कि हम पूर्णत भर दिए जाए, तो हमे पहले अपने को पूर्णत रिक्त और शून्यवत् कर देना होगा। इस विचित्रानुभूति की भूमिका मे आकर ही हम विचारो और इच्छाओ, जो हमारे वास्तविक अह के सस्पर्श मे आते हैं, के प्रवाह को रोक पाते हैं। यह दशा जागृति, स्वप्न या सुषुप्ति की नही है। समाधिस्थता की स्थिति जिज्ञासा से नही, ग्रहणशीलता से मिलती है। समाधिस्थ होना ही देखना है और हमारी आत्माओ की दशाओ मे

भिन्नता के साथ-साथ हमारे देखने की रीति मे भी भिन्नता होती है। यह हमारे सच्चे आत्मत्व का प्रातिभ ज्ञान है, जो न तो हमारे शरीर का कैदी होता है और न अस्थिर विचारो और चचल लालसाओ के पिजर का वन्दी, वरन् एक मुक्त सार्वभौम चेतना (विश्वात्मा) होता है। अपने जीवन के इन स्मरणीय क्षणो मे हमे उस सत्य का दर्शन हो जाता है जिसके हम एक रूप हैं, हालाकि हम शीघ्र ही उन क्षणो को खो बैठते है और देह, वोधेन्द्रिय और मन के परिचित जीवन मे लौट आते हैं, फिर भी हमारे दैवी अस्तित्व के ये क्षण हमे शेष जीवन मे प्रकाश-स्तभ की तरह राह दिखाते रहते हैं। एक के बाद दूसरी दशाओं मे क्रमश होती हुई हमारी आत्मा अन्तत' अपने ही अस्तित्व की गहराई मे जा उतरती है और दिव्यशक्ति के स्पर्श का अनुभव करती है तथा ईश्वरीय जीवन मे अपने को एकाकार पाती है। कृत्रिम वस्तुओ के जजालो को तोड-कर तथा वोधेन्द्रिय और बुद्धि के आवरण को चीरकर आत्मा चेतन की नग्नता मे अपने को ला स्थापित करती है। द्रष्टा दृष्ट वस्तु से अपने को अलग नही मानता, वह उस केन्द्रीय सत्ता के साथ एकाकार हो जाता है जो सभी वस्तुओ की केन्द्र है। प्लॉटिनस के शब्दो मे यह एकाकी की एकाकी तक उडान होती है, यह नग्न तत्त्वो का परस्पर सम्मिलन होता है, क्रॉस के सेंट जॉन के शब्दो मे आत्मा का मिलन परमात्मा से होता है।[1] फिर, ईश्वर व्यक्ति के वाहर की कोई वस्तु नही रह जाता, उसके समग्र अस्तित्व को छा लेनेवाला अनुभव वन जाता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् मे यह कहा गया है कि मनुष्य अपने-आपमे एक सूक्ष्म ब्रह्माण्ड है। एक ही सरचना एक वडे पैमाने पर विश्व मे पाई जाती है और एक छोटे पैमाने पर व्यक्तियो मे। व्यक्ति सम्पूर्ण विश्व को लघु रूप मे अपने भीतर रखता है, वह जड वस्तु से लेकर ईश्वर तक अस्तित्व के प्रत्येक स्तर और स्वरूप को अपने भीतर प्रतिविम्वित करता है। प्राणि-सत्ता की समस्त श्रेणिया मनुष्य के भीतर पाई जाती हैं।[2] वह, निर्वैयक्तिक प्रकृति, जहा क्रिया का निर्धारण कठोर विधि-नियम से होता है, और आध्यात्मिक स्वातन्त्र्य-क्षेत्र के वीच सीमान्त पर स्थित होता है। मनुष्य के चरित्र मे यह जो विरोधाभास है उसका सकेत हमे इस कथन मे मिलता है कि वह स्वर्ग से पतित एक प्राणी है, एक ऐसा पार्थिव जीव है जो स्वर्ग की स्मृतियो को अपने भीतर सजोए हुए है। उसके भीतर दैवी प्रकाश का प्रतिविम्व है। वह ईश्वर-रचित सभी प्राणियो मे श्रेष्ठ है, वही इस वात के लिए समर्थ है कि आत्मा की रचनात्मक स्वतन्त्रता का चैतन्यरूप से उपभोग कर सके।

१ क्रॉस के सेंट जॉन कहते हैं "ईश्वर आत्मा को अपने ढग से इस एकत्व की स्थिति में पहुचावे, इसके लिए एकमात्र उचित क्रिया वह है जो मन को समस्त सकल्पों से रहित और रिक्त कर देती है, जो उनको अपना स्वाभाविक अधिकार-क्षेत्र और क्रियाओं को त्यागने के लिए प्रेरित करती है ताकि वे आधिदैविक सत्ता का सत्त्व और प्रकाश ग्रहण कर सकें।" ('एसेण्ट ऑव माउण्ट कार्मेल', खण्ड ३, अध्याय २)।

२ तुलना कीजिए "सभी वस्तुए सभी वस्तुओं में पाई जाती हैं, परन्तु प्रत्येक में उनका अश उसकी उचित प्रकृति के अनुसार ही होता है।" ('एलीमेंट्स ऑव थिओलॉजी')।

पदार्थ (अन्न), जीवन (प्राण), चेतना (मनस्), विज्ञान (बुद्धि) और स्वर्गीय सुख (आनन्द)—इनसे मिलकर वर्द्धमान सत्य की वह नसैनी बनती है जो शुद्ध अनस्तित्व के निषेधात्मक बिन्दु से ईश्वर की असीम सत्ता के विध्यात्मक बिन्दु तक पहुचती है। यद्यपि मनुष्य मे पशुगो का मुख्य उप-व्यक्तिगत जीवन भी मिलता है और वह आत्मा से भी सम्बद्ध होता है, तथापि वह अनिवार्यत एक बौद्धिक प्राणी है। स्वस्थ पशु अपनी पुष्ट सहजक्रिया के द्वारा सामान्य जीवन बिताने में समर्थ होता है, किन्तु मनुष्य केवल अपनी बुद्धि, जिससे वह कला-कौशलयुक्त विभिन्न वस्तुए बनाता है, के विकास के द्वारा ही नही, प्रत्युत् आत्मिक ससार को उसके अनुपयोगितावादी मूल्यो-सहित ग्रहण करके अपनी सामान्य दशा को प्राप्त करता है। मनुष्य केवल रोटी का भूखा-प्यासा नही है, वरन् शाश्वत जीवन, सत्य, सौन्दर्य, शिव और पवित्रता की रोटी के लिए भूखा-प्यासा है। सामरस्य की उपलब्धि उसके जीवन का उद्देश्य है।[1] यदि वह अपने को विशुद्ध कर लेता है, तो वह दिव्य बन जाता है, यदि वह अशुद्ध ही रहता है, तो वह निम्नतर जीवन मे डूब जाएगा। मनुष्य सार्वभौम व्यवस्था के विरुद्ध अपने सकल्प पर अडे रहने के लिए स्वतत्र है। यदि वह ऐसा करता है तो सार्वभौम व्यवस्था भी उसके विरुद्ध अडना चाहेगी। इस प्रकार, मनुष्य के आत्मसकल्प और उसकी प्रकृति के आध्यात्मिक सवेग के बीच जो असामजस्य हो जाता है, उसके कारण अशान्ति उत्पन्न होती है।

जब तक आत्मा देह और ज्ञानेन्द्रियो की बन्दिनी रहती है और उनकी स्वामिनी नही बन पाती, तब तक मनुष्य के अन्तर् मे अच्छाई और बुराई का, प्रकाश और अन्धकार का द्वन्द्व छिडा रहता है। यह द्वन्द्ववाद नैतिक सघर्ष और धार्मिक चेतना का ही एक अग है, परन्तु यह अपने-आपमे कोई लक्ष्य नहीं है। बुराई कोई विध्यात्मक घातक वस्तु नही है जिसपर नियत्रण और जिसमे परिवर्तन न किया जा सके। यदि अच्छाई और बुराई को असीम या अबाधित मान लिया जाए, तो उनका विरोध और सघर्ष अनन्त एव निरर्थक हो जाएगा। अविद्या, जो विश्व की आगिक त्रुटि होने की अपेक्षा मानव-मन की क्रियागत अव्यवस्था अधिक है, को दूर किया जा सकता है और बुराई पर विजय पाई जा सकती है। अपने चतुर्दिक् के वातावरण पर विजय प्राप्त करने के पूर्व हमे अपनी आत्मा पर विजय पानी चाहिए।

ससार मे जितनी भी वस्तुए है, वे मनुष्य के लिए उपभोग्य हैं, परन्तु उनका उपभोग अनासक्ति की भावना से ही किया जाना चाहिए। ईशोपनिषद् मे कहा है "त्याग के साथ भोग करो।"[2] किन्ही चीजो का अपने पास होना या न होना महत्त्वपूर्ण नहीं है, महत्त्वपूर्ण तो है उनके प्रति हमारे मनोभाव। प्रश्न सम्बन्धित है इच्छाओ और चाहो से, न कि उन वस्तुओ मे जिनकी इच्छा या चाह की जाती है। महत्त्व इसका है कि

१. मानव प्राणी तीन श्रेणियों में विभक्त किए जाते हैं—सात्त्विक, राजस और तामस। जिस मनुष्य मे सत्त्व, रज, तम में से जो गुण अधिकता में होता है, उसीके अनुसार उसकी इनमें से कोई श्रेणी दी जाती है।

२. "त्यक्तेन भुञ्जीथ।"

मनुष्य क्या है, इसका नही कि उसके पास क्या है। महत्त्वपूर्ण है उसकी मानसिक गठन। बृहदारण्यक उपनिषद् हमसे कहता है कि आत्मा के साक्षात्कार के लिए सासारिक साधनो और सुविधाओ का प्रयोग करो। सभी वस्तुए प्रिय हैं, परन्तु प्रिय हैं अपने निमित्त नही, वरन् आत्मा के निमित्त। अनासक्त रहने का अर्थ है अपने लिए किसी वस्तु का न चाहना। यदि हम किसी पुष्प के सौन्दर्य से तब तक सन्तुष्ट नही हो सकते, जब तक उसको उसके वृन्त से तोडकर अपने कोट के बटन के छेद मे न खोस लें, तो हम शान्त नही रह सकते। अनासक्ति से विवेक उत्पन्न होता है, अपने वातावरण के साथ सामजस्य अनुभव होता है, शान्ति प्राप्त होती है। जिन लोगो ने अपनी प्रकृति को व्यवस्थित एव सयमित कर लिया है, केवल वही लोग उच्चतर कल्पना के अधिकारी हो सकते हैं। ज्ञान अस्तित्व की एक क्रिया है। इसपर चलना उतना ही कठिन है जितना तलवार की धार पर चलना।

सत्य तो व्यक्ति को पहले से ही प्राप्त है। गुरु का कार्य परिचारिका के कार्य के समान होता है, वह सत्य को स्पष्ट चेतना के धरातल तक ले आने मे सहायता करता है। आत्मा के जगत् के प्रति जागरूक हो जाना ही पुनर्जन्म प्राप्त करना है। ब्रह्मचर्य या गायत्री मत्र की दीक्षा उसके द्विज हो जाने का सूचक है।[1] भौतिक वातावरण मे मनुष्य का जब पहला जन्म होता है, तब वह परमात्म-शक्ति से अलग हो जाता है, उसका वियोग हो जाता है, वह सासारिक जीवन की आवश्यकताओ के आगे समर्पण करने के लिए होता है, किन्तु मनुष्य का यह दूसरा जन्म (आत्मा के जगत् के प्रति चैतन्य होना) उसको भौतिक जीवन की आवश्यकताओ के बन्धनो से छुटकारा दिलाता है, परमात्म-सत्ता के साथ उसको एकत्व-लाभ होता है और वह मुक्त हो जाता है। यह एक गहनतर तल पर जीवन का रूप है। ज्ञानी या अन्तर्दृष्टि वाला मनुष्य जीवन और मृत्यु के भय, अपने समय और स्थान, अपने देश तथा काल के पूर्वाग्रहो की दासता से मुक्त होता है। विश्वात्मा के साथ एकात्मभाव अनुभव करने के कारण वह समस्त सृष्टि के प्रति अपने हृदय मे प्रेम और उदारता रखता है। सासारिक वस्तुए उसे नही लुभाती, क्योकि वह स्वार्थपूर्ण इच्छाओ और लालसाओ से विमुक्त होता है।[2] वह स्वय पर भी अपना कोई स्वत्व नही मानता। वह पूर्णत नि स्वार्थ हो चुका होता है।[3] एक प्रसिद्ध रूपक देते हुए उपनिषदो मे कहा गया है कि मुक्त आत्माए ब्रह्म से मिलकर उमी प्रकार ब्रह्मरूप हो जाती हैं जिस प्रकार नदिया अपना

१. उपनिषद् के इस कथन से तुलना कीजिए "तद् द्वितीय जन्म, माता सावित्री, पिता तु आचार्य।"

२. बृहदारण्यक उपनिषद्, IV, ४/२३।

३. आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को बतलाने के लिए क्रॉस के सेंट जॉन ने ज्वाला और काष्ठ के रूपक का आश्रय लिया है। जब तक काष्ठ में आर्द्रता विद्यमान रहती है, तब तक वह धुधुवाता और चटचटाता रहता है। वह बदल रहा तो होता है, पर पूरी तरह बदला हुआ नहीं होता। जब वह शुद्ध ज्वालारूप बन जाता है, तभी वह पूर्णत बदला हुआ कहा जा सकता है। ('लिविंग फ्लेम', १, V, ४)।

नाम और रूप खोकर सागर मे मिलकर सागर ही बन जाती है।[१] एक अन्य रूपक नमक की डली का है जिसे यदि हम पानी मे डाल दें, तो वह उसमे घुलकर उसीका रूप ग्रहण कर लेती है।[२] तैत्तिरीय उपनिषद् इस निष्कर्ष पर पहुचता है कि मुक्त आत्मा ब्रह्म के साथ एकात्मभाव तो अनुभव करती है, परन्तु वह ब्रह्म मे आत्मसात् नही होती। यह चेतना की एकता है, तत्त्व की एकता नही।[३] आत्मा परमात्मा के अनन्त प्रेम मे पगी रहती है। यह व्यक्ति और परमात्मा के मध्य चेतना की ऐसी एकता है जो तब तक बनी रहेगी जब तक ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया चलती रहेगी।[४] उच्चतम जीवन अतुलनीय पूर्णता और अनन्त मुक्ति का जीवन है। स्वतत्र व्यक्ति विधि-नियमो मे बधा नही होता, क्योकि वह विधि-नियम से ऊपर उठ चुका होता है, वह तो विधि-निर्माता, विधायक, स्वराट् बन चुका होता है।[५]

जो यह जान जाता है कि मैं ब्रह्म हू, वह ब्रह्म ही बन जाता है।[६] शाश्वत जीवन का यह परम उद्देश्य इसी जगत् मे रहते हुए, इस दयनीय अस्थि-मास के शरीर के विनष्ट होने से पूर्व ही[७], इस नश्वर और अस्थिर अस्तित्व मे ही लभ्य है। यह जीवन-मुक्ति की दशा है। व्यक्ति अपने निजी केन्द्र से उस आद्यस्रोत की सजीवता, तेज, प्रकाश, प्रज्ञा और अखूट शक्ति को ही प्रतिबिम्बित कर रहा है। जब तक ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया चलती रहती है, तब तक वह अपनी व्यक्तिगत सत्ता को नही खोता।

परा विद्या या उच्चतर ज्ञान और अपरा विद्या या निम्नतर ज्ञान के बीच उपनिषदो मे अन्तर किया गया है।[८] ज्ञान-प्राप्ति के लिए जितना प्रयत्न आवश्यक है, उतने के लिए तो बहुत कम व्यक्ति समर्थ हैं, अधिकाश व्यक्ति ऐसा प्रयत्न करने मे असमर्थ हैं, और ऐसे ही लोगो के लिए अपरा विद्या है। अपरा विद्या धर्म-कर्म और परम्परागत अनुष्ठानो मे विश्वास करती है। यद्यपि ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा रखनेवालो को अपरा

१. सेंट थेरेसा के इस कथन से तुलना कीजिए : "कोई चाहे तो आकाश मे गिरनेवाले जल की बात कह सकता है, जो नदी या सोते में गिरता है और गिरकर उसमे ऐसा खो जाता है कि हम उसमें से यह अन्तर या पहचान नहीं कर सकते कि नदी का जल कौन-सा है और आकाश से गिरी हुई बूंद कौन-सी। इससे भी अच्छा उदाहरण एक छुद्र जल-स्रोत का है जो अपने आपको सागर की गोद में समर्पित कर देता है। उसके बाद उसको सागर से अलग करके देखना असम्भव हो जाता है।" ('इण्टिरियर कैसिल', मञ्जिल सातवीं, अध्याय २)।

२. बृहदारण्यक उपनिषद्, II, ४/१२।

३. क्रॉस के सेंट जॉन के इस कथन से तुलना कीजिए : "स्वर्ग भी मेरा है और यह पृथ्वी भी मेरी है, यह सारी मनुष्य-जाति मेरी है, पापी और पुण्यात्मा सभी मेरे ही हैं, देवदूत भी मेरे हैं और ईश्वर की माता भी मेरी है, सारी की सारी वस्तुएं मेरी हैं, स्वय ईश्वर मेरा है और मेरे लिए है, क्योंकि क्राइस्ट मेरे हैं और सभी मेरे निमित्त हैं। तो सच बतला मेरी आत्मा, तू अब किस चीज के लिए भटक रही है और तुझे अब क्या चाहिए? ससार मे जो कुछ है, वह सब तेरा ही तो है और तेरे ही लिए है।" ('स्पिरिचुअल मैक्सिम्स एण्ड सेण्टेन्सेज', मैरिटन में उद्धृत, 'द डिग्रीज ऑव नालेज' (१९३७), पृष्ठ ४४६-७)।

४. देखिए, 'एन आइडियलिस्ट व्यू ऑव लाइफ', द्वितीय संस्करण (१९३७), पृ० ३०६-१०।

५. बृहदारण्यक उपनिषद्, IV, ४/२३। ६. वही, I, ४/१०।

७. वही, IV, ४/७। ८. माण्डूक्य उपनिषद्, I, १, ४-५।

विद्या का अतिक्रमण करना ही होता है, तो भी साधारण लोगो के लिए इसका काफी उपयोग है। जिन लोगो को मोक्ष प्राप्त नही होता, उनको बार-बार जन्म धारण करना पडता है और पुन -पुन कर्म या नैतिक कार्य-कारण-सम्बन्ध के नियम से प्रशासित होना पडता है।

विचारणा के इतिहास मे प्रथम बार उपनिषद् एक धार्मिक दृष्टिकोण उपस्थित करते हैं जिसके पूरक तत्त्व ये हैं—परमात्मन् की परम शक्तिमत्ता, रहस्यात्मक चेतनता की सत्यता, ज्ञातव्य तत्त्व का गम्भीरतापूर्वक मनन करनेवाली बुद्धि तथा उत्साह से उल्लसित एव आवेशात्मक बुद्धि का अन्तर, उच्चतर और निम्नतर ज्ञान (परा विद्या और अपरा विद्या), रहस्यात्मक चेतनता तक पहुचने के मार्ग के रूप मे निर्गुण भक्ति; कुछ सजीव और कुछ चेतनतायुक्त अपने स्वतन्त्र जीवो सहित इस अनेकवादी विश्व की अनाद्यता, तपोपूर्ण सयम के लिए आग्रह, छुटकारा या मोक्ष जब तक मिल नही जाता तब तक कर्म के नियम से निर्धारित पुनर्जन्म-चक्र। ऐसा लगता है कि इस धार्मिक दृष्टिकोण ने पाश्चात्य विचारणा को बहुत प्राचीन काल से प्रभावित किया है।[1]

इसी काल मे यूनान मे दार्शनिक चिंतन का प्रादुर्भाव हुआ और परम्परागत होमरवादी धर्म के विरुद्ध विद्रोह हुआ। छठी शती ई० पू० मे भारत और पाश्चात्य देशो के मध्य राजनीतिक, आर्थिक और सास्कृतिक सम्बन्ध घनिष्ठतर हो गए थे। इस काल की सबसे अधिक उल्लेखनीय घटना फारस का उत्कर्ष था। ५३८ ई० पू० मे बेबीलोन का पराभव हुआ और साइरस ने पारसीक (फारस के) साम्राज्य की नीव रखी। ५१० ई० पू० के लगभग उसके उत्तराधिकारी डेरियस ने सिन्धु-घाटी-प्रदेश को अपने साम्राज्य का, जिसमे ग्रीस (यूनान) भी सम्मिलित था, एक भाग बना लिया।[2] भूमध्यसागर से लेकर सिन्धु नदी तक फैले इस साम्राज्य का शासन जो ईरानी कर रहे थे, वे स्वय वैदिक आर्यों के सगोत्र थे। जब सिकन्दर महान ने भारत पर आक्रमण किया, उसके पूर्व की शताब्दियो मे इन सगोत्र लोगो में हितो और आदर्शों की साझेदारी पर अधिक बल दिया गया। सिकन्दर के आक्रमण के समय फारस ने भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर अपने हाथ-पैर पसारने शुरू किए। जिन दिनो भारतीयो ने ४८० ई० पू० में यूनान पर हुए आक्रमण मे हिस्सा लिया, उन दिनो यूनानी अफसर और सैनिक भी भारत में नौकरी करते थे। जब भारत का पश्चिमोत्तर प्रदेश पारसीको के शासन में था, तभी से भारतीय लोग ग्रीक आइयोनियनो (ग्रीक के पूर्वी प्रदेश आइयोनिया निवासियो)—

१. "विशेषत इस बात की सम्भावना बढती जा रही है कि लोग ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखने पर इस निष्कर्ष पर पहुचे कि भारतवर्ष हमारी बुनियादी कल्पनाओं की जन्मभूमि एव चिन्तन-मननशील धर्म और श्रेष्ठतर दर्शन का पालना रहा था।" [स्टटफोल्ड द्वारा लिखित 'मिस्टिसिज्म एण्ड कैथॉलिसिज्म' (१९२५), पृष्ठ ३१]।

२. भारत के विषय में पहली ग्रीक पुस्तक का लेखक सम्भवत स्काइलैक्स था। यह एक यूनानी समुद्री कप्तान था जिसे डेरियस ने ५१० ई० पू० के लगभग सिन्धु नदी घाटी की छानबीन करने के लिए नियुक्त किया था। ('हीरोडोटस', iv, पृ० ४४)।

यवनो[1]—को जानते थे। सबसे प्रारम्भिक अनुशीलनो का, जिन्होंने होमर के सीधे-सादे स्वर्ग-नरक-सम्बन्धी सिद्धान्त को सन्देह की दृष्टि से देखा और जीवन की अधिक बौद्धिक व्याख्या जाननी चाही, उद्भव एशिया माइनर के आयोनियन ग्रीको में हुआ जो फारस के सम्पर्क में थे। यद्यपि मिलेटस-निवासी थेलीज (६४०–५५० ई० पू०) यूनानी दर्शन का जनक था, तथापि यूनानी अध्यात्म विद्या की आधारशिलाए एलीएटिक विचार-सम्प्रदाय ने रखी, जिसमें ज़ेनोफेनीज़ (Xenophanes), परमीनीडीज़ (Parmenides) और ज़ीनो (Zeno)—४९०–४२० ई० पू०—आदि सम्मिलित थे। समुद्री व्यापारियो ने, जिन्होंने यूनानी उपनिवेश स्थापित किए थे, यूनानी जीवन की एकान्तता को भग किया और उन नगरो को, जहा के वे रहनेवाले थे, दूसरे प्रदेशो और देशो की कई विचित्र वस्तुओ के विषय मे ज्ञान कराया। एनेक्सेगोरस, जो सुकरात के पूर्व हुए दार्शनिको मे प्रमुख था, एशिया माइनर के आयोनियाई क्लेज़ोमीनाई नगर से आया था और ज़ेनोफेनीज़ एक गृहहीन घुमक्कड था। सम्बन्ध मे उपनिषदो की शिक्षा और एलीएटिक के सिद्धान्त मे, साख्य दर्शन और इम्पेडॉक्लीज़ (Empedocles) और एनेक्सेगोरस के विचारो मे बहुत साम्य है। सादृश्यो के विषय मे काफी कुछ कहा गया है, यद्यपि यह बहुत सम्भव लगता है कि यूनानी और भारतीय एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप मे अलग-अलग एकसमान निष्कर्षों पर पहुचे हो।

परन्तु, रहस्यवादी सम्प्रदायो (भक्ति सम्प्रदायो) और पाइथागोरस तथा प्लेटो (अफलातून) के उपदेशो के साथ बात कुछ भिन्न है। उनमे हमे बुद्धिवाद और मानवतावाद की यूनानी परम्परा से बिलकुल अलग विचारधारा मिलती है। रहस्यवादी परम्परा निश्चित रूप से अपनी प्रकृति मे यूनानी नही है।[2] ऑर्फियाई और एल्यूसिनियाई गुप्त धार्मिक कृत्यो और पाइथागोरस तथा प्लेटो के सिद्धान्तो की सक्षिप्त चर्चा यूनानी विचारणा मे इस परम्परा के निश्चित स्वरूप को स्पष्ट करने मे सहायक होगी।

ऑर्फियस, जिसे थ्रेसियन कहा गया है, का यूनानी इतिहास मे एक धार्मिक सम्प्रदाय के पैगम्बर के रूप मे उल्लेख हुआ है। उसके द्वारा चलाए धार्मिक सम्प्रदाय के जीवन-सम्बन्धी नियमो की एक सहिता थी, उसका धर्मशास्त्र रहस्यवादी था और उसमे शुद्धीकरण-सम्बन्धी तथा प्रायश्चित्तिक धार्मिक कृत्यो का विधान था।[3] उसकी शिक्षाओ का सग्रह कई ग्रन्थो मे किया गया है जिनका यूनानी साहित्य मे प्राय उल्लेख हुआ करता है।[4] डायोनिसस इस धर्म-सम्प्रदाय का इष्टदेव है। आत्मा की अन्तर्जात अमरता

१ तुलना कीजिए पाणिनि ने ग्रीक लिपि को यवनानी लिपि कहा है, iv, १/४९। 'यवन' शब्द के लिए प्राकृत भाषा का शब्द 'यन' अशोक के अभिलेखों में प्रयुक्त हुआ है और वहां उसका तात्पर्य मिस्र, साइरेनी, मकदूनिया, एपीरस और सीरिया के यूनानी राजाओं से है।

२. नीत्शे प्लेटो के विचारों को 'यूनानी विचारधारा का विरोधी' मानता है। देखिए उसका लिखित 'विल टु पावर', डॉ० ऑस्कर लेवी द्वारा सम्पादित, खण्ड १ (१९०९), पृष्ठ ३४६।

३ प्लेटो, 'फ़ेड्रस' (Phaedrus), ६९ सी।

४. यूरीपिडीज़ के 'हिप्पोलिटस' में, थीसियस अपने पुत्र को ताना मारता है, क्योंकि वह ऑर्फियस को अपना प्रभु मानकर तपश्चर्यापूर्ण जीवन बिताता है। 'एल्केस्टिस' (Alcestis) में समवेत गायन में इस बात पर शोक प्रकट किया गया है कि उन्होंने भाग्य की चोटों के लिए अब तक कोई औषधि

मे आस्था का होना ऑर्फियाई धर्म की एक आधारभूत विशेषता है।[1] चरमोल्लास की दशा मे 'आत्मा शरीर से बाहर निकल आती है' और अपनी सही प्रकृति को व्यक्त कर देती है। ऑर्गिएस्टियाई धर्मों की भी यह मान्यता है कि ईश्वर के उपासक ईश्वर द्वारा आविष्ट रहते हैं (ईश्वर की उनमे छाया आ जाती है)।[2] जब हम ईश्वर द्वारा आविष्ट होते हैं तब हम उन कुछ क्षणो के लिए दैवी पद तक उठा दिए जाते हैं। जो चीज, भले ही थोडे-से समय के लिए, दैवीरूप मे आ सकती है, वह साररूप मे दिव्य सत्ता से भिन्न नही हो सकती, हालाकि देहधारी रहते हुए वह दैवी सत्ता नही हो सकती। ईश्वर और आत्मा के मध्य कोई दुर्लंघ्य खाई नही है। अदैवी तत्त्वो से दैवी सत्ता की मुक्ति ऑर्फियाई धर्म का लक्ष्य है। आत्मा व्यक्ति का निर्बल प्रतिरूप नही है, जैसाकि होमर मानता है, वरन् यह एक पतित ईश्वर है जो धार्मिक सस्कारो और शुद्धीकरण की क्रियाओ के द्वारा उसके उच्च पद को पुनः पहुचाया जाता है।

यदि आत्मा सारतः दिव्य और अमर है, और यदि वह शरीर की मृत्यु होने पर तुरन्त बन्धनमुक्त नही हो जाती, तो उसे तब तक किसी मध्यवर्ती दशा मे या किसी अन्य पशु और मनुष्य के रूप मे रहना चाहिए जब तक उसकी मुक्ति नही हो जाती। मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह शरीर की, जिसके भीतर आत्मा वैसे ही कैद पडी है जैसे कोई कैदी अपनी कोठरी मे बन्द पडा रहता है, दासत्व-शृखला से अपने को मुक्त कर लेगा। आत्मा को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पहले काफी मजिलें तय करनी हैं। शरीर की मृत्यु हो जाने पर वह उससे कुछ देर के लिए स्वतत्र अवश्य हो जाती है, परन्तु फिर किसी नये शरीर मे प्रवेश कर जाती है। बारी-बारी से बन्धन-विहीन अलग अस्तित्व और सदा पुनर्नवीकृत मूर्त रूप को अपनाकर वह निरन्तर चलती रहती है, जिसमे उसे आवश्यकता के वृहत् वृत्त मे चक्कर काटना होता है और जिसमे उसमे कई नये शरीर धारण करते हैं। जन्म एक नये जीवन का आरम्भ नही है, प्रत्युत् एक नये वातावरण मे प्रवेश होना है। जन्म का यह चक्र तब तक घूमता रहता है जब तक आत्मा मुक्ति प्राप्त कर इससे बच नही निकलती।[3] उस समय वह

नहीं प्राप्त की "थ्रेसियाई टिकियों में जिन्हें सरस ऑर्फियस ने गढ़ा था, कोई मजा नहीं रहा।" ऑर्फिज्म का उल्लेख प्लेटो के 'क्रेटीलस', पृष्ठ ४०० बी, 'लॉज', ii, पृष्ठ ६६९ डी, 'रिपब्लिक', ii, पृष्ठ ३६४ ई और 'इऑन' (Ion), पृष्ठ ५३६ बी आदि ग्रन्थों में हुआ है।

१. 'हीरोडोटस', ii, पृष्ठ ८१।

२. ऑर्फियाई मत डॉयोनीसियाई धर्म का ही सुधरा हुआ रूप था। 'ऑर्फियस ने एक बड़ा कदम यह उठाया कि उसने प्राचीन बाकिक (Bacchic) आस्था को कि मनुष्य चाहे तो ईश्वर बन सकता है, बनाए रखा, किन्तु ईश्वर-सम्बन्धी धारणा को ही बदल डाला और उसने ईश्वरत्व की प्राप्ति एक बिलकुल भिन्न प्रकार से ही करने का उपाय सुझाया। उसने अपने मत में यह आकर्षण ला दिया कि शारीरिक मादकता के स्थान पर आध्यात्मिक चरमोल्लास को महत्त्व दे दिया और उसके साधनरूप में उसने मदपान तो वर्जित कर दिया और इन्द्रियनिग्रह एवं शुद्धीकरण की धार्मिक क्रियाओं को स्वीकार किया।" [जे० ई० हैरिसन, 'प्रोलेगोमेना टु द स्टडी ऑव ग्रीक रिलीजन' (१९०३), पृष्ठ ४७७]।

३ तुलना कीजिए 'गोल्ड टेबलेट्स' न० ५ "मैं शोकमय जर्जर चक्र से छूटकर बाहर आ गई हूं।" ['प्रोलेगोमेना टु द स्टडी ऑव ग्रीक रिलीजन',—जे० ई० हैरिसन (१९०३), पृष्ठ ६७०]।

वैसी ही दिव्य बन जाती है जैसी वह किसी मर्त्य शरीर मे प्रवेश करने के पूर्व थी।[1] देवताओ के तुल्य बनने की चेष्टा करना, एक यूनानी की दृष्टि मे भारी धृष्टता है, यद्यपि यह ऑर्फियाई धर्म का तो सार-तत्त्व है। ऑर्फियाई मत की इस मस्ती कि "मैं ईश्वर हू, मर्त्य अब नही है," (पिण्डार) की प्रतिक्रिया यूनानियो मे अनोखे ढग से हुई. "ईश्वर बनने की चेष्टा मत करो।" "जीयस बनने की चेष्टा मत करो,' 'मर्त्यों को तो मर्त्य वस्तुए ही अधिक शोभती हैं।" "मर्त्यों को उन बातो के लिए चेष्टा अवश्य करनी चाहिए जो देवताओ के करने की हैं, परन्तु यह समझते हुए कि हमारी अपनी शक्ति कितनी है, क्या साधन हमारे पास हैं और किस प्रारब्ध के साथ हम पैदा हुए है। हे मेरी आत्मा, अमर जीवन के लिए चेष्टा मत कर, किन्तु तेरी शक्ति के भीतर जो कुछ है, उसे तू अवश्य कर।"[2] ऑर्फियाई मत को आत्मा के भविष्य के विषय मे उतनी चिन्ता नही है जितनी चिन्ता पूर्ण पवित्रता प्राप्त करने के विषय मे।

हम सभीके लिए मोक्ष-प्राप्ति की सम्भावना है या दिव्यता का अकुर हम सबमे है। परन्तु, इसका होना ही हमें पूर्णता के प्रति आश्वस्त नही करता, क्योकि पापपूर्ण जीवन के कारण यह सम्भावना कुचल दी जा सकती है। जिस चीज के बीज हममें अभी हैं, वस्तुत वही चीज बन जाने और अपने पार्थिव मोहपाशो को काट फेंकने के लिए हमें ऑर्फियाई सिद्धान्तो के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। बुराई का स्रोत हमारी भूख और लालसाओ में है जिनको हमे दबाकर रखना ही चाहिए। कुछ संयम का भी विधान है, जैसे—सेम की फलियो, मास और कुछ प्रकार की मछलियो को न खाना, निर्दिष्ट वेश-भूषा ही धारण करना और पशु-बल से बचना आदि। ऑर्फियाई धार्मिक कृत्यो मे हम बपतिस्मा के अतिरिक्त 'पवित्र विवाह', 'पवित्र शिशु का जन्म' जैसे अनुष्ठान भी पाते हैं, और इन्ही अनुष्ठानो ने आगे चलकर ईसाई मत के विविध सस्कारो को जन्म दिया।[3] शरीर और उसकी इच्छाओ से एकत्व अनुभव करने को आत्मा के शाश्वत अमर जीवन के मार्ग मे एक ऐसी बाधा समझा जाता है जो सब किए-कराए पर पानी फेर देती है। यूनानी नैतिकता की जो मुख्य विशेषता है—

१. देखिए प्लेटो कृत 'फीड्रस' (Phaedrus), ६० बी, 'क्रेटिलस' (Cratylus), ४०० बी; हिरोडोटस एक थ्रेसियाई कबीले—'गेटाई' के बारे में कहता है कि ये 'मनुष्य के अमर बनने' में विश्वास करते थे, iv, ९३–४। ये पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी स्वीकार करते थे। देखिए, रोडे (Rohde) कृत 'साइक' (Psyche), पृष्ठ २६३।

२ डब्ल्यू० के० सी० गुथरी कृत 'ऑर्फियस एण्ड ग्रीक रिलीजन' (१९३५), पृष्ठ २३६–७। "चेतन जीवन के क्षेत्र से परे, वैयक्तिक अस्तित्व के समाप्त हो जाने पर, परमोल्लास की स्थिति में, ईश्वर के साथ शुभ समागम हो जाने के अनन्तर भी किसी रहस्यात्मक प्रयास की आवश्यकता है, इसपर 'विशुद्ध' यूनानी धर्म का विश्वास नही है। पैगम्बरी कठोर तपस्या और रहस्यवादियों की तन्मयता दोनों ही इसके लिए विजातीय है।" [हीलर कृत 'प्रेयर', अंग्रेजी अनुवाद (१९३२), पृष्ठ ७६]।

३ "प्रारम्भिक ईसाई अपने कुछ श्रेष्ठतम संयोगों के लिए ऑर्फियाई मत के ऋणी थे।" जे० ई० हैरिसन कृत 'प्रोलेगोमेना टु द स्टडी ऑव ग्रीक रिलीजन' (१९०३), पृष्ठ ५०४; पृष्ठ ५४९ भी देखिए।

मे आस्था का होना ऑर्फियाई धर्म की एक आधारभूत विशेषता है।[1] चरमोल्लास की दशा मे 'आत्मा शरीर से बाहर निकल आती है' और अपनी सही प्रकृति को व्यक्त कर देती है। ऑर्गिएस्टियाई धर्मों की भी यह मान्यता है कि ईश्वर के उपासक ईश्वर द्वारा आविष्ट रहते हैं (ईश्वर की उनमे छाया आ जाती है)।[2] जब हम ईश्वर द्वारा आविष्ट होते हैं तब हम उन कुछ क्षणो के लिए दैवी पद तक उठा दिए जाते हैं। जो चीज, भले ही थोडे-से समय के लिए, दैवीरूप मे आ सकती है, वह साररूप मे दिव्य सत्ता से भिन्न नही हो सकती, हालाकि देहधारी रहते हुए वह दैवी सत्ता नही हो सकती। ईश्वर और आत्मा के मध्य कोई दुर्लंघ्य खाई नही है। अदैवी तत्त्वो से दैवी सत्ता की मुक्ति ऑर्फियाई धर्म का लक्ष्य है। आत्मा व्यक्ति का निर्बल प्रतिरूप नही है, जैसाकि होमर मानता है, वरन् यह एक पतित ईश्वर है जो धार्मिक सस्कारो और शुद्धीकरण की क्रियाओ के द्वारा उसके उच्च पद को पुनः पहुचाया जाता है।

यदि आत्मा सारतः दिव्य और अमर है, और यदि वह शरीर की मृत्यु होने पर तुरन्त बन्धनमुक्त नही हो जाती, तो उसे तब तक किसी मध्यवर्ती दशा मे या किसी अन्य पशु और मनुष्य के रूप मे रहना चाहिए जब तक उसकी मुक्ति नही हो जाती। मनुष्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह शरीर की, जिसके भीतर आत्मा वैसे ही कैद पडी है जैसे कोई कैदी अपनी कोठरी मे बन्द पडा रहता है, दासत्व-शृखला से अपने को मुक्त कर लेगा। आत्मा को अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पहले काफी मजिलें तय करनी हैं। शरीर की मृत्यु हो जाने पर वह उससे कुछ देर के लिए स्वतत्र अवश्य हो जाती है, परन्तु फिर किसी नये शरीर मे प्रवेश कर जाती है। बारी-बारी से बन्धन-विहीन अलग अस्तित्व और सदा पुनर्नवीकृत मूर्त रूप को अपनाकर वह निरन्तर चलती रहती है, जिसमे उसे आवश्यकता के वृहत् वृत्त मे चक्कर काटना होता है और जिसमे उसमे कई नये शरीर धारण करते हैं। जन्म एक नये जीवन का आरम्भ नही है, प्रत्युत् एक नये वातावरण मे प्रवेश होना है। जन्म का यह चक्र तब तक घूमता रहता है जब तक आत्मा मुक्ति प्राप्त कर इससे बच नही निकलती।[3] उस समय वह

नहीं प्राप्त की "थ्रेसियाई टिकियों में जिन्हें सरस ऑर्फियस ने गढ़ा था, कोई मज़ा नहीं रहा।" ऑर्फिज़्म का उल्लेख प्लेटो के 'क्रेटीलस', पृष्ठ ४०० बी, 'लॉज़', ii, पृष्ठ ६६९ डी, 'रिपब्लिक', ii, पृष्ठ ३६४ ई और 'इऑन' (Ion), पृष्ठ ५३६ बी आदि ग्रन्थों में हुआ है।

१ 'हीरोडोटस', ii, पृष्ठ ८१।

२. ऑर्फियाई मत डॉयोनीसियाई धर्म का ही सुधरा हुआ रूप था। 'ऑर्फियस ने एक बड़ा कदम यह उठाया कि उसने प्राचीन बाकिक (Bacchic) आस्था को कि मनुष्य चाहे तो ईश्वर बन सकता है, बनाए रखा, किन्तु ईश्वर-सम्बन्धी धारणा को ही बदल डाला और उसने ईश्वरत्व की प्राप्ति एक बिलकुल भिन्न प्रकार से ही करने का उपाय सुझाया। उसने अपने मत में यह आकर्षण ला दिया कि शारीरिक मादकता के स्थान पर आध्यात्मिक चरमोल्लास को महत्त्व दे दिया और उसके साधनरूप में उसने मदपान तो वर्जित कर दिया और इन्द्रियनिग्रह एव शुद्धीकरण की धार्मिक क्रियाओं को स्वीकार किया।" [जे० ई० हैरिसन, 'प्रोलेगोमेना टु द स्टडी ऑव ग्रीक रिलीजन' (१९०३), पृष्ठ ४७७]।

३ तुलना कीजिए · 'गोल्ड टेबलेट्स' न० ५ "मैं शोकमय जर्जर चक्र से छूटकर बाहर आ गई हू।" ['प्रोलेगोमेना टु द स्टडी ऑव ग्रीक रिलीजन',—जे० ई० हैरिसन (१९०३), पृष्ठ ५७०]।

वैसी ही दिव्य वन जाती है जैसी वह किसी मर्त्य शरीर मे प्रवेश करने के पूर्व थी।[1] देवताओ के तुल्य वनने की चेष्टा करना, एक यूनानी की दृष्टि मे भारी धृष्टता है, यद्यपि यह ऑर्फियाई धर्म का तो सार-तत्त्व है। ऑर्फियाई मत की इस मस्ती कि "मैं ईश्वर हू, मर्त्य अव नही हू," (पिण्डार) की प्रतिक्रिया यूनानियो मे अनोखे ढग से हुई· "ईश्वर वनने की चेष्टा मत करो।" "जीयस वनने की चेष्टा मत करो,···मर्त्यों को तो मर्त्य वस्तुए ही अधिक शोभती है।" "मर्त्यों को उन वातो के लिए चेष्टा अवश्य करनी चाहिए जो देवताओ के करने की हैं, परन्तु यह समझते हुए कि हमारी अपनी शक्ति कितनी है, क्या साधन हमारे पास हैं और किस प्रारब्ध के साथ हम पैदा हुए है। हे मेरी आत्मा, अमर जीवन के लिए चेष्टा मत कर, किन्तु तेरी शक्ति के भीतर जो कुछ है, उसे तू अवश्य कर।"[2] ऑर्फियाई मत को आत्मा के भविष्य के विषय मे उतनी चिन्ता नही है जितनी चिन्ता पूर्ण पवित्रता प्राप्त करने के विषय मे।

हम सभीके लिए मोक्ष-प्राप्ति की सम्भावना है या दिव्यता का अकुर हम सवमे है। परन्तु, इसका होना ही हमे पूर्णता के प्रति आश्वस्त नही करता, क्योकि पापपूर्ण जीवन के कारण यह सम्भावना कुचल दी जा सकती है। जिस चीज़ के वीज हममें अभी हैं, वस्तुत वही चीज़ वन जाने और अपने पार्थिव मोहपाशो को काट फेंकने के लिए हमें ऑर्फियाई सिद्धान्तो के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए। वुराई का स्रोत हमारी भूख और लालसाओ में है जिनको हमे दवाकर रखना ही चाहिए। कुछ सयम का भी विधान है, जैसे—सेम की फलियो, मास और कुछ प्रकार की मछलियो को न खाना, निर्दिष्ट वेश-भूषा ही धारण करना और पशु-वल से वचना आदि। ऑर्फियाई धार्मिक कृत्यो में हम वपतिस्मा के अतिरिक्त 'पवित्र विवाह', 'पवित्र शिशु का जन्म' जैसे अनुष्ठान भी पाते हैं, और इन्ही अनुष्ठानो ने आगे चलकर ईसाई मत के विविध सस्कारों को जन्म दिया।[3] शरीर और उसकी इच्छाओ से एकत्व अनुभव करने को आत्मा के शाश्वत अमर जीवन के मार्ग मे एक ऐसी वाधा समझा जाता है जो सव किए-कराए पर पानी फेर देती है। यूनानी नैतिकता की जो मुख्य विशेषता है—

१. देखिए प्लेटो कृत 'फैड्रस' (Phaedrus), ६२ वी; 'क्रेटिलस' (Cratylus), ४०० वी; हिरोडोटस एक थ्रेसियाई कवीले—'गेटाई' के वारे में कहता है कि वे 'मनुष्य के अमर वनने' में विश्वास करते थे; ४, ९३–४। वे पुनर्जन्म के सिद्धान्त को भी स्वीकार करते थे। देखिए, रोडे (Rohde) कृत 'साइक' (Psyche), पृष्ठ २६३।

२. डब्ल्यू० के० सी० गुथरी कृत 'ऑर्फियस एण्ड ग्रीक रिलीजन' (१९३५), पृष्ठ २३६–७। "चेतन जीवन के क्षेत्र से परे, वैयक्तिक अस्तित्व के समाप्त हो जाने पर, परमोल्लास की स्थिति में, ईश्वर के साथ शुभ समागम हो जाने के अनन्तर भी किसी रहस्यात्मक प्रयास की आवश्यकता है, इसपर 'विशुद्ध' यूनानी धर्म का विश्वास नहीं है। पैगम्बरी कठोर तपस्या और रहस्यवादियों की अन्यमनस्कता दोनों ही उसके लिए विजातीय हैं।" [हिलर कृत 'प्रेयर', अंग्रेज़ी अनुवाद (१९३२), पृष्ठ ७८]।

३. "प्रारम्भिक ईसाई अपने कुछ श्रेष्ठतम सवेगों के लिए आर्फियाई मत के ऋणी थे।" जे० ई० हैरिसन कृत 'प्रोलेगोमेना टु द स्टडी ऑव ग्रीक रिलीजन' (१९०३), पृष्ठ ५०८; पृष्ठ ५४९ भी देखिए।

नागरिक सदाचार—उसपर ऑर्फियाई मत ज़ोर नही देता।[1] ऑर्फियाई मत रक्त-समूहो की सीमाओ का अतिक्रमण कर देता है। यह मानता है कि सभी मनुष्य आपस मे भाई-भाई हैं। इस एकत्व की भावना मे सारी मनुष्य-जाति ही नही आ जाती, वरन् जितने सजीव वस्तु व प्राणी हैं, वे भी आ जाते हैं। समग्र जीवन एक है और ईश्वर एक है। ऑर्फियस के चित्रो मे यह दिखाया जाता है कि उसकी बीन ('लायर') के मधुर स्वर से मुग्ध होकर जगली और पालतू पशु पास-पास ही मित्रवत् बैठे हैं। इसमे समस्त प्राणमय सृष्टि की एकता प्रदर्शित होती है।[2] ऑर्फियाई मत का प्रभाव सभ्यता पर और ललित कलाओ पर अनुकूल पड़ा। ऑर्फियस मे योद्धा के कोई भी लक्षण न थे, उसकी बीन लोगो के हृदयो मे कोमल भावनाओ का सचार करने मे सहायक थी। ऑर्फियाई मत यूनानियो की सगुण भक्ति-आराधना से भिन्न था। इसके अनुयायी ऐसे समुदायो मे सगठित हैं जिनमे प्रवेश और दीक्षा-सस्कार व्यक्ति की स्वेच्छा पर निर्भर करता है। ऑर्फियाई मत द्वारा प्रतिपादित जगत्-रचना का सिद्धान्त और स्वर्ग-नरक-सम्बन्धी सिद्धान्त यूनानी चेतना के लिए विजातीय-से हैं। होमर वस्तुओ की उत्पत्ति के आदि स्रोत को जानने की झझट मे नही पड़ा। वह ऐसे किसी विश्वाण्ड के विषय मे नही जानता, जिसका विश्व-उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्तो और ऑर्फियाई मत मे एक प्रमुख स्थान है। जो लोग सृष्टि-रचना-सम्बन्धी वैदिक ऋचाओ से परिचित हैं, वे इस बात पर विशेष ध्यान दें कि रात्रि और सृष्टि-पूर्व की विशृंखलता की धारणाए तथा प्रेम और ब्रह्माण्ड का जन्म आदि बातें ऑर्फियाई लोग भी मानते हैं।[3]

१. रोडे (Rohde) का कथन है· "यह (ऑर्फियाई मत) नागरिक गुणों के अभ्यास की शर्त नहीं लगाता, न अनुशासन या चरित्र के रूपान्तरण की आवश्यकता ही बताता है। इसकी नैतिकता का निचोड़ यह है कि व्यक्ति की साधना को ईश्वर की ओर मोड़ देना और फिर विमुख हो जाना, नैतिक भूलों और पार्थिव जीवन की आदर्श-च्युति की ओर से नहीं, वरन् पार्थिव अस्तित्व की ओर से ही।" ('साइक' II, पृष्ठ १२५)। "सामान्य यूनानी व्यक्ति जिस नागरिक पूजा के प्रति निष्ठावान था, उससे बिलकुल भिन्न प्रकार का यह धर्म था।" (गुथरी कृत 'ऑर्फियस एण्ड ग्रीक रिलीजन', पृष्ठ २०६)।

२. ईसाई-धर्म में भलेमानुस गड़रिये का जो प्रतीक है, वह इससे ही सम्बन्धित जान पड़ता है। यह हमें वंशीधर कृष्ण का भी स्मरण करा देता है।

३ सर्वाधिक लोकप्रिय देवपुराणकार का कथन है कि सबसे प्रारम्भ में 'क्रोनोस' या समय, 'जो कभी पुराना नहीं पड़ता', की स्थिति थी। उससे 'ईथर' और सृष्टि-पूर्व की अरूप विशृंखलता उत्पन्न हुई। उनसे एक अण्ड की आकृति उभरी जो उचित समय के बाद जब फूटा, तब उसमें से ईरोज़ (Eros) या फेनीज़ (Phanes) की उत्पत्ति हुई। वह ससार में सर्वप्रथम उत्पन्न प्राणी था—वह एकसग ही पुरुष और स्त्री दोनों था, उसीमें समस्त प्राणियों के बीज निहित थे। फेनीज़ ने सूर्य, चन्द्र और रात्रि की रचना की और रात्रि से यूरेनोज़ (Uranos) और गेई (Gaea) (द्युलोक और पृथ्वी) का उद्भव हुआ। इन दोनों से टिटन्स उत्पन्न हुए, जिनमें से एक था क्रोनोस, जिसने अपने पिता यूरेनोज़ को हराया और उसके राजसिंहासन पर बैठा। उसको गद्दी से उतारा ज़ीयस ने जिसने फेनीज़ को निगल लिया और इस प्रकार देवताओं और मनुष्यों का पिता बना। (लिग्गे कृत 'फोररनर्स एण्ड राइवल्स ऑव क्रिश्चियैनिटी' (१६१५), खण्ड १, पृष्ठ १२३, देखिए—एरिस्टोफेनीज़ कृत 'द बर्ड्स' पृष्ठ ६६३)। सृष्टि-रचना-सम्बन्धी वैदिक सिद्धान्त के सम्बन्ध में देखिए—'इण्डियन फिलॉसफी', द्वितीय सं०, खण्ड १ (१६२६), पृष्ठ १००।

बाद के दिनो मे ऑर्फियाई धर्मशास्त्र का अध्ययन-अनुशीलन यूनानी दार्शनिको ने, जैसे—पेरिपेटेटियाई (Peripatetic), यूडेमस (Eudemus), स्टोइकवादी क्रिसिपस (Chrysippus) और नवप्लेटोवादी प्रोक्लस (Proclus) आदि ने किया। सिकन्दरिया के वैयाकरणो के अध्ययन का यह एक प्रिय विषय बन गया। जबकि अधिकाश ऑर्फियाई साहित्य, जो हमारे सामने आया है, बाद के समय का है, तब "थौरिआई (Thourioi) और पीटेलिया (Petelia) मे प्राप्त पतले स्वर्णपत्र पर अकित ऑर्फियाई मत सम्बन्धी पद्य हमे उस पुराकाल मे पहुचा देते हैं जब ऑर्फियाई मत एक फलता-फूलता धर्म-सम्प्रदाय था।"[1] प्रो० बर्नेट कहते हैं. "उनसे हमे ज्ञात होता है कि भारतवर्ष मे उसी काल मे जो धार्मिक विश्वास प्रचलित थे, उनसे इस मत का आश्चर्यजनक सादृश्य है, हालाकि वह ऐसा असम्भव समझते हैं कि उस काल मे भारत का यूनान पर किसी प्रकार का प्रभाव रहा होगा।" दोनो मे जिन विश्वासो की समानता है, वे हैं—पुनर्जन्म, आत्मा की अमरता और ईश्वर—सम प्रकृति तथा आत्मशुद्धि के द्वारा मोक्ष की सम्भावना। यदि इनके साथ हम जन्म-चक्र और विश्व-अण्ड के रूपको को भी जोड दें, तो यह बात जरा कम समझ मे आती है कि ऐसा सादृश्य केवल प्राकृतिक सयोग के कारण दिखाई देता है।[2]

एल्यूसिनियाई सम्प्रदाय ऑर्फियाई सम्प्रदाय की तरह ही है और वह ऑर्फियाई स्तोत्रो तक का प्रयोग करता है। जबकि ऑर्फियाई सम्प्रदाय तपश्चर्या का अनुशासन चाहता है तब एल्यूसिस के द्वारा ऐसी कोई बात नही चाही गई है। इसका मूल विचार जादुई अधिक जान पडता है, नैतिक कम।[3] यदि हम धार्मिक कृत्यो को सही ढग से करें, तो महादेवी हमारी रक्षा इस लोक और परलोक मे करेंगी। तो भी, जहा तक सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि का सम्बन्ध है, यह ऑर्फियाई मत से भिन्न नही है। यह विश्वास करता है कि मनुष्य के अत.करण मे दिव्यशक्ति का निवास है। उसके चारो ओर काले परदे लिपटे हुए हैं और हमे चाहिए कि उन्हे फाड फेंकें। दीक्षा-सस्कार को उसमे बहुत महत्त्व का विषय माना जाता था। जिस व्यक्ति को दीक्षा नही मिली, वह आधा ही आदमी है। इसके माध्यम से हम अपने सच्चे, दिव्य आत्मत्व की चेतनता मे प्रविष्ट

१. बर्नेट लिखित 'अर्ली ग्रीक फिलॉसफी' (१९३०), पृष्ठ ८२।

२ आकाश-सम्बन्धी जो बातें लिखी गई हैं, उनमें कुछ उल्लेखनीय सादृश्य दिखाई देता है। 'ऋग्वेद' में द्यु लोक को आत्मा का घर बताया गया है जहां वह मृत्यूपरान्त विशुद्ध होकर लौट जाती है। (x, १४/८), द्युलोक में पहुचने के पूर्व उसे एक सरिता (वैतरणी) को पार करना पड़ता है और यमराज के पहरेदार कुत्तों के पास से गुजरना होता है जिन्हें 'सरमा के चितकबरे कुत्ते' कहा गया है। (x, १४/१०)।

३. सोफोक्लीज ने लिखा था "वे मर्त्य तिगुने सुखी हैं जो हेडीज (Hades) के लिए रवाना होने से पूर्व इन अनुष्ठानों को देख लेते हैं, क्योंकि ऐसे ही लोगों को परलोक में सच्चा जीवन मिलता है। शेष को तो बुरी-बुरी चीजें ही मिलती हैं।" कहते हैं कि इस बात को सुनकर सनकी समझे जानेवाले डायोगेनीज ने कह ही तो दिया था "क्या कहा! क्या चोर पटैकिओन (Pataikion) को केवल इसीलिए मृत्यु के उपरान्त इपैमिनोण्डस (Epaminondas) की अपेक्षा अच्छा स्थान और व्यवहार मिलेगा, क्योंकि वह धर्म-दीक्षा ग्रहण कर चुका है?"

होते हैं । इसीको पुनर्जन्म कहते हैं । भौतिक ससार मे आगमन हमारा पहला जन्म है, और दूसरा जन्म है हमारे भीतर जो कुछ वास्तविक है, सत्य है उसका हमारी प्रकृति के रूप मे परिवर्तित हो जाना । धर्म क्या चाहता है ? धर्म की चाह है हमारे सच्चे आत्मत्व से हमारी एकता । धार्मिक अनुष्ठानो के अन्त मे दीक्षाप्राप्त व्यक्तियो को जो अतिम शब्द सुनने पडते हैं, वे हैं "शान्ति से जाओ ।"[1] उनको अचचल मन और विश्रमित आत्माओ के साथ वहा से विदा होना था । अरस्तू ने कहा था : "जो लोग दीक्षित हो चुकते हैं, उनसे यह आशा नही की जाती कि वे कुछ सीखेंगे, वरन् उनसे यही आशा की जाती है कि वे एक खास तरह से प्रभावित होंगे और एक खास तरह की मनोदशा बनाए रखेंगे ।"[2] सिकन्दर महान और जूलियस सीज़र तक ने इन दीक्षा-सस्कारो मे अपने को दीक्षित कराया था । ईश्वर कोई शब्द या बोध नही है, वरन् एक चेतना है जिसका साक्षात्कार हम इसी शरीर मे और इसी ससार मे कर सकते हैं । धर्म किसी इष्ट देवता की पूजा से कुछ अधिक है । इन सिद्धान्तो ने यूरीपिडीज़ के बकाई (Bacchae) को भी प्रेरणा दी थी, जैसेकि उनकी बहुउद्धृत इन पक्तियो से प्रकट होता है "कौन जानता है कि जिसे हम जीवन समझते हैं, वह मृत्यु हो और जिसे मृत्यु समझते हैं, वह जीवन ?" यह तो निश्चित-सा है कि जो लोग इन धार्मिक दीक्षा-सस्कारो मे भाग लेते थे, उनमे से कुछ थोडे-से लोग ही वहा जो कुछ देखते या सुनते थे, उसका पूरा अर्थ हृदयगम कर पाते थे । प्लेटो कहता है "गदा-अक्ष वहन करने-वाले तो अनेक हैं, परन्तु रहस्यवादी भक्त तो कुछ ही हैं ।"[3]

एस्चिलस (Aeschylus), सोफोक्लीज़ (Sophocles) और यूरीपिडीज़ (Euripides) करुणरस के कवि इन रहस्यवादी सम्प्रदायो से परिचित थे और उनका समर्थन इन्हे प्राप्त था । जब तक ईसाई सम्राटो ने इन सम्प्रदायो पर प्रतिबन्ध नही लगा दिया तब तक इनका जनता पर बहुत प्रभाव था ।[4]

१. तुलना कीजिए "ओ३म शान्ति शान्ति शान्ति" से तथा "मैं अपनी शान्ति तुम्हारे पास छोड़ता हूं, मैं अपनी शान्ति तुम्हें सौंपता हूं" से ।

२ "जिन लोगों को दीक्षा दी जाती है उनसे यह आशा नहीं की जाती कि वे किसी चीज़ को सोच-समझकर हृदयगम करेंगे, वरन् उनसे तो इतनी ही आशा की जाती है कि उनको कुछ आन्तरिक अनुभव होंगे और उनके लिए उनको एक खास तरह की मनोदशा बनाए रखनी होगी—यह तो दीक्षित करने के पूर्व ही मान लिया जाता था कि वे ऐसी मनोदशा बनाने में समर्थ हैं।" [जैगर कृत 'एरिस्टॉटल', अंग्रेज़ी अनुवाद (१९३४), पृष्ठ १६०] ।

३. फेड्रस (Phaedrus) ।

४ एफ० लेग्गे कृत 'फोररनर्स एण्ड राइवल्स ऑव क्रिश्चियैनिटी' (१९१५), खण्ड १, पृष्ठ १२३ । 'जूलियन द अपोस्टेट' को एल्यूसिस के रहस्यवादी धार्मिक सस्कारों में एथेन्स नगर में दीक्षित किया गया था । डब्ल्यू० एम० रैमजे इस बात की पुष्टि करते हैं कि एल्यूसिनियाई रहस्यवादी विचारधारा के रूप में "यूनानी प्रतिभा ने एक ऐसा धर्म-निर्माण करने का महान प्रयत्न किया, जो यूनान में विचारणा और सभ्यता की होनेवाली प्रगति के साथ कदम मिलाकर चल सके ।" (इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' ९वा सस्करण, खण्ड १७, पृष्ठ १२६) ।

इन धर्म-सम्प्रदायो और पाइथागोरस की शिक्षाओ मे घनिष्ठ एकरूपता थी। हिरोडोटस ने इसको लक्ष्य किया था।[1] पाइथागोरस छठी शती ई० पू० के उत्तरार्द्ध मे क्रोटोन मे निवास करता था और वही अध्यापन-कार्य भी करता था। वह ऑर्फियस को अपने सरक्षको मे मुख्य मानता था। दन्तकथाओ के विषय बने हुए उस प्रसिद्ध सगीतज्ञ (ऑर्फियस) ने पाइथागोरस को प्रभावित किया था। पाइथागोरस ने पहले तो सगीतशास्त्र मे कुछ प्रयोग किए, परन्तु बाद मे उसकी रुझान साख्यिक समानुपातो (गणित) की ओर हो गई और उसने गणितशास्त्र की नीव डाली। पाइथागोरस के मतानुसार यह सम्पूर्ण सृष्टि केवल एक व्यवस्था या कुछ समानुपातिक सम्बन्धो का अनुपालन-मात्र नही है, वरन् वह एक 'हारमोनिया' या 'समरसता' है। मानवात्मा को भी सृष्टि की इस सुव्यवस्था का अनुकरण करने की चेष्टा करनी चाहिए। पाइथागोरस ने तपोमय जीवन बिताने का निर्देश किया। मासाहार न करने के लिए खास तौर से कहा जाता था। वह पुनर्जन्म में विश्वास करता था। पाइथागोरस का सर्वप्रथम उल्लेख ज़ेनोफ़ेनीज द्वारा उद्धृत कुछ पद्य-पक्तियो मे मिलता है, उनमे कहा गया है कि किस प्रकार पाइथागोरस ने एक पीटे जाते हुए कुत्ते की काय-काय मे अपने एक मृत मित्र की आवाज़ पहचानकर उस कुत्ते के मालिक से निवेदन किया कि वह कुत्ते को पीटना बन्द कर दे।[2] एक और घटना-प्रसग मे, जो एनियस और होरेस के द्वारा प्रसिद्ध कर दिया गया है, यह कहा जाता है कि पाइथागोरस को अपने पूर्वजन्मो की स्मृति थी और वह बताया करता था कि अन्यो के अतिरिक्त एक जन्म मे वह यूफोरबस (Euphorbus) भी हो चुका है। पाइथागोरस केवल पुनर्जन्म मे ही विश्वास नही करता था, वरन् आत्मा के शुद्धीकरण मे भी। जन्म-चक्र को मनुष्य की उच्चतर प्रकृति के विकास का एक साधन माना जाता है। पाइथागोरस की दृष्टि मे, सैद्धान्तिक या विचारात्मक जीवन जीवन का उच्चतम स्वरूप था। वह एक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक के रूप मे भी विख्यात था। अरस्तू के कथनानुसार पाइथागोरस ने पहले गणित और साख्यिकी मे अपना मन लगाया। प्लेटो की रचनाओ मे पाइथागोरस का उल्लेख केवल उसके 'रिपब्लिक' में[3] हुआ है, जहा वह कहता है कि पाइथागोरस अपने अनुयायियो को एक जीवन-पद्धति, जिसको अब तक भी 'पाइथागोरियन' कहा जाता है, का उपदेश देकर उनका स्नेहपात्र

१. अध्याय २, पृष्ठ ८१।

२ एक दिन वह गुजर रहा था एक कुत्ते के पिल्ले के निकट से,
जिसे उसका मालिक पीट रहा था,
उसे उसपर दया आई, और उसने कहा—
(या जैसा कि लोग कहते हैं)
"रुको! इसे मारो मत! यह एक प्रिय मित्र की आत्मा है
मैंने जब इसकी काय-काय सुनी, तो मैंने इसे पहचान लिया।"
[ऑक्सफर्ड बुक ऑव ग्रीक वर्स इन ट्रासलेशन (१९३८), पृष्ठ २२६ पर दी गई कविता का हिंदी अनुवाद।]

३ x, ६०० बी।

वन गया था ।[1] पाइथागोरस के सप्रदाय के तपोमार्ग मे एक विचित्र बात, कम से कम चौथी शताब्दी से मिलने लगती है, वह है मौन । पाइथागोरस का सप्रदाय एक धार्मिक बिरादरी था । इस बिरादरी मे शामिल होने के पहले दीक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी—अर्थात् पहले शरीर को शुद्ध करके, फिर सत्य का साक्षात्कार किया जाता था । शुद्धीकरण की प्रक्रिया मे कुछ प्रकार के खाद्य और वस्त्र का प्रयोग ही नही वर्जित था, वरन् उसमे दिव्य सत्य के विषय मे ध्यान और मनन करके आत्मा की शुद्धि की भी आवश्यकता मानी जाती थी । प्लेटो ने अपने ग्रन्थ 'फैडो' (Phaedo) मे[2] पाइथागोरस के सिद्धान्त को इस रूप मे रखा है : "मनुष्य ससार के लिए अजनबी है और शरीर आत्मा का मकबरा है, परन्तु फिर भी आत्महत्या करके आत्मा को इस मकबरे से छुटकारा दिलाने की चेष्टा नही करनी चाहिए । पाइथागोरस के मत मे शुद्ध ध्यान-चिन्तन मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है , मानव-प्रकृति की वही पूर्णता है । इस प्रश्न के उत्तर मे कि हम ससार मे किसलिए पैदा हुए हैं, उसका कहना था : 'द्यु लोक को टकटकी बाधकर देखने के लिए ।' "[3] जब ध्यान-मनन की प्रक्रिया के द्वारा आत्मा पूर्ण वन जाती है, अर्थात् देह की दासता स्वीकार करने के कारण उसपर जो धब्बा लग गया होता है, उससे शुद्ध हो जाती है, तव उसके पुन जन्म ग्रहण करने की आवश्यकता नही रह जाती । ऐसा विश्वास किया जाता है कि पाइथागोरस दिव्यता की इस दलहीज़ पर पहुच चुका था ।[4] प्रोफेसर वर्नेट कहते हैं · "यदि हम हिराक्लीडीज़ का विश्वास कर सकें तो यह पाइथागोरस ही था जिसने सबसे पहले 'तीन प्रकार के जीवनों'—सैद्धान्तिक (Theoretic), व्यावहारिक (Practical) और विलासप्रिय (Apolaustic)—का वर्गीकरण प्रस्तुत किया था, जिसका उपयोग अरस्तू ने अपने ग्रथ 'एथिक्स' मे किया है ।[5] जैसाकि प्रारम्भिक उपनिषद्-विचारको का मत था कि सभी आत्माए

१ 'रिपब्लिक', *vii*, पृष्ठ ५३० डी । २. पृष्ठ ६२ बी ।

३. जैगर लिखित 'एरिस्टॉटल' अग्रेजी अनुवाद, (१९३४), पृष्ठ ७५ ।

४ एरिस्टोजोनस पाइथागोरस और उसके अनुयायियों के विषय में कहता है · "क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इसका अन्तर स्पष्ट करते हुए जो कार्य बताए गए हैं, उनका उद्देश्य है दिव्य सत्ता के साथ सम्पर्क । यह उनका आरम्भ-बिंदु है, उनका सम्पूर्ण जीवन ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग पर चलने के लिए व्यवस्थित किया जाता है, और यह उनके दर्शन का निर्देशक सिद्धान्त है ।" [देखिए, एफ० एम० कॉर्नफोर्ड लिखित 'मिस्टिसिज़्म एण्ड साइन्स इन पाइथागोरियन ट्रैडिशन', 'क्लासिकल क्वार्टरली' (१९२२), पृष्ठ १४२] ।

५. 'अर्ली ग्रीक फिलॉसफी' (१९३०), पृष्ठ ९८ "वह सिद्धान्त इस प्रकार है हम इस संसार में अजनबी के समान हैं और शरीर आत्मा का मकबरा है, फिर भी हमें आत्महत्या करके इससे छुटकारा पाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि हम ईश्वर की चल-सम्पत्ति (पशु) हैं और वह हमारा ग्वाला है, उसकी आज्ञा के विना हमें भाग निकलने का कोई अधिकार नहीं है । इस जीवन में तीन प्रकार के मनुष्य हैं, ठीक वैसे ही जैसे ओलिम्पिक खेलों मे आनेवाले लोग तीन प्रकार के होते हैं । सबसे निचली श्रेणी के लोग वे होते हैं जो खेलों की भीड़भाड़ का लाभ उठाते हुए अपना सौदा बेचने या कुछ खरीदने के लिए वहा आते हैं ; उनसे ऊपरी श्रेणी के लोग वे हैं जो खेलों में प्रतियोगी की हैसियत से भाग लेने आते हैं, पर, सर्वोत्तम श्रेणी के व्यक्ति वे हैं जो दर्शक के रूप में आते हैं—वे जीवन के तटस्थ द्रष्टा होते हैं—। शुद्धीकरण की सबसे बड़ी प्रक्रिया विज्ञान है और जो व्यक्ति उसमें अपना जीवन लगा

श्रेणी की दृष्टि से एकसमान हैं और मनुष्य तथा अन्य प्रकार के जीवो मे जो अन्तर किया जाता है, वह अन्तिम नही है, वैसा ही पाइथागोरस का भी विचार था। इयाम्ब्लिकस (Iamblichus) हमे सूचित करता है कि पाइथागोरस का मत था कि स्वर्गीय आत्माओ के द्वीप सूर्य और चन्द्र हैं। उपनिषदो मे चन्द्र को आत्माओ का निवास-स्थान बतलाया गया है।[1]

गणितशास्त्री होने के नाते पाइथागोरस ने अपने विश्वोत्पत्ति-सम्बन्धी सिद्धान्त को गणितीय शब्दावली मे व्यक्त किया है। आद्य शक्त्यणु विश्व-अण्ड का स्थान लेता है। ससार प्रकाश और अन्धकार, अरूप और रूप का मिश्रण है। पाइथागोरस की विचारधारा मे गणितीय और रहस्यवादी—दोनो ही पक्ष साथ-साथ उपस्थित थे, और जैसीकि परपरा है, पाइथागोरियाई मतवाद मे आगे चलकर मतभेद उत्पन्न हुआ और दो शाखाएं बन गईं। एक शाखा थी 'मैथेमेटिकोइ' (गणितीय शाखा) या बुद्धिवादियो की शाखा, जिसकी रुचि सख्या-सिद्धान्त मे थी। दूसरी शाखा थी 'अकुसमेटिकोइ' (Akusmatikoi), जिसने आन्दोलन के धार्मिक पक्ष का अनुसरण किया। पाइथागोरस हमे एक ही साथ उच्चकोटि की बौद्धिक शक्ति और परिपूर्ण आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि प्रज्ञा के दर्शन होते हैं।

हिरोडोटस का सुझाव है कि पाइथागोरस के पुनर्जन्म का सिद्धान्त मिस्रदेशवासियों[2] से प्राप्त हुआ, किन्तु "मिस्रियो का विश्वास आत्मा के देहान्तरण (पुनर्जन्म) मे तो बिलकुल था ही नहीं और हिरोडोटस को पुजारियो या स्मारको के प्रतीकवाद के द्वारा धोखा दिया गया था।"[3] यदि इस सिद्धान्त को उस आदिकालीन विश्वास का कि मनुष्यो और पशुओ में सगोत्र सम्बन्ध रहा है, विकास मानें, तो भी इस विचारधारा के अन्य भागो—कुछ प्रकार के खाद्यपदार्थों का ग्रहण वर्जित होना,[4] मौनव्रत, जिसके पालन की आशा इस बिरादरी के लोगो से की जाती थी, मनोनिग्रह एव तपश्चर्या पर बल तथा दीक्षा प्राप्त व्यक्तियो की मुक्ति का आश्वासन—के लिए कोई कारण देना कठिन है। पाइथागोरस की जीवनी का लेखक इयाम्ब्लिकसह मे बतलाता है कि पाइथागोरम ने मिस्रियो, असीरियनो और ब्राह्मणो की शिक्षाओ का अध्ययन करने की दृष्टि से दूर-दूर तक की

देता है, वही सच्चा दार्शनिक है, यही वह व्यक्ति है जिसने बड़े प्रभावक ढग से 'जन्म-चक्र' से अपने को मुक्त कर लिया है।"

१ देखिए, ड्यूसेन (Deussen), 'फिलॉसफी ऑव द उपनिषद्स' (अग्रेज़ी अनुवाद, १९०६, पृष्ठ ३२६, और आगे)।

२. II, १२६।

३ बर्नेट, 'अर्ली ग्रीक फिलॉसफी' (१९३०), चतुर्थ सस्करण, पृष्ठ ८८–९।

४ 'तिमैओज (Timaios) ने बताया था कि किस प्रकार डेलॉस में पाइथागोरस ने पिता अपोलो की सबसे पुरानी वेदी के अलावा अन्य किसी वेदी पर अपनी भेंट-पूजा चढाने से इन्कार कर दिया था, क्योंकि अपोलो की वेदिका ही ऐसी थी जहा केवल हिंसा-रहित भेंटें ही अर्पित करने दी जाती थीं।" ('वही', पृष्ठ ९३)।

यात्राए की थीं।[1] गोम्पर्ज़ लिखता है . "यह मानने मे कोई अनौचित्य नही दिखाई देता कि इस जिज्ञासु यूनानी (पाइथागोरस) ने, जो बुद्ध का समकालीन था, और जो ज़ोरॉस्टर का समकालीन भी हो सकता है, उस बौद्धिक उत्तेजना के युग मे पूर्व का न्यूनाधिक सटीक ज्ञान फारस के माध्यम से अर्जित किया होगा।"[2]

हम इस परिकल्पना को भले ही स्वीकार न करें कि यूनानियो पर फारस के माध्यम से सीधा प्रभाव पडा था, परन्तु ऑर्फियाई और पाइथागोरियाई विचारणा का कोई विद्यार्थी यह देखने मे चूक नही कर सकता कि इसमे और भारतीय धर्म मे समानताए इतनी घनिष्ठ हैं कि हम उनको एक जीवन-दृष्टि की अभिव्यक्तिया माने बिना नहीं रह सकते। हम एक विचार-पद्धति को दूसरी विचार-पद्धति के समझने के लिए प्रयोग कर सकते हैं।

यद्यपि सुकरात (४७०–३९९ ई० पू०) बौद्धिक आत्मानुशासन का बडा समर्थक था, तथापि वह बहुत गम्भीर रूप से धार्मिक व्यक्ति था। वह बहुधा अपनी अन्तरात्मा की आवाज़ की बात कहा करता था जो उसको कुछ ऐसे कार्यों को करने से रोक देती थी जिनको करने का वह पूरा मनसूबा कर चुका होता था। वह कुछ रहस्यवादी भी था, इसलिए यदा-कदा वह गहरे ध्यान मे डूब जाता था। एक बार, जब वह उत्तरी यूनान मे सेना मे नौकरी करता था, वह ब्राह्ममुहूर्त मे शान्त, स्थिर रूप से खडे-खडे ध्यान-मग्न हो गया। अपनी उसी ध्यानस्थ अवस्था में वह सारे दिन और सारी रात खडा रहा। अगले दिन सूर्योदय होने पर उसने सूर्य की प्रार्थना की और अपने रास्ते चला गया। सुकरात धर्म को यूनानियो के कर्मकाण्ड धर्म से बिलकुल भिन्न वस्तु समझता था। वह अति-प्राकृत जगत् के विषय मे परिचित था और अपने को स्वर्गीय नगर का सदस्य मानता था। किसीका प्राण लेना तो ससार के हाथ मे है, परन्तु मनुष्य के सब कुछ पर ससार का कोई वश नही।

१. प्रोफेसर एच० जी० रॉलिन्सन लिखते हैं "इसकी सम्भावना अधिक जान पडती है कि पाइथागोरस मिस्र से नहीं, वरन् भारत से प्रभावित था। पाइथागोरस के अनुयायियो द्वारा उपदिष्ट लगभग सभी धार्मिक, दार्शनिक और गणितीय सिद्धान्त भारतवर्ष में छठी शती ई० पू० से ही ज्ञात थे; पाइथागोरियाई लोग जैनों और बौद्धों की भाति ही जीव-हिंसा करने और मास-भक्षण से बचते थे और सेम जैसी कुछ तरकारियों को खाना निषिद्ध मानते थे।" ['लिगेसी ऑव इण्डिया' (१९३७) पृष्ठ ५]। "यह भी जान पडता है कि कर्ण रेखा के क्षेत्र-निश्चयन सम्बन्धी तथाकथित पाइथागोरियाई प्रमेयोपपाद्य साध्य भारतीयों को पहले से ही, वैदिक काल से ही ज्ञात था; इस प्रकार पाइथागोरस के पहले से ही वे इसे जानते थे।" ('वही')। प्रोफेसर विण्टरनित्ज़ भी इसी दृष्टिकोण के हैं "जहा तक पाइथागोरस का सम्बन्ध है, मुझे यह बहुत सम्भव जान पड़ता है कि वह भारतीय सिद्धान्तों से, फारस में रहते हुए परिचित हुआ होगा।" ('विश्वभारती', क्वार्टरली, फरवरी १९३७, पृष्ठ ८)। सर विलियम जोन्स ('वर्क्स', III, पृष्ठ २३६), कोलब्रुक ('मिसलेनियस एस्सेज़', I, पृष्ठ ४३६), श्रोदर (Schroeder) (पाइथागोरस अण्ड डाइ इण्डर), गार्व ('फिलॉसफी ऑव ऐन्श्येण्ट इण्डिया', पृष्ठ ३९), हॉपकिन्स ('रिलीजन्स ऑव इण्डिया', पृष्ठ ५५९ और ५६०) और मैक्डानेल ('संस्कृत लिटरेचर', पृष्ठ ४२२) का भी यही विचार है। प्रोफेसर ए० बी० कीथ अनावश्यक रूप से ही इस विचार के आलोचक हैं। उनका 'पाइथागोरस एण्ड द डॉक्टरीन ऑव ट्रान्समाइग्रेशन', (जर्नल ऑव रायल ए० सो०, १९०९, पृष्ठ ५६९) शीर्षक लेख देखिए।

२. 'ग्रीक थिंकर्स', खण्ड १, पृष्ठ १२७।

सुकरात ने कहा था "यदि तुम मुझसे यह कहो 'ओ सुकरात, इस समय हम तुझे मौत के हवाले नही करेंगे, बल्कि हम तुझे इस शर्त पर रिहा कर देंगे कि तू अब अपनी जिज्ञासा से मुह मोड ले और सदा के लिए दर्शन-शास्त्र (फिलॉसफी) से नाता तोड ले,—और यदि तू फिर भी यही करता पकडा गया तो, तो तुझे प्राणो से हाथ धोने पडेंगे ।' अगर तुम इस शर्त पर छोडना चाहो, तो मैं तुमसे कहूगा . 'तुम मेरा धन्यवाद और स्नेह लो, ओ एथेन्स के लोगो, परन्तु मै तुम्हारी आज्ञा मानने के बजाय ईश्वर की आज्ञा को मानना अधिक पसन्द करूगा, और जब तक मेरे शरीर मे प्राण और शक्ति शेष हैं तब तक मैं दर्शनशास्त्र का अध्ययन-अनुशीलन करने से विरत नही होऊगा ।' "[1]

उसने कदाचित् यह ऑर्फियाई दृष्टिकोण स्वीकार कर लिया था कि आत्मा अमर है और ससार को त्यागकर अमरता प्राप्त करने पर ही सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है, और यह कि ससार के सभी मनुष्य, उनकी स्थितिया चाहे जैसी हो, आपस मे भाई-भाई के समान हैं ।

रहस्यवादी परपरा को प्लेटो (४२७–३४७ ई० पू०) मे पूरी अभिव्यक्ति मिल पाई थी । प्लेटो ने यूनानी बुद्धिवाद को नही अपनाया । उसका मत है कि सत्य को सदा प्रमाणित नही किया जा सकता । कभी-कभी तो इसको केवल सकेतित ही किया जा सकता है और यह मन के द्वारा चुपचाप तर्क के रूप मे ग्रहण कर लिया जाता है । यह मनुष्य की समग्र प्रकृति को ही प्रियकर और ग्राह्य लगता है, केवल उसकी बुद्धि को ही नही । प्लेटो ने कवि के विषय मे कहा है "वह प्रकाश है, प्रतिभाशाली है और पवित्र वस्तु है जो ईश्वराविष्ट रहता है और जिसका प्रयोग ईश्वर अपने प्रवक्ता के रूप मे करता है ।"[2] वह अनुभववादी दृष्टिकोण अपनाता है कि हर इन्द्रियग्राह्य वस्तु मे रूपात्मकता होती है और उसके विषय मे हमारा ज्ञान ज्ञानेन्द्रियो, जो सदा जिज्ञासु और असन्तुष्ट रहती हैं, के माध्यम से हम तक आता है । ज्ञातव्य रूपो वाला जगत् उन वस्तुओ से अलग है जिनको हमारी ज्ञानेन्द्रिया देख पाती हैं, केवल बुद्धिमय आत्मा को ही उनकी जानकारी होती है । रूपो को सदा अपरिवर्तित रहना चाहिए । बहुत सारी चीजें, जिनको हम देखते हैं, सतत परिवर्तित होती रहती हैं । वास्तविकता की दो श्रेणिया हैं—अदृष्ट, जो सब प्रकार के परिवर्तन से बरी होता है और दृष्ट, जो निरन्तर बदलता रहता है । आत्मा अदृष्ट है, ऋजु है, अविच्छेद्य एव अमृत है , शरीर जटिल है, विच्छेद्य और मर्त्य है । जब आत्मा सवेदनाओ से घुलमिल जाती है, तब वह परिवर्तनशील जगत् मे खो जाती है, जब वह अपने को संवेदनो से, ज्ञानेन्द्रियो से अलग हटा लेती है, तब वह शुद्ध, चिरन्तन, अपरिवर्तनीय अस्तित्व के दूसरे क्षेत्र मे चली जाती है । प्लेटो दार्शनिको के इन्द्रियातीत दर्शन के विषय मे कहता है

१ प्लेटो की 'एपॉलॉजी', पृष्ठ २९ सी । २. इओन, पृष्ठ ५३४ ।

"हमने वह आनन्ददायक दृश्य देखा और एक रहस्यात्मकता मे अभिमंत्रित हो गए, सचमुच ही वह सब अत्यत स्वर्गीय था। अपनी उस निरीहावस्था में, जबकि हमे आनेवाली बुराइयो का कोई अनुभव नही हुआ था, हमने उस स्वर्गीय दृश्य का खूब आनन्द लिया। तभी हमे निर्दोष, सरल, शान्त और प्रफुल्ल अलौकिक सत्ता की झलक मिली, विशुद्ध प्रकाश मे उसे हमने चमचमाता देखा। हम विशुद्ध हैं और अभी हम उस जीवित मकबरे मे (शरीर मे), जिसे हम अपने साथ लिए घूमते हैं, दफना नही दिए गए हैं; अब हम अपनी देह मे उसी प्रकार बन्दी बना दिए गए हैं जिस प्रकार एक शुक्ति-कीट अपनी सीपी मे बदी होता है।"[1]

प्लेटो अपने ग्रथ 'फैडो' (Phaedo) मे शाश्वत जीवन का एक वर्णन देता है :

"जब आत्मा अपने आत्मस्वरूप मे लौट आती है और ध्यानस्थ होती है तब यह एक दूसरे ही क्षेत्र मे चली जाती है, वह क्षेत्र शुद्ध, नित्य, अमर तथा अपरिवर्तनीय होता है ; वहा रहते हुए आत्मा अनुभव करती है कि मानो वह अपने ही सगोत्र लोगो के बीच हो; वहा वह अपने ही नियत्रण मे रहती है और उसे अपने भटकने से विश्राम मिल जाता है , वहा वह अपने-आपमें स्थिर तथा एक हो रहती है, ठीक वैसे ही जैसे वे वस्तुए होती हैं जिनसे उसका पाला पडता है।"

वस्तुओं का सत्य सदा हमारी उस आत्मा मे स्थित रहता है जो अमर है तथा कई बार जन्म ग्रहण कर चुकी है। आत्मा अपने पहले के अनुभवो को स्मरण कर सकती है। 'फैडो' मे पुन:स्मरण की यह क्रिया पूर्व-अस्तित्व के प्रमाण के रूप मे स्वीकार की गई है। आत्मा न केवल पहले अस्तित्व मे रह चुकी होती है, वरन् वह अविनाशी भी है। जो भी वस्तु यौगिक, मिश्रित होगी, अथवा कई भागो को मिलाकर बनी होगी, वह विनष्ट हो सकती है। जो वस्तु अयौगिक, अमिश्र है, उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता।

आत्मा सदैव आवश्यकता के चक्र मे भ्रमित होती रहती है और उसी भ्रमण के दौर मे उसे अपनी इच्छा के अनुकूल कोई जीवन मिल जाता है। कुछ आत्माए पृथ्वी पर कैद भुगतने चली आती हैं और कुछ स्वर्ग को चली जाती हैं, 'उस जीवन को अपना लेती हैं जो मनुष्य-योनि मे विताए उनके जीवन के उपयुक्त होता है।' पैम्फिलियन एर से सम्बन्धित नीति-कथा मे, जिससे प्लेटो अपने 'रिपब्लिक' शीर्षक ग्रथ का उपसहार करता है, अमूर्त, देहरहित आत्माए 'आवश्यकता की पुत्री, लैचे-सिस', जो कर्म-नियम की प्रतिमूर्ति है, के हाथो अपने अगले अवतार का चुनाव करती हुई दिखाई गई हैं। शरीर-धारण की शृखलाओ मे से गुजरते हुए आत्मा विशुद्ध

१. 'फैड्रस', पृष्ठ २५० बी, सी, जॉवेट कृत अग्रेजी अनुवाद।

हो जाती है, और जब वह पूर्णत शुद्ध हो जाती है तब अतिम रूप से बच निकलती है—मुक्त हो जाती है। लोगो मे यह जो सामान्य विश्वास है कि आत्मा देह का ही एक झीना, सूक्ष्म प्रतिरूप होती है, एक नि सत्त्व छाया होती है जो शरीर से अलग होने के बाद छिन्न-भिन्न हो जाती है, उससे इस सिद्धान्त का कोई सम्बन्ध नही। प्लेटो आत्मा के पूर्व-अस्तित्व और पुनर्जन्म-सम्बन्धी अपने विचार को 'एक पवित्र कहानी' के रूप मे व्यक्त करता है।[1] "मैंने उन स्त्री-पुरुषो से कुछ सुना है जो पवित्र लोककथाए सुनाने मे चतुर थे।"[2]

प्लेटो के ग्रथो मे इस बात पर अधिक जोर दिया गया है कि साधारण मनुष्य सच्चे अर्थों मे जाग्रत् नही है, वरन् वह नीद मे चलनेवाले व्यक्ति की तरह मानसिक छायाभासो की तलाश मे इधर-उधर घूम रहा है।[3] जब तक हम लालसाओ के वशीभूत रहते हैं, तब तक स्वप्नो को भी हम वास्तविक समझ लेते हैं। जब सत्य का साक्षात्कार हो जाता है तब रात्रि की छायाए लुप्त हो जाती हैं और अगले दिन सूर्योदय होने पर हम पहले की तरह रहस्यमय सकेतो और प्रतीको के माध्यम से नही देखते, वरन् उसी प्रकार सत्य को आमने-सामने होकर देखते हैं, जैसे देवतागण उसे देखते और जानते हैं। गुफा की उपमा हमे 'माया' के हिन्दू-सिद्धान्त का स्मरण दिला देती है। प्लेटो मानव-जाति की तुलना उन मनुष्यो से करता है जो बेडियो में जकडे हुए, एक गुफा मे बैठे हैं, प्रकाश की ओर उनकी पीठें हैं और उनकी छायाए दीवार पर पड रही हैं, अपनी उन छायाओ को देखकर वे यह सोच रहे हैं कि वे छायाए नही, बल्कि वास्तविक वस्तुए है। हम सभी गुफा के अधकार मे रहते हैं और उसमे से निकलकर सत्यरूपी सूर्य के प्रकाश मे आने की बाट जोहते रहते हैं। सामान्य यूनानी देह को बहुत महत्त्व देता था। परन्तु, प्लेटो की दृष्टि मे देह एक प्रकार की बेडी है जिसमे हमारी आत्माए जकडी हुई हैं।[4] हमे तो उस भावी ससार के प्रति अपने हृदय में स्नेह सजोना चाहिए जिसमे हम शरीर के बन्धन से मुक्त होगे। "यदि हम किसी चीज़ का विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं, तो हमे देह-धारण से अपना पिण्ड छुडाना होगा—आत्मा को स्वय चीज़ो को उनके सही रूप मे देखना चाहिए और तब हम उस विवेक को प्राप्त कर सकेंगे जिसकी हमे बडी चाह है और जिसका प्रेमी हम अपने को बताते हैं इस जीवन मे नही, वरन् मृत्यु के अनन्तर।"[5] ज्ञानेन्द्रियो का सम्बन्ध स्थूल शरीर से है। जब आत्मा स्थूल शरीर से अपने को अलग हटा लेती है और ज्ञानेन्द्रियो से अबाधित होकर, अपने-आपमे डूबकर विचार करती है, तब वह अदृष्ट सत्य को पकड पाती है। विवेक (ज्ञान) का अनुशीलन "आत्मा को शरीर के बन्धन से शिथिल करना, या बिलकुल मुक्त करना है।"[6]

1. 'इओन', पृष्ठ ५३४।
2. 'फैडो' (Phaedo), पृष्ठ ७० सी।
3. 'मेनो', पृष्ठ ८० ई।
4. 'फैडो', पृष्ठ ६५–७।
5. वही, पृष्ठ ६६। प्लेटो इस बात को मानता है कि शरीर एक बदीगृह है या जैसाकि ऑर्फियाई लोग मानते हैं, आत्मा के लिए मकबरा है। ('क्रेटीलस', पृष्ठ ४०० सी)।
6. वही, पृष्ठ ६७ डी।

यही पर, शरीर और उसकी इन्द्रियो तथा लालसाओ से विचारशील आत्मा के पूर्णत अनासक्त होने की सम्भावना की जा सकती है। परिणामत. इसमे यह बात भी निहित है कि रूपो (Forms) का अलग अस्तित्व होता है। प्लेटो के आरम्भिक प्रवचनो मे इसी प्रकार के विचार मिलते हैं। उनमे यह ज़ोर देकर कहा गया है कि वस्तुओ से रूपो का अलग अस्तित्व है, ठीक उसी प्रकार, जिस प्रकार शरीर से आत्मा का।

> "ओ थियोडोरस, बुराई संसार से कभी नि शेष नही हो सकती, क्योकि सदा ही कोई चीज़ ऐसी अवश्य रहेगी जो भलाई के विरुद्ध होगी। चूंकि स्वर्ग मे उसे कोई स्थान नही है, इसलिए आवश्यकतावश यह मर्त्य प्रकृति और इस पार्थिव जगत् पर मडराती रहती है। इसलिए जितनी जल्दी हो सके, हमे पृथ्वी से अपना पीछा छुडाकर स्वर्ग मे चले जाना चाहिए और पृथ्वी से भागने का अर्थ है, यथासम्भव अपने को ईश्वर की तरह बनाना , और उसकी तरह बनने का अर्थ है पवित्र, न्यायी और ज्ञानी बनाना· ईश्वर किसी प्रकार भी अन्यायी नही है—वह पूर्ण न्यायनिष्ठ है—और हममे से जो लोग जितने ही न्यायनिष्ठ, ईमानदार हैं, उतने ही वे ईश्वर के अधिक समान हैं।"[1]

'फैडो' (Phaedo) मे आद्यन्त यही विचारधारा व्याप्त है कि शरीर भारस्वरूप है, बुराई का साधन है; अत. आत्मा को इससे अपने को छुडाने के लिए विशुद्ध बनने की इच्छा रखनी चाहिए।

यह स्पष्ट है कि यहा एक ऐसी बात कही जा रही है जो असली यूनानी भावना से बुनियादी तौर पर विपरीत है। यूनानी भावना क्या थी ? यूनानी लोग उन सारी चीज़ो मे आनन्द लेने की चेष्टा करते थे जिनमे इन्द्रियो को सुख मिलता था और सवेगो को सतुष्टि प्राप्त होती थी। वे इस लोक को परलोक जाने की राह नही मानते थे, वरन् एक ऐसी चीज़ मानते थे जो अपने-आपमे अच्छी और सुन्दर है। उनकी मान्यता थी कि जीवन को सुन्दर और सुयोग्य ढग से जीना चाहिए तथा इसके लिए तन, मन और आत्मा की समस्त शक्तियो का भरपूर उपयोग करना चाहिए। इन्द्रियगम्य जगत् की वैचारिक जगत् से इतनी स्पष्ट भिन्नता होने का स्वाभाविक परिणाम यही हो सकता है कि इस ऐन्द्रिक जगत् मे लोगो की रुचि कम हो जाए और एक उच्चतर जगत् पर उनका ध्यान केन्द्रित हो जाए। परन्तु, यह परिणाम यूनानियो की ससार के व्यावहारिक कार्यो मे भाग लेने की स्वाभाविक रुचि के विरुद्ध है। जबकि ऑर्फियाई और पाइथागोरियाई शिक्षाए प्लेटो को गुफा के अधकार से सूर्य के प्रकाश की ओर जाने के लिए ऊर्ध्वमुखी पथ पर चलने को कहती हैं, तब उसका यूनानी मानववाद उसको उस पथ से वापस लौट आने के लिए और गुफा के अधकार मे अभी तक बेड़ी मे जकड़े पडे हुए अपने कैदी साथियो की सहायता करने के लिए सख्ती से आदेश देता है।

[1]. थीएटिटस (Theaetetus), पृष्ठ १७६।

उपनिषदो की तरह ही प्लेटो की रचनाओ मे परमेश्वर की चर्चा मिलती है; 'रिपब्लिक' मे शिव का विचार है और 'टिमेइयस' मे ससार के स्रष्टा तथा आत्मा का वर्णन है।[1] विश्व का प्रथम सिद्धान्त है सब प्रकार के निश्चित अस्तित्व का अतिक्रमण करना। प्लेटो ने 'रिपब्लिक' के छठे खण्ड के अत मे बताया है कि दर्शन-शास्त्र का प्रयास इस सिद्धान्त तक पहुचने का होना चाहिए। प्लेटो के ग्रथो मे 'सत्त्व', 'रजस्' और 'तमस्' के समानार्थी शब्द भी मिलते हैं, वे है क्रमश 'लोजिस्टिको' (Logistikon), 'थ्यूमोस' (Thumos) और 'एपिथुमिया' (Epithumia)। तमस् की भाति 'एपिथुमिया' अज्ञानमूलक अन्ध इच्छाओ का प्रतिनिधित्व करता है, 'थ्यूमोस' रजस् की तरह अज्ञान और ज्ञान के मध्य स्थित लालसा और शक्ति का तत्त्व है। 'लोजिस्टिको' या बौद्धिक तत्त्व 'सत्त्व' गुण के समकक्ष है जो आत्मा को सम-रसतापूर्ण बनाता है और उसे दीप्तिमान करता है। इन मानसिक तत्त्वो की बहुलता के आधार पर आत्माओ का वर्गीकरण ठीक वैसा ही है जैसी भारतीय जाति-पद्धति।

'रिपब्लिक' के तृतीय खण्ड मे प्लेटो, होमर के काव्य मे जिस लोकप्रिय धर्म का निरूपण किया गया है, उसकी आलोचना करता है, दशम खण्ड में वह पाइथा-गोरस और होमर के अन्तर को स्पष्ट करता है। होमर के नैतिक उपदेशो में तो त्रुटिया हैं ही, किन्तु इसके अतिरिक्त भी उसमे एक महान गुरु के कोई लक्षण नही हैं। उसके कोई अनुयायी नही हैं, उसने कोई विचार-सप्रदाय भी नही चलाया, उसने अपने किसी शिष्य को भी प्रेरणा नही दी, उसने जीवन के लिए कोई उचित नियम नहीं प्रस्तुत किया। पाइथागोरस का धर्म ऑर्फियाई मत की शिक्षाओ पर आधारित था, उसीके अनुसार वह सयम और तपश्चर्या पर बल देता था। स्वेच्छा से दारिद्र्य-वरण तथा लोकहित की भावना एव पुनर्जन्म पर विश्वास तथा पशु-जीवन के लिए समादर आदि मान्यताओ का भी उसने अपने सप्रदाय मे वैसे ही समावेश किया था जैसे ऑर्फियस ने अपने सप्रदाय मे। अरस्तू का कथन है कि प्लेटो पाइथागोरियनो की शिक्षाओ का बहुत निकटता से अनुसरण करता है। प्लेटो ने ऑर्फियाई और पाइथागोरियाई विचारो को लेकर उन्हे अपने दर्शन के ताने-बाने मे कुशलता से बुन दिया।

मानवात्मा और दिव्य आत्मा (परमात्मा) की अनिवार्य एकता, मानवात्मा की अमरता, सासारिक जीवन की कष्टप्रद यात्रा से बचने की कामना, ससार की इन्द्रियगोचरता, देह की उपेक्षा, ज्ञान और सम्मति के मध्य अन्तर करना आदि सारी बातें यूनानियो के लोक-प्रचलित धर्म की एक-एक बात के प्रतिकूल पडती हैं।[2]

१ नवप्लेटोवादियों के त्रिदेवों की कल्पना का सम्बन्ध भी प्रोफिरी (Prophyry) ने प्लेटो से ही जोड़ा है। देखिए—टॉमस व्हिटकर लिखित 'द नियो-प्लेटोनिस्ट्स', द्वितीय सस्करण (१६१८), पृष्ठ ३६; 'एनिएड्स', v, १/८ भी देखिए।

२ प्राचीन यूनानी भावना और प्लेटो की विचारणा में जो अन्तर है, उसको रोडे (Rohde) ने इन शब्दों में प्रकट किया है "यूनानी लोगों के धर्म का वास्तविक प्रथम सिद्धान्त यह है—ससार की दैवी व्यवस्था में मानवत्व और देवत्व पद और प्रकृति दोनों प्रकार से पूर्णत विभाजित कर

यूनानी विचारणा के क्षेत्र मे उनको (ऑर्फियस, पाइथागोरस और प्लेटो को) सनकी ही समझा गया।

इम्पेडॉक्लीज़ आत्मा की दैवी प्रकृति और आत्मा की अपनी मूल दैवी स्थिति से कायिक स्थिति मे पतित हो जाने के सिद्धान्त, जिसके अनुसार आत्मा को मनुष्यो, पशुओ और वनस्पतियो का शरीर धारण करके एक लम्बी तीर्थ-यात्रा के द्वारा अपने इस पाप का प्रायश्चित्त करना चाहिए, को अपरिहार्य तथ्यो के रूप मे स्वीकार कर लेता है। तपश्चर्या का जीवन उसकी दृष्टि मे आत्मा को ऐन्द्रिक जगत् के जजाल से छुडाने का सबसे अधिक प्रभावशाली तरीका है। 'जो कोई परिश्रमपूर्वक चेष्टा करता है, उसीको हम मुक्त कर सकते हैं।' कभी न कभी आत्मा अपने दैवी पद को पुन. प्राप्त करती है और जो विज्ञ पुरुष इस प्रकार का धार्मिक जीवन व्यतीत करते हैं, वे भी अन्तत देवता बन जाते हैं, और बन जाते हैं इस पृथ्वी पर रहते हुए ही।

आत्मा की ईश्वरत्व से उत्पत्ति, इस देह मे आने से पहले भी इसका अस्तित्व होना, दैहिकता मे इसका आ गिरना, मृत्यूपरान्त इसका न्याय किया जाना, अपने चरित्र के अनुसार इसका पशुओं या मनुष्यो की योनि मे प्रायश्चित्त-स्वरूप भटकते फिरना, और अन्त मे पुनर्जन्म के चक्र से इसका छुटकारा तथा ईश्वरत्व की पुन.

दिए गए हैं, इसलिए वे सदा वैसे ही रहने चाहिए। मर्त्यलोक और देवलोक के बीच गहरी खाई मौजूद है। देह-धारण की हुई आत्मा जिस अनन्त जीवन का आनन्द लेती है, उस आनन्द को मर्त्य प्राणी भी उपलब्ध कर सकते हैं, कवियों की यह मोहक कल्पना अवश्य लोक-मानस के विश्वास को रोचक प्रतीत हो सकती थी, परन्तु लोगों की दृष्टि में ऐसी चीजें 'चमत्कारिक' ही रहीं, जिनमें दिव्य शक्ति ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता से किसी विशेष अवसर पर प्राकृतिक व्यवस्था की रुकावट को तोड़ा हो। यह एक चमत्कार ही तो होता, यदि कतिपय मर्त्य प्राणियों की आत्माएं वीरात्माएं बना दी जातीं और इस प्रकार पदोन्नति करके उनको अनन्त जीवन दे दिया जाता। इसके कारण से मनुष्य और दिव्य सत्ता के बीच की खाई की चौड़ाई को कुछ कम नहीं किया जा सका है, वह खाई तो वैसी ही अपूरित और अथाह बनी रही। .... तो भी यूनानी अवधि की एक विशेष अवधि में (उससे पहले कहीं भी नहीं या कम से कम यूनान से अधिक सुनिश्चित रूप से तो कहीं नहीं) देवत्व का, और देवत्व में निहित अमरत्व का, और मानवात्मा का विचार सामने आया। यह विचार पूर्णत रहस्यवाद से सम्बन्धित था।" ['साइक' (Psyche), अंग्रेजी अनुवाद (१६२५), पृष्ठ २५३–४]। सर रिचर्ड लिविंग्स्टन लिखते हैं. "प्लेटो धर्मद्रोहियों (काफिरों) का सर्वप्रमुख प्रतिनिधि है।" "आर्फियाई आराधना के साहित्य में वह पैगम्बर है। आर्फियाई आराधना के साहित्य का सूत्रपात थ्रेस (Thrace) से छठी शती में हुआ, उसमें अमरता और पुनर्जन्म की, ईश्वर के साथ घनिष्ठ एकता की, धर्म में दीक्षित लोगों को स्वर्ग और पापी को कीचड़-भरे तालाब के मिलने की बातें कही गई थीं। उसमें कहा गया था कि धर्म-दीक्षितों को तपश्चर्या तथा पवित्रता का मार्ग अपनाना चाहिए और मिस्री मृतात्मा पुस्तक (Egyptian Book of the Dead) के कुछ-कुछ अनुकरण पर, अपने अनुयायियों को विस्तृत निर्देश दिए गए थे कि जब वे स्वय को निम्नतर ससार में पावें, तो वे किस प्रकार का आचरण करें।" ('ग्रीक जीनियस एण्ड इट्स मीनिंग टु अस', पृष्ठ १६७–८)। "प्लेटो का मस्तिष्क आर्फियाई रहस्यवाद से, जो मुख्यत एशियाई स्रोतों से लिया गया था, बहुत प्रभावित था। भारत ने, जो सदा से रहस्यवादी भक्ति का पीठ रहा है, आर्फियाई मत के निर्माण में सबसे अधिक अशदान दिया था।" [स्टटफील्ड लिखित 'मिस्टिसिज्म एण्ड कैथॉलिसिज्म' (१६२५), पृष्ठ ७४]।

प्राप्ति—ये बातें रहस्यवादी धर्म-साधनाओ और प्लेटो तथा इम्पेडोक्लीज़ की विचार-धारा मे समान रूप से पाई जाती हैं । ऐसा लगता है कि जब तक किसी विदेशी कल्पना का सपर्क न हुआ हो तब तक यूनानी परम्परा मे इन बातो का विकास होने की सम्भावना अधिक नही थी । यही बातें भारतीय धर्म मे बहुत स्पष्ट रूप से हमको मिल जाती हैं । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि किस विदेशी कल्पना का सयोग यूनानी परम्परा को मिला होगा ।

सास्कृतिक विकास के अध्येता विद्यार्थी के लिए यह बात कोई अर्थ नहीं रखती कि दो सस्कृतियो मे समानताए परस्पर लेन-देन का परिणाम हैं या समानान्तर बौद्धिक विकास का परिणाम हैं । उसके लिए जो बात महत्त्वपूर्ण है, वह यह कि दोनो मे विचारो का सादृश्य है । ये विचार भारत मे छठी शती ई० पू० मे ही भली प्रकार प्रतिष्ठापित हो चुके थे और यूनान मे इनका उद्भव उस काल के बाद होता है । इतिहास अपनी पुनरावृत्ति करता तो है, पर वह पुनरावृत्ति भिन्नताए लिए हुए होती है । भारतीय और यूनानी पद्धतियो मे बिलकुल समानान्तर बातो को देखने की चेष्टा तो निरर्थक ही है, परन्तु इन दोनो मे सादृश्य खोजा जा सकता है । कुछ लोग हैं जो यूनानियो के विषय मे यह सोचना यूनानियो का अपमान मानते हैं कि वे अपनी सस्कृति से अपेक्षाकृत पुरानी सस्कृतियो के पास गए होगे, वहा से उन्होने कुछ सीखा होगा और अपने कुछ ज्ञान और विश्वास को उन्ही मूल स्रोतो से उन्होंने प्राप्त किया होगा । परन्तु, यूनानियो जैसी प्रखर बौद्धिक शक्ति, स्फूर्ति, जिज्ञासा एव उदार मन-मस्तिष्क रखनेवाले व्यक्ति जब विदेशियो से सैनिको, सौदागरो, घुमक्कडो, समुद्र-यात्रियो, नाविको और युद्धकालीन प्रवासियो के रूप में प्राय घनिष्ठ सपर्क मे आते रहे हो और फिर भी उनसे अप्रभावित ही रह गए हो, यह कुछ समझ मे आनेवाली बात नही है । जब अपने देश की परम्पराए ज्ञान के लिए बढती हुई उत्सुकता और प्यास को तृप्त करने मे समर्थ नही हो पाती, तब लोग निस्सकोच विदेशी स्रोतो से अपनी ज्ञान-पिपासा को शान्त करते हैं, उनसे कुछ सीखते हैं या उनसे कुछ ग्रहण करते हैं । यूनानी होने का यह अर्थ तो है नही कि अपनी से भिन्न किसी विचारणा का उसपर प्रभाव ही नही पडता, उसके लिए वह अभेद्य हो जाता है ।

पश्चिम मे धर्मान्धता की वृद्धि तो उस समय के बाद से होनी शुरू हुई जब कैथॉलिक चर्च ने ईसाइयत को सगठित कर दिया । उस समय तक नये विचारो और आराधना-पद्धतियो से विदेशी प्रभुता की गन्ध किसीको नही आती थी, न किसीका राष्ट्रीय गर्व ही आहत होता था और न ईर्ष्या ही जाग्रत् होती थी । जब पुरानी विचार-पद्धतियो से लोगो को असतोष अनुभव होने लगता था, तब नये विचारो को, वे जहा से भी मिलें, निस्सकोच ले लिया जाता था । दूसरी ओर, हिन्दू लोग सभी युगो मे धार्मिक प्रश्नो मे ही तल्लीन रहते आए हैं, और अपने उत्कर्ष के दिनो मे तो वे अपने विचारो को फैलाने मे भी दिलचस्पी रखते थे । जावा और हिन्दचीन मे हिन्दूधर्म की स्थापना तथा एशिया के विस्तृत भागो मे बौद्धधर्म

का प्रसार सूचित करते हैं कि काफी विस्तृत भूखण्ड मे और एक लम्बी अवधि तक भारतीय लोग सास्कृतिक दृष्टि से साहसिक रहे हैं। जब तक हम यह न दिखा सकें कि दो सस्कृतियो मे ठीक किस प्रकार से पारस्परिक आदान-प्रदान की क्रिया हुई, तब तक मात्र सादृश्य को किसीका ऋण स्वीकार न करने का सिद्धान्त एक सीमा तक ठीक लगता है, किन्तु इस बात की सम्भावना तो फिर भी रह ही जाती है, और उसकी उपेक्षा नही की जा सकती कि काल-चक्र के उतार-चढाव के कारण, दो सस्कृतियो मे इस प्रकार के सपर्क के सारे प्रमाण और आलेख विलुप्त हो जाए। इस समय हमारे पास कोई प्रमाण या साक्ष्य यह दिखाने को नही है कि जावा मे हिन्दू-धर्म का उपनिवेश कैसे और कब स्थापित हुआ। परन्तु, जहा तक यूनान का प्रश्न है, उसपर पडे हुए भारतीय प्रभाव के विषय मे हम पूर्णतया अधकार मे नही हैं। पश्चिमी देशो मे तप और सयम-साधना के विषय मे सर फिलण्डर्स पेट्री लिखते हैं

> "४८० ई० पू० मे यूनान मे स्थित पारसीक सेना मे काफी बडी संख्या मे भारतीय सैन्य टुकडियो की उपस्थिति यह प्रदर्शित करती है कि पश्चिम मे कितनी दूर तक भारतीयो के सम्बन्ध स्थापित हो चुके थे, और मेम्फिस मे भारतीयो के सिरो के जो प्रस्तर नमूने पाचवी शती ई० पू० के मिले हैं, उनसे पता चलता है कि भारतीय वहा व्यापार के निमित्त रहते थे। अत पश्चिम मे तप-सयम-साधना का जो एकदम नया आदर्श मिलता है, उसका मूलस्रोत भारत को मानने मे कोई कठिनाई नही दीखती।"[1]

तप साधनाए उसी परम्परा मे विकसित हुईं जिसका प्रतिनिधित्व रहस्यात्मक धर्म-सम्प्रदाय और पाइथागोरस तथा प्लेटो के धर्म-मत करते थे, और इसमे हम भारत के या तो प्रत्यक्ष प्रभाव का सदेह कर सकते हैं या फारस के माध्यम से अप्रत्यक्ष प्रभाव का।

डॉ० इन्गे का कथन है कि जीवन के प्रति प्लेटोवादी या रहस्यवादी दृष्टिकोण, जिसमें धर्म एक ही साथ तत्त्वज्ञान एव अनुशासन दोनो होता है, सबसे पहले एशिया में अनुभव किया गया, विशेषत उपनिषदो में और बौद्धधर्म में।

> "यह रहस्यवादी आस्था यूनानी प्रदेशो मे ऑर्फियाई और पाइथा-गोरियाई मतो के रूप मे प्रकट होती है। एशिया की भाति यूरोप मे भी यह आस्था आत्मा के देहान्तरण के विचारो और आवधिक प्रत्यावर्तन के एक सार्वभौम नियम से सम्बद्ध थी। परन्तु यह धारणा कि एक अदृश्य शाश्वत ससार भी है जिसका यह दृश्य ससार क्षीण अनुकृति-मात्र है, पश्चिम मे केवल प्लेटो मे, जो पाइथागोरियनो और सुकरात का शिष्य था तथा जो कदाचित् एथेन्स मे एक पाइथागोरियाई समूह का मुखिया भी था, स्थायी जड जमा सकी है।"[2]

१. 'ईजिप्ट एड इजराइल' (१९२३), पृष्ठ १३४।
२ 'द प्लेटोनिक ट्रैडिशन इन इगलिश रिलीजस थॉट' (१९२६), पृष्ठ ७ और ६।

प्रोफेसर ई० आर० डॉड्स का तो आग्रह है कि "यूनानी सस्कृति जिस पृष्ठभूमि मे उद्भूत हुई, वह पौर्वात्य ही थी और यदि कुछ पुराने विद्वानो को अपवाद रूप मे मान लें तो यूनानी सस्कृति पौर्वात्य पृष्ठभूमि से कभी भी पूरी तरह अलग नही रही ।"[1]

यूनानी विचारणा पर भारतीय प्रभाव का महत्त्व केवल उस सूचना और सामग्री के आधार पर ही नही आका जा सकता, जो अब कालान्तर मे वच रही है। यूसेबियस (Eusebius)—३१५ ई०—ने एक जनश्रुति-परपरा को सुरक्षित रखा है जिसको स्वय उसने एरिस्टोज़ेनस (Aristoxenus) जो अरस्तू का शिष्य और स्वरशास्त्र का पारगामी विद्वान था, के ग्रथ से प्राप्त किया था। उस जनश्रुति-परपरा के अनुसार, कतिपय भारतीय विद्वानो ने वस्तुत एथेन्स की यात्रा की थी और सुकरात से वार्तालाप किया था।

> "सगीतकार एरिस्टोज़ेनस भारतीयो के विषय मे निम्नलिखित कहानी कहता है उन भारतीयो मे से एक आदमी ने सुकरात से एथेन्स मे भेंट की थी और उससे पूछा था कि उसके तत्त्वज्ञान (दर्शन) का उद्देश्य क्या है। सुकरात का उत्तर था 'मनुष्य के दृश्य क्रिया-व्यापारो (Phenomena) की जानकारी करना।' इस उत्तर को सुनकर भारतीय ठठाकर हस पडा और चिल्लाया 'हम किस प्रकार मानवीय दृश्य क्रिया-व्यापारो की जानकारी कर सकते हैं जब हम दैवी शक्तियो के विषय मे अनजान हैं ?' "[2]

एरिस्टोज़ेनस का समय ३३० ई० पू० का है। यदि यूसेबियस का विश्वास किया जाए, तो हमको इस बात का तत्कालीन साक्ष्य मिल जाता है कि चौथी शती ई० पू० मे एथेन्स मे भारतीय विचारक उपस्थित थे। भारतीयो की एथेन्स-यात्रा का उल्लेख अरस्तू[3] के ग्रथावशेषो मे भी जो डायोजेनीस लैरटियस मे सुरक्षित है, मिलता है।[4] यदि इन कथाओ को अप्रामाणिक भी मान लिया जाए, तो भी इनसे यह तो पता चलता ही है कि भारतीय विचारणा का प्रभाव, जिसे सामान्यतया वाद की अकादमी मे स्वीकार किया गया था, यूनानियो मे लोककथा का विषय वन चुका था। कुछ भी हो, जवकि यूनानियो का लोक-प्रचलित धर्म वैदिक विश्वासो से सम्वद्ध है, तव ऑर्फियाई और एल्यूशिनियाई सप्रदायो तथा पाइथागोरस और प्लेटो की रहस्य-वादी विचार-परपरा, जिसका आगे चलकर यूनानी और ईसाई विचारणा मे वहुत विकास हुआ, कुछ बुनियादी सिद्धान्तो को लेकर आरम्भ हुई, जो भारतीय और यूनानी रहस्यवाद मे एकसमान हैं। इससे ईसाइयत मे पाप की चेतना और मोक्ष

• १ 'ए ह्यूमैनिज़्म एड टेकनीक इन ग्रीक स्टडीज़' (१६३६), पृष्ठ ११।

२ 'प्रेपैरेशियो इवैन्जेलिका' ग्यारहवा अध्याय, पृष्ठ ३।

३. ३२; "हम अरस्तू के खोए हुए सवादों के अवशिष्ट अशों में, जो अधिकाशत उसके आरम्भिक काल में लिखे गए थे, पूर्वीय धर्म की कतिपय विशेषताओं में एक आश्चर्यजनक रुचि पाते हैं।" (वर्नर जैगर, 'ग्रीक्स एड ज्यूज़', 'जर्नल ऑव रिलीजन', अप्रैल १६३८, पृष्ठ १२८)।

४ II ४५, प्लेटो का एक मित्र और ज्योतिर्विद् यूडोक्सस (Eudoxus) भारतीय विचार-दर्शन में वहुत रुचि रखता था। देखिए, प्लिनी (Pliny) 'नेचुरल हिस्टी', xxx पृष्ठ ३।

की आवश्यकता, मृत्यूपरान्त मिलनेवाले पुरस्कार और सजाए, सजाए भी दो प्रकार की—पाप-परिशोधक और दण्डनात्मक, भावी सुखी जीवन के पार-पत्र के रूप में धार्मिक सस्कारो की दीक्षा, नैतिक के साथ-साथ अनुष्ठानात्मक विशुद्धता की आवश्यकता आदि बातो को बढावा मिला। ऑर्फियाई, एल्यूशिनियाई, पाइथागोरियाई विरादरियो और प्लेटोवादी विचार-सप्रदायो ने, जिनकी उत्पत्ति अन्यदेशीय प्रभाव से हुई, जो हेलेनिज़्म (यूनानी लोकप्रचलित प्राचीन मत) की चेतना के लिए विजातीय थे, तत्त्व और वस्तु के रूप मे जो मुख्यत भारतीय थे, जो राज्य की ओर से विना कोई समर्थन प्राप्त किए शान्त भाव से, अपने बल-बूते पर पनप रहे थे, परवर्ती प्लेटोवाद और कैथॉलिक धर्मशास्त्र के कतिपय तत्त्वो के लिए मार्ग प्रशस्त किया।[1]

१. तुलना कीजिए मेयर के इस कथन से "मिस्री, पारसीक और भारतीय सास्कृतिक प्रभावों को यूनानी जगत् ने बहुत आरम्भिक काल से पचा लिया था।" ['पोलिटिकल थॉट' (१९३९), पृष्ठ ७]। जहा तक भारत पर यूनान के पड़े प्रभाव का प्रश्न है, वह जीवन के गम्भीरतर स्तरों पर नहीं पड़ा। कला के क्षेत्र में यूनानियों का काफी प्रभाव पड़ा। कदाचित् बौद्धधर्म के सस्थापक को मनुष्य के रूप में प्रस्तुत करने का विचार यूनानियों के सपर्क से भारतीयों में उपजा। टार्न कहते हैं : "मोटे तौर से सोचने पर यह दिखाई देता है कि एशियाइयों ने यूनानियों से जो कुछ ग्रहण किया, वह बाह्य जीवन से ही अधिक सम्बन्धित था; कला में भी रूप (Form) सम्बन्धी प्रभाव ही पड़ा। एशियाइयों ने विरले ही कोई तात्त्विक वस्तु ग्रहण की—नागरिक सस्थाओं की परपरा को अपवाद-स्वरूप मान सकते हैं—परन्तु चेतना को स्पर्श करनेवाली कोई वस्तु नहीं ली; क्योंकि जहा तक चेतना का प्रश्न है, एशिया को इसका पूरा विश्वास था कि चेतना के मामले में वह यूनान को मात दे सकता है, और उसने दी भी।" ['द ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एड इडिया' (१९३८), पृष्ठ ६७]। पुनः "भारतीय सभ्यता इतनी बलवती थी कि वह यूनानी सभ्यता के विरुद्ध अपनी विशेषता को बनाए रख सकती थी, परन्तु धार्मिक क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में वह इतनी शक्तिशाली न थी, इसीलिए अन्य क्षेत्रों में उसने यूनान को उतना प्रभावित नहीं किया जितना बेबीलोनिया ने। फिर भी, यह सोचने के पर्याप्त कारण मिल सकते हैं कि कुछ मामलों में भारत यूनान के साथ एक सशक्त साझीदार सिद्ध हुआ।" ('वही', पृष्ठ ३७५-६)। "यदि बुद्ध की मूर्ति की बात छोड़ दें, तो भारत का इतिहास सभी आवश्यक बातों में यूनानियों का अस्तित्व इस ससार में न होने पर भी, वैसा ही होता जैसा वह हुआ है।" ('वही', पृष्ठ ३७६)।

५
भारत और पाश्चात्य धार्मिक विचारणा : ईसाई जगत्–१

[१]

३२७ ई० पू० मे भारत पर सिकन्दर का आक्रमण हुआ। उसी समय से भारत और पश्चिम के मध्य विचारो का अधिक निकट आदान-प्रदान प्रारम्भ हुआ। सिकन्दर के समय, सौ से भी अधिक वर्ष पहले से, भारत मे बौद्धधर्म का प्रचलन अवश्य रहा होगा। उसने हिन्दू और बौद्ध विचारणा से परिचय प्राप्त करने की चेष्टा की। उसने ओनेसिक्रीटस नामक एक यूनानी अधिकारी को, जो सनकी दार्शनिक डायगेनीज[1] का शिष्य था, विद्या के प्रसिद्ध पीठ तक्षशिला मे भेजा था। ओनेसिक्रीटस के प्रयास से एक कालनाश नामक साधु सिकन्दर के साथी-दल मे सम्मिलित हो गया। भारत से लौटने पर सिकन्दर ने सूसा मे एक जश्न मनाया, उसीमे यूरोप और एशिया मे विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने का उसका महान स्वप्न व्यावहारिक रूप ले सका। उसने बैक्ट्रिया की राजकुमारी रोक्सेना से तो पहले ही विवाह कर लिया था, अब उसने डेरियस की पुत्री स्टैतिरा को अपनी द्वितीय पत्नी बनाया। सौ के लगभग उसके उच्चाधिकारियो ने और दस हज़ार निम्न कर्मचारियो ने भी अपने सम्राट के उदाहरण का अनुसरण करके एशियाई स्त्रियो से विवाह कर लिया।

पाइरो (Pyrrho) के विषय मे कहा जाता है कि उसने सिकन्दर के भारत-अभियान मे भाग लिया था और भारतीय चिन्तना का ज्ञान प्राप्त किया था। हम नव अकादमी मे प्लेटो और पाइरो के मतवादो का मिश्रण और नकारात्मक निष्कर्षों की ओर झुकाव पाते हैं। आत्मा की उच्चतम स्थिति निर्विकारता की मानी गई है। यूनानियो की आनन्दमयता की जगह बाह्य परिस्थितियो से स्वतन्त्रता को महत्त्व दिया गया है। एपीक्यूरियाई धर्म जिसमे शान्त मन से देवताओ की प्रकृति के चिन्तन-मनन पर ज़ोर दिया जाता है और स्टोइकवादियो (तितिक्षावादियो) का धर्म जिसमे सजीव विश्व और उसकी शुद्ध बुद्धि को ईश्वर का ही रूप बताया गया है, के विकास की सरणि एक जैसी है। वे दोनो धर्म सिकन्दर की मान्यता के नये ससार के अग हैं। सिकन्दर की मान्यता थी कि मनुष्य अपने नगर-राज्य का केवल एक अग बनकर ही नही रह सकता। उसकी दृष्टि मे मनुष्य नगर-राज्य का अशमात्र नही है। वह एक व्यक्ति है जो ससार के अन्य व्यक्तियो के साथ सम्बन्धो मे जुडा है। जीयस और एथेना एक छोटे-से क्षेत्र मे पास-पास रहनेवाले नागरिको के अच्छे रक्षक रहते आए थे, परन्तु जब इस छोटे-से ससार की सीमाए विस्तृत होकर बडे ससार का रूप लेने

१ स्ट्रैबो, xv, सी ७१५।

लगी, तब इन रक्षक देवताओ से काम चलता न दीखा। वह क्षण इतिहास के महानतम क्षणो मे से था जब सिकन्दर ने सूसा की प्रसिद्ध दावत मे हृदयो की एकता के निमित्त मकदूनिया और फारस के निवासियो के सयुक्त राष्ट्रमण्डल के लिए प्रार्थना की थी। सिकन्दर की कल्पना थी कि एक दिन ससार मे ऐसी बिरादरी कायम हो जाएगी, ऐसा भाईचारा स्थापित हो जाएगा जिसमे यूनानी और बर्बर का कोई भेद नही होगा, यद्यपि उसका दृष्टिकोण आध्यात्मिक के बजाय राजनीतिक ही अधिक था।[1] जीनो ने सिकन्दर की इस अपील के प्रति बडा उत्साह दिखाया और अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' मे उसने एक ऐसे ससार का काल्पनिक चित्र खीचा जिसमे अब अलग-अलग राज्य नहीं रह जाएगे, वरन् सारा ससार एक बडे नगर की तरह हो जाएगा जो एक ही दैवी नियम से शासित होगा तथा जिसके एक राज्य के नागरिक दूसरे राज्य के भी नागरिक होगे और वे परस्पर सम्बद्ध होंगे, किन्ही मानव-निर्मित विधि-नियमो द्वारा नही, वरन् स्वेच्छा-प्रेरित लगाव द्वारा, या उसके शब्दो मे, प्रेम के द्वारा।[2] हमने इस आशा को कभी भी पूर्णत. नही छोडा है, यद्यपि हम इस आदर्श से आज भी उतने ही दूर हैं जितने ईसापूर्व की तीसरी शताब्दी मे थे। स्टोइकवादियो द्वारा परिकल्पित विश्व एक विशाल नगर के तुल्य है जिसका शासन कोई परम शक्ति करती है। उस शक्ति की कल्पना कई रूपो और नामो के अन्तर्गत की गई है, जिनमे से कुछ ये हैं प्रकृति, विधि, प्रारब्ध, विधाता और ज़ीयस। इनमे से हरएक का निकास परमात्मा से हुआ था, अत वह परमात्मा ही था। मानव-मन दिव्य तेजस् के स्फुलिंग हैं, हालाकि मानव-शरीर तो मिट्टी है। धन और दारिद्रय, रुग्णता और स्वास्थ्य ऐसी चीज़ें है जिनकी परवाह नही करनी चाहिए ; जिनके प्रति अन्यमनस्क रहना चाहिए। जो व्यक्ति चतुर होगा, ज्ञानी होगा, वह इन वस्तुओ के विषय में चिन्तित नही होगा, वरन् आध्यात्मिक वस्तुओ की उपलब्धि की ओर ध्यान देगा। लोगो का सासारिक दर्जा चाहे जो हो, परन्तु आत्मा के राज्य मे वे सब परस्पर समान हो सकते हैं। स्टोइकवादी और एपीक्यूरियाई लोग दर्शनशास्त्र पर जीवन की एक विधि के रूप मे बल देते थे और चाहते थे कि मनुष्य को लालसाओ तथा भावावेशो से बचना चाहिए, क्योकि अतृप्त इच्छाओ के कारण इनसे मनुष्य का जीवन दु खी हो जाता है। तीसरी शताब्दी ई० पू० मे ज़ीनो के उत्तराधिकारी क्लीनथीज़ ने स्टोइकवाद (तितिक्षावाद) के विश्वदेव को और परम्परागत देवता जीयस को एक ही बताया।[3] अवतारवादी प्रवृत्ति तो कम हो गई और ज्युपिटर (इन्द्र) 'अपने

१. और भी देखिए, इस पुस्तक का परिशिष्ट, टिप्पणी १।

२. तुलना कीजिए : मार्कस ऑरेलियस (IV, २३) "एक प्रसिद्ध व्यक्ति कहता है 'सीक्राप्स का प्रिय नगर'; तो क्या तू इसे इस रूप में नहीं कह सकता—'जीयस का प्रिय नगर' ?"

३. "अमरों में तू महामहिम, ओ सर्वशक्तिमान् जीयस !
तू जनक प्रकृति का है, अनेक नाम है तेरे,
सब तेरा ही यश गाते हैं।
तेरे शासन में सब रहते;
विश्व-वाणी बस तुझे पुकारेगी,

हाथो से वज्र-प्रहार करनेवाला' ही नही रह गया, बल्कि 'विश्व का शासक और सरक्षक, ससार का मन और चेतना' बन गया (सेनेका)।[1] मनुष्य के जीवन का श्रेष्ठतम रूप शुद्ध बुद्धि के अनुसार रहना है, क्योकि उसकी शुद्ध बुद्धि विश्व की दिव्य प्रज्ञा का ही एक अश है और उसीके साचे के अनुसार उसका भी गठन हुआ है। व्यक्ति की आत्मा अमर नही है, क्योकि इस इन्द्रियगम्य ससार को विनष्ट करनेवाली प्रलयाग्नि मे वह भी समाप्त हो जाएगी। आत्मा में जो अग्नि-तत्त्व है, वह महान केन्द्रीय अग्नि मे जा मिलेगा। आत्माए तभी तक अपना निजत्व बनाए रहती हैं जब तक काल-चक्र पूर्ण नही हो जाता। मार्कस ऑरेलियस ने कहा है "तुम्हारा अस्तित्व पूर्ण का एक अश है। जिसने तुम्हे जन्म दिया है उसीमे तुम विलीन हो जाओगे, या एक परिवर्तन के द्वारा तुम उसकी सृजनशील शुद्ध बुद्धि मे ले लिए जाओगे।" स्टोइकवादी लोक-देवताओ को मानने से इन्कार नही करते, उनको वह विश्व-व्यवस्था का एक अग मानते थे। "लोक-देवताओ को वे एक अवगुण्ठन मानते थे जो सामान्य मनुष्य को दयापूर्वक इसलिए प्रदान किया गया है, ताकि वे सत्य की नग्नता की अत्यत चकाचौंध से अपनी आखो को बचा सकें।"[2] अन्तर्मुख होने का अभ्यास करके हम ईश्वर को जान सकते हैं। सिकन्दर के साथियो—डायग्नेटस, ऐरिस्टोबुलस, नियरकस और अन्यो के ग्रन्थ आज उपलब्ध नही हैं।

सिकन्दर अपने पीछे उपनिवेशियो और यूनानी सैनिकों को छोड गया था।[3] भारत के उत्तर-पश्चिम सीमान्त प्रदेशो मे कुछ शताब्दियो तक यूनानी अथवा अर्द्ध-यूनानी सामन्तराज्य चलते रहे थे। सिकन्दर के जाने के बाद देश मे जो राजनीतिक अव्यवस्था हुई, उसका लाभ उठाकर चन्द्रगुप्त ने राज्य-शक्ति अपने हाथो मे ले ली, उसने मकदूनिया की प्रभुसत्ता को उखाड फेंका और धीरे-धीरे समस्त भारतवर्ष पर अपनी विजय-पताका फहरा दी। यूनानी राजा सेल्यूकस निकेटर (तृतीय शती ई०पू०) ने अपनी एक पुत्री का विवाह भारतीय सम्राट चन्द्रगुप्त से कर दिया और पाटलिपुत्र (पटना) स्थित उसकी राज्य-सभा मे मेगस्थनीज़ नामक अपना एक राजदूत भी भेजा। मेगस्थनीज़ ने अपने समय के भारत की सामाजिक और सास्कृतिक दशाओ का रोचक विवरण प्रस्तुत किया है। वह कहता है "कई बातो मे भारतीयो की शिक्षाए यूनानियो की शिक्षाओ से मिलती-जुलती हैं।"[4] मेगस्थनीज़ के यूनान लौट

क्योंकि तुझसे ही हमने जन्म लिया है,
इस धरा-पटल पर जितने प्राणी चलते-फिरते,
उन सबमें केवल हम ही
ईश्वर की प्रतिकृति हैं।"

गीत 'सर्वव्यापक नियम' के सम्बोधन से समाप्त होता है। ['द ऑक्सफोर्ड बुक ऑव ग्रीक वर्स इन ट्रासलेशन' (१९३८), पृष्ठ ५३३–५३५]।

१ सीरिल बैले · 'फेजेज इन द रिलीजन ऑव ऐन्श्येण्ट रोम' (१९३२), पृष्ठ २३३।
२. टार्न . 'हेलेनिस्टिक सिविलाइजेशन', द्वितीय सस्करण (१९३०), पृष्ठ ३०४–५।
३, ४ 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑव इण्डिया', खण्ड १ (१९२२), पृष्ठ ४१९–२०।

जाने पर उसके स्थान पर प्लाटाई का डाइमेकस राजदूत नियुक्त हुआ। उसने चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार के पास ऐण्टिओकस प्रथम का सन्देश कई वार पहुचाया। प्लिनी किसी डायनीसियस की चर्चा करता है जिसको प्टॉलेमी फिलाडेल्फस (२८५–२४७ ई० पू०)[1] ने सिकन्दरिया से भारत भेजा था।

अशोक ने, जो मगध के राजसिंहासन पर २७० ई० पू० मे बैठा, पाटलिपुत्र मे एक परिषद् का अधिवेशन किया था जिसमे बौद्धधर्म की नई शिक्षाओ को ससार के सभी देशो मे घोषित कराने के लिए धर्मदूतो को भेजने का निश्चय किया गया। इस निश्चय के अनुसार, अशोक ने बौद्धधर्म-प्रचारको को पश्चिम के राजाओ—सीरिया के ऐण्टिओकस थिओज़, मिस्र के प्टॉलेमी फिलाडेल्फस, मकदूनिया के ऐण्टिगोनस गोनतस, साइरेनी के मगस और एपिरस के अलेग्ज़ैण्डर के पास भेजा।[2] अशोक के धर्म-लेखो से यह मालूम किया जा सकता है कि उसके मिशनो का स्वागत इन पाचो देशो मे अच्छा हुआ। १९० से १८० ई० पू० के वीच डिमिट्रियस ने भारत तक बैक्ट्रिया के साम्राज्य का विस्तार कर लिया और सिन्ध तथा काठियावाड को जीत लिया। जो यूनानी भारत मे वस गए, उन्होने धीरे-धीरे अपने को भारतीय जीवन के अनुरूप ढाल लिया—उनका भारतीयकरण हो गया। भारतीय यूनानी राजवशो के जो स्मारक अभी तक अवशिष्ट है, उनमे से एक है ग्वालियर के धुर दक्षिण मे वेलसर-स्थित एक पाषाण-स्तम्भ (१४० ई० पू०)। ब्राह्मी लिपि मे उसपर एक लेख लिखा है जिसमे कहा गया है "वासुदेव (विष्णु) का यह गरुड-स्तम्भ तक्षशिला-निवासी, विष्णुपूजक, दिओन-पुत्र हेलिडोरस के द्वारा यहा पर खडा कराया गया, जो महाराजा अन्तियालसिडास का राजदूत वनकर महाभाग राजा काशीपुत्र भागभद्र, जो अपने राजत्व के चौदहवें वर्ष मे समृद्धि के साथ राज्य कर रहा था, की राज्य-सभा मे आया था।"[3] इस स्तम्भ-लेख के लेखन-काल तक जो यूनानी भारत मे पैदा हुए थे, वे पूर्णत भारतीय वन गए थे। भारतीय यूनानी राजाओ में से सवसे महान था मिनाण्डर (मिलिन्द) जिसे बौद्ध भिक्षु नागसेन (१८० से १६० ई० पू०) ने बौद्धधर्म मे दीक्षित किया था। उसके बौद्धधर्म स्वीकार करने का उल्लेख प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ 'मिलन्दपन्ह' (मिलिन्दप्रश्न) में हुआ है।[4] सीथियनो ने जिनको उनके पैतृक वास-स्थान मध्य एशिया से खदेड दिया गया था, लगभग १६० ई० पू० में जैक्सरटीज़ और ओक्सस को पददलित करते हुए कावुल तथा पंजाव पर अपना आधिपत्य जमा लिया और उसके आगे भी अपने हाथ-पाव पसारने शुरू किए। शीघ्र ही गगा की घाटी मे भी उनका शासन स्थापित हो गया। उनका सवसे अधिक शक्तिशाली सम्राट हुआ कनिष्क (ईस्वी प्रथम शती)। उसके बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने

१. 'नेशनल हिस्ट्री', VI, पृष्ठ २१।
२. तेरहवा शिला-लेख।
३. आगे देखिए इस पुस्तक का परिशिष्ट, टिप्पणी २।
४. 'क्वेश्चन्स ऑव मिलिन्द', खण्ड, XXV 'सैक्रेड बुक्स ऑव द ईस्ट'। फिर भी देखिए—टार्न लिखित 'द ग्रीक्स इन बैक्ट्रिया एण्ड इण्डिया' (१९३८), पृष्ठ २६८–९। और भी देखिए—इस पुस्तक का परिशिष्ट टिप्पणी ३।

से बौद्धधर्म ने अपने गौरव और साहसिकता के द्वितीय चरण मे प्रवेश किया। सिकन्दरिया के सीरिल के कथनानुसार एशिया माइनर का शासक अलेग्जैण्डर पोलिहिस्टर बौद्धधर्म के विषय मे काफी कुछ जानता था। सिकन्दरिया के क्लीमेण्ट ने पोलिहिस्टर के ग्रन्थो से उद्धरण दिए हैं।[1] 'महावश' के अनुसार, राजा दत्थगामिनि ने १५७ ई० पू० मे जब विशाल स्तूप का शिलान्यास-समारोह किया, तव उसमें "योन (यवन) देश की राजधानी अलसद्द (अलेग्जैण्ड्रिया) के समीप रहनेवाले योन के महा पुरोहित ने तीस हज़ार अन्य पुरोहितो के साथ भाग लिया था।" निस्सन्देह, पुरोहितो की जो सख्या दी गई है, उसमे अत्युक्ति है। दमिश्क के निकोलौस के साक्ष्य के आधार पर स्ट्रैवो लिखता है कि भारतीय राजा पोरस ने[2] एक भारतीय राजदूत-मण्डल यूनान मे भेजा था। उसमे एक विचारक भी था, जो २० ई० पू० मे एथेन्स नगर मे स्वय ही जल मरा था।

इस सारी अवधि मे भारत और पश्चिमी देशो मे वडे पैमाने पर व्यापारिक सम्बन्ध थे। जव सिकन्दर ने अपने नाम को चिरस्थायी वनाने के उद्देश्य से मिस्र मे एक नगर के लिए स्थान का चुनाव किया तभी से पौर्वात्य और पाश्चात्य सस्कृतियो को परस्पर मिलाने की तैयारी शुरू हुई। एक हज़ार वर्ष तक सिकन्दरिया (अलेग्जैण्ड्रिया) वौद्धिक और व्यापारिक गतिविधियो का केन्द्र वना रहा, क्योकि वह ऐसा स्थान था जहा यहूदी, सीरियाई और यूनानी लोग आपस मे मिलते-जुलते रहते थे। 'मिलिन्द प्रश्न' मे सिकन्दरिया को उन स्थानो मे से एक वताया गया है जहा भारतीय नियमित रूप से जाते रहते थे।

[२]

किसी भी धर्म की उत्पत्ति और उसके विकास से सम्वन्धित तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते है तथा उनके विषय मे किसी व्यक्ति को अपने विचार काफी सोच-समझकर प्रकट करने चाहिए। वहुत सम्भव है कि जिन लोगो ने ईसामसीह के धर्म-

१. 'स्ट्रोमैटा', *III*, पृष्ठ ७, उसने एक भारतीय धर्म-सम्प्रदाय का उल्लेख किया है जिसमें स्त्री और पुरुष दोनों सम्मिलित हो सकते थे, जो ब्रह्मचर्य धारण करते थे, सत्यान्वेषण में लीन रहते थे और पिरामिडों (स्तूपों) की, जिनमें उनके आराध्य देव के अस्थि-अवशेष रखे होते थे, पूजा करते थे। अधिकाश लोग हेरेक्लीज और पैन का आराधना करते थे। ब्राह्मण लोग मास और मदिरा का सेवन नहीं करते थे।

२ एम० क्रिण्डल लिखित 'इनवेज़न ऑव इण्डिया वाई अलेग्जैण्डर द ग्रेट' (१८९३ ई०), पृष्ठ ३८९, स्ट्रैबो, *XV*, १, ७३, डिओन काम०, लिव० ९ भी देखिए। प्लूटाक ने 'विट० अलेग्जैण्डर', ६९ में आत्मवलि का उल्लेख किया है। प्लूटाक के अनुसार, आत्मबलि देनेवाले 'उस भारतीय की समाधि' एथेन्स की यात्रा करनेवालों के लिए एक दर्शनीय स्थल है। लाइटफुट का विचार है कि पॉल ने प्रथम कॉरिन्थियन्स *XIII*, ३ में इसी भारतीय की ओर संकेत करते हुए कहा था: "यदि मैं अपने शरीर को जला डालने के लिए सौंप देता हू, परन्तु यदि ऐसा प्रेमपूर्वक नहीं करता, तो उस बलिदान से मुझे कोई लाभ नहीं हो सकता।" ['सेंट पॉल्स एपिस्टल्स टु द कोलोसियन्स एण्ड टु फिलेमन' (१८७५ ई०), पृष्ठ १५६ एन]। कैसियस डायो (ख० ९, १०) इस आत्ममेध पर टिप्पणी करता है।

सिद्धान्तो (गॉस्पेल्स) को लिखा, उनका परिचय भारतीय धार्मिक विचारो तथा पौराणिक उपाख्यानो से रहा हो। यहूदी धर्म को तभी ठीक तौर से समझा जा सकता है जब हम उसकी विशाल पृष्ठभूमि को भी ध्यान मे रखें, जबकि हम फिलस्तीन और सीरिया पर पडे हुए गैर-सामी प्रभावो पर भी विचार करें। भारतीय या भारतीय ईरानी समूह जो मित्र, वरुण, इन्द्र तथा अन्य वैदिक देवताओ को पूजते थे, सीरिया या उसके उत्तर मे ईसा पूर्व द्विसहस्राब्दि के मध्य मे पाए गए थे। ऋग्वेद के ये देवता मिट्टनी (Mittani) के हरियनो और अनातोलिया के हिट्टियो (Hittites) को भी ज्ञात थे। प्रोफेसर एस० ए० कुक लिखते हैं

> "जैसाकि अमर्ना के पत्रो और बोगाज़-कियूई मे प्राप्त 'हिट्टी' (Hittite) शिला-लेखो से पता चलता है, जिसे मोटे तौर पर 'मूसा का युग' कहते हैं, उसमे फिलस्तीन पर ईरानी (प्राचीन पारसीक) या भारतीय यूरोपीय प्रभाव पडने लगा था। यह उससे शताब्दियो पूर्व की बात है जब फिलस्तीन पारसीक साम्राज्य का एक भाग बना।' मूसा के युग मे, प्राचीन भारत के विशिष्ट नैतिक देवता वरुण को उत्तरी सीरिया के लोग जानते थे और द्वितीय इसायह (Isaih) के समय के आसपास ज़ोरॉस्ट्रियन धर्म (पारसी-धर्म) के देवता अहुर-मज़्द को, जिन्हे निस्सन्देह इज़रायली लोग जानते थे, वरुण से भी अधिक आध्यात्मिक देवता माना जाता था।"[1]

जिस वातावरण मे रहकर यहूदी-धर्म पनपा, उसका विचार किए बिना उसकी जो भी व्याख्या की जाएगी, वह भयकर रूप से सकीर्ण होगी। ईस्वी सन् की दो शताब्दियो पूर्व से ही बौद्धधर्म का फिलस्तीन पर प्रभाव पडने लगा था।[2] एसेनी, मैण्डियन[3] और नाज़रेनी सम्प्रदाय बौद्धधर्म की चेतना से आपूरित थे। ईस्वी सन

१. 'द ट्रुथ ऑव द बाइबल' (१९३८), पृष्ठ २४।

२. बाद के वर्षों में बौद्धधर्म और ईसाई-धर्म को लोग भ्रमवश एक मानने लग गए थे—बौद्धधर्म को ईसाई-धर्म समझ लेते थे और ईसाई-धर्म को बौद्धधर्म। मानिकीवाद (Manichaeism) बौद्धधर्म, पारसी-धर्म (ज़ोरॉस्ट्रियनिज़्म) और ईसाई-धर्मों के विचारों का समुच्चय था। हज़रत मुहम्मद ने ईसा और बुद्ध से सम्बन्धित पौराणिक कथाओं को घुलामिला दिया है। बारलम और जोजफ का बौद्ध-ईसाई रोमास छठी शती में पश्चिम से फैलना प्रारम्भ हुआ, यहा तक कि सोलहवीं शती के आते-आते बुद्ध को एक कैथॉलिक सन्त के रूप में स्वीकार कर लिया गया। जोज़फ (Joasaph) नाम बोधिसत्त्व से निरुक्त हुआ है। बोधिसत्त्व एक पारिभाषिक शब्द है जो उस व्यक्ति के लिए प्रयुक्त हुआ है जो बुद्ध के गौरव को प्राप्त करने का प्रारब्ध लेकर पैदा हुआ है। देखिए सर ई० ए० वैलिस बज कृत 'बारलम एण्ड ईवासेफ, बीइंग द इथोपियन वर्शन ऑव ए क्रिश्चियैनाइज़्ड रीसेन्शन ऑव द बुद्ध एण्ड द बोधिसत्त्व', १९२३ ई०। आठवीं शताब्दी में चीन ने एक राजाज्ञा निकालकर दोनों धर्मों का मिश्रण करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया था। देखिए, तकाकुसू लिखित 'इ-त्सिग' (१८९६), पृष्ठ २२४।

३. मैशान में, जो मेसोपोटामिया के साथ भारतीय व्यापार का प्रवेश-द्वार था, मैण्डियन लोग खूब फल-फूल रहे थे। भारतीय कबीले मैशान में आकर बस गए थे और उसके बन्दरगाह में एक भारतीय मन्दिर भी था। मैण्डियन ज्ञानवाद भारतीय विचारों से परिपूर्ण है।

२० के आसपास फिलो ने और उसके भी पचास वर्ष बाद जोजेफस ने लिखते हुए वर्णन किया है कि यद्यपि एसेनी लोग जन्म से यहूदी थे, तथापि वे विवाह का निषेध करते थे और सासारिक पदार्थों के विषय मे एक प्रकार के साम्यवाद का अभ्यास करते थे। उनको पशु-वलि पर आपत्ति थी और वे मन्दिर मे जाकर देव-पूजन भी नही करते थे। वे पूर्णत शाकाहारी थे और मदिरापान नही करते थे।[1] वे व्यापार करने से बचते थे, दास नही रखते थे और फिलो के कथनानुसार उन लोगो मे युद्ध मे काम आनेवाले अस्त्र-शस्त्रो के निर्माता कारीगर भी नही होते थे। अन्य यहूदियो की भाति वे हज़रत मूसा और उनके धार्मिक सिद्धान्तो को तो मानते थे, परन्तु वे सूर्य की पूजा भी करते थे। इसमे कदाचित् उनकी भावना यह थी कि वे सूर्य को प्रकाश और जीवन देनेवाली अदृश्य शक्ति का प्रतीक मानते थे। वे यह नही विश्वास करते थे कि कयामत के दिन मृत शरीर पुन जीवित हो उठेंगे, वरन् यह मानते थे कि आत्मा, जो अव शरीर के वदीगृह मे पड़ी हुई है, यदि इन वन्धनो से छूट जाए, तो उसे सच्ची स्वतत्रता और अमरता प्राप्त हो सकेगी। वे आत्मा के पूर्वअस्तित्व का सिद्धान्त स्वीकार करते थे। वे ससार और ईश्वर के मध्यवर्ती अस्तित्वो—देवदूतों मे भी विश्वास करते थे और जादुई कलाओ तथा फलित ज्योतिष मे भी उनकी रुचि थी। उनकी कुछ रहस्यात्मक क्रियाए भी थी जिनको वे सवको नही बतलाते थे, कुछ विशिष्ट व्यक्तियो तक ही उनकी जानकारी सीमित थी। उनका यह मत था कि मानसिक सयम और एकाग्रचित्तता से हम अपने मन की दरार को पूर सकते हैं। उनके सम्प्रदाय मे प्रवेश पाने की प्रक्रिया लम्वी भी थी और कठिन भी। दीक्षा-सस्कार के उनके अनुष्ठानादि जटिल थे और उन्हे ऐसी शपथें लेनी पडती थी जो सम्प्रदाय के हर सदस्य को परस्पर बाध देती थी। एसेनी लोग अपनी सहन-शक्ति, सहज साधुता और भ्रातृत्वपूर्ण प्रेम के लिए प्रसिद्ध थे।[2]

१. "एसेनी मत वालों के तपवाद में हमें उस ज्ञानात्मक द्वैतवाद के बीज मिलते हैं जो पदार्थ को सिद्धान्त या कम से कम, बुराई का आश्रय-स्थल मानता है।" [लाइटफुट · 'सेंट पॉल्स एपिस्टल्स टु द कोलोसियन्स एण्ड टु फिलेमन' (१८७५), पृष्ठ ८७]।

२ जोजेफस का सुझाव है कि "एसेनी मतावलम्बी जिस जीवनचर्या का अभ्यास करते हैं, उसे यूनानियों में पाइथागोरस ने प्रचलित किया था।" (*Ant xv*, १०/४)। जेलर ने भी इस विचार का समर्थन किया है, परन्तु लाइटफुट ने इसकी आलोचना करते हुए कहा है कि यदि एसेनीवाद में कोई विजातीय तत्त्व था, तो वह पाइथागोरस से प्राप्त न था, वरन् उसके लिए पूर्व की ओर हमें देखना होगा, क्योंकि पाइथागोरस भी पौर्वात्य तत्त्वज्ञान का ऋणी था। "धार्मिक उपाख्यानों में पाइथागोरस को कैलडिया (कलदान) वासियों, पारसीकों और ब्राह्मणों से उपदेश ग्रहण करता हुआ दिखाया गया है। इस तथ्य को इस वात का साक्ष्य माना जा सकता है कि पाइथागोरियाई सिद्धान्त भी आंशिक रूप से पूर्व से ग्रहण किए गए थे।" ['सेंट पॉल्स एपिस्टल्स टु द कोलोसियन्स एण्ड टु फिलेमन' (१८७५), पृष्ठ १४८]। द्वैतवाद, सूर्य-पूजन, देवदूत-पूजन, तन्त्र-मन्त्र चमत्कार, और विशुद्धता के लिए प्रयत्न आदि कुछ ऐसी वातें हैं जिनमें लाइटफुट को एसेनी-मत और पारसीक धर्म (जोरॉस्टर के धर्म) में बहुत कुछ ऊपरी सादृश्य दिखाई देता है। हिल्गेनफेल्ड और रेनन इसको वौद्धधर्म का प्रभाव मानते हैं। "सुदूर पूर्व के धार्मिक सिद्धान्तों का स्वागत और अभ्यर्थना एसेनी-मत ने की है।" [मिलमैन · 'द हिस्ट्री ऑव क्रिश्चियैनिटी' (१८६७), खण्ड २, पृष्ठ ४१]।

जॉन द बैप्टिस्ट (बपतिस्मावादी जॉन) एक एसेनी ही था। जब वह इस सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के योग्य अपने को बना रहा था, उन दिनो वह मृतसागर के समीपवर्ती जगलो मे निवास करता था। उसने एसेनी सिद्धान्तो के अनुसार ईश्वर के प्रति निष्ठा और अपने साथी मनुष्यो के प्रति दया रखने का उपदेश दिया था। बपतिस्मा सस्कार पर वह जो इतना ज़ोर देता था उसका कारण उसका एसेनी-मत का अनुयायी होना था, क्योकि उस मत मे ऐसी ही प्रथा थी। ईसामसीह भी एसेनी-मत के सिद्धान्तो से बहुत प्रभावित थे। गैलिली मे प्रकट होने के पहले ईसा जॉन द बैप्टिस्ट के एक शिष्य के रूप मे कार्य करते थे। ईसा जॉन को अपना गुरु, पथदर्शक और युग का महानतम व्यक्ति मानते थे। ईसा और जॉन दोनो ही पापो के लिए क्षमाप्राप्ति द्वारा मोक्ष पाने का उपदेश देते थे। ईसा मे बुराई के प्रति अप्रतिरोध की जो भावना है, वह एसेनी-मत के प्रभाव के कारण हो सकती है।

'बुक ऑव एनक' एक उल्लेखनीय हिब्रू ग्रन्थ है जिसे ईस्वी सन् के प्रारम्भ के अनेक वर्ष पूर्व लिखा गया था। यह ग्रन्थ गैर-यहूदी अटकलबाज़ियो से भरा पडा है।[1] ईसा की चेतना और उपदेश की कुछ मुख्य-मुख्य बातो का स्रोत इसमे ढूढा जा सकता है। 'जेनिसिस'[2] (बाइबल का प्रथम अध्याय जिसमे सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है) मे एनक का प्राचीन सन्त के रूप मे उल्लेख हुआ है, उसमें वह आगामी विश्व-निर्णय के सम्बन्ध मे उपदेश देता है और 'मनुष्य के पुत्र' ('सन ऑव मैन') के आगमन-सम्बन्धी घोषणा करता है 'मनुष्य के पुत्र' का आविर्भाव नवयुग मे भले और ईमानदार लोगो के नेता के रूप मे शासन करने के लिए होने को था। 'न्यू टेस्टामेट' मे क्राइस्ट (ईसा) के लिए चार उपाधिया दी गई हैं—'क्राइस्ट'[3], 'द राइटियस वन'[4] (पुण्यात्मा), 'द इलेक्ट वन'[5] (दूसरो की मुक्ति के लिए ईश्वर द्वारा मनोनीत) और 'द सन ऑव मैन'[6] (मानव-पुत्र)। इन सभीका उल्लेख

डॉ० मोफट के अनुसार : "एसेनी-मत की कतिपय विशेषताओं के निर्माण में बौद्धधर्म की प्रवृत्तियों ने सहायता की थी।" ('एनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एड एथिक्स', खड *v*, पृष्ठ ४०१)। यह तक दावा किया गया है कि 'बुक ऑव एनक' भी एसेनी-विचारों का ही निदर्शन करती है। इसमें हम विश्वरचना-सिद्धान्त का पूर्ण विवरण पाते हैं। इसके अतिरिक्त उस अड का भी उल्लेख पाते हैं जिससे सृष्टि की उत्पत्ति हुई थी; देवदूतों और स्वर्गीय आत्माओं से उनके सम्बन्ध, शैतान और उसके आतिथेय का ईश्वर से विद्रोह एव पृथ्वी की चौकसी रखने के लिए नियुक्त पर्यवेक्षकों के पतन की भी चर्चा मिलती है।

१. डॉ० चार्ल्स का विचार है कि यह ग्रथ ईसा के ८० वर्ष पूर्व रचा गया था। "अधिक से अधिक यह ग्रथ ईसा के पूर्व की अन्तिम शताब्दी के मध्य तक तो अवश्य ही पूर्ण हो गया था।" [आर० ओटो 'द किगडम ऑव गॉड एड द सन ऑव मैन' (१९३८), पृष्ठ १७७]। ओटो इसमें 'विश्व-उत्पत्ति, देवदूतों और अतिप्राकृत जगत् तथा उसके रहस्यों के विषय में तरह-तरह की अटकलें (जिनसे स्पष्ट रूप से पता चल जाता है कि इन विश्वासों के स्रोत ईरान और कलदान हैं)' पाते हैं। (पृष्ठ १७६)। आगे के पृष्ठों में इस आभार को और भी स्पष्टता से व्यक्त किया गया है।

२. *v*, २३। ३ *xlviii*, १०। ४. *xxxviii*, २।
५. *xl*, ५। ६. *xlviii*, ४।

'बुक ऑव एनक' मे पाया जाता है। एनक दृढ विश्वास और प्रामाणिकता के साथ यह कहता है : "इस समय तक परमात्मन् (सभी आत्माओं के प्रभु) ने किसीको भी वह ज्ञान नही दिया जिसको मैंने उसकी असीम कृपा से अपनी अन्तर्दृष्टि के द्वारा प्राप्त किया है।" उसने 'सन ऑव मैन' (मानव-पुत्र) की कल्पना की प्रशंसा की है, क्योंकि वह "मानव-पुत्र न्यायपरायण है, न्यायनिष्ठता उसके ही सहारे टिकी है और वही समस्त गुप्त रहस्यों की अमूल्य निधियों को लोगो के सामने उद्घाटित करता है।" प्रोफेसर ओटो इस बात पर जोर देते हैं कि ऐसे ईश्वर-पुत्र की कल्पना, जो मनुष्य-पुत्र भी हो "निश्चय ही इजरायल से प्राप्त नही है। ' आर्यों मे बहुत प्राचीन काल से एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना की गई है जो सासारिक जीवन बिताता हुआ भी आद्य, अवर्ण्य और अप्रत्यक्ष देवता के अधीन रहता है। ''इसको असदिग्ध रूप से माना जा सकता है कि 'मानव का यह पुत्र' वाक्याश निश्चय ही पूर्वीय आर्यों से प्रभावित है।"[1] "मानव-मुक्ति के लिए मनोनीत ('द इलेक्ट वन') व्यक्ति ही 'मानव-पुत्र' ('द सन ऑव मैन') भी है जिसमे उन लोगो की आत्मा का निवास है जो न्यायपरायण रहते हुए चिरनिद्रा मे सो गए हैं।"[2] जब ये सुप्त आत्माए किसी चिरन्तनता मे जागेंगी, तो वे दिव्य ज्योति से अभिमण्डित होंगी; "तुम्हारे वस्त्र पुराने नही पडेंगे और तुम्हारी कीर्ति का नाश नही होगा।"[3] वस्त्रो का यह रूपक सेंट पॉल के परलोक-शास्त्र मे भी आया है और यह हमे 'शुद्धसत्त्व' के तत्त्व से निर्मित ज्योति-शरीर का, जिसका उल्लेख हिन्दू पौराणिक कथाओ मे आता है, स्मरण करा देता है। "मानव-मुक्ति के लिए मनोनीत व्यक्ति ('द इलेक्ट वन') मेरे सिंहासन पर बैठेगा।"[4] वही है जिसका अभिषेक किया गया है।[5] यहूदियो के मसीहा (मुक्तिदाता) से सम्बन्धित विचार का भी यहा प्रभाव दीखता है। इजरायल और यरूशलम की राजनीतिक सफलताए तथा बिखरे हुए कबीलों का पुनरागमन भी अतीन्द्रिय विश्व-प्रलय की कथा के साथ घुलमिल गए हैं।

स्वय एनक को मानव-पुत्र (सन ऑव मैन) घोषित किया गया है। "उसे आत्मा के रथो पर[6] सवार कराया गया" जहा उसने "धर्माध्यक्षो, पितरो और पुण्यात्माओं को देखा, जो वहा स्मरणातीत समय से रह रहे थे।"[7] "इसके बाद मेरी आत्मा अन्तर्धान हो गई और वह स्वर्ग मे चली गई।" जहा उसने देवदूतो को दिव्य ज्योति के वस्त्रो मे आवेष्टित देखा।[8] वह स्वय एक देवदूत के रूप मे बदल

१. ओटो उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ १८७।

२ "कौन यह सोच सकता है कि इस प्रकार की कोई चीज किसी इजरायली के मन में उपज सकती है? परन्तु आर्यभूमि में यह धारणा वैदिक युग से चलती आ रही है कि मृत्यु के बाद आत्मा अपने इष्टदेवता में प्रविष्ट हो जाती है।" (वही, पृष्ठ १८९)।

३. *lxii*, १४।

४. *li*, ३। ईसा स्वय अपने विषय में भी यही कहते हैं। देखिए, ल्यूक *xxii*, २९।

५. *xlv*, ३, ४।

६. *lxx*, २।

७. तुलना कीजिए पितृलोक-सम्बन्धी हिन्दुओं की धारणा से।

८. "उनकी पोशाकें सफेद थीं और उनके वस्त्र तथा मुखमडल हिम-श्वेत थे।" इसके साथ तुलना कीजिए देवलोक-सम्बन्धी हिन्दू-धारणा की।

दिया गया "और प्रभु ने माइकेल से कहा एनक को ले जाकर इसके पार्थिव वस्त्रो को उतार डालो, अच्छे तैल से इसका अभिषेक (मर्दन) करो और फिर इसे ज्योतिर्मान वस्त्रो से विभूषित करो। मैंने स्वय अपने को देखा और पाया कि मैं भी उन दिव्यात्माओ जैसा ही बन गया हू।" माइकेल एनक को हाथ पकडकर ले जाता है और उसको "दयालुता और न्यायपरायणता के सारे रहस्यो को दिखाता है।" तत्पश्चात् "उस दिव्यात्मा ने एनक को स्वर्गों के भी स्वर्ग मे भेज दिया,"[1] जहा उसने "पुरुष पुरातन (साक्षात् ईश्वर)" के दर्शन किए। पुरुष पुरातन के सिर के केश श्वेत थे और ऊन की तरह शुद्ध थे, उसकी वेशभूषा का तो वर्णन ही कैसे किया जा सकता है!...जब मैंने उसे साष्टाग दण्डवत् प्रणाम किया तब मेरा पूरा शरीर द्रवित होकर बह गया और मेरी आत्मा का रूपान्तरण हो गया। वह मेरे पास आया और उसने मुझसे ये स्नेहसिक्त शब्द कहे—"तुम 'मानव-पुत्र' (सन ऑव मैन) हो।" एनक के ईश्वर के लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, वे वही हैं जिनका प्रयोग उपनिषदो मे किया गया है।[2] 'बुक ऑव एनक' मे बताया गया है कि असीम और अज्ञेय से ही अगणित युग-कल्पो-सहित इस ससीम और ज्ञेय जगत् का उद्भव हुआ है। सृष्टि के उद्भव का यह विवरण ज्ञानवादी है।

बाद मे जाकर ईसा ने जो दावा किया है उसकी तुलना इन शब्दो से की जा सकती है "जो लोग तेरी तरह से चलेंगे—तू, जो न्यायनिष्ठता से कभी विरत नहीं है—उनका निवास और उत्तराधिकार तेरे साथ होगा और वे अनन्त काल तक कभी भी तुझसे अलग नही होंगे।" हमसे अपेक्षा की जाती है कि हम 'उसके' पथ का अनुसरण करें, 'उसको' स्वीकार करें, और 'उसके' व्यक्तिगत अनुयायी बनें, और यदि हम इसमे सफल हो गए, तो हममे से प्रत्येक 'मानव-पुत्र' (सन ऑव मैन) बन सकता है, और अब इसके बाद वह मुख्य उपसहार आता है जिसमे ईश्वर घोषणा करता है "क्योकि मैं और 'मेरा' पुत्र सत्य के मार्ग मे सदैव उनके साथ-साथ चलेंगे।"[3] मानव-पुत्र ईश्वर का पुत्र है। वही हमारा उद्धारक है "वह न्यायपरायण और ईमानदार लोगो का सम्बल बनेगा जिसके सहारे लोग टिके रहेंगे और गिरेंगे नही।

१. आर० ओटो का प्रश्न है : "कहां से आए ये विचार जिनके विषय में न तो पैगम्बरों को और न 'ओल्ड टेस्टामेंट' को ही कुछ ज्ञान था?" फिर उनका ही उत्तर है "आध्यात्मिक उत्थान और वस्त्र उतारने तथा फिर से वस्त्र पहनने का जो रूपक यहां वर्णित है उसका स्पष्टतम सादृश्य हमें भारतीय आर्यों में मिलता है।" (पृष्ठ २०४–५)। हिन्दू-विचारधारा के सम्बन्ध में कुछ विचार करने के उपरान्त वे आगे कहते हैं . "ये सामग्रिया अपने अपेक्षाकृत अधिक आदिम रूप में 'कौषीतकी उपनिषद्' में मिलती हैं, जो कोई बाद के समय की रचना नहीं, वरन् ईस्वी सन् के भी बहुत-बहुत पहले की रचना है। इस बात में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि ऐसी प्राचीन आर्य-धारणाओं से मिलती-जुलती बातें ईरान में भी पाई जाती होंगी। यह भी उतना ही निश्चित है कि वही बातें हमारी 'बुक ऑव एनक' के माध्यम से व्यक्त हुई हैं।" (पृष्ठ २०६)।

२ "उन विशेषणों का वातावरण जो एनक के आदिम इष्ट देवता का वर्णन करते हैं, पूर्णतः भारतीय है।" [आर० ओटो . 'द किंगडम ऑव गॉड एड द सन ऑव मैन' (१९३८), पृष्ठ ३९८]।

३. CV, २।

और वह गैर-यहूदियो (जेण्टिलो) के लिए प्रकाश का काम करेगा तथा 'अशान्तहृदय लोगों के लिए आशा का केन्द्र बनेगा।"[1] वह आदिकाल से ही पूर्वअस्तित्वशील है।[2] सारा ससार ही उसका राज्य है[3] और वही सब प्रकार के निर्णय कर सकता है।[4] जब ईसा मसीह मृत्युपर्यन्त कष्ट-सहन के द्वारा अपनी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि को व्यक्त करते है, तब वह ईश्वरीय राज्य मे प्रवेश करते हैं। वे मानव-पुत्र और ईश्वर-पुत्र हैं। एनक ने भारतीय परम्परा का ही उदाहरण रखा है और ईसा ने उसको जारी रखा है।

ईश्वर और उसका पुत्र उन लोगो से निजी मैत्री स्थापित करते हैं जो सत्य और न्यायनिष्ठता के मार्ग पर चलते हैं। परलोक मे निवास करनेवाली आत्माए तीन क्षेत्रो मे बटी हुई हैं।[5] पहला क्षेत्र न्यायनिष्ठ आत्माओ के लिए बना है, दूसरा क्षेत्र "उन पापियो के लिए है जो मर गए होते हैं और पृथ्वी मे दफना दिए गए होते हैं तथा जिनके जीवन-काल मे उनके कर्मों का निर्णय नही किया गया होता" और अतिम क्षेत्र "उन लोगो की आत्माओ के लिए है ··जो पापियो की चलती के दिनो मे वध कर दिए गए थे। वहा से उनका उत्कर्ष नही होगा।" हर आत्मा पृथ्वी पर जिस प्रकार के चरित्र वाली होती है, उसीके अनुसार उसके प्रारब्ध का निर्धारण किया जाता है। यद्यपि अमरता तो केवल न्यायनिष्ठ यहूदियो के लिए सुरक्षित रहती है, तथापि कभी-कभी यह सभी मनुष्यो को भी दे दी जाती है। इस सिद्धान्त ने और मृत्यूपरान्त पुरस्कार एव दण्ड देने के नियम ने 'न्यू टेस्टामेट' के लेखको को काफी प्रभावित किया है। सम्भव है कि प्रभु के नैश-भोजन (Lord's Supper) का आयोजन करने के ईसा के मसीही कार्य को इन शब्दो से प्रेरणा मिली होगी · "आत्माओ का स्वामी उनके ऊपर रहेगा और वे उस मानव-पुत्र के साथ भोजन करेंगे, लेट जाएगे तथा उठ खडे होंगे, और ऐसा वे अनन्त काल तक करेंगे।"[6]

ईसाई-धर्म का प्रणयन किसने किया, इस सम्बन्ध में लोगो के भिन्न-भिन्न विचार हैं। कुछ विचार ये हैं (१) ईसा ईश्वर का पुत्र था जो स्वर्ग से धरती पर अवतरित हुआ था, उसने अपना निर्धारित कार्य किया और इसके अनन्तर उसने अवकाश ले लिया। (२) वह धर्मान्ध था जिसका प्रभावशाली विचार विनाशकारी अन्तिम दिन और निर्णय के समय से पूर्व होने से सम्बन्धित था।[7] (३) वह एक महान नैतिक उपदेष्टा था जो अन्य व्यक्तियो की तरह ही इस ससार मे आया और उसी प्रकार ईश्वर का पुत्र बन गया जिस प्रकार हम लोग ईश्वर के पुत्र बन जाते हैं। अपने आश्चर्यचकित कर देनेवाले व्यक्तित्व के बावजूद वह हममे से एक था।[8]

१ *xlviii*, ४। आर० एच० चार्ल्स (१९१७), पृष्ठ ६६।

२ *xlviii*, ०। "मानव-पुत्र इसके पूर्व छिपा हुआ था और सर्वोच्च सत्ता ने उसे अपनी शक्ति के आगे रखा" (*lxii*, ६)। कदाचित् वह इस अर्थ में पूर्वअस्तित्वशील था कि उसपर ईश्वर की सबसे पहले दृष्टि गई और उसे चुन लिया गया। ३. *lxii*, ६।

४ *lxix*, २७। ५ *xxii*, ९–१३। ६. *lxii*, १४।

७. और भी देखिए इस पुस्तक का परिशिष्ट टिप्पणी सं० ४,५,६ और ७।

८. वही।

(४) वह अन्यो की तरह ही एक पैगम्बर था।[1] (५) कुछ लोग तो इस बात से ही इन्कार करते हैं कि उसका अस्तित्व भी कभी था।[2]

ईसा मसीह लिखित रूप मे कुछ भी नही छोड गए थे। उनकी मृत्यु के कुछ वर्ष बाद, उनके शिष्यो का यह विश्वास बन गया कि लोगो के पाप-पुण्य का फैसला करनेवाले न्यायाधीश के रूप मे उनका (ईसा का) लौटना और इस युग की परि-समाप्ति सन्निकट है। पहली शती ईस्वी के अन्त तक लोगो को यह आशा बनी हुई थी।[3] ईसा के जीवन और उनकी शिक्षाओ का विश्वसनीय विवरण तैयार करने की आवश्यकता लोगो को कही दूसरी पीढ़ी मे जाकर अनुभव हुई, और यह मानना कठिन लगता है कि बाइबल के लेखको ने जो विवरण तैयार किया, वह ऐतिहासिक दृष्टि से सही ही है। उन्होंने जनश्रुति से प्राप्त कथाओ एव विवरणो को सकलित कर दिया, परन्तु एक मुह से दूसरे मुह तक जाते-जाते इन विवरणो मे परिवर्द्धन और परिवर्तन हो गए थे। खीष्टीय इजीलो मे समानता क्यो है, इसका कारण यह लगता है कि मैथ्यू और ल्यूक ने मार्क और एक अन्य स्रोत, जिसको 'क्यू' कहा जाता है और जो अब लुप्त हो गया है, का उपयोग किया था। " 'न्यू टेस्टामेट कैनन' का उद्भव एक लम्बी विकास-परम्परा का परिणाम है। इस विकास के सबसे महत्त्वपूर्ण सोपान द्वितीय शताब्दी मे पडते हैं, हालाकि यह पाचवी शताब्दी मे या कदाचित् उससे भी बहुत बाद मे सरचित हुआ।"[4] आलोचना के उस सम्प्रदाय का जिसे रूपालोचना (फॉर्म क्रिटिसिज्म) के नाम से जाना जाता है, तर्क यह है कि बाइबल-लेखक ईसाई-धर्म-प्रचारको ने ईसा का जो विवरण हमको दिया है, वह ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्णत: विश्वसनीय नही है। प्रारम्भिक ईसाई समाजो की उपासना-सम्बन्धी आवश्यकताओ और आध्यात्मिक अनुभवो के अनुसार इनको तोडा-मरोडा गया है। वे ईसाई-धर्म-सस्था (चर्च) की आस्थाओ के विषय मे अधिक बातें बतलाते हैं, और ईसा मसीह ने वास्तव मे क्या कहा और किया, इसके विषय मे कम। इजील के धर्मोपदेशो मे हम ऐतिहासिक तथ्य उतने नही पाते जितनी कि भक्तो एव श्रद्धालुओं की कल्पनाए तथा भावनाए।[5] ऑरिगेन बाइबल-लेखक धर्माचार्यों द्वारा अपनाए गए तरीको से

१, २. वही। ३. २ पीटर *iii*, ३–९।

४. मार्टिन डिबेलियस . 'ए फ्रेश एप्रोच टु द न्यू टेस्टामेंट एण्ड अर्ली क्रिश्चियन लिटरेचर', अंग्रेजी अनुवाद (१९३६), पृष्ठ २०; आर० एच० लाइटफुट कृत 'हिस्ट्री एण्ड इंटरप्रिटेशन इन द गॉस्पेल्स' (१९३५), पृष्ठ १; और भी देखिए : इस पुस्तक का परिशिष्ट, टिप्पणी ८।

५. तुलना कीजिए "तो, ऐसा लगता है कि स्वर्गिक ईसा के समान ही पार्थिव ईसा के रूप का अधिकांश भाग हमसे छिपा हुआ है, उससे रचमात्र भी इसमें कमी नहीं है। मत्ती और मर्कुस आदि द्वारा लिपिबद्ध ईसा के जीवनचरित का चाहे जितना अकल्पनीय महत्त्व हो, परन्तु उसमें हमें ईसा की फुसफुसाहट से कुछ ही अधिक वाणी सुनाई देती है। उसमें हमें उनकी जीवन-विधि की केवल बाहरी बातें ही ज्ञात होती हैं। जब हम उन्हें इस दुनिया से बाहर स्वर्ग में उनके पूर्ण रूप में देखेंगे तभी हम सही-सही जान सकेंगे कि मनुष्य-रूप में ईसा सचमुच क्या थे। कदाचित् हम इस विषय पर जितना ही अधिक विचार करते हैं, उतना ही अधिक हम इसके कारण को स्पष्टत: समझ सकेंगे और इसको अन्यथा रूप में नहीं लेंगे। क्योंकि, सम्भवत: इस समय हम न तो उनके

मिलती-जुलती बातें बतलाता है। उसका कथन है: उनका उद्देश्य था कि "जहा सम्भव हो, वहा सत्य को उसके आध्यात्मिक या पार्थिव रूप मे तुरन्त प्रकट किया जाए, परन्तु जहा यह सम्भव न हो, वहा पार्थिव की अपेक्षा आध्यात्मिक सत्य को तरजीह दी जाए। कोई चाहे तो ऐसा कह सकता है कि सच्चा आध्यात्मिक अर्थ पार्थिव असत्य के भीतर सुरक्षित रहता है।"[1] ईसाई-धर्म-सम्बन्धी उपदेशो (सिनॉप्टिक गॉस्पेल्स) मे ऐसी समस्याओ पर विचार किया गया है जिनका हमारे लिए कोई अर्थ नही रह गया है। विद्वान व्यक्ति यह कहने मे नही चूकते कि "सिनॉप्टिक गॉस्पेल इस हद तक यहूदी पुस्तकें हैं, इस तरह उनमे मूलत प्रथम शताब्दी के जूडावाद से सम्बन्धित समस्याए भरी पडी हैं, कि उनके अधिकाश भागो को हम विश्व-धर्म की पुस्तको के रूप मे प्रयोग नही कर सकते।"[2] यह स्पष्ट है कि इजील को ऐतिहासिक अभिलेख के रूप मे स्वीकार करने मे हमे बहुत सतर्क रहना है। यदि वे उत्कट श्रद्धा की उपज भी हो, तो भी उन पवित्र कल्पनाओ का कोई ऐतिहासिक केन्द्रबिन्दु अवश्य होना चाहिए, शायद यह धारणा भी रही हो कि जो लोग ईसा के साथ रहते थे वे यह अनुभव करते थे कि उनका अपने से एक बहुत श्रेष्ठ व्यक्ति के साथ सम्पर्क है, अत उन्हे भी दैवी सम्मान मिलना चाहिए। ईसा का अनूठापन किस बात मे है ?

जो स्वप्न ईसा के देशवासियो के मस्तिष्क मे पीढियो से मडराते रहे थे, उनको ईसा ने रूप तथा आशय प्रदान किया, परन्तु इस कार्य मे वे उन गैर-यहूदी विचारधाराओ और महत्त्वाकाक्षाओ से बहुत प्रभावित हुए जो उनके समय मे उनके चतुर्दिक् के वातावरण मे प्रचलित थी।[3] भावी प्रलय के समय ईश्वर-प्रदत्त निर्णय, नवयुग, अपने पार्थिव जीवन की समाप्ति के अनन्तर ईश्वर के पास भेज दिए जाने-वाले 'मानव-पुत्र, दु खभागी सेवक', पार्थिव राज्य की निरर्थकता, आत्मालोचन एव अनुशासन की आवश्यकता, प्रेम और प्रतिरोध आदि से सम्बन्धित सारे जटिल और गूढ विचार उन दिनो वायुमण्डल मे व्याप्त थे, ईसा के जीवन और कार्यो मे उन परम्परागत यहूदी धारणाओ का, जिनको ईसा ने अपने पूर्ववर्तियो से प्राप्त किया था, तथा उन नये आध्यात्मिक दृष्टिकोणो का, जिनको उन्होने खुद प्रतिपादित किया, सघर्ष हमको मिलता है। एक समय तो पहली प्रवृत्ति हावी रही, परन्तु अन्त के दिनो मे दूसरी प्रवृत्ति का प्रभाव रहा।

पार्थिव जीवन को सही-सही समझने की स्थिति में हैं, न उनके स्वर्गिक जीवन को। (आर० एच० लाइटफुट, उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ २२५)।

१. 'कमेण्टरी ऑन सेंट जॉन्स गॉस्पेल', x, ४।

२ एफ० सी० बर्किट, 'द अर्लिएस्ट सोर्सेज ऑव द लाइफ ऑव जीसस' (१९१०), पृष्ठ ३०।

३. 'न्यू टेस्टामेंट' में ईसा की केवल तेरह वर्ष की आयु तक की कहानी दी हुई है और उसके बाद के सत्रह वर्षों के विषय में, जब वे जॉन द बैप्टिस्ट के उपदेश-स्थल पर प्रकट हुए, उसमें कुछ भी नहीं कहा गया है। ऐसी पुराण-कथाए प्रचलित हैं कि उस अवधि में वे पूर्वीय देशों की यात्रा पर गए थे, परन्तु इसके लिए कोई ऐतिहासिक साक्ष्य नहीं है। देखिए. इंटेल, 'थ्री लेक्चर्स ऑन बुद्धिज़्म' (१८८४), पृष्ठ १४, जैकोलियट, 'द बाइबल इन इण्डिया' (१८७०), पृष्ठ २८९।

यदि हम ईश्वरीय राज्य-सम्बन्धी धारणाओ को ही लें, तो हम पाएगे कि हिन्दू, बौद्ध और पारसी धर्मानुयायियो (ज़ोरास्ट्रियन) की मान्यता यह थी कि ईश्वरीय राज्य को और पार्थिव स्वर्ग को एक ही नही समझना चाहिए, बल्कि वह एक ऐसा जीवन है जो इस ससार मे नही मिलता। हिब्रू लोगो का विचार था कि मनुष्य को अपने इसी जीवन की अवधि मे ईश्वरीय राज्य को पाने और देखने की आशा करनी चाहिए। यहूदी जीवन पर तीव्र राष्ट्रवाद का बडा प्रभाव था, उनका अद्वैतवादी मत राष्ट्र-राज्य का ही सहायक विचार था। उन्होंने इसका उपयोग विदेशी साम्राज्यवादियो से अपनी रक्षा करने मे किया। उन्होंने विश्व को विपत्तिपूर्ण ही देखा, उनकी दृष्टि मे इतिहास एक के बाद एक आनेवाले सकटो की शृखला है, आधिदैविक हस्तक्षेपो की एक परम्परा है। वे एक ऐसे अतिम महाप्रलय की आस लगाए बैठे थे जो उनको—ईश्वर के चहेतो को—उनके उचित स्थान पर पहुचा देगा। वह अतिम घटना ससार के इतिहास का पटाक्षेप कर देगी और एक नये युग तथा एक नये समाज का उद्‌घाटन करेगी जिसमे इज़रायल सर्वशक्तिमान् हो जाएगा और उसके शत्रुओ का कही नाम-निशान भी नही मिलेगा।

ईसा के जीवन मे एक ऐसा भी समय आया था जब यह मसीही धारणा बहुत प्रबल थी। कुछ लोग तो सोचते हैं कि ईसा के जीवन की एकमात्र प्रेरणा यही धारणा थी। उनके विचार मे ईसाइयत रोमन साम्राज्य और उसके जर्जर समर्थको—यहूदी पुरोहित वर्ग के विरुद्ध राजनीतिक क्रान्ति का एक आन्दोलन थी। जब ईसा जल्दी ही आनेवाली तबाही की बात करते हैं, तब वे किसी आध्यात्मिक परिवर्तन की बात नही कहते। उनको यह पता नही कि 'मनुष्य का बेटा' कब आएगा : केवल वह परमपिता ही इस बात को जानता है। वे ऐसा मानते से लगते हैं कि कुछ समय का मध्यान्तर मिलेगा, वे रोमन साम्राज्य के साथ युद्ध होने का अनुमान करते हैं। वे 'टेम्पल' के प्रसंग मे कहते हैं कि वे दिन आ रहे हैं जब दुनिया का एक भी पत्थर दूसरे पत्थर पर टिका नही रह पाएगा—सब उथल-पुथल हो जाएगा। अपने जीवन-काल मे एक बार उन्होंने केवल यहूदियो को सन्देश देते हुए कहा था "जेन्तिलो (काफिरो) के रास्ते पर मत चलो और समरितनो के किसी भी नगर मे मत जाओ ; इसके बजाय इज़रायल के कुल की खोई हुई भेड के पास जाओ।" "जब तक 'मनुष्य का बेटा' न अवतरित हो जाए तब तक तुम्हे इज़रायल के नगरो मे नही जाना चाहिए।" "मैं इज़रायल के कुल की खोई हुई भेड के पास जाने के लिए ही आया हू।"[१] इन उक्तियो से स्पष्ट पता चल जाता है कि ईसा की शिक्षाए मुख्यत यहूदी-प्रकृति की थी। ईसा का काम था चुने हुए लोगो को सन्निकट ईश्वरीय राज्य के उपयुक्त बनाना। ईश्वर ने ईसा को इस बात के लिए नियुक्त किया था कि वह उनको अपना कर्तव्य करने के ईश्वरीय निर्देशो की सूचना दे दें। जॉन द बैप्टिस्ट से बपतिस्मा प्राप्त करने के बाद जब ईसा ने यह घोषणा की कि "स्वर्ग का राज्य पास आ गया है, (अपने पापो के लिए) पश्चात्ताप करो," तब

१. मैथ्यू, x, ५–६, २३ ; xv, २४।

उनके यहूदी श्रोताश्रो ने उसका यह अर्थ लगाया कि विनाश की वह महान् घडी अब समीप आ गई है जब ईश्वर की ओर से मनुष्यो को मोक्ष दिलाने के लिए नियुक्त व्यक्ति (द इलेक्ट) की ओर से मसीह मध्यस्थ बनेंगे । ईसा के शिष्यो को सन्देह हुआ कि कही उनके गुरु ईसा ही तो वह मसीह नही हैं। "यही वह पैगम्बर है जिसे धराधाम पर अवतरित होना चाहिए ।"[1] कुछ दूसरे लोगो की यह इच्छा थी कि ईसा को 'राजा' के रूप मे कार्य करने के लिए वाध्य किया जाए। जब ईसा ने स्वय को मसीह घोपित कर दिया तब लोगो की भीड ने इस घोषणा के क्रान्तिकारी महत्त्व को समझा और वडे उत्साह से ईसा मसीह का स्वागत किया । जब ईसा यरूशलम मे प्रविष्ट हुए, तब उनको अपने अनुयायियो की ओर से अभ्यर्थना और श्रद्धाजलि प्राप्त हुई। "होसन्ना, वह व्यक्ति स्वर्गीय है जो प्रभु (ईश्वर) की ओर से (उसका प्रतिनिधि बनकर) आता है। जो 'राज्य'—हमारे पिता डेविड का 'राज्य'—आ रहा है वह भी स्वर्गीय है।"[2] उस 'राज्य' के 'राजा' ईसा होगे। इस तात्पर्य का समर्थन बाइबल के कई अशो से होता है । "यहा पर कुछ लोग ऐसे भी खडे हैं जो तब तक मृत्यु का स्वाद नही लेंगे जब तक वे स्वर्गिक राज्य को अपनी पूरी वास्तविकता मे देख नही लेते।" और भी "जब तक ये सारी चीजें पूरी नही कर दी जाती, तब तक लोगो की यह पीढी इस दुनिया से नही जाएगी।" सम्भव है कि ईस्वी सन् ३० के आसपास ईसा ने अपने कुछ पट्टशिष्यो के साथ यरूशलम की ओर कूच किया हो, वहा के मन्दिर (टेम्पल) को अपने कब्जे मे कर लिया हो और वहा रहनेवालो को बलपूर्वक भगा दिया हो । उनके इस तूफानी प्रवेश ने रोमन सरकार के कान खडे कर दिए, उसको उनके प्रति शका हो गई और यह मान लिया गया कि मन्दिर से अपने विरोधियो को भगा देने का उनका काम एक प्रकार से राज्याधिकारियों के अधिकार पर आघात है। इसके वाद जब ईसा का यरूशलम नगर पर से कब्ज़ा उखड गया और वह अपने अनुयायियो-सहित जैतूनो वाले पहाड ('माउण्ट ऑव ऑलिव्ज़') पर चले गए, तब जूडाई लोगो के द्वारा सूचना पाकर एक सशस्त्र सेना ने उन्हें घेर लिया। रोमन सरकार ने उनका जो विरोध किया, उसका कारण धार्मिक नही हो सकता। उस समय और भी वहुत-से धार्मिक सम्प्रदाय थे जिनकी कार्य-विधि रहस्यात्मक थी और जो दीक्षा-सस्कार मे भी विश्वास करते थे, परन्तु रोम सरकार कभी उनके पीछे हाथ धोकर नही पडी, कभी उन्हे कष्ट नही पहुचाया , हालाकि उनमे से प्रत्येक सम्प्रदाय यही दावा करता था कि सत्य का दर्शन तो वस उसीने किया है और वही दूसरो को उसका दर्शन कराने का एकाधिकारी है, यही नही उनके अधिकारियो ने तो उन सत्यो का प्रचार सारे ससार मे करने के लिए विदेशी देशो मे अपनी ओर से मिशनरी भी भेजे थे। असल मे वात कुछ और थी। हुआ यह कि जो जनता रोमन राज्य-सत्ता के छिन्न-भिन्न होने की आशा लगाए बैठी थी और ईश्वर के राज्य की स्थापना की प्रतीक्षा कर रही थी, वह ईसा द्वारा दिलाई मसीह-सम्बन्धी आशाओ और उनके क्रान्तिकारी सन्देशो से अत्यधिक उत्तेजित हो उठी । रोमन सरकार ने

१ जॉन, *vi*, १४ ।   २. मार्क, *IX*, १ ।

समझा कि ईसा जनता को उसके विरुद्ध भडका रहे हैं, इसलिए उसने उनपर राजनीतिक विप्लवी, शान्ति भग करनेवाला खतरनाक आदमी, साम्राज्यद्रोही होने का अभियोग लगाया और उनपर मुकदमा चलाया। काजी ने उनसे अदालत मे प्रश्न किया था . "क्या तू यहूदियो का राजा है ?" ईसा ने उत्तर दिया था ' "यह तो तू कहता है ।" ईसा को जो मृत्युदण्ड दिया गया, वह केवल विद्रोहियो और देशद्रोहियो को ही दिया जाता था।

यहूदी सर्वोच्च न्यायालय के सामने ईसा ने 'मनुष्य का वेटा' होने की धारणा को स्वीकार कर लिया था। उनके जीवन में एक समय ऐसा आ गया था जब उनको यह स्पष्ट हो गया था कि उनको मार डालने की चेष्टा की जाएगी। उन्होंने अपने इस अधिकार का दावा किया था कि मैं परम्परा का विचार न करते हुए भी कानून की व्याख्या कर सकता हू। उन्होने अपने ही अधिकार से कुछ लोगो को सप्तम दिवसीय यहूदी धार्मिक विश्राम (सैवेथ) से बरी कर दिया था। उन्होने कहना आरम्भ किया था कि जीवन के सामान्य कर्तव्यो को पालन करने की अपेक्षा मेरी शिक्षाओ के अनुसार चलना अधिक महत्त्वपूर्ण है।[1] ईसा का यह दावा कि कानून की वह व्याख्या कर सकते हैं, फारसी रूढिपथियो की दृष्टि मे एक आपत्तिजनक बात थी, क्योकि वे तो परम्परागत व्याख्याओ को ही महत्त्व देते आए थे। सदूसी धर्म-मत के रूढिपथी यहूदियो को भी, जो कानून के एक-एक शब्द को पवित्र मानते थे और लकीर के फकीर थे, ईसा का यह रवैया अच्छा नही लगा। इस परिस्थिति से ईसा को यह लगा कि उनकी मृत्यु शक्ति से स्वर्गिक राज्य स्थापित करने की ईश्वरीय योजना का ही एक अग है। "क्योकि वस्तुत. 'मनुष्य का वेटा' सेवा कराने नही, बल्कि सेवा करने के लिए आया है ; इसलिए आया है कि वह कइयो की मुक्ति के बदले मे अपना जीवन न्योछावर कर सके।"[2] सामान्यत' इज़रायल की 'निष्कृति' का कार्य 'मसीह' के सुपुर्द था। यह ठीक हो सकता है कि ईसा को यह आशा थी कि अपनी मृत्यु के अनन्तर वे कीर्ति के बादलो मे प्रकट होगे, पाप की शक्तियो का उन्मूलन हो जाएगा और ईश्वर के द्वारा ससार का न्याय किया जाएगा। "तू मनुष्य के वेटे को दिव्य सत्ता के दक्षिण पार्श्व मे बैठा देखेगा।"[3] ईसा का विश्वास था कि उनके पहले जो भविष्यवाणिया की गई थी, वे उन्हीके द्वारा चरितार्थ होगी। एक नये 'राज्य' के उद्घाटनकर्ता के रूप मे उनके भीतर धर्म-प्रचार की चेतना थी, और वे उसकी विजयिनी शक्ति का स्वय को एक साधन अनुभव करते थे। इस चेतना ने 'मसीह' का— 'मनुष्य का वेटा'—दूसरो के लिए कष्ट पानेवाले सेवक का रूप ले लिया। इस

१. मैथ्यू, VIII, २१; ल्यूक, IX, ५६।

२. मार्क, X, ४५। 'विगिनिंग्स ऑव क्रिश्चियैनिटी' के सपादकों (प्रोफेसर जैक्सन और लेक) को तो इस बात में भी सन्देह है कि आया ईसा अपने को 'मसीह' प्रभु (लार्ड) और यहा तक कि 'मनुष्य का वेटा' (सन ऑव मैन) जैसी उपाधियों से विभूषित किया जाना पसन्द भी करते थे या नहीं। (खण्ड १, पृष्ठ २८५—९४)।

३. मार्क, XIV, ६२।

सम्बन्ध मे कुछ निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता कि ईसा को प्रारम्भ से ही यह पता था कि उनका कष्ट-सहन एक दिन मृत्युदण्ड भुगतने के रूप मे सामने आएगा। सम्भवतया उनको यह ज्ञान बाद मे, राजनीतिक उद्देश्य के असफल हो जाने पर, हुआ।[1] उनके जीवन मे जब आपत्काल उपस्थित हुआ तभी उनको उस दूसरी परम्परा का ध्यान आया कि 'मनुष्य के बेटे' को कष्ट-सहन करना ही चाहिए, अपने को दूसरे लोगो के हाथो मे सौंप देना चाहिए, ताकि वे चाहें तो उसको प्राणदण्ड तक दे सकें। जब ईसा ने अपने शिष्यो से पहली बार यह कहा कि मुझे कष्ट-सहन करना ही चाहिए, तब पीटर ने उन्हे झिडकते हुए कहा था "प्रभु, आपसे यह चीज़ कोसो दूर रहे आपको कष्ट नही भुगतने पडेंगे।" ईसा ने बडे कडे शब्दो मे पीटर की भर्त्सना की "ओ शैतान, तू बस मेरे पीछे रह।"[2] ईसा पहले अपनी शिक्षाओ मे जिन बातो पर बल देते थे, उनकी जगह अब कुछ दूसरी बातो पर बल देने लगे—उनकी शिक्षाओ मे यह जो बलाघात-परिवर्तन हुआ, उसकी स्पष्ट सूचना हमे इजील की परम्परा से मिल जाती है, और इस नई बात ने उनके सन्देश के महत्त्व को और भी बढा दिया। कष्ट-सहन और शहादत की मध्यस्थीय एव प्रायश्चित्तिक शक्ति पर सभी धर्मों मे ज़ोर दिया गया है। जूडावाद मे हम देखते हैं कि मूसा और डेविड इज़रायल के लिए अपने प्राणो का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत है। जोनाह, एलिजाह और मैकब के समय के शहीदो के जीवन इस बात के दृष्टान्त हैं। यदि 'मनुष्य के बेटे' को अपना कार्य करना है, तो उसे ईश्वर का मुमुक्षु कष्टसहिष्णु सेवक होना चाहिए। अपने भाग्य को देखते हुए ईसा को यह धारणा आन्तरिक दृष्टि से अपने मनोनुकूल जान पडी। जब ईसा को यह अनुभूति हो गई तब उनको निश्चय हो गया कि अपनी मृत्यु के द्वारा वे ईश्वर के समीप पहुचने का गौरव प्राप्त कर सकेंगे।

ईसा का प्रयोजन ईश्वर का ही प्रयोजन है। अपने घरबार और सम्पत्ति की मोहमाया त्यागकर ईसा के प्रति तत्काल और पूर्ण आसक्ति रखना सच्ची ईश्वर-पूजा है। एनक की शैली मे ईसा कहते हैं "जो भी व्यक्ति मुझे औरो के सामने अगीकार करेगा, उसको 'मनुष्य का बेटा' ईश्वर के देवदूतो के सामने अगीकार करेगा।"[3] रहस्यवादियो से कहा जाता है कि उनका ईश्वर-ज्ञान अपने-आपमे अनूठा और अतुलनीय है।[4] मेरे 'पिता' की सारी वस्तुए मुझे दी गई हैं। केवल 'पिता'

१. ईसा को अपने उस प्रारब्ध की तो पहले से ही कल्पना हो गई थी जिसकी ओर उनके कार्य उनको ले जा रहे थे, ऐसी दशा में यह सदेहास्पद है कि उन्होंने क्रॉस की पीड़ा को स्वेच्छया स्वीकार किया। यदि ईसा इस विश्वास के साथ यरूशलम गए होते कि उनको मृत्युदड मिलेगा और उसके बाद वे पुन जीवित होंगे, तो उनके शिष्यों ने उतनी हाय-तोबा न मचाई होती और क्रॉस पर चढते समय उतना आर्तनाद न किया गया होता, इससे यह प्रकट है कि क्रॉस पर मृत्युदड देनेवाला निर्णय स्वय उनके लिए भी एक भयावह आश्चर्य रहा। एम० ल्वायज़ी का विचार है कि यरूशलम की यात्रा ईसा ने इस आशा में की थी कि उनके वहा पहुचने पर वर्तमान ससार के विध्वस के रूप में दैवी हस्तक्षेप हो जाएगा।

२. मैथ्यू, *xvi*, २१–३।

३. ल्यूक, *xii*, ८।

४. एनक, *xxxvii*, ४।

समझा कि ईसा जनता को उसके विरुद्ध भडका रहे हैं, इसलिए उसने उनपर राजनीतिक विप्लवी, शान्ति भग करनेवाला खतरनाक आदमी, साम्राज्यद्रोही होने का अभियोग लगाया और उनपर मुकदमा चलाया। काज़ी ने उनसे अदालत मे प्रश्न किया था "क्या तू यहूदियो का राजा है ?" ईसा ने उत्तर दिया था : "यह तो तू कहता है ।" ईसा को जो मृत्युदण्ड दिया गया, वह केवल विद्रोहियो और देशद्रोहियो को ही दिया जाता था।

यहूदी सर्वोच्च न्यायालय के सामने ईसा ने 'मनुष्य का वेटा' होने की धारणा को स्वीकार कर लिया था। उनके जीवन मे एक समय ऐसा आ गया था जव उनको यह स्पष्ट हो गया था कि उनको मार डालने की चेष्टा की जाएगी । उन्होंने अपने इस अधिकार का दावा किया था कि मैं परम्परा का विचार न करते हुए भी कानून की व्याख्या कर सकता हू। उन्होने अपने ही अधिकार से कुछ लोगो को सप्तम दिवसीय यहूदी धार्मिक विश्राम (सँवेथ) से बरी कर दिया था। उन्होंने कहना आरम्भ किया था कि जीवन के सामान्य कर्तव्यो को पालन करने की अपेक्षा मेरी शिक्षाओ के अनुसार चलना अधिक महत्त्वपूर्ण है।[1] ईसा का यह दावा कि कानून की वह व्याख्या कर सकते हैं, फारसी रूढिपथियो की दृष्टि मे एक आपत्तिजनक बात थी, क्योकि वे तो परम्परागत व्याख्याओ को ही महत्त्व देते आए थे । सदूसी धर्म-मत के रूढिपथी यहूदियो को भी, जो कानून के एक-एक शब्द को पवित्र मानते थे और लकीर के फकीर थे, ईसा का यह रवैया अच्छा नही लगा । इस परिस्थिति से ईसा को यह लगा कि उनकी मृत्यु शक्ति से स्वर्गिक राज्य स्थापित करने की ईश्वरीय योजना का ही एक अग है। "क्योकि वस्तुत 'मनुष्य का वेटा' सेवा कराने नही, वल्कि सेवा करने के लिए आया है ; इसलिए आया है कि वह कइयो की मुक्ति के बदले मे अपना जीवन न्योछावर कर सके।"[2] सामान्यत इज़रायल की 'निष्कृति' का कार्य 'मसीह' के सुपुर्द था । यह ठीक हो सकता है कि ईसा को यह आशा थी कि अपनी मृत्यु के अनन्तर वे कीर्ति के वादलो मे प्रकट होगे, पाप की शक्तियो का उन्मूलन हो जाएगा और ईश्वर के द्वारा ससार का न्याय किया जाएगा। "तू मनुष्य के वेटे को दिव्य सत्ता के दक्षिण पार्श्व मे वैठा देखेगा।"[3] ईसा का विश्वास था कि उनके पहले जो भविष्यवाणिया की गई थी, वे उन्हीके द्वारा चरितार्थ होगी। एक नये 'राज्य' के उद्घाटनकर्ता के रूप मे उनके भीतर धर्म-प्रचार की चेतना थी, और वे उसकी विजयिनी शक्ति का स्वय को एक साधन अनुभव करते थे। इस चेतना ने 'मसीह' का— 'मनुष्य का वेटा'—दूसरो के लिए कष्ट पानेवाले सेवक का रूप ले लिया । इस

१. मैथ्यू, VIII, २१; ल्यूक, IX, ५६ ।

२. मार्क, X, ४५ । 'विगिनिंग्स ऑव क्रिश्चियैनिटी' के सपादकों (प्रोफेसर जैक्सन और लेक) को तो इस वात में भी सन्देह है कि आया ईसा अपने को 'मसीह' प्रभु (लार्ट) और यहा तक कि 'मनुष्य का वेटा' (सन ऑव मैन) जैसी उपाधियों से विभूपित किया जाना पसन्द भी करते थे या नहीं। (खण्ड १, पृष्ठ २८५–६४)।

३. मार्क, XIV, ६२ ।

लोगो के लिए जो चीजें तैयार की हैं, उनको न तो आखो ने कभी देखा है, न कानो ने कभी सुना है, क्योकि दोनो मे से कोई भी मनुष्य के हृदय मे प्रवेश नही पा सके हैं" मे भी उसकी अनुगूज मिलती है। ये निषेध और विरोध एक ऐसे ससार की वास्तविकता को सूचित करते हैं जो धरातल के हमारे परिचित ससार से भिन्न हैं। उस ससार को प्राप्त करने के लिए हमारा पुनर्जन्म होना आवश्यक है, हमको 'स्वर्गस्थ देवदूतो' के समान वनना ही है। अपने अस्तित्व के पार्थिव रूप मे हमारा स्वर्गिक राज्य मे जन्म लेना सम्भव नही है। यह एक अद्भुत नई सृष्टि है। यह शाश्वत स्वर्ग है जो पार्थिव प्रक्रिया की चरम परिणति है। हम इसका वर्णन केवल अपनी परिचित शब्दावलि और भावनाओ के द्वारा ही कर सकते हैं, क्योकि हम अभी तक ससार मे और ससार के हैं। यही कारण है कि हम सिंहासनो पर वैठने, दावतो के मज़े उडाने और देवदूतो की भाति रहने की बात करते हैं। हम हर समय इस वात से अवगत रहते हैं कि आनेवाले स्वर्गिक राज्य के सही स्वरूप को प्रकट करने के लिए हमारे कल्पना-प्रसूत चित्र अपर्याप्त हैं, क्योकि स्वर्गिक राज्य हमारे पार्थिव अस्तित्व का एक सशोधित रूप-मात्र नही है, वरन् इसका पूर्ण रूपान्तरण है। परन्तु, ईसा के यहूदी श्रोताओ ने उनके प्रतीकात्मक वर्णनो से यही अर्थ निकाला कि ईसा मसीही आशा की ओर सकेत कर रहे हैं। स्वर्गिक राज्य का अवतरण प्रज्वलित विद्युत्, 'मनुष्य के वेटे,' उसके देवदूतो और उसके निर्णय के आविर्भाव के साथ होने को था। सर्वप्रथम इसका श्रीगणेश यरूशलम मे होता, वहा से यह सारे ससार मे अपना विस्तार कर लेता। जेवेडी के पुत्र नये 'राज्य' मे सर्वोत्तम स्थानो की माग करते हैं। यहूदियो का प्रधान उद्देश्य था ईश्वर के आसन्न कोप से अपनी रक्षा करना। उनकी सारी आशाए और प्रार्थनाए केवल इस निमित्त थी कि जव कभी स्वर्गिक राज्य पृथ्वी पर आवे तव उसमे उनको भी स्थान मिले। जो लोग मर चुके हैं, उनके इस नये 'राज्य' का भागीदार वनने का एक ही रास्ता है प्रलय के दिन मृतोत्थान (रिज़रेक्शन)। परन्तु रहस्यवादी इस वात से आश्वस्त रहता है कि उसने इसी पार्थिव जगत् मे रहते हुए सुरक्षा और स्वतत्रता प्राप्त कर ली है। यदि शाश्वत जीवन की उपलब्धि इसी जन्म और इसी ससार मे की जा सकती है, तो मृतोत्थान की आवश्यकता ही क्या रहती है? प्रोफेसर रुडॉल्फ ओटो ने अपने अन्तिम ग्रथ मे कहा है "स्वर्गिक राज्य-सम्वन्धी ईसा के उपदेशो मे ऐसे तत्त्व हैं जिनका मूलस्रोत निश्चय ही फिलस्तीन नही हो सकता, उनका सम्वन्ध निश्चित रूप से आर्य और ईरानी पूर्व से होना चाहिए।"[1] जवकि स्वर्गिक राज्य की मसीही धारणा फिलस्तीन-परम्परा से सम्वन्धित है तव उसकी रहस्यात्मक धारणा भारतीय विचार से विकसित है।

ईसा के मन मे सार्वभौमवाद और अप्रतिरोधवाद का सघर्ष उनके यहूदी पूर्वजो के पार्थक्यवाद और सैनिकवाद के साथ है।[2] वह अपने पूर्वजो की विचार-

१ 'द किंगडम ऑव गॉड एण्ड द सन ऑव मैन', अग्रेजी अनुवाद (१९३८ ई०), पृष्ठ १६।

२. डॉ० क्लॉड माण्टेफिओर का प्रश्न है कि ईसा के वारे में ईसाइयों का जो विश्वास रहता आया है, उससे अलग करके यदि हम उनको देखें, तो क्या उनका व्यक्तित्व इतना सक्षम है जो

ही जानता है कि उसका 'पुत्र' कौन है[1], अन्य कोई नहीं , और 'पिता' कौन है इस बात को भी केवल 'पुत्र' जानता है या वह जिसपर 'पुत्र' इस रहस्य का उद्घाटन करना चाहता है । जो परिस्थितिया हमारी परीक्षा लेने के लिए आती हैं, उन्हींमे जीवन की गहराइया प्रकट होती हैं । सकट के नाजुक क्षण ही ईश्वरीय अनुकम्पा के क्षण होते हैं । शैतान ने जो प्रलोभन ईसा को दिए और उनके कारण उनको जो अन्तर्द्वन्द्व हुए, उनकी छाप क्या उनके जीवन पर गहरी नही पडी ?

ईसा आरम्भ मे यहूदी राष्ट्रवादी दृष्टिकोण के थे और बाद मे वे धीरे-धीरे सार्वभौम दृष्टिकोण वाले बने, इस विचार को उनकी महानता अथवा उनके विषय मे चर्च के सिद्धान्त का अपमानकारक नही माना जाना चाहिए । ईसाई चर्च ईसा की दिव्यता और साथ ही उनकी पूर्ण और सच्ची मानवता पर बल देता है और एरियनो, डोसेटिको, मोनोफिज़ाइटो तथा नेस्टोरियो के विचारो को एकपक्षीय मानता है। यदि ईसा को 'पिता से घटकर' मानना नास्तिकता या धर्मद्रोह है, तो उनकी मानवता को भी कम करके देखना उससे कम नास्तिकता नही है । एक सामान्य मनुष्य मे भूख, प्यास, थकान, पीडा और प्रलोभन की जो इच्छाए और भावनाए होती है, उनसे ईसा बरी न थे । यदि यह सोचना ईसा के स्वभाव के प्रति अपमानजनक नही है कि उनको भी औरो की तरह पीडा का अनुभव होता था, उन्होंने भी एक मित्र की कब्र पर आसू बहाए थे, या वे अपमानित किए गए, पीटे गए, सूली पर चढाए गए और इन सब चीज़ो से उनको भी पीडा या लज्जा हुई, तो यह सोचना अपमानजनक नही हो सकता है कि ईसा मे भी अपने समकालीन लोगो की तरह राजनीतिक लालसाए थी और उन्होंने धीरे-धीरे उनसे अपना पिण्ड छुडाया । यह ल्यूक के इस वक्तव्य का पूरा समर्थन करना होगा कि "ईसा के ज्ञान और उनकी प्रतिष्ठा में क्रमश वृद्धि हुई ।"[2]

ईसाई-धर्म-सम्बन्धी इजीलों (सिनॉप्टिक गॉस्पेल्स) से यह बात स्पष्ट है कि ईसा के मन मे यहूदी और रहस्यात्मक, भौतिक और आध्यात्मिक—इन दो धाराओ मे पूर्णत. सामजस्य नही हुआ था । ईश्वरीय राज्य-सम्बन्धी यहूदी विचार आगे लिखे हुए शब्दो मे सन्निहित धारणा के विरुद्ध हैं "मेरे 'राज्य' का इस संसार से कोई सम्बन्ध नहीं है ।" ईश्वरीय राज्य के विषय मे परम्परागत और रहस्यात्मक विचारों मे अन्तर है । परम्परागत दृष्टिकोण तो यह है कि इस ससार की सारी परिस्थितिया—खाने-पीने तक की, स्वर्गिक राज्य मे भी जारी रहती हैं और रहस्यात्मक दृष्टिकोण यह है कि स्वर्गिक राज्य के स्वरूप को हमारे जागतिक अस्तित्व की परिभाषा में नही सकेतित किया जा सकता । उपनिषदो और बौद्ध-धर्मशास्त्रो मे शाश्वत जीवन का जो नकारात्मक वर्णन है, उसकी प्रतिध्वनि ईसा की इस घोषणा मे मिलती है कि स्वर्ग और पृथ्वी दोनो ही खत्म हो जाएगे । बाद के उनके इन कथनो : "हम क्या होगे, इसको अभी मूर्त रूप नही दिया जा सका है", और "ईश्वर ने अपने को प्यार करनेवाले

१. हार्नैक का मत है कि ये शब्द : "केवल 'पिता' ही जानता है कि उसका 'पुत्र' कौन है, अन्य कोई नहीं" बाद के जोड़े हुए हैं ।

२. ii, ५२ ।

लोगो के लिए जो चीजें तैयार की हैं, उनको न तो आखो ने कभी देखा है, न कानो ने कभी सुना है, क्योकि दोनो मे से कोई भी मनुष्य के हृदय मे प्रवेश नही पा सके हैं" मे भी उसकी अनुगूज मिलती है। ये निषेध और विरोध एक ऐसे ससार की वास्तविकता को सूचित करते हैं जो धरातल के हमारे परिचित ससार से भिन्न हैं। उस ससार को प्राप्त करने के लिए हमारा पुनर्जन्म होना आवश्यक है, हमको 'स्वर्गस्थ देवदूतो' के समान बनना ही है। अपने अस्तित्व के पार्थिव रूप मे हमारा स्वर्गिक राज्य मे जन्म लेना सम्भव नही है। यह एक अद्‌भुत नई सृष्टि है। यह शाश्वत स्वर्ग है जो पार्थिव प्रक्रिया की चरम परिणति है। हम इसका वर्णन केवल अपनी परिचित शब्दावलि और भावनाओ के द्वारा ही कर सकते हैं, क्योकि हम अभी तक ससार मे और ससार के हैं। यही कारण है कि हम सिंहासनो पर बैठने, दावतो के मजे उडाने और देवदूतो की भाति रहने की बात करते हैं। हम हर समय इस बात से अवगत रहते हैं कि आनेवाले स्वर्गिक राज्य के सही स्वरूप को प्रकट करने के लिए हमारे कल्पना-प्रसूत चित्र अपर्याप्त हैं, क्योकि स्वर्गिक राज्य हमारे पार्थिव अस्तित्व का एक सशोधित रूप-मात्र नही है, वरन् इसका पूर्ण रूपान्तरण है। परन्तु, ईसा के यहूदी श्रोताओ ने उनके प्रतीकात्मक वर्णनों से यही अर्थ निकाला कि ईसा मसीही आशा की ओर सकेत कर रहे हैं। स्वर्गिक राज्य का अवतरण प्रज्वलित विद्युत्, 'मनुष्य के बेटे,' उसके देवदूतो और उसके निर्णय के आविर्भाव के साथ होने को था। सर्वप्रथम इसका श्रीगणेश यरूशलम मे होता, वहा से यह सारे ससार मे अपना विस्तार कर लेता। ज़ेबेडी के पुत्र नये 'राज्य' मे सर्वोत्तम स्थानो की माग करते हैं। यहूदियो का प्रधान उद्देश्य था ईश्वर के आसन्न कोप से अपनी रक्षा करना। उनकी सारी आशाए और प्रार्थनाए केवल इस निमित्त थी कि जब कभी स्वर्गिक राज्य पृथ्वी पर आवे तब उसमें उनको भी स्थान मिले। जो लोग मर चुके हैं, उनके इस नये 'राज्य' का भागीदार बनने का एक ही रास्ता है प्रलय के दिन मृतोत्थान (रिज़रेक्शन)। परन्तु रहस्यवादी इस बात से आश्वस्त रहता है कि उसने इसी पार्थिव जगत् मे रहते हुए सुरक्षा और स्वतंत्रता प्राप्त कर ली है। यदि शाश्वत जीवन की उपलब्धि इसी जन्म और इसी संसार मे की जा सकती है, तो मृतोत्थान की आवश्यकता ही क्या रहती है? प्रोफेसर रुडॉल्फ ओटो ने अपने अन्तिम ग्रथ मे कहा है "स्वर्गिक राज्य-सम्बन्धी ईसा के उपदेशो मे ऐसे तत्त्व हैं जिनका मूलस्रोत निश्चय ही फिलस्तीन नही हो सकता; उनका सम्बन्ध निश्चित रूप से आर्य और ईरानी पूर्व से होना चाहिए।"[१] जबकि स्वर्गिक राज्य की मसीही धारणा फिलस्तीन-परम्परा से सम्बन्धित है तब उसकी रहस्यात्मक धारणा भारतीय विचार से विकसित है।

ईसा के मन मे सार्वभौमवाद और अप्रतिरोधवाद का सघर्ष उनके यहूदी पूर्वजो के पार्थक्यवाद और सैनिकवाद के साथ है।[२] वह अपने पूर्वजो की विचार-

१. 'द किंगडम ऑव गॉड एण्ड द सन ऑव मैन', अग्रेजी अनुवाद (१९३८ ई०), पृष्ठ १६।
२. डॉ० क्लॉड माण्टेफिओर का प्रश्न है कि ईसा के बारे में ईसाइयों का जो विश्वास रहता आया है, उससे अलग करके यदि हम उनको देखें, तो क्या उनका व्यक्तित्व इतना सक्षम है जो

धारा से आगे बढकर सोचते रहे, इसलिए उनका यहूदियो से बहुधा विरोध होता रहा। यदि हमारे कुछ धर्मशास्त्रज्ञ ईसा के अप्रतिरोधवाद की व्याख्या करते हैं और इस सुखद निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उनकी कथनी और करनी मे अन्तर था, या कि बुराई का प्रतिरोध करने के लिए उन्होंने हिंसात्मक कार्यों को अपना समर्थन दिया—जैसाकि जोहन द्वारा उल्लिखित मन्दिर की घटना से पता चलता है, जिसमे उन्होंने चाबुक मार-मारकर यहूदियो को मन्दिर से भगा दिया था, तो इसका बहुत हद तक कारण ईसा के अपने मन मे चलनेवाला सघर्ष ही था। सेंट जॉन के अनुसार इजील मे ईसा के मुह से कहलाया गया है . "मैं ससार-भर के लोगो के लिए प्रार्थना नही करता, बल्कि उनके लिए करता हू, जिनको तूने मुझे सौंपा है।"[1] फिर भी, इसमे कोई सन्देह नही कि ईसा के जीवन मे एक अवस्था ऐसी आ गई थी जब उनको सार्वभौमिकता और प्रेम की प्रत्यक्ष अनुभूति हुई थी, और जब उन्होने कहा "जो लोग तलवार का सहारा लेते हैं, उनका विनाश भी तलवार से ही हो जाएगा," तब उनका तात्पर्य भी यही था।

ईश्वरीय राज्य मे प्रवेश पाने के यहूदियो के एकाधिकार के दावे को ईसा ने चुनौती दी थी। जबकि यहूदी ईश्वरीय राज्य मे केवल पुण्यात्मा एव न्यायनिष्ठ व्यक्तियो को ही प्रवेश देने के पक्षपाती थे, तब ईसा ने यह घोषणा की कि वे तो पापियो को पश्चात्ताप करने के लिए कहने को आए हैं। इस प्रश्न के उत्तर में कि मेरा पडोसी कौन है ? ईसा ने कहा · "कोई भी आदमी, जो परेशानी मे हो, उसकी प्रजाति या राष्ट्रीयता चाहे जो हो।"

धार्मिक अनुष्ठानो को तूल देने की यहूदियो की श्रद्धा का ईसा ने जोरदार विरोध किया था। यहूदियो के सामने महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है 'मुझे क्या करना है ?'

लोगों को आत्मबलिदान के वीरतापूर्ण कार्यों के लिए अनुप्राणित कर सके ? "ईसा की जीवन-कथा में जो चीज कोई देखना चाहेगा, वह यह कि क्या एक भी कोई ऐसा प्रसग है जिसमें ईसा ने राबिनवादी अपने विरोधियों या शत्रुओं के साथ एक भी प्रियकर कार्य किया हो ? ईसा ने पहाड़ी पर से दिए अपने प्रवचन (सरमन ऑन द माउण्ट) में शत्रुओं से प्यार करने के जितने भी आदेश दिए हैं, उनको न देकर यदि उन्होंने व्यवहारतः ऐसा कोई कार्य कर दिखाया होता, तो वह कहीं अधिक अच्छा रहता। यदि कोई कहता है कि ईसा ने ऐसे कार्य किए थे, उनका विवरण भी प्रस्तुत करता है, परन्तु उन विवरणों की प्रामाणिकता ही यदि सदिग्ध हो, तो उस बात का कितना मूल्य रह जाता है ? 'पिता, उनको क्षमा कर' वाक्य की प्रामाणिकता सदिग्ध है ; यह क्षेपक है, फिर भी अपने यत्किंचित् रूप में यह कथन सुन्दर और प्रेरणादायक है। भले ही क्षमा करने की यह बात रोमन सैनिकों के लिए है, यहूदियों के लिए नहीं, परन्तु फिर भी इसका बहुत नैतिक महत्त्व है। एक कवि ने ठीक ही कहा है : 'करके दिखाओ ! करके दिखाओ !' परन्तु इजीलों में ईसा के द्वारा किए गए ऐसे किसी कार्य की सूचना नहीं है। अपने शत्रुओं, अपने में विश्वास न रखनेवालों—चाहे वे व्यक्ति हों या समूह या नगर (मैथ्यू XI, २०–४)—के प्रति ईसा के पास तो भर्त्सना, आक्षेप और कटु शब्द ही हैं ! उपदेश तो सुनने में बहुत भले लगते हैं, परन्तु कितना अच्छा होता कि ईसा ने उन उपदेशों पर स्वय आचरण करके अपने अनुयायियों के सामने आदर्श रखा होता !" ['राबिनिक लिटरेचर एण्ड गॉस्पेल टीचिंग्स' (१६३०), पृष्ठ १०४]।

[1] xvii, ६।

ईसा आचरण की एक सहिता पर जोर देते थे। पौर्वात्य धर्मों और रहस्यवादी सम्प्रदायो के सामने अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है 'मुझे क्या होना है ?' उनका उद्देश्य कुछ और करना नही, वरन् कुछ भिन्न प्रकार का बनना है। ईसा को इसकी कोई चिन्ता नही कि हम कौन-से बुरे काम करते हैं, उनको चिन्ता हमारे भ्रष्ट अस्तित्व की है, जिसका प्रतिफलन बुरे कार्यों के रूप मे सामने आता है। हमको अब से कुछ भिन्न बन जाना चाहिए, अपने स्वभावो को बदल डालना चाहिए, पुनर्जन्म ले लेना चाहिए। पुनर्जन्म लेने का अर्थ है एक नये प्रकार के जीवन मे दीक्षित होना। यह दीक्षा कोई धार्मिक सस्कार या अनुष्ठान नही होगी, वरन् होगी एक आध्यात्मिक अनुभव। ईसा ने एक उच्चतर जीवन मे पुनर्जन्म लेने पर, विधि-नियम के बन्धन से ऊपर उठकर कार्य करने पर बल दिया है। हम जन्म से प्रकृति के शिशु हैं और पुनर्जन्म से ईश्वर के बेटे। इस पुनर्जन्म का मार्ग आत्मनियन्त्रण के जीवन से, जो तपश्चर्या की सीमा को स्पर्श करता हो, होकर गया है। जहा तक यहूदी-परम्परा का प्रश्न है, उसमे तप एव सयम जैसी कोई चीज़ या तो है ही नही, या है तो बहुत कम। यहूदियो मे ऐसे साधु या साधुनिया नही होती जो ससार से विरक्त होकर जीवन-यापन करती हो। सासारिक सुखो मे यहूदियो को कुछ भी असारता या वचकता नही दिखाई देती। तपश्चर्या का प्रयोग केवल समाधि की स्थिति को प्राप्त करने के लिए किया जाता है, जैसाकि 'इसायह की शहादत' मे दिखाई देता है। ऐसी स्थितियो में पैगम्बर और उसके साथी बालो द्वारा निर्मित वस्त्र के चोगे पहनकर जगल मे चले जाते हैं और जडी-बूटी के सिवाय और कुछ नही खाते। इसी प्रकार अपने इन्द्रिय-निग्रह के कारण ही एज़रा को दर्शन-शक्ति का दान मिला था।[1] तपस्या का प्रयोजन साधक को ईश्वरीय दर्शन के लिए तैयार करना था। मुख्य यहूदी परम्परा वर्तमान ससार-व्यवस्था के निरन्तर चलते रहने, समस्त सृष्टि की अच्छाई के सिद्धान्त, ससार को आबाद करने के कर्तव्य और पृथ्वी के सुखो के उपभोग को स्वीकार करती है।[2] धन और ईमानदारी का स्वाभाविक साथ है तथा गरीबी और पाप का। यहूदियो के इस सिद्धान्त मे कि कयामत के बाद शरीर पुनरुज्जीवित हो जाता है, यह बात निहित है कि शरीर कोई निन्दनीय वस्तु नही है। न्यायनिष्ठ और ईमानदार आदमी स्वर्ग मे शारीरिक कुशलता का आनन्द लेगा। यदि न कोई खरीद होगी, न बिक्री, यदि न कोई किसीसे विवाह करेगा, न किसीका विवाह करेगा, तो इसका

१. एथेनेसियस अपने प्रथम मागलिक पत्र (३२६ ई०) में लिखता है : "उस महापुरुष मूसा ने उपवास करते समय ईश्वर से बातें की थीं और उससे अपने धार्मिक सिद्धान्त प्राप्त किए थे। महान और पवित्र एलिजाह उपवास करते समय दिव्य दर्शन के योग्य समझा गया था और अन्ततः वह स्वर्ग चला गया था। और डेनियल, जो बहुत कम आयु का था, को उपवास करते समय ही ईश्वरीय रहस्य का भेद ज्ञात हुआ था।" (ए० रॉबर्टसन, 'एथेनेसियस', पृष्ठ ५०८)।

२. तुलना कीजिए इस प्रसिद्ध कथन से : " 'निर्णय के दिन' हर आदमी को इस बात का कारण बताना होगा कि उसने हर अच्छी चीज़ का उपभोग क्यों नहीं किया, जिसे वह चाहता तो कर सकता था।" [जी० एफ० मूर, 'जूडाइज़्म, इन द फर्स्ट सेंचुरीज़ ऑव द क्रिश्चियन एरा' (१९२७), खण्ड २, पृष्ठ २६५]।

कारण यह है कि जब तक प्रभु का दिन आएगा तब तक मनुष्यो को मोक्ष दिलानेवाले व्यक्ति (इलेक्ट) का चुनाव हो चुका होगा और उसमे कोई वृद्धि नही होगी। मसीही राज्य मे हर आदमी को बिना परिश्रम किए या बिना उसके बदले मे कोई चीज़ दिए अच्छी चीजे बहुत परिमाण मे मिलेंगी। ऑक्सफोर्ड के बिशप डॉ० कर्क लिखते हैं

> "इजीलो के तपश्चर्या-सम्बन्धी दृष्टिकोण का तत्कालीन जूडावाद से दूर का भी कोई सम्बन्ध नहीं दिखाई देता। इजीलो मे एक गाल पर थप्पड मारने पर दूसरा गाल भी मारनेवाले की ओर कर देने, आगामी कल के लिए कुछ सोच-विचार न करने, पृथ्वी पर कोई खज़ाना न इकट्ठा करने, माता-पिता और धन-सम्पत्ति को त्यागने, तथा सलीब (क्रॉस) को ढोने सम्बन्धी अश यहूदी जाति की प्रतिभा के लिए सर्वथा विजातीय हैं। इनमे परिव्याप्त भावना ईसा की शिक्षाओ मे एक अस्थिर रोडा है। ईसा की शिक्षाओ—अतिप्राकृत सत्य सम्बन्धी उनकी सीधी अन्त.प्रेरणा से भिन्न—के मूल स्रोत का इस समय तो कोई पता नही चल सकता।"[1]

जॉन द बैप्टिस्ट, ईसा और पॉल के विचारो मे पारलौकिकता की नई धारा के दर्शन होते हैं, उनकी यहूदी पृष्ठभूमि इसका कारण नही हो सकती।

यह जानना रुचिकर होगा कि ईसा ने इन्द्रिय-निग्रह और पारलौकिकता पर बल देते हुए जो नैतिक शिक्षाए दी, वे पूर्व के लिए नई नही, वरन् ईसा के भी कई सौ वर्ष पहले उपनिषदों और बुद्ध की वाणी मे इनका आख्यान किया जा चुका है। स्वर्गीय प्रोफेसर टी० डब्ल्यू० राइस डैविड्स ने लिखा है :

> "यह कहने में कोई अत्युक्ति नही कि इजीलों (गॉस्पेल्स) की लगभग सारी नैतिक शिक्षा, जो कट्टरतापूर्ण धर्मोपदेश से भिन्न है, इजीलो से कई शताब्दियो पूर्व लिखे गए बौद्ध ग्रन्थो मे पाई जाती है। उदाहरण के लिए, पहाडी पर से दिए गए ईसा के प्रवचनो ('सरमन ऑन द माउण्ट') मे जितने कुछ नैतिक सिद्धान्त हैं, उनमे से वे सिद्धान्त, जो उसमे प्रतिपादित आस्तिकतावादी रूढियो से भिन्न हैं, बौद्धधर्म के 'पिटको' मे पाए जाते हैं। प्रत्येक धर्म मे अन्य सभी धर्मों की तरह असीम और अभेद दान के लिए प्रेरणा दी गई है; वैसी ही मिथ्याचार के प्रति घृणा मिलती है, वैसे ही विधि-नियम की रूढि से ऊपर भावना का ध्यान रखा गया है, वैसे ही पवित्रता, विनय, नम्रता, सज्जनता, सत्य और प्रेम को महत्त्व दिया गया है। यह समानता केवल वस्तुगत हो, सो नही, जिस रीति से ये सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए हैं, उनमे भी समानता है। ईसा की तरह ही बुद्ध भी छोटी-छोटी नीति-कथाओ

१. 'द विज़न ऑव गॉड' (१६३१), पृष्ठ ६२।

के माध्यम से अपनी शिक्षाए दिया करते थे और वैसे ही जनता की सुपरिचित शब्दावली का प्रयोग करते थे, और बहुत सारी बातें, जिनको बुद्ध-कथित कहा जाता है, वे आश्चर्यजनक रूप से वैसी ही हैं जैसी 'न्यू टेस्टामेट' मे कही गई बातें ।"[1]

इससे केवल यही पता चलता है कि कुछ श्रेष्ठतम नैतिक शिक्षाए जिनको सामान्यतया ईसाइयत की विशेषता समझा जाता है, अकेली उसीकी विशेषता नही हैं । वे आध्यात्मिक जीवन के एक आवश्यक परिणाम हैं ।

भविष्य जीवन के प्रश्न पर ईसाई दृष्टिकोण का निर्माण यहूदी अथवा लोकप्रचलित ग्रीक-रोमन धारणाओ के द्वारा नही हुआ । यहूदी शिओल सम्बन्धी अपनी धारणा से ही सन्तुष्ट थे । 'बुक ऑव जॉब' के अनुसार शिओल "एक अन्धकार का प्रदेश था, जहा पर प्रकाश भी अन्धकार की तरह का है ।" चूकि याह्वेह की अधिकार-सीमा के अन्तर्गत यह प्रदेश नही आता, इसलिए मृत्यु के बाद ईश्वर और उसके आराधको के बीच सारे सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं । इसका शाब्दिक अर्थ यह हुआ कि याह्वेह "मृत प्राणियो का नही, वरन् जीवित प्राणियो का ईश्वर है ।" पार्थिव जीवन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । हिब्रू जाति के लोगो की आशाए अपने लिए नही थी, अपने राष्ट्र के लिए थी ।[2] यदि हम रहस्यवादी धर्म-सम्प्रदायो तथा पाइथागोरस एव प्लेटो को अलग छोड दें, तो यह कहना पडेगा कि ग्रीको की सृष्टि-उत्पत्ति-सम्बन्धी धारणा बहुत आदिम थी । होमर की कल्पना के धूमिल और शुष्क हेडीज़ के विषय मे तो लोगो ने बहुत कुछ सुन रखा है । रोमन लोगो का अमरता मे दृढ विश्वास नही था । 'डि मेन्स' (Di Manes) अस्पष्ट संकलन थे और इस शब्द का कोई एकवचन भी न था । इससे कुछ अधिक पुष्ट विचार का धुधला सकेत हमे 'ओल्ड टेस्टामेट' की बाद वाली पुस्तको मे मिलता है । परन्तु, उनमे और सृष्टि-उत्पत्ति-सम्बन्धी ईसाई दृष्टिकोण मे बडा अन्तर है , उदाहरण के लिए, पाप की चेतना, मनुष्य-मन के विभाजन, शान्ति और मोक्ष की आवश्यकता, पुरस्कार और दण्ड—मृत्यूपरान्त पाप-शुद्धि के निमित्त और कष्ट पहुचाने के निमित्त, दोनो प्रकार के दण्ड—मे भारी अतर है । इन विचारो का विकास निश्चय ही 'ओल्ड टेस्टामेट' और 'न्यू टेस्टामेट' की रचना के मध्यवर्ती समय मे हुआ होगा जिसके विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है । मानवात्मा के उच्च प्रारब्ध के प्रति आस्था फिलस्तीन, यूनान और रोम के धर्मों मे नही मिलती, केवल अनविकारिक एव अ-यूनानी रहस्यवादी सम्प्रदाय इसके अपवाद हैं । इस प्रश्न पर ईसा और उनके तात्कालिक अनुयायियो के विचार निश्चय ही उस वातावरण मे बने होंगे, जहा पूर्व और पश्चिम, रहस्यात्मक अनुभव एव बौद्धिक अनुमान की एक-दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया हो रही होगी ।

१ 'जर्नल ऑव द पालि टेक्स्ट सोसाइटी', १९२३, पृष्ठ ४३–४ ।

२ जॉब *xiv*, २५–७ , साम्स *xlix*, ५० , *lxxiii*, २४; इसायह *xxvi*, १९ , डैनिएल *xii*, २ ।

रहस्यात्मक धर्मों के द्वारा कुछ ऐसी चीजो पर प्रकाश पडा जो हमारे ज्ञान से छिपे पडे थे और उन्होने मृत्यूपरान्त के एक ऐसे लोक की वातें हमे वताईं जिनके विषय मे अधिकृत या शास्त्रीय धर्म चुप थे। जैसे ही भौगोलिक सीमाओ की रुकावटे हटी, ज्ञान-क्षितिज का विस्तार हुआ, वैसे ही रहस्यवादी धर्म, जो आत्मा की मुक्ति, पाप के वोझ से छुटकारे और 'निर्णय' के विरुद्ध सुरक्षा का आश्वासन देते थे, लोकप्रिय हो गए। यहा तक कि सामान्य जनता पर भी इनका कुछ न कुछ प्रभाव पडा। ईसा कहते है : "तुम्हे ईश्वर के राज्य का रहस्य वता दिया जा रहा है , परन्तु जो लोग वाहर के हैं उनके लिए नीति-कथाओ मे सारी वातें कह दी जा रही हैं।"[1] "और इसी प्रकार की वहुत-सी नीति-कथाओ के माध्यम से उन्होने उनसे कुछ वातें कही, जिनको वे सुन-समझ सकते थे; और विना नीति-कथा के उन्होने उनसे कुछ भी न कहा; परन्तु अपने शिष्यो को उन्होने निजी तौर पर सारी वातें विशद रूप से समझा दी।"[2] उन्होने अपने शिष्यो से कहा : "मुझे अभी कई वातें तुमसे कहनी हैं, परन्तु तुम इस समय उनको नही सुन सकते।"[3] वपतिस्मा के पश्चात् आध्यात्मिक जन्म होने का एक उल्लेख हमे मिलता है . "और उन दिनो ऐसा हुआ कि ईसा नजारेथ से गैलिली आए और जोर्डन मे जॉन ने उनको वपतिस्मा दी। और जैसे ही वे जल से वाहर निकले कि उन्होंने आकाश को विदीर्ण होते देखा और उसमे से एक कपोत की भाति उतरकर आत्मा उनके भीतर प्रविष्ट हो गई और तभी एक आकाशवाणी हुई . तू मेरा प्यारा वेटा है , तुझे पाकर मैं वहुत प्रसन्न हू।"[4] ईसाई यूचेरिस्ट एल्यूसिस और मिथ्र के मतवादो के 'पवित्र भोजन' को चिरस्थायी वना देता है।[5]

यहूदी होने के नाते ईसा यह मानते थे कि कयामत के वाद पुनरुत्थान के समय मरे हुए व्यक्तियो के शरीर कब्रो मे से उठ खडे होगे। मरने पर लेजारस को तो सीधे स्वर्ग मे ले जाया जाता है और धनी आदमी को नरक मे। मृत्यु के तीसरे दिन ईसा के देहोत्थान की वात शायद मैथ्यू ने सुझाई है "जिस प्रकार जोनाह तीन दिन और तीन रातें व्हेल मछली के पेट मे रह सका था, उसी प्रकार 'मनुष्य का वेटा' (ईसा) भी तीन दिन और तीन रातो तक पृथ्वी के गर्भ मे रहेगा।"[6] इस वात का मेल ईसा के उस कथन से नही वैठता जिसे उन्होंने अपने साथ सलीव (क्रॉस) पर सूली चढाए जानेवाले चोर को कहा था "आज ही तू मेरे साथ स्वर्ग मे होगा।" मरने के तुरन्त वाद ईश्वर के वरद् सहवास का सुख आत्मा को मिल जाता है। मृत्यु का क्षण मनुष्य के उन्नयन का भी क्षण है। हमे मनुष्य की आत्मा और उसकी मासल खोल को एक

१. मार्क *iv*, ११। २. मार्क *iv*, ३३–४। ३. जॉन *xvi*, १२।

४. मार्क *i*, ९–११। जस्टिन मार्टियर कहते हैं : "तू मेरा प्रिय पुत्र है : आज ही मैंने तुझे जन्म दिया है।" ('ट्राइफो', ८८), ल्यूक *iii*, २२ भी देखिए।

५ आरम्भिक ईसाई पादरी पोलीकार्प और इग्नेशियस ईसाई रहस्यों के विषय में बतलाते हैं। 'स्ट्रोमेटा' में क्लीमेंट ने एक अध्याय का शीर्षक ही यह रखा है : "ईसाई धर्म के वे रहस्य जो सबको बतलाने योग्य नहीं।"

६. *xii*, ४०।

ही वस्तु नही समझ लेना चाहिए। मृत्यु पर विजय का अर्थ है आत्मा का नीद से जाग जाना , जागने पर ही वह उच्चतर दर्शन के लिए सक्षम बन पाती है। निर्णय के दिन देहोत्थान (रिसरेक्शन) का अर्थ यह नही है कि शव पुन जीवित हो उठेंगे। रूढ़िवादी यहूदी या सामान्य ग्रीक ईसाइयो के इस विचार से सहमत नही होता कि यह जीवन एक शिक्षा-काल है, परीक्षा का समय है, और हम लोग एक ऐसे लोक मे अपना अवकाश विताने आए हैं, जहा हमे जीवन की गम्भीरतम सार्थकता को प्राप्त करने की आशा नही करनी चाहिए।

जव ईश्वरीय राज्य-सम्वन्वी यह पूर्वकथन चरितार्थ नही हुआ कि ईश्वर के प्रतिष्ठित पुत्र को देखने और जानने के लिए हम जीवित रहेंगे, तव सृष्टि-रचना-सम्वन्धी दावा प्रमुखता प्राप्त कर गया। पीटर तथा अन्य सन्तो ने ईसा की मृत्यु के वाद यह विश्वास प्रकट किया था कि उन्होंने आध्यात्मिक दिव्यदृष्टि से ईसा को ईश्वर के साथ रहते देखा है , इस विश्वास की सम्भावना के मूल मे यह मान्यता थी कि मृत्यु के द्वारा ईश्वर तक पहुचा जा सकता है। यह खाली हुई कब्र या देह के पुनरुत्थान का प्रश्न नही जान पडता। ईसा के जीवन और कार्य की सीधी-सादी कहानी को रूपान्तरित करके एक स्वर्गीय आत्मा के महापुरुष के रूप मे धरती पर अवतीर्ण होने की कहानी वना दी गई, जो जव तक यहा रहा हाड-मास की देह के आवरण मे अपनी दिव्यात्मा को छिपाए रहा। उत्तरकालीन ईसाई-धर्मशास्त्र ने ईसा का जो चित्र सामने रखा, उसने ईश्वर तक की रूपरेखा पर लीपापोती कर दी। पुनरुत्थित प्रभु (ईसा) ईश्वर का स्थान ले लेता है और ईसाई चर्च ईश्वरीय राज्य का स्थानापन्न वन जाता है। जिस प्रकार परमब्रह्म परमेश्वर और एक ऐतिहासिक व्यक्ति को एकरूप मान लिया गया, उसी प्रकार ईश्वरीय राज्य और एक ठोस आनुभविक सरचना, स्वरूप और सगठन वाली धर्म-सस्था को एक जैसा समझ लिया गया।

जैसाकि हम देख चुके हैं, ईसा यहूदी धारणाओ को अपने निजी अनुभव के प्रकाश मे परिवर्द्धित और परिवर्तित करते हैं। इस कार्य मे उन्हें अपने धार्मिक वातावरण से वहुत सहायता मिली, और जैसाकि एसेनी-मत के धर्म-सिद्धान्तो तथा 'वुक ऑव एनक' से सूचित होता है, उनके धार्मिक वातावरण मे भारतीय प्रभाव भी सम्मिलित थे। ईश्वरीय राज्य, शाश्वत जीवन, तपश्चर्या पर वल और भावी जीवन-सम्वन्धी उनकी शिक्षाए यहूदी परम्परा से दूर पड जाती हैं और हिन्दू तथा वौद्ध विचारणा के साथ उनका साम्य दृष्टिगत होता है। यद्यपि उनकी शिक्षाए ऐतिहासिक दृष्टि से जूडावाद के ठीक वाद की हैं, तो भी तात्त्विक दृष्टि से ईसाइयत का विकास जूडावाद मे से नही हुआ। ईसा मसीह अपने मन मे यहूदी और रहस्यवादी प्रवृत्तियो के वीच पूरी तरह सामजस्य नही कर सके थे , यह वैचारिक तनाव हमको ईसाई-धर्म के विकास मे परिलक्षित होता है। अव हम देखेंगे कि इजील की कहानी का गौतम वुद्ध के जीवन और शिक्षा से कितना उल्लेखनीय सादृश्य है।[1]

ईसा से लगभग पाच सौ वर्ष पूर्व, गगा की घाटी मे, वुद्ध एक ऐसे जीवन-

१. लेखक की 'गौतम द वुद्ध' नामक कृति (१९३८) देखिए।

दर्शन का उपदेश करते फिर रहे थे जो मनुष्यों को अज्ञान और पाप के बन्धन से छुडाने का आश्वासन देता था। बुद्ध की मत्यु के डेढ सौ वर्ष वीतते न वीतते उनकी जीवन और मृत्यु की परम्परा को व्यवस्थित कर दिया गया। उनके गर्भ-प्रवेश और जन्म-ग्रहण को चमत्कारिक, अद्भुत और दैवी रूप दे दिया गया।[1] देवदूतो ने उनके पिता को इसके विषय मे सूचित किया, और 'ललितविस्तर' के अनुसार "रानी को वत्तीस महीनो तक कुमारी का जीवन विताने की अनुमति दे दी गई।" जिस दिन गौतम का जन्म हुआ, उसी दिन एक ब्राह्मण ज्योतिषी उनके महान पुरुष होने की भविष्यवाणी करता है। असित बौद्ध 'साइमिअन' (Simeon) है।[2] वह वायु-मार्ग से शिशु गौतम को देखने के लिए आता है। उधर ईसा-सम्बन्धी आख्यान मे भी कहा गया है साइ-मिअन "आत्मा के माध्यम से मन्दिर मे आया।" जव असित देवदूतो से पूछता है कि वे इतने आनन्दमग्न क्यो हैं, तव वे उत्तर देते हैं कि "वे प्रसन्न और अत्यन्त आनन्दित" इसलिए हैं क्योकि ससार के लोगो की सुख-समृद्धि तथा कल्याण मे वृद्धि के निमित्त बुद्ध का जन्म होनेवाला है।[3] धीरे-धीरे गौतम ज्ञान और विवेक तथा गौरव की दृष्टि से वढते चले गए। यद्यपि वहुत चेष्टा की गई कि गौतम के सामने कोई शोकपूर्ण दृश्य या परिस्थिति न आए, तथापि अपने चतुर्दिक् के जीवन मे गौतम बुद्ध को कोई सन्तोप नही प्राप्त हो रहा था। उन्होंने अपने घर के सुखो से दूर भागने का निश्चय कर लिया। जव उनको समाचार मिला कि उनको पुत्र-रत्न की प्राप्ति हुई है, तव गौतम ने कहा था "यह एक नया और दृढ वन्धन है जिसे मुझे तोडना होगा," और उन्होने अविलम्ब घर को त्याग दिया। अपने विरक्त जीवन के प्रारम्भ मे जव उन्होंने उनचास दिन का उपवास समाप्त किया तव 'मार' ने प्रकट होकर उनको यह प्रलोभन दिया कि यदि वे अपनी तपश्चर्या और सत्य-शोध को त्याग दें, तो वह उनको ससार का राज्य दे देगा। उस दुरात्मा ने बुद्ध से कहा. "इसलिए हे प्रभु, यदि ईश्वर ने चाहा, तो वह पर्वतराज हिमालय को स्वर्ण-राशि मे परिणत कर देगा और सारा पहाड का पहाड सोना हो जाएगा।" बुद्ध ने उत्तर दिया "वह व्यक्ति, जिसने पीडा और पीडा के स्रोत को जान लिया है, ऐसा व्यक्ति भला प्रलोभनो के आगे कैसे झुक सकता है?" वह दुरात्मा 'मार' दुखी और असन्तुष्ट होकर अन्तर्धान हो गया।[4] इस घटना के पश्चात् गौतम ने प्रलो-भनों पर विजय पाई, वे अपनी सत्य-शोध मे जुटे रहे, दिनो तक ध्यान मे डूवे रहे और अन्तत उन्होने ज्ञान का प्रकाश पा ही लिया, वे 'बुद्ध' वन गए। बुद्ध के गर्भप्रवेश और जन्म के समान ही उनकी ज्ञान-प्राप्ति की घटना के साथ भी वत्तीस महान चमत्कारिक घटनाए जुडी हुई हैं। अन्धो को दृष्टि मिल जाती है, वहरे सुनने लगते हैं और लगडे

१. 'मज्झिम निकाय', १२३। जिन देवदूतों ने वच्चे को पाया, वे उसे उसकी माता के सामने ले जाकर वोले : "रानी माया, तुम सुखी हो, आनन्द मनाओ और प्रसन्न हो, क्योंकि यह पुत्र, जिसे तूने जन्म दिया है, पुण्यात्मा है।"

२. ल्यूक II, ८–४० ; 'सुत्त निपात', ६७९–७०० ।

३ 'सुत्त निपात', "मनुस्सलोके हितसुखतया"।

४. देखिए ओल्डेनवर्ग कृत 'बुद्ध' (१८८२), पृष्ठ ३१२।

बेखटक चलने-फिरने लगते हैं। स्वय बुद्ध का रूपान्तरण हो जाता है और उनका शरीर अतुल आभा से दीप्त हो उठता है। सब प्राणियो के प्रति हृदय मे करुणा रखकर वे "न्यायनिष्ठता का राज्य स्थापित करने का उपक्रम करते हैं, ताकि अन्धकार मे पडे लोगो को प्रकाश मिल सके और मनुष्यो के लिए अमरता का द्वार खुल जाए।"[1] उनका धर्म-प्रचार का कार्य प्रारम्भ होता है। अपने वारह शिष्यों को वे अपना सन्देश सभी श्रेणियो के लोगो मे प्रसारित करने के लिए भेजते हैं।[2] बुद्ध रोगियो की चिकित्सा भी करते हैं, वे एक वेजोड चिकित्सक भी हैं।[3] एक कथा प्रसिद्ध है कि एक बौद्ध-मठ मे रहनेवाले भिक्षुओ ने एक रोगी भिक्षु की उपेक्षा कर रखी थी। बुद्ध को पता चला। पता चलते ही बुद्ध ने स्वय उसे नहलाया-धुलाया और उसकी शुश्रूषा की। बाद मे उन्होने उन लापरवाह भिक्षुओ से, जो उनकी सेवा करने को काफी उत्सुक थे, कहा . "जो कोई भी मेरी देखभाल करना चाहता है, उसे रोगी की देखभाल करनी चाहिए।"[4] वे मानवता के साथ अपने को एकात्म अनुभव करते हैं, इसीलिए रोगी तथा परित्यक्त व्यक्तियो के प्रति की गई सेवाओ को वे वस्तुत अपने प्रति की गई सेवा मानते हैं। इस आदर्श वाक्य मे हमें एक स्वर्णिम नियम हाथ लगता है "वही करो जो तुम चाहते हो कि कोई तुम्हारे साथ करे , किसीके प्राण न लो, न प्राण लेने मे सहायक बनो।"[5] "जिस प्रकार कोई माता अपने औरस इकलौते बेटे की प्राण-रक्षा, अपने प्राणो को सकट मे डालकर करती है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य को समस्त ससार के सभी प्राणियो के साथ असीम सहानुभूति का व्यवहार करना चाहिए।"[6] "ससार मे सर्वत्र—ऊपर, नीचे और चारो ओर निष्पक्ष, अमिश्र, द्वेषरहित अतुल सदेच्छा का प्रसार होने दो।"[7] सदाचरण और सद्विश्वास पर बल दिया गया है।[8] एक बार यदि हम बुद्ध की शिक्षाओ को स्वीकार कर लेते हैं, तो हमारे सामने जाति और पद का कोई विभेद रह ही नही जाता।[9] बुद्ध ने अगुलिमाल डाकू का मत-परिवर्तन कर डाला,

१ देखिए, 'महावग्ग', *i*, ६, ८।

२ "भिक्खुओ, अधिकाश लोगों की श्री-वृद्धि और कल्याण के लिए तुम अपनी यात्रा पर जाओ, ससार के सभी प्राणियों के प्रति तुम्हारे हृदय में करुणा हो, देवदूतों और मर्त्यों सभीके लिए तुम्हारे हृदय में धन, सुख-समृद्धि और कल्याण की कामना हो । तुममें से कोई दो एकसाथ एक ही मार्ग से मत जाओ।" ('सैक्रिड बुक्स ऑव द ईस्ट', खण्ड *xiii*, पृष्ठ ११२)। मार्क *vi*, ७, ल्यूक *x*, १।

३ 'इतिवुत्तक', १०० , 'सुत्त निपात', ५६०।

४ 'विनय टेक्स्ट्स', सैक्रिड बुक्स ऑव द ईस्ट, खण्ड *xvii*, पृष्ठ २४०। 'महावग्ग', *viii*, २६, तुलना कीजिए · मैथ्यू *xxv*, ४० . "तूने मेरे इन भाइयों में सबसे छोटे के साथ भी जो कुछ किया है, उसे ऐसा ही समझ कि तूने मेरे लिए ही किया है।"

५ "अत्तानम् उपमम् कत्वा।" देखिए सै० बु० ई० खण्ड *x*, पृष्ठ ३६।

६. वही, खण्ड *x*, पृष्ठ २५।

७ 'खुद्दक पाथ', अग्रेजी अनुवाद, चाइल्डर्स, पृष्ठ १६।

८. 'इतिवुत्तक', ३२ ; जेम्स *ii*, १४, २४, २६ भी देखिए।

९. सै० बु० ई०, खण्ड *xx*, पृष्ठ ३०४ ; गैलेटियन्स *iii*, २८ भी देखिए ; मार्क *iii*, ३४ और ३५।

गणिका[1] अम्बपाली के घर उन्होंने भोजन किया । उनपर समृद्धि का जीवन बिताने का भी आरोप लगाया गया है ।[2] बुद्ध के निम्नलिखित कथनो की प्रतिध्वनि इंजीलो (गॉस्पेल्स) मे भी सुनाई देती है :

'उसने मुझे गाली दी, उसने पीटा मुझे,
पराजित किया मुझे, लूट लिया मुझे',
जो लोग ऐसे विचारो को मन मे जगह देते है,
उनका क्रोध नही होता है शान्त ;
क्रोध से कभी क्रोध नही
इस जगत् मे हुआ करते हैं शान्त,
वे तो नम्रता से ही होते है शान्त ।[3]

और :

रोष को नम्रता से जीतो,
बुराई को भलाई से जीतो;
नीच मनुष्य को जीतो भेंट देकर,
और झूठे को सच से जीतो ।[4]

विजय क्रोध को जन्म देती है,
क्योंकि विजित पीडा मे पड़ा होता है,
शान्तिप्रिय मनुष्य सुखी रहता है,
क्योकि वह विजय और पराजय को त्याग देता है ।'

चतुर मनुष्य को न्यायनिष्ठ बनना चाहिए,
यह ऐसा खजाना है जिसमे दूसरे हिस्सा नही बटा सकते ;
जिसे कोई चोर नही चुरा सकता .
ऐसा खजाना है यह जो कभी छिनता नही ।[6]

बुद्ध और ईसा दोनो ने ही अपने शिष्यो को ऐसा खजाना जमा करने को कहा है जिसे न कीडा खा सकेगा, न मोर्चा जिसे बरबाद कर सकेगा ; न चोर सेंध लगाकर जिसे चुरा ही सकेगा । बुद्ध ने कहा था "मनुष्य अपने खजाने को गहरा गड्ढा

१ सै० बु० ई०, खण्ड *xvii*, पृष्ठ १०५, और खण्ड *xi*, पृष्ठ ३० , देखिए मार्क *ii*, १६ ; ल्यूक *vii*, ३७–६, *viii*, १०२ ; मैथ्यू *xxi*, ३१ और ३२ ।
२. 'मज्झिम निकाय', २६, मैथ्यू *xi*, १६ ।
३. सैक्रिड बुक्स ऑव द ईस्ट, खण्ड *x*, पृष्ठ ४ ।
४. वही, पृष्ठ ५८, 'मज्झिम निकाय', २१ भी देखिए ।
५. 'धम्मपद', २०१; १८४, १८५, ३६६ भी देखिए ।
६. तुलना कीजिए : मैथ्यू *vi*, १६ और २० ।

खोदकर गाड देता है, जो उसमे गडा रहकर दिन पर दिन बीत जाने पर भी उसके लिए कोई लाभप्रद नही होता "परन्तु एक ऐसा भी खजाना है जिसे प्रत्येक स्त्री-पुरुष रख सकता है। यह खजाना हृदय मे रखा जाता है, यह खजाना है दान, दया, सयम और शील का। यह ऐसा खजाना है जो सुरक्षित है, अभेद्य है, जो कभी छीना नही जा सकता। जब मनुष्य इस ससार के नश्वर ऐश्वर्यों को त्याग देता है, तब उनको वह मृत्यु के बाद अपने साथ ले जाता है। यह खजाना ऐसा ही है, जिसमे न कोई हिस्सा बटा सकता है, जिसे न कोई चोर चुरा ही सकता है।"[1]

> ये जटाजूट तेरे किस काम के हैं रे मूर्ख !
> किस काम के हैं ये वल्कल वस्त्र !
> भीतर तो तेरे कालिख भरी है,
> और बाहर तू सफाई रखता है ![2]

> जीवन को विनष्ट करना, मारना, काटना, बाधना, चुराना, असत्य बोलना, धोखाधडी और धूर्तता करना, निरर्थक पुस्तकें पढना, परस्त्री-गमन करना—इन कार्यों से मनुष्य अपवित्र होता है, न कि मास-भक्षण करने से।[3]

जैसे बुद्ध प्राचीन भारत मे प्रचलित कृच्छ्र तप साधना की निन्दा करते हैं, वैसे ही ईसा 'जान द बैप्टिस्ट' के कर्मकाण्डो तथा तपोपूर्ण धार्मिक क्रियाओ पर बल देने की बात को स्वीकार नही करते। जिस प्रकार बुद्ध कर्मकाण्डी धर्म की निन्दा करते हैं और दीक्षा-सस्कार पर जोर देते हैं, उसी प्रकार ईसा धार्मिक विधियो के लिए कम आग्रह करते हैं और धार्मिक भावना से अनुप्राणित होने पर अधिक बल देते हैं।[4] "न्यायनिष्ठ व्यक्ति के प्रति आदर दिखाना यज्ञ-याग से अच्छा है।"[5] बुद्ध कहते हैं "भिक्खुओ, जैसेकि एक नील कमल, जल-गुलाब, या श्वेत कमल जल मे जन्म लेता है, जल मे ही बडा होता है और जल से निर्लिप्त रहकर उससे ऊपर उठा हुआ होता है, वैसे ही हे भिक्खुओ, तथागत ससार मे रहकर भी ससार से निर्लिप्त रहता है, उसके विकार उसे स्पर्श नही करते।"[6] जॉन के अनुसार ईसा भी कहते हैं . "मै इस ससार का नही हू।"[7]

बुद्धत्व प्राप्त करने के पश्चात् गौतम बुद्ध कपिलवस्तु नगर मे बहुत धूमधाम से प्रवेश करते हैं।[8] ज्यो-ज्यो वे नगर के समीप आते जाते हैं, त्यो-त्यो उनके

१ 'खुद्दक पाथ', अंग्रेजी अनुवाद, चाइल्डर्स, पृष्ठ १३।

२. 'धम्मपद', ३९४, सैक्रिड बुक्स ऑव द ईस्ट, खण्ड *x*, पृष्ठ ९०; मैथ्यू *vii*, १५ भी देखिए।

३. सै० बु० ई०, खण्ड *x*, पृष्ठ ४०, ४१, देखिए मार्क *vii*, १५। बपतिस्मा के अनुष्ठान में सादृश्य के लिए देखिए मैथ्यू *iii*, १४, जॉन *iv*, २, और 'महानिब्बान सुत्त', सै० बु० ई०, खण्ड *xi*, पृष्ठ १०६, सै० बु० ई०, खण्ड *xlv* का आमुख भी देखिए।

४. मार्क, *i*, १५।

५. 'धम्मपद', १०८।

६. 'सयुत्त निकाय', *xxii*, ९४।

७. जॉन *xvii*, १४–१६।

८. तुलना कीजिए, ल्यूक *ii*, ४१।

शरीर से विकीर्ण होनेवाली दिव्य आभा से नगर के द्वार, प्राचीरें, कगूरे और स्मारक आलोकित होने लगते हैं। जिस प्रकार नया यरूशलम नगर दीप से आलोकित हो उठता है, उसी प्रकार कपिलवस्तु पूर्ण प्रकाशित हो जाता है और सभी नागरिकगण आगे बढकर बुद्ध का स्वागत करते हैं। परन्तु, बुद्ध अविचलित रहते हैं। जब बुद्ध को मन्दिर मे देव-पूजन के लिए ले जाया जाता है, तब वे कहते हैं कि यह अनावश्यक है, क्योकि मै देवताओ से श्रेष्ठ हू, यद्यपि मै लोकाचार को स्वीकार करता हू।[1] जब एक व्यापारी ने, जो बुद्ध का शिष्य बन गया था, अपने नगर को लौट जाने और वहा के निवासियो को धम्म का उपदेश करने की अनुमति बुद्ध से चाही, तब उन्होने कहा "सुनपरन्त नगर के निवासी बहुत ही उच्छृखल और उग्र है, यदि वे गाली-गलौज करें, तो तुम क्या करोगे?" शिष्य ने कहा "मैं उनका कोई प्रत्युत्तर नही दूगा।" "और यदि वे तुम्हे मार डालने की चेष्टा करें?" शिष्य ने कहा "मृत्यु अपने-आपमे कोई बुरी चीज़ नहीं। कई लोग तो ससार की असारता को देखकर मृत्यु की कामना तक करते हैं, परन्तु मै ससार से विदा लेने के समयको पास लाने के लिए न तो त्वरा करूगा, न उसे विलम्बित करने की चेष्टा करूगा।" बुद्ध को शिष्य के इस उत्तर से सन्तोष हो गया और उन्होंने शिष्य को उसके नगर जाने की अनुमति दे दी।[2] बुद्ध का अपने शिष्यो के साथ विग्रह भी हुआ। उनका चचेरा भाई देवदत्त उनके अनुयायियो मे जूडा-वादियो की तरह था। एक बार उसने बुद्ध की हत्या करने के लिए तीस धनुर्धारियो को किराये पर नियुक्त किया था। परन्तु, जब वे धनुर्धारी बुद्ध के समक्ष आए, तब उनकी गरिमा से इतने अभिभूत हो गए कि उनके चरणो पर ठीक वैसे ही गिर पडे, जैसे गेथ्सेमेन के उद्यान मे सैनिक ईसा के चरणो मे गिर पडे थे।[3] जब बुद्ध के विश्वास-घाती शिष्यो की कोई कुचेष्टा सफल नही हुई तब सबने उनसे क्षमा-याचना की। बुद्ध ने उदारतापूर्वक उन्हे क्षमा कर दिया। मृत्युपूर्व के अतिम दिन, बुद्ध का शरीर रूपान्तरित हो गया[4] और जब उनकी मृत्यु हुई तब सारे ससार मे प्रबल भूकम्प अनुभव किया गया।[5]

दोनो धर्मों मे कई नीति-कथाए समान है। बुद्ध शब्द-बीज बोनेवाले है। वे भिक्षा-पात्र मे मिली एक छोटी-सी रोटी से अपने पाच सौ साथियों को खिलाते है, और फिर भी काफी रोटी बच रहती है जिसे फेंक दिया जाता है।[6] 'जातक' १९० मे एक घटना का उल्लेख है कि एक आतुर शिष्य जब देखता है कि उसको नदी के पार ले जाने के लिए कोई नाव नही है तब वह जल पर चल देता है। बीच धार मे पहुचकर उसका विश्वास डगमगा जाता है और वह डूबने लगता है। जब वह पुन बुद्ध मे अपनी आस्था को दृढ करता है तब वह सही-सलामत दूसरे किनारे पर पहुच जाता है। मैक्समूलर इस घटना पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि केवल पानी पर चलना कोई असामान्य कहानी नही है, परन्तु बुद्ध पर आस्था रखकर पार उतरना और

१. देखिए, मैथ्यू iii, १३।
२. हार्डी : 'मैन्यूअल ऑव बुद्धिज़्म', पृष्ठ ३५६।
३. वही, पृष्ठ ३१६।
४ 'महापरिनिब्बान सुत्त', पृष्ठ ४६।
५. वही, पृष्ठ ६२।
६. 'जातक' ७८

उसके अभाव मे डूबने लगना—इसका कारण कोई ऐतिहासिक सम्पर्क या स्थानान्तरण हो सकता है, और "इस मामले मे हमे याद रखना चाहिए कि इस बौद्ध नीति-कथा का समय काल-क्रम की दृष्टि से सेंट ल्यूक के इजील के समय के पहले का है।"[1]

१. मैक्समूलर : 'लास्ट एसेज', प्रथम सीरीज (१९०१), पृ० २८५।

यूसेबियस के कथनानुसार चर्च के द्वारा इजीलों का प्रकाशन ट्राजन (९८–११७ ई०) के शासन-काल में हुआ था। निस्सन्देह, वे इसके पूर्व भी किसी न किसी रूप में अस्तित्व में थीं, परन्तु उनके प्रामाणिक सम्पादन एव सकलन का यही समय था। बौद्धधर्म के धार्मिक नियमों से युक्त ग्रन्थ निश्चित रूप से ही इनसे पूर्व के थे। प्रथम शती के छठे दशक में बौद्धधर्म को सरकारी तौर पर चीन में मान्यता मिली, उसका स्वागत हुआ और उस दशक में एक बौद्ध ग्रथ 'द सूत्र ऑव ४२ सेक्शन्स' चीनी भाषा में सकलित किया गया और उसके सम्मान में एक मन्दिर का निर्माण किया गया। यह ग्रन्थ उस समय भारत में प्रसिद्ध हो चुका होगा जब सन् ६४ ई० में भारत में पहला चीनी राज-दूतावास स्थापित हुआ। इस ग्रन्थ में 'प्रातिमोक्ष' या विहार के अन्तेवासी सदस्यों के अनुशासन के २५० नियमों का उल्लेख है। 'ललितविस्तर' से मिलता-जुलता बुद्ध का पौराणिक जीवन भी चीनी भाषा में अनुवादित हुआ। उससे पता चलता है कि उस समय बौद्धधर्म के धर्म-सूत्र काफी विकसित हो चुके थे। अशोक के समय तक बौद्धधर्मके अधिकाश धर्मशास्त्रों की रचना हो चुकी थी, क्योंकि बैराठ में प्राप्त अशोक के शिलालेख से पता चलता है कि वह धर्मशास्त्रों के सात विभिन्न अशों को पढ़ने की सस्तुति भिक्षुओं, भिक्षुणियों और सामान्य जनता से करता है, इनमें से पाच तो 'सुत्तपिटक' के भाग हैं और अन्य दो 'विनयपिटक' में पाए जाए हैं। सिहल (लका) के पुरावृत्ताख्यानों से पता चलता है कि बौद्धधर्म के नियम अन्तिम रूप से एक परिषद् द्वारा निश्चित किए गए थे। जिसका अधिवेशन अशोक ने बुलाया था। अशोक की मृत्यु २०० ई० पू० के आसपास हुई। उसकी मृत्यु के कुछ ही समय बाद, मध्यभारत में स्थित भरहुत के स्तूप के चारों ओर जो कठघरा बना है, उससे हमें न केवल बौद्ध-धर्मशास्त्रों के नाम ज्ञात हो जाते हैं, वरन् कुछ बौद्धवर्गों के नाम भी। इस तरह के नाम दिए हुए हैं · 'अनुवाचक', 'वार्तालाप पटु'—'टोकरियों में निपुण', 'पच-सग्रह में पटु'। देखिए · फर्ग्युसन लिखित 'हिस्ट्री ऑव इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्किटेक्चर' (१८७६), पृष्ठ ८५, कनिंघम लिखित, 'द स्तूप ऑव भरहुत' (१८७९)। बुद्ध के जीवन पर पाली, सिहली और चीनी भाषा में लिखे ग्रथों और अन्य स्रोतों से उनके चमत्कारिक जन्म, उनके महाभिनिष्क्रमण, उनको दिए गए प्रलोभन, उनको ज्ञान (बुद्धत्व) प्राप्ति और उसके बाद एक धर्मोपदेष्टा के रूप में उनका परिश्रम तथा उनके धर्म के उद्देश्य आदि बातों में कुछ ऐसी समानता मिलती है जिससे यह लक्षित होता है कि ईस्वी सन् के शताब्दियों पूर्व एक बहुत विस्तृत परम्परा का अस्तित्व था। पाली भाषा में लिखे धर्म-सूत्र अशोक के जीवन काल में ही निश्चित कर दिए गए थे और वत्तगामनि (८८–७६ ई० पू०) के राजत्व-काल में उनको लिखित रूप दे दिया गया था। बौद्धधर्म प्रकृत्या एक मिशनरी धर्म था। द्वितीय शती ई० पू० में बौद्ध सन्यासी (श्रमण) पश्चिमी फारस में तथा प्रथम शती ई० पू० में बैक्ट्रिया में पाए गए थे।

ईसाई धर्म में साइमिअन, प्रलोभनों, जल पर चलने, रोटियों और मछलियों से सम्बन्धित चमत्कारिक घटनाओं का जो उल्लेख आया है, उनके विषय में गार्वे का विचार है कि ये सीधे बौद्ध-धर्म से उधार ली गई हैं। हमें कृष्ण और क्राइस्ट में कई समानताए मिलती हैं। उदाहरण के लिए, (१) जब क्राइस्ट (ईसा) का जन्म होता है तब उनकी माता 'मेरी' एक अद्भुत प्रकाश से आवृत हो उठती हैं। ऐसा ही प्रकाश कृष्ण-जन्म के समय देवकी को आवृत कर लेता है। (२) दोनों के जन्म के समय समस्त प्रकृति आनन्द से झूम उठती है। (३) हीरोद ज्योतिषियों से पूछता है : "कहा है वह, जो यहूदियों का राजा बनने के लिए जन्मा है?" (मैथ्यू *II*, ४), नारद कस को चेतावनी देते हैं कि कृष्ण तुझे मारेगा। ('हरिवश' पुराण, *II*, ५६)। (४) हीरोद की बात पर ज्योतिषी उसकी

यद्यपि बुद्ध ये सव चमत्कार करते हैं,[1] तो भी वे इनको अपनी दिव्यता का प्रमाण वनाने की वात नही स्वीकारते। "इसका कारण है कि मैं मानसिक शक्ति तया मनोभावो को जानने-सम्वन्धी चमत्कारो के खतरे को समझता हू, और मैं इस सवसे अरुचि रखता हू, घृणा करता हू।"[2] केवल कुछ विशेष अवसरो को छोडकर, अन्य अवसरो पर आत्महत्या करने की बुद्ध भर्त्सना करते हैं। "हे सारिपुत्त, कोई भी व्यक्ति जो अपने प्राण देता है या दूसरो के प्राण हरता है, उसको मैं निन्दा का पात्र समझता हूं। परन्तु भिक्षु चन्न ऐसा न था। उसने आत्महत्या तो की, पर वह अनिंद्य है।"[3] यदि किसीको मन मे यह दृढ विश्वास हो जाए कि शरीर को जीवित रखने से अव कोई लाभ नही अथवा इसको त्याग देने से समाज का व्यापक हित हो सकता है, तो उस दशा मे उसका त्यागन प्रशसनीय है। बुद्ध के जन्म-सम्वन्धी कहानिया[4] तथा परवर्ती महायान उनकी करुणा और त्याग को वहुत महत्त्व प्रदान करते हैं।[5] बुद्ध ससार के प्रकाश हैं, 'लोकाक्षु' (ससार की आख) हैं।[6] बुद्ध कहते हैं "मैं राजा हू, धम्म का एक अप्रतिम राजा हूं।"[7] बुद्ध धर्म के विपय मे अधिकारपूर्वक वोलते हैं और अपनी जाति के वे सिंह हैं।[8] वे घोपित करते हैं . "हे वासेत्य, ब्रह्म और ब्रह्मलोक दोनो को जानो और उस पथ को भी, जो वहा तक जाता है। मैं उस व्यक्ति की तरह उस ब्रह्मलोक को जानता हू जो वहा प्रविप्ट हो चुका है और वही पैदा हुआ है।"[9] वे आगे कहते हैं "जो व्यक्ति धम्म (सत्य या सिद्धान्त) को नही देखता है, वह मुझे भी नहीं देखता है ··जो व्यक्ति धम्म को देखता है, वह मुझे भी देखता है।"[10] बुद्ध कहते हैं : "जो लोग मुझमे केवल आस्था और प्रेम रखते है, निश्चय

खिल्ली उड़ाते हैं (मैथ्यू, *ii*, १६) और यशोदा की पुत्री के रूप में उत्पन्न देवी कस का उपहास करती है। (वही, *ii*, ५६)। (५) शिशुओं की हत्या की वात दोनों के आख्यानों में मिलती है। (६) जोजेफ मेरी के साथ वेथलहेम आया तो उसको कर देना पड़ा। इसी प्रकार नन्द यशोदा के साथ कर देने के लिए मथुरा आते हैं। (७) क्राइस्ट का मिस्र में पलायन वैसा ही है जैसा कृष्ण का व्रज में। इस प्रश्न पर सूचनाएं इतनी स्वल्प हैं कि यह स्वाभाविक है कि इस समस्या पर विभिन्न दृष्टिकोणों और पूर्व-मान्यताओं के साथ विचार करनेवाले लोग अपने निष्कर्षों में एक-दूसरे से काफी भिन्न हों।

१. 'अगुत्तर निकाय', *iii*, ६०। बुद्ध की जल-सम्वन्धी सिद्धि के सम्वन्ध में देखिए . 'महावग्ग', *i*, २०। तुलना कीजिए, मार्क *iv*, ३६।

२. 'दीघ निकाय', ११, के। 'दिव्यावदान' में बुद्ध अपने शिष्यों को आज्ञा देते हैं कि चमत्कार मत दिखाओ तथा अपने अच्छे कार्यों को छिपाओ और पापों को प्रकट करो।

३. 'सयुत्त निकाय', *xxxv*, ८७।

४. 'जातक', ३१६।

५. "ससार में कोई भी स्थान, सरसों के दाने के वरावर छोटा स्थान भी ऐसा नहीं है जहां वोधिसत्त्व ने प्राणियों के निमित्त अपने प्राणों का वलिदान न किया हो।" 'सद्धर्मपुण्डरीक' अंग्रेजी अनुवाद, सै० बु० ई०, खण्ड *xxi*, पृ० २५१।

६. 'दीघ निकाय', १६। तुलना कीजिए, जॉन *viii*, १२, *ix*, ५।

७. 'मज्झिम निकाय', ६२; तुलना कीजिए, जॉन *xviii*, ३७।

८. 'अगुत्तर निकाय', *v*, ६६; तुलना कीजिए, मार्क *i*, २२, और रिविलेशन *v*, ५।

९. 'दीघ निकाय' १३; तुलना कीजिए, जॉन *vi*, ४६, *vii*, २६, *viii*, ४२ और ५५।

१०. 'इतिवृत्तक', ९२; तुलना कीजिए, जॉन *xiv*, ६, ९, १८–२१।

ही वे स्वर्ग मे जाएगे ।"[1] "जो लोग मुझमे विश्वास रखते हैं, उनको अतत मुक्ति मिलकर रहेगी ।"[2] परन्तु बुद्ध धर्म के सिद्धान्त का पालन करने को अपने प्रति भक्ति रखने से अधिक महत्त्व देते हैं । जबकि ईसा अपनी बात न सुनने वाले ससार के प्रति रुष्ट हैं, तब बुद्ध अपने विरोधियो का सामना शान्ति और विश्वास से करते हैं । वे ससार को दुष्ट न मानकर अबोध समझते थे, विद्रोही न मानकर असन्तोषजनक मानते थे । इसलिए उनकी बातो मे हताश कुढन, चिडचिडाहट अथवा उग्र क्रोध हमे नही मिलता । उनके व्यवहार में हमको पूर्ण शालीनता, शिष्टाचार तथा किंचित् व्यग्य-मिश्रित सद्भावना के दर्शन होते हैं । मृत्यु के तीन महीने बाद बुद्ध का रूपान्तरण कर दिया जाता है । स्वयभू ब्रह्म और उनको एक ही बताया जाने लगता है । अपनी मृत्यु के चार सौ वर्ष पश्चात् उनका रूप कुछ और ही हो जाता है, लोग उनको अक्षर ब्रह्म का अस्थायी अवतार मानने लगते हैं और उनकी मान्यता यह हो जाती है कि अपने भक्तो को वे हर समय दर्शन दे सकते हैं तथा उनको अपनी दिव्य प्रकृति का भागीदार बनाने की प्रतिज्ञा करते हैं । प्रार्थना और ध्यान के द्वारा पवित्र बौद्ध स्वर्गिक प्रभु के साथ साक्षात् सम्पर्क स्थापित कर सकता है ।

अपने शत्रुओ को प्यार करना, शाप देनेवालो को आशीर्वाद देना, घृणा करनेवालो के साथ भी भलाई करना, एक गाल पर चाटा मारनेवाले के सामने दूसरा गाल भी कर देना, कोट चुरानेवाले के आगे ले जाने के लिए अपना लबादा भी रख देना, याचक को अपना सर्वस्व दे देना—ये हैं ईसाई-धर्म की शिक्षाए । परन्तु जातक ग्रन्थो को यदि आधार माना जाए, तो ये शिक्षाए बौद्धधर्म की मात्र शिक्षाए या उपदेश ही नही हैं, वरन् बुद्ध ने अपने अनेक जन्मो मे अनेक कठिनाइया सहकर, इनके कठोरतम रूप को अपने आचरण मे उतारने की चेष्टा की है । जिस प्रकार ईसा ने यहूदी-धर्म की रूढिवादिता और लकीर की फकीरी के विरुद्ध विद्रोह का झडा ऊचा किया, उसी प्रकार बुद्ध ने अपने समय के कर्मकाण्डी और यज्ञ-याग वाले वैदिक धर्म की जटिलताओ के विरुद्ध विद्रोह किया । उपनिषदो की भावना के अनुसार ही, बुद्ध और ईसा दोनो ही नवीन समृद्धतर जीवन की प्राप्ति के लिए मृत्यु या अपने तात्कालिक प्राकृतिक अस्तित्व के बलिदान की शर्त रखते हैं ।

जिज्ञासु लोग चाहे तो ससार के इन दो महान गुरुओ के जीवन मे दिखाई देनेवाली समानुरूपता को अपने अध्ययन-चिन्तन का विषय बना सकते हैं । प्रोफेसर जे० एस्टलिन कार्पेण्टर लिखते हैं "दोनो गुरुओ (बुद्ध और ईसा) के जीवन अनिवार्यत· भिन्न नही है । दोनो का ही ध्येय था आध्यात्मिक विमुखता की दशा से लोगो को चैतन्य करना, उनमे न्यायनिष्ठा के प्रति प्रेम की ज्योति प्रज्वलित करना, दु·खीजन को सान्त्वना देना, दोषी की भर्त्सना करना, पर उसका उद्धार भी करना"[3] इनमें से प्रत्येक गुरु की अपनी परम्परा थी और उसीमे से उसका उद्भव हुआ

१. 'मज्झिम निकाय', २२ ; तुलना कीजिए, जॉन *xi*, २६ ।
२. 'अगुत्तर निकाय', *x*, ६४ ।
३. 'न्यू टेस्टामेंट का बौद्धधर्म पर प्रभाव', 'नाइएटीन्थ सेंचुरी', १८८० ई०, पृष्ठ ९७५ ;

था। यह तथ्य ऊपरी सादृश्यो की तह मे पाई जानेवाली कुछ गहरी भिन्नताओ की ओर हमे ले जाता है। बुद्ध ब्रह्म को निर्गुण ईश्वर के रूप मे देखते हैं, जबकि ईसा की दृष्टि मे वह सगुण ईश्वर है।[1] जूडावाद मे आस्तिकता पर स्वभावत बल दिया गया है, परन्तु बुद्ध की शिक्षाओ मे इसका अभाव है। ईसाई-धर्म मानता है कि दु:ख-सहन मे मनुष्य को मुक्त कर देने की शक्ति है, बौद्धधर्म ऐसा नही मानता। इस बात को छोड दें, तो भी मतान्ध ईसाइयत मे एक ऐसी विशेष बात है जिसके सदृश बौद्धधर्म मे कोई बात नही मिलती, वह है यह विश्वास कि ईसा की मृत्यु से ससार की रक्षा हुई है। दोनो धर्मों मे जहा तक सादृश्यो का प्रश्न है, उनका कारण उधार लेना न होकर और दूसरी बातें हो सकती हैं। यदि हम धर्म को मनुष्य-मन का स्वाभाविक आगम मानते हैं, तो विभिन्न धर्मों मे समानुरूपताओ का न मिलना एक विचित्र बात होगी। ईसाई और बौद्ध धर्मों मे आत्मबलिदान का जो उच्चतम आदर्श प्रतिपादित किया गया है, वह सभी देशो और सभी युगो मे समान माना जा सकता है। मनुष्यो की आशाए और उनके भय, उनकी इच्छाएं और महत्त्वाकाक्षाए जैसी गगा के तटो पर हैं, वैसी ही गैलिली झील के किनारो पर। यदि एक-से ही उदाहरण और एक प्रकार के ही दृष्टान्त दिए गए है, तो इसका कारण भी यह है कि दोनो ही धर्मों के प्रणेता कृषि-सम्बन्धी समाज के सदस्य हैं। सम्भव है कि कुछ घटनाए, कहानिया और कहावतें दूर-दूर तक प्रचलित लोकगीतो की सामान्य कहानिया रही हो। यदि बुद्ध और ईसा दोनो ही नीति-कथाओ के माध्यम से अपनी शिक्षाए देते थे, तो इसका कारण भी यह माना जा सकता है कि सीधे-सादे लोगो को शिक्षा देने की यही विधि सरलतम है। यदि इन बातो के लिए हम छूट दे भी दें, तो भी हम इस बात का कोई कारण सरलता से नहीं ढूढ पाते कि दोनो ही महापुरुषो के जीवन को उदाहृत करने के लिए एक-सी ही दन्तकथाओ और अलकरणो का प्रयोग क्यो किया गया है? इसको स्वाभाविक विकास-मात्र नही कहा जा सकता। इसको केवल सयोग कहकर भी नही टाला जा सकता। इसको उस शैतान की करामात समझकर भी नहीं छोड़ा जा सकता, जो हमारी धारणाओ मे शका के बीज बोता है। परन्तु, जो लोग यूरोपीय सस्कृति के रग मे रगे हैं, उनको इस बात को स्वीकारने मे अरुचि नही, तो कुछ-कुछ उकताहट अवश्य होती है कि ईसाई-धर्म पर अन्य स्रोतो का, विशेषकर हिन्दू और बौद्ध धर्मो का ऋण है। मैक्समूलर लिखते हैं: "इन मामलो मे हमारी स्वाभाविक रुझान यह मानने की होगी कि बौद्धधर्म की कथाएं ईसाई-स्रोतो से उधार ली गई है न कि ईसाई-धर्म की कथाए बौद्ध-स्रोतो से। किन्तु, विद्वान् पुरुष की अन्त-श्चेतना इसे स्वीकार नही कर पाती। इनमे से कुछ कथाएं बौद्धधर्म के हीनयान सम्प्रदाय के धर्मग्रथो मे पाई जाती हैं, अत. स्पष्ट ही वे ईस्वी सन् से पहले की सिद्ध हो

ए० जे० एडमन्ट्स लिखित 'बुद्धिस्ट एण्ड क्रिश्चियन गॉस्पेल्स' (१९०८) भी देखिए। इस पुस्तक में दोनों धर्मों से सम्बन्धित जो समान बातें एकत्र की गई हैं, उनके विषय में बिना यह माने कि वे एक-दूसरे से उधार ली गई हैं, उनका कारण बताया जा सकता है।

1. देखिए: 'इण्डियन फिलॉसफी', खण्ड १, द्वितीय सस्करण (१९२९) पृष्ठ ४६५, ६८३।

जाती हैं।"[1] यह सन्देह करना अस्वाभाविक नही है कि मुख्य-मुख्य विचार पुरानी धर्म-पद्धति की ओर से नवीन धर्म-पद्धति को प्राप्त हुए होंगे। चूकि ईसाइयत का उदय एक ऐसे समय मे हुआ जब सब दर्शनो से सार सग्रह करने की उदार प्रवृत्ति लोगो मे विद्यमान थी, इसलिए यह असम्भव नही जान पडता कि इसने अपने से पुराने किसी धर्म के दृष्टिकोण और पौराणिक कथाओ को ग्रहण कर लिया हो। विशेषत उस समय भारत और रोमन साम्राज्य मे परस्पर आदान-प्रदान बहुत सामान्य हो चला था, ऐसी दशा मे ईसाइयत ने अपने से प्राचीनतर हिन्दू और बौद्धधर्मों से कुछ लिया हो तो इसे स्वाभाविक ही माना जा सकता है। हमे यह तो अनुभव करना ही चाहिए कि जब ईसाइयत अभी अपनी निर्माणावस्था मे ही थी तब बौद्धधर्म पूर्णत प्रतिष्ठित हो चुका था और उसका प्रसार होने लगा था। दोनो धर्मों के विचारो को परस्पर सम्बद्ध करने, उनमे परस्पर सादृश्य ढूढने की चेष्टा व्यर्थ है। जब तक हमारे लिए यह सम्भव नही हो जाता कि हम बिलकुल निश्चयपूर्वक यह कह सकें कि भारत से पश्चिम को विचार किस रूप मे गए, जब तक हम यह नहीं जानते कि कौन-से वे माध्यम थे जो भारतीय विचारो को पश्चिम तक ले गए, कौन-से अवसर और समय इस कार्य के लिए उपयुक्त सिद्ध हुए, तब तक यह कहना कि दोनो ने एक-दूसरे से प्रत्यक्षत कुछ लिया, एक अवाछित आशावादिता ही होगी। वस्तुत हुआ क्या, इस सम्बन्ध मे हमारा जो अज्ञान है, उसका यह अर्थ भी नही कि हम उन स्पष्ट सादृश्यो

१. 'लास्ट एसेज', प्रथम सीरीज (१६०१), पृष्ठ २८६। अपनी पुस्तक 'क्रिश्चियन ओरिजिन्स', अंग्रेजी अनुवाद (१६०६), पृष्ठ २२६ में ओटो पीफ्लीडरर कहते हैं "ल्यूक की बचपन की कहानियों और इन (बौद्ध) कहानियों में समानता इतनी स्पष्ट है कि इसको मात्र सयोग नहीं कहा जा सकता, इनमें किसी न किसी प्रकार का ऐतिहासिक सम्बन्ध अवश्य होना चाहिए।"

अप्रामाणिक इजीलों के विषय में बोलते हुए स्वर्गीय डॉ० विटरनित्ज जैसे सतर्क आलोचक कहते हैं "इस बात में सन्देह को कोई स्थान नहीं है कि ईसाई-धर्म ने दूसरे धर्मों से एक नहीं, अनेक बातें उधार ली हैं।"('विश्वभारती क्वार्टरली', फरवरी, १९३७, पृष्ठ १४)। "सदिग्ध प्रमाण इजीलों में कई बौद्ध पुराण-कथाएं आती हैं और उनकी भारतीयता इतनी स्पष्ट है कि कठिनता से ही यह कहा जा सकता है कि उनका उद्भव फिलस्तीन या मिस्र में हुआ और वहां से वे पूर्व की ओर गईं।" [सर चार्ल्स ईलियट लिखित 'हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज़्म' खण्ड ३ (१९२१), पृष्ठ ४४१]। बालक ईसा के सम्मुख वृक्ष झुक जाते हैं और अजदहे उनकी पूजा करते थे। अपनी पाठशाला में वे अपने शिक्षक पर अज्ञानी होने का आरोप लगाते हैं और वह मूर्च्छित हो जाता है (टॉमस का इजील ii और iv और 'ललितविस्तर', x)। जब ईसा मिस्र के एक मन्दिर में प्रवेश करते हैं तब प्रतिमाएं उनके सामने दण्डवत् गिर पड़ती हैं, देव-मूर्तियां यही उस समय करती हैं जब गौतम बुद्ध कपिलवस्तु के मन्दिर में देव-दर्शन के लिए ले जाए जाते हैं (सूडो-मैथ्यू xxii–xxiv और 'ललितविस्तर' viii)। ईसा के जन्म के पूर्व मरियम शुभ्र दीप्ति से दीप्त हो उठती हैं, प्रसव के समय उनको कोई पीड़ा नहीं होती, न वे अपवित्र ही होती हैं (सूडो-मैथ्यू xiii, 'दीघ निकाय' १४, और 'मज्झिम निकाय', १२३)। ईसा और बुद्ध के जन्म के समय मनुष्य-जाति और प्रकृति के सारे क्रिया-कलाप अचानक रुक जाते हैं (जेम्स का इजील और 'ललितविस्तर', vii)। रोमन कैथोलिक चर्च के धार्मिक अनुष्ठानों और समारोहों तथा बौद्धधर्म के अनुष्ठानों और समारोहों में जो सादृश्य है, उसका कारण बतलाना कठिन है। "जब दोनों धर्मों में पाए जानेवाले समान कारणों और अनुरूपताओं के लिए छूट दी जा रही हो, तब यह विश्वास करना कठिन है कि पादरियों और भिक्षुओं का ब्रह्मचर्य-पालन, गुनाहों की आत्मस्वीकृति, प्राचीन पवित्र अवशेषों की

की ओर से भी अपनी आखें मूद लें, जिनसे सूचित होता है कि बुद्ध और ईसा दोनों एक ही विरादरी के आदमी थे। हमारी रुचि धार्मिक अनुभव की तर्कसगति मे है, और बुद्ध तथा ईसा दोनों इसके प्रमुख साक्ष्यो मे से हैं। बौद्ध और ईसाई धर्मों के प्रारम्भिक स्वरूपो मे जीवन-दर्शन तथा विचार-जगत् का जो साम्य था, उसके विषय मे कोई मतभेद नही हो सकता। ऐतिहासिक दृष्टि से वे परस्पर सम्बद्ध हो या नही, परन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि बौद्ध और ईसाई धर्म एक ही महान आध्यात्मिक आन्दोलन की दो समान अभिव्यक्तिया थी। दोनों धर्मों मे जो मौखिक और आदर्शात्मक समानताए मिलती हैं, उनसे धार्मिक महत्त्वाकाक्षा की प्रभावपूर्ण एकता प्रकट होती है। मानवात्मा के जिस उद्वेलन की अभिव्यक्ति हमे उपनिषदो के रूप में प्राप्त हुई, उसीके प्रारम्भिक हिन्दू प्रतिनिधि बुद्ध थे और वाद के यहूदी प्रतिनिधि ईसा थे। ये दोनो आदिकाल मे मिले और एक-दूसरे से कुछ वातें इन्होंने उधार ली, इसका महत्त्व नही के वरावर है।

ईसा की मृत्यु के वाद उनके जो थोडे-से शिष्य रहे, जो जीवितावस्था मे उनके साथ रह चुके थे, उन्हीके वीच ईसाइयत का विनम्र प्रारम्भ हुआ। इस क्रातिकारी पैगम्वर के ये निकटस्थ साथी और सचिव थे। इन्होने ही ईश्वरीय राज्य के आगमन की घोषणा की और लोगो से प्रायश्चित्त करने की माग की। इंजीलो (गॉस्पेल्स) मे वही वातें कही गई हैं जो ईसाई-धर्म-प्रचारको तथा अन्यो को ईसा के जीवन तथा सिद्धान्त के विषय मे कहना था, या अधिक ठीक तो यह है कि कुछ ईसाई-धर्म-प्रचारको तथा उनके मित्रो की मूल शिक्षाए ईसाई-परिवारो तथा सम्प्रदायो मे जिस रूप मे कही-सुनी जाती थी, उसी रूप मे ये इजीलो मे एकत्र कर दी गई हैं। मनुष्य की स्मरणशक्ति तो थोडी है, परन्तु उसकी कल्पनाशक्ति का कोई ठिकाना नही है। ऐतिहासिक तथ्यो मे जो अपूर्णता रह गई थी, वह शीघ्र ही कल्पना के विस्तार के द्वारा पूरी कर दी गई। ईसा के जीवन से सम्वन्वित घटनाओ ने दन्तकथाओ का रूप ले लिया और यह असम्भव नही जान पडता कि इस कार्य मे इजील-लेखक ईसाई-धर्म-प्रचारक अवचेतन रूप से बुद्ध के धर्म-मत से प्रभावित हुए हो। जव ईसाइयत ने रोमन साम्राज्य मे प्रवेश किया तव उसमे विभिन्न धाराए आ मिली और उन्होंने विश्वासो तथा अनुष्ठानो के अनेक विचित्र आवर्त उत्पन्न कर दिए।

पूजा, माला (सुमिरनी) और घंटियों का प्रयोग आदि वातें दोनों धर्मों में स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न हुई होंगी।" (सर चार्ल्स ईलियट, 'हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म', खण्ड ३, (१९२१) पृष्ठ ४४३)। भारतीय और ईसाई आराधना-पद्धतियों में कुछ चीजें समान रूप से पाई जाती हैं, जैसे पुरोहित के सिर का मुण्डन, धूप-दीप, पुष्प और सगीत आदि वेदिका-अनुष्ठान। हो सकता है कि ये स्वतन्त्र रूप से विकसित हुए हों, परन्तु कुछ चीजें तो ऐसी हैं, जैसे ब्रह्मचर्य, प्राचीन पवित्र अवशेषों का पूजन, आत्मस्वीकृति, जो पुरानी हैं और बौद्धधर्म में पूर्णत प्रतिष्ठित हो चुकी हैं तथा यहूदी, सीरियाई या मिस्री प्राचीन रीति-रिवाजों में उन जैसी कोई चीज नहीं मिलती।

[३]

रोमन साम्राज्य के दिनो मे, विशेषत आगस्टस, ट्राजन और मार्कस ऑरेलियस के शासनकाल मे भारत और पश्चिमी देशो मे बहुधा सम्पर्क के अवसर आते रहे। जातको मे बौद्ध सौदागरो और दूरस्थ देशो मे उनके व्यापार करने के उल्लेख मिलते हैं। ग्रीक और भारतीय व्यापारी तथा विद्वान ऐण्टिओक, पालमीरा और सिकन्दरिया मे परस्पर मिलते थे। आगस्टसकालीन कवियो ने इसका उल्लेख किया है कि मीडी, सीथियन और हिन्दू लोग शाही रोम के सरक्षण मे रह रहे थे।[1] भारतीय राजा रोम मे अपने राजदूत भेजते थे। इनमे से एक राजदूत, जिसे स्ट्रैबो ने पैण्डिअन कहा है, नर्मदा नदी के मुहाने पर स्थित भडोच से चला और चार वर्ष के पश्चात् समोस मे राजा ऑगस्टस से उसने भेंट की।[2] जब रोमन सम्राट ट्राजन का ९९ ई० मे राज्याभिषेक हुआ, तब एक भारतीय राजदूत-मण्डल उसको बधाई देने के लिए गया था। भारत के कुषाण राजाओ का रोमन राजाओ से बहुत अच्छा सम्बन्ध था। इतिहासकार दमिश्कवासी निकोलस की भेंट एक भारतीय राजा पोरस (पुरु) द्वारा भेजे राजदूत-मण्डल के अवशिष्ट तीन सदस्यो से अन्तिओक मे हुई थी। ये लोग रोम जा रहे थे। सम्राट आगस्टस ने एक वसीयतनामा लिखा था जो अकीरा के एक स्मारक पर उत्कीर्ण है। उसके ग्रीक अनुवाद से पता चलता है कि भारतीय राजाओ के साथ उसकी बराबर चिट्ठी-पत्री होती रहती थी। प्लिनी ने एक भारतीय राजदूत-मण्डल का उल्लेख किया है जो क्लॉडियस के शासनकाल मे रोम आया था।[3] चूंकि भूमध्यसागरीय देशो और पूर्वीय देशो के बीच काफी वाणिज्य-व्यापार होता था, इसलिए हमे यह नही सोचना चाहिए कि यह केवल कुछ उत्पादित वस्तुओ तक ही सीमित था। 'कैम्फर' (कर्पूर), 'सल्फर' (शुल्वारि), 'बेरील' (वैदूर्य) तथा 'ओपल' (उपल या रत्नोपल)—ये वस्तुए थी जो रोम मे भारत से आयात होती थी, उनके नाम ही बतलाते हैं कि भारत का भाषातात्त्विक प्रभाव रोम पर पडा था। प्टोलेमी और डिओन कैसियस के कथनानुसार विद्या के महान पीठ सिकन्दरिया मे भारतीय लोग पाए जाते थे।[4] डिओन क्रिसोस्टम, जो ट्राजन के शासनकाल मे जीवित था और ११७ ई० मे या उसके कुछ बाद जिसकी मृत्यु हुई, सिकन्दरिया मे पाए जानेवाले विदेशी लोगो मे भारतीयो का भी उल्लेख करता है। होमर पर दिए अपने भाषण मे वह कहता है कि भारतीय लोग, जो रोमनो द्वारा देखे जानेवाले तारो को ही नहीं देखते थे, प्रियम और ऐण्ड्रोमेकी की दु ख-गाथाओ तथा हेक्टर एव ऐकिलीज़ की वीरताओ के गीत अपनी विचित्र भाषा में गाया करते थे।[5] स्पष्ट ही, उसे 'महाभारत' महाकाव्य के विषय मे जानकारी थी और वह यह भी जानता था कि 'इलिअड' की कुछ घटनाओ और 'महाभारत' के कुछ उपाख्यानो मे परस्पर सादृश्य है। सिकन्दरिया

१. होरेस, 'कार्म०' iv, १४, वर्जिल, 'एनीड', viii, ६८० ।
२. 'ज्योग्रैफी', xv, ७३ ।
३. 'नेशनल हिस्ट्री', vi, २४ ।
४. 'एशियाटिक रिसर्चेज़', iii, ५३ ।
५. 'ऑरेशन', liii ।

के कुछ श्रोताओं के सम्मुख भाषण देते हुए वह कहता है : "मैं आप लोगो के मध्य न केवल ग्रीको, इटालियनों, सीरियनो, लीबियनो और सिलिसियनों तथा इनसे भी दूरस्थ प्रदेशो मे रहनेवाले लोगो को देख रहा हू, वरन् बैक्ट्रियनो, सीथियनो, पारसीको और कुछ भारतीयो को भी, जो आज यहा दर्शक के रूप मे उपस्थित हैं और सदा ही यहा रहते आए हैं।"[1] दूसरी शताब्दी ईस्वी के मध्य मे भारत को अपने दर्शनशास्त्र और धर्म के लिए उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त थी, क्योंकि ग्रीक दार्शनिक डिमिट्रियस को लूसियन ने प्रेरित किया था कि वह अपनी सम्पत्ति को छोड-छाड़कर भारत चला जाए और वहा जाकर ब्राह्मणो के बीच रहकर अपना शेष जीवन विताए।[2] त्याना के अपोलोनियस के यात्रा-विवरण भी इस परम्परा का समर्थन करते हैं। सिकन्दरिया का क्लीमेट, जिसकी मृत्यु लगभग २२० ई० मे हुई, हिन्दूधर्म और बौद्धधर्म के अन्तर को समझता था। वह कहता है : "कुछ भारतीय ऐसे हैं जो 'बौत्त' (बुद्ध) के उपदेशो के अनुसार चलते हैं और उनको अत्यधिक श्रद्धा-भक्ति के कारण एक देवता के स्थान पर प्रतिष्ठित कर बैठे हैं।"[3] क्लीमेट कहता है कि पाइथागोरस ने अन्यो के साथ-साथ ब्राह्मणो से भी सीखा था।[4] सेंट जेरोमी (३४० ई०) बुद्ध का नाम लेकर उल्लेख करता है और कुमारी माता के गर्भ से उनकी उत्पत्ति की परम्परा को उद्धृत करता है।[5] कहा जाता है कि कॉन्स्टेण्टाइन के शासनकाल मे मेट्रोडोरस ने हिन्दुओं के विज्ञान और दर्शनशास्त्र का अध्ययन करने के लिए भारत की यात्रा की थी। उसके साथ उसका मित्र टायर-निवासी मेरोपियस और उसके साथी फ्रूमेन्सियस तथा एडिसियस भी गए थे। कॉन्स्टेण्टाइन, जूलियन और जस्टिनियन तक के दरबारो मे भारतीय राजदूत भेजे जाते रहे थे। डैमेसियस ने अपने द्वारा लिखित इसिडोर की जीवनी मे यह उल्लेख किया है कि ५०० ई० मे कुछ ब्राह्मणो ने सिकन्दरियाई विज्ञान को सीखने के लिए सिकन्दरिया की यात्रा की थी। गणित-ज्योतिष और भूगोलशास्त्र के विषय मे भारतीय काफी हद तक पाश्चात्य विज्ञान के ऋणी थे।

रोमन साम्राज्य प्रभूत भौतिक सम्पदा की दृष्टि से तो बहुत सम्पन्न हो गया था, परन्तु उसके पीछे उसका कोई आध्यात्मिक प्रयोजन न था। उसका अन्तिम उद्देश्य व्यक्तिगत और सामूहिक स्वार्थपरता की सिद्धि जान पडता था। ईसा के जन्म के पूर्वकाल मे हेलेनवाद (प्राचीन यूनानी-धर्म) की पकड प्राकृतिक धर्मों पर से ढीली पड गई थी, परन्तु उसने विचारणा और जिज्ञासा को स्फुरित किया था। रोमन साम्राज्य की अधिकाश जनता प्राचीन पैतृक सम्प्रदायों मे कोई आकर्षण नही पा रही थी। ग्रीक ओलिम्पस के देवतागण और लैटिनो के कृषि-सम्बन्धी देवी-देवता लोकप्रिय कथा-कहानियो या काव्यात्मक साहित्य मे तो अभी जीवित थे, परन्तु वे जन-समाज के धार्मिक जीवन का प्रतिनिधित्व नही कर रहे थे। सीज़र राजाओं की पूजा ने लोगों मे नागरिक गुणो को विकसित किया और विधि-नियम की पूजा ने, जैसाकि स्टोइकवादियों

१. वही, XXXII मैक्रिण्डिल रचित 'एन्श्येण्ट इण्डिया', पृष्ठ १७४—८ से उद्धृत।
२. 'टॉक्सेरिस', ३४। ३. 'स्ट्रोमैटा', i, १५। ४. वही, i, १५।
५. सेंट जेरोमी, 'कॉन्ट्रे० जोविन', i, २६।

ने किया, उच्च सस्कृत लोगो की भावना को तुष्ट किया । वे अनिवार्यत धार्मिक न थे, हालाकि उनमे धर्म के कई तत्त्व सन्निहित थे । धार्मिक विचारो वाले लोग, जिनको रोमन देवताओ मे कोई आकर्षण नही रह गया था और जो केवल नागरिक समारोहो की दृष्टि से ही उनका उपयोग करते थे, सामाजिक जीवन के वाहर व्यक्तिगत मोक्ष के एक रहस्यवादी आदर्श मे आध्यात्मिक सान्त्वना प्राप्त करने की चेष्टा करते थे । लोग पूर्वी धार्मिक सम्प्रदायो की ओर आर्कापित हो रहे थे । रोमन साम्राज्य के पूर्वी प्रातो और यूरोप को मिलानेवाले प्रमुख राजपथो के द्वारा ये सम्प्रदाय साम्राज्य मे पैठते जा रहे थे । ये सम्प्रदाय थे आइसिस या मिथ्रो के, ईसाई या ऑफियाई रहस्यवाद के । इन सवमे कुछ वातें समान रूप से पाई जाती थी, जैसे रहस्यवाद, तपवाद और धर्मनिरपेक्ष राज्य से श्रेष्ठता । विशिष्ट यूनानी जन चाहें तो इस परिवर्तन को मिथ्या मोड और जीवन-मूल्यो को तोड-मरोड कह सकते हैं, परन्तु निराशा मे छटपटानेवाले लोगो के लिए तो यह सत्य का दर्शन ही था जिससे ससार को वचाया जा सकता है । इसने उनकी आत्मा के पीडक शून्य को भर दिया और निराशा के वादल को छिन्न-भिन्न कर दिया ।

प्रोफेसर गिलवर्ट मुरे हमे वतलाते हैं कि 'राज्य के कल्याण के प्रति अन्यमनस्कता', 'तपवाद, रहस्यवाद' की विशेषताए जितने स्पष्ट रूप मे नॉस्टिको (ज्ञानवादियो) और मिथ्रो के पूजको मे पाई जाती हैं, उतने ही स्पष्ट रूप मे इजीलो और इल्हामो मे, जितनी जूलियन और प्लॉटिनस मे पाई जाती हैं, उतनी ग्रेगरी और जेरोमी मे ।[१] प्रोफेसर ग्वाटकिन कहते हैं "अपने सारे अधकचरेपन के वावजूद इन पूर्वीय आराधना-पद्धतियो ने लोगो की एक उच्चतर जीवन और अदृष्ट शक्तियो के साथ ससर्ग की उत्कट चाह को इस प्रकार से सतृप्त किया जिस प्रकार से राज्य की पुरानी अनाध्यात्मिक आराधना नही कर पाई थी ।"[२] उन्होंने राज्य की अपेक्षा एक अधिक विशद साहचर्य की ओर एक अच्छे नागरिक की अपेक्षा एक समृद्धतर जीवन की आवश्यकता की ओर हमारा ध्यान दिलाया । उन्होने विचारशील लोगो का ध्यान मात्र मानववाद की असफलता की दु खान्त कहानी की ओर दिलाया, उन्होंने शाश्वत शक्ति के प्रति मनुष्य की लालसा की गहराई की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया । प्रथम शताव्दी मे रोमन साम्राज्य की यह स्थिति थी कि उसमे हर प्रकार के तत्त्वज्ञान के अनुयायी मौजूद थे और जीवन की कठिनाइयो के हर समाधान को अपने समर्थक मिल जाते थे ।

ससार पर आध्यात्मिक स्वामित्व स्थापित करने मे जिन धार्मिक सम्प्रदायो ने ईसाइयत के साथ स्पर्द्धा की, उनमे से प्रमुख सम्प्रदाय हैं (१) मिथ्रावाद, (२) मिस्री रहस्यवाद, और (३) सिकन्दरियाई धर्मशास्त्र (ग्रीक और भारतीय, यहूदी और उत्तरकालीन ईसाई विचारणा, जिनका विकास सिकन्दरिया मे हुआ, का एक विचित्र मिश्रण) । जव रोमन साम्राज्य एक राजनीतिक इकाई के रूप मे सुस्थापित हो गया, तव उसके जोड-तोड मे धार्मिक एकता अत्यावश्यक हो गई । इस नये एकात्मक

१. 'फाइव स्टेजेज ऑव ग्रीक रिलीजन' पृष्ठ १५५ ।
२. 'द नॉलेज ऑव गॉड', खण्ड २, पृष्ठ १४३ ।

राज्य को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जिसका स्वरूप अनेकेश्वरवादी सम्प्रदायो की अपेक्षा अधिक सार्वभौम होता। रोमन ससार ने सर्वप्रथम जिस एकेश्वरवादी धर्म-मत को राजकीय स्वीकृति प्रदान की, वह मिथ्रावाद था। इसने धर्म मे सैनिकता की भावना ला दी, क्योकि जीवन को यह अधकार और प्रकाश के मध्य चलनेवाले अनन्त सघर्ष के रूप मे देखता था। मिथ्रा (मित्र) प्रकाश का देवता है, वह पृथ्वी पर के देवत्व का प्रतिनिधि है, स्वर्ग की उच्च शक्तियो और मानव-जाति के बीच वह एक मध्यस्थ है। मिथ्रावादी आध्यात्मिक आशीर्वाद और ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से नाना प्रकार के धार्मिक सस्कारो और क्रमिक दीक्षा-सस्कारो का अवलम्बन करते थे।

ससानिदो के पारसीक साम्राज्य मे मानिकीवाद का जन्म हुआ। इसका सस्थापक था मानी, जो बेबीलोनिया के भू-प्रदेश मे २१५ ई० मे पैदा हुआ था। उसने एक धार्मिक मत का प्रचलन किया जो जरस्तुत मत (पारसी धर्म) के सिद्धान्तो और नॉस्टिक (ज्ञानवादी) शिक्षाओ का मिश्रित रूप था। इसने ब्रह्मचर्य, सयम, दरिद्रता और उपवास आदि तपश्चर्या का आदर्श सामने रखा। इसने प्रकाश और अन्धकार के दो सिद्धान्तो की विपरीतता पर बल दिया। यह मतवाद फारस की आरमेइक भाषाभाषी प्रजा मे फैल गया। मानी ने अपने सम्प्रदाय मे ईसा की शिक्षाओ को काफी स्थान दिया, इस कारण वह ईसाई अपधर्म के नेता के रूप मे स्वीकार कर लिया गया। फिर भी, इस सम्प्रदाय ने प्रतिमाओ के पूजन का निषेध किया, पशु-बलि का समर्थन नही किया। फल यह हुआ कि यह रोमन सम्राटो का कोपभाजन बना। यह सम्प्रदाय चीन मे बौद्ध बन गया और यूरोप मे ईसाई।

प्राचीन मिस्र मे एक मातृका देवी थी आइसिस, जो ओसिरिस, आइसिस और होरस—की त्रिमूर्ति मे से एक थी। उसको सेरीज, वीनस और दियाना आदि कई अन्य स्थानीय देवियो के साथ एकरूप माना जाता था।[1] ईसाइयत के उद्भव के समय वह रहस्यवाद के एक विशद सम्प्रदाय का केन्द्र बन गई थी। यही देवी ईसाई धर्म मे कुमारी माता के रूप मे पुन प्रकट होती है।

[४]

सिकन्दरिया मे, जहा रहस्यवादी विचारधारा खूब पनप रही थी, धार्मिक तत्त्वज्ञान ने विभिन्न स्वरूप ग्रहण किए।[2] फिर भी, उनमे कई बातें समान थी, जैसे ईश्वर को एक इन्द्रियातीत निरपेक्ष सत्ता के रूप मे मानने की अस्पष्ट भावना, अक्षर-ब्रह्म और ससार के बीच के अन्तराल को पाटने के लिए मध्यवर्ती शक्तियो की परि-

१. एक ऑक्सीरिन्कस पाण्डुलिपि (न० १३८०) जिसे लिपि के आधार पर ईसा की द्वितीय शताब्दी के आरम्भ का बताया जाता है, में आइसिस की एक लम्बी स्तुति की गई है और उसको भारत की 'माया' के समान माना गया है और उसे गगा की अधिष्ठात्री कहा गया है।

२. एम० वैचेरॉट ने इस बात पर बल दिया है कि सिकन्दरियाई लोगों के दर्शनशास्त्र ने यूनानी तत्त्वज्ञान से सिवाय भाषा और विधियों के अन्य कुछ नहीं लिया। इसकी विचारणा की सभी प्रमुख बातें पूर्वीय हैं। ('हिस्ट्री क्रिटीक डी ल—एकोले डी अलेक्जैण्ड्री', खण्ड ///, पृष्ठ २५०)।

कल्पना, पाप के सिद्धान्त के साथ वस्तु-जगत् का सम्वन्ध, और निरपेक्ष सत्यों के स्पष्टतर दर्शन के लिए तपोपूर्ण आत्मसयम को साधन मानना । ये बातें सिकन्दरियाई धार्मिक सस्कृति के सभी विभिन्न रूपो मे, जिनमे से मुख्य-मुख्य हैं (१) यहूदी प्लेटोवाद, (२) नॉस्टिकवाद (ज्ञानवाद), (३) नवप्लेटोवाद, और (४) ईसाई प्लेटोवाद, पाई जाती हैं । धार्मिक विचार और उच्चाकाक्षा के परस्पर विरुद्ध किन्तु सम्वद्ध रूपो के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा खीचना कठिन होगा । ये विभिन्न प्रवृत्तियां जहा तक इष्ट देवता की प्रकृति, भावी जीवन और नैतिकता के साथ धर्म के सम्वन्ध की समस्याओ से सम्वन्धित हैं, वही तक मैं इनपर विचार करूगा, उनके शेष रूपो पर विचार करने की चेष्टा मैं नही करूगा ।

सिकन्दरिया पूर्व और पश्चिम की मिलनस्थली थी । वही पर फिलो ने यहूदी धर्मशास्त्रो की नई व्याख्या प्रस्तुत की । यहूदी शिक्षाओ को हेलेनवादी विचारो से सयुक्त करने का, यहूदी पैगम्वरो की धार्मिक धारणाओ को ग्रीक दार्शनिको की भाषा मे अभिव्यक्त करने का यह एक अत्यन्त विधिवत् प्रयास था । उसने अपने व्यक्तिगत अनुभव की प्रेरणा के अन्तर्गत यहूदी इल्हाम और यूनानी विचारशील विवेक के सिद्धान्तो को एकत्र लाने की चेष्टा की । फिलो की विचारपद्धति का प्रमुख और निश्चयात्मक स्वरूप है 'लोगोस' का सिद्धान्त ।

यहूदी परम्परा मे फिलो के अग्रगामियो मे से हैं सिवीलीन ऑरेक्लीज़ और 'द वुक ऑव विज़डम' । सिवीलीन ऑरेक्लीज़ (सी० १४० ई० पू०) यूनानियो और मिस्रियो का आह्वान मूर्ति-पूजा को त्यागने और एक ईश्वर को, जिसे चिरन्तन, अनश्वर और स्वयभू कल्पित किया गया है, पूजने के लिए करता है । जवकि ससार और मनुष्य नश्वरता से अभिशप्त होने के कारण कुछ नही हैं तव एक उसीका अस्तित्व है । यद्यपि वह मानवात्मा मे अपना दर्शन देता है, तथापि वह चर्मचक्षुओ के लिए सर्वथा अदृश्य है । उसीने द्युलोक, भूलोक, सूर्य, नक्षत्रमण्डल और चन्द्र का सृजन किया है । स्वय अदृष्ट रहकर भी वह सव वस्तुओ को देखता है । वह परम ज्ञाता है, प्रत्येक वस्तु का द्रष्टा है । जो लोग सच्चे ईश्वर का आदर करते हैं, उन्हें शाश्वत जीवन की उपलब्धि होगी और सदा के लिए वे स्वर्गवासी वन जाएगे । फिलो के सिद्धान्त के विशिष्ट विकासो को यहा कोई स्थान नही मिल पाया है ।

'वुक ऑव विज़डम' निस्सन्देह फिलो की कृतियो से पूर्व की रचना है, वह अनुभवातीत ईश्वर और ज्ञान मे अन्तर करती है । ईश्वर चिरन्तन स्वयभू है और केवल उसीमे से समस्त अस्तित्व का विधान होता है । यह दृश्य जगत् अपनी क्षणभगुरता के कारण सत्य या पूर्ण नही समझा जा सकता । 'वुक ऑव विज़डम' एक अदृष्ट वास्तविकता की ओर सकेत करती है और वताती है कि जो कुछ हम देख रहे हैं उसका एक शाश्वत अपरिवर्तनीय आधार भी है । वही चिरन्तन प्रकाश है । नक्षत्रो और सूर्य का प्रकाश तो मात्र उसका प्रतीक या प्रतिविम्व है । ज्ञान और अनुभवातीत ईश्वर मे भी अन्तर किया गया है । ज्ञान 'सभी वस्तुओ का शिल्पी है'[1], वह दैवी

१. *vii*, २१, *viii*, ६ ।

राज्य को एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जिसका स्वरूप अनेकेश्वरवादी सम्प्रदायो की अपेक्षा अधिक सार्वभौम होता। रोमन ससार ने सर्वप्रथम जिस एकेश्वरवादी धर्म-मत को राजकीय स्वीकृति प्रदान की, वह मिथ्रावाद था। इसने धर्म मे सैनिकता की भावना ला दी, क्योकि जीवन को यह अंधकार और प्रकाश के मध्य चलनेवाले अनन्त सघर्ष के रूप मे देखता था। मिथ्रा (मित्र) प्रकाश का देवता है, वह पृथ्वी पर के देवत्व का प्रतिनिधि है, स्वर्ग की उच्च शक्तियो और मानव-जाति के बीच वह एक मध्यस्थ है। मिथ्रावादी आध्यात्मिक आशीर्वाद और ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से नाना प्रकार के धार्मिक सस्कारो और क्रमिक दीक्षा-सस्कारो का अवलम्बन करते थे।

ससानिदो के पारसीक साम्राज्य मे मानिकीवाद का जन्म हुआ। इसका सस्थापक था मानी, जो बेबीलोनिया के भू-प्रदेश मे २१५ ई० मे पैदा हुआ था। उसने एक धार्मिक मत का प्रचलन किया जो जरस्तुत मत (पारसी धर्म) के सिद्धान्तो और नॉस्टिक (ज्ञानवादी) शिक्षाओं का मिश्रित रूप था। इसने ब्रह्मचर्य, सयम, दरिद्रता और उपवास आदि तपश्चर्या का आदर्श सामने रखा। इसने प्रकाश और अन्धकार के दो सिद्धान्तो की विपरीतता पर बल दिया। यह मतवाद फारस की आरमेइक भाषाभाषी प्रजा मे फैल गया। मानी ने अपने सम्प्रदाय मे ईसा की शिक्षाओं को काफी स्थान दिया, इस कारण वह ईसाई अपधर्म के नेता के रूप मे स्वीकार कर लिया गया। फिर भी, इस सम्प्रदाय ने प्रतिमाओ के पूजन का निषेध किया, पशु-बलि का समर्थन नही किया। फल यह हुआ कि यह रोमन सम्राटो का कोपभाजन बना। यह सम्प्रदाय चीन मे बौद्ध बन गया और यूरोप मे ईसाई।

प्राचीन मिस्र मे एक मातृका देवी थी आइसिस, जो ओसिरिस, आइसिस और होरस—की त्रिमूर्ति मे से एक थी। उसको सेरीज़, वीनस और दियाना आदि कई अन्य स्थानीय देवियो के साथ एकरूप माना जाता था।[1] ईसाइयत के उद्भव के समय वह रहस्यवाद के एक विशद सम्प्रदाय का केन्द्र बन गई थी। यही देवी ईसाई धर्म मे कुमारी माता के रूप मे पुन. प्रकट होती है।

[४]

सिकन्दरिया मे, जहा रहस्यवादी विचारधारा खूब पनप रही थी, धार्मिक तत्त्वज्ञान ने विभिन्न स्वरूप ग्रहण किए।[2] फिर भी, उनमे कई बातें समान थी, जैसे ईश्वर को एक इन्द्रियातीत निरपेक्ष सत्ता के रूप में मानने की अस्पष्ट भावना, अक्षर-ब्रह्म और ससार के बीच के अन्तराल को पाटने के लिए मध्यवर्ती शक्तियो की परि-

१. एक ऑक्सीरिन्कस पाण्डुलिपि (न० १३८०) जिसे लिपि के आधार पर ईसा की द्वितीय शताब्दी के आरम्भ का बताया जाता है, में आइसिस की एक लम्बी स्तुति की गई है और उसको भारत की 'माया' के समान माना गया है और उसे गगा की अधिष्ठात्री कहा गया है।

२. एम० वैचेरॉट ने इस बात पर बल दिया है कि सिकन्दरियाई लोगों के दर्शनशास्त्र ने यूनानी तत्त्वज्ञान से सिवाय भाषा और विधियों के अन्य कुछ नहीं लिया। इसकी विचारणा की सभी प्रमुख बातें पूर्वीय हैं। ('हिस्ट्री क्रिटीक डी ल—एकोले डी अलेग्ज़ैण्ड्री', खण्ड III, पृष्ठ २५०)।

कल्पना, पाप के सिद्धान्त के साथ वस्तु-जगत् का सम्बन्ध, और निरपेक्ष सत्यो के स्पष्टतर दर्शन के लिए तपोपूर्ण आत्मसयम को साधन मानना। ये बातें सिकन्दरियाई धार्मिक सस्कृति के सभी विभिन्न रूपो मे, जिनमे से मुख्य-मुख्य हैं (१) यहूदी प्लेटोवाद, (२) नॉस्टिकवाद (ज्ञानवाद), (३) नवप्लेटोवाद, और (४) ईसाई प्लेटोवाद, पाई जाती हैं। धार्मिक विचार और उच्चाकाक्षा के परस्पर विरुद्ध किन्तु सम्बद्ध रूपो के मध्य स्पष्ट विभाजक रेखा खीचना कठिन होगा। ये विभिन्न प्रवृत्तियां जहा तक इष्ट देवता की प्रकृति, भावी जीवन और नैतिकता के साथ धर्म के सम्बन्ध की समस्याओ से सम्बन्धित हैं, वही तक मैं इनपर विचार करूगा, उनके शेष रूपो पर विचार करने की चेष्टा मैं नही करूगा।

सिकन्दरिया पूर्व और पश्चिम की मिलनस्थली थी। वही पर फिलो ने यहूदी धर्मशास्त्रो की नई व्याख्या प्रस्तुत की। यहूदी शिक्षाओ को हेलेनवादी विचारो से सयुक्त करने का, यहूदी पैगम्बरो की धार्मिक धारणाओ को ग्रीक दार्शनिको की भाषा मे अभिव्यक्त करने का यह एक अत्यन्त विधिवत् प्रयास था। उसने अपने व्यक्तिगत अनुभव की प्रेरणा के अन्तर्गत यहूदी इल्हाम और यूनानी विचारशील विवेक के सिद्धान्तो को एकत्र लाने की चेष्टा की। फिलो की विचारपद्धति का प्रमुख और निश्चयात्मक स्वरूप है 'लोगोस' का सिद्धान्त।

यहूदी परम्परा मे फिलो के अग्रगामियो मे से हैं सिवीलीन ऑरेक्लीज़ और 'द बुक ऑव विज़डम'। सिवीलीन ऑरेक्लीज़ (सी० १४० ई० पू०) यूनानियो और मिस्रियो का आह्वान मूर्ति-पूजा को त्यागने और एक ईश्वर को, जिसे चिरन्तन, अनश्वर और स्वयभू कल्पित किया गया है, पूजने के लिए करता है। जबकि ससार और मनुष्य नश्वरता से अभिशप्त होने के कारण कुछ नही हैं तब एक उसीका अस्तित्व है। यद्यपि वह मानवात्मा मे अपना दर्शन देता है, तथापि वह चर्मचक्षुओ के लिए सर्वथा अदृश्य है। उसीने द्युलोक, भूलोक, सूर्य, नक्षत्रमण्डल और चन्द्र का सृजन किया है। स्वय अदृष्ट रहकर भी वह सब वस्तुओ को देखता है। वह परम ज्ञाता है, प्रत्येक वस्तु का द्रष्टा है। जो लोग सच्चे ईश्वर का आदर करते हैं, उन्हे शाश्वत जीवन की उपलब्धि होगी और सदा के लिए वे स्वर्गवासी बन जाएगे। फिलो के सिद्धान्त के विशिष्ट विकासो को यहा कोई स्थान नही मिल पाया है।

'बुक ऑव विज़डम' निस्सन्देह फिलो की कृतियो से पूर्व की रचना है, वह अनुभवातीत ईश्वर और ज्ञान मे अन्तर करती है। ईश्वर चिरन्तन स्वयभू है और केवल उसीमे से समस्त अस्तित्व का विधान होता है। यह दृश्य जगत् अपनी क्षणभगुरता के कारण सत्य या पूर्ण नही समझा जा सकता। 'बुक ऑव विज़डम' एक अदृष्ट वास्तविकता की ओर सकेत करती है और बताती है कि जो कुछ हम देख रहे हैं उसका एक शाश्वत अपरिवर्तनीय आधार भी है। वही चिरन्तन प्रकाश है। नक्षत्रो और सूर्य का प्रकाश तो मात्र उसका प्रतीक या प्रतिबिम्ब है। ज्ञान और अनुभवातीत ईश्वर मे भी अन्तर किया गया है। ज्ञान 'सभी वस्तुओ का शिल्पी है'[1], वह दैवी

१. *vii*, २१, *viii*, ६।

तत्त्व की अंगभूत उत्पत्ति है। वह यूनानी दर्शन मे 'लोगोस' का स्थान ग्रहण किए हुए है, यद्यपि इसके स्वभाव को पूर्णतया स्पष्ट नही किया गया है। शून्य मे से सृष्टि होने के हिब्रू सिद्धान्त को यहा स्वीकार नही किया गया है। विश्व की सृष्टि एक ऐसे पदार्थ से हुई है जिसका अस्तित्व उसके पहले से ही था। ईश्वर ने "ब्रह्माण्ड का सृजन एक अरूप पदार्थ से किया।"[1] उसके सृजन का प्रयोजन प्रेम है।[2] मनुष्य एक आत्मनिर्णयी प्राणी है जिसकी द्विधा प्रकृति है—आत्मा और शरीर। अमरत्व और कुछ नही, विशुद्ध रूप मे आत्मिक अतिजीवन है। ईश्वर को जान लेना ही अमरत्व को पा लेना है।[3] ऐसा कहा गया है कि प्लेटो से ही प्रेरित होकर यह कहा गया था "न्यायपरायण लोगो की आत्माए ईश्वर के हाथ मे हैं।" यह मान लिया गया है कि आत्माओ का पूर्व-अस्तित्व था।[4]

'थेराप्यूटी' या मिस्र के चिन्तनशील साधुओ, जिनके विषय मे प्लेटो बहुत ज़ोर-शोर से कहता है, की विचारधारा मे सिकन्दरियाई जूडावाद और हिन्दू विश्वासो तथा जीवन-पद्धति का मिश्रण मिलता है।[5]

यद्यपि फिलो की विचारणा ग्रीक तत्त्व-ज्ञान के साचे मे ढली हुई है, तथापि वह अपने को एक श्रद्धालु सनातनी यहूदी समझता था। यदि सृष्टि की उत्पत्ति (जेनेसिस) सम्बन्धी कहानियो को प्लेटोवादी विचार-सिद्धान्त के साथ सम्बद्ध करना हो, तो यह केवल अन्योक्तिपरक व्याख्या की विधि से ही किया जा सकता है। फिलो ने इसी विधि को अपनाया है। उसकी व्याख्याए बलात् निष्कर्षित जान पड सकती हैं, परन्तु वे एक रहस्यवादी दर्शन का सूत्रपात करती हैं। ब्रह्म-सम्बन्धी प्रथम सिद्धान्त, जो व्यक्तित्व और निश्चित अस्तित्व से परे है, जो निर्विकार और सान्त वस्तुओ के साथ सम्बन्धित होने के अयोग्य है और वाणी के द्वारा जिसको व्यक्त नही किया जा सकता, ससार के पालनकर्ता ईश्वर से भिन्न है।

ब्रह्म के साथ जो विशेषण प्रयुक्त होते हैं, वे सान्त प्राणियो की सीमित और निश्चित प्रकृति के साथ उसकी भिन्नता को प्रकट कर देते हैं। फिलो कहता है "वह अपने मे ही पूर्ण है, वह आत्मभरित है, जैसा वह विश्व के सृजन के पूर्व था, वैसा ही उसके बाद; क्योकि वह अपरिवर्तनशील है, उसे अपनी पूर्णता के लिए किसी अन्य वस्तु की बिलकुल आवश्यकता नही है, सारी वस्तुए उससे सम्बन्धित हैं, उसकी हैं, परन्तु वह स्वय किसीका नही है।"[6] हम ब्रह्म की तुलना अपनी किसी ज्ञात वस्तु से नही कर सकते, अत उसका ध्यान हमे मौन होकर, एकान्त मे करना चाहिए। वह

१. *xi*, १७। २. *xi*, २४। ३. *xv*, ३।

४. "मैं सुन्दर अगों का एक शिशु था और मुझे एक अच्छी आत्मा मिली थी, अथवा यों कहो कि अच्छा होने के कारण मैं एक पवित्र शरीर में प्रविष्ट हो गया।" (*viii*, १९ और २०)।

५ डीन मैन्सेल "उनके तपश्चर्यापूर्ण जीवन में, शरीर की इन्द्रियों के दमन में और विशुद्ध ध्यान-मनन की ओर उनकी प्रवृत्ति में" हिन्दू और बौद्ध विचारणा का प्रभाव पाते हैं। ['द नॉस्टिक हेरेसीज़ ऑव द फर्स्ट एण्ड सेकण्ड सेंचुरीज़' (१८७५), पृष्ठ ३२]।

६. ड्रमॉण्ड . 'फिलो जूडाईज' (१८८८), *ii*, ४८।

कोई सगुण सत्ता नही है । फिलो की दृष्टि मे पेण्टाट्यूक का अवतारवाद मात्र एक समझौता है, एक कामचलाऊ चीज है । मनुष्य का लक्ष्य तो है चिरन्तन ब्रह्म की मुक्त आध्यात्मिक आराधना, सगुण ईश्वर की आराधना तो उसकी एक तैयारी है । वह कहता है · "कारण-सिद्धान्त से सम्बन्धित दो उच्चतम वक्तव्यों मे से एक तो यह है कि 'ईश्वर मनुष्य जैसा नही है,' और दूसरा यह कि वह 'मनुष्य जैसा है ।' परन्तु, पहले वक्तव्य की गारटी तो अत्यन्त निश्चयात्मक सत्य द्वारा मिलती है, और दूसरे वक्तव्य को तो सामान्य मानव-जाति की शिक्षा और सस्कार के लिए गढ लिया गया है । दूसरे वक्तव्य से हमे यह नही समझ लेना चाहिए कि ईश्वर अपनी मूल प्रकृति मे ऐसा ही है ।"[1]

हम ईश्वर के अस्तित्व की सम्भावना अशत· इस उपमा से कर सकते हैं शरीर का नियंत्रण और शासन करनेवाला मस्तिष्क जिस प्रकार हमारे लिए अदृश्य होता है, उसी प्रकार विश्व का नियन्त्रण और निर्देशन करनेवाली भी कोई अदृश्य शक्ति होनी चाहिए, उसीको हम ईश्वर कहते हैं । एक वात और, ससार को देखने से लगता है कि इसके पीछे कोई प्रयोजन है, उद्देश्य है, परन्तु कार्य-कारण का सिद्धान्त पदार्थ मे सन्निहित नही हो सकता, क्योकि पदार्थ मे अपने-आपमे कोई अच्छाई नही है, उसमे तो वस वह शक्ति है, क्षमता है, जिसके द्वारा वह सभी वस्तुओ का रूप ले सकता है ।

अक्षर, निर्विकल्प ब्रह्म, जो स्वयपूर्ण, स्वयभू तथा स्वावलम्वी है, पदार्थ के साथ सम्पर्क मे नही आ सकता, इतने पर भी फिलो कहता है कि ईश्वर ने पदार्थ से ही "सारी वस्तुओ का निर्माण किया । परन्तु, ऐसा करते हुए उसने पदार्थ को स्वय स्पर्श नही किया, क्योकि उस महाभाग के लिए अस्थिर और मिश्रित पदार्थ के साथ सपर्क मे आना उचित नही था, उसने अपनी सूक्ष्म, अभौतिक शक्तियो से यह कार्य सम्पन्न किया । इन्ही सूक्ष्म शक्तियो का वास्तविक नाम विचार है । उसने अपनी सूक्ष्म शक्तियो—विचारो—का प्रयोग इसलिए किया ताकि प्रत्येक प्रजाति, प्रत्येक पदार्थ-वर्ग अपना उपयुक्त रूप ग्रहण कर सके ।"[2] विचार ही वे मूलादर्श हैं जिनके प्रतिमान के आधार पर एक बोधगम्य ब्रह्माण्ड का निर्माण हुआ है, इसीलिए ब्रह्माण्ड विचारो का विचार है । ब्रह्म और विश्व के सम्वन्ध पर विचार करते हुए फिलो ने 'लोगस' (शब्दब्रह्म) और मध्यवर्ती शक्तियो-सम्वन्धी अपनी धारणा को विकसित किया है । वह मध्यवर्ती शक्तियो को कभी तो व्यक्तिगत प्राणियो के रूप मे देखता है और कभी निर्वैयक्तिक विशेषताओ के रूप मे । एक अर्थ मे तो विचार ईश्वर से भिन्न नही हैं, ईश्वर के समरूप हैं, क्योकि इनके माध्यम से सान्त अस्तित्व ईश्वरत्व का भागीदार वन पाता है, दूसरे अर्थ मे, वे ईश्वर से भिन्न हैं, क्योकि परमेश्वर सान्त के इस साहचर्य के वावजूद ससार के सभी सपर्कों से मुक्त ही रहता है । ईश्वर पदार्थ को अपने सत्त्व से नही स्पर्श करता, वरन् अपनी शक्तियो से करता है । ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया ईश्वर की पूर्णता मे न तो कुछ जोडती है, न उसमे से कुछ घटाती है । विचार

१ वही, II, १४ । २. II, ११३ ।

एक अर्थ मे ईश्वर के लिए अनात्म हैं, उसकी अनिवार्य आत्मनिष्ठता से वे स्वतन्त्र हैं, परन्तु वे ईश्वर से अलग नहीं हैं। वे उसकी शक्ति के विविध प्रकार हैं जो शाश्वत और अविभाज्य रूप से उसके ऊपर निर्भर हैं। यदि वह न हो, तो वे न होंगे, ठीक वैसे ही जैसे कि यदि मुख्य ग्रह-नक्षत्र बुझा दिए जाय तो प्रकाश की किरणें भी स्वयमेव समाप्त हो जाएगी। वे पदार्थ मे आदर्श-स्वरूपो की तरह प्रकट होते हैं और मनुष्य के मन मे विचारो के रूप मे। क्योकि उनका उद्भव ईश्वर से है, इसलिए वे देश-काल की सीमा से स्वतन्त्र हैं। सूर्य को सामान्यतया एक ऐसी वस्तु, एक ऐसा ज्योतिष्क पिण्ड समझा जाता है जो चिरन्तन रूप से, अपने से बाह्य किसी समिधा के विना ही प्रज्वलित रहता है। ससार से स्वतंत्र रहकर वह प्रकाश की अपनी प्रवल धारा और उष्णता को विकीरित करता है जिसके कारण ही पृथ्वी पर जीवन-धारण करना सम्भव हो पाता है। प्रकाश अपने मूल स्रोत के पास अधिक प्रखर होता है या जैसे-जैसे कोई उसकी ओर अग्रसर होता जाता है, वैसे-वैसे वह प्रखरतर लगने लगता है। प्रकाश की क्रमश कम होती हुई चमक के विभिन्न सोपान वास्तविकता की स्पष्ट कोटिया है, हालाकि इन कोटियो को केवल नि सरण ही कहा जाता है। फिलो के विवेचन से ऐसा लगता है कि वह यह मानकर चलता है कि ईश्वर जैसा कि वह स्वय मे है (निरपेक्ष ईश्वर) और ईश्वर जिसका सम्बन्ध ब्रह्माण्ड से है (सापेक्ष ईश्वर) मे अन्तर है। डॉ० ड्रमॉण्ड विचार-शक्तियो के सम्बन्ध मे फिलो के मत को इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं

> "वे (विचार) विश्व और ईश्वर के वीच के सम्बन्ध हैं जो उन दोनो की मध्यस्थता करते हैं। इस मध्यस्थता का कारण यह नही है कि वे दोनो से भिन्न है, वल्कि यह है कि वे दोनो से ही अलग नहीं किए जा सकते। विचारो को आप मन से हटा लीजिए, तो मन अनस्तित्व वन जाता है उन्हे भौतिक जगत् से हटा लीजिए, तो वह ब्रह्माण्ड नही रह जाता . उन्हें ईश्वर से नि सग कर दीजिए—यदि ऐसा किसी प्रकार सम्भव हो सकता हो—तो वे शून्य मे परिणत हो जाएगे। वे वस्तुत. दिव्य हैं, द्रष्टा आत्मा जिधर भी दृष्टि डालती है, उधर ही उसे ईश्वर-सम्बन्धी विचार दिखाई दे सकते हैं परन्तु वे कही भी इतने शक्तिशाली नही हैं कि ईश्वर का ही अतिक्रमण कर जाए, और यह कहना तो नितान्त असत्य है कि अपने समग्र रूप मे वे ईश्वर के ही तुल्य हो जाते हैं। उनके माध्यम से ईश्वर ने वस्तुत ब्रह्माण्ड का कोई ऐसा भाग नही छोडा जहा वह न हो , परन्तु उसने अपने को और ब्रह्माण्ड को सहविस्तारी नही वनाया है, और इसीलिए ज्योही हम उसके अस्तित्व की एकता मे उसे अनुभव करने की चेष्टा करते हैं, त्योही वह विश्व से असपृक्त होकर हमारे विचार मे ही समा जाता है, हालाकि वह गत्यात्मक रूप से विश्व मे सक्रिय भी रहता है।"[1]

१. फिलो जूडाईयस, II, ११६।

दृश्य जगत् मे वहुत-से अदृश्य विधान कार्यरत होते हैं। जव हम ब्रह्माण्ड का समष्टि रूप से सर्वेक्षण करते हैं तव हम इसके एकत्व की सही अनुभूति कर पाते हैं और यह अनुभव करते हैं कि विभिन्न विचार एक ही पूर्ण शुद्ध वुद्धि के विभिन्न रूप हैं। ससार इस शुद्ध वुद्धि, चैतन्य का स्थूल मूर्तरूप है, यह ईश्वर के विचार का चित्र है। ईश्वर के वाद यदि किसीका नम्वर आता है तो वह विचार या शव्दब्रह्म (ईश्वर का 'लोगस') ही है। ईश्वर का विचार ईश्वर के अस्तित्व की पूर्व-कल्पना है। फिलो कहता है "ईश्वर से वढकर सामान्य, निर्विशेप वस्तु दूसरी कोई है नही, उसके वाद तो वस ईश्वर के 'लोगस' (शव्दब्रह्म) का ही नम्वर आता है।" 'लोगस' (शव्दब्रह्म या वाक्) विश्व का व्यापक विधान है जिसपर परम विचार का अक्स उतारा हुआ है। विचारो के विचार के रूप मे, सर्वाधिक सामान्य विचार के रूप मे, यह ससार की समस्त वस्तुओ से प्राचीनतम है। विचार के रूप मे ही ईश्वर पुत्ररूप मे पैदा होता है। फिलो की विचारणा मे, कभी-कभी 'लोगस' (शव्दब्रह्म) को ज्ञान के समरूप समझ लिया जाता है, मध्यस्थता करनेवाली शक्ति को प्रतीकात्मक रूप से विश्व की माता मान लिया जाता है, इसीको शैव और शाक्त दर्शन की 'शक्ति' कहा गया है। 'लोगस' शिवत्व का प्लेटोवादी विचार है, यह ज्ञानवादी (स्टोइक) विश्व-चेतना या सृष्टि मे अन्तर्निहित शुद्ध वुद्धि है। 'लोगस' ही सृष्टि का पालन-पोपण करता है। चिरन्तन सत्ता और क्षणभगुर ससार के वीच मध्यस्थता करने के कारण 'लोगस' मे दोनो की ही प्रकृतियो का अश है। यह न तो ब्रह्म की तरह असृष्ट है और न सान्त प्राणियो की तरह सृष्ट। जिस प्रकार निम्नतर विचार गोचर वस्तुओ को वास्तविकता प्रदान करते हैं, उसी प्रकार 'लोगस' (शव्दब्रह्म) निम्नतर विचारो को वास्तविक वनाता है।

मनुष्य का पार्थिव शरीर सभी बुराइयो का स्रोत है। इन्द्रियो के प्रलोभनो एव आकर्षणो का प्रतिरोध करके और धर्म की सक्रिय साधना करके मनुष्य अपने को देह की दासता से मुक्त कर सकता है और दिव्य दर्शन प्राप्त कर सकता है—यह वह स्थिति होती है जिसमे वह अपने द्वारा ही अपनी उन्नति करता है—'स्व' की सीमा से ऊपर उठ जाता है। दिव्य दर्शन से ही ईश्वर के विषय मे ज्ञान हो सकता है—यह आत्मा के परमात्मा से प्रत्यक्ष सम्पर्क की स्थिति है। उस समय आत्मा न तर्क करती है, न चिन्तन करती है, वरन् वह अनुभव करती है, जानती है, समाधि की दशा की तरह वह नितान्त निश्चेप्ट, निर्विकल्प हो जाती है। फिलो को समाधि की स्थिति का व्यक्तिगत अनुभव था।

> फिलो कहता है . "जो कुछ मेरे साथ हजारो वार घट चुका है, उसका वर्णन करने मे मुझे लज्जा नही है। वहुधा ऐसा हुआ है कि जव मैंने दर्शन-शास्त्र के सिद्धान्तो को लिख डालना चाहा है, तव मैंने अपने मस्तिष्क को शुष्क और अनुर्वर पाया है, और झख मारकर मैं उस समय लिखने का कार्य छोड वैठा हू—हालाकि मुझे यह भली भाति मालूम था कि मुझे क्या कहना

चाहिए। दूसरे किसी समय ऐसा भी हुआ है कि मेरे मन मे कोई विचार नहीं था, परन्तु तभी अचानक न जाने किस अचिंत्य शक्ति की कृपा से मेरा मस्तिष्क विचारो से भर उठा है—विचारो की वर्षा मुझपर ऊपर से ऐसे हुई है जैसे वर्फ के गाले आसमान से गिरते हैं अथवा खेत मे बीज बिखेरे जाते हैं। तभी मैं उस दिव्य प्रभाव से अभिभूत होकर, उसके जोश मे न मालूम क्या-क्या कह गया हू या लिख गया हू , उस समय न मुझे अपने साथियो का ध्यान रहा है, न अपना।"[1]

ईश्वर हमारे भीतर निवास करता है, हम उसको जानने मे समर्थ हैं, क्योकि उसने अपना स्वर हमारी वासुरी के रध्रो मे फूका है। उद्‌बुद्ध आत्मा को 'कोई कहना चाहे तो ईश्वर कह सकता है।' फिलो ने, चरमोल्लासपूर्ण चेतना को प्राप्त करने के जो विभिन्न सोपान हैं, उनको स्वीकार किया है। ये सोपान हैं इन्द्रियो के विषयों से अनासक्ति, वुद्धि से पृथक्करण और अह का उन्नयन। नैतिक दृष्टि से अपने को योग्य वनाने की आवश्यकता पर वल दिया गया है। भविष्यवाणी करने की प्रतिभा प्रत्येक भले और चतुर व्यक्ति मे होती है, परन्तु कोई भी दुष्ट प्रकृति का व्यक्ति ईश्वर का व्याख्याता नही वन सकता।

फिलो की विचार-पद्धति मे ऐतिहासिक जूडावाद को रहस्यवादी रूप मे प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई है। ईश्वर के प्रति उसकी उत्कट लालसा, यह निश्चयात्मकता कि विशुद्धहृदय व्यक्ति ईश्वर का दर्शन करेगा, यह दृढ विश्वास कि तपश्चर्यापूर्ण जीवन होने पर ही हम ईश्वर के सम्मुख पहुच सकते हैं और उसकी सार्वजनीनता आदि मान्यताए फिलो को ससार का महानतम रहस्यवादी वना देती हैं।

उसकी विचारधारा में एकेश्वरवाद पर जो जोर दिया है, मूर्तिपूजा की जो अवमानना की गई है और यह जो दावा किया गया है कि मूसाई दैवी सदेश के रूप मे यहूदियो को उच्चतम धार्मिक ज्ञान प्राप्त हो चुका था, वह सव जूडावाद से सम्वन्वित है। फिलो की विचारणा मे जूडावाद के यही तत्त्व थे। उसकी विचार-पद्धति के अन्य तत्त्व वही हैं जो हिन्दू विचारणा मे पाए जाते हैं।

डीन मिलमैन ने अपनी 'हिस्ट्री ऑव क्रिश्चियैनिटी' शीर्षक ग्रन्थ मे लिखा है . "गगा के तट पर निवास करनेवाले लोगो का समाज जैसा जाति-

[1] *I*, १४–१५। फिलो कहता है : "ईश्वर को समझने के योग्य होने के लिए मनुष्य को पहले ईश्वर ही हो जाना चाहिए—जोकि असम्भव है। यदि कोई नश्वर जीवन के लिए मृत हो जाए और अमर जीवन को जीने लगे, तो वह कदाचित् ऐसी-ऐसी चीजें देखेगा, जो उसने कभी नहीं देखी हैं। परन्तु तेज से तेज दृष्टि भी असृष्ट परमात्मा को देखने में असमर्थ होगी, क्योंकि वह पहले ही भेदक तेजस्विता और प्रकाश-किरणों की प्रवल वेगवती धारा के कारण चौंधिया जाएगी। आग उन्हीं लोगों को रोशनी देती है जो उससे कुछ दूर हटकर उसका सेवन करते हैं, किन्तु जो लोग उसके निकट जाते हैं, उनको जला डालती है। यही हाल ईश्वर-दर्शन के समय आत्मा का होता है।" (*II*,१७)। विग लिखित 'द क्रिश्चियन प्लेटोनिस्ट्स ऑव अलेक्जैण्ड्रिया' (१८८६), पृष्ठ १६।

विभक्त था, कुछ-कुछ वैसी ही कृत्रिम समाज-दशा उन लोगो की थी जो नील नदी की घाटी मे निवास करते थे। ऐसा जान पडता है, मानो इन दोनो समाजो मे कोई गुप्त और अटूट साधर्म्य था, कोई अव्यक्त सगोत्रता थी, भले ही इसका कारण दोनो के मूल उद्गम का एक होना रहा हो या एक का दूसरे पर विजय प्राप्त करना, पर वह साधर्म्य और सगोत्रता ऐसी थी जिसके कारण दोनो जातियो ने एक-दूसरे के धर्म को बडी खूबी के साथ आत्मसात् कर लिया था। यह निश्चय है कि विशुद्ध भारतीय रहस्यवाद ने अपना सबसे पहला उपनिवेश मिस्र के रेगिस्तानो मे बनाया था। ऐसा लगता है कि इसका पहला सयोग हुआ सिकन्दरिया के मिस्री जूडावाद से, और इसका उद्भव हुआ स्वप्निल प्लेटोवाद से, जो उस नगर के धार्मिक सम्प्रदायो मे मूसाई सस्थाओ के ऊपर कलम करके लगाया गया था।"[१]

रहस्यवादी परम्परा यहूदी 'कब्बल' (Kabbala) मे सुरक्षित है, इसकी दो प्रमुख पुस्तकें है 'सेफर येट्ज़िराह' या सृष्टि-रचना-सम्बन्धी पुस्तक, और 'ज़ोहर' या प्रकाश। यह विचार-पद्धति एक 'एन सोफ' की सत्यता को स्वीकार करती है। इसीको उस पद्धति मे सर्वोच्च एकता माना गया है, जिसका अपना कोई गुण नही है—जो निर्गुण है, जिसके अस्तित्व का कोई निश्चित रूप नही है—जो अरूप या निराकार है, हालाकि ससार मे जो कुछ भी अस्तित्व दिखाई दे रहा है, उसको वह अपने भीतर समाविष्ट रखता है। जो कुछ भी है, वह सब इसमे समाया हुआ है और इसी-से नि सृत होता है, क्योकि यह अनन्त है, अत इसकी व्याप्ति के बाहर तो कोई वस्तु रह ही नही सकती। उसकी अनन्तता का व्यक्त रूप सामने आता है उन दिव्य व्यक्तियो और प्रतिभाओ के द्वारा, जिनकी सख्या दस है। ये दस 'सेफिरॉथ' अनन्त सत्ता के गुण-धर्म हैं, इनमे अपनी कोई वास्तविकता नही होती, परन्तु अपने तत्त्वरूप मे वे दैवी अस्तित्व मे ही निवास करते हैं। उन्हीसे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सृजन, रूपाकार तथा क्रिया के तीन ससारो की उत्पत्ति होती है। इन तीनो ससारो की अन्तिम गति, जैसीकि सभी सान्त वस्तुओ की होती है, अपने उसी अनन्त मूल स्रोत मे लौट जाना है जिससे उनका निकास हुआ था। मनुष्यो की आत्माए तब तक अनन्त सत्ता के पास नही लौटेंगी जब तक वे उन सब पूर्णताओ को न प्राप्त कर लें जिनको प्राप्त करने की क्षमता उनमे है, और यदि यह कार्य एक जीवन मे नही निष्पन्न हुआ, तो वह आत्मा दूसरे शरीरो मे प्रवेश करती जाएगी और तब तक ऐसा करती रहेगी जब तक उसके विकास की प्रक्रिया पूरी नही हो जाती। 'कब्बल' की कई बातें तो रूढिवादी जूडावाद से बिलकुल नही मिलती, परन्तु उपनिषदों और भारतीय तन्त्र-वाद से उनका साम्य बैठ जाता है। ऐसी कुछ बातें हैं बीजाक्षरो की शक्ति को स्वीकारना, जादू-टोना और गडा-तावीज़ो का प्रयोग करना, शून्य मे से सृष्टि होने के सिद्धान्त के विरुद्ध इस सिद्धान्त को मानना कि किसी अनन्त सत्ता मे से सारी सृष्टि

१. (१८६७) खण्ड २, पृष्ठ ४१।

का उद्भव हुआ है, बृहत् ब्रह्माण्ड और सूक्ष्म ब्रह्माण्ड मे सम्बन्ध का सिद्धान्त, और पुनर्जन्म मे विश्वास तथा एक निश्चित सर्वेश्वरवादी प्रवृत्ति ।

[५]

नॉस्टिक (ज्ञानवादी) सम्प्रदाय के सिद्धान्तो मे ग्रीक (प्लेटोवादी) और हिन्दू तत्त्वो को मिश्रित करने का जानबूझकर प्रयास किया गया था ।[1] यह सहतिवादी धार्मिक विचारणा की सम्पूर्ण पद्धति के लिए दिया हुआ नाम है । ईसाइयत के प्रारम्भिक दिनो मे या उससे पूर्व, रोमन साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तो में प्रचलित कई सम्प्रदाय, जिनके धार्मिक सिद्धान्त एक-दूसरे से काफी भिन्न थे, इस सहतिवादी धार्मिक विचारणा के अन्तर्गत आ जाते हैं । नॉस्टिक सम्प्रदाय ईसाई-युग के प्रारम्भ के बहुत पहले से चल रहा था, हालाकि ईसाइयत ने इसे विधर्म ही समझा । नॉस्टिकवाद की कई मुख्य-मुख्य बातें उपनिषदो और यूनान की रहस्यवादी परम्पराओ मे समान रूप से मिल जाती हैं । वे बातें ये हैं (१) दिव्य सत्ता (ईश्वर) की कोई परिभाषा नही दी जा सकती और वह अनन्त है, सभी प्रकार के विचार और अभिव्यक्ति से वह ऊपर है । वह जगत्पिता या स्रष्टा ईश्वर से भिन्न है । ईश्वर अपने गुण-धर्मों से, विवेक और सत्य के कल्पो से अलग है । वह चिरन्तन मौन है । (२) यदि ईश्वर एक निरपेक्ष सत्ता है तो सृष्टि और बुराई कहा से उत्पन्न हो जाती हैं ? यदि सृष्टि का उद्भव ईश्वर की एकमेव क्रिया के फलस्वरूप हुआ होता और उसपर किसी अन्य शक्ति का अनुकूल या प्रतिकूल प्रभाव न पडा होता, तो बुराई का अस्तित्व ही असम्भव हो जाता , या फिर हमको यह निष्कर्ष निकालना पडेगा कि ईश्वर ने ही बुराई का भी सृजन किया । इस प्रकार एक विरोधी सिद्धान्त को स्वीकृति मिल जाती है जो ईश्वर से स्वतत्र है तथा जिसके द्वारा ईश्वर की सृजनात्मक शक्ति का उल्लघन और परिसीमन कर दिया जाता है । इस विरोधी सिद्धान्त का भूत जगत् से घनिष्ठ सम्बन्ध है । सभी नॉस्टिक (ज्ञानवादी) विचारधाराए पदार्थ की परिभाषा के विषय मे एकमत नही हैं । यह या तो निर्जीव-निष्क्रिय प्रतिरोध के रूप मे समझा जाता है या विक्षुब्ध सक्रिय शक्ति के रूप मे । इसके परिणामस्वरूप जो द्वैतवाद सामने आता है वह भी अस्पष्ट है । पाप या बुराई जो दिव्य सत्ता के विरुद्ध है, मे कोई वास्तविकता नही होती ।[2] सत् और असत्, पुण्य और पाप के द्वैत की व्याख्या विभिन्न प्रकार से

१. हार्नैक कहते हैं : "पौर्वात्य धर्मों की परम्पराओं और धार्मिक कृत्यों, जिनको रहस्यात्मक समझा जाता है, की यूनानी दर्शन के साथ एकता इस युग की विशेषता है ।" ['हिस्ट्री ऑव डॉग्मा', खण्ड १ (१८९४), पृष्ठ २२९] । 'नॉस्टिक' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग १, 'टिमोथी' *vi*, २० में हुआ है ।

२. इसका परिणाम यह हुआ कि लोग क्राइस्ट (ईसा) को अवतार मानने से इंकार करने लगे । अवतार तो दिव्य पुरुष होता है, भला वह अशुद्ध पदार्थ से निर्मित शरीर कैसे धारण कर सकता है ? इस विचार ने दो रूप ग्रहण कर लिए । डोसेटी सम्प्रदाय के लोगों का विचार था कि ईसा का शरीर एक अपार्थिव छायाभास था । एबिओनाइट सम्प्रदाय के लोग इस बात पर जोर देते थे कि क्राइस्ट का आध्यात्मिक अस्तित्व जीसस (ईसा) से एक भिन्न व्यक्तित्व था । जीसस के पार्थिव व्यक्तित्व पर

की गई है। यह बहुधा एक मनोवृत्ति होती है जो अनुभव के विरोधाभासो को सही और पूर्ण मान बैठती है। पदार्थ के विनाश के बिना आत्मा का किसी प्रकार छुटकारा नही हो सकता, मानवी सत्ता को शून्यवत् बनाए बिना दिव्य सत्ता को विजय नही मिल सकती। बुराई या पाप को सृष्टि-रचना का एक भाग ही माना जाता है, वह उसका अपना एक अग ही बन गया है। (३) अनन्त अनेक क्रमिक उद्भवो के द्वारा सान्त से सम्पर्क स्थापित करता है। वे जैसे-जैसे अपने मूल स्रोत से दूर हटते जाते हैं, वैसे-वैसे सान्त की दिशा मे धीमे-धीमे अधिकाधिक नीचे उतरते जाते हैं, और ऐसा तब तक करते रहते हैं जब तक अन्तत उनका पदार्थ से सम्पर्क सम्भव हो जाता है और तब सृष्टि-रचना प्रारम्भ होती है। ये उद्भव, ये कल्प, ये आत्माए, या ये देवदूत न्यूनाधिक रूप से स्थूल या व्यक्ति रूप मे कल्पित किए जाते हैं। (४) ब्रह्माण्ड दिव्य और अ-दिव्य भौतिक सिद्धान्तों का मिश्रित रूप है। यह पदार्थ मे आत्मा के अवतरण का प्रतिनिधित्व करता है। जो पदार्थ पहले जड, सवेदनहीन होता है, अपने मे वह आत्मा के अवतरण के बाद सजीव बन जाता है। (५) पदार्थ या ऐन्द्रिक जगत् के सहवास से आत्मा की मुक्ति तपस्या और ध्यान के द्वारा होती है—तपश्चर्या और ध्यान से 'नॉसिस' या ज्ञान की प्राप्ति होती है। (६) 'नॉसिस' का अर्थ बौद्धिक ज्ञान या तार्किक समझ-बूझ नही है, वरन् उसका अर्थ है ईश्वर का साक्षात्कार, रहस्यात्मक ज्ञान। यह आत्मा, आनन्ददायक दर्शन, ज्ञान के प्रकाश और देवत्व की उपलब्धि है। ज्ञान का यह वरदान ऐरे-गैरे नत्थू-खैरे को नही मिलता। यह गूढ, गुह्य, गुप्त ज्ञान है जो केवल उन्हीको मिलता है जो दीक्षा प्राप्त कर चुकते हैं।[1] बहुत-से लोग जो दीक्षा-प्राप्त नही होते, उनके लिए तो आस्था ही पर्याप्त होती है। कई प्रकार की पवित्र धार्मिक क्रियाओ, दीक्षा-सस्कारो तथा पवित्रीकरण के अनुष्ठानो का विधान होता है। मत्रपूत जल, अग्नि, पवित्र मत्रो, नाम-जपो और प्रतीको की सहायता से बपतिस्मा देने जैसे धार्मिक सस्कारो का इस दिशा मे बहुत उपयोग है। नॉस्टिकवाद (ज्ञानवाद) यह मानता है कि ईश्वर-विषयक भी कोई ज्ञान है और वास्तविकताओ का भी एक विज्ञान है। धर्म मे ऐसी कोई चीज़ है जो हमे जाननी है। मोक्ष सत्यो का ज्ञान होने

क्राइस्ट का आध्यात्मिक अस्तित्व उस समय उतरा जब जीसस का बपतिस्मा-सस्कार हुआ और जब उन्हें क्रॉस पर सूली दी गई, उसके पहले ही वह अस्तित्व उनका साथ छोड़ गया। ये दोनों अस्तित्व—आध्यात्मिक और पार्थिव—उनके व्यक्तित्व में कभी सयुक्त नहीं हुए। जब नॉस्टिक सम्प्रदाय वाले द्वैतवाद को अन्तिम और पूर्ण मानने लगते हैं तब वे उपनिषदों की परम्परा से अलग हट जाते हैं और फारसी द्वैतवाद से प्रभावित हो जाते हैं। नॉस्टिकों के इस दृष्टिकोण की प्लॉटिनस ने आलोचना की है।

१. 'पिस्टिस सोफिया' में हम उन तरीकों की चर्चा पाते हैं जिनके द्वारा समाधि की स्थिति के अनुभव प्राप्त किए जाते हैं। इसके अनुसार रहस्यों का ज्ञान हो जाने से मुक्ति प्राप्त होती है। यह इस बात की शिक्षा हमें देता है कि हम अपने भोजन, जो पार्थिव होता है, के साथ ही बुराई को ग्रहण करते हैं, इसीलिए हमें पार्थिव संसार को त्यागने के लिए कहा जाता है। "और तुम्हें अपने जीवन में बहुत कष्टों और भारी पीड़ाओं एव आघातों को सहना पड़ता है", ये पीड़ाएं तथा आघात ससार के विभिन्न प्रकार के प्राणी एक-दूसरे में उडेलते हैं।" ('एम०', पृष्ठ २४८)।

पर निर्भर करता है—सत्यो के 'विषय' मे ज्ञान नही, वरन् सत्यों 'का'। पुण्यशीलता या धर्मनिष्ठा 'नॉसिस' (ज्ञान) बन जाती है। (७) पूर्ण 'नॉस्टिक' (ज्ञानवादी) तो वह मनुष्य है जो ससार से स्वतंत्र है और स्वय का स्वामी है। सत्य का दर्शन कर लेने पर वह धर्म की रूढ व्याख्याओं और बाह्य प्रतीकों से निस्तार पा लेता है। वह ईश्वर मे निवास करता है, वह शाश्वत जीवन को जीता है, उसके विषय मे सच ही यह कहा जा सकता है कि वह मृत्यु से जीवन की ओर गया है, प्राकृतिक दशा से उठकर आध्यात्मिक दशा को पहुचा है। प्रलय के दिन के मृतोत्थान की सच्ची प्रकृति आध्यात्मिक ही है। कई 'नॉस्टिक' सम्प्रदाय पूर्व-अस्तित्व और मानव-आत्माओ के पुनर्जन्म मे विश्वास करते थे। आध्यात्मिक ससार के विषय मे उनका एक जादुई सिद्धान्त भी था। शरीर के बन्धन से मुक्त होकर आत्मा अंधकार और प्रकाश के पथो से यात्रा करती है[1] और जादुई शब्द की सहायता से, मार्ग मे आनेवाले संकटो से बचती है। इन 'नॉस्टिक' धारणाओ का "अत्यावश्यक भाग ईसाइयत के आरम्भ के पहले से ही अस्तित्व मे था और पूर्णतया विकसित हो चुका था।"[2]

प्रथम शताब्दी ईस्वी मे इसमे ईसाई विचारो का सम्मिश्रण हो गया। प्रारम्भिक दिनो मे ईसाइयत को एक तत्त्वज्ञान की आवश्यकता थी और वह उसे नॉस्टिकवाद से मिला। हार्नेक नॉस्टिको को 'प्रथम शताब्दी के धर्मशास्त्री' समझने मे निस्सन्देह सही है। वह कहता है . "नॉस्टिक विचार-पद्धतियो मे ईसाइयत को लौकिक और यूनानी मत के अनुकूल बनाने की प्रवृत्ति है, साथ ही, 'ओल्ड टेस्टामेंट' का अस्वीकार भी उसमे है। दूसरी ओर, ईसाइयत की कैथॉलिक विचार-पद्धति भी उसी चीज़ को अपनाती है, परन्तु कुछ धीमी और क्रमिक प्रक्रिया से और 'ओल्ड टेस्टामेंट' को इसमे स्वीकार करके चला गया है।"[3] ईसाई लेखक हमे बताते हैं कि नॉस्टिकवाद के सिद्धान्त रहस्यवादी धर्मों, पाइथागोरस और प्लेटो के विचारो से लिए गए है। यह तो किसी प्रकार कहा ही नही जा सकता कि नॉस्टिकवाद केवल 'ओल्ड टेस्टामेंट' को अस्वीकार करने और इजीलो का यूनानीकरण करने का ही उद्देश्य लेकर चला था। उसने जो किया, वह यह कि उसने ईसाइयत मे यूनानी तत्त्वज्ञान की विशुद्ध भावना न भरकर प्राच्य धर्मों की धारणाओ को ईसाइयत मे भरा। प्रथम शताब्दी तक इन प्राच्य धारणाओ ने रोमन साम्राज्य मे सर्वत्र अपना स्थान बना लिया था। उसकी द्वैतवादी धर्मशास्त्र-सम्बन्धी धारणाए, तपश्चर्या के नियम, सत्य का समाधिगत अनुभव और पार्थिव शरीर के बन्धनो से छुटकारा आदि बातें प्राच्य धर्म सम्प्रदायो से ली गई थी। "ईसाई सिद्धान्त के बौद्धिक आकलन की दिशा मे किए हुए प्रयत्न और धर्म-सिद्धान्तो के निरूपण की चेष्टाए वस्तुत किसी ऐसे तत्त्वज्ञान पर आधारित थी, जो यूनानियो के बचकाने ज्ञान से कही अधिक परिपूर्ण और आदरास्पद था। ····नॉस्टिकवाद विशुद्ध यूनानीवाद नही है, जैसाकि कुछ लोग कहते हैं, वरन् वह यूनानी मुखौटे से

१. ये पथ उपनिषदों में वर्णित 'देवयान' और 'पितृयान' के समान हैं। 'बृहदारण्यक उपनिषद्'।
२. प्रोफेसर डब्ल्यू. बाउसेटः 'नॉस्टिसिज्म', 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका', एकादश सस्करण।
३. 'द हिस्ट्री ऑव डॉग्मा', अंग्रेजी अनुवाद (१८९४), खण्ड १, पृष्ठ २२७, २२६।

ढका हुआ विशुद्ध प्राच्यवाद है।"[1] निरपेक्ष, अक्षरब्रह्म की सत्ता को सृष्टि-सर्जक चेतना (विधाता) से अलग मानकर नॉस्टिक धर्म-सम्प्रदाय वाले 'ओल्ड टेस्टामेट' के सिद्धान्त से अपने को दूर हटा लेते हैं। ईसाई चर्च ने नास्टिक धर्ममत को 'शैतान का ज्येष्ठ पुत्र' कहकर उसपर कीचड उछालने की चेष्टा की है। सामान्यतया नॉस्टिकवाद को ईसाइयत का वह विकृत रूप समझा जाता है जिसका काफिरो के मतो से साम्य था।

इस विषय पर प्रमुख दस्तावेज है हिप्पोलिटस द्वारा लिखित 'फिलोसॉफ्यूमेना' या 'रेफ्यूटेशन ऑव ऑल हेरेसीज़'।[2] हिप्पोलिटस ओस्टिया का विशप और तृतीय शताब्दी के आरम्भ का था। इस पुस्तक मे 'महान घोषणा' (द ग्रेट एनाउन्समेट) का उल्लेख हुआ जिसमे ईसाई-धर्म के प्रादुर्भाव के पूर्व साइमन मैगस की शिक्षाओ का सग्रह है।[3] ईसाई चर्च के पादरी उसको भयकर ऐन्द्रजालिक, अभिचारी और वाद मे विकसित समस्त नॉस्टिकवाद (ज्ञानवाद) का जनक कहकर उसका वर्णन करते हैं। आठवें अंक मे दी हुई कहानी से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस सम्प्रदाय का वह नेता बना उसका अस्तित्व ईसाई-धर्म के प्रादुर्भाव से पहले ही था। सभी वस्तुओ का प्रथम उपादान कारण अग्नि को माना जाता है।[4] इसकी प्रकृति के दो रूप हैं, प्रच्छन्न और प्रकट, जिनको क्रमश शुद्ध बुद्धि और इन्द्रियो से जाना जाता है। ब्रह्माण्ड या व्यवस्थित विश्व अजन्मा या स्वयभू अग्नि से छ मूल स्रोतों के द्वारा अस्तित्व ग्रहण करता है, वे स्रोत हैं मन, विचार, वाणी, नाम, बुद्धि और इच्छा। ससार एक 'सप्ताह' है जिसमे सात शक्तिया सम्मिलित हैं, छ मूल स्रोतो का उल्लेख तो ऊपर किया ही जा चुका है, इनके अलावा एक सातवी शक्ति भी है जो इन छहो का स्रोत है। दिव्य पुरुषो के अवतरण की धारणा को स्वीकार कर लिया गया है। इरेनियस के अनुसार साइमनवादियो द्वारा 'लोगस' या विश्वात्मा की धारणा को भी स्वीकार किया जाता है।

मिस्र की हरमेटिक परम्परा को भी प्रकृत्या ज्ञानवादी (नॉस्टिक) ही समझा जा सकता है। मिस्र के उन क्षेत्रो मे जो प्राचीन यूनानी विचारधारा से प्रभावित थे तथा जिनमे सहतिवादी सम्प्रदाय अधिक प्रचलित थे, हरमेटिक परम्परा को मानने-वाले समाजो का उदय हुआ। हरमेटिक पुस्तको के सबसे बाद के सम्पादक ने लिखा

१. केनेडी 'बुद्धिस्ट नॉस्टिसिज्म', जर्नल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसाइटी (१९०२), पृष्ठ ३८३।

२. अंग्रेजी अनुवाद, २ खण्डों में, अनुवादक एफ० लेगे (१९२१)। 'फिलोसॉफ्यूमेना' के लेखक ने भारतीय विचारणा की चर्चा की है। उसने ब्राह्मणों को दो आश्रमों में विभक्त कर दिया है—गृहस्थ और सन्यासी, जो एकान्त में रहते और केवल फल-मूल खाते हैं। उन्होंने ईश्वर को प्रकाश माना है—सूर्य या अग्नि का प्रकाश नहीं, वरन् अन्तर्मुखी विवेक का, 'लोगस' (शब्दब्रह्म) का, जिसको विद्वानों के ज्ञान के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त होती है। यदि हम सारी व्यर्थ की बातों को छोड़ दें और अपनी कुवासनाओं पर नियन्त्रण कर लें, तो हम ज्ञान को प्राप्त कर सकते हैं। (*i*, २१)।

३. देखिए अक *viii*, ९–२४; जस्टिन मार्टियर : 'अपोलॉजिया', *i*, २६ ५६ और *ii*, १५।

४. तुलना कीजिए : "ईश्वर एक प्रज्वलित और प्रदीप्त अग्निशिखा है।" ('ड्यूटेरोनॉमी', *iv*, २४)।

है : "यदि किसीको हरमेटिक शिक्षा को एक ही वाक्य मे साररूप से प्रकट करने को कहा जाए, तो मैं समझता हू कि इस वाक्य से बढकर कोई दूसरा अच्छा वाक्य नही हो सकता : 'वे धन्य हैं जिनका हृदय शुद्ध है, क्योकि वही ईश्वर का दर्शन करेंगे।' "[1] यद्यपि वे अपने वर्तमान रूप मे चतुर्थ शताब्दी से अधिक पूर्व के नही जान पडते, तो भी इसमे कोई सन्देह नही कि वे उससे भी बहुत पहले की परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैं। सम्भवत वे पूर्वकालीन रहस्यात्मक विचारो के द्वारा विकसित हुए हो।[2] वे 'प्लेटोवादी और प्राच्य सिद्धान्तो के सारसग्रह' जान पड़ते हैं।[3] उनका एक सर्वश्रेष्ठ सर्जक ईश्वर और उसके अधीनस्थ बहुत-से देवताओं और देवदूतों पर विश्वास था। अपूर्ण और परिवर्तनशील ससार की उत्पत्ति का कारण बतलाने के लिए एक मध्यवर्ती को, एक द्वितीय ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया। हमारे प्रभु और सबकी सृष्टि करनेवाले ने अपने-आपमे से द्वितीय ईश्वर का निर्माण किया जो दृश्य और अनुभवगम्य था। इस द्वितीय ईश्वर को वह अपने पुत्र के समान प्यार करता था। चूंकि सान्त मनुष्य अनन्त को पूरी तरह नही समझ सकता था, इसलिए उससे कहा गया कि वह ईश्वर के पुत्र का ध्यान-चिन्तन करे। 'प्रथमोत्पन्न' ईश्वर को लोगो ने ऐगाथोडैमन नाम दिया, जिसे शीघ्र ही 'लोगस' के समरूप मान लिया गया। 'विधाता ने ब्रह्माण्ड का निर्माण हाथो से नही किया, वरन् 'लोगस' (वाक्) के द्वारा किया।' हर्मीज़ देवताओं का सदेशवाहक है जो ब्रह्म के रहस्य को हमे समझाता है। जब शरीर को सारी बुराइयो और भ्रष्टाचार की जड समझ लिया जाता है तब तपश्चर्या के लिए लोगो को प्रोत्साहन मिलता है। ईश्वर का दर्शन साधारण प्राकृतिक प्रक्रियाओ के माध्यम से नही पाया जा सकता, बल्कि स्वप्नो और दिव्य भाव-स्फुरण के द्वारा पाया जा सकता है। बुराई या पाप से दूर रहना ही ईश्वर की पूजा करने का सही रास्ता है। किसी भी व्यक्ति का तब तक उद्धार नही हो सकता, जब तक आध्यात्मिक दृष्टि से उसका पुनर्जन्म न हो जाए। "[यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारा पुनर्जन्म हो] तो तुम्हें पदार्थ-तत्त्व की अविवेकपूर्ण यन्त्रणाओं · ·· अज्ञानता, उद्दाम इच्छाओ, अन्याय, लोलुपता, कपटता, ईर्ष्या, धोखाधडी, उतावलेपन और पाप से अपने को स्वच्छ कर लेना चाहिए।······ जब ईश्वर की दया किसी मनुष्य पर हो जाती है, तब ये सारी बुराइया स्वयमेव दूर हो जाती हैं, और इस प्रकार मनुष्य का पुनर्जन्म होता है।"[4] हम इस जन्म मे ही

१. स्कॉट : 'हरमेटिका' (१९२४), खण्ड १, पृष्ठ १४।

२. प्रोफेसर सर फ्लिण्डर्स पेट्री ने हरमेटिक पुस्तकों का रचना-काल २०० ई० पू० बताया है। उनके मत से मिस्री मन्दिरों और पूजास्थलों की बरबादी और सीथियनों तथा भारतीयों द्वारा लोगों के वध के जो सदर्भ हैं, वे ३४२—३३२ ई० पू० में मिस्र पर हुए फारसी आक्रमण की ओर सकेत करते हैं। उस आक्रमण में सीथियन और भारतीय लोग पारसीक सेना की पश्चिमी और पूर्वी कमान में थे। प्रोफेसर पेट्री हरमेटिक पुस्तकों में देखते हैं : 'पारसीक और भारतीय प्रभाव में रहकर मिस्र में धार्मिक विचारणा का विकास दिया गया है, यही विकास आगे चलकर यहूदी और यूनानी विचारणा का आधार बना।' " ['ईजिप्ट एण्ड इज़रायल' (१९२३), पृष्ठ ११३]।

३. कर्क : 'द विज़न ऑव गॉड' (१९३१), पृष्ठ ४७।

४. वही, पृष्ठ ४९।

ईश्वर को प्राप्त कर सकते हैं और अमरता की उपलब्धि कर सकते हैं। ईश्वर-दर्शन के साथ-साथ सामान्यतया समाधिगत अनुभव भी होते हैं। शिष्य चिल्लाता है· "हे पिता, ईश्वर ने मुझको एक नया अस्तित्व प्रदान किया है, और अब मैं वस्तुओ को शारीरिक नेत्रों की दृष्टि से नही देखना चाहता, वरन् अपने मन की क्रियाशीलता से देखना चाहता हू। मैं द्युलोक मे हू और पृथ्वी पर भी हू, जल मे हू और हवा मे भी हू मैं पशुओ और पौधो मे भी हू। 'मैं सर्वत्र उपस्थित हू। हे पिता, मैं समस्त ससार और स्वय को मन के भीतर देखता हू।" निम्नलिखित प्रार्थना एक खास तरह की प्रार्थना है "हम तुझे धन्यवाद देते हैं, हे परम श्रेष्ठ ! क्योकि तेरी ही कृपा से हमने ज्ञान का यह प्रकाश पाया। तूने हमारा उद्धार किया है। हम आनन्द मनाते हैं कि तूने पूर्ण रूप से अपना दर्शन हमे दिया है, और दर्शन देकर तूने हमारे नश्वर शरीरो को दिव्यत्व प्रदान किया है।"[1] हरमेटिक ग्रन्थो में मनुष्य का कर्तव्य बस इतना ही बताया गया है कि 'ईश्वर को जानो और किसी मनुष्य को हानि न पहुचाओ।'

पहली शताब्दी मे उत्पन्न प्लूटार्क एक श्रेष्ठ 'नॉस्टिक' था, वह सहिष्णु मन का व्यक्ति था। जो धर्म ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध को सही-सही समझने की चेष्टा करता है, उस धर्म से प्लूटार्क का कोई झगडा नही। बुराई की समस्या से परेशान होकर वह द्वैतवाद की शरण लेता है और ओर्मुज़ तथा अहिरमान के पारसीक सिद्धान्त की चर्चा आदर के साथ करता है। यह कहना कि ईश्वर ने ही बुराई को जन्म दिया, ईश्वर-सम्बन्धी विचार का विरोध करना है। दो सिद्धान्त हैं जो परस्पर विरुद्ध हैं। बुराई का सिद्धान्त पदार्थ-तत्त्व नही है जो चरित्रहीन और अस्थिर होता है, बल्कि वह विध्यात्मक और एक आध्यात्मिक शक्ति तथा दुष्ट विश्वात्मा है। पदार्थ-तत्त्व भलाई की ओर बढने की उच्चाकाक्षा रखता है, परन्तु दुष्टता की भावना उस पर हावी हो जाती है और उसको दबोच लेती है। ससार की सरचना मे जो द्वैत है, वह व्यक्ति की आत्मा मे भी प्रतिबिम्बित होता है, तभी तो व्यक्तिगत आत्मा के दो भाग होते हैं और दोनो एक-दूसरे के विपरीत होते हैं। उच्चतर भाग आत्मा का अग नही होता और न आत्मा का कोई कार्य ही वह होता है, बल्कि वह तो उसके भी ऊपर की चीज़ है। आत्मा अमर है। प्लूटार्क आत्माओ के पुनर्जन्म मे विश्वास करता है। परब्रह्म अपनी अधीनस्थ शक्तियो के द्वारा शासन करता है। प्लूटार्क की विचारधारा का विकास यूनानी विचारणा तथा मिस्री धर्म से प्रभावित था।

त्याना का अपोलोनियस एक अन्य प्रसिद्ध 'नॉस्टिक' (ज्ञानवादी) है। फिलोस्ट्रेटस के वर्णन के अनुसार उसने भारत की यात्रा की थी और वहा चार महीने तक 'विद्वानो के एक मठ मे' उसने निवास किया था।[2] अपोलोनियस को हिंसक बलिदानो से घृणा थी और वह नैष्ठिक शाकाहारी था। वह पूर्णत तितिक्षु था और उसका विचार था कि हमे किसी भी परिस्थिति मे रक्तपात का आश्रय लेने का कोई अधिकार नही है। वह प्रार्थना और ध्यान-मनन पर विशेष बल दिया करता था और लोगो

१. फेनेर्ठी लिखित 'सेंट पॉल एण्ड द मिस्ट्री रिलीजन्स' (१९१३), पृष्ठ १०९–१०।
२ 'अपोलोनियस ऑव त्याना', अनुवाद, फिलिमोर, १९१२, खण्ड *iii*, पृष्ठ १० और ५०।

की आराधना-विधियो मे परिवर्तन लाकर वह उनको अधिक धार्मिक बनाना चाहता था। सम्पदाओ और आवश्यकताओ से स्वतन्त्र होना ही उच्चतम मूल्य की उपलब्धि है।

वैसिलिडीज़, जो द्वितीय शताब्दी ईस्वी के प्रथमार्द्ध में हुआ था[1], ने हिन्दू और बौद्ध विचारणा को ईसाई साचे मे ढालने की चेष्टा की। वह ऐसे परब्रह्म का अस्तित्व स्वीकार करता है जो स्थान, काल, चेतना और यहा तक कि स्वयं अपने-आपसे परे है। उसकी आराधना मौन और शान्ति के वातावरण मे ही की जा सकती है। प्रचलित ईसाई दृष्टिकोण से उसकी ईश्वर-सम्बन्धी धारणा का कोई मेल नही है। डीन मैन्सेल लिखते हैं :

> "यदि केवल अध्यात्म-विद्या की एक पद्धति के रूप मे देखा जाए तो वैसिलिडीज़ का सिद्धान्त प्राचीन विचारणा के इतिहास मे प्राप्त ब्रह्म के तार्किक तत्त्वज्ञान की धारणा के निकटतम जा पहुंचता है , आधुनिक समय के हीगेल के दर्शन की टक्कर का उसका दर्शन है। परन्तु, जिस मात्रा में वह ईश्वर को निरपेक्ष आद्यशक्ति के रूप मे प्रतिष्ठित कर देता है, उसी मात्रा मे वह उसमे से उन गुणो को निकाल भी लेता है जिनके कारण ही वह लोगो की दृष्टि मे नैतिक आज्ञानुपालन और धार्मिक आराधना का पात्र बन पाता है।"[2]

इसी आद्य निरपेक्ष सत्ता (ब्रह्म) मे विश्व की रचना करने की इच्छा उत्पन्न होती है। उसकी इस इच्छा मे ही सभी विश्वों का वीज है और इसीमे प्रत्येक वस्तु अपने सम्भाव्य रूप मे छिपी रहती है, ठीक वैसे ही जैसे एक छोटे-से सरसो के वीज मे उसका पूरा पौधा सिमटा रहता है। यह सभी सामर्थ्यों की सामर्थ्य है। 'डेमिअर्ज' अर्थात् विधाता ईश्वर 'यह सोचकर उठता है कि मेरा अकेला रहना तो ठीक नही है, इसलिए उसने केवल अपने सन्तोष के लिए, विश्व-वीज से एक पुत्र को उत्पन्न किया जो उससे भी अच्छा और उससे भी अधिक चतुर था।' जिस प्रकार मनुष्य ससार के सभी प्राणियो और वस्तुओं मे श्रेष्ठ है, उसी प्रकार क्राइस्ट (ईसा) मनुष्यो के शिरोमणि हैं। पुत्रत्व ईश्वर का ही मूर्तरूप है। सिकन्दरिया के क्लीमेट का वैसिलिडीज़ के विषय मे यह कहना है कि उसने "शैतान में ही देवत्व को प्रतिष्ठित कर दिया।"[3] वैसिलिडीज़ के सिद्धान्त मे द्वैतवाद का रूप इतना पूर्ण नही है जितना इस आलोचना से सूचित होता है। वौद्धधर्म की भावना मे, वैसिलिडीज़ दुःख को समस्त अस्तित्व का आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार करता है और व्यक्तित्व को वह पाच तत्त्वों से निर्मित एक जटिल वस्तु वताता है। क्लीमेंट के कथनानुसार, वैसिलिडीज़ इस वात पर

१. ऐसा अनुमान है कि वह वैलेंटिनस से कुछ ही समय पूर्व हुआ था, इसलिए हम मान सकते हैं कि वह १२० ई० से १३० ई० के मध्य कभी हुआ था। हमारी इस सूचना के मुख्य स्रोत हैं हिप्पोलिटस द्वारा लिखित 'फिलोसॉफ्यूमेना' और सिकन्दरिया के क्लीमेंट द्वारा लिखित 'मिसलेनीज़'।

२. 'द नॉस्टिक हेरेसीज़ ऑव द फर्स्ट एण्ड सेकण्ड सेंचुरीज़' (१८७५), पृष्ठ १६५।

३. 'स्ट्रोमेटा', *IV*, १२, ८५।

विश्वास करता है कि मनुष्य अपने पूर्वजन्मो के कर्मों का फल दु ख के रूप मे भोगते हैं। वह पुनर्जन्म को अनेक रूपो मे स्वीकार करता है और आत्मा के विशुद्धीकरण की दिशा मे कदम मानता है।[1] वह नही मानता कि एक बार मर जाने के बाद, प्रलय-काल आने पर सारी मृत देहे पुन उठ खडी होती हैं ईश्वर के सामने अपना हिसाब देने के लिए। वह तब तक किसीको अपना अनुयायी नही समझता था जब तक वह व्यक्ति पाच वर्ष तक मौन की साधना कर अपने को इसके लिए योग्य नही सिद्ध कर देता था।

यद्यपि बैसिलिडीज़ यह विश्वास करता था कि उसकी विचार-पद्धति का मूलाधार ईसाइयत है, तथापि इसमे कोई सन्देह नही कि उसने ईसाइयत की जो व्याख्या की है, वह बहुत-कुछ बौद्ध तत्त्वज्ञान के आधार पर है।

> "सभी वस्तुओ के अस्तित्व का नियम भी उन्हीमे सन्निहित है। दु ख हमारे अस्तित्व का सहवर्ती है। पुनर्जन्म पिछले जन्म मे किए कार्यों का फल है। जन्मान्तर का सिद्धान्त मनुष्यो पर कठोर न्याय और सवेदनहीन आवश्यकता के साथ लागू किया जाता है। ईसा का पद वही है जो बुद्ध का पद है। केवल कुछ चुने हुए लोग ही, जिनकी आत्माओ का उत्थान हो चुका होता है, मुक्ति पाते हैं और अधिकाश मनुष्य तो केवल इतने से ही सन्तुष्ट हो रहते हैं कि उनको फिर जन्म ग्रहण करना होगा।"[2]

वैलेन्टिनस नॉस्टिको (ज्ञानवादियो) मे महानतम होने की प्रतिष्ठा पाए हुए है, हालाकि उसके जीवन और शिक्षा के सम्बन्ध मे हमे जो थोडी-सी जानकारी प्राप्त हो सकी है, वह ईसाई चर्च के पादरियो की विवादग्रस्त पुस्तको से। बैसिलिडीज़ जिस सत्ता को कोई नाम नही दे सका था, उसे वैलेन्टिनस 'गहराई' ('डेप्थ') नाम देता है। इस प्रकार वह निरपेक्ष सत्ता के प्रथम सिद्धान्त को असन्दिग्ध रूप मे व्यक्त कर देता है; वह मानता है कि निरपेक्ष सत्ता अपने भीतर समस्त अस्तित्व को धारण करने मे समर्थ है, वह इस बात के फेर मे नही पडता कि कोई उस सत्ता के 'इदमित्थ' होने का निश्चय कर भी सकता है या नही। वह एक ऐसी गहराई है जिसके विषय मे कुछ कहा नही जा सकता अथवा वह एक अकथ्य मौन है। किसी कार्य को करने के पहले मनुष्य के मन मे उसका विचार आता है, वह विचार ही उस निरपेक्ष सत्ता का प्रथम मूर्त्त रूप है। तर्क-शक्ति या मेधा के द्वारा जो बौद्धिक प्रक्रिया सामने आती है, वह भी उसीका रूप है। 'नाउज़' (प्रज्ञा) का प्रतिपक्षी वह पूर्ण सत्य है जो दैवी विचा-

१ पुनर्जन्म की परिकल्पना के समर्थन में बैसिलिडीज़ धर्मशास्त्रों से उद्धरण देता है। जॉन *ix*, २, रोमन्स *vii*, ९। कॉर्पोक्रेटीज़ पुनर्जन्म के सिद्धान्त को कुछ सशोधित रूप में स्वीकार करता है: जब तक आत्मा अपने द्वारा करणीय सभी समावित कार्य कर नहीं लेती, तब तक वह पुन-पुनः अपने को शरीर की बन्दिनी बना लेती है। 'इरेनीयस', १, *xxv*।

२ केनेडी, 'बुद्धिस्ट नॉस्टिसिज़्म', जे० "आर० ए० एस० (१९०२), पृष्ठ ४११–१२। "अपने नियामक विचारों, अपने मनोविज्ञान और अपने तत्त्व-चिन्तन में यह बौद्धमत ही है—शुद्ध और सरल बौद्धमत" (वही, पृष्ठ २८३)।

रणा से सम्बन्धित है। इसके पश्चात् वाणी का प्रश्न सामने आता है। भौतिक अस्तित्व एक भूल, गिरावट या अध.पतन है।

थियोडोटस पूर्वीय वैलेन्टिनियनो का नेता बन गया। क्लीमेन्ट उसकी रचनाओ से परिचित था। उसने हमे सिखाया कि क्राइस्ट का आविर्भाव केवल हमारे उद्धार के लिए नही हुआ था, वरन् सारे ससार की अव्यवस्थाओ को सुधारने के लिए। जो लोग उसको (ईश्वर को) ग्रहण करते हैं और जिस सीमा तक उसको ग्रहण कर सकते हैं, उसी सीमा तक उनका उद्धार हो सकेगा। आत्माए भी कई प्रकार की होती हैं, जिन लोगो के पास केवल देह ही देह है, आत्मा नही, वे पशुओ की तरह विनष्ट हो जाएगे, जो लोग आध्यात्मिक प्रवृत्ति के मनुष्य है, वे चिरन्तन जीवन को पाएगे, ऐसा पहले से ही निर्धारित है। इन दोनो के बीच मे हैं वे आत्मवादी कोमल आत्माए, जो आस्था और अनुशासन के द्वारा चिरन्तन जीवन की प्राप्ति कर सकती हैं। चेतना, आत्मा और देह को परस्पर घुला-मिला देना सभी बुराइयो और दु खो का कारण है, और उनका अतिम अलगाव ही मुक्ति है।

बेबीलोनिया के निवासी बार्डेसेनीज़ (जन्म एडेसा मे ११ जुलाई १५५ ई०) ने भारतीय विचारणा पर एक पुस्तक लिखी थी। बेबीलोन मे उसकी भेंट एक राजदूत मण्डल के कुछ सदस्यो से हुई थी जो सम्राट् ऐन्टॉनिनस पायस (ई० १५८-८१) के पास भेजा गया था। उनमे से दो दामदामिस और सैन्डेनीज़ से उसने काफी सूचना एकत्र की, पॉर्फीरी ने उस सूचना को 'सयम' पर लिखे अपने प्रबन्ध मे सुरक्षित रखा है। बार्डेसेनीज़ ब्राह्मणो और बौद्धो मे अन्तर करता है। ऐसा लगता है कि उसने हिन्दू और बौद्ध चिन्तको की शिक्षा और जीवन-पद्धति के सम्बन्ध मे काफी-कुछ जान लिया था। उसके ग्रन्थ का उपयोग पॉर्फीरी ने किया था।

मार्सियन को नॉस्टिकों (ज्ञानवादियो) में नही गिना जा सकता, हालाकि वह प्रेम के ईश्वर और ससार के सर्जक मे अन्तर करता है। ससार का सर्जक सीमित ज्ञान और शक्ति वाला आत्म-खण्डनात्मक अस्तित्व है तथा आत्मा और पदार्थ की विपरीतता उसमे मौजूद है। मार्सियन तीन सिद्धान्तो की कल्पना करता है (१) परमेश्वर, (२) सर्जक ईश्वर, और (३) चिरन्तन पदार्थ। अतिम दो तो अपूर्ण हैं, पर अनिवार्यत बुरे नही हैं। वह परमेश्वर के दिव्यावतार के सिद्धान्त को स्वीकार नही करता, परन्तु नॉस्टिक रहस्यवाद का तो यह अत्यावश्यक लक्षण है। वह इस बात से इन्कार करता है कि ईसा ने मानव-प्रकृति को वास्तव मे ही ग्रहण किया था। उसकी दृष्टि मे यहूदी भविष्यवाणी ईसाई श्रुतिप्रकाश की तैयारी नही है। उसने चाहा था कि चर्च 'ओल्ड टेस्टामेंट' को ठुकरा दे और इस प्रकार सैद्धान्तिक सकीर्णता से छुटकारा पा जाए।[1]

नॉस्टिक सप्रदाय उन अत्यन्त शक्तिशाली विचार-धाराओ मे से एक था जिसने ईसाई सिद्धान्त और आचार को प्रभावित किया। तृतीय शताब्दी के आरम्भ मे अलेक्ज़ेंडर सेवेरस (२२२–३५ ई०) ने नॉस्टिक सम्प्रदाय के दो गुरुओ अपोलोनियस और

१. ल्वायजी : 'हिबर्ट जर्नल' (जुलाई १९३८), पृ० ५२० ।

ऑर्फियस को दिव्य सम्मान प्रदान किया था। अपनी माता की आज्ञा से फिलॉस्ट्रेटस ने 'लाइफ ऑव् अपोलॉनियस' नामक ग्रन्थ लिखा था। नॉस्टिकवाद नवप्लेटोवाद से समझौता करके पाचवी शताब्दी तक एक शक्तिशाली विचार-दर्शन बना रहा।

नॉस्टिक सिद्धान्तो को माननेवाले लोग "समस्या को गैर-ईसाई दृष्टिकोण से देखते हैं और इसीलिए वे उसका गैर-ईसाई समाधान पाते हैं।"[1] परन्तु, वे ईसाई मत को स्वीकार करते हैं और अपने को ईसाई ही समझते हैं। वे ईसाई धर्मशास्त्रो का प्राय उल्लेख करते हैं और उनको लगता है कि ईसाई सत्य का उनको औरो से अधिक गहरा ज्ञान है। परन्तु, उनकी शिक्षाओ को ईसाइयो ने धर्मद्रोह कहकर उनकी निन्दा की। 'अपॉस्टिल्स क्रीड' के प्रथम नियम मे सृष्टि-रचना का जो वर्णन ईसाई मत के अनुसार किया गया है, नॉस्टिक दृष्टिकोण उसके विपरीत है "मैं सर्वशक्तिमान परम-पिता परमेश्वर मे विश्वास करता हू जिसने स्वर्ग और पृथ्वी का निर्माण किया।" क्योकि नॉस्टिकों की दृष्टि मे सृष्टि का स्रष्टा परमेश्वर नही है, वरन् उससे एक घटिया शक्ति 'सर्जक ईश्वर' (विधाता) है। धर्म का देवता और सृष्टि का देवता दोनो मे अन्तर किया गया है। कयामत के समय मृत देह के उत्थान की वातो को नॉस्टिकवाद नहीं मानता, क्योकि वह तो आत्मा और देह को अलग-अलग करके देखता है। यदि केवल पार्थिव शरीर के रूप मे ही व्यक्तिगत अस्तित्व सम्भव हो सकता है, तो मृत व्यक्ति प्रलयकालीन देहोत्थान की तिथि तक मृत ही रह जाएगे। यदि पार्थिव शरीर के बिना हमारा कोई अस्तित्व नही है, तो कोई भी आदमी, जिसका पार्थिव शरीर मृत हो चुका है जीवित कैसे कहा जा सकता है? जब तक लोगो को यह विश्वास बना रहा कि न्याय का अन्तिम दिन अवश्य आएगा, तब तक तो लोगो को यह असम्भव कल्पना नही जान पडती थी कि मरकर भी आदमी अपने उसी रूप मे जीवित रह सकता है, परन्तु जब न्याय के अन्तिम दिन का विचार महत्त्वहीन हो गया, तब लोगो को 'नॉस्टिक' सिद्धान्त अधिक आकर्षक लगने लगे। 'नॉस्टिक' सिद्धान्त के अनुयायी के सामने मुख्य लक्ष्य यह था कि वह अपनी आध्यात्मिक प्रकृति को उसके पार्थिव बन्दीगृह से कैसे मुक्त करे। 'नॉस्टिक' लोग यह मानते थे कि देह के बन्धन से आत्मा को 'नॉसिस' (ज्ञान) या धार्मिक कृत्यो के द्वारा छुडाया जा सकता है।

सावधान विद्यार्थी से यह बात छिपी न रहेगी कि उपनिषदो और प्रारम्भिक बौद्ध धर्म तथा 'नॉस्टिक' सिद्धान्तो मे घनिष्ठ समानता थी।

"'नॉसिस' (ज्ञान) के बीज मूलत. भारत के थे। बौद्ध धर्म का प्रभाव जब पूर्व मे तिब्बत से लेकर सिंहल द्वीप तक फैल चुका, तब उसने पश्चिम की ओर भी अपना प्रभाव डालना शुरू किया। उसीके साथ ज्ञान का यह बीज पश्चिम मे इतनी दूर तक पहुच गया। यह एक महान सत्य था जिसे मैंटर ने अपनी 'हिस्ट्री क्रिटीक ह्यू नॉस्टिसिजमे' शीर्षक कृति मे साफ-साफ नही देखा, परन्तु मैंने तो भारतीय अध्यात्म विद्या (थियोसॉफी) से थोडा-सा परिचय प्राप्त करते ही इस सत्य को समझ लिया।"[2]

१. बिग : 'द क्रिश्चियन प्लेटोनिस्ट्स ऑव् अलेक्जेंड्रिया' (१८८६), पृ.२६।
२. सी. डब्ल्यू. किंग : 'द नॉस्टिक्स एण्ड देयर रीमेन्स ऐन्श्येन्ट एण्ड मेडीवल', दूसरा सस्करण

[६]

प्लॉटिनस के पूर्ववर्तियो मे पोसीडोनियस और न्यूमेनियस का नामाल्लेख किया जा सकता है। पोसीडोनियस, जो सिसेरो का गुरु था, कैलडिया (कलदान या वावुल) निवासियो के ज्योतिष ज्ञान से वहुत प्रभावित था और उसकी वकालत के कारण ज्योतिष का अध्ययन लोगो को वहुत प्रिय वन गया था। मन स्थिति के उत्फुल्ल, चचल, खिन्न और उन्मादी होने के सिद्धान्त ने और भूत-प्रेतो, जादू और टोना-टोटका से मन के अभिभूत होने की वात ने मनुष्य को प्रारब्धवादी वनाने मे सहायता की और मनहूस तथा हठधर्मितापूर्ण अन्धविश्वासो के वोझ के नीचे मानव-मन को कुचल डाला। नॉस्टिक और नवप्लेटोवादी लोगो ने प्रेत-पिशाचो और आध्यात्मिक शक्तियो के सिद्धान्त सम्वन्धी अपने अनुमानो से भी इन अन्धविश्वासो को निरुत्साहित करने की कोई चेष्टा नही की। परन्तु, प्लॉटिनस ने तत्त्वज्ञानीय एकता के आदर्श की पुनर्व्याख्या की और 'आत्मा के पुनरावर्तन' को द्युलोकीय कल्पित कथा मात्र न रहने देकर अनुभव का विषय वना दिया। सेक्सटस एम्पिरिकस पोसीडोनियस के एक कथन को उद्वृत करता है · "दृष्टि की प्रकाश-सदृश शक्ति से प्रकाश का अनुभव किया जाता है और श्रवण की वायु-सदृश शक्ति से ध्वनि का अनुभव होता है, ठीक उसी प्रकार विश्व की प्रकृति को शुद्ध वुद्धि द्वारा जाना जा सकता है, क्योकि वह उसी के सदृश है।"[१] स्वय पोसीडोनियस की शिक्षाए भी रचना की दृष्टि से वहुत-कुछ स्टोइक (जीनो द्वारा स्थापित धर्म-संप्रदाय का एक दार्शनिक) की शिक्षाओ के समान ही थी, इसलिए वे एक ऐसे युग को सन्तोष न दे सकी जो ईश्वर और आत्मा के सम्वन्ध मे कुछ अधिक आध्यात्मिक धारणा की माग कर रहा था।

यूसेवियस का कथन है कि न्यूमेनियस ने, जिसका प्लॉटिनस पर वहुत प्रभाव था, "पाइथागोरस और प्लेटो की विचारधाराओ को एक मे मिलाने की दिशा मे अपने सारे प्रयत्न लगा दिए थे , साथ ही, वह उनके दार्शनिक सिद्धान्तों के लिए ब्राह्मणो, मागियो (प्राचीन फारस के पुजारियो) और मिस्त्रियो के धार्मिक सिद्धान्तो से प्रमाण खोजने मे लगा था।" वह मूसा को पैगम्वर मानता था और प्लेटो को "प्रकोष्ठ मे से वोलता हुआ मूसा" कहता था। वह परव्रह्म और जगत्-स्रष्टा ईश्वर को दो अलग सत्ताए समझता था। स्रष्टा को वह द्वितीय ईश्वर मानता था और उसको तथा 'लोगस' (शव्दव्रह्म) को एक मानता था। जो स्रष्टा है, उसमे वस्तु एव दृश्य जगत् की भी कुछ विशेषताए आ जाती हैं। हमारा ससार तृतीय ईश्वर है। हमारे सामने तीन दैवी व्यक्तित्व हैं · प्रथम—परव्रह्म, द्वितीय—जगत्स्रष्टा लोगस (शव्द-

---

(१८८७), पृ xiv। "ईसाई चर्च के इतिहास में यह वात अत्यन्त निश्चित है कि कोई भी विचार या दृष्टिकोण जिसे नास्तिकता या कुफ्र कहकर निन्दित किया गया, उसका मूलस्रोत भारतीय कल्पनात्मक तत्त्वज्ञान रह चुका था। और जितने कुछ को शास्त्रीय या परम्परागत मानकर अंगीकार कर लिया गया, उसमें से भी कितना भारतीय स्रोत का था, इसकी छानवीन करना इस समय न तो आवश्यक जान पड़ता है, न शोभनीय।" (पृष्ठ xv)।

१. वही, vii, ९३।

ब्रह्म) और तृतीय—सर्जित ससार। जिस प्रकार जगत्स्रष्टा ईश्वर द्वैत प्रकृति का है, उसी प्रकार आत्मा भी द्वैत है—या यह कहे तो ज्यादा ठीक हो कि आत्माए दो हैं—एक बौद्धिक और दूसरी अबौद्धिक। न्यूमेनियस के विषय मे कहा जाता है कि वह दो विश्वात्माओ मे विश्वास करता था, जिनमे से एक अच्छी है और दूसरी बुरी। बुरी विश्वात्मा ही पदार्थ-तत्त्व है। ये दोनो अच्छी और बुरी आत्माए मनुष्य और ससार मे परस्पर सघर्षरत हैं। न्यूमेनियस ने पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकार किया है।

प्लॉटिनस (२०५–७० ई०) के नवप्लेटोवाद मे हम धार्मिक सहतिवाद का, जो सिकन्दर महान की विजयो और रोमन साम्राज्य के क्रिया-कलापो के कारण उत्पन्न हुआ, फल पाते हैं। इसने यूनानी धर्म-सम्प्रदायो की रहस्यवादी परम्परा को पुनरुज्जीवित किया और यह भी वहुप्रसिद्ध ही है कि उसका सादृश्य न केवल सिकन्दरियाई जूडावाद से था, वरन् वेदान्त दर्शन से भी। रिटर नवप्लेटोवादी दर्शन का वर्णन इस सामान्य शीर्षक के अन्तर्गत करता है "यूनानियो मे पौर्वात्य विचार-पद्धतियो का प्रसार।"[1]

नवप्लेटोवादी धर्म-मत का सस्थापक प्लॉटिनस भारतीय दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने के लिए बहुत इच्छुक था। अपनी इस इच्छा की पूर्ति के लिए उसने फारस के राजा सैपर (२४२ ई०) के विरुद्ध होनेवाले गॉर्डियन के अभियान-दल का साथ पकडा, परन्तु गॉर्डियन की मेसोपोटामिया मे मृत्यु हो जान से उसे असफल-मनोरथ होकर बीच राह से लौट आना पडा। उसकी विचार-पद्धति की निम्नलिखित मुख्य बातें हैं विशुद्ध सत्ता और अवाधित कार्य-कारण सिद्धान्त मूलभूत सार-तत्त्व हैं। यह शिव भी है, क्योकि सभी सान्त वस्तुए इसीसे आविर्भूत होती हैं और इसीमे तिरोभूत हो जाती हैं। यह पूर्णतया निर्गुण है, यह परिमाणरहित सत्ता है, इसमे कोई प्राण नही, कोई विचार नही। इसको अस्तित्व कहना भी उचित नही है। यह कुछ ऐसी चीज है जो सभी प्रकार के अस्तित्व से परे है, यह अच्छाई से भी ऊपर है, परन्तु साथ ही विना किसी आश्रय के यह ससार की एक प्रवर्तक शक्ति है। प्रवर्तक शक्ति के रूप मे यह अपने-आपको परिवर्तित, गतिमय या विघटित किए विना किसी अन्य वस्तु को उत्पन्न करती रहती है। इसका प्रथम सिद्धान्त है पूर्णत आत्मनिर्भरता।

ससार की ऐसी कोई अच्छी चीज या कोई ऐसा अच्छा गुण नही है जिसको यह सप्रयास प्राप्त करे। प्रश्न उठता है कि कोई भी सत्ता अपने से वाह्य किसी वस्तु का सृजन करे ही क्यो ? प्लॉटिनस इसका उत्तर यह देता है कि चूकि सारी वस्तुए—निर्जीव वस्तुए तक—अपने-आपमे से यथाशक्ति कुछ देती हैं, इसलिए यह कैसे हो सकता है कि जो सर्वाधिक पूर्ण हो, वह अपने-आपमे ही सीमित रह जाए और अपने मे से कुछ प्रदान न करे। समस्त प्राणियो एव वस्तुओ का जो आदि-स्रोत है, उसकी तुलना उस उफनते हुए सोते से की जाती है जो अपने आधिक्य से उस वस्तु को उत्पन्न करता है जो उसके वाद आती है।[2] अथवा प्रकाश के उस केन्द्रीय स्रोत से की जाती

१. नवप्लेटोवाद पर भारतीय प्रभाव था, इस वात को वैकेरॉट, जेलर और ब्रेहियर भी मानते हैं।

२. 'एनीएड्स', ५ २, १. इसके साथ 'लीला' सम्बन्धी हिन्दू धारणा की तुलना कीजिए।

है जो सभी वस्तुओ को प्रभासित करता है।[1] उच्च सत्ता की क्रिया का न तो यह उद्देश्य है, न प्रयोजन कि वह निम्न सत्ता की उत्पत्ति करे। सृष्टि कोई भौतिक प्रक्रिया नही है, वरन् वह एक प्रकार का निस्सरण है। जो वस्तु उत्पन्न हुई है, उसका अस्तित्व उसी सीमा तक है जिस सीमा तक उसका उत्पादक सिद्धान्त उसमे क्रियाशील रहता है। वह प्रत्येक वस्तु जिसकी ससार मे कोई सत्ता है, कोई अस्तित्व है, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उसी प्रथम सिद्धान्त (परब्रह्म) का उत्पादन है। प्रत्येक वस्तु जब तक अस्तित्व-मय है, तब तक वह दैवी है , क्योकि ईश्वर का सर्वत्र प्रसार है, वही सब कुछ है। जो वस्तु किसी वस्तु से व्युत्पन्न होती है, वह स्वय मूल सार-तत्त्व की तरह नही होती। अस्तित्व की समग्रता एक सरणि का निर्माण करती है जो अपने को अनस्तित्व मे विलीन कर देती है। प्रत्येक निम्न सोपान मूल सार-तत्त्व के साथ अपने से उच्चतर सोपान के माध्यम से सलग्न होता है। प्रत्येक व्युत्पादित वस्तु का यह सामान्य लक्षण होता है कि वह अपने से उच्चतर वस्तु की आकाक्षा करती रहती है। मूल सार तत्त्व से जो वस्तु सर्वप्रथम उद्भूत हुई, वह प्रज्ञा ('नाउज़') है। यह मूल सार-तत्त्व का पूर्ण प्रति-बिम्ब है और समस्त अस्तित्वमय वस्तुओ का मूलादर्श है, क्योकि वस्तुओ की अपार्थिव सार-तत्त्व के रूप मे जानकारी होना ही उन वस्तुओ का अस्तित्व है। मन अपने विषयो को प्रत्यक्ष ज्ञान की तरह वाह्य नही मानता, वल्कि उनको अपना ही आत्मरूप मानता है।[2] चूकि इस एकता मे दो सत्ताओ का होना आवश्यक है—एक सोचनेवाली सत्ता और दूसरी वह जिसको सोचा जाता है, इसलिए यह अपार्थिव कारणो की सरणि मे उच्चतम नही है, द्वितीय है। यह एक ही साथ अस्तित्व और विचार दोनो है। प्रति-बिम्ब के रूप मे प्रज्ञा (नाउज़) मूल सार-तत्त्व के वरावर है। व्युत्पादित के रूप मे यह उससे पूर्णत भिन्न है। प्लॉटिनस के विचार मे यह वह उच्चतम लोक है जिस तक मानवात्मा पहुच सकती है और साथ ही वह स्वय विशुद्ध विचार भी है। हम अभी तक चिरन्तनता के क्षेत्र मे हैं। प्रज्ञा (नाउज़) की अविभाज्य एकता समस्त दृश्य जगत् का मूलादर्श है—यह उस सवका प्रारम्भिक आदर्श है जो कभी उसमे अवस्थित था, आज भी है और आगे भी रहेगा। सार्वभौम प्रज्ञा (नाउज़) मे शुद्ध वुद्धि का प्रत्येक रूप समाविष्ट है। सारी वस्तुए सम्मिलित रूप से इसमे हैं—देशगत स्थिति के रूप मे ही वे अविभक्त नही हैं, वरन् काल-प्रक्रिया की दृष्टि से भी स्वतन्त्र हैं। इसके तार्किक अस्तित्व की विशेषता है चिरन्तनता, नित्यता। चिरन्तनता का सम्वन्ध प्रज्ञा (नाउज़) से वैसे ही है जैसे काल का आत्मा से।[3]

आत्मा प्रज्ञा (नाउज़) की तरह ही एक अपार्थिव तत्त्व है, यह उसका प्रति-बिम्ब है, उसका उत्पादन है। यह 'नाउज़' से उसी प्रकार सम्वन्वित होती है जिस प्रकार 'नाउज़' आदि सत्ता से सम्वन्धित है। यह 'नाउज़' और दृश्य जगत् के मध्य मे स्थित है—आत्मपूर्ण वुद्धि की एकता और ऐन्द्रिक जगत् के विसर्जन एव परिवर्तन के वीच का एक अर्थवोधक शब्द है यह। यह जीवन का सिद्धान्त और वस्तुओ की गति है।

१. तुलना कीजिए: 'तस्याभास· सर्व इद विभाति।'

२. 'एनीएड्स', V, ५, १। ३. वही, iii, ७, ११।

अपने स्वभाव और प्रारब्ध के कारण यह ब्रह्माण्ड की एकल आत्मा के रूप मे उच्चतर ससार से सम्बन्धित है। परन्तु, इसके साथ-साथ यह कई व्यक्तिगत आत्माओ के साथ भी सम्बद्ध रहती है। यह आदर्श और ऐन्द्रिक जगतो के बीच मध्यस्थता करती है। वस्तुओ की सामान्य प्रकृति के अनुसार ससार को व्यवस्थित करती है । जिन वस्तुओ को यह उत्पन्न करती है, वे सर्वकालिक और अनश्वर होती हैं । व्यक्तिगत आत्माए चाहे तो 'नाउज' (प्रज्ञा) के द्वारा अपने को शासित होने दे सकती हैं या चाहे तो ऐन्द्रिक जगत् के द्वारा आकर्षित की जा सकती हैं, परन्तु इस द्वितीय स्थिति मे वे सान्त मे अपने को खो देंगी। सक्रिय सार तत्त्व के रूप मे आत्मा पार्थिव दृश्य जगत् से सम्बन्धित है। यहा पर सघर्ष है, विकास है और ह्रास है। इसका मूल कारण है पदार्थ-तत्त्व, जो शरीरो का मूल आधार है, जो अस्पष्ट और अनिश्चित है तथा जो विना किसी गुण के है। रूप और आदर्श से अलग रहते हुए यह बुराई का सिद्धान्त है, रूप ग्रहण करने के योग्य बनने पर यह मध्यवर्ती अस्तित्व है। प्लॉटिनस की दृष्टि मे पदार्थ-तत्त्व मात्र एक भावात्मक वस्तु है, यह रूपो के आधान का, पात्र का मात्र एक नाम है। यह अनिर्दिष्ट है, कोई वस्तु नही है, तथापि यह नही कहा जा सकता कि यह कुछ भी नही है। बुराई केवल एक कम अच्छाई ही है। निरपेक्ष बुराई अर्थात् अनन्त पदार्थ-तत्त्व, जिसे कम अच्छाई की परिमिति के प्रतीक के द्वारा प्रकट किया जाता है, दैवी यात्रा की आखिरी मञ्जिल है।

निस्सरण या उद्भव के सिद्धान्त और सृष्टि के सिद्धान्त मे भिन्नता है। यह भिन्नता वैसी ही है जैसी 'विवर्त' और 'परिणाम' के मध्य होती है । जब प्लॉटिनस उद्भव की परिकल्पना पर जोर देता है और अद्वैत वेदान्त विवर्त का दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है तब दोनो यह बताना चाहते हैं कि उच्च सिद्धान्त के विषय मे दोनो मे कोई अधिक अलगाव नहीं है। ईश्वर अपने को अलग-अलग वस्तुओ या प्राकृतिक वस्तुओ के रूप मे विसर्जित नही करता। आदि से लेकर अन्त तक एक निरन्तर प्रक्रिया है, किन्तु कारण तो ज्यो का त्यो बना रहता है, जबकि उससे उत्पन्न कार्य या परिणाम उससे घटिया स्थान प्राप्त करता है।[१] आद्यशक्ति सार्वभौम प्रज्ञा (नाउज) को उत्पन्न करती है और प्रज्ञा ज्ञेय जगत् के साथ एकरूप होती है। प्रज्ञा (नाउज) आत्मा को उत्पन्न करती है और आत्मा अन्य सभी अस्तित्वो को। यह कार्य-कारण-सम्बन्ध का तार्किक क्रम है, काल-क्रम नही। प्लॉटिनस की दृष्टि मे कार्य-कारण-सम्बन्धी विचार का प्रारम्भ प्लेटो से होता है। प्लेटो के विषय मे प्लॉटिनस कहता है कि उसका जगस्रष्टा भी प्रज्ञा (नाउज) है, जो विचारातीत और अस्तित्वातीत अच्छाई (शिवत्व) से उत्पन्न है। प्रज्ञा (नाउज) आत्मा को उत्पन्न करती है।[२] 'तैत्तिरीय उपनिषद्' बतलाता है कि मानवात्मा ससार की प्रतिकृति है और उसमे पदार्थ, प्राण, चेतनता, बुद्धि और आत्मिक आनन्द के विभिन्न सिद्धान्त सन्निहित हैं। प्लॉटिनस भी इस बात की पुष्टि करता है कि आत्मा मे एकता, विशुद्ध बुद्धि, प्राणभूत शक्ति और स्वयं पदार्थ के सिद्धान्त सम्मिलित हैं। आत्मा मूल्य और अस्तित्व के प्रत्येक स्तर को स्पर्श करती

१ 'एनिण्ड्स', ५, २, २। २. वही ५, १, ८।

है। जो मानव-आत्माए पार्थिवता मे निमग्न हो गई हैं, वे ऐन्द्रिक जगत् के पाश मे आवद्ध हो चुकी हैं और उन्होने इच्छा के हाथ मे अपनी बागडोर सौंप दी है। सत्य सत्ता से अपने को पूर्णत विरक्त करने और स्वतन्त्रता प्राप्त करने की चेष्टा करते हुए वे एक अवास्तविक अस्तित्व मे अपने को गिर जाने देती हैं। आत्मा पुण्य और तापसिक विशुद्धता का आचरण करके अपने मूल आत्मरूप मे लौट सकती है। वह जिस क्रम से दिव्य पद से नीचे की ओर उतरी थी, उसीका अनुसरण करके वह पुन अपने मूल पद को प्राप्त कर सकती है, पार्थिवता से पूर्णत. मुक्त हो सकती है और निरपेक्ष ब्रह्म के साथ पुनः एकाकार हो सकती है। "कोई भी वास्तविक अस्तित्ववाली वस्तु विनष्ट नही हो सकती।" आध्यात्मिक ससार तथा जीवन-मूल्यो का राज्य सदा सुरक्षित है और उनकी कभी भी अन्तिम पराजय नही हो सकती। किसी भी उत्तम जीवन की ज्योति मृत्यु के द्वारा नही बुझाई जा सकती। आत्मा है, क्योकि उसको होना चाहिए। उसको कोई नकार नही सकता। न तो वह अस्तित्व मे आती है, न विनष्ट होती है। आत्मा अमर है। उसमे चिरन्तन सत्य को देखने और उसका चिन्तन करने की क्षमता है, वह परमात्मा के साथ अपने सादृश्य को देख सकती है—उससे बाहर की सत्ता के रूप मे नही, वरन् उसीका एक अग होकर। आत्मा परमात्मा की अन्तरतम प्रकृति का ही एक रूप है। प्लॉटिनस प्रलय-काल मे देहोत्थान की व्याख्या इस रूप मे करता है कि देह के साथ जागरण नही होता, बल्कि देह मे से जागरण होता है।[1]

जहा तक चिरन्तन जीवन के रूप का प्रश्न है, निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि प्लॉटिनस के विचार उसके सम्बन्ध मे क्या थे। चूकि आत्माए चेतनाओ की वाणी हैं, इसलिए उनमे से प्रत्येक आत्मिक ससार मे एक विशिष्ट अस्तित्व का प्रतिनिधित्व करती है। इस विशिष्टता को मिटाया नही जा सकता।[2] "सभी आत्माए सम्भाव्य रूप से सभी वस्तुए हैं। उनमे से प्रत्येक की विशिष्टता उस सामर्थ्य के आधार पर आकी जाती है जिसका प्रयोग वह मुख्य रूप से करती है। एक, आध्यात्मिक जगत् से कर्म के द्वारा सयुक्त हुई रहती है तो दूसरी, इच्छा के द्वारा। इस प्रकार आत्माए भिन्न-भिन्न वस्तुओ का चिन्तन करती रहती हैं, जो जिस वस्तु का चिन्तन करती है, वह वही वस्तु है या हो जाती है।"[3] यदि हम जानना चाहते हो कि देह की पार्थिव मलिनता से मुक्त हुई आत्माओ का क्या होता है, तो प्लॉटिनस उसके विषय मे हमे बताता है कि वे ईश्वर मे स्थित रहती हैं, क्योकि ईश्वर ही वास्तविकता और सत्य अस्तित्व का आश्रय है। "यदि आप पूछें कि वे कहा होगी, तो आपको यह भी पूछना चाहिए कि आत्मिक ससार कहा पर है? निश्चय ही, आप उस ससार को अपनी आखो से नही देख सकते।"[4] "आत्मा ने सत्य का दर्शन करते हुए अपने-आपको देखा और देखने की प्रक्रिया मे वह अपनी उचित क्रिया मे लीन हो गई, और वह क्रिया भी तो वह स्वय ही थी।"[5] वहा कोई तर्क नही है, कोई स्मृति नही है। उसकी विश्रान्ति एक अबाधित शक्ति है, एक सजीव चिन्तन है। "जब हम आत्मा मे स्थित होते हैं

१. वही, *III*, ६, ६। २. वही, *VI*, ४, १६। ३. वही, *IV*, ३, ८।
४. वही, *III*, ४, २४। ५. वही, *V*, ३, ५।

तब हम राजा होते है।"[1] हम फिर केवल मनुष्य ही नही रह जाते।

प्लॉटिनस पुनर्जन्म में विश्वास करता है। वह तो पशुओ मे भी आत्मा का निवास मानता है। जब तक हम उच्चतम ज्ञान को प्राप्त नही कर लेते, तब तक एक के बाद दूसरे जन्म के चक्र मे हमे बधना ही होगा—यह बिलकुल वैसा ही होता है जैसा हमारा एक के बाद दूसरा स्वप्न देखना, या अलग-अलग बिस्तरो पर बारी-बारी से सोना।[2] जब वह कहता है कि यह एक सार्वभौम सिद्धान्त है तब वह कर्म के नियम को स्वीकार करता है। वह मानता है कि प्रत्येक आत्मा मृत्यु के उपरान्त जहा जाना चाहती है, वहा चली जाती है।[3] "जिन लोगो ने मानव-जन्म पाकर मनुष्योचित कार्य किए हैं, वे पुन मनुष्य रूप मे पैदा होते हैं। जिन लोगो ने अपने मानव-जीवन मे केवल इन्द्रिय-सुख ही भोगा है, उनको नीच पशुओ की योनि मिलती है।"[4] वह यह भी चर्चा करता है कि जो आत्माए शरीर-बन्धन से छूट गई होती है, वे विश्वात्मा मे लीन हो जाती हैं।[5]

अति शुद्ध-बुद्ध परमेश्वर ही सभी प्रयत्नो का लक्ष्य है और सभी अस्तित्वो का वही आधार है। विचार के द्वारा हम जो ज्ञान प्राप्त करते हैं, वह इन्द्रिय-बोध और अति-बौद्धिक सहज बोध का मध्यवर्ती सोपान है। ज्ञेय रूप उच्चतम नही होते, वे तो एक माध्यम होते हैं जिनके द्वारा अरूप सार-तत्त्व के प्रभावो को ससार तक पहुचाया जाता है। उच्चतम वास्तविकता विचार-ग्राह्य नही बन पाती, वह तो एक ऐसी अज्ञेय वस्तु है जिसको मनुष्य अपने विचार के द्वारा जानने की चेष्टा करता है। मनुष्य केवल रोटी से नही जीता और न केवल ज्ञान से। ज्ञान मे भी कुछ द्वैत होता है, क्योकि यद्यपि ज्ञाता और ज्ञेय एक ही हैं, तो भी जो सोचता है वह अपने को सोची जानेवाली वस्तु से अलग कर लेता है। विचार और अस्तित्व—ये दोनो एक जैसे ही हैं, फिर भी इनमे अन्तर है। अस्तित्व इन्द्रिय-बोध की दृष्टि से विचार से भिन्न है। पर, विचार और अस्तित्व से भी परे है निरपेक्ष एकता जो अपने समान केवल स्वय है। यह सभी अस्तित्वो से भिन्न है, हालाकि यह इसका और उसका, जिसको सभी चीजें पाने की कामना रखती हैं, दोनो का स्रोत है।

तीन प्रकार के लोग हैं जो शिवत्व की प्राप्ति कर सकते हैं और सत्य का दर्शन कर सकते हैं, वे हैं—दार्शनिक, सगीतकार और प्रेमी।[6] नैयायिक की विश्लेषणात्मक प्रक्रिया के द्वारा मन उस लक्ष्य तक पहुचने मे समर्थ हो जाता है, जिसके लिए वह प्रारम्भ से ही प्रयास करता रहा है। इस लक्ष्य तक पहुचकर मन अचचल और एकाग्र हो जाता है। आत्मगत जीवन की श्रेष्ठतम विधि वह है जब पूर्ण एकाग्रता आ जाती है और जब विचार तक का लोप हो जाता है। आत्म के भीतर, इसके केन्द्र-स्थान मे ही वह परमसत्ता अवस्थित है जो आत्म-ज्ञान से भी परे है।

१ वही, *v*, ३, ४।   २ वही, *III*, ६, ६।   ३. वही, *iv*, ३, १३ और १५।

४ वही, *iii*, ४, २। पॉर्फोरी और याम्ब्लिकस यह नहीं मानते कि मानव-आत्माए कभी भी पशुओं और पक्षियों की योनि में भेजी जाती हैं।

५. वही, *iv*, ८, ४, *iii*, २, ४।   ६. वही, *i*, ३, ४।

"ईश्वर का दर्शन करने मे जो देखती है वह शुद्ध बुद्धि नहीं है, वरन् कोई बुद्धि से भी ऊची और उससे भी आद्य वस्तु है, वह कोई ऐसी वस्तु है जिसकी पूर्व-कल्पना बुद्धि ने कर ली थी, ठीक वैसे ही जैसे दर्शन के विषय की। इस तरह वह अपने-आपको देखता है, और अपने को जब देखता है तब एक साधारण अस्तित्व के रूप मे, वह अपने-आप से ही एकीभूत होगा और अपने को स्वय जैसा ही बना हुआ अनुभव करेगा । हमे यह तक नहीं कहना चाहिए कि वह 'देखेगा', वरन् यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि वह जिस चीज़ को देखता है, वैसा ही 'बन जाएगा' । पर, यह होगा तभी, जब द्रष्टा और दृष्ट मे, ज्ञाता और ज्ञेय मे अन्तर करना सम्भव हो सकेगा और यह स्पष्टत. नही प्रतिपादित किया जाएगा कि दोनो एक ही वस्तु हैं। इस मामले मे द्रष्टा न तो दो वस्तुओ को देखता है, न उनमें अन्तर करता है और न उनकी कल्पना करता है , वह कुछ और ही बन जाता है, वह जो था वह नही रहता और न अपने से उसका कोई सम्बन्ध रहता है।...इसलिए उसके दर्शन-स्वप्न का वर्णन करना कठिन है। क्योकि कोई मनुप्य उस चीज़ का अपने से भिन्न वस्तुओ के रूप मे वर्णन कैसे कर सकता है जबकि उसे देखकर उसने यही समझा हो कि यह उसीका प्रतिरूप है।"[1]

जो व्यक्ति सत्य के साथ सीधा सम्पर्क स्थापित कर लेता है, वह स्वय दिव्य बन जाता है। तब आत्मा पूर्ण निश्चेष्टता और विश्राम की अवस्था मे होती है। यह दशा आत्मा के लिए समाधि, एकाग्रता और सभी वस्तुओ की पूर्ण विस्मृति की होती है। इस स्थिति मे आ जाने पर आत्मा जीवन के स्रोत तथा समस्त अस्तित्व के सिद्धान्त—ईश्वर का दर्शन करती है। वह परमानन्द का उपभोग करती है और चिरन्तनता के प्रकाश मे निमग्न हो जाती है। "यह ऐसा जीवन है जिसे देवतागण, देवताओ के समान लोग तथा आनन्दमय व्यक्ति प्राप्त करते हैं, लौकिक जगत् की अन्य वस्तुओ से मुक्ति मिल जाती है, यहा के सुखों से यह आध्यात्मिक जीवन निर्विकार बना रहता है, यह एकाकी की एकाकी तक की उडान होती है।"

नवप्लेटोवाद आध्यात्मिक चेतनता मे प्रवेश करने की हिन्दू प्रविधि मे विश्वास करता है। ध्यान-मनन के द्वारा हम आत्मा को देह की दासता से छुडा सकते हैं और ब्रह्म के साथ एकत्व-लाभ कर सकते हैं। प्लॉटिनस हमसे कहता है कि सभी बाह्य वस्तुओ को अपने से अलग करते जाओ और तब तक ऐसा करते रहो जब तक ईश्वर का साक्षात्कार तुम्हे हो नही जाता। हमको देह से, जो आत्मा की सच्ची प्रकृति से भिन्न वस्तु है, उस आत्मा से जो देह को आकार देती है, ज्ञानेन्द्रियो से, बाह्य दृश्य-विधानो से, बुभुक्षाओ से, सवेगो से और द्वैतात्मक बुद्धि से भी अपने को पृथक् कर

१. वही, VI, ९, ७, इन्गे 'द फिलॉसफी ऑव प्लॉटिनस' (१९१८), खण्ड २, पृष्ठ १४० । डॉ० इन्गे का विचार है कि प्लॉटिनस के दर्शन-सम्बन्धी सिद्धान्त पर भारतीय ढग के पूर्वीय दर्शन का प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। [क्रिस्चियन मिस्टिसिज़्म (१८९९ ई०), पृष्ठ ९८ ।]

लेना चाहिए। ऐसा कर लेने पर आत्मा परम प्रकाश को स्पर्श करती और देखती है।[1] रहस्यात्मक अनुभव के समय मनुष्य की आत्मा मे दैवी शक्ति का स्फुरण होता है, इस बात मे उपनिषदो की जितनी आस्था है, उतनी नवप्लेटोवादियो की भी है। पॉर्फीरी ने बतलाया है कि जिन दिनो मै प्लॉटिनस के साथ रहता था, उन दिनो प्लॉटिनस ने समाधि की दशा मे ईश्वर से साक्षात्कार किया था, उस ईश्वर से, जो सर्वशक्तिमान् है, जो अरूप है और बुद्धि की चचलता से ऊपर है।

जिस प्रकार उपनिषद् 'कर्म' की अपेक्षा 'ज्ञान', ध्यान और मनन पर अधिक बल देते हैं, उसी प्रकार प्लॉटिनस कर्म को ध्यान का क्षीण उत्पादन मानता है। जो लोग कर्म करते भी हैं, वे किसी अच्छी चीज़ को प्राप्त करने के लिए करते हैं और उनका जो ज्ञान है, वह उनकी आत्मा मे होता है। हमको व्यावहारिक क्रियाशीलता से, जिसका सम्बन्ध ससार से होता है, ऊपर उठना ही चाहिए और आत्म-ज्ञान की उपलब्धि के लिए सचेष्ट रहना चाहिए। सभी रहस्यवादी पद्धतियो की तरह, नवप्लेटोवाद भी राष्ट्रो और राज्यो की राजनीतिक परिमितियो से ऊपर उठा हुआ था।

प्लॉटिनस और नॉस्टिको मे कई बातो की समानता है। परम सत्ता अस्तित्व के परे है। आत्मा जो अन्धकार मे भटक गई है, उसको अपने घर—ईश्वर के पास अवश्य पहुचना चाहिए। आत्मा मे एक दैवी स्फुलिंग है जो उस मार्ग मे उसको प्रकाश दिखाएगा। प्लॉटिनस नॉस्टिक सम्प्रदाय वालो की इस बात के लिए आलोचना भी करता है कि वे दृश्यमान ससार के विषय मे निराशावादी विचार रखते हैं और वे सूर्य तथा तारको को ईश्वर का वास-स्थान स्वीकार नही करते। हम प्रकृति के किसी भाग से दिव्य सत्ता के प्रभाव को अलग नही कर सकते। नॉस्टिको की इस धारणा के प्रति भी उसे आपत्ति है कि ससार की रचना एक निश्चित समय मे हुई। कदाचित् वह नॉस्टिक सम्प्रदायवादियो के ईसाई-अनुराग के भी विरुद्ध था, क्योकि जैसा हम देख चुके है, नॉस्टिक सम्प्रदाय के लोग अपनेको ईसाई ही मानते थे। प्लॉटिनस बहुदेववाद का समर्थन करता है, जबकि नॉस्टिक सम्प्रदाय वाले इसे अस्वीकार करते थे।

प्लॉटिनस की विचारधारा एक ऐसे ईश्वरीय सिद्धान्त पर विश्वास करती है जो ईश्वर के सब प्रकार के ज्ञान को अलग छाट देती है, यह विचार उपनिषदो के निर्गुण ब्रह्म के सिद्धान्त से मेल खाता है। सगुण ईश्वर की धारणा के समकक्ष प्लॉटिनस की विचारणा मे प्रज्ञा ('नाउज़') की कल्पना है। उपनिषदो मे 'हिरण्यगर्भ की परिकल्पना है, तो प्लॉटिनस मे एक विश्वात्मा की। प्लॉटिनस मानता है कि ईश्वर दृश्य-जगत् के साथ अपना व्यवहार मध्यवर्ती अस्तित्वो के माध्यम से करता है, परमानन्द की दशा तक ऐन्द्रिक जगत् से आत्म-निस्तार पाकर ही पहुचा जा सकता है, इस बात पर भी प्लॉटिनस की आस्था है। स्टटफील्ड का विचार है कि "'भारतीय रहस्यवादी विचारणाए अफ्रीका और यूरोप तक फैल गई' और 'प्लॉटिनस की विचारणा मे उनको फलने-फूलने का अवसर मिला', उसके पास से रहस्यवादी सन्तो

१. 'एनिएड्स', ५, ३, १७। ब्रेहियर प्लॉटिनस की ध्यान-मनन सम्बन्धी धारणा को भारतीय स्रोतों से लिया हुआ बतलाता है। देखिए, 'ला फिलॉसोफी दी प्लॉटिन', पृष्ठ १०८–९।

और तथाकथित ब्रह्मवादी सर्वेश्वरवादियो, डायोनिसस और ऐरिओपैगाइट के द्वारा यह विचारणा ईसाई-मत को प्राप्त हुई ।"[1]

पॉर्फीरी (२३०–३०० ई०) ने प्लॉटिनस की शिक्षाओ को लोकप्रिय बनाया। उसकी दृष्टि मे तत्त्वज्ञान का उद्देश्य है आत्मा की मुक्ति । बुराई का स्रोत शरीर मे उतना नही है जितना आत्मा की इच्छाओ मे है। कठोर तपश्चर्या की आवश्यकता बताई गई है। पॉर्फीरी ने मास-भक्षण के विरोध मे लिखे अपने प्रबन्ध 'डी ऐब्स्टीनेन्सिया' मे पशु-मास-भक्षण से दूर रहने की वकालत की है । वह बार्डेसेनीज़ के आधार पर कुछ भारतीय विचारो की चर्चा करता है । बार्डेसेनीज़ को ये विचार एक भारतीय राजदूत-मण्डल से प्राप्त हुए थे, जो तृतीय शताब्दी ईस्वी के आरम्भ मे शाही दरबार मे आया था ।[2] ईसाइयत के विरुद्ध उसने जो वितण्डापूर्ण विवाद छेड़ा, उसका आधार सैद्धान्तिक था । उसकी मान्यता थी कि ससार की सृष्टि और उसके एक निश्चित समय पर विनाश से सम्बन्धित ईसाई धारणा ससार को ईश्वर से अलग कर देती है और एक-दूसरे से इतने भ्रमात्मक रूप मे अलग हुए इन दो तत्त्वो को एकत्र लाने के लिए किसी अवतार की परिकल्पना का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है । प्रलय के समय मृत शरीरो के उठ खडे होने की परिकल्पना उसको विचित्र और असम्भव जान पड़ती थी । इस प्रश्न पर यहूदियो की कट्टरता के विरुद्ध उसने एक उपाय के रूप मे मूर्त्ति-पूजा का सुझाव दिया था ।

> वह कहता है . "बहुत प्राचीन काल से ही देवताओं की मूर्त्तियो और मन्दिरो के निर्माण का उद्देश्य मनुष्यो को देवताओ की याद दिलाना रहा है । उनका लक्ष्य यह है कि जो लोग उनके समीप पहुचें, वे उनको देखकर ईश्वर का विचार करें, या जब वे अपने काम-धन्धो से छुट्टी पा लें तब ईश्वर की प्रार्थना करने और उसके सम्मुख प्रतिज्ञाए करने के लिए उन मन्दिरो मे जाए । जब किसी आदमी को अपने किसी मित्र की प्रतिमा या उसका चित्र प्राप्त होता है, तब निश्चय ही उसको यह विश्वास नही होता कि उसका मित्र उस प्रतिमा मे या चित्र मे छिपा बैठा है, या कि उसके सदस्य उस प्रतीक के विभिन्न अगो मे स्थित है । उसका विचार तो यह होता है कि वह अपने मित्र का जो आदर करता है, उसको इस प्रतिमा के रूप मे अभिव्यक्ति प्राप्त हो रही है । देवताओ को जो बलि या पूजा चढाई जाती है, उससे देवताओ का कोई सम्मान नही होता, वह तो आराधक की सदेच्छा, कृतज्ञता और भक्ति-भावना का प्रमाण-मात्र होती है ।"[3]

याम्ब्लिकस,[4] जिसकी मृत्यु कॉन्स्टेण्टाइन के शासन-काल मे, लगभग ३३०

१. 'मिस्टिसिज़्म एण्ड कैथॉलिसिज़्म' (१६२५), पृष्ठ ३४ ।   २. IV, १८ ।

३. हार्नैक द्वारा लिखित 'एक्सपैन्शन ऑव् क्रिश्चियैनिटी', खण्ड १, पृष्ठ ३७६ में उद्धृत ।

४. "उसके ग्रन्थों का अब कोई पता नहीं चलता । उसकी शिक्षाओं के विषय में हमें प्रोक्लस की रचनाओं में हुए उल्लेखों तथा स्टोबेइयस और 'औन द मिस्ट्रीज ऑव् द ईजिप्शियन्स' शीर्षक प्रबन्ध में छिट-फुट बिखरी सूचनाओं से पता चलता है ।"

ई० मे हुई, पाइथागोरस, प्लेटो और प्लॉटिनस से काफी प्रभावित था, हालाकि उसने नवप्लेटोवाद को अलौकिक शक्ति-सम्बन्धी अध्यात्मवाद के रूप मे परिवर्तित कर दिया था। वह प्राचीन ससार के निपात के समय जीवित था। प्राचीन ससार का वातावरण दमनात्मक और निरर्थक था और मनुष्य के मन मे अपनी कदर्थना की भावना बढ रही थी। शक्ति के केन्द्रीय स्रोत के साथ मनुष्य अपना योग स्वय अपनी चेष्टाओ के द्वारा नही कर सकता था, वरन् उसके लिए उसे अलौकिक शक्ति से सम्बन्धित साधनाओ का सही-सही ढग से अभ्यास करना पडता था और उनकी सहायता से ही वह केन्द्रीय शक्ति के साथ अपने को एकाकार कर सकता था। याम्ब्लिकस द्वारा प्रतिपादित रहस्यात्मक साधनाए तथा जादुई अनुष्ठान तक ईसाई धर्म-सस्था और उसके व्यवहार मे ग्रहण कर लिए गए।

प्लॉटिनस के पश्चात् सर्वाधिक मौलिक विचारक हुआ प्रोक्लस (४१६–८५ ई०)। प्राचीन और मध्यकालीन विचारणा के मध्य वह एक प्रमुख कडी है।[1] जब कि प्लॉटिनस के 'एनिएड्स' मे दार्शनिक ध्यान और चिन्तन का सग्रह है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति का आध्यात्मिक उत्कर्ष करना है, तब प्रोक्लस की शिक्षाओ मे हमे एक पद्धति का निरूपण तथा नवप्लेटोवाद का विधिवत् समर्थन प्राप्त होता है। पाच शताब्दियो तक चलनेवाले चिन्तन-प्रधान आन्दोलन, जिसकी दिशा का निर्देशन चिन्तनशील तथा धार्मिक हितो के द्वारा हो रहा था, की परिणति प्रोक्लस के कार्य मे हुई। प्रोक्लस का उद्देश्य केवल एक तत्त्वज्ञान का ही विकास नही करना था जिसमे पाइथागोरस, प्लेटो और साथ ही अरस्तू की सर्वोत्तम शिक्षाओ एव सिद्धान्तो का सम्यक् समावेश होता, वरन् उसका उद्देश्य यह भी था कि मोक्ष-प्राप्ति की एक ऐसी योजना प्रस्तुत की जाए जो उत्तरकालीन यूनानी (हेलेनिक) काल की परम धार्मिक आवश्यकता को पूरा कर सके। वह एक ऐसे धार्मिक तत्त्वज्ञान को सामने रखना चाहता था जो परपरागत यूनानी बुद्धिवाद के ढाचे मे रहते हुए भी रहस्यवादी धर्मो के द्वारा प्रस्तुत मोक्ष-सम्बन्धी योजनाओ की तुलना मे उपयोगी प्रमाणित हो सके। प्लॉटिनस के अन्तर्ज्ञान के प्रति मुख्यत निष्ठावान रहते हुए भी वह याम्ब्लिकस[2] से काफी प्रभावित है। उसके प्रमुख ग्रन्थो 'एलीमेन्ट्स ऑव् थियोलॉजी' और 'प्लेटोनिक थियोलॉजी' मे प्लॉटिनस का सजीव अनुभव एक स्थिर परम्परा के रूप मे व्यक्त हुआ है। अस्तित्व

१. प्रोफेसर ई० आर० डॉड्स लिखते हैं "प्रोक्लस ने प्रारम्भिक मध्यकालीन विचारणा पर जो प्रभाव डाला उसे आकस्मिक इस अर्थ में कहा जा सकता है कि इसका अनुभव शायद ही लोगों को होता, अगर प्रोक्लस के देहान्त की एक पीढी के भीतर ही एक अज्ञात सनकी व्यक्ति ने उसके तत्त्वज्ञान को ईसाई वस्त्र पहनाकर सज्जित न कर दिया होता। इसको उसने सेंट पॉल के एक शिष्य का कार्य कहकर प्रचारित किया।" ['एलीमेन्ट्स ऑव् थियोलॉजी' (१९३३), पृष्ठ xxvi–xxvii]।

२ प्रोफेसर डॉड्स का विचार है कि काल और चिरन्तनता के सम्बन्ध में प्लॉटिनस की शिक्षाओं, देवताओं और आत्माओं का उसके द्वारा वर्गीकरण, जन्म-चक्र मे आत्मा को कभी मुक्ति मिलती है। (प्रॉप. २०६, 'एलीमेन्ट्स ऑव् थियोलॉजी') और इसका केवल कुछ अश ही ऊपर रहता है, इसकी निश्चित अस्वीकृति (प्राप. २११) आदि बातों का स्रोत याम्ब्लिकस था। देखिए, ई० आर० डॉड्स, 'एलीमेन्ट्स ऑव् थियोलॉजी', पृष्ठ xxi।

के तत्त्वविज्ञान को श्रेणियो के सिद्धान्त के द्वारा समझने की चेष्टा की जाती है। यह मान लिया गया है कि ब्रह्माण्ड की सरचना यूनानी तर्कशास्त्र की सरचना के अनुरूप है। प्रोक्लस कहता है "सभी देहो के परे आत्मा का सार-तत्त्व है, सारी आत्माओ के परे बौद्धिक सिद्धान्त है; और सभी बौद्धिक तत्त्वो के परे है वह 'एक' (परमात्मा)।"[1] आत्मा अपार्थिव है और देह से स्वतत्र है, इसीलिए वह अविनाशी है। आत्मा को उसके सही रूप मे जानने का अर्थ है उसको वस्तुत एक मानना; यह मानना कि उसमे सभी वस्तुओ की सम्भाव्यता छिपी है तथा यह समझना कि वह दिव्य है। नवप्लेटोवादी जिस त्रिसत्ता की कल्पना करते हैं, उसको स्वीकार कर लिया गया है। परमेनिडीज का 'एक' शिव के रूप मे जाना गया है। 'टिमेइयस' का जगत्-स्रष्टा वही है जो अरस्तू का 'नाउज' (प्रज्ञा) 'टिमेइयस' और 'लाज' की विश्वात्मा भी कल्पित की गई है।

'एक' (परमात्मा) के बाहर विश्व के अस्तित्व को प्रोक्लस प्लॉटिनस के सिद्धान्तो के आधार पर समझाने की चेष्टा करता है, उसके अनुसार प्रत्येक पूर्ण वस्तु मे स्वय को पुन. उत्पन्न करने की प्रवृत्ति होती है।[2] प्रोक्लस कहता है कि "प्रत्येक उत्पादक कारण अगले उत्पादक कारण को और परवर्ती सिद्धान्तों को उत्पन्न करता है, किन्तु स्वय अविचल रहता है।"[3] परमात्मा तो कोई क्रिया नही करता, परन्तु फिर भी उससे बननेवाली वस्तुए अस्तित्व में आती जाती हैं। "क्योकि यदि परमात्मा क्रियाशील होकर कोई रचना करे, तो या तो यह मानना होगा कि क्रियाशीलता या गति उसके भीतर है, और यदि उसमे गतिमयता आ गई, तो वह एक नही रह पाएगा और इस प्रकार अपनी एकता खो देगा, या यदि गति उसकी परवर्ती है, तो मानना पड़ेगा कि यह गति स्वय उस 'एक' परमात्मा से ली गई है और या तो हमे अनन्त प्रत्यावर्तनो का सामना करना पड़ेगा या वह 'एक' (परमात्मा) बिना किसी गति के उत्पादन करेगा।" 'एक' (परमात्मा) की विशुद्ध एकता और पदार्थ की न्यूनतम एकता के बीच कुछ मध्यवर्ती साधनो को भी स्वीकार किया जाता है। आत्मा का देह मे अवतरण कोई भूल या दण्ड नही समझा जाता, वरन् यह एक आवश्यक ब्रह्माण्डीय सेवा है और आत्मा की शिक्षा का एक आवश्यक अग है। परमात्मा से पदार्थ-तत्त्व में अवतरण की या पदार्थ-तत्त्व से परमात्म-तत्त्व तक सतरण की प्रक्रिया आत्मा के लिए अन्तहीन होती है। आत्माए नश्वर और अनश्वर साधन है।

प्रोक्लस का यह कथन तो बहुप्रसिद्ध है ही कि तत्त्वज्ञानी (दार्शनिक) को एक नगर या देश के ही धार्मिक रीति-रिवाजो का पालन नही करना चाहिए, वरन् उन्हें तो समस्त ससार का दीक्षागुरु बनना चाहिए। तप और चिन्तन-मनन के गुण को आचार-व्यवहार से अधिक महत्त्व दिया जाता है। प्रोक्लस ने प्लॉटिनस के नवप्लेटो-वाद में भक्तिभावनापूर्वक परिवर्तन किया। प्लॉटिनस ईश्वर की ओर मन को मोडना प्रार्थना का काम मानता था और प्रोक्लस इसे ईश्वरीय सहायता के लिए अनुनय-विनय के रूप मे देखता था। परमानन्द की प्राप्ति के लिए जिस मनुष्य को बिना

१. प्रॉप० २० । २. प्रॉप० २४ : देखिए 'एन्नीएड्स', ५, १, ६ । ३. प्रॉप० २६ ।

किसीकी सहायता के आत्मनिर्भर वन जाना चाहिए, वही प्रोक्लस के मतानुसार, इसके लिए ईश्वर का मुखापेक्षी वन जाता है, उसकी कृपा-कोर का आकाक्षी वन जाता है। प्रोक्लस देवताओ को 'नाउज़' (प्रज्ञा) से ऊपर और परमात्मा के एकदम नीचे स्थान देता है। उसके मन मे नवप्लेटोवादियो के इन्द्रजाल के प्रति इतना सम्मान था कि वह अन्धविश्वास की कोटि तक पहुचा जान पडता था। याम्ब्लिकस के साथ उसका इस वात मे विचार-साम्य है कि अलग-अलग वस्तुए परमात्मा के साथ रहस्यपूर्ण 'प्रतीको', जो कतिपय पत्थरो, जडी-वूटियो और पशुओ मे पाए जाते हैं, की रहस्यमय क्रियाओ के द्वारा एकवद्ध कर दी जाती हैं। जबकि प्लॉटिनस और पॉर्फीरी मानवीय ज्ञान और आध्यात्मिक दर्शन मे अधिक विश्वास करते हैं, तव याम्ब्लिकस और प्रोक्लस दैववाणी के आशीर्वादो और दीक्षा-सस्कारो की पवित्र करने की शक्तियो पर। समाधि की दशा मे जो अनुभव होते हैं, उनको प्रोक्लस स्वीकार करता है। 'रिपब्लिक' पर टिप्पणी करते हुए वह कहता है "अपने से वाहर निकलकर वे पूरी तरह देवताओ के साथ प्रतिष्ठापित हो गए हैं और उनके द्वारा अभिभूत हो गए हैं।"

प्रारम्भ मे नवप्लेटोवाद ईसाइयत का एक भयकर विरोधी समझा जाता था। यही कारण था कि इफेसस की परिषद् (४३१ ई०) ने एक राजाज्ञा द्वारा और थिओडोसियस द्वितीय (४४८ ई०) ने एक कानून के द्वारा पॉर्फीरी की पुस्तको की निन्दा की और उनको जला देने की आज्ञा दे दी। पाचवी शताव्दी के आरम्भ के आस-पास नवप्लेटोवाद की शिक्षा एथेन्स और सिकन्दरिया नगरो मे हाइपेशिया के द्वारा दी जाती थी। दोनो ही विचार-सम्प्रदाय याम्ब्लिकस की परम्परा का अनुसरण करते थे और उसके मार्फत पॉर्फीरी और प्लॉटिनस के विचारो का। हाइपेशिया की हत्या के कारण सिकन्दरिया नगर की परम्परा समाप्त हो गई और एथेन्स के विचार-सम्प्रदाय को जस्टिनियन (५२९ ई०) ने वन्द कर दिया। परन्तु ईसाई धर्मशास्त्र ने पहले से ही नवप्लेटोवाद की भावना को अगीकार कर लिया था। प्लॉटिनस के विचारो को वोथियस ने पुनरुज्जीवित किया और उसकी चेतना स्कॉटस एरिगेना और एकहार्ट की कृतियो को अनुप्रेरित करती है। पुनर्जागरण (रेनेसा) के काल मे नवप्लेटोवाद पुन लोकप्रिय हो गया।

६

भारत और पाश्चात्य धार्मिक विचारणा : ईसाई जगत्–२

[१]

जब यरूशलम के यूनानी मतानुयायी यहूदियो ने ईसाइयत को स्वीकार कर लिया और ईसाई मतवाद रोमन साम्राज्य के गैर-यहूदी भागो में फैला, तब यह ग्रीक-रोमन और ग्रीक-पूर्वीय रूपो मे व्यक्त हुआ। इन दोनो प्रकार की चिन्तनाओ में रहस्यवादी धर्मों का समान रूप से समावेश था। धार्मिक विचार और आचार की आधारभूत बातों पर दोनो मे मतैक्य था। वर्णनातीत ब्रह्म के आधार-तत्त्व को स्वीकारने के साथ ही उनका सामान्यतया इस बात मे भी विश्वास था कि इतिहास के किसी युग मे एक महापुरुष ऐसा हुआ था जिसने अपने भौतिक जीवन के दौरान अपने व्यक्तिगत अनुभव से जीवन की कठिनाइयो का समाधान और दिव्यानन्द का रहस्य जान लिया था। यह ज्ञान उसने अपने अनुयायियो को सौंपा और अनुयायियो ने उसको आस्थापूर्वक स्वीकार किया। उसके अनुयायी कुछ ऐसे रहस्यात्मक कार्य करते हैं जिससे वे ईश्वरीय प्रयोजन और जीवन के साथ चैतन्य रूप से सयुक्त हो जाते हैं। प्राचीन ईसाई धर्म एक रहस्यवादी धर्म है, उसको जीवन की एक पद्धति भी कह सकते हैं। प्रारम्भिक ईसाई मतावलम्बी एक रहस्यमण्डल बना लेते थे, जिसकी बैठकें गोपनीय रूप से हुआ करती थी और उसके भी दो प्रकार के सदस्य हुआ करते थे—एक अन्तरग और दूसरे बहिरग।[1] नॉस्टिक सम्प्रदाय के ज्ञाता ईश्वर, 'लोगस' (शब्दब्रह्म) और विश्व का विचार—इन सबके समकक्ष ईसाई धर्म क्राइस्ट को पेश करता है। ओसिरिस, अत्तिस और ऐडोनिस आदि पीड़ा झेलनेवाले इष्टदेवों तथा राष्ट्रनायको की मृत्यु और उनके देहोत्थान (रिजरेक्शन) को लेकर अनेक दन्तकथाए लोकप्रचलित हो चुकी थी और उनका उपयोग भी किया जाता था। मिथ्रा सप्रदाय मे प्रचलित अनुष्ठानिक भोज प्रारम्भिक ईसाई समाजो मे प्रचलित प्रीति-भोज के समानान्तर है। अच्छे और बुरे दैत्यो सम्बन्धी विचार ईसाइयो के देवदूतो और शैतानों से सम्बन्धित विचारो का समकक्ष है। यह स्वाभाविक ही था कि ईसाइयत अपने परिचित वातावरण मे उन्नति करती और अपने विश्वासो तथा उच्चाकाक्षाओ को उसी शब्दावलि मे जन-समाज के सम्मुख प्रस्तुत करती जिनसे वह परिचित था। प्रत्येक धर्म को उसी भाषा मे बोलना पड़ता है जिसे उसके अनुयायी समझ सकते हैं और अपने धार्मिक तत्त्वज्ञान को भी उसी

१. मार्क *iv*. १०–१३; मैथ्यू *xiii*. ११–१७, २६–७। किरसॉप लेक का विचार है कि "ईसाई धर्म सदा ही, कम से कम यूरोप में तो, एक रहस्यात्मक धर्म रहा है।" 'अर्लियर एपिरिटल्स ऑव सेंट पॉल', पृ० २१५।

रूप मे प्रस्तुत करना पडता है जिस रूप मे वह पीढी समझ सकती है। इसमे कोई आश्चर्य नही कि ईसाई धर्म-तत्त्व तत्कालीन धार्मिक विश्वासो की शब्दावलि मे अभिव्यक्त हुआ है और उसके धार्मिक सस्कार रहस्यवादी धर्मो से, जिनसे उसके प्रारम्भिक अनुयायी निश्चित ही परिचित रहे होगे, प्रभावित हुआ है। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी थी कि यदि उस समय के धार्मिक चिन्तनो और विश्वासों में ईसाई-सन्देश की प्रतिध्वनि नही हुई होती, तो ईसाई धर्म को अपने प्रचार मे वह सफलता न मिली होती जो उसे मिली। सिकन्दरियाई जूडावाद, नॉस्टिकवाद और नवप्लेटोवाद ने जिस ससार मे विकास पाया था, उसीमे ईसाइयत ने भी विकास किया, जिस हवा मे इन सम्प्रदायो ने सास ली थी, उसीमे ईसाइयत ने भी ली।

सेंट पॉल को तारसस मे जो प्रशिक्षण मिला, उसके कारण वह इस योग्य हो सके कि उस समय मे प्रवाहित विचारधाराओ को समझ सकें और ईसाई धर्म-तत्त्व को ऐसे शब्दो मे प्रकट कर सकें जिनको सुनने के उनके श्रोता अभ्यस्त हो चुके थे। सेंट पॉल ईसा को 'क्राइस्ट', 'लॉर्ड' (प्रभु) आदि कहकर सम्बोधित करते थे। यह ऐसे शब्द थे जिनका प्रयोग सम्राटो और रहस्यवादी धर्म-सम्प्रदायो के मान्य मुक्तिदाता देवताओ के लिए किया जाता रहा था। वह मूर्त्तिपूजक काफिरो मे, जिनके 'कई देवता और कई प्रभु' हैं, तथा ईसाइयो मे जिनका 'एक ही ईश्वर है जिसे वे 'पिता' कहकर पुकारते हैं और एक ही प्रभु है जिसे वे 'जीसस क्राइस्ट' कहते हैं,' अन्तर करते हैं। ब्रह्म (गॉडहेड्) और ईश्वर (गॉड्) मे जो अन्तर पहले से ही होता आ रहा था, उसका उपयोग यहा भी हुआ है। निर्विकारता, चिरन्तनता और अदृश्यता—ये ब्रह्म की विशेषताए हैं। ईश्वर एक है जो अचिन्त्य है, जिसके विषय मे 'इदमित्य' नही कहा जा सकता, 'जिसकी बातो को कोई मनुष्य नहीं जानता है,' जिसके निर्णय और न्याय का पता किसीको नही चलता, 'जिसकी मरज़ी को, जिसकी कार्य-विधि को कोई जान नही सकता,'[1] 'जो एक ऐसे प्रकाश मे रहता है जिस तक किसी आदमी की पहुच नही हो सकती, जिसको किसी आदमी ने न तो अभी तक देखा है, न देख ही सकता है।'[2] ईसा उद्धारकर्त्ता प्रभु बन जाते हैं, जो इस ससार और आनेवाले ससार मे मनुष्य को मोक्ष दिलाने के साधन हैं। यहूदियो का मसीहा सम्बन्धी विचार यूनानियो के 'लोगस' से घुल-मिल जाता है। क्राइस्ट 'कई भाइयो मे सबसे बडे हैं'। मर जाने के बाद भी वे ईश्वर द्वारा पुन जीवित कर दिए जाते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि ससार के मनुष्यो को देने के लिए उनके पास एक सार्वभौम सन्देश है और एक विशिष्ट कार्य के लिए उनका उपयोग होना है। बाद के धर्म-पत्रो (एपिस्टिल्स) मे वह 'अदृश्य परमेश्वर के प्रतिबिम्ब' हो जाते हैं, एक ऐसे प्राणी बन जाते हैं जो 'सर्वप्रमुख और सर्वप्रथम हैं' और जो 'सभी वस्तुओ मे समाविष्ट है'।[3] 'लोगस' (प्रज्ञा) सम्बन्धी नवप्लेटोवादी विचार पर इतना ज़ोर दिया गया है कि ईसा का मानव-जीवन मात्र माया-रूप देह धारण बनकर रह गया है। यदि ईसा का नाम लिया जाता है तो वह केवल प्रती-

१ रोमन्स xi, ३३।   २ १, टिमोथी, vi, १६।

३ कोलोस्यिन्स i, १६ और १७।

कात्मक रूप मे, क्योंकि सेंट पॉल ने बताया है[1] कि कैसे 'हमारे सभी पिताओ ने क्राइस्ट-रूपी रक्षा-साधन का आश्रय लिया'[2] और यह कि क्राइस्ट तो हममे से प्रत्येक मे रूपायित हो सकते हैं।[3] निश्चय ही वे इस बात की चेतावनी दे देते हैं कि ईसा के ऐतिहासिक अस्तित्व को एक आध्यात्मिक सत्य का प्रतीक मानने के बजाय हम उसे बहुत अधिक महत्त्व न देने लगें। कोरिन्थियनो के लिए लिखे द्वितीय धर्म-पत्र (एपिस्टिल) मे वह कहते हैं "यद्यपि हमने क्राइस्ट को मनुष्य रूप मे ही जाना है, तो भी अब हम उनको उस रूप मे नही जानते।" परमेश्वर का निवास हमारे भीतर है। "क्या तुम नही जानते कि तुम ईश्वर के मन्दिर हो और ईश्वर की आत्मा तुममे निवास करती है?"[4] इसके बाद सेंट पॉल अपनी बौद्धिक शक्तियो के प्रयोग द्वारा प्राप्त निष्कर्षो और उन सत्यो मे स्पष्ट अन्तर करते हैं, जो उनके हृदय मे दैवी-शक्ति के द्वारा स्फुरित हुए है। हम बहुधा उनको ये शब्द कहते हुए सुनते हैं : 'यह मै प्रभु की बात कह रहा हू,' 'यह मैं अपनी बात कह रहा हू।' वह एक ऐसे उच्च ज्ञान (नॉसिस) की भी चर्चा करते हैं जिसको केवल दीक्षा-प्राप्त लोगो को ही बताया जा सकता है। सेंट पॉल द्वारा प्रतिपादित ईसाई धर्म का आधार एक स्वप्न है, कल्पना है, कोई बाह्य साक्षात्कार या दर्शन उसका आधार नही है। 'नियमो' (एक्ट्स) के अनुसार, जब वह धर्म-प्रचार के निमित्त यात्राए कर रहे थे तब उनको दिवास्वप्न दिखाई देते थे और आकाशवाणिया सुनाई देती थी, उनको विश्वास हो गया था कि उनके उस मिशन मे ईश्वर ही उनका पथ-निर्देशन कर रहा है। कोरिन्थियनो को लिखे गए द्वितीय धर्म-पत्र (एपिस्टिल) मे वह अपनी समाधि अवस्था मे देखे गए स्वप्न की भी चर्चा करते हैं जिसमे वे 'तीसरे स्वर्ग मे पहुच गए है' और वहा ऐसी चीजे देखते है जिनका वर्णन वाणी से नहीं किया जा सकता। वे उस अनुभव की अकथनीयता की चर्चा करते हैं।

रहस्यात्मक धर्मो मे दैनिक जीवन के सामान्य तथ्यो का भी सास्कारिक महत्त्व होता है। वे दैवनिर्धारित साधन होते हैं जिनके द्वारा मनुष्य ससार के फन्दे से बच सकता है और दिव्यानन्द की प्राप्ति कर सकता है। सेंट पॉल की रचनाओ मे ईसा एक धर्म-सप्रदाय के केन्द्र बन जाते हैं जहा बपतिस्मा और अन्तिम प्रभु-भोजन का स्मरण धार्मिक सस्कारो और रहस्यो का रूप ले लेते है। यह सिद्धान्त तो पुराना है कि ईश्वरीय कार्यो मे भाग लेकर ईश्वर के साथ सयोग प्राप्त किया जा सकता है। डायोनिसस-ज़ैग्रियस के रहस्यात्मक व्यक्तित्व को लेकर जो धार्मिक कृत्य किए जाते थे, जिनमे स्वय ईश्वर का प्रतिनिधित्व करनेवाले साड को बलि चढा दिया जाता है और उसका मास-भक्षण किया जाता है, उनमे यह माना जाता है कि इस प्रक्रिया के द्वारा उसके प्राण उसके भक्तो मे चले जाते हैं।[5] यद्यपि वे कृत्य अपने प्रयोग मे

१. १, कोरिन्थियन्स *ii*, १६। २. ईफेसियन्स *iv*, १३।

३ गैलेशियन्स *iv*, १६।

४. १, कोरिन्थियन्स *iii*, १६, २, कोरिन्थियन्स *vi*, १६।

५. आर्फियस या डायोनिसस को मृत्युदण्ड दिए जाने की पुरानी परम्परा का उल्लेख करते हुए, जस्टिन मार्टियर कहते हैं (एपॉलॉजी, *i*, ५४) कि 'पिशाचों' ने 'ओल्ड टेस्टामेंट' में की गई

पार्थिव ही होते थे, तथापि उनसे यह तो पता चलता है कि अनुयायियो की सार-तत्त्व सम्बन्धी मान्यता मे परिवर्तन हो रहा था—यह माना जाने लगा था कि धार्मिक अनुष्ठान करनेवालो के शरीर मे ईश्वर का प्रवेश हो जाता है। ईसाई धर्म के उद्भव के पूर्व जो धर्म-सप्रदाय प्रचलित थे, उनमे त्राणकर्त्ता देवताओ का जो स्थान था, वही स्थान इजीलो मे वर्णित क्राइस्ट (ईसा) को मिल गया।[1] ज्ञान और अमरता प्राप्त करने पर किसी मर्त्य मनुष्य को देवता या ईश्वर की पदवी दे देना प्राचीन रहस्यात्मक धर्मों के मोक्ष-सम्बन्धी विचार का ही रूप है और सेंट पॉल ने एफीसियनो को लिखे धर्म-पत्र (एपिस्टिल) मे इसका समर्थन भी किया है।[2] रहस्यवादी धर्मों के जो विचार थे, उनसे भिन्न समूह के विचारो से हमारा यहा पाला पडता है, क्योकि पॉल यह जानते थे कि ईसा एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं जिन्होने अपने साथियो की भलाई के प्रति असीम भक्ति के वशीभूत होकर एक लज्जास्पद मृत्यु का वरण किया, ताकि उनके 'पिता' (ईश्वर) के प्रति उनकी निष्ठा प्रमाणित हो सके। इस कार्य को वह

भविष्यवाणी से मिलती-जुलती इस कहानी का आविष्कार इसलिए किया, ताकि सच्चे क्राइस्ट के बारे में लोगों के मन में शका पैदा हो जाए।

१ श्री एडविन बेवान ने अपने ग्रन्थ 'हेलेनिज़म एण्ड क्रिश्चियैनिटी' (अध्याय ४) में दिव्य-ज्ञान का प्रकाशन करनेवाले ईसा और रहस्यवादी धर्म-सम्प्रदायों के देवाविष्ट उद्घाटकों में जो सादृश्य है, उसे स्वीकार किया है। वे यह तो मानते हैं कि "जब ईसाइयत के प्रारम्भिक उपदेष्टाओं ने वस्तुओं की समग्रता में ईसा की स्थिति को स्पष्ट करने की चेष्टा की, तब उन्होंने ऐसी शब्दावलि का प्रयोग किया जिसका मूर्त्तिपूजक काफ़िरों और यहूदियों में पहले से ही प्रचलित धारणाओं के साथ निकट सादृश्य था, परन्तु साथ ही यह भी मानते हैं कि 'नॉस्टिक' सम्प्रदाय वालों का सोटर जबकि केवल एक पैगम्बर था, तब ईसा उद्धारक और मोक्षप्रदायक भी थे।" जैसाकि हम पहले ही कह चुके हैं, बौद्धधर्म में जो बुद्ध प्रथम शती ईस्वी पूर्व तक आराधना की केन्द्रीय वस्तु माने जाते थे, वही बाद में मोक्षदाता, त्राता इष्टदेव का रूप ले लेते हैं और उनके विषय में कहा जाने लगता है कि जिस कठिन पथ को उनके अनुयायियों को पार करना है, उसपर वह पहले ही चल चुके हैं। पुन 'एनक' *xlviii* और *li* में यह कहा गया है कि न्यायनिष्ठ व्यक्ति का त्राण वह 'निर्वाचित विशिष्ट पुरुष' या 'मनुष्य का बेटा' (ईसा) करेगा।

२. सेंट पॉल की ईसा के प्रति धारणा को ल्वायजी ने सक्षेप में इस प्रकार प्रकट किया है: "ओसिरिस, अत्तिस और मिथ् की भाति ईसा भी एक उद्धारक, त्राणकर्त्ता देवता थे। उन्हींकी तरह वे मूलत. स्वर्गलोक के वासी थे, उन्हींकी तरह वे पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए थे, उन्हींके समान ईसा ने सार्वभौम उद्धार का उपयोगी एव विशिष्ट कार्य किया; ऐडोनिस, ओसिरिस और अत्तिस की भाति ही उनके जीवन का अन्त हिंसात्मक ढग से हुआ और उन्हींकी तरह वे भी पुन जीवित कर दिए गए थे, उन्हींकी तरह वे मनुष्य के रूप में अपने आराधकों को अपना पूर्व-दिग्दर्शन करा चुके थे और अपने रहस्यात्मक साहसिक कार्यों की सूचना दे चुके थे, उन्हींकी तरह ईसा ने उन लोगों के मोक्ष की योजना पहले से ही तैयार कर ली थी और उन्हें आश्वस्त भी कर दिया था, जो लोग उनके प्रेमोन्माद के भागीदार बने थे।" ('हिबर्ट जर्नल', अक्तूबर १९१७, पृष्ठ ५१)। ल्वायजी अन्त में कहता है "ये एक-दूसरे से मिलती-जुलती धारणाए हैं, एक परिवार के स्वप्न हैं जो एक-सी विषय-वस्तु को लेकर एक जैसी लाक्षणिक कल्पना के साथ निर्मित हुए हैं।" (वही, पृष्ठ ५७)। मेरा विचार है कि रहस्यात्मक धर्मों के नेताओं और ऐतिहासिक ईसा के बीच जो सादृश्य दिखाने की चेष्टा की गई है, उसमें काफी-कुछ खींचतान से काम लिया गया है।

मनुष्य के निकट ईश्वर के त्राणकारी प्रेम को लाना समझते है ।[१]

ईसाई धर्म मे दीक्षित होना ही पुनर्जन्म है, इस बात का सेंट पॉल समर्थन करते है। "यदि कोई व्यक्ति क्राइस्टमय हो जाता है, क्राइस्ट मे अपने मनोभावो को नियोजित कर देता है, तो उसकी नई सृष्टि हुई, ऐसा मान लेना चाहिए ; पुरानी चीजें बीत गई, देखो, नई चीजें अस्तित्व मे आ गई हैं ।"[२] यह तभी सम्भव हो सकता है जब हम इस देह को सूली पर चढा दें (देह के प्रति विरक्त हो जाए)। मनुष्य मे जो पशुत्व है उसका पहले मरना आवश्यक है, ताकि उसके स्थान देवत्व जागृत हो सके, ईश्वर जन्म ले सके । "जो लोग जीसस क्राइस्ट (ईसा मसीह) के प्यारे हैं, उन्होने देह और उसकी अनुवर्ती वासनाओ तथा लालसाओ का बलिदान कर दिया है ।"[3] यह जो कहा जाता है कि प्रलय-काल मे पहले की सभी मृत देहो का उत्थान ('रिज़रेक्शन') हो जाएगा, उसका तात्पर्य है हमारी वैषयिक प्रकृति, 'हमारे पाप-शरीर',[४] 'हमारे मर्त्य शरीर',[५] सक्षेप मे हमारी प्रस्तुत पार्थिव, नश्वर प्रकृति रूपी मकबरे मे से हमारे भीतर क्राइस्ट का उत्थान । हममे से प्रत्येक के भीतर जो उच्च आध्यात्मिक अह है, वह नश्वर अह के मकबरे में दफनाया गया है, किन्तु उसमे जो दैवी अश है, उसको अपने भीतर रोक रखने मे कब्र अशक्त हो जाती है, और अपरिहार्य रूप से उस दिव्यता का उत्थान होता ही है । क्राइस्ट का जीवन, मरण और उनका पुनरुत्थान एक सार्वभौम सिद्धान्त का दृष्टान्त है। पॉल रोमन लोगो को सम्बोधित करके कहते हैं "हम बपतिस्मा के द्वारा उनके (ईसा के) साथ मृत्युपर्यन्त दफनाए गए हैं , जिस तरह क्राइस्ट परमपिता की महिमा से मरकर पुन' जी उठे थे, उसी तरह हम भी जीवन की नवीनता मे चल-फिर सकते है ।" हममे से प्रत्येक के पास 'क्राइस्ट का मन' है,[६] आत्मा का स्फुलिंग है । सामान्य मनुष्य का जो वर्तमान मानसिक विकास है, उस स्थिति मे भी यह उसमे सक्रिय है, परन्तु जब यह 'स्वर्गीय राज्य' के रहस्यो का ज्ञान पा जाएगा, तब तो यह अपनी पूर्ण गरिमा को प्राप्त कर लेगा । जब कोई व्यक्ति क्राइस्ट-सिद्धान्त से, उसके भीतरी मनुष्य से,[७] उसकी आत्मा से अपने को सयुक्त कर लेता है, तब वह परमपिता, परब्रह्म के साथ अपनी एकता को पूर्णत अनुभव करने लगता है। 'क्राइस्ट जिस पूर्णता की ऊचाई तक पहुच चुके थे', उस ऊचाई तक हममे से प्रत्येक व्यक्ति पहुच सकता है और पूर्णत्व-लाभ कर सकता है । जब अपने भीतर की आत्मा से हमारा साक्षात्कार हो जाएगा, तब हम एक तात्कालिक स्वप्न-दर्शन के द्वारा ईश्वर को, जैसा भी वह है, देख सकेंगे और जैसा भी वह हमे जानता है, उसे जान सकेंगे । 'अब तो हम एक दर्पण के माध्यम से देखते हैं' जिसमे पडनेवाला प्रतिबिम्ब बहुत स्वच्छ और स्पष्ट नहीं है, 'परन्तु तब तो हम एक-दूसरे के आमने-सामने होगे, अब तो मैं उसको अशत ही जानता हू, परन्तु तब मैं

१. गैलेशियन्स, *ii*, २०, *iv*, १५ ।
२. २, कोरिन्थियन्स, *v*, १७ ; गैलेशियन्स *vi*, १५ ।
३. गैलेशियन्स *v*, २५ । ४ रोमन्स *vi*, १६ । ५. रोमन्स *vii*, २४ ।
६. १, कोरिन्थियन्स *ii*, १६ । ७. रोमन्स *viii*, ६ ।

उसे ऐसे जान सकूगा जैसे वह मुझे जानता है ।'[1] हमारे सामने माया-सम्बन्धी यह सिद्धान्त भी है कि "जो चीजें हमे दिखाई देती हैं, वे नश्वर हैं, परन्तु जो चीजें हमे दिखाई नही देती, वे शाश्वत हैं ।"[2] 'हमारे अस्थायी आवास का यह पार्थिव गृह (देह) जिसमे रहकर हम कराहते और आर्त्तनाद करते हैं'—यह एक ऐसा वाक्याश है, जो ग्रीक या यहूदी विचारणा की अपेक्षा ऑर्फियाई विचारणा के अधिक निकट है। हमको भौतिक वस्तुओ से विमुख होना ही चाहिए, क्योकि "रक्त मास 'ईश्वर के राज्य' के उत्तराधिकारी नही वन सकते ।" हमको अवश्यमेव "देह और आत्मा की सारी अशुद्धियो और गन्दगियो से अपने को शुद्ध और साफ वना लेना चाहिए",[3] दैवी सत्य को आत्मसात् करने के लिए सासारिकता से ऊपर उठना चाहिए । सच्चे रहस्य-वाद की भावना के अनुरूप वह अनुष्ठान-प्रधान धर्म की आलोचना करते हैं । "तुम दरिद्र आरम्भिक ज्ञान की ओर क्यो मुडते हो, जहा जाकर फिर तुम्हे वन्धन मे वधना होगा ? तुम दिनो, महीनो, ऋतुओ और वर्षों तक चलनेवाली आनुष्ठानिक क्रियाए करते हो । मैं तुम्हारे विपय मे आशकित हो उठा हू कि कही मैंने तुम पर परिश्रम व्यर्थ ही तो नही किया ?"[4] आगे वह कहते हैं "तुम इतने धार्मिक सस्कारो का पालन क्यो करते हो, कुछ चीजें तुम काम मे नही लाते, कुछ चीजो को तुम चखते नही, कुछ का तुम स्पर्श नही करते , ऐसा क्या तुम लोगो के उपदेशो और सिद्धान्तो के फेर मे पडकर करते हो ?"[5] प्लेटोवाद मे वार-वार आनेवाले 'साहचर्य', 'सहभागिता' और 'सान्निध्य' आदि शब्द सेंट पॉल की शिक्षाओ मे भी आते हैं । "मैं नही जीवित हू, वल्कि मेरे भीतर क्राइस्ट जीवित हैं ।" जैसाकि सेंट जॉन ऑव क्रॉस ने इसका आशय स्पष्ट किया है "प्रत्येक मनुष्य दूसरे मनुष्य में जीता है और प्रत्येक मनुष्य वही है जो दूसरा मनुष्य है, और ये दोनो प्रेम के रूपान्तरण के द्वारा एक वना दिए जाते हैं ।" प्रेम दो भिन्न अस्वित्वो को एक अस्तित्व मे परिणत कर देता है। मनुष्य का व्यक्तित्व अपनी वर्तमान परिस्थितियों का अतिक्रमण करके उच्चतम जीवन मे पहुच जाता है । "जैसे कि दर्पण मे किसीका प्रतिदिम्व दिखाई देता है, वैसे ही हमारे भीतर ईश्वर की महिमा का प्रतिविम्व है, परन्तु हम चाहे तो उसीकी प्रतिमा हो सकते हैं ।"[6] "जो प्रभु के साथ अपने को सयुक्त कर चुका है, वह एकात्म हो चुका है ।"[7] ज्ञान भी शका से परे नही, उसके विपय मे भी सन्देह करना चाहिए । कहा है "सावधान रहो, कही ऐसा न हो कि कोई आदमी दर्शन और मिथ्या विचार तथा प्रवचना के द्वारा तुम्हें भ्रष्ट कर दे ।"[8] आत्मा-सम्बन्धी उनका सिद्धान्त प्लेटो-वादी 'नाउज' (प्रज्ञा) सम्बन्धी सिद्धान्त के समान ही है । रोमन लोगो को दिए प्रवचन के प्रथम अध्याय मे स्थूल वस्तुओ की सहायता से ही सूक्ष्म या अदृश्य वस्तुओ

१. १, कोरिन्थियन्स XIII, १२, ईसाई धर्म-प्रचारक सेंट जॉन हमसे कहते हैं कि हम ईश्वर को 'जैसा कि वह है', जान सकेंगे । १ जॉन III, २ ।

२. २, कोरिन्थियन्स IV, १८ । ३. २, कोरिन्थियन्स VII, १ । ४. गैलेशियन्स II, ६ ।

५. कोलोसियन्स II, २०–२ । ६. २, कोरिन्थियन्स, III, १८ ।

७. १, कोरिन्थियन्स, VI, १७ । ८. कोलोसियन्स II, ८ ।

को समझे जा सकने की बात कही गई है। ब्रह्माण्ड की दृष्टि से 'लोगस' (शब्दब्रह्म) ही ब्रह्म है, इसलिए जब ब्रह्माण्ड-प्रक्रिया सम्पूर्ण हो जाएगी, जब सारी बुराई अच्छाई मे परिणत हो जाएगी, तब काल का भी अन्त हो जाएगा और 'लोगस' 'ईश्वर को उसका राज्य सौंप देगा, परमपिता तक को सौंप देगा' ताकि "ईश्वर सर्वेसर्वा बनकर रह सके।"[1] पूर्णता प्राप्त आत्माओं की विशिष्टता उस समय तक बनी रहेगी जिस समय तक ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया की यह पूर्णता निष्पन्न नही हो जाती, जब वह समय आ जाएगा तब ससार ईश्वर या ब्रह्म मे विलीन हो जाएगा।

नॉस्टिकवाद (ज्ञानवाद) के साथ जो सैद्धान्तिक समानता मिलती है, उसको छोड भी दें, तो हम नाना प्रकार के देवदूतो और उनको दी जानेवाली पूजा का उल्लेख पॉल की शिक्षाओ मे पाते हैं। नॉस्टिकवाद के सुपरिचित शब्द—आद्य शक्ति ('आर्कन्स'), रहस्य और गुप्त ईश्वरीय ज्ञान—पॉल की शिक्षाओ में भी प्राय प्रयुक्त हुए हैं।[2] टिमोथी को लिखे गए धर्म-पत्र (एपिस्टिल) मे नॉस्टिकवाद की शब्दावलि का प्रयोग किया गया है। 'हमारी लड़ाई रक्त-मास (देह) से नही है, वरन् अधिराज्यो (डोमिनियन्स), शक्तियो (पावर्स), अन्धकार के स्वामियो (लॉर्ड्स ऑव द डार्कनेस) और ऊपरी क्षेत्र की आत्माओ की दुष्टता के विरुद्ध हमारा यह सघर्ष है।"[3]

पॉल दो रूपो मे ब्रह्म की अवधारणा करते थे—ईश्वर के रूप मे और क्राइस्ट के रूप मे। दो प्रकार के ज्ञान को वे मानते थे रहस्यात्मक अनुभव की वास्तविकता और ईश्वर का मनुष्य के अन्त करण में निवास, धार्मिक सस्कारगत पवित्रता, ईसाई धर्म मे दीक्षित होना ही पुनर्जन्म का रूप, दैहिकता का बलिदान, क्राइस्ट के साथ एकत्व अनुभव ही मोक्ष का रूप, ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया के पूर्ण होने पर ईश्वर के साथ आत्मा की एकाकारता। ये बातें वही हैं जिनका उल्लेख रहस्यवादी धर्म भी करता है।[4]

जॉन के प्रथम धर्म-पत्र (एपिस्टिल) मे, जिसमे नॉस्टिक सम्प्रदाय वालो द्वारा प्रयुक्त शब्दावलि का प्रयोग किया गया है, हम अन्य प्रवचनो की अपेक्षा अधिक रहस्यवादी तत्त्व पाते हैं। ईश्वर जो परमपिता है, को प्रकाश, प्रेम और आत्मा कहा गया है। मानव ईसा की, 'जिनको हमारी आखें देख चुकी हैं और हमारे हाथ स्पर्श कर चुके हैं'

१ १, कोरिन्थियन्स, *xv*, २४–८।

२. देखिए, कोलोसियन्स *i*, १६–१७, *ii*, ८, १८, २०–३, *iii*, ३–५, १ टिमोथी *i*, ४।

३. १, कोरिन्थियन्स *ii*, ६ में स्पष्ट रूप से रहस्यवादी धर्मों का उल्लेख हुआ है। ल्वायजी का विचार है कि ईसा के मूल इजील (गॉस्पेल) को 'रहस्य के धर्म' में रूपान्तरित करने में मुख्य कारण सेंट पॉल रहे हैं।

४. डॉ० श्वेट्ज़र ने अपनी पुस्तक 'द मिस्टीसिज्म ऑव पॉल' में यह तर्क दिया है कि "पॉल की विचारणा ईश्वर सम्बन्धी रहस्यवाद से सम्बन्धित नहीं है, बल्कि केवल क्राइस्ट सम्बन्धी रहस्यवाद से, जिनके द्वारा मनुष्य का ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित होता है।" इसके प्रमाण में श्वेट्ज़र ने एथेन्स में एरिओपेगस पर दिए पॉल के भाषण का उल्लेख किया है जिसमें पॉल ने ईश्वर-सम्बन्धी रहस्यवाद को अनैतिहासिक घोषित किया है। (अंग्रेजी अनुवाद—१९३१, पृष्ठ *viii*)। उनका कथन है कि 'ईसाइयत का यूनानीकरण पॉल के द्वारा नहीं हुआ, वरन् उनके बाद ही हुआ।'

यूनानी 'लोगस' (शब्दब्रह्म) से तुलना की गई है ।[1] यद्यपि ईसा ने खुद कभी इस प्रकार का दावा नही किया, तथापि एक ऐसे तत्त्वज्ञान की शब्दावलि मे, जिसका ईसा ने उपयोग नही किया, उनके व्यक्तित्व की व्याख्या करने की अनुमति मिल गई है ।[2] दैवी 'लोगस' और प्राचीन काल के धार्मिक सम्प्रदायो के देवताओ को एक ही बताया गया है । जब लेखक ने ईसा को अवतार के रूप मे देखा है, या उनके शब्द और कार्य के रूप मे प्रतिमूर्त्त चिरन्तन 'लोगस' (शब्दब्रह्म) माना है, जिसने विश्व की रचना की और पोषण किया, तब वह इस सामान्य प्रवृत्ति का ही अनुसरण कर रहा है । ऊपर से देखने पर तो यही लगता है कि लेखक फिलो के विचारो से परिचित था ।[3] ईसा पहले से ही अस्तित्व मे थे, इसका सकेत हमे इन वाक्यो मे मिलता है "और अब ओ पिता, तू अपनी गरिमा से—उस गरिमा से जिसको लेकर मैं ससार की सृष्टि होने के पहले से ही तेरे साथ था, मुझे गौरवान्वित कर ।" "अब्राहम था, उसके भी पूर्व मे मैं हू ।" 'लोगस' (शब्दब्रह्म) केवल साधन ही नही है—'उसके द्वारा ही सारी चीज़ें निर्मित हुई हैं'—बल्कि सारे विश्व को बनाए रखनेवाली, पोषण करनेवाली शक्ति भी वही है । यद्यपि ईसा को पूर्णत ईश्वरीय ज्ञान हो चुका था, तथापि बिना ईश्वर की सहायता के हम यह नही जान सकते कि ईसाइयो के हृदय मे कार्य करनेवाला प्राणवान एव सक्रिय सिद्धान्त कौन-सा है । कई बातें जो ईसा ने कही थी, वे उनके शिष्यो को नही बताई जा सकी, भावी पीढ़ियो को वही बातें पवित्रात्मा (ईश्वर) द्वारा बताई जाएगी । अपने मूल स्रोत के केन्द्र से हटने के बाद वास्तविकता मे क्रमश कमी आती जाती है । 'पिता' से निरपेक्ष 'एक' (ब्रह्म) अपने 'पुत्र' मे दैवी शुद्ध बुद्धि को जागृत कर देता है । यद्यपि 'पुत्र' निरपेक्ष ब्रह्म ('पिता') के साथ प्रारम्भ से ही था, तो भी वह निरपेक्ष ब्रह्म से घटकर ही है "मेरा पिता मुझसे भी बडा है ।"

१ कोलोसियन और हिब्रू लोगों को लिखे धर्म-पत्रों (एपिस्टिल्स) को भी देखिए ।

२ तुलना कीजिए, किर्सॉप लेक के इस कथन से—"इंजीलों के आख्यानों में यह तथ्य तो सुनिश्चित है कि ईसा ने कहीं भी सार्वजनिक रूप से अपने को मसीहा या क्राइस्ट नहीं कहा । यह स्पष्ट नहीं है कि चौथे इंजील को ईसाई धर्म-सम्बन्धी इंजीलों के स्तर पर रखा जा सकता है या नहीं, किन्तु यदि आधुनिक ईसाई धर्म-सम्बन्धी आलोचनाओं को स्वीकार किया जाए, तो इस बात में कठिनता से ही कोई सन्देह किया जा सकता है ।" एबिओनाइट (अति प्राचीन एक ईसाई सम्प्रदाय के सदस्य) लोग ईसा को विद्वान और चतुर या पैगम्बर, केवल पैगम्बर मानते थे । अपने द्वितीय अवतार के समय वह मसीहा के रूप में प्रकट हुए होंगे । वह एक मनुष्य थे जैसे कि सभी मनुष्य हुआ करते हैं—वे जोजेफ और मेरी के पुत्र थे । अपनी बपतिस्मा के समय जब आत्मा का अवतरण उनमें हुआ तब से वह पैगम्बर हुए । ईसा क्राइस्ट थे, पर कोई भी वह आदमी क्राइस्ट हो सकता है, जो धर्म के नियम का पालन करे । ['द स्टिवार्डशिप ऑव फेथ' (१९१५), पृष्ठ ४२ ।]

३ "फिलोवादी विचारों के साथ बहुत निकट का उल्लेखनीय सादृश्य मिलता है और इनसे लगता है कि जॉन फिलो के तत्त्वज्ञान से परिचित था । कुछ लोग ऐसा सोचेंगे कि फिलो पर लिखित चतुर्थ इंजील की यथार्थ साहित्यिक परावलम्बता प्रमाणित हो गई है, किन्तु इसको निश्चित नहीं माना जा सकता ।" [बर्नर्ड · 'ए क्रिटिकल एंड एक्सेजेटिकल कमेन्टरी ऑन द गॉस्पेल एकार्डिंग टु सेंट जॉन' (१९२८), खण्ड १, पृष्ठ *xciii xcii*] । दोनों में बहुत से सादृश्यों को देखना हो तो देखिए पृष्ठ *xciii* ।

'पुत्र' (ईसा) के वाद नम्वर आता है, ईश्वर की सन्ततियो का जो दैवी-जीवन एव प्रेम को अपनाते हैं, और सवसे अन्त मे नम्वर आता है ससार का, अन्धकार का। सर्वत्र ही पूर्ण व्रह्म से एकता प्राप्त करने पर ज़ोर दिया गया है "जैसे कि पिता, तू मुझमे है और मैं तुझमे हू, वैसे ही वे हममे स्थित हो सकें।" देह और आत्मा की विषमता जॉन की उक्तियो मे स्पष्ट है। 'जो चीज़ देह से उत्पन्न होती है, वह देह-तत्त्व-युक्त होती है। और जो चीज़ आत्मा से उत्पन्न होती है, वह आत्म-तत्त्व-युक्त होती है।'[1] वह ईसा के अतिप्राकृत पक्षो पर इतना अधिक ज़ोर देते हैं कि उनके द्वारा प्रस्तुत चित्र मे 'मनुष्य का बेटा' 'ईश्वर का वेटा' मे खो जाता है और उन्हे ईसा की वास्तविक मनुष्यता पर वल देने के लिए विवश होना पडता है। ईसाई चर्च मे इस वात को लेकर तीव्र विवाद छिड गया था कि ईश्वर और मनुष्य का पारस्परिक सम्वन्ध क्या है। यह विवाद अभी तक चल रहा है। 'ईसा ने उनसे कहा, निश्चय ही मैं तुमसे कहना चाहता हू कि जव तक तुम 'मनुष्य के वेटे' का मास नही खा लेते और उसका रक्त नही पी डालते, तव तक तुम्हारे भीतर जीवन का सचार नही होगा।'[2] यहा मास और रक्त का प्रतीकात्मक प्रयोग किया गया है जिनका अर्थ है आध्यात्मिक पोषण। यदि हम आध्यात्मिक सिद्धात को आत्मसात् नही कर सकते, तो हममे स्थायी जीवन सचरित नही हो सकता। यदि इस प्रतीकात्मक भाषा की 'वास्तविक उपस्थिति' के सिद्धात के रूप मे व्याख्या की जाए, तो हम इतना ही कह सकते है कि इस आदिकालीन विश्वास का हमारे मन पर अभी तक प्रभाव वना हुआ है कि यदि उपासक वलि चढाए हुए पशु के मास को खाता और रक्त को पीता है, तो वह वास्तव मे ईश्वर की प्रकृति का ही प्रसाद चखता है, उसीका अश वन जाता है। ईसाई धर्म मे दीक्षित होना ही नया जन्म लेना है। 'नए सिरे से जन्म ग्रहण किए विना मनुष्य 'ईश्वर के राज्य का दर्शन नहीं कर सकता।' अहं मे केन्द्रित एकाकी जीवन के स्थान पर प्रेममय विस्तृत एवं उदार जीवन की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। जव यह हो जाता है, तव हम उस अन्धे व्यक्ति की तरह जिसको चिकित्सा के द्वारा पुन दृष्टि प्राप्त हो गई थी, यह कह सकते हैं "मैं तो एक वात कह सकता हू कि पहले मैं अन्धा था और अव मैं देख सकता हू।"[3]

हिब्रू लोगो के लिए लिखे धर्म-पत्र (एपिस्टिल) पर सिकन्दरियाई जूडावाद का प्रभाव दिखाई देता है, और ऐसा लगता है कि लेखक 'वुक ऑव् विज़डम' और फिलो की कृतियो से परिचित है। इस लेखक के साथ एक विशेष वात यह देखने मे आती है कि वह उच्च जीवन की तैयारी के लिए रूढिगत आचार-नीतियो के पूर्णतः पालन को

१ जॉन *iii*, ६, तुलना कीजिए : 'इतिवुत्तक', १००।

२. *vi*, ५३।

३. 'इस वात में कोई शका नहीं की जा सकती कि 'न्यू टेस्टामेंट' की अधिकाश धार्मिक आदेश-युक्त पुस्तकें, विशेषकर सेंट पॉल और जोहन-समूह के धर्म-पत्र (एपिस्टिल्स) फिलस्तीन की परम्परा से सम्वन्धित नही हैं।' मेरी राय में टीटेरिक ठीक ही कहता है कि 'पॉल और जोहन द्वारा प्रतिपादित धर्मशास्त्र में जूडावाद को आधार वनाकर नहीं चला गया है।' [इन्गे : 'द प्लेटोनिक ट्रैडिशन इन इगलिश रिलीजस थॉट' (१९२६), पृष्ठ १०-११]।

आवश्यक वतलाता है। जव हम उच्च जीवन को प्राप्त कर लेते हैं तव हम विधि-नियमो एव धर्मादेशो से वधे नही रहते। इस धर्म-पत्र का लेखक दृश्यमान वस्तुओ को उच्च सत्यो का प्रतीक मानता है।

जिस धर्म-पत्र (एपिस्टिल) को सेंट जेम्स का लिखा वताया जाता है, उसमे 'जन्म-चक्र' शव्द का उल्लेख है, यह शव्द भारतीयो और ऑर्फियाइयो दोनो के द्वारा प्रयुक्त हुआ है।

दैवी सदेश के स्फुरण (रिविलेशन) मे नॉस्टिक विचार भरे हुए है। स्वर्ग मे माइकेल और उसके देवदूतो मे तथा अजदहे (ड्रैगन) और माइकेल के देवदूतो मे युद्ध, तथा पराजित होकर अजदहे का पृथ्वी पर इस उद्देश्य से आना कि 'ईश्वर के आदेशो को पालनेवाले अन्य पृथ्वीवासियो से युद्ध जारी रखा जाए'—ये सव वातें 'ईरानी स्वर्ग-नरक सिद्धान्त से सम्वन्धित हैं, पर इनका प्रयोग और समर्थन ईसाई चर्च के द्वारा भी किया गया है।'[1] जिनका उद्धार हो गया है, वे पुन पृथ्वी पर नही लौटेंगे, इस वात को जोर देकर कहा गया है। "जो आदमी यहा आ पहुचेगा, उसको मैं ईश्वर के मदिर का एक स्तम्भ वना दूगा और वह वहा से फिर निकलकर नही जाएगा।"[2]

सुधारवादियो (अपॉलॉजिस्ट्स) ने अपने लोगो को यह समझाने की चेष्टा की कि ईसाइयत श्रेष्ठतम ज्ञान और निरपेक्ष सत्य है और इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिए उन्होने यूनानी विचारणा के प्रत्ययो का प्रयोग किया। नॉस्टिक सप्रदाय के लोगो ने ईसाई-सन्देश को समझने और उसकी व्याख्या करने की चेष्टा की और यह जानने का प्रयत्न किया कि 'ओल्ड टेस्टामेट' कहा तक इससे सहमत है। सुधारवादियो ने 'ओल्ड टेस्टामेट' और 'न्यू टेस्टामेट'—दोनो की परम्परा को स्वीकार कर लिया और उन्ही को समन्वित रूप मे पूर्ण सत्य का उद्घाटन मान लिया, इसलिए उनके अनुमान तथा कल्पनाए, भले ही वे यूनानी ढग की न रही हो, ईसाई चर्च के धार्मिक सिद्धान्तो के लिए आधार वनी। उन्हे निश्चिन्तता तो ईसाई परम्परा मे मिली, यद्यपि उन्होंने यूनानी ज्ञान से उन सिद्धान्तो के लिए प्रमाण ढूढने की भी चेष्टा की। ऐसा कहा गया है कि प्लेटो और स्टोइक की विचार-पद्धतियो की जो उच्चाकाक्षाए थी, उनकी सपूर्त्ति ईसाइयत मे हो पाई। इस प्रवृत्ति का मुख्य प्रतिनिधि है जस्टिन, जो ईसा को शुद्ध वुद्धि का अवतार मानता है। 'क्राइस्ट ही वह 'लोगस' (शव्दव्रह्म) थे और हैं, जो प्रत्येक मनुष्य मे निवास करता है।'[3] शुद्ध वुद्धि तो सवमे होती है, उसके भागीदार

१. रुडॉल्फ ओटो 'द किंगडम ऑव् गॉड् एण्ड द सन् ऑव् मैन' अग्रेजी अनुवाद (१९३८), पृष्ठ ९९। वह कहते हैं कि भयकर 'ड्रैगन' अजीदहक (सस्कृत 'अहिदहक') का शाब्दिक अनुवाद है, यह वह आदिकालीन दैत्य है जिसके विरुद्ध इंद्र ने युद्ध किया था। मैथ्यू XII, २५–६ और ओटो, उपर्युक्त पुस्तक, पृष्ठ ९९–१०० भी देखिए।

२. रिविलेशन III, १२। पॉफ्लीटरर लिखते हैं: "यहूदी भविष्यवाणी, यहूदी धर्मशास्त्री रावी की शिक्षाओं, पूर्वीय ज्ञान (नॉस्टिस) और यहूदी दर्शनशास्त्र ने पहले ही अपने-अपने रंगों को रग-पट्टिका पर डालकर मिलाया है जिससे 'न्यू टेस्टामेंट' में क्राइस्ट का चित्र रगा गया है।" ('द अर्ली क्रिश्चियन कन्सेप्शन ऑव् क्राइस्ट', पृष्ठ ९)।

३ अपॉलॉजी, II, १०।

होने के कारण हम यह कह सकते है कि जो लोग 'लोगस' के साथ रह चुके हैं, वे सब ईसाई हैं। जस्टिन ने विशेषत. सुकरात, प्लेटो और हेराक्लिटस का उल्लेख किया है।[1] 'लोगस' का सबसे अधिक मूर्त्तीकरण तो क्राइस्ट ईसा मे हुआ है।[2] दर्शनशास्त्र की अन्य मानव-पद्धतिया भले ही तर्कसगत और बौद्धिक हो, किन्तु वे पूरी तरह वैसी नही हैं, जबकि ईसाइयो मे दैवी सन्देश का स्फुरण एक पूर्ण सत्य है।[3] सुधारवादी (अपॉलॉजिस्ट्स) यह मानते हैं कि ससार का प्रथम सिद्धान्त तो निरपेक्ष ब्रह्म है, जो बिना किसी उपादान के स्वय मे स्थित रहता है, जो अपरिवर्तनशील और चिरन्तन है तथा सभी व्यक्तियो के नाम तथा उनके पद-गौरव से भी वह ऊपर है। इस प्रथम कारण का ठीक विपरीत है ससार, जो सर्जित, ससीम और अनित्य है। निरपेक्ष ब्रह्म अपने जैसा बस स्वय है, वह आध्यात्मिक और पूर्ण है। ससार की रचना सीधे ईश्वर ने नही की, बल्कि शुद्ध बुद्धि की मूर्त्त शक्ति ने की जिसे लोगो ने ब्रह्माण्ड मे देखा था।'[4] यहा हम एक ओर तो ईश्वर के अतीन्द्रिय और अपरिवर्तनीय स्वरूप को देखते है और दूसरी ओर उसकी सृजनात्मक शक्ति को। 'लोगस' (शब्दब्रह्म) शुद्ध बुद्धि की वह शक्ति है जो ईश्वर के सक्रिय आविर्भाव के बावजूद उसकी एकता और परिवर्तनीयता को बनाए रखता है। यह केवल रचनात्मक सिद्धान्त ही नही है, वरन् यह रहस्योद्घाटक शब्द भी है। जब दैवी सदेश के स्फुरण या इल्हाम की बात कही जाती है, तब पहले ही यह मान लिया जाता है कि कोई दिव्य मनुष्य पृथ्वी पर होगा जो उस ईश्वरीय ज्ञान को स्वय प्राप्त कर दूसरो मे भी उसे प्रचारित करेगा। बहुधा 'लोगस' को पैगम्बरी भावना मान लिया जाता है। ईश्वर शुद्ध बुद्धि से रहित नही होता, इसलिए 'लोगस' (शब्दब्रह्म) का निवास तो सदा ही उसमे रहता है। सृष्टि-रचना की सुविधा के लिए उसने अपने मे से ही 'लोगस' को उत्पन्न किया। यदि ईश्वर की दृष्टि से देखा जाए तो 'लोगस' दृश्य ईश्वर है, वह प्राणी है, प्रसवित एव सर्जित ईश्वर है। ईश्वर का ही अश होने के कारण वह सभी प्राणियो से भिन्न होता है। वह शक्ति वह ऊर्जा का सिद्धान्त है और जो वस्तुए अस्तित्व मे आने को हैं उनका रूप भी वही है।[5] सुधारवादियो (अपॉलॉजिस्ट्स) के रहस्योद्घाटित सिद्धान्त के साथ ईसाई धर्म की शिक्षा पूर्ण होती है।

सुधारवादी (अपॉलॉजिस्ट्स) ब्रह्म और ईश्वर मे अन्तर करके चलते है, किन्तु इरेनेइयस को इस मान्यता मे नॉस्टिकवाद की 'नास्तिकता' की गन्ध आई, इसलिए उसने इस बात पर ज़ोर दिया कि परमेश्वर (ब्रह्म) और संसार का सर्जक (ईश्वर) दोनो एक ही हैं, उनमे कोई अन्तर नही है। फिर भी वह नॉस्टिकवादियो से इस बात

१. वही, *i*, ४६। २ वही, *i*, ५; *ii*, १३–१५।

३. वही, *ii*, १५।

४ हार्नेक. 'हिस्ट्री ऑव् डॉग्मा', खण्ड २, अग्रेजी अनुवाद (१८९६), पृष्ठ २०६–७ को भी देखिए।

५. हार्नेक कहता है : "इस सक्रिय एव सहायक प्रतिनिधि के पीछे परमपिता अविज्ञात के अन्धकार में खड़ा रहता है। उस अविज्ञात में जो पूर्णत्व का प्रकाश है परन्तु जो प्रच्छन्न और निर्विकार है, वही ईश्वर है।" ['हिस्ट्री ऑव् डॉग्मा' खण्ड *ii*, अग्रेजी अनुवाद (१८९६), पृष्ठ २१०]।

मे सहमत था कि मानव-प्रकृति का दैवीकरण हो जाना, देवत्व की उसके द्वारा प्राप्ति मानव-जीवन का सबसे बडा वरदान है। अपने वर्तमान रूप मे मनुष्य मृत्यु की शक्ति के अधीन है। ईश्वर अमर होकर ही अस्तित्व मे रहता है। मनुष्य के लिए अमर होने की केवल सम्भावना मात्र है। किन्तु, ईश्वर यह चाहता है कि मनुष्य अमरत्व को प्राप्त करे। अमरता प्राप्त करने का एक ही तरीका है कि ईश्वर मानव-प्रकृति को अपना कर उसे दिव्य बना दे और अपने को उसके साथ सयुक्त कर दे। यदि मनुष्यो को दैवी बनना है तो ईश्वर को मनुष्य बनना ही चाहिए। "मनुष्य के रूप मे जन्म लेकर ईश्वर का चिरन्तन शब्द उन लोगो को जीवन के उत्तराधिकार की गारटी दे देता है, जो लोग अपने स्वाभाविक जन्म के साथ मृत्यु का उत्तराधिकार लेकर आए है।"[1] यहा पर हम 'लोगस' की अपेक्षा मूर्त्त ईश्वर पर अधिक बल दिया हुआ पाते हैं। ईश्वरीय सन्देश का किसी व्यक्ति पर उद्घाटन इतिहास है।

सिकन्दरियाई ईसाई धर्म के मुख्य प्रतिनिधि क्लीमेंट और ऑरिगेन हैं। क्लीमेंट ने अपने ग्रन्थ 'स्ट्रोमैटा' की रचना सिकन्दरिया मे बैसिलिडीज़ की मृत्यु के लगभग साठ वर्ष बाद की और उसके ग्रन्थ से उसने कुछ उद्धरण भी दिए है।[2] जैसे फिलो ने जूडावाद को समझाने के लिए यूनानी दर्शन का उपयोग किया था, वैसे ही यह भी ईसाई-परम्परा की व्याख्या करने के लिए यूनानी दर्शन का उपयोग करता है। क्लीमेंट ने फिलो के कथनो को कई स्थलो पर उद्वृत किया है। वह कहता है कि ईश्वर की खोज अन्धकार मे करनी चाहिए और आस्था तथा अमूर्त्तता के सहारे उस तक पहुचना चाहिए।[3] ईश्वर जगत् का प्रथम कारण है, वह स्थान और काल, वाणी तथा विचार—सबकी सीमाओ से परे है।

> "विश्लेषण के द्वारा 'प्रथम बुद्धि' तक पहुचकर, उसमे से गहराई, चौडाई, लम्बाई और स्थिति को निकालकर और केवल स्वयभू ब्रह्म को वहा रहने देकर, फिर हमारे जीवन मे जो कुछ भौतिक है, उसे अमूर्त्त करके, यदि हम क्राइस्ट की महानता और उदारता को अपना सकें, और फिर वहा से हम यदि पवित्रता के साथ उसकी अपरिमेयता मे पहुच सकें, तो हम किसी न किसी रूप मे सर्वशक्तिमान परमेश्वर के ज्ञान-वृत्त मे प्रवेश पा सकेंगे, और तब भी हम यह नही जान सकेंगे कि वह क्या है, वह क्या नहीं है, इतना ही हम जान पाएगे।"[4]

यद्यपि हम उसे कई नामो से पुकारते हैं, तथापि वह अनाम है। ईश्वर की न कोई इकाई है, न कोई सख्या, वह न कोई आकस्मिक सयोग है, न कोई तत्त्व। हम

१. वही० ४, प्रस्तावना। हार्नैक का पूर्व-उल्लिखित पुस्तक का तीसरा खण्ड, अग्रेजी अनुवाद (१८६६), पृष्ठ २४१ भी देखिए।

२ 'स्ट्रोमैटा', III, ७।   ३ वही, II, २, ४, १०।

४ वही, ४, ११ (II, २, ४ १० और १३ भी देखिए)—'इनसाइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एण्ड एथिक्स' (१६१७), खण्ड IX, पृष्ठ ६१ में उद्धृत।

उसके लिए शब्दो और धारणाओ का प्रयोग इसलिए नही करते कि उसकी चिरन्तनता का वर्णन करने के लिए ये पर्याप्त या आवश्यक हैं, वरन् इसलिए करते हैं, क्योकि हमे भी तो कोई अवलम्ब चाहिए जिसका सहारा लेकर हम उसे जानने की चेष्टा करें। हम 'लोगस' के माध्यम से ही ईश्वर तक पहुच सकते है, अन्यथा नही। कोई भी आदमी 'पिता' तक केवल 'क्राइस्ट' के माध्यम से ही पहुच सकता है। 'लोगस' ससार का बौद्धिक नियम है। 'नॉसिस' (ज्ञान) के द्वारा ही मोक्ष पाया जा सकता है, और ज्ञान की प्राप्ति आत्मा की परिज्ञानशील शक्तियो की शुद्धि से सम्भव हो पाती है। अतीन्द्रिय ईश्वर ज्ञान का विषय नही है, उसके पास तक तो चरमोल्लास या समाधि की स्थिति मे ही पहुचा जा सकता है। क्लीमेट कहता है कि मनुष्य पुण्य कार्य करके 'पुत्र' (ईसा) के समान तो हो सकता है, परन्तु ईश्वर के समान नहीं,[१] और फिर भी उसके लिए 'वह 'एक' सबका पिता है तथा वही 'एक' सबका शब्द भी है।'[२] ईश्वर वह प्रकाश है जो ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया को देखते हुए ध्यानमग्न रहता है और ससार मे आनेवाले प्रत्येक मनुष्य को प्रकाशित करता है। "ईश्वर के शब्द (वाक्) ने मनुष्य का रूप इसलिए ग्रहण किया, ताकि तू भी मनुष्य से यह सीख सके कि मनुष्य ईश्वर कैसे बनता है।"[३] मनुष्य के दैवीकरण की, ईश्वरत्व मे उसकी परिणति की बात को क्लीमेट ने भी स्वीकार किया है। "यदि कोई अपने-आपको जानता है, तो वह ईश्वर को भी जान जाएगा और ईश्वर को जानने के बाद वह भी उसीके समान हो जाएगा।"[४] "मनुष्य, जिसके साथ 'लोगस' रहता है, ईश्वर के समान बना दिया जाता है 'कि मनुष्य ईश्वर बन जाता है।"[५]

क्लीमेट बैसिलिडीज़ से बहुत प्रभावित हुआ था और इस प्रकार बौद्ध विचारणा से भी। वह दुःख की सार्वभौमता की चर्चा करता है। 'पीड़ा और भय मानव-जीवन मे उसी प्रकार अन्तर्भुक्त हैं जिस प्रकार लोहे मे मोरचा।'[६] दुःख, जो सब कार्यों के साथ लगा हुआ है, विशेषतः पाप का सहवर्ती है। 'शहीद अपने पापो के लिए दुःख उठाते हैं।' बच्चे अपने पाप के कारण ही दुःख पाते हैं, हालाकि वे अपने पाप को जानते नही होते। वह पुनर्जन्म के विषय मे बैसिलिडीज़ को उद्धृत करता है। "बैसिलिडीज़ ऐसा लिखता है कि आत्मा ने पिछले जीवन मे पाप किए होगे और उनका दण्ड वह इस जन्म मे भुगत रही है, जो गण्यमान्य एव ईश्वर के प्रिय होते हैं, वे शहीद बनकर सम्मानित होते हैं और शेष लोग उचित दण्ड पाकर अपनी शुद्धि कर लेते हैं।"[७] प्रत्येक कार्य का परिणाम होता है, यदि उस कार्य का परिणाम या फल इस जीवन मे सामने नही आता, तो वह भावी जीवन मे सामने आएगा। आत्मा को एक सरल अस्तित्व नही समझा जाता, बल्कि विभिन्न अस्तित्वो का इसे यौगिक रूप समझा जाता है। "हम बुद्धिशील प्राणी है, इसलिए हमे उचित है कि हम अपनी बुद्धि का उपयोग करके ऊचे उठें और हमारे भीतर जो निम्नकोटि का पशुत्व छिपा हुआ है,

१. 'स्ट्रोमैटा', VI, १४, ११४।
२ वही, VI, ७, ५८।
३. 'प्रोट्रेप्ट'., I, ८।
४. 'पैड'. I, ३।
५ 'स्ट्रोमैटा', I, ५।
६. वही, IV, १२, ६०।
७ वही, IV, १२, ८५।

उसपर विजय प्राप्त करें।"[1] और "मनुष्य मे सत् को प्राप्त करने की इच्छा जागृत होनी चाहिए, इच्छा करने पर वह उसे प्राप्त कर ही लेगा।"[2] यद्यपि हमारे कर्मों के फल अवश्यम्भावी है, तथापि कर्म करने मे हम स्वतन्त्र हैं।

क्लीमेंट ने ईसाई-परम्परा की जो व्याख्या की, वह स्वतन्त्र और उदार थी। वह इस बात को समझता था। "जो बातें हम कहते है, वे यदि कुछ लोगो को प्रभु ईशू के धर्मलिखो से भिन्न जान पडें, तो उनको यही जानना चाहिए कि वे उनसे प्रेरणा और जीवन ग्रहण करते हैं, और उनको अपना आरम्भ-विन्दु मानकर केवल उनका अर्थ ही व्यक्त करते हैं, उनके शब्दो को नही।"[3] ईश्वर को सभी युगो एवं देशो में जाना गया है, हालाकि उसे पूरी तरह कभी नही जाना गया। अपूर्ण रूप में भी उसे वही जान सका है जिसने उसे परिश्रमपूर्वक जानने की चेष्टा की है। ईसाइयो को उसका परिचय 'न्यू टेस्टामेंट' में वह त्रिमूर्त्ति ('ट्रायड'), पिता ('फादर'), पुत्र ('सन') और पवित्रात्मा ('होली घोस्ट') के रूप में दिया गया है।[4]

ऑरिगेन का जन्म १८५–६ ई० में कदाचित् सिकन्दरिया में हुआ था। उसके माता-पिता ईसाई थे। अपने सभी ग्रन्थो में उसने यही सोचा था कि वह रूढिगत ईसाई मत की ही व्याख्या कर रहा है, परन्तु उसकी पद्धति में ऐसे अनुमान और कल्पनाएं हैं जिनका मूल स्रोत ईसाइयत में नही, कही और है। वह इन्द्रियो, आकृतियो और छायाओ से ऊपर उठकर रहस्यात्मक एव अकथ स्वप्न-दर्शन की ओर चलने को कहता है।

ऑरिगेन नवप्लेटोवादियो की तरह ही एक परम सत्ता में विश्वास करता है, वह 'एक' सत्ता अस्तित्व से परे है, परन्तु मनुष्य यदि अपने को भौतिकता के पाश से मुक्त कर ले, तो उसको जान सकता है। परमपिता परमेश्वर ही सभी अस्तित्वो का मूल-स्रोत तथा साचा है और वह विशुद्ध आत्मा है। यह परमपिता अपने 'पुत्र' को अपनी इच्छा की एक शाश्वत क्रिया के द्वारा जन्म देता है। 'पुत्र' समस्त सृष्टि में सर्वप्रथम उत्पन्न अस्तित्व है।[5] ऑरिगेन का निश्चित मत है कि 'पुत्र' या 'लोगस' 'अनिवार्यत.' ईश्वर ही है, वह उसी तत्त्व और प्रकृति से निर्मित है जिसका 'पिता', परन्तु कभी-कभी ऑरिगेन यह भी कह देता है कि " 'लोगस' 'ब्रह्म' (गॉड्हेड्) का अश लिए है, वह ईश्वर नही है।" ईश्वर और 'पुत्र' दोनो निश्चय रूप से ब्रह्म (गॉडहेड्) के अतर्गत है, किन्तु बौद्धिक आत्माए ब्रह्म के बाहर हैं, हालाकि वे भी आध्यात्मिक प्राणी हैं और उनका भी निर्माण ईश्वर की प्रतिकृति के रूप में हुआ है। वे सख्या में सीमित है और उनको स्वतन्त्र सकल्प का लाभ प्राप्त है। इनमें से कुछ तो अपनी मूल दशा मे रह आई, किन्तु अन्य कुछ ईश्वर से दूर हट गई। ईश्वरत्व मे नीचे गिरने से उनके लिए शरीर धारण करना आवश्यक हो गया। प्राणियो की विभिन्न श्रेणिया विभिन्न प्रकार के शरीरो के साथ उठ खडी हुई। वह इस नॉस्टिक दृष्टिकोण को स्वीकार करता है कि स्वर्गीय आत्माए अपने अपार्थिव आनन्द से पार्थिव बन्धन में आ गिरती

१ वही, II, २०, ११३, ११४। २ वही, III, १, २। ३ वही, VII, १, १।
४. वही, V, १४, १०३। ५. कोन्त्रोसिदन्त I, १५।

हैं, दैत्यो का रूप ले लेती हैं। वह मानता है कि आत्माए कदाचित् पशुओ की योनि मे भी जा सकती हैं। उसने यह भी स्वीकार किया था कि मनुष्य-योनि मे आने के पहले भी आत्माओ का अस्तित्व था और इसके आगे भी उनका पुनर्जन्म होगा। "प्रत्येक आत्मा प्रारम्भ से ही अस्तित्व मे रहती आई है और वह कुछ ससारो का चक्कर पहले ही लगा चुकी होती है, और पूर्णत्व प्राप्ति के पूर्व अभी वह न जाने कितने अन्य ससारो का भ्रमण करेगी। पिछले जन्म के कर्मों का इस जन्म पर प्रभाव पडता है; पिछले जन्म मे यदि आत्मा की विजय हुई रहती है, तो वह इस जन्म मे शक्तिमान वनकर अवतीर्ण होती है और यदि पराजय हुई रहती है तो निर्वल वन-कर।"[1] जो पदार्थ-तत्त्व देहो के लिए आधार का काम करनेवाला होता है, उसका सृजन परमात्मा के द्वारा होता है, किन्तु वह पदार्थ-तत्त्व चिरन्तन नही होता। वह ऐसा होता है कि नाना प्रकार के रूपो और प्रयोजनो के अनुरूप अपने को वदल सकता है। इस ससार मे मनुष्य का अल्पकालिक निवास उसको प्रशिक्षण देने के निमित्त होता है, ताकि अस्तित्व की सरणि मे उसका उत्थान होता जाए। वह चाहे तो अधिकतम ऊचाई तक उठ सकता है या चाहे तो निम्नतम गहराई तक पतित हो सकता है।[2] मनुष्य के दुराग्रह और पाप की ठीक उसी प्रकार कोई सीमा नही है, जिस प्रकार ईश्वर की शक्ति और उसके प्रेम की तव कोई सीमा नही रहती जव एक वार आत्मा ईश्वर के नैरोग्य प्रभाव को ग्रहण करने लगती है। मोक्ष का अर्थ शरीर का त्राण नही है, वरन् भूतद्रव्य के वन्धन से आत्मा का छुटकारा और अपने मूल आवास की ओर उसका क्रमिक रूप से लौटना है। उसकी रुझान एक सार्वभौम वापसी की ओर अधिक है, जिसमे सभी आत्माए, दुष्ट देवदूतो सहित, 'लोगस' के वोधगम्य ससार मे ईश्वर से एकता प्राप्त करने के लिए अन्तिम रूप से लौट आएगी। वह स्पष्टत. एक ऐसे समय की कल्पना करता था जव ईश्वर ही सर्वेसर्वा होगा और सभी सर्जित आत्माए अपनी उसी एकता और पूर्णता की स्थिति मे लौट आएगी जो सृष्टि से पूर्व उनकी थी। "जव आत्मा का उत्थान होता है और वह ईश्वर का अनुसरण करती है तथा देह से विलग कर दी जाती है, और ईश्वर का केवल अनुसरण ही नही करती, वल्कि ईश्वर मे ही स्थित हो जाती है, तव क्या हमे यह नही कहना चाहिए कि वह अपनी आत्मा-प्रकृति को छोडकर ईश्वर-प्रकृति को ग्रहण कर लेती है, आध्यात्मिक वन जाती है?"[3] ऑरिगेन 'ईश्वरीय राज्य' (किंगडम ऑव् गॉड्) को एक आध्या-त्मिक वास्तविकता, एक अतीन्द्रिय और वोधगम्य ससार मानता है। ईसाई श्रुतिप्रकाश के ऐतिहासिक तथ्यो को उसने उच्च अपार्थिव वास्तविकताओ के प्रतीको के रूप मे स्वीकार किया है। पूर्णत्व को प्राप्त कर लेनेवाली आत्माए अन्त मे उसी दैवी सार-तत्त्व मे आत्मसात् हो जाएगी जिसमे से वे उद्भूत हुई थी। 'फर्स्ट प्रिंसिपल्स' के खण्ड

१. 'फर्स्ट प्रिंसिपल्स', ३, १, २०, २१।

२. जेरोमी व्यग्यात्मक ढग मे कहता है कि ऑरिगेन की दृष्टि में देवदूत शैतान और शैतान स्वर्गीय दूत वन सकते हैं।

३. 'टी ऑरेटिओन', १०।

३, अध्याय ६ मे उसने आत्माओ के उत्थान की चर्चा की है और कहा है कि 'उनकी दैहिक प्रकृति तक उस श्रेष्ठता को पहुच जाएगी जिसमे और कुछ भी जोडा नही जा सकता ।' इसपर जेरोमी ने यह टिप्पणी की है .

> "बहुत विशद विवेचन के पश्चात्, जिसमे उसने इस बात पर बल दिया है कि सारी दैहिक प्रकृति को अत्यन्त सूक्ष्म आध्यात्मिक देहो के रूप मे परिवर्तित हो जाना चाहिए और समस्त भूतद्रव्य को अत्यन्त पवित्र एकमेव शरीर मे, जो समस्त भास्वरता से भी अधिक भास्वर हो और ऐसे वैशिष्ट्यो से युक्त हो जिनकी कल्पना मानव-मन नही कर सकता, रूपान्तरित हो जाना चाहिए, अन्त मे वह कहता है . "ईश्वर ही सर्वेसर्वा होगा, ताकि समस्त दैहिक प्रकृति उस तत्त्व का रूप ले लेगी जो अन्य सभी तत्त्वो से अधिकश्रेष्ठ है, वह उस दैवी प्रकृति मे बदल जाएगी जिससे अधिक अच्छी वस्तु ससार मे कोई दूसरी नही ।"

प्रश्न उठता है कि ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया का क्या उद्देश्य है ? यह सम्भवत एक भूल है या एक निरर्थक यात्रा है, क्योकि अन्त आदि के समान ही होगा। वह देवदूतो के अन्तर्गत सूर्य, ग्रहो और नक्षत्रो की आत्माओ की भी गणना करता है। स्वतत्र सकल्प तथा बौद्धिक ज्ञान पर जोर दिया गया है ।

ऑरिगेन की दृष्टि मे ईसा उद्धारक या त्राता की अपेक्षा एक धर्म-गुरु अधिक थे । ईसा को वह अन्य व्यक्तियो जैसी आत्मा वाला मानता था, परन्तु ईसा मे और अन्य व्यक्तियों मे अन्तर यह था कि ईसा ने अपनी आत्मा की निर्दोषता बनाए रखी और स्वेच्छा से वह ईश्वरादेशित नियमो का पालन करते रहे, और जब यही उनकी आदत बन गई तब ईश्वर के साथ उनकी अभग एकता स्थापित हो गई । इसी आत्मा ने, जो पहले ही ईश्वर के साथ एकात्म हो गई थी, कुमारी मरियम की देह-धारण की और अन्य लोगो के रूप मे भी प्रकट हुई । ऑरिगेन ने ईसा के नाम पर प्रार्थना करने की वकालत तो की, पर सीधे ईसा को सम्बोधित करके प्रार्थना करना स्वीकार नही किया । वह सक्रिय और ध्यान-मननपूर्ण जीवन मे अन्तर करता था और अतिम प्रकार को पसन्द करता था । वह शिक्षित लोगो के लिए रहस्यवादी धर्म को और अपढ एव असस्कृत लोगो के लिए पौराणिक धर्म को आवश्यक मानता था तथा दोनो मे अन्तर करता था । अपने इस विचार के औचित्य के लिए वह 'पारसीको तथा भारतीयो' का उदाहरण देता था ।

ऑरिगेन के मुख्य सिद्धान्त थे त्रिमूर्त्ति को ब्रह्म के अधीन मानने की धारणा, पूर्व-अस्तित्वशील आत्माओ का पतन, प्रलय के समय दैहिक उत्थान का निषेध, और अन्त मे आत्माओ की अपने मूल गृह को वापसी । ईसाई चर्च ने ऑरिगेन के इन मुख्य सिद्धान्तो का परित्याग कर दिया । इस बात का तो कोई प्रश्न ही नही है कि यद्यपि वह निष्ठापूर्वक यह विश्वास करता था कि वह ईसाई धर्म की ही व्याख्या कर रहा है, तथापि 'उसने निष्कर्ष रूप मे ऐसी कल्पनाए और अनुमान प्रस्तुत किए जिनका

ईसाइयत से केवल दूर का सम्बन्ध था। इन अनुमानो का वास्तविक स्रोत तत्कालीन बौद्धिक वातावरण है, जिसमे प्लेटोवादी, स्टोइकवादी और पौर्वात्य विचारधाराएं परस्पर मिली-जुली थी।'[1] पॉर्फीरी कहता है कि 'यद्यपि ऑरिगेन अपनी जीवन-विधि की दृष्टि से ईसाई था, तथापि वह अपनी धार्मिक विचारणा मे यूनानी मत को मानता था और उसने विदेशी पुराण-कथाओ में प्रच्छन्न रूप से यूनानी विचारो का समावेश कर दिया था।'

क्लीमेंट और ऑरिगेन द्वारा पोषित सिकन्दरियाई विचार-सप्रदाय की इस परम्परा को तीन कैपेडोसियनो—सीज़रिया के बैसिल और दो ग्रेगरियो ने ज़ारी रखा। बैसिल की दृष्टि में 'स्वर्ग का राज्य' वास्तविकताओ का चिन्तन है।[2] कैपेडोसियन लोग ईश्वर के रहस्य के सम्वन्ध में एकमत हैं। 'हम जानते हैं कि उसका अस्तित्व है, परन्तु उसके सार-तत्त्व के विषय में हम यह नही कह सकते कि हम उससे अनजान है।'[3] उसने ससार की रचना की है, उससे भी उसके विषय में कुछ ज्ञात होता है, परन्तु उसका सबसे अच्छा परिचय मानव-आत्मा के माध्यम से मिलता है, क्योंकि मानवात्मा एक ऐसा दर्पण है जिसमें दैवी मूलादर्श के लक्षण प्रतिबिम्बित होते हैं। नाज़ियानज़ेन के सेंट ग्रेगरी ने ईश्वर के प्रति जो भावपूर्ण उद्गार प्रकट किये हैं, वे पूर्णतः नवप्लेटोवादी तर्ज़ के हैं "तू सबका अन्त है, तू एक है, तू सब है और तू कोई नहीं है, तू एक है, इसलिए तू सब नही है, तू सब है, इसलिए एक नही है, सभी नाम तेरे ही हैं, इसलिए हे एकाकी, हे अनाम, मैं किस प्रकार तेरा नाम लेकर आह्वान करू।"[4] ईश्वर के समान बनना मनुष्य का उद्देश्य है। इसका सर्वोत्तम साधन है तपवाद। यदि हमारा हृदय शुद्ध हो, तो असृष्ट सौन्दर्य के दर्शन का आनन्द लेने में उससे सहायता मिलती हैं।

सेंट ऑगस्टाइन[5] दो ससारो के मिलन-स्थल पर स्थित हैं। ये दो ससार हैं— "जिस महान व्यवस्था ने ससार के भाग्य को पाच शताब्दी या उससे भी कुछ अधिक समय तक अपने नियत्रण में रखा, उसका समाप्त हो जाना, और नए ससार की नीव का रखा जाना।" ऑगस्टाइन ने पुराने ससार को नए ससार तक ले आने का नेतृत्व किया। ईसाई मत में दीक्षित होने से पूर्व वह क्रमश. मूर्त्तिपूजक (पेगन),

१. जी० डब्ल्यू० बटरवर्थ, 'ऑरिगेन ऑन फर्स्ट प्रिंसिपल्स' (१६३६), पृष्ठ xxxi। तुलना कीजिए हार्नैक के इस कथन से : "ऑरिगेन के धर्मशास्त्र का 'न्यू टेस्टामेंट' से वही सम्बन्ध है जो फिलो का 'ओल्ड टेस्टामेंट' से। ईसाइयत के रूप में यहा जो कुछ प्रस्तुत किया गया है, वह वस्तुतः एक आदर्शवादी धार्मिक तत्त्वज्ञान है, जो दैवी इल्हाम के द्वारा प्रमाणित है और जो 'लोगस' के अवतार के द्वारा सबके लिए सुलभ बना दिया गया है और जिसका यूनानी पुराण-कथा और स्थूल बहुदेववाद के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है।" [हिस्ट्री ऑव् डॉग्मा', अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड २ (१८६६), पृष्ठ ५—६]।

२. बैसिल, एपिस्टिल, ८। ३. वही, २, ३४।

४. क्रिस्टोफर डाउसन लिखित 'प्रॉग्रेस एण्ड रिलीजन', पृष्ठ ६१ में उद्धृत।

५. वह रोमन अफ्रीका के टैगस्टे नामक स्थान में ३५४ ई० में पैदा हुए थे और ४३० ई० में उनकी मृत्यु हिप्पो में हुई। वह ३६५ से ४३० ई० तक हिप्पो के बिशप रहे।

मानिकीवादी और नवप्लेटोवादी थे। उन्होंने लेटिन अनुवाद के माध्यम से प्लॉटिनस की कृतियो को पढा और नवप्लेटोवाद के मुख्य सिद्धान्तो का समावेश ईसाइयत में किया। ईश्वर और भूतद्रव्य, स्वतन्त्रता और बुराई, ईश्वर का ससार के साथ सम्बन्ध आदि विषयो पर उनके जो विचार थे, उनको उन्होने नवप्लेटोवाद के माध्यम से प्राप्त किया।[1] उन्होंने ईसाई-सिद्धान्त का समर्थन करने के लिए नवप्लेटोवादी तर्कों का सहारा लिया। जैसाकि उन्होंने अपनी एक प्रारम्भिक कृति में लिखा है "निश्चय ही, मैं ईसाई मत से कभी विलग नही होऊगा, क्योकि मैं उससे अधिक शक्तिशाली कोई अन्य धर्म नही देखता। परन्तु कुछ ऐसी चीजें हैं जिनको स्पष्ट तर्क एव बुद्धि से जाना जा सकता है, और मुझे विश्वास है कि मैं नवप्लेटोवाद में ऐसी चीजें प्राप्त कर सकूगा जिनका हमारे धर्म के साथ कोई विरोध नही है।"[2] ऑग-स्टाइन की दृष्टि में दर्शन-शास्त्र का अर्थ है—ईश्वर और अपनी आत्मा का ज्ञान पाना। वह सशयशील लोगो के तर्कों को असगत कहकर अस्वीकार कर देते हैं, क्योकि निर-पेक्ष सत्य को अस्वीकार करते हुए भी वह उसकी पुष्टि करते हैं। सारा कर्म ज्ञान पर निर्भर करता है और सशयवाद को आचरण का आधार नही बनाया जा सकता। भले ही ज्ञानेन्द्रिया हमें धोखा दे दें, भले ही हम निद्रावस्था में स्वप्न देखें या चलने लगें, किन्तु मन वोधगम्य और अपरिवर्तनशील को ही अपना उचित विषय बनाकर चलता है। कुछ ऐसे भी सत्य हैं जिनपर किसी प्रकार का सदेह नही किया जा सकता। "मेरा प्रयोजन इतने से ही पूरा हो जाता है कि प्लेटो ने दो ससारो की स्थिति को अनुभव किया था एक वह बुद्धिगम्य ससार जहा सत्य का साक्षात् निवास रहता है, दूसरा वह इन्द्रियगम्य ससार जिसको हम, जैसाकि स्पष्ट है, दृष्टि और स्पर्श से अनुभव करते हैं।"[3] पहले ससार मे मानवात्मा को अपना और ईश्वर का सामना करना पडता है। दृश्य वस्तुओ के पीछे कुछ ऐसी चीज छिपी है जिसे हम सहजबुद्धि के द्वारा ही ग्रहण या कल्पित कर सकते हैं, हमारे भीतर आत्मा है जिसे हम अपने चर्मचक्षुओं से नही देख सकते, परन्तु अपनी भास्वरता के कारण वह हमारे सम्मुख बहुत स्पष्ट है। आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन शकराचार्य या डेकार्ट की शैली मे किया गया है।

"जो व्यक्ति अपने को सदेह मे जानता है, वह सत्य को जानता है, और वास्तव मे वह जो कुछ जानता है, उसके विषय में वह निश्चित होता है। इसलिए जो आदमी यह सदेह करता है कि सत्य है या नही, उसके भीतर सत्य अवश्य होता है, जिसके कारण उसे सदेह नही करना चाहिए ; ऐसी कोई चीज सही नही है जो सत्य के द्वारा सही न प्रमाणित की जा सके। इसलिए जो आदमी किसी विद्वान व्यक्ति के कथन मे सदेह करता है, उसे

१. देखिए उनका 'कन्फेशन्स', VII, ९–२१।
२ 'कॉन्ट्रा ऐकेडेमिकोज', ३, ४३, मॉन्टगोमरी, पृष्ठ ६९ में उद्धृत।
३ 'कॉन्ट्रा ऐकेडेमिकोज', III, १७, ३७।

सत्य के विषय मे सदेह नही करना चाहिए। जहा पर ऐसा देखा जाता है, वहा प्रकाश है, वह प्रकाश भले ही स्थान या काल-सापेक्ष हो, परन्तु वह स्थानातीत होता है और इस प्रकार के स्थान के प्रतिनिधित्व से भी शुद्ध होता है।"[1]

एक उच्च वास्तविकता ऐसी भी है जिसके अधीन मानव-मन है, वह एक ऐसा 'सत्य' है जो कभी परिवर्तित नही होता, उसीको ईश्वर कहते हैं। ऑगस्टाइन सत्य को ही ईश्वर मानता है। "सत्य मे जो आनन्द मिलता है, उसीसे जीवन सुखी वनता है, क्योकि सत्य मे आनन्द लेना तुझमें ही आनन्द लेना है, तू ही तो सत्य है, तू ही ईश्वर है, मेरे मुख-मण्डल की स्वस्थ उत्फुल्लता तू ही है, तू ही मेरा ईश्वर है।"[2] मनुष्य का मन एक बुद्धिग्राह्य ससार के ससर्ग मे अपने को पाता है और सत्य को जान जाता है। यह बुद्धिग्राह्य ससार इन्द्रियो या मनुष्य की आत्मा की उपज नही होता। जो इन्द्रियगम्य है वह बुद्धिगम्य को जन्म नही दे सकता, क्योकि वह अपरिवर्तनशील होता है, जवकि इन्द्रियगम्य ससार परिवर्तनशील और नश्वर होता है। सत्य स्थिर होता है, जवकि आत्मा की दृष्टि अस्थिर होती है। सत्य को तो प्राप्त करना होता है, उसकी शोध करनी पडती है, वह निर्मित नही होता। मानव-मन सत्य के अधीन होता है।

ऑगस्टाइन के विचार आत्मा के सम्वन्ध मे स्पष्ट नही हैं। यह साक्षात् सत्य नही है, क्योकि सत्य अपरिवर्तनीय और नित्य होता है, जवकि आत्मा परिवर्तनीय होती है। आत्मा सत्य का एक भाग नही है, क्योकि यह अपने को सप्राण और विचारशील जानती है, यही कारण है कि ईश्वर इसको एक तत्त्व के रूप मे साधे रखता है और इसको अपने साथ इस प्रकार सयुक्त कर लेता है कि यह अपना अस्तित्व वनाए रखती है और उसके (ईश्वर के) विचार में भाग लेती है। भाग लेने की यह क्रिया सनातन है, क्योकि भूतद्रव्य अपने से उच्च किसी तत्त्व के कार्यों मे वाधा नही डाल सकता, इस प्रकार ऐसी कोई चीज़ नही, जो आत्मा के साथ सघर्ष मे आ सके। आध्यात्मिक अस्तित्व के रूप मे आत्मा अविभाज्य है और इसकी आध्यात्मिकता और इसकी अवस्थिति दोनो ही सीधे आत्मज्ञान के विषय है। अन्तर्मुखी आत्मा मे ही हम सत्य और ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं।

"मैंने अपनी अन्तर्मुखी आत्मा मे प्रवेश किया, तू मेरा पथ-दर्शक था। मैंने अपनी आत्मा की आखो से अपने मन के ऊपर अपरिवर्तनीय प्रकाश को देखा। तुझे (ईश्वर को) मैंने जव पहले-पहल जाना, तव तूने मुझे ऊपर को उठा लिया, ताकि मैं वह देख सकू, जो मेरे देखने योग्य था, मैं अभी तक

१. 'डी वेरा रिलीजने', XXXIX, ७३। 'ए मॉन्यूमेंट टु सेंट ऑगस्टाइन' (१९३०), पृष्ठ १६४ मे डी' आर्की के कथन को भी देखिए।

२. 'कन्फेशन्स', X, २३, ३३।

इस स्थिति में न था कि उसे देख सकू। तूने अपने प्रकाश की किरणो को बडी दृढता के साथ मुझपर डालकर मेरे दृष्टि-मान्द्य को दूर कर दिया, और मैं प्रेम तथा सम्भ्रम के वशीभूत होकर कापने लगा, मैंने एक ऐसे वातावरण मे अपने को पाया जहा का कुछ भी मेरी दुनिया के समान न था, मैंने देखा कि मैं तुझसे बहुत दूर हू। तूने दूर से ही चिल्लाकर मुझसे कहा 'तुम निश्चय ही वह हो जो मैं हू।' और मैंने तुम्हारे शब्द ऐसे सुने, जैसे हृदय सुनता है, मैं सन्देह करता ही कैसे ? शीघ्र ही मैं यह सन्देह करने लगूगा कि मुझमे और उस सत्य मे मे किसका अस्तित्व अधिक चिरन्तन है।"[1]

ऑगस्टाइन ने एक स्थल पर लिखा है "तूने हमको अपने लिए बनाया है और हमारे हृदयो को तब तक चैन नही मिलने का जब तक वे तुझमे विश्रान्ति नही पा लेते।" ये श्रेष्ठ शब्द धार्मिक भावना का सार उपस्थित कर देते हैं। धार्मिक अनुभव के उच्चतम क्षणो का वर्णन ऑगस्टाइन ने प्लॉटिनस की शैली और भाषा मे किया है। जिन आत्माओ का परित्राण हो जाता है, उनका जीवन स्वर्ग में कैसा होता है, इसकी चर्चा अपनी माता से करते हुए—जो अपनी मा से किया हुआ उनका अन्तिम वार्तालाप था—वह प्लॉटिनस के विचारो को ही, लगभग उसीके से शब्दो मे, इस उत्तम अनुच्छेद मे दुहराते हैं

"मान लीजिए कि समस्त दैहिक अशान्ति व क्षोभ को सदा के लिए शान्त कर दिया जाए, और पृथ्वी, समुद्र तथा वायु की सभी ऐन्द्रिक प्रतिमाए चुप कर दी जाए, मान लीजिए कि आकाश भी शान्त हो जाए और आत्मा तक अपने-आपमे कोई शब्द न बोले, बल्कि अपने विषय मे कोई विचार किए बिना ही रह जाए, मान लीजिए कि सभी स्वप्नो और कल्पना की सभी अभिव्यक्तियों को प्रत्येक शब्द और चिह्न तथा इस क्षणभगुर ससार से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के द्वारा नि स्तब्ध कर दिया जाए, मान लीजिए कि ये सब नीरव कर दिए जाए—यद्यपि, ये किसी सुननेवाले से कुछ बोलें, तो आप जानते हैं, वे क्या बोलेंगे ?—वे कहेंगे 'हमने अपनी रचना नही की, वरन् उसने हमारी रचना की, जो सदैव रहेगा'—तो भी मान लीजिए, उन्होंने बस इतना ही कहा होता और फिर चुप हो गए होते, जब उन्होंने श्रोता के कानों को उसकी ओर घुमा दिया होता जिसने उनकी रचना की; फिर तो वह उनके माध्यम से नहीं, वरन् अपने ही माध्यम से बोलता—अकेला वही बोलता, ताकि हम उसके शब्दो को सुन सकते। उसके शब्द न किसी चर्म-जिह्वा से, न किसी देवदूत की वाणी से उच्चरित होते, उन शब्दो मे न गर्जना होती, न ऐसी फुसफुसाहट ही, जिसमे जो व्यक्त किया जाता है, उसको अव्यक्त रखने का प्रयास रहता है, इसके बाद, तनिक यह कल्पना

1 'कन्फेशन्स', VII, १६, २३।

कीजिए कि जिस ईश्वर को हमने ऐसी प्रव्यजनाओ के माध्यम से प्रेम करना सीखा है, वह विना किसी ऐसी मध्यस्थता के हमपर अपने को प्रकट करने लगे—ठीक वैसे ही, किन्तु हम अपने-आपमे से वाहर निकलते और अतर्दृष्टि की एक चमक से चिरन्तन ज्ञान को, जो सबसे अधिक स्थायी है, स्पर्श कर लेते, और अन्त मे, मान लीजिए कि ईश्वर का यह दर्शन सदा-सदा के लिए होता रहता और अन्य निम्न कोटि के दर्शन तथा कल्पनाए हमसे छीन ली जाती, ताकि अकेला यही दर्शक को मुग्ध और तल्लीन कर लेता और रहस्यात्मक आनन्द मे उसे सम्मोहित कर लेता, तथा हमारा जीवन सदैव के लिए हमारे द्वारा उपलब्ध स्पष्ट अन्तर्दृष्टि और प्रेरणा के क्षण के सदृश हो जाता—क्या यह वैसा ही कुछ न होता जैसा इन शब्दो से ध्वनित होता है 'तू अपने प्रभु के आनन्द मे प्रवेश कर ?' "[1]

ऑगस्टाइन ईसाई प्लॉटिनस ही हैं।

सभी वस्तुओ तथा सभी इन्द्रियो के विपयो से अपने को विरक्त करके आत्मा ईश्वर को प्राप्त कर सकती है। हृदय की अतल गहराई मे, जहा ब्रह्म का निवास है, आत्मा उससे सयुक्त होती है। मानव-हृदय अपनी पवित्रतम क्रिया के सर्वाधिक गुप्त विन्दु मे, आत्मा के रूप मे अपनी ही प्रकृति मे पहुचकर विश्राम पाता है। जवकि प्लॉटिनस ने निरपेक्ष ब्रह्म के साथ रहस्यात्मक संयोग को 'नाउज़' (प्रज्ञा) के परे एकमेव परम सत्ता के साथ सयोग माना था, तव ऑगस्टाइन शब्दब्रह्म को ही साक्षात् निरपेक्ष ब्रह्म समझते हैं।

ऑगस्टाइन विज्ञान और ज्ञान मे अन्तर करते हैं। विज्ञान, जो कर्मशील ससार और सर्जित वस्तुओ की ओर अपना ध्यान देता है, को वह निम्न वुद्धि का कार्य मानते हैं तथा ज्ञान को उच्च वुद्धि का कार्य मानते हैं जिसका उद्देश्य है चिन्तन की विश्रान्ति को उपलब्ध करना। वह एक उच्च प्रकार के अन्त स्फूर्त ज्ञान को, 'जो है उसको देखने के लिए प्रकाश की एक तीव्र चमक को' स्वीकार करते हैं। वह दर्शन-शक्ति के वौद्धिक विपय को उस प्रकाश से भिन्न समझते हैं जिसके द्वारा आत्मा मे प्रकाश होता है। ज्ञान की सहायता से हम यह नही जान सकते कि ईश्वर क्या है। "हम यह तो जान सकते हैं कि ईश्वर नही है, परन्तु यह नही जान सकते कि वह क्या है।"[2] जव हमे ईश्वर के दर्शन हो जाते हैं तभी हमारा रूपान्तरण हो पाता है। 'हम तेरी अग्नि के साथ अपना अन्तर्मुखी विकास करते है।' आत्मा का यह ऊर्ध्वमुखी अभियान सात श्रेणियो मे वर्गीकृत हुआ है, उनमे से अन्तिम तीन है—आत्मशुद्धि, ज्ञानप्रकाश और एकता। अतत 'सत्य का दर्शन और चिन्तन इस यात्रा का उद्देश्य है।' ऑगस्टाइन ने 'त्रिगुट' ('पिता', 'पुत्र' तथा पवित्रात्मा की त्रयी) की

१ वही, v, १, २। मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्लॉटिनस और ऑगस्टाइन के विचारों में बहुत कुछ समानता है।

२. 'ऑन द ट्रिनिटी', viii, २।

जो व्याख्या दी है, वह कठिनाई से ही समझ मे आनेवाली है। उन्होंने क्राइस्ट के माध्यम से ईश्वर से प्रार्थनाए की हैं, स्वय क्राइस्ट से नही।[1]

फिर भी, ऑगस्टाइन सदा ही इस रहस्यवादी परम्परा के प्रति निष्ठावान् नही रहे। उन्होंने दो प्रकार के नगरो—एक स्वर्गस्थित चिरन्तन नगर और दूसरा पृथ्वी पर स्थित नश्वर नगर—की जो धारणा की है, उसमे मानिकीवाद का द्वैत सिद्धान्त व्यवहृत हुआ है। इसमे यह सकेत तो है ही कि बुराई की शक्ति ईश्वर की शक्ति से स्वतत्र एव उसके समान है। फिर भी, यह उनकी मुख्य प्रवृत्ति नहीं है। हिब्रू धर्माध्यक्षो और न्यायाधीशो के जीवन पर मानिकीवादी फॉस्टस की आलोचनाओ का उत्तर देते हुए ऑगस्टाइन कहते हैं कि दैवी आदेशो का पालन करते हुए ही उन्होंने निर्दय कार्य किए होंगे, किन्तु नैतिक नियमो का जो महान 'निर्माता' है, वह स्वय उनके अधीन नही है। वह चाहे तो अपने द्वारा बनाए विधि-नियम के विरुद्ध भी आचरण कर सकता है। ऑगस्टाइन को यह बात चुभती थी कि मनुष्य इतना निर्बल तथा निरुपाय है कि वह अपनी परिस्थितियो से ऊपर नही उठ सकता और उसे इसके लिए दैवी कृपा की आवश्यकता रहती है। मनुष्य ईश्वर से बाह्य बाधाओ के द्वारा अलग नही किया गया है, वरन् अपनी दुष्प्रवृत्ति के कारण। पाप ईश्वर के प्रकाश की पड़ती हुई छाया है।

तो भी, ऑगस्टाइन की पद्धति की मुख्य-मुख्य बातें नवप्लेटोवादियो जैसी थी, वे बातें थी बोधगम्यता और यथार्थता के बीच समानता, ईश्वर के साथ सादृश्य मे वृद्धि होते रहने मे आत्मा का धीमे-धीमे उत्थान, यह मान्यता कि सत्य और ईश्वर को जानने का साधन आत्मा ही है। वह कहते है "जिस धर्म को ईसाई धर्म कहा जाता है, वह प्राचीन काल मे भी था, क्राइस्ट के शरीर-धारण करने से लेकर मानव-जाति के प्रारम्भ तक का कोई ऐसा समय नही था जब इस धर्म का अस्तित्व न रहा है। बस, हुआ इतना ही कि जो सच्चा धर्म पहले से ही चला आ रहा था, वह ईसाइयत के नाम से जाना जाने लगा।"[2] उनके ये विचार बिशप के रूप मे उनके आचरण से कठिनता से ही मेल खाते है, क्योंकि बिशप की हैसियत से उन्होंने माना था कि ईसाई चर्च नास्तिको या काफिरों को दण्ड दे सकता है। हम ऑगस्टाइन मे दो प्रकार की धाराए पाते हैं—आध्यात्मिक और धार्मिक अन्धश्रद्धा सम्बन्धी। वह 'मोनिका' का पुत्र और पूर्वी ईसाई सम्प्रदाय (ऑर्थोडॉक्स चर्च) का बिशप साथ-साथ था। प्रथम पाच शताब्दियो के ईसाई धर्मग्रंथकारों मे से सबसे बडे, ऑगस्टाइन की दृढ आस्था तो नवप्लेटोवाद मे ही थी, उनकी चेतना मे ईसाई आस्था नवप्लेटोवाद के सत्य के अधीन थी।[3]

ऑगस्टाइन के ग्रन्थो ने, जिनमे प्रमुख नवप्लेटोवादी सिद्धान्तो का समावेश

१ 'पश्चिमी राष्ट्रों के व्यक्तिगत धर्म में क्राइस्ट से प्रार्थना को सबसे पहले महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ था युग में।" [हिलर 'प्रेयर', अंग्रेजी अनुवाद (१९३२), पृ० १२८]।

२ [illegible]।

३ प्रोफेसर ए० ई० टेलर का कथन है "दो परस्पर विरोधी धर्म-प्रकारों का यह जो विनिम

किया गया था, उस समय मध्ययुगीन जन-मानस पर सर्वाधिक स्थायी प्रभाव डाला, जिस समय अरस्तू की तूती बोलती थी।[1]

बोथियस (४८०–५२४ ई०) ने 'डी कन्सोलेशने फिलॉसोफाई' शीर्षक अपनी पुस्तक मे, जो मध्ययुग मे बहुत लोकप्रिय थी, नवप्लेटोवादी सिद्धान्तो का काफी उपयोग किया है।[2] अल्फ्रेड महान ने इस पुस्तक का अग्रेज़ी मे अनुवाद किया। बोथियस द्वारा चिरन्तन जीवन की यह परिभाषा तो प्रसिद्ध ही है कि चिरन्तन जीवन असीम, निर्बाध जीवन का एककालिक तथा पूर्ण ग्रहण है। प्लॉटिनस ने चिरन्तनता का जो वर्णन किया था,[3] यह परिभाषा उसकी भावना को ही व्यक्त करती है। वास्तविकता के स्तर, बोधगम्य और आदर्श ससार की श्रेष्ठता, 'अच्छे' और 'एक' के अभिज्ञान, ईश्वर के अश के रूप मे आत्मा के दैवीकरण-सम्बन्धी उसके विचार नवप्लेटोवादी हैं।

एरिओपैगाई डायोनिसस भी एक लेखक था जिसको ईसाई रहस्यवाद का पिता समझा जाता है। उसने मध्ययुगीन ईसाई चर्च मे धर्म के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्ष पर एक निर्णायक प्रभाव डाला था। वह पूर्वीय ईसाई जगत् का—वास्तव मे सीरिया का निवासी था। निस्सन्देह वह एक ईसाई नवप्लेटोवादी है जो प्रोक्लस, इग्नेशियस और क्लीमेंट की कृतियो से परिचित था। जैसाकि जस्टीनियन ने उसे उद्धृत किया है, उसके ग्रन्थ छठी शताब्दी के मध्य के लिखे हुए थे। चूकि भ्रम से उसको सेंट पॉल का एथेन्सवासी अनुयायी मान लिया गया, इसलिए उसके ग्रन्थो को ईसाई धर्म-प्रचारको के समय की अनुप्रेरित उपज स्वीकार किया गया।[4]

सम्मिश्रण हुआ है, उसमें नवप्लेटोवादी रहस्यवाद को वरिष्ठता प्राप्त है। ऑगस्टाइन सब प्रकार की प्रार्थनाओं का एक ही लक्ष्य समझते हैं : अनन्त ईश्वर की ओर लौटना। वह एक अनिवार्य एकता है जो सर्वोच्च हित करने में समर्थ है।" वह स्कील का समर्थन करते हुए उसके इस कथन को उद्धृत करते हैं—"ऑगस्टाइन के न तो विचार में और न अनुभूति में ही विशेषरूप से ईसाई विचारों को प्राथमिकता प्राप्त है। विशुद्ध ऑगस्टाइन तो नवप्लेटोवादी ऑगस्टाइन है।" (हेलर, 'प्रेयर', अंग्रेज़ी अनुवाद, पृष्ठ १२६–७)।

१. टॉमस एक्विनास ने ईश्वर क्या है, इसका ज्ञान होने से इन्कार किया है। उसने निश्चयपूर्वक कहा है कि "दिव्य तत्त्व अपनी अपरिमेयता के कारण किसी भी ऐसे औपचारिक सिद्धान्त की परिधि में नहीं आ सकता जिस तक हमारी बुद्धि की पहुच हो सकती है, अत. वह क्या है, यह जानकर हम उसको नहीं समझ सकते, वरन् यह जानकर कि वह क्या नहीं है, हम उसकी कुछ-कुछ जानकारी कर सकते हैं।" ('सुम्मा कॉन्ट्रा जेन्टाइल्स', खण्ड १, अध्याय XI)। टॉमस के अनुयायी रहस्यात्मक अनुभव की सर्वाधिक स्पष्ट विशेषता प्रेम के स्थान पर 'उच्च ज्ञान के दान' की परिकल्पना करते हैं।

२. हार्नैक के इस कथन से तुलना कीजिए : बोथियस 'अपनी विचार-पद्धति की दृष्टि से निश्चय ही नवप्लेटोवादी था।' ('हिस्ट्री ऑव् डॉग्मा', खण्ड I, पृष्ठ ३५८)।

३. "नाउज़ समस्त शाश्वत वस्तुओं को अपने में समाहित करता है। यह है, सदा है और यह कहीं भी होता नहीं है, न यह कभी व्यतीत होता है, क्योंकि यहा से कोई वस्तु जाती नहीं है, वरन सभी वस्तुए चिरन्तन रूप से वर्तमान रहती हैं।" ('एनिएड्स', I', १, ४)।

४. छठी शती में हुए सेंट ग्रेगरी उसका आदर करते थे। पोप मार्टिन प्रथम ने कैथोलिक धर्म सिद्धान्तों की पुष्टि में ६४० ई० में हुई लैटेरेन परिषद् में उसके ग्रन्थों में से उद्धरण दिए थे। कुस्तुनतुनिया में हुई तीसरी धर्म-परिषद (६६२ ई०) और नाइसीया में हुई द्वितीय धर्म-परिषद में

डायोनिसस ने अपने गुरु हीरोथियस का उल्लेख किया है जो एक सीरियाई रहस्यवादी था और पाचवी शताब्दी के उत्तरकाल मे जीवित था। उसके विषय मे डायोनिसस ने कहा है कि 'उसने न केवल ईश्वरीय वस्तुओ का ज्ञान प्राप्त किया था, वरन् उनका अनुभव भी किया था।' पूर्णता की सीढी पर चढने मे मन को किन-किन भूमिकाओ से गुजरना पडता है, इसके विषय मे उसने विस्तार से बताया है। समाधि की दशा मे परमानन्द को प्राप्त करने और ईश्वर के साथ सयोग होने का दावा उसने किया है और वह कहता है कि मौन का अभ्यास करके इस सयोग की प्राप्ति के लिए साधक को अपनी तैयारी करनी चाहिए। 'मुझे तो बिना शब्दो के बोलना और बिना ज्ञान के समझना अच्छा और सही जान पडता है, इसको मै और कुछ नही गुह्य मौन और रहस्यात्मक निर्विकारता समझता हू, जो चेतनता को नष्ट कर देती है और रूप को विलीन कर देती है। इसलिए मौन रहकर और रहस्यात्मक ढग से ईश्वर ('आर्कगुड') के साथ पूर्ण और आद्य एकता प्राप्त करने की चेष्टा करो।'[1] इसपर टिप्पणी करते हुए डॉक्टर इन्गे लिखते हैं . "यह तो ब्राह्मणो का प्राचीन धर्म ही है जो यहूदी अन्योक्तिकारों, अर्द्ध-ईसाई नॉस्टिकवादियो (ज्ञानवादियो), मानिकीवादियो, प्लेटो के रग मे रगे हुए ईसाइयो और मूर्त्तिपूजक (पेगन) नवप्लेटोवादियो से उधार ली हुई पोशाक मे अपने को छिपाए हुए है।"[2]

डायोनिसस ने अपने लिखित 'थिओलॉजिया मिस्टिका' तथा अन्य ग्रन्थो मे प्रोक्लस के सिद्धान्तो को विकसित किया है।[3] उसकी दृष्टि मे ईश्वर अनाम परम-अनिवार्य सत्ता है, वह स्वय अच्छाई से भी उत्तम है। वह ईश्वर को निरपेक्ष अ-वस्तु मानता है जो सभी प्रकार के अस्तित्व से ऊपर है। उसने 'मौन के अन्धकार की अति-दीप्ति' और 'इन्द्रियो और बुद्धि की क्रियाओ तथा समस्त इन्द्रिय एव बुद्धिगम्य वस्तुओ को पीछे छोड देने की' आवश्यकता के विषय मे बतलाया है।

> "और तू, प्रिय टिमोथी, अपने गम्भीर रहस्यात्मक चिन्तन मे लीन हो जा, इसके लिए तू अपनी इन्द्रियो और बुद्धि की क्रियाओ को तथा उनके द्वारा ज्ञातव्य सारी वस्तुओ को और उन वस्तुओ को जो नही हैं तथा जो हैं, पीछे छोड दे, और यथासम्भव अपने को उस सत्ता के साथ जो सब अस्तित्वो और ज्ञान से ऊपर है, सयुक्त कर दे और यह जान ले कि तू उसे जानकर भी नही जानता, क्योकि विशुद्ध रूप से स्वतत्र और निरपेक्ष होकर, अह और

उसके कथनों की चर्चा हुई थी। आठवीं शताब्दी में सेंट जान डैमेसीन उसका अनुयायी बन गया और उसने उसकी शिक्षाओं को स्वीकार कर लिया। जॉन स्कोटस एरिगेना ने उसके ग्रन्थों का अनुवाद किया था। ईसाई चर्च ने तेरहवीं शताब्दी में उसकी निन्दा की, किन्तु चौदहवीं शताब्दी के रहस्य-वादियों पर उसका प्रभाव पुन बढ गया।

[1] इन्गे के 'क्रिश्चियन मिस्टिसिज्म' (१८९९) पृष्ठ १०३ में उद्धृत।

[2] वही, पृष्ठ १०४।

[3] 'वर्क्स आव डायोनिसस द एरिओपैगाइट' (१८९७) का जॉन पार्कर कृत अंग्रेजी अनुवाद देखिए।

> सभी वस्तुओ से अपने को मुक्त करके तू दिव्य अन्धकार की किरण की ओर ले जाया जाएगा—उस समय तू सबसे अलग और सबसे विमुक्त होगा।"

हमे 'इन्द्रियगम्य वस्तुओ के अवगुण्ठन' को फाड फेंकना चाहिए, क्योकि "इन्द्रियो के द्वारा अनुभव की जा सकनेवाली प्रत्येक वस्तु का जो प्रधान कारण है, उसको इन्द्रियो के माध्यम से किसी प्रकार भी अनुभव नही किया जा सकता।"[1] हमे बुद्धिगम्य वस्तुओ के आवरणो को भी हटा देना चाहिए, क्योकि "प्रत्येक बुद्धिगम्य दर्शन की वस्तु का जो प्रधान कारण है, वह किसी प्रकार भी बुद्धिगम्य दर्शन का विषय नही हो सकता।"[2]

> जो वास्तविक है, सत्य है, वह "न तो आत्मा है न मन, उसके न कल्पना है न मति, न शुद्ध-बुद्धि है, न धारणा, वह न अभिव्यक्त हो सकता है, न उसकी कल्पना की जा सकती है, वह न सख्या है न व्यवस्था, न वह महानता है, न लघुता, ''जव उसके अनुकरण पर वस्तुओ का अभिधान एव उनकी कल्पना करते हैं, तव हम उसके आधार पर न अभिधान करते हैं, न कल्पना, क्योकि जो सत्ता सभी वस्तुओ का सर्व पूर्ण और परिवर्तनहीन कारण है, वह हर परिभाषा से ऊपर है, और उसकी प्रधानता जो पूर्णत सर्वस्वतत्र तथा सबसे परे है, हर प्रकार की कल्पना से ऊपर है।"

लोकोत्तर अज्ञान, 'दिव्य अन्धकार' जो वस्तुत. परम ज्ञान है, का भेदन करने के लिए हमे ईश्वर-विषयक प्रत्येक वस्तु को अस्वीकार कर देना चाहिए।[3] वह मूर्त्तिकार की छेनी के रूपक का प्रयोग करता है। मूर्त्तिकार अपनी छेनी से पाषाण के ऊपरी आवरण को हटा देता है, "काट-छाट के द्वारा वह उसके छिपे सौन्दर्य को उद्घाटित करके उसके आन्तरिक रूप को सामने ला देता है।"[4] वह कहता है कि आत्मा एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह चिरन्तन सत्यो को देखने मे समर्थ हो पाती है। जव उसमे यह शक्ति आ जाती है तव वह दिव्य हो जाती है। "[परित्राण] उस समय तक नही हो सकता जव तक उद्धारित व्यक्तियो का दैवीकरण नही होता। जहा तक सम्भाव्य हो, ईश्वर के साथ तादात्म्य-लाभ करना, उसके साथ एक हो जाना ही दैवीकरण है।"[5] आत्म-शुद्धि, ज्ञान-प्राप्ति और पूर्णत्व-लाभ—ये तीन सोपान रहस्यात्मक जीवन के माने जाते हैं जिनको पार करना तभी सम्भव है जव ईश्वर की गरिमाओ का मनुष्य को पूर्ण ज्ञान हो जाए।[6]

१. 'एक्लिजियास्टिकल हाइरार्की', *VI*, ३। २. वही, *V*।

३. तुलना कीजिए. "इस प्रकार इन्द्रियग्राह्य ससार और बुद्धिग्राह्य ससार, दोनों से ही छूटकर आत्मा एक पवित्र अन्धकार के रहस्यात्मक धुधलके में प्रविष्ट होती है, और विज्ञान की सभी देनों को त्यागकर अपने को उस ईश्वर में विलय कर देती है [illegible] ...सा जा सकता है [illegible] ...आ जा सकता है।" (*I*, ३)। देखिए मैरिटेन लिखित 'द डि[illegible] अग्रेजी [illegible] (१९३७), पृष्ठ १८।

४. मिस्टिक थियोलॉजी, *II*।

५. [illegible] ...१८५ [illegible]।

६. वही, *IV*।

ईसाई प्लेटोवाद या किसी भी रहस्यवादी धर्म की जो केन्द्रीय समस्या है, वह यह है कि ब्रह्म के दो स्वरूपो मे, उसकी दो प्रकार की मान्यताओ मे समझौता किस प्रकार किया जाए। ब्रह्म के विषय मे एक मान्यता तो यह है कि वह निरपेक्ष 'एक' है, निर्गुण है, दूसरी मान्यता यह है कि वह सगुण ईश्वर है, जो जानता है, प्यार करता है और इच्छानुसार रूप धारण कर सकता है। डायोनिसस निरपेक्ष ब्रह्म और प्राणि-नापेक्ष ब्रह्म मे अन्तर करता है। पहले प्रकार का ब्रह्म सभी सर्जित अस्तित्वो और उनकी श्रेणियो से परे, अतीन्द्रिय है, दूसरा ब्रह्म मनुष्य की दृष्टि मे पहले प्रकार के निरपेक्ष, अतीन्द्रिय ब्रह्म का मूर्त्त रूप है, जिसे मनुष्य अपने उच्चतम प्रकार के अनुभव का विषय बना सकता है। 'मिस्टिकल थियोलॉजी' ईश्वर से, जैसाकि वह है, सम्बन्धित है, 'डिवाइन नेम्स' उसके उन आंशिक मूर्त्त रूपो से सम्बन्धित है जिनका अनुभव मनुष्य के द्वारा किया जा सकता है। सत्य की निम्नतम मात्रा को छोडकर, शेष सबके प्रतिबिम्बन का सिद्धान्त डायोनिसस की विचारणा मे आकर बदल जाता है, उसका स्थान एक दैवी 'ईरोज' की गत्यात्मक धारणा ले लेती है, एक प्रेमातिरेक उसका स्थान ले लेता है। प्रेमातिरेक से प्रेरित होकर ईश्वर अपने परमानन्द और स्वतन्त्रता के सहभागियो तथा प्रतिबिम्बो का निर्माण करता है।

"'पिता' आदिम ईश्वर है, किन्तु कहे तो प्रभु ईसा और आत्मा ईश्वर द्वारा आरोपित पौधे है, वे मानो पुष्प है और पवित्र देववाणियो द्वारा प्राप्त ईश्वर-धारित 'स्रष्टा' के अति-अनिवार्य प्रकाश है, किन्तु ये चीजें कैसी है, यह कहना और सोचना सम्भव नही है।"[1]

"ईश्वर का अस्तित्व एक है और उस एक अस्तित्व मे अनेक अस्तित्वो की उत्पत्ति होती है और वही अस्तित्व अनेक रूपो मे अपने को प्रकट करता रहता है, फिर भी उस मूल अस्तित्व मे किसी प्रकार की कोई कमी नही आती, वह अनेकता के मध्य भी एक होकर रहता है, विकास के दौरान भी वह एकीभूत रहता है, विभेद के बीच भी वह पूर्ण रहता है। यह द्विधा अस्तित्व वह निभा पाता है, इसका कारण यह है कि वह सभी अस्तित्वो मे अत्यावश्यक रूप से श्रेष्ठ है तथा पूर्ण का उत्पादन भी अनूठा है एव अपने को नाना रूपो मे वितरित करते हुए भी वह तनिक भी नही छीजता और उसकी धारा अजस्र रूप से प्रवाहित होती ही रहती है।"

वह 'विभक्तो के बीच अविभक्त है, अपने-आपमे एकीभूत है, अनेक मे से अमिश्रित और अगुणित है।"[2] डायोनिसस के विचार पाप के स्वभाव के विषय मे स्पष्ट नही है।

"पाप अस्तित्वहीन है यदि ऐसा न हो, तो पाप पूर्ण रूप मे 'पाप' नही है और न वह अस्तित्वहीन ही है, क्योंकि जो चीज पूर्णत अस्तित्वहीन हो,

१ 'डिवाइन नेम्स'। २. वही, I, पृ० ५४—६।

वह तव तक कुछ नही होगी, जव तक उसे वैसा न कहा जाए, जैसाकि अच्छी अति-अनिवार्यता की स्थिति मे कहा जाता है।"[1]

उसके ग्रन्थो के माध्यम से ईसाइयत ने नवप्लेटोवाद को आत्मसात् कर लिया। वैरन वॉन ह्यूगेल के अनुसार "वे एक ऐसे खजाने वन गए जिनसे सारे मध्ययुग मे रहस्यवादियो ने तथा रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के धर्मशास्त्रियो ने भी अपनी वहुत-कुछ साहित्यिक सामग्री ग्रहण की।"[2]

[२]

जव अरव सेनाए ७३२ ई० मे फासीसी नगर प्वाइटियर्स के पास चार्ल्स मार्टेल के द्वारा हरा दी गई, तव वे स्पेन की ओर पीछे हट गई। इस युद्ध ने इस महान प्रश्न का निर्णय कर दिया कि यूरोप मे ईसाई सभ्यता का चलन जारी रहेगा या इस्लाम का दौरदौरा होगा। यदि ७३२ ई० मे अरवो की विजय हो गई होती, तो यूरोपीय सभ्यता की धारा ही वदल जाती, क्योकि उन दिनो अरव सभ्यता यूरोपीय सभ्यता से वढी-चढी थी। जव ६४२ ई० मे सिकन्दरिया का पराभव हो गया, तव अरवो ने वगदाद, काहिरा और कोरदोवा के स्कूलो मे अपनी सास्कृतिक परम्पराओ को वनाए रखा। वगदाद शहर की स्थापना ७६२ ई० मे हुई। तव से वहा यूनानी और हिन्दू व्यापारियो का आवागमन होने लगा। आठवी शताब्दी मे वगदाद के मुसलमान शासको ने प्लेटो (अफलातून), अरस्तू और प्लॉटिनस आदि यूनानी विचारको के ग्रन्थो का अरवी भापा मे अनुवाद करने को प्रोत्साहित किया था। अरव यात्री भारतीय सभ्यता के प्रति आकर्पित थे। अरवी का महान विद्वान अलवेरूनी गजनी के सुलतान महमूद के भारत-आक्रमण के समय उसके साथ था। उसने भारत के उत्तम धर्मग्रन्थो का ज्ञान प्राप्त किया था। कई धार्मिक तथा अन्य विपयो से सम्वन्धित सस्कृत के ग्रन्थो का अरवी भापा मे अनुवाद हुआ और फिर अरवी से लेटिन मे। भारत से शतरज का खेल तथा पौराणिक आख्यानो और लोक-कथाओ एव भारत मे वनी वहुत सारी चीजो को अरवो ने अपने माध्यम से यूरोप मे पहुचाया। वारहवी शताब्दी का अन्त होते-होते यूरोप को अरस्तू के सभी तार्किक ग्रन्थो का लेटिन अनुवाद उपलव्ध हो गया था। ये अनुवाद स्पेन मे अरवी भापा से हुए, उनके साथ-साथ अरव और यहूदी दार्शनिको द्वारा उन ग्रन्थो पर लिखी हुई टीकाओ का भी अनुवाद लेटिन मे हो

१. वही, IV, १६।

२. 'द मिस्टिकल एलीमेंट्स ऑव् रिलीजन', पृष्ठ ६१। "तथाकथित डायोनिसस के ग्रन्थों में एक ऐसा ज्ञान है, जिसमें याम्व्लिकस के सिद्धान्तों और प्रोक्लस जैसों के सिद्धान्तों के द्वारा ईसाई चर्च के कट्टर धार्मिक सिद्धान्तों को शास्त्रीय रहस्यवाद के रूप में उपस्थित किया गया है और व्यावहारिक जीवन तथा आराधना-पूजा के लिए निर्देश दिए गए हैं। आज की रहस्यात्मक एव पुण्यशील भक्ति, यहा तक कि प्रोटेस्टेंट चर्च की भक्ति भी ऐसे ग्रन्थों से अपना पोपण प्राप्त करती है जिनका सम्वन्ध इनके विभिन्न मध्यवर्ती सोपानों के द्वारा तथाकथित एरिओपैगियाई लोगों से अब भी स्थापित किया जा सकता है।" (हार्नैक, 'हिस्ट्री ऑव् डॉग्मा', खण्ड ?, पृष्ठ ३६?)।

गया। वगदाद के निवासी अल्फअरवी (६५० ई०) और एविसेन्ना (६८०–१०३७ ई०) तथा स्पेन के निवासी अवेरोज़ (११२६–६८ ई०) की पुस्तकें यूरोप मे प्रसिद्ध थी। अरवी ग्रन्थो के माध्यम से ईसाई चर्च मे यूनानी, यहूदी और प्राच्य तत्त्वज्ञान का एक विचित्र मिला-जुला रूप प्रविष्ट हो गया। अरस्तू के आस्तिकवाद का प्रयोग ईसाई धर्म-विश्वास की तैयारी के लिए किया गया। दर्शन-शास्त्र को रूढिनिष्ठता के अधीन वना दिया गया। टॉमस एक्विनास ने डायोनिसस के ग्रन्थो से काफी उद्धरण लिए है। दाते की आनन्दकारी दर्शन की धारणा वैसी ही है जैसी प्लॉटिनस द्वारा प्रतिपादित वुद्धिग्राह्य शव्द की धारणा। वह निस्सरण की धारणा का उपयोग करता है। इस धारणा के अनुसार, उच्च कारण अस्तित्व के क्रम मे अपने उपरान्त आने वाली सत्ता का सृजन करने के वाद भी आत्मनिष्ठ वना रहता है। इस विचार के द्वारा दाते ससार की सृजित वस्तुओ मे पाई जानेवाली विभिन्न मात्रा की पूर्णता का औचित्य सिद्ध करने और उसको समझाने की चेष्टा करता है। शास्त्रीय पद्धति (तार्किक सूक्ष्मताओ एव वौद्धिक ऊहापोह मे लीन पद्धति) पूरी तरह विकसित हो भी नही पाई थी कि वह भीतर ही भीतर टूटने भी लगी। टॉमस एक्विनास के वाद हुआ जॉन डन्स स्कोटस। उसीके कुछ वाद ऑकहम का विलियम आया और पाण्डित्यवाद (तर्कमयी सूक्ष्मता की भावना) उन शताब्दियो मे पनप उठी जव यूनानी विचारणा अपने मूल स्रोतो के रूप मे अविज्ञात थी। वैज्ञानिक शोध-सम्वन्धी उत्साह के साथ-साथ जव यूनानी एव लेटिन शास्त्रीय ग्रन्थो के अध्ययन की ओर भी लोगो की प्रवृत्ति जागृत हुई, तव प्लेटोवाद का तेजी के साथ विकास हुआ।

रहस्यवाद के हिन्दू, पारसीक और ईसाई रूपो मे वहुत समानताए है, इसके लिए यही कारण दिया जा सकता है कि इनका विकास एक जैसा हुआ। सूफियो के रहस्यवाद मे मुहम्मद की खुदा मे पैगम्वरी आस्था तो है ही, किन्तु उसके साथ उसमे वेदान्त का ज्ञान और योग की आध्यात्मिक साधना भी है। यद्यपि इस्लाम की पृष्ठभूमि भूमध्यसागरीय सस्कृति है जिसमे पाश्चात्य सभ्यता का भी सूत्रपात हुआ, और यूनानीवाद (हेलेनिज्म) के प्रभाव मे इस्लाम का विकास हुआ तथा इसने मध्ययुगीन ससार को यूनानीवाद की व्याख्या करके समझाया, तथापि ईसाइयत ने धर्मनिन्दक काफिर कहकर इस्लाम के अनुयायियो की निन्दा की और आनेवाली कई शताब्दियो तक पूर्व और पश्चिम का आदान-प्रदान केवल युद्ध-क्षेत्र मे ईसाई-जगत् और इस्लाम की सेनाओ के सघर्ष के रूप मे ही सीमित रहा।

डायोनिसस ने रहस्यात्मक कल्पनाओ एव अनुमानो का आरम्भ किया, परन्तु इससे रूढिपथी लोगो को वडी परेशानी हुई, क्योकि स्कोटस एरिगेना के प्रभाव के कारण उनका प्रभाव घटने लगा। जॉन स्कोटस एरिगेना (नवी शताब्दी) को मध्यकाल का सर्वाधिक पाण्डित्यपूर्ण तत्त्वज्ञानी माना जा सकता है। यद्यपि वह आयरिश था, तथापि विचारो की दृष्टि से उसका सम्वन्ध पूर्वीय ईसाइयत से है। उसने न केवल एरिओपैगाई डायोनिसस के ग्रन्थो का लेटिन मे अनुवाद किया, वरन् उसने उसके सिद्धान्तो को सरल ढग से लोगो को समझाने और उनको सुसम्बद्ध तत्त्वज्ञान के रूप

मे प्रस्तुत करने के कार्य मे अपने को जुटा दिया। उसे लोग न केवल एक उत्तरकालीन नवप्लेटोवादी ही समझने लगे, वरन् तार्किक पण्डितो मे से प्रथम भी मानने लगे। उसके महान ग्रन्थ 'डी डिविजने नेचुराई' की १२२५ ई० मे पोप होनोरियस तृतीय ने निन्दा की और उसे (ग्रन्थ को) जला देने की आज्ञा दे दी। अपने इस ग्रन्थ मे उसने प्रकृति का, या जिसे हम सत्य या वास्तविकता कह सकते हैं, वर्गीकरण करते हुए उसे चार वर्गों मे विभक्त किया है—(१) वह प्रकृति जो रचना करती है, परन्तु स्वय-रचित नही होती, (२) वह प्रकृति जो रचना करती है और रचित भी होती है, (३) वह प्रकृति जो रचित होती है, परन्तु स्वय रचना नही करती, (४) वह प्रकृति जो न रचना करती है, न रचित होती है। ये चारो चार अलग चीजें या श्रेणिया नही हैं, वल्कि एक ससार-प्रक्रिया के चार पक्ष या सोपान हैं। पहला पक्ष ईश्वर को जगत् के सार-तत्त्व के रूप मे प्रस्तुत करता है, विश्व का अन्तिम आधार वताता है, द्वितीय पक्ष ईश्वरीय विचारो या प्रथम कारणों की ओर सकेत करता है, तृतीय पक्ष सर्जित ससार से सम्बन्धित है और अन्तिम पक्ष ईश्वर को सभी वस्तुओं की परमगति के रूप मे प्रस्तुत करता है। केवल ईश्वर का अस्तित्व ही सच्चा अस्तित्व है। ईश्वर ही सभी वस्तुओ का आदि और अन्त है, क्योकि सभी वस्तुए उसके सार-तत्त्व मे हिस्सा वटाती हैं, उसीमे और उसीके द्वारा स्थित रहती है और अपनी अन्तिम गति के रूप में उसीकी ओर वढती है। एक अर्थ मे ईश्वर सभी वस्तुओ मे समाया हुआ है, फिर भी वह कुछ नही है, क्योकि उसका सार-तत्त्व सभी प्रकार के सकल्प का अतिक्रमण कर जाता है और उसकी अभिव्यक्ति नही की जा सकती। दैवी अस्तित्व (ईश्वर) सब सम्भव धारणाओ का अतिक्रमण कर जाता है। त्रिगुट-सम्बन्धी धारणा को स्कोटस एरिगेना ने प्रतीकात्मक माना है। इस निर्विकार सार-तत्त्व मे मे विचारों के जगत् का शाश्वत रूप से सृजन होता है। यह वह 'शब्द' या 'ईश्वर का पुत्र' है जिसमे सारी वस्तुए ठोस अस्तित्व रखने तक स्थित रहती हैं। ईश्वर मे जो आदर्श व्यवस्था शाश्वत रूप से अन्तर्निहित रहती है, उसीकी वाह्य अभिव्यक्ति यह सृष्टि है। समस्त अस्तित्व अपने दृश्य रूप मे ईश्वर का मूर्त्त रूप है। मनुष्य की आत्मा ईश्वर की प्रतिच्छाया है। एरिगेना ऑरिगेन के सार्वभौमवाद को पुन जागृत करता है और देवदूत के स्वर्ग से पतन की घटना ('फाल') को पूर्व-ब्रह्माण्डीय समझता है।

एरिगेना की शिक्षाओ को धर्म-विरोधी एव नास्तिक कहकर निन्दा की गई, उसके वाद उसका कोई शिष्य भी नही हुआ जो उसकी शिक्षाओ का प्रचार करता। दसवी शताब्दी एक प्रकार का अन्ध-युग थी, और जब ग्यारहवी शताब्दी मे दार्शनिक सूक्ष्म चिन्तन का ऊहापोह आरम्भ हुआ तव सार्वभौम सत्ता के स्वभाव के विषय मे शास्त्रीय झगडो को प्रधानता मिल गई। पीटर ऐवेलार्ड (मृत्यु ११४२ ई०) वारहवी शताब्दी का सवसे प्रसिद्ध नैयायिक (तार्किक) था। उसने माना है कि त्रिगुट-सम्बन्धी ईसाई-सिद्धान्त का अग्रिम रूप प्लेटो ने उपस्थित किया था। प्लेटो जिसको 'एक' कहता है वह ईसाई धर्म मे 'पिता' कहलाता है, उसका जो 'नाउज' है, वह ईसाइयत में 'पुत्र'

है और प्लेटो का विश्वात्मा यहा स्रष्टा या ईश्वर ('होली घोस्ट') है। ऐवेलार्ड ने ईसाइयत और प्लेटोवाद में सामजस्य लाने की चेष्टा की।

सेंट विक्टर के ईसाई-मठ मे, ह्यूगो और रिचर्ड ने सेंट ऑगस्टाइन की शिक्षाओ के रहस्यात्मक पक्ष का विकास किया। सेंट विक्टर का ह्यूगो कहता है "ईश्वर की ओर चढने का रास्ता है अपने भीतर की ओर उतरना।" सेंट विक्टर के रिचर्ड का कथन है "आत्मा के द्वारा आत्मा पर विजय पाना ही उत्थान है।" वह आगे कहता है · "जो व्यक्ति ईश्वर के दर्शनो का प्यासा है, उसे चाहिए कि वह अपने दर्पण को स्वच्छ कर ले, अपनी आत्मा को चमचमा ले।" दोनो ही सत्य का साक्षात्कार करने के लिए चरमोल्लासमय ध्यान-चिन्तन को आवश्यक मानते हैं।

सेंट बोनावेन्चर ने नवप्लेटोवादी परम्परा को जारी रखा। उसकी दृष्टि मे आत्मा मानवीय ज्ञान का केन्द्र तथा आरम्भ-बिन्दु है। आत्मा और ईश्वर का ज्ञान इन्द्रियो की सहायता के बिना ही प्राप्त हो जाता है। प्राणियो के मन मे उद्भूत दैवी विचारो के बुद्धिग्राह्य प्रतिबिम्बो के द्वारा हम ईश्वरीय ज्ञान को उपलब्ध करते हैं। प्रतिबिम्बो के इस श्रेणी-क्रम मे प्रत्येक वस्तु एक प्रतीक है और अपने से उच्च सत्ता के सदृश है। ईश्वर के उच्चतम रहस्यात्मक बोध को प्लॉटिनस की भावना के अनुसार वर्णन किया गया है, हालाकि यह माना गया है कि ईश्वर का रहस्यात्मक बोध भी ईश्वर के उन्मुक्त अनुग्रह के दान से ही हो सकता है और उसको प्राप्त करना मनुष्य की स्वाभाविक शक्ति से परे है।

इस युग का दूसरा महान रहस्यवादी था अलबर्टस मैगनस। उसने डायोनिसस की परम्परा का अनुगमन किया। वह जीवन का उद्देश्य ईश्वर के साथ एकता की प्राप्ति बतलाता है। अन्तर्मुखी ध्यान-चिन्तन के द्वारा ही यह एकत्व-लाभ हो सकता है। साधारण जीवन मे मन उसमे निमग्न रहता है जो इन्द्रियगम्य रूप धारण करके अपने वास्तविक स्वरूप मे नही होता। यदि हम अपने मन को समस्त इन्द्रियग्राह्य, बाह्य और गोचर वस्तुओ से अलग हटा लें, तो यह शुद्ध-बुद्धि के माध्यम से दैवी तत्त्व (ईश्वर) के साथ एकता पाने के पथ पर अग्रसर होने लगता है।[1]

'जब तू प्रार्थना करे, तो अपना द्वार—अपनी ज्ञानेन्द्रियो के दरवाजे—बन्द कर ले। उनको खूब कस कर बन्द कर ले, उनकी साकलें चढा दे, ताकि मिथ्याभास और प्रतिबिम्ब भीतर प्रवेश न पा सकें। सभी प्रकार की

[1] यह महान धर्म-गुरु जो सेंट टॉमस एक्विनास का गुरु था, ऐसे सिद्धान्तों का उपदेश करता है जो 'विशेषत भारतीय हैं।' (केनेडी : "द गॉस्पेल्स ऑव् द इन्फैन्सी', जर्नल ऑव् द रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑव् इण्डिया, १९१७, पृ० २१०)।" "यह तत्त्वदर्शन जिसे गैर-ईसाइयों (जेन्टाइल्स) के साथ-साथ अलबर्टस भी मानता था, किस स्रोत से आया था? उसने इसे अरबी माध्यम से प्राप्त किया, किन्तु वह अन्त स्फूर्त ज्ञान या परमोल्लास न था जिसका प्रतिपादन प्लॉटिनस ने किया था। मैं यह नहीं कह सकता कि किसी भी उत्तरकालीन नवप्लेटोवादी में या [illegible] अध्यात्मविदों की नूतन कल्पनाओं में यह पाया जाता है या नहीं; परन्तु ये विचार स्पष्ट रूप से भारतीय हैं और भारत में ही ये परिवर्तन [illegible] होंगे।" (वही, पृ० २१२)।

वासनाओ और चचलताओ से विमुक्त मन ईश्वर को जितना प्रसन्न करता है, उतनी और कोई चीज़ नही। इस प्रकार का मन एक प्रकार ईश्वर में रूपान्तरित हो जाता है, क्योकि वह ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसीका चिन्तन नही कर सकता, उसके अतिरिक्त किसी और को समझ नही सकता और ईश्वर के अलावा वह किसी अन्य को प्रेम नही कर सकता। जो व्यक्ति अपने अत करण मे प्रविष्ट हो जाता है और इस तरह अपने से श्रेष्ठतर हो जाता है, वह सच ही ईश्वरत्व की ओर अग्रसर होने लगता है।"

सेंट टॉमस एक्विनास (१२२७–७४ ई०) अलवर्टस मैगनस का शिष्य था। अपने जीवन के अन्तिम वर्षो मे उसने एक लम्वी समाधि-दशा का अनुभव किया, अत उसने उसके वाद कुछ भी लिखने से इन्कार कर दिया, हालाकि उसके निजी सचिव रेजिनाल्ड ने उससे इसके लिए वार-वार अनुरोध किए।[1] हम तभी तक उपदेश देते और वात करते हैं जव तक हम अनुभव करते या उपासना करते हैं। रहस्यवादी परम्परा को महान जर्मन रहस्यवादी एकहार्ट और टौलर, स्पेनवासी सेंट थेरेसा और सेंट जॉन आव् द क्रॉस तथा इग्लैण्डवासी प्लेटोवादियो तथा अन्यो ने जारी रखा।

[३]

भारतीय वाजार के लिए यूरोपीय राष्ट्रो मे १४९८ ई० मे सघर्ष प्रारम्भ तव हुआ, जव वास्को-डि-गामा ने भारत आने के लिए समुद्री मार्ग की खोज की और जव १५०९ ई० मे पुर्तगालियो ने गोआ पर अधिकार कर लिया। यूरोपीय राष्ट्र पूर्व के

१. रावर्ट व्रिजेज़ ने 'द टेस्टामेंट ऑव् ब्यूटी' (१९३०) में इस घटना का वर्णन किया है—
"मुझे यह अनुमान करते प्रसन्नता होती है कि 'मास' (पूजा-समारोह) के समय उसको जो
दिवा-स्वप्न आया,
—नेपुल्स में यह तव हुआ जव अचानक उसे समाधि लग गई—
वह उसकी मनुष्यता की किंचित् वन्धन-मुक्ति थी।
क्योंकि उसके वाद तो, चाहे वह अरस्तू रहे हों या क्राइस्ट,
जिन्होंने उस समय उसे दर्शन दिए थे, उसने फिर कभी कोई शब्द नहीं लिखा,
न किसीको वोलकर ही लिखाया, वरन् दवात और कलम उठाकर रख दी,
और जव रेनाल्डस ने वड़े उत्साह और आग्रह से
तथा मित्रता की घनिष्ठता के साथ, उसको यह स्मरण कराया कि उसे अपनी अधूरी पुस्तक
'सुम्मा' को पूरा करना है,
तव एक नि:श्वास लेकर उसने उत्तर दिया—
'वेटे मेरे, मैं तुझे एक गोपनीय वात वताऊंगा, पर तुझे मना करता हूँ
कि मेरे जीते-जी किसी अन्य से तू मत कह देना।
मुझे जो लिखना था लिख चुका। मैंने कुछ ऐसे रहस्य-दर्शन किए हैं इस वीच
कि मैंने जो कुछ लिखा और सिखाया है, वह मुझे महत्त्वहीन लगने लगा है
और इसीलिए मैं अपने ईश्वर से यह आशा करता हूँ कि
सिद्धान्त की तरह ही जीवन का भी शीघ्रता से अन्त हो जाएगा।'"

किसी आध्यात्मिक या मानवीय गुण से आकर्षित होकर उसकी ओर नही खिचे, वरन् स्वर्ण की इच्छा और उसे अपने माल का खरीदार बनाने की उनकी कामना उन्हे भारत की ओर खीच लाई। कोलम्बस भी चला तो था भारत को खोजने, पर अनजाने ही उसने अमेरिका को खोज निकाला। भारत एक ऐसा पुरस्कार बन गया जिसको हस्तगत करने के लिए साम्राज्यवादियो मे होड लग गई। भारत को अपने अधिकार मे रखने के लिए पुर्तगालियो, स्पेनियो, डचो, फ्रासीसियो और अग्रेजो मे परस्पर युद्ध हुए, और इनका अन्त तब हुआ जब १७६१ ई० मे अग्रेजो को निर्णायक विजय प्राप्त हो गई। इसी अवधि के बाद से भारतीय साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन का कार्य आरम्भ हुआ। वारेन हेस्टिग्स ने प्रशासनिक प्रयोजनो के लिए प्राचीन भारतीय विधि-सहिताओ का अध्ययन उपयोगी पाया। सन् १७८५ ई० मे चार्ल्स विलकिन्स ने भगवद्गीता का एक अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया जिसकी प्रस्तावना वारेन हेस्टिग्स ने लिखी थी, उसमे उसने कहा था कि भगवद्गीता की तरह के ग्रन्थ 'तब भी बचे रहेगे जब भारत मे अग्रेजी उपनिवेश का कही नाम-निशान भी न रहेगा और इसके जिन स्रोतो से धन तथा शक्ति प्राप्त हुई थी, उनकी याद भी शेष न रहेगी।' विलियम जोन्स ने १७८९ ई० मे कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक का अपना अग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। अग्रेजी से इसका अनुवाद जर्मन मे जॉर्ज फोर्स्टर ने किया। हर्डर तथा गेटे जैसे विद्वानो ने इस अनुवादित पुस्तक का जोरदार स्वागत किया। यद्यपि अग्रेजो ने ही भारत के आध्यात्मिक खजानो से यूरोप को परिचित कराया, और यह स्वाभाविक भी था, तो भी जर्मन विद्वानो ने शीघ्र ही प्राच्य विद्या के कार्य को अपने हाथो मे उठा लिया।[1] भारतीय विद्या-शास्त्र के अध्ययनो के लिए जर्मनी ने ही सबसे पहले प्रेरणा दी, स्वच्छन्दतावादी जर्मन विद्वान फ्रेडरिक श्लेगेल ने अपनी पुस्तक 'द लैग्वुएज एण्ड विजडम ऑव् द इण्डियन्स' के द्वारा, जिसका प्रकाशन १८०८ ई० मे हुआ, इस दिशा मे पहल की। ऑगस्ट विलहेल्म वॉन श्लेगेल ने, जो सन् १८१८ ई० मे बोन मे सस्कृत के प्रथम प्राध्यापक नियुक्त हुए, सन् १८२३ मे 'गीता' का सपादन किया। 'गीता' का जर्मन भाषा मे पहला अनुवाद १८०२ ई० मे हुआ। विलहेल्म वॉन् हम्बोल्ट पर इस पुस्तक का बडा प्रभाव पडा, उसने कहा कि "महाभारत की यह घटना सबसे अधिक सुन्दर है, नही, कदाचित् यह अकेली ऐसी दार्शनिक कविता है जिसकी तुलना की दूसरी कोई वस्तु हमारे सुपरिचित साहित्यो मे नही है।"[2] उसने 'प्रोसीडिंग्स ऑव् द एकेडेमी ऑव् बर्लिन' (१८२५–६) मे एक लम्बा प्रबन्ध इस पुस्तक के विषय मे लिखा।

शॉपेनहावर ने उपनिषदो की विचारणा से परिचय प्राप्त किया। उनके एक

१ तुलना कीजिए, हेने · "वर्ष प्रतिवर्ष पुर्तगाली, डच और अग्रेज अपने बड़े जहाजों में भर-भरकर भारत के खजानों को अपने देशों में भेजते रहे है। हम जर्मन केवल इनको चुपचाप देखते रहे है। आज श्लेगेल, बाप्प, हम्बोल्ट, फ्रैंक इत्यादि हमारे पूर्वीय भारतीय नाविक है। बोन और म्यूनिक अच्छे कारखानों का काम देंगे।"

२. फ्रेडरिक वॉन गेन्ट्ज़ का १८२७ ई० में लिखा पत्र।

वासनाओ और चचलताओ से विमुक्त मन ईश्वर को जितना प्रसन्न करता है, उतनी और कोई चीज नही। इस प्रकार का मन एक प्रकार ईश्वर में रूपान्तरित हो जाता है, क्योकि वह ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसीका चिन्तन नही कर सकता, उसके अतिरिक्त किसी और को समझ नही सकता और ईश्वर के अलावा वह किसी अन्य को प्रेम नही कर सकता। जो व्यक्ति अपने अत करण मे प्रविष्ट हो जाता है और इस तरह अपने से श्रेष्ठतर हो जाता है, वह सच ही ईश्वरत्व की ओर अग्रसर होने लगता है।"

सेंट टॉमस एक्विनास (१२२७–७४ ई०) अलवर्टस मैगनस का शिष्य था। अपने जीवन के अन्तिम वर्षो मे उसने एक लम्बी समाधि-दशा का अनुभव किया, अत उसने उसके वाद कुछ भी लिखने से इन्कार कर दिया, हालाकि उसके निजी सचिव रेजिनाल्ड ने उससे इसके लिए वार-वार अनुरोध किए।[1] हम तभी तक उपदेश देते और वात करते हैं जव तक हम अनुभव करते या उपासना करते हैं। रहस्यवादी परम्परा को महान जर्मन रहस्यवादी एकहार्ट और टौलर, स्पेनवासी सेंट थेरेसा और सेंट जॉन आव् द क्रॉस तथा इग्लैण्डवासी प्लेटोवादियो तथा अन्यो ने जारी रखा।

[३]

भारतीय वाजार के लिए यूरोपीय राष्ट्रो मे १४९८ ई० मे सघर्ष प्रारम्भ तव हुआ, जव वास्को-डि-गामा ने भारत आने के लिए समुद्री मार्ग की खोज की और जव १५०९ ई० मे पुर्तगालियो ने गोआ पर अधिकार कर लिया। यूरोपीय राष्ट्र पूर्व के

१. रावर्ट ब्रिजेज ने 'द टेस्टामेंट ऑव् ब्यूटी' (१९३०) में इस घटना का वर्णन किया है—
"मुझे यह अनुमान करते प्रसन्नता होती है कि 'मास' (पूजा-समारोह) के समय उसको जो
दिवा-स्वप्न आया,
—नेपुल्स में यह तव हुआ जव अचानक उसे समाधि लग गई—
वह उसकी मनुष्यता की किंचित् वन्धन-मुक्ति थी:
क्योंकि उसके वाद तो, चाहे वह अरस्तू रहे हों या क्राइस्ट,
जिन्होंने उस समय उसे दर्शन दिए थे, उसने फिर कभी कोई शब्द नहीं लिखा,
न किसीको वोलकर ही लिखाया, वरन् दवात और कलम उठाकर रख दी,
और जव रेनाल्डस ने वडे उत्साह और आग्रह से
तथा मित्रता की घनिष्ठता के साथ, उसको यह स्मरण कराया कि उसे अपनी अधूरी पुस्तक
'सुम्मा' को पूरा करना है;
तव एक निःश्वास लेकर उसने उत्तर दिया—
'वेटे मेरे, मैं तुझे एक गोपनीय वात वताऊंगा, पर तुझे मना करता हूँ
कि मेरे जीते-जी किसी अन्य से तू मत कह देना।
मुझे जो लिखना था लिख चुका। मैने कुछ ऐसे रहस्य-दर्शन किए हैं इस वीच
कि मैंने जो कुछ लिखा और सिखाया है, वह मुझे महत्त्वहीन लगने लगा है
और इसीलिए मैं अपने ईश्वर से यह आशा करता हूँ कि
सिद्धान्त की तरह ही जीवन का भी शीघ्रता से अन्त हो जाएगा।'"

किसी आध्यात्मिक या मानवीय गुण से आकर्षित होकर उनकी ओर नहीं खिंचे, वरन् स्वर्ण की इच्छा और उसे अपने माल का खरीदार बनाने की उनकी कामना उन्हें भारत की ओर खींच लाई। कोलम्बस भी चला तो था भारत को खोजने, पर अनजाने ही उसने अमेरिका को खोज निकाला। भारत एक ऐसा पुरस्कार बन गया जिसको हस्तगत करने के लिए साम्राज्यवादियों में होड़ लग गई। भारत को अपने अधिकार में रखने के लिए पुर्तगालियों, स्पेनियों, डचों, फ्रांसीसियों और अंग्रेजों में परस्पर युद्ध हुए, और इनका अन्त तब हुआ जब १७६१ ई० में अंग्रेजों को निर्णायक विजय प्राप्त हो गई। इसी अवधि के बाद से भारतीय साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन का कार्य आरम्भ हुआ। वारेन हेस्टिंग्स ने प्रशासनिक प्रयोजनों के लिए प्राचीन भारतीय विधि-संहिताओं का अध्ययन उपयोगी पाया। सन् १७८५ ई० में चार्ल्स विलकिन्स ने भगवद्गीता का एक अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया जिसकी प्रस्तावना वारेन हेस्टिंग्स ने लिखी थी, उसमें उसने कहा था कि भगवद्गीता की तरह के ग्रन्थ 'तब भी बचे रहेंगे जब भारत में अंग्रेजी उपनिवेश का कहीं नाम-निशान भी न रहेगा और इसके जिन स्रोतों से धन तथा सम्पत्ति प्राप्त हुई थी, उनकी याद भी शेष न रहेगी।' विलियम जोन्स ने १७८९ ई० में कालिदास के 'शकुन्तला' नाटक का अपना अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित कराया। अंग्रेजी से इसका अनुवाद जर्मन में जॉर्ज फोर्स्टर ने किया। हर्डर तथा गेटे जैसे विद्वानों ने इस अनुवादित पुस्तक का जोरदार स्वागत किया। यद्यपि अंग्रेजों ने ही भारत के आध्यात्मिक खजानों से यूरोप को परिचित कराया, और यह स्वाभाविक भी था, तो भी जर्मन विद्वानों ने शीघ्र ही प्राच्य विद्या के कार्य को अपने हाथों में उठा लिया।[1] भारतीय विद्या-शास्त्र के अध्ययनों के लिए जर्मनी ने ही सबसे पहले प्रेरणा दी, स्वच्छन्दतावादी जर्मन विद्वान फ्रेडरिक श्लेगेल ने अपनी पुस्तक 'द लैंग्वेज एण्ड विजडम ऑव् द इण्डियन्स' के द्वारा, जिसका प्रकाशन १८०८ ई० में हुआ, इस दिशा में पहल की। ऑगस्ट विलहेल्म वॉन श्लेगेल ने, जो सन् १८१८ ई० में बोन में संस्कृत के प्रथम प्राध्यापक नियुक्त हुए, सन् १८२३ में 'गीता' का संपादन किया। 'गीता' का जर्मन भाषा में पहला अनुवाद १८०२ ई० में हुआ। विलहेल्म वॉन् हम्बोल्ट पर इस पुस्तक का बड़ा प्रभाव पड़ा, उसने कहा कि "महाभारत की यह घटना सबसे अधिक सुन्दर है, नहीं, कदाचित् यह अकेली ऐसी दार्शनिक कविता है जिसकी तुलना की दूसरी कोई वस्तु हमारे सुपरिचित साहित्यों में नहीं है।"[2] उसने 'प्रोसीडिंग्स ऑव् द एकेडेमी ऑव् बर्लिन' (१८२५–६) में एक लम्बा प्रबन्ध इस पुस्तक के विषय में लिखा।

शोपेनहावर ने उपनिषदों की विचारणा से परिचय प्राप्त किया। उनके एक

१ तुलना कीजिए, रेने० "वारेन हेस्टिंग्स, [illegible] अपने बड़े अहातों में [illegible] भारत के खजानों को [illegible] [illegible] [illegible] भारतीय साहित्य [illegible] [illegible] [illegible]।"

२. फ्रेडरिक वान गेन्ट्ज को १८२७ ई० में लिखा पत्र।

लेटिन अनुवाद के द्वारा, जिसे एक फ्रासीसी ऐंक्वेटिल डुयेरॉन ने फारसी से प्रस्तुत किया था। उसकी स्तुति तो प्रसिद्ध ही है "और ओह! मन मे पहले से ही जमे यहूदी अन्ध-विश्वासो को धो-पोछकर इसने उसको कितना स्वच्छ बना दिया! इस पुस्तक का अध्ययन (मूल श्लोको को छोड दें तो) ससार की किसी भी पुस्तक के अध्ययन से अधिक सरल है एव उदात्त भावना से परिपूर्ण है। इसने मुझे जीवन मे शान्ति प्रदान की है, यह मुझे मृत्यु मे भी शान्ति प्रदान करेगी।"[1] शॉपेनहॉवर पर बौद्ध आदर्शों का भी बहुत प्रभाव पडा था। जर्मनो का अनुभवातीत सत्यवाद शॉपेन-हॉवर, हार्टमान और नीत्शे के माध्यम से भारतीय विचारणा द्वारा प्रभावित हुआ था। रिचर्ड वैगनर का बौद्ध आदर्शों से परिचय शॉपेनहॉवर की पुस्तको के द्वारा ही हुआ। एक बौद्ध उपाख्यान के फ्रेंच अनुवाद के आधार पर ही उसने अपना 'पार्सिफल' लिखा था। वैगनर ने १८५७ ई० मे मैथिल्डे वेसेनडॉन्क को लिखा था "आप जानते हैं कि मै किस प्रकार अवचेतन रूप से बौद्ध हो गया हू।" आगे उसने लिखा था "हा, मेरे बच्चे, यह एक सार्वभौम विचार है जिसकी तुलना मे अन्य किसी भी धर्म का सिद्धान्त छोटा और सकुचित लगना ही चाहिए।"[2] हेने हालाकि सेमेटिक धर्म को माननेवाला था, पर उसके सम्बन्ध मे ब्रैन्डीज का दावा है कि "उसका आध्यात्मिक घर तो गगा के तट पर ही था।"[3] नौमान ने बौद्ध धर्म-ग्रन्थो का जर्मन भाषा मे अनुवाद किया और उसके अनुवादो के माध्यम से बौद्ध धर्म जर्मनी मे लोकप्रिय हो

१. पैरेर्गा, II, पृ० १८५, वैलेस द्वारा लिखित 'शॉपेनहॉवर', पृ० १०६ से उद्धृत।

२. ब्रुनहिल्ड वैगनर के 'ट्विलाइट ऑव् द गॉड्स', पृ० १०६ पर कहता है:

"जानता है तू, मैं कहा जा रहा हूँ?
इच्छा के घर के बाहर मैं निकल जाता हूँ,
माया के घर से मैं सदा के लिए भाग छूटता हूँ
चिरन्तन सम्भव्यता के द्वार खुल गए हैं,
पुनर्जन्म से मुक्ति मिल गई है मुझे।
जो उसे जानता है, उसमें से होकर चला जाता है।"

विंटरनित्ज द्वारा लिखित 'इण्डिया एण्ड द वेस्ट', विश्वभारती क्वार्टरली, फरवरी १९३७, पृ० १९ में उद्धृत।

३ 'मेन करेन्ट्स आव् यूरोपियन लिटरेचर', खण्ड I, पृ० १२६, ऐमिएल ने उल्लेख किया है कि उसमें कुछ हिन्दुत्व की भावना है। वह लिखता है: "हिन्दू प्रतिभा के साथ मेरा बहुत लगाव है। हिन्दू मन विशाल है, कल्पनाशील है, प्रेमिल, स्वप्निल और आनुमानिक है, किन्तु उसमें महत्त्वाकाक्षा, व्यक्तित्व और इच्छा से विहीन है। सर्वेश्वरवादी निस्पृहता, महत्तरपूर्ण सत्ता में आत्मा का विलयन, नारी-सुलभ कोमलता, जीव-हत्या के प्रति भय, कर्म के प्रति विरक्ति—ये सभी बातें मेरे स्वभाव मे मौजूद हैं—कम से कम स्वभाव में तो हैं ही, जो आयु और परिस्थितियों के साथ-साथ विकसित हुआ है। फिर भी, पश्चिम का कुछ अश भी मुझमें है। एक चीज जिसको मैं किसी प्रकार नहीं गले उतार पाया हू, वह है किसी विशेष रूप-रग, राष्ट्रीयता या व्यक्तित्व के प्रति पूर्वाग्रह। यही कारण है कि मैं अपने ही व्यक्तित्व, अपने ही लाभ, हित या सामयिक विषयों के सम्बन्ध में सम्मति देने के बारे में इतना अन्यमनस्क हूँ। परन्तु इस सबका महत्त्व क्या है?" (जर्नल, पृ० १५९, १६१, २२४)। वह कहता है: "यह कोई बुरी बात नहीं है कि पाश्चात्य जगत् के मानव को निगल जाने वाले कार्यों के बीच ब्राह्मणत्व से युक्त कुछ आत्माए भी बनी रहें।" (पृ० २६९)।

गया। उपनिषदो तथा अन्य पाण्डित्यपूर्ण भारतीय ग्रन्थो के जो अनुवाद पॉल ड्यूसेन ने किए, वे जर्मनी मे अध्यात्म विषय के श्रेष्ठ एव शास्त्रीय ग्रन्थ बन गए।

मिशेलेट ने वाल्मीकि 'रामायण' के विषय मे लिखते हुए १८६४ ई० मे कहा था . "जो भी बहुत काम करने से या चिन्तन करने से थक गया हो, उसको चाहिए कि उस गहरे प्याले से जीवन और यौवन की एक बडी घूट पी डाले । 'पश्चिम मे सारी चीजें सकुचित दिखाई देती हैं—यूनानी धर्म तो छोटा और दमघोटक जान पडता है , जूडाई धर्म तो शुष्क है और मेरी तो उससे सास फूलने लगती है। मुझे तो महान एशिया, परिपूर्ण पूर्व पर एक दृष्टि डाल लेने दो '।" कॉम्टे का प्रत्यक्षवाद (पॉजिटिविज्म) और कुछ नही, वह बौद्ध धर्म ही है जिसे आधुनिक सभ्यता के अनुसार अपना लिया गया है , यह हल्के आवरण मे छिपा बौद्ध धर्म ही है ।"[1]

एडविन आर्नल्ड की 'लाइट ऑव् एशिया' पुस्तक ने इग्लैण्ड और अमेरिका मे काफी उत्साह जागृत किया। अमेरिका के थोरो, एमर्सन और वाल्ट ह्विटमैन के विचारो पर भारतीय विचारणा का प्रभाव दिखाई देता है । थोरो कहता है "वाल्डेन का शुद्ध जल गगा के पवित्र जल मे ओतप्रोत है ।" एमर्सन जिसे 'ओवरसोल' कहता है, वह उपनिषदो का 'परमात्मन्' ही है । ह्विटमैन सभ्यता की जटिलताओ से बचने की चिंता मे और दिग्भ्रमित बुद्धिवाद से घबराकर पूर्व की ओर आशा-भरी दृष्टि मे देखता है । इर्विंग बैबिट के मानववाद और पॉल एलमर मोर की कृतियो पर भारतीय विचारणा का गहरा प्रभाव पड़ा दिखाई देता है ।

मेटरलिंक पूर्वी सभ्यता को मानव-मस्तिष्क का 'पूर्वी खण्ड' और पश्चिमी सभ्यता को 'पश्चिमी खण्ड' कहता है और दोनो की कमियो की आलोचना करता है .

> "एक यह (पश्चिमी खण्ड) बुद्धि, विज्ञान और चेतनता को उत्पन्न करता है , दूसरा वह (पूर्वी खण्ड) अन्त स्फूर्तज्ञान, धर्म और उपचेतन को उदित करता है ।…एकाधिक बार इन दोनो खण्डो ने एक-दूसरे मे प्रविष्ट होने की, घुलने-मिलने की और साथ-साथ काम करने की चेष्टा की है , परन्तु 'पश्चिमी खण्ड' ने जो इस ससार मे कुछ अधिक सक्रिय विस्तार पा गया है, 'पूर्वी खण्ड' के सारे प्रयत्नो को निष्क्रिय बना दिया है, विफल कर दिया है । इसने भौतिक विज्ञानो के क्षेत्र मे असाधारण प्रगति करने का हमे अवसर दिया है किन्तु जैसी तबाही और अस्तव्यस्तता की स्थिति मे से हम आज गुजर रहे हैं, उसमें हमें ला पटकने का उत्तरदायित्व भी इसी पर है ।… अब समय आ गया है कि हम अपने निष्क्रिय हो गए 'पूर्वी खण्ड' को चैतन्य बनावें ।"

रोम्या रोला ने, जिनपर भारतीय विचारणा का गहरा प्रभाव पडा है, लिखा है .

> "यूरोप में हम-जैसे कुछ लोग हैं जिनको यूरोपीय सभ्यता पूर्ण आत्मतोष नहीं दे सकती ।"

१. देखो : 'प्रॉमिनेन्स ऑफ इंडिया' (१८८४), पृ० ३ ।

केमरलिंग जिनकी कृतियो मे पूर्व की आत्मा बोलती है, कहते हैं

> "यूरोप मे ऐसी कोई चीज नही जिसकी प्रतिक्रिया अब मुझपर होती हो। यह ससार मेरे लिए इतना परिचित है कि मेरे अस्तित्व को यह कोई नया स्वरूप नही दे सकता यह बहुत अधिक सीमित है। सारा का सारा यूरोप आजकल एक-जैसे मन का हो गया है। मैं ऐसे लोक मे पहुच जाना चाहता हू जहा मेरा जीवन, यदि इसे अपने को बचाना हो, रूपान्तरित हो सके।"

आयरलैण्ड मे जो साहित्यिक पुनर्जागरण हुआ, जिसके केन्द्रीय व्यक्ति डब्ल्यू० बी० यीट्स और जॉर्ज डब्ल्यू० रसेल (ए० ई०) हैं, वह पूर्वीय धारणाओ के साचे मे ढला हुआ है।[1] जॉर्ज मूर ने अपने उपन्यास 'द ब्रुक केरिथ' मे ईसा को ऐसा दिखाया है कि क्रॉस पर सूली चढाए जाने के बाद वे बच निकले हैं और सेंट पॉल से उन्होने भेंट की है तथा अपने सशोधित इजील (गॉस्पेल) को उन्होने पॉल को समझाया है। वह कहते हैं "ईश्वर कही बाहर नही है, बल्कि इसी विश्व मे है, वह केवल पृथ्वी और नक्षत्रो का ही अभिन्न अग नही है, वरन् वह मुझमे, तुझमे और पहाड की ढाल पर चरनेवाली मेरी भेड़ो मे भी वर्तमान है।" पॉल जब इन वचनो को सुन रहा होता है तब वह अनुभव करता है कि ईसा द्वारा कथित ये सिद्धान्त तो वही हैं जिनका उपदेश कुछ भारतीय सन्यासियो ने उन गडरियो को दिया था जिनके साथ ईसा भी रह रहे थे। आज यूरोप और अमेरिका मे बहुत-से साहित्यकार ऐसे हैं जो भारतीय विचारणा से प्रभावित हैं तथा जो हमारी मौजूदा परेशानियो से घबराकर उसकी ओर प्रेरणा प्राप्त करने के लिए देख रहे हैं।[2] सर चार्ल्स ईलियट लिखते हैं "मुझे यह आत्मस्वीकृति करने मे कोई हिचक नही है कि मुझे यूरोपियनो की

१ जॉर्ज डब्ल्यू० रसेल लिखते हैं : "आधुनिक विचारकों में गेटे, वर्ड्सवर्थ, एमर्सन और थोरो में इस सजीवता और विवेक का कुछ अश है, परन्तु उन्होंने जितना कुछ कहा है और उससे भी कुछ अधिक, हमको पूर्व की पवित्र पुस्तकों में मिल जाता है। भगवद्गीता और उपनिषदों में सभी वस्तुओं पर ईश्वर-जैसा पूर्ण ज्ञान मिलता है कि मुझे अनुभव होता है कि इतने विश्वासपूर्वक लिखने के पूर्व, इनके लेखकों ने शान्त स्मृति के द्वारा उग्र अन्तर्द्वन्द्व मे भरे हुए हजारों लालसापूर्ण जीवनों को अवश्य देखा होगा, तभी तो वे ऐसी चीज लिख सके जिसे पढकर हमारी आत्मा को इतनी शान्ति और निश्चिंतता अनुभव होती है।" ['ए मेम्वायर ऑव ए० ई०' (जॉर्ज डब्ल्यू० रसेल) लेखक—जॉन एलिंगटन (१९३७) पृष्ठ २०)]।

२. श्री फौसेट ने अपनी पुस्तक 'ए मॉडर्न प्रेल्यूड' में कहा है कि किस प्रकार मैंने रूढिपथी ईसाइयत से चलकर अप्रमोदित सर्वेश्वरवाद की शरण ली, जिसमें वेदान्त के दर्शन और उसकी शिक्षा को परिणति प्राप्त हुई है। मैंने उसमें कुछ ऐसी चीज पाई जो कम-से-कम मेरी अशान्त आत्मा को शुद्ध कर सकती थी और तृप्ति प्रदान कर सकती थी (पृष्ठ २५८)। सर्वेश्वरवाद में 'सगुण ईश्वर' को 'निर्गुण ईश्वर' में पूर्णता प्राप्त हुई थी, वहा 'क्रिश्टॉस' या दैवी आत्मा ईसा के जन्म के पहले से ही प्राप्त थी और उसको अभिव्यक्त भी किया जा चुका था। ऑल्डुअस हक्सले ने अपनी सबसे बाद की पुस्तकों 'आईलेस इन् गाजा' और 'एण्ड्स एण्ड मीन्स' में आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि के लिए जिस सयम की आवश्यकता है, उसकी ओर हमारा ध्यान दिलाया है और योग की रीति को स्वीकार करने की युक्ति दी है। भारतीय प्रभाव कोई ऐसा नमूना नहीं है जिसकी नकल की जा सके, बल्कि वह तो एक रग है जो रग-रग में मिल जाता है।

७

यूनान, फिलस्तीन, और भारत

[१]

पश्चिम मे यह जो आध्यात्मिक आपाधापी मची हुई है, उसका कारण क्या है ? कही ऐसा तो नही कि यह आत्म-रक्षा की गहरी मूल-प्रवृत्ति तथा विश्व-एकता की आकाक्षा से प्रेरित है ? प्राच्य दार्शनिक विचारो का आकर्षण पाश्चात्य लोगो के मन मे तब हुआ जब उनकी आस्थाए डगमगा गई थी, जब वे अपनी परिस्थितियो से घबरा गए थे। ऐसी दशा उस समय भी उत्पन्न हुई थी जब ईसाई सवत् का प्रारम्भ हुआ था। ऐसा लगता है कि हम अभी तक यह स्पष्ट रूप से नही समझ पाए हैं कि आधारभूत सत्यो से हम दूर हट गए हैं। हमारे जीवन मे अस्थिरता आ गई है जो नाना रूपो मे अपने को व्यक्त कर रही है। प्रभुसत्तात्मक राज्य का अनुमोदन, ऐसे राज्य का, जो किसी अन्य के प्रति निष्ठावान नही, जो अपने ही लोगो को विनष्ट करने के लिए अपने को स्वतंत्र समझता है और जो स्वय कभी ऐसे ही विनाश का भागी बन सकता है, जातीय और राष्ट्रीय मूर्तिपूजा जो सार्वजनीन सगठित जीवन को अस्वीकार करती है, धन की बढती हुई निरकुशता, धनियो और गरीबो का सघर्ष और सहकारिता की भावना का विनाश—ये सब ऐसी बातें हैं जो हमारे जीवन मे आ गई है और जिनसे समाज के अस्तित्व को ही सकट उत्पन्न हो गया है। राष्ट्रो की असुरक्षा और जनता की निराश्रयता तो सदा से रही है, परन्तु समय-समय पर खूनी विप्लव भी होते रहे हैं। ये दोनो बातें ऐसी सामाजिक व्यवस्था के अलग-अलग पक्ष है जो आदिम प्रकृति की होती है। यूनानी सस्कृति का जन्म सघर्षों के बीच हुआ, ये सघर्ष यूनान के नगर-राज्यो के मध्य हुआ करते थे या विदेशी शत्रुओ के साथ। रोमन साम्राज्य की स्थापना कई विनाशक और बहुधा भीषण युद्धो के फलस्वरूप हुई थी, हालाकि यही पाश्चात्य सभ्यता का घर और पालना बना। मध्ययुग, जिसमे एक-समान धर्म के कारण यूरोप मे ऊपरी तौर पर एकता दिखाई देती थी, कई निरन्तर चलनेवाले युद्धो का युग रहा। यह कहना कोई अत्युक्ति न होगी कि शायद ही कोई दिन ऐसा गुज़रता होगा जब महान शक्तिया अपने विशाल उपनिवेशो के किसी न किसी भाग मे छोटी या बडी लड़ाई मे न उलझी रहती हो। अब भी हम सघर्परत हैं देश के भीतर तो हम न्यायपूर्ण और अच्छे प्रकार की जीवन-दशाए चाहते हैं और उनके लिए सघर्ष करते हैं, बाहर हम अपने देश के शत्रुओ से लडकर अपनी स्वतत्रता की रक्षा करते हैं। यह कहना ठीक नही कि मनुष्य आज पहले की अपेक्षा बुरा हो गया है। कुछ बातो मे तो पहले के मनुष्यो की अपेक्षा आज का मनुष्य सुधरा हुआ लगता है, किन्तु इसमे हमे फूला नही समाना चाहिए। जब श्रीमती रोजिटा फॉर्बीज ने साओ पौलो स्थित बन्दी-सुधार-गृह का निरीक्षण किया,

७

यूनान, फिलस्तीन, और भारत

[१]

पश्चिम मे यह जो आध्यात्मिक आपाधापी मची हुई है, उसका कारण क्या है ? कही ऐसा तो नही कि यह आत्म-रक्षा की गहरी मूल-प्रवृत्ति तथा विश्व-एकता की आकाक्षा से प्रेरित है ? प्राच्य दार्शनिक विचारो का आकर्षण पाश्चात्य लोगो के मन मे तव हुआ जव उनकी आस्थाए डगमगा गई थी, जव वे अपनी परिस्थितियो से घवरा गए थे। ऐसी दशा उस समय भी उत्पन्न हुई थी जव ईसाई सवत् का प्रारम्भ हुआ था। ऐसा लगता है कि हम अभी तक यह स्पष्ट रूप से नही समझ पाए हैं कि आधारभूत सत्यो से हम दूर हट गए हैं। हमारे जीवन मे अस्थिरता आ गई है जो नाना रूपो मे अपने को व्यक्त कर रही है। प्रभुसत्तात्मक राज्य का अनुमोदन, ऐसे राज्य का, जो किसी अन्य के प्रति निष्ठावान नही, जो अपने ही लोगो को विनष्ट करने के लिए अपने को स्वतत्र समझता है और जो स्वय कभी ऐसे ही विनाश का भागी वन सकता है, जातीय और राष्ट्रीय मूर्तिपूजा जो सार्वजनीन सगठित जीवन को अस्वीकार करती है, धन की वढती हुई निरकुशता, धनियो और गरीवो का सघर्ष और सहकारिता की भावना का विनाश—ये सव ऐसी वातें हैं जो हमारे जीवन मे आ गई हैं और जिनसे समाज के अस्तित्व को ही सकट उत्पन्न हो गया है। राष्ट्रो की असुरक्षा और जनता की निराश्रयता तो सदा से रही है, परन्तु समय-समय पर खूनी विप्लव भी होते रहे हैं। ये दोनो वातें ऐसी सामाजिक व्यवस्था के अलग-अलग पक्ष हैं जो आदिम प्रकृति की होती है। यूनानी सस्कृति का जन्म सघर्षो के वीच हुआ, ये सघर्ष यूनान के नगर-राज्यो के मध्य हुआ करते थे या विदेशी शत्रुओ के साथ। रोमन साम्राज्य की स्थापना कई विनाशक और वहुधा भीषण युद्धो के फलस्वरूप हुई थी, हालाकि यही पाश्चात्य सभ्यता का घर और पालना वना। मध्ययुग, जिसमे एक-समान धर्म के कारण यूरोप मे ऊपरी तौर पर एकता दिखाई देती थी, कई निरन्तर चलनेवाले युद्धो का युग रहा। यह कहना कोई अत्युक्ति न होगी कि शायद ही कोई दिन ऐसा गुज़रता होगा जव महान शक्तिया अपने विशाल उपनिवेशो के किसी न किसी भाग मे छोटी या वडी लड़ाई मे न उलझी रहती हो। अव भी हम सघर्षरत हैं देश के भीतर तो हम न्यायपूर्ण और अच्छे प्रकार की जीवन-दशाए चाहते हैं और उनके लिए सघर्ष करते हैं, वाहर हम अपने देश के शत्रुओ से लडकर अपनी स्वतत्रता की रक्षा करते हैं। यह कहना ठीक नही कि मनुष्य आज पहले की अपेक्षा वुरा हो गया है। कुछ वातो मे तो पहले के मनुष्यो की अपेक्षा आज का मनुष्य सुधरा हुआ लगता है, किन्तु इससे हमे फूला नही समाना चाहिए। जव श्रीमती रोजिटा फॉर्वीज ने साओ पौलो स्थित वन्दी-सुधार-गृह का निरीक्षण किया,

तब उन्होंने उसके अधीक्षक से पूछा कि क्या इसके अन्तेवासियों में बहुत सारे चोर हैं। अधीक्षक को यह सुनकर धक्का-सा लगा। उसने उत्तर दिया "जी नहीं, ब्राज़ील के लोग बड़े ईमानदार होते हैं। यहां रहनेवाले लगभग सभी मनुष्य हत्यारे हैं।" ऑगस्टाइन ने एक समुद्री डाकू और सिकन्दर महान के वार्तालाप का हवाला दिया है जिसमें डाकू सिकन्दर से कहता है : "चूंकि मैं एक छोटे-से जहाज को लेकर डाका डालता हूं, इसलिए लोग मुझे डाकू कहते हैं, परन्तु जब इसी काम को तुम एक बड़े जहाजी बेड़े की सहायता से करते हो, तो लोग तुम्हें सम्राट कहते हैं।" किसी भी सामाजिक पद्धति की अच्छाई या बुराई की बुनियादी कसौटी यही है कि उसके अन्तर्गत रहनेवाले नर-नारी कितने सुखी और सकुशल हैं। जो लोग आर्थिक संचित और राज्य को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर चलते हैं, उनकी रुचि जनता में एक सच्चे प्रकार के जीवन का विकास करने की ओर नहीं होती और उनको युद्ध को एक राष्ट्रीय उद्योग के रूप में अपनाने के लिए बाध्य होना पड़ता है। हमारे मन की आदतों और अपने पड़ोसियों के साथ हमारे सम्बन्धों में अधिक परिवर्तन नहीं हुआ है, किन्तु हमारी पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताएं एवं शत्रुताएं तथा एक-दूसरे को न समझने की हमारी अज्ञानताएं आज के घनिष्ठ रूप से गुंथे संसार में जिसके पास विनाश के नये अस्त्र-शस्त्र हैं, अत्यन्त भयावह होती जा रही हैं। हमने यांत्रिक प्रगति तो बहुत कर ली है, परन्तु आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से हम अपरिपक्व हैं; आर्थिक शक्ति और राजनीतिक प्रतिगामिता के प्रति हमारे मन में प्रेम है—इसके लिए हम कोई भी अन्याय करने से नहीं हिचकते—आज इस चीज का अहसास हमें हुआ है, अतः हम अपने प्रमाद को छोड़कर सहसा चौंक पड़े हैं। हम अपने-आपसे पूछने लगे हैं कि जिन सम्बन्धों का आश्रय लेकर हमारे समाज ने स्वयं को अब तक जैसे-तैसे टिकाए रखा है, क्या वे नैतिक हैं? क्या वर्तमान व्यवस्था जिसमें समाज का आधार दासत्व तथा संकीर्ण दलबन्दी है, न्याय के नियमों पर आधारित है? जब सभी लोगों की लालसाएं इतनी बढ़ती जा रही हैं कि उनकी पूर्ति के लिए साधन न्यून पड़ते जा रहे हैं, जब जीवन की दशाएं इतनी अप्राकृतिक हो उठी हैं कि उनकी रक्षा के लिए समस्त राष्ट्रों को शस्त्र-सज्जित सेनाओं के रूप में परिणत कर देने की आवश्यकता उत्पन्न हो गई है, जब शक्ति-राजनीति की श्रेष्ठता को अपनी ही अन्तर्निहित विनाशात्मकता से खतरा उत्पन्न हो गया है, जब सामान्य जनता अपने दिल की गहराइयों में यह महसूस करने लगी है कि 'धन्य हैं वे गर्भ जिन्होंने कभी प्रसव नहीं किया और धन्य हैं वे स्तन जिन्होंने अपना दूध कभी किसीको नहीं पिलाया' तब यह हमारे सिद्धान्तों तथा हमारी आस्था के लिए एक चुनौती हो जाती है। मानव-जाति की आज जो दुःखद [illegible] हो गई है, उसको देखकर हमें गम्भीरता से सोचना चाहिए। संसार नैतिक दृष्टि से एक ऐसा रोगी बन गया है जिसे चारों ओर से ऐसे नीम हकीमों, ढोंग-[illegible] और चिकित्सकों ने घेर रखा है जो अपने रोगी की मरियल पुरानी बुरी आदतों का बखान रसों में भर-भर करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि रोगी की कोई उग्र चिकित्सा हो। [illegible] जनता का जिन आंखों में छिपा-छिपा-सा फूट रहा था, उसका

से उसको निकालने तथा उसको उन्मुक्त करने की आवश्यकता है, ताकि वह पहले की अपेक्षा अधिक खुले वायुमण्डल मे रहकर सोच सके। पूर्ण सत्य को नष्ट नही किया जा सकता। नैतिक नियमों की खिल्ली नही उडाई जा सकती। जॉर्ज मैकडॉनल्ड ने एक नीति-कथा कही है एक प्रवल आधी ने चन्द्रमा को उडा डालने की ठानी, किन्तु आधी की प्रचण्डता के बीत जाने पर भी चन्द्रमा हवा से मीलो ऊपर पूर्ववत् मुस्कराता दिखाई दिया, उसको तो यह भी पता नही था कि कोई अन्धड कभी चला भी था या नही। हमने आध्यात्मिक दृष्टि से अपने को इतना साधन-सम्पन्न नही बनाया है कि हम जीवन के तथ्यो का सामना कर सकें और सत्य तथा सहिष्णुता पर आधारित नीतियो का अनुगमन कर सकें, यही कारण है कि हमे शस्त्रो के बल से अपने प्रति किए गए अन्यायो का बदला लेना पडता है। हमारे सामने अब दो ही विकल्प है या तो हम ईमानदारी की नीति अपनावें और न्याय के आधार पर ससार का पुनस्सगठन करें या सारे ससार को अस्त्र-शस्त्रो से सज्जित एक युद्ध-शिविर मे बदल दें। बस, आज यही प्रश्न हमारे सामने है। यह अत्यन्त गम्भीर और बहुत आवश्यक प्रश्न है, क्योकि हम अब भी इससे आक्रान्त है।

यह इतिहास का एक तथ्य है कि जो सभ्यताए धैर्य, कष्ट-सहन, अत्याचार के प्रति विनम्र असहयोग, सौहार्द तथा सहिष्णुता आदि सच्ची धार्मिक शक्तियो पर आधारित होती हैं, वे चिरजीवी होती हैं, और जो सभ्यताए सक्रिय बुद्धि, शक्ति, आक्रमण तथा प्रगति जैसे एकान्तिक मानववादी तत्त्वो को लेकर खडी होती हैं, वे चमक-दमक मे तो बढी-चढी होती हैं, परन्तु वे अल्पजीवी होती हैं। यूनानी सभ्यता आठ सौ वर्षों तक या उससे भी कम समय तक टिकी, अधिक से अधिक नौ सौ वर्षों तक रोमन सभ्यता का दौर-दौरा रहा और कुस्तुनतुनिया (कॉन्स्टैन्टिनोपुल) की सभ्यता एक हजार वर्ष से अधिक न चली, तनिक इनके साथ चीनी और भारतीय सभ्यताओ के दीर्घ जीवन की तुलना तो कीजिए! यद्यपि यूनानी सभ्यता ने ससार को लोकतन्त्र, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, बौद्धिक निष्ठा के सिद्धान्त दिए, और ये उसकी बडी महत्त्वपूर्ण देनें थी, तथापि नगर-राज्यो के प्रति अपनी निष्ठा के कारण यूनानी लोग कम से कम आपस मे भी मिलजुलकर, सगठित होकर नही रह सके। उनकी उच्च धारणाए शक्ति का रूप नही ले सकी। यदि उन धारणाओ की बात छोड दें जिनको रहस्यवादी धर्मों मे ग्रहण कर लिया गया था, तो यूनानियो ने मानव-समाज की किसी धारणा का विकास नही किया, हालाकि प्लेटो, अरस्तू और स्टोइकवादियो ने बहुत मूल्यवान विचारो की देन दी। सभ्यता के विकास मे रोमन लोगो ने जो योगदान किया, वह बहुत महत्त्वपूर्ण रहा, किन्तु ५०० ई० तक तो रोमन साम्राज्य का ही अस्तित्व मिट गया था। साम्राज्यो की यह प्रवृत्ति होती है कि वे जनता को उसकी आत्मा से वचित कर देते हैं। एक विस्तृत भूखण्ड पर आधिपत्य स्थापित कर लेने का अर्थ आत्मिक दृष्टि से भी उन्नत होना नही है। रोमन शासन के अतर्गत शान्ति रही, इसका कारण यह था कि उसने किसीको इतना सबल छोडा ही नही कि वह उसका विरोध कर सके। रोम ने ससार को जीत लिया था और उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नही रह

गया था, फिर वह किससे संघर्ष करता और किस लिए ? रोम की तूती बोलती थी, परन्तु यह मरुभूमि की, शिथिल सहमति और दयनीय दासता की शान्ति थी। रोमन साम्राज्य की सारी इमारत के ढाँचे को जोड़ रखनेवाली सीमेन्ट सेना थी। सेनाध्यक्ष राज्य का भी अध्यक्ष होता था, जिसे 'इम्परेटर' कहा जाता था, आज के 'एम्परर' (सम्राट) शब्द का यह समानार्थी था। तीसरी शताब्दी के मध्य में हर तरह के बिगड़े दिल सैनिकों ने कुछ अनुयायियों को अपने साथ लेकर सरकारों पर कब्जा कर लिया, ये सरकारें अपने-अपने अलग क्षेत्र में अपने सैनिकों के बल-बूते पर कार्य कर रही थीं। शाही सरकार के निर्बल पड़ जाने पर नैतिक अराजकता बढ़ गई थी। समुद्री तटों पर समुद्री डाकुओं और सीमान्त प्रदेशों में लूट-मार करनेवाले गिरोहों के कारण जीवन बड़ा असुरक्षित हो गया था। तीसरी शताब्दी के अन्त में डायोक्लोशियन ने समस्त राज्य का पुनस्संगठन करने की चेष्टा की, किन्तु जीवन के मानदण्डों में जो गिरावट आने लगी थी, उसे किसी तरह नहीं रोका जा सका।

पुनर्जागरण काल के कुछ विद्वानों का यह मत है कि रोम के पतन का कारण उसमें ईसाइयत के 'अन्ध-विश्वास' का फैलना था। इस प्रकार, ये विद्वान जूलियन अपोस्टेट के नेतृत्व में होनेवाली धर्म-विरोधी प्रतिक्रिया के इतिहासकारों की चीख-पुकार की प्रतिध्वनि करते हैं। उन प्रतिक्रियावादी इतिहासकारों का कथन था : 'ईसाई ही हमारे सभी दुर्भाग्यों के मूल कारण हैं....।"[1] सम्भव है कि रोमन साम्राज्य की ऊपरी तड़क-भड़क और शान-शौकत जब फीकी पड़ने लगी, तब ईसाइयत का आकर्षण लोगों के लिए प्रबल होने लगा। बर्बर जातियों के आक्रमणों को ही रोम के पतन का एकमात्र कारण नहीं कहा जा सकता। उसके पतन में जितना हाथ बाहरी खतरों का था, उतना ही आन्तरिक षड्यन्त्र तथा दुरभिसन्धि का भी था।[2] लोभ और भ्रष्टाचार, धन-धान्य में अनियमित वृद्धि तथा दासों की बहुलता ने समाज के सन्तुलन को बिगाड़ दिया। यह अव्यवस्था, श्रेष्ठ बौद्धिक जीवन के ह्रास और न्यायनिष्ठता के ह्रास का समय था। यूरोपीय सभ्यता इतने नीचे गिर गई थी कि कुछ लोग तो यह तक सोचने लगे कि संसार का अन्त निकट आ गया है। ऑगस्टाइन ने कहा था : 'रोम के पतन पर सारा संसार आर्तनाद कर उठा था।" बेथेलहेम-स्थित अपने मठ में सेंट जेरोमी ने लिखा था : "मानवजाति का ही सर्वनाश हो गया, जब मैं यह सोचता हूँ कि जिस नगर ने सारे संसार को अपने अधीन कर रखा था, आज वही

१ एम० रेनन कहते हैं कि "[illegible] निवासियों की [illegible] साम्राज्य [illegible] [illegible] की स्थिति [illegible] हुआ तो [illegible] किया।" ('मार्कस ऑरेलियस', पृष्ठ ५८६)।

२. [illegible] लिखते हैं : "[illegible] रोमन साम्राज्य का [illegible] [illegible] मानदण्डों [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।" [[illegible] (१६३७), पृष्ठ ४०८]

से उसको निकालने तथा उसको उन्मुक्त करने की आवश्यकता है, ताकि वह पहले की अपेक्षा अधिक खुले वायुमण्डल मे रहकर सोच सके। पूर्ण सत्य को नष्ट नही किया जा सकता। नैतिक नियमो की खिल्ली नही उडाई जा सकती। जॉर्ज मैकडॉनल्ड ने एक नीति-कथा कही है एक प्रवल आवी ने चन्द्रमा को उडा डालने की ठानी, किन्तु आधी की प्रचण्डता के वीत जाने पर भी चन्द्रमा हवा से मीलो ऊपर पूर्ववत् मुस्कराता दिखाई दिया, उसको तो यह भी पता नही था कि कोई अन्धड कभी चला भी था या नही। हमने आध्यात्मिक दृष्टि से अपने को इतना सावन-सम्पन्न नही बनाया है कि हम जीवन के तथ्यो का सामना कर सकें और सत्य तथा सहिष्णुता पर आधारित नीतियो का अनुगमन कर सकें, यही कारण है कि हमे शस्त्रो के वल से अपने प्रति किए गए अन्यायो का वदला लेना पडता है। हमारे सामने अब दो ही विकल्प हैं या तो हम ईमानदारी की नीति अपनावें और न्याय के आधार पर ससार का पुनसगठन करें या सारे ससार को अस्त्र-शस्त्रो से सज्जित एक युद्ध-शिविर मे बदल दें। बस, आज यही प्रश्न हमारे सामने है। यह अत्यन्त गम्भीर और बहुत आवश्यक प्रश्न है, क्योकि हम अब भी इससे आक्रान्त है।

यह इतिहास का एक तथ्य है कि जो सभ्यताए धैर्य, कष्ट-सहन, अत्याचार के प्रति विनम्र असहयोग, सौहार्द तथा सहिष्णुता आदि सच्ची धार्मिक शक्तियो पर आधारित होती हैं, वे चिरजीवी होती हैं, और जो सभ्यताए सक्रिय वुद्धि, शक्ति, आक्रमण तथा प्रगति जैसे एकान्तिक मानववादी तत्त्वो को लेकर खड़ी होती हैं, वे चमक-दमक मे तो वढी-चढी होती है, परन्तु वे अल्पजीवी होती है। यूनानी सभ्यता आठ सौ वर्षो तक या उससे भी कम समय तक टिकी, अधिक से अधिक नौ सौ वर्षो तक रोमन सभ्यता का दौर-दौरा रहा और कुस्तुनतुनिया (कॉन्स्टैन्टिनोपुल) की सभ्यता एक हज़ार वर्ष से अधिक न चली, तनिक इनके साथ चीनी और भारतीय सभ्यताओ के दीर्घ जीवन की तुलना तो कीजिए! यद्यपि यूनानी सभ्यता ने ससार को लोकतत्र, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, वौद्धिक निष्ठा के सिद्धान्त दिए, और ये उसकी बडी महत्त्वपूर्ण देनें थी, तथापि नगर-राज्यो के प्रति अपनी निष्ठा के कारण यूनानी लोग कम से कम आपस मे भी मिलजुलकर, सगठित होकर नही रह सके। उनकी उच्च धारणाए शक्ति का रूप नही ले सकी। यदि उन धारणाओ की वात छोड दें जिनको रहस्यवादी धर्मों मे ग्रहण कर लिया गया था, तो यूनानियो ने मानव-समाज की किसी धारणा का विकास नही किया, हालाकि प्लेटो, अरस्तू और स्टोइकवादियो ने बहुत मूल्यवान विचारो की देन दी। सभ्यता के विकास मे रोमन लोगो ने जो योगदान किया, वह बहुत महत्त्वपूर्ण रहा, किन्तु ५०० ई० तक तो रोमन साम्राज्य का ही अस्तित्व मिट गया था। साम्राज्यो की यह प्रवृत्ति होती है कि वे जनता को उसकी आत्मा से वचित कर देते हैं। एक विस्तृत भूखण्ड पर आधिपत्य स्थापित कर लेने का अर्थ आत्मिक दृष्टि से भी उन्नत होना नही है। रोमन शासन के अतर्गत शान्ति रही, इसका कारण यह था कि उसने किसीको इतना सबल छोडा ही नही कि वह उसका विरोध कर सके। रोम ने ससार को जीत लिया था और उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नही रह

गया था, फिर वह किससे सघर्ष करता और किस लिए ? रोम की तूती बोलती थी, परन्तु यह मरुभूमि की, खिन्न सहमति और दयनीय दासता की शान्ति थी। रोमन साम्राज्य की सारी इमारत के ढाचे को जोड रखनेवाली सीमेन्ट सेना थी। सेनाध्यक्ष राज्य का भी अध्यक्ष होता था, जिसे 'इम्परेटर' कहा जाता था, आज के 'एम्परर' (सम्राट) शब्द का यह समानार्थी था। तीसरी शताब्दी के मध्य मे हर तरह के बिगडे दिल सैनिको ने कुछ अनुयायियो को अपने साथ लेकर सरकारो पर कब्जा कर लिया, ये सरकारें अपने-अपने अलग क्षेत्र मे अपने सैनिको के बल-बूते पर कार्य कर रही थीं। शाही सरकार के निर्बल पड जाने पर नैतिक अराजकता बढ गई थी। समुद्री तटो पर समुद्री डाकुओ और सीमान्त प्रदेशो मे लूट-मार करनेवाले गिरोहो के कारण जीवन बडा असुरक्षित हो गया था। तीसरी शताब्दी के अन्त मे डायोक्लोशियन ने समस्त राज्य का पुनस्सगठन करने की चेष्टा की, किन्तु जीवन के मानदण्डो मे जो गिरावट आने लगी थी, उसे किसी तरह नही रोका जा सका।

पुनर्जागरण काल के कुछ विद्वानो का यह मत है कि रोम के पतन का कारण उसमे ईसाइयत के 'अन्ध-विश्वास' का फैलना था। इस प्रकार, ये विद्वान जूलियन अपोस्टेड के नेतृत्व मे होनेवाली धर्म-विरोधी प्रतिक्रिया के इतिहासकारो की चीख-पुकार की प्रतिध्वनि करते हैं। उन प्रतिक्रियावादी इतिहासकारो का कथन था. "ईसाई ही हमारे सभी दुर्भाग्यो के मूल कारण हैं।"[1] सम्भव है कि रोमन साम्राज्य की ऊपरी तडक-भडक और शान-शौकत जब फीकी पडने लगी, तब ईसाइयत का आकर्षण लोगो के लिए प्रबल होने लगा। बर्बर जातियो के आक्रमणो को ही रोम के पतन का एकमात्र कारण नही कहा जा सकता। उसके पतन मे जितना हाथ बाहरी खतरो का था, उतना ही आन्तरिक षड्यन्त्र तथा दुरभिसन्धि का भी था।[2] लोभ और भ्रष्टाचार, धन-धान्य मे अतिशय वृद्धि तथा दासो की बहुलता ने समाज के सन्तुलन को बिगाड दिया। यह अव्यवस्था, श्रेष्ठ बौद्धिक जीवन के क्षय और न्यायनिष्ठता के ह्रास का समय था। यूरोपीय सभ्यता इतने नीचे गिर गई थी कि कुछ लोग तो यह तक सोचने लगे कि ससार का अन्त निकट आ गया है। आगस्टाइन ने कहा था "रोम के पतन पर सारा ससार आर्त्तनाद कर उठा था।" बेथेल्हेम-स्थित अपने मठ मे सेंट जेरोमी ने लिखा था · "मानवजाति का ही सर्वनाश हो गया, जब मैं यह सोचता हू कि जिस नगर ने सारे ससार को अपने अधीन कर रखा था, आज वही

१. एम० रेनन कहते हैं कि "ईसाइयत एक ऐसी पिशाचिनी थी जिसने प्राचीन समाज का जीवन-रक्त चूस लिया और एक ऐसा सामान्य दौर्बल्य की स्थिति पैदा कर दी, जिसके विरुद्ध देश-भक्त सम्राटों ने व्यर्थ ही सघर्ष किया।" ('मार्क ऑरेले', पृष्ठ ५८९)।

२. श्री स्टैनले कैसन लिखते हैं : "बर्बर जातियों का आक्रमण रोमन साम्राज्य की रुग्णता का कारण कम था, उसका परिणाम अधिक। उस समय 'जीवन के मानदण्डों का ह्रास हो गया था।' रोमन शासन और रोमन स्वाधीनता के पूर्णत: विरोधी तत्त्वों का आविर्भाव हो गया था। सास्टोनियस के पत्रों से हमें पता चलता है कि लोगों के विचार-विनिमय पर प्रतिबन्ध था, राजनीतिक हत्याओं को षड्यन्त्र कहकर टाल दिया जाता था, उच्चाधिकारियों में घूसखोरी और भ्रष्टाचार का बोलबाला था और ईसाइयों को उत्पीड़ित किया जाता था।" ['प्रॉग्रेस एण्ड कैटास्ट्रॉफ' (१९३७), पृष्ठ २०३]

दूसरो के अधीन हो गया, तब मेरी जीभ तालु से चिपक जाती है और सिसकियो के कारण मेरा गला रुध जाता है।" ईसाइयो और काफिरो (मूर्तिपूजको) सभीने एक स्वर से कहा कि एक असम्भव, अचिंत्य घटना घट गई है। जो रोम दूसरो का भाग्य-विधाता था, जो चिरन्तन नगर था, जिसका आधिपत्य सदा स्थापित रहनेवाला था, उसीका पतन हो गया!

रोमन साम्राज्य दो भागो मे बाट दिया गया। पश्चिमी भाग की राजधानी रोम हुआ और पूर्वी भाग की राजधानी कुस्तुनतुनिया। पाचवी शताब्दी का अन्त होते न होते, समस्त पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी यूरोप वर्बर जातियो के अधिकार मे आ गया। इटली पर ऑस्ट्रोगॉथों का, गॉल पर और आज जिसे जर्मनी कहते हैं, उसपर फ्रैंको का, उत्तरी अफ्रीका पर, वैण्डलो का, और स्पेन पर विसिगॉथो का प्रभुत्व स्थापित हो गया। पूर्वी साम्राज्य बाइज़ैन्टाइन कहलाता था, कुस्तुनतुनिया (कॉन्स्टैन्टिनोपुल) इसकी राजधानी थी जिसकी स्थापना कॉन्स्टैन्टाइन ने प्राचीन बाइज़ैन्टियम नगर के स्थान पर की थी। बाइज़ैन्टियम एक ऐसा कस्बा था जिसे प्रकृति ने एक विशाल साम्राज्य का केन्द्र बनने के लिए ही बनाया था। सात पहाड़ियो से घिरा यह नगर यूरोप और एशिया को जानेवाले मार्गों का नियन्त्रण करता था। इसके सकरे दर्रे पूर्व और पश्चिम को मिलाते थे। इस सारे अन्धकार मे प्रकाश की एक किरण बाइज़ैन्टियम नगर की सकरी दीवारो के बीच सुरक्षित रखी गई थी, जो सभ्यता को प्रकाशित करने के लिए बच गई थी। थिओडोसियस ने इस नगर के विशाल दुर्ग का निर्माण किया और उसके उत्तराधिकारी जस्टिनियन ने नगर की सस्थाओ का पुनर्निर्माण कराया। किन्तु, ससार के प्रत्येक भाग से वर्बर गिरोहो के आक्रमण का भय तो हर समय बना ही रहता था।[1] सतत भय और आसन्न विनाश के ऐसे वातावरण मे आध्यात्मिक मूल्यो का पोषण हो भी कैसे सकता था? परिणाम यह हुआ कि दर्शन-शास्त्र निष्फल हो गया, साहित्य निर्जीव बन गया और धर्म कठोर तथा अन्ध-विश्वासी हो गया। तुर्कों द्वारा १४५३ ई०मे किए गए आक्रमण मे जब बाइज़ैन्टियम का पतन हुआ, उसके पहले ही उसने यूनान और रोम से प्राप्त सभ्यता तथा सस्कृति को पश्चिमी जगत् मे फैलाने मे सफलता पा ली थी। ऐसा लगता है कि बाइज़ैन्टियम के पतन के उपरान्त उन्नत होनेवाली इस आधुनिक सभ्यता के भी दिन अब पूरे हो आए है, क्योंकि आश्चर्यजनक रूप से आज इसमे वे सारे लक्षण दिखाई दे रहे है जो सभ्यताओ के पतन के लक्षण हुआ करते हैं, जैसे सहनशीलता और न्याय का लोप, दुःख के प्रति असवेदनीयता, आराम और सुख-सुविधा के प्रति प्रेम और व्यक्तियो एव समूहो की स्वार्थपरता, विचित्र धार्मिक सम्प्रदायो का उद्भव, जो मनुष्य की मूढता का उतना दुरुपयोग नही करते जितना बौद्धिक शक्तियो का प्रयोग करने की उसकी अनिच्छा का, रक्त और देश के आधार पर मनुष्यों का समूहो के रूप मे पृथक्करण। सारा ससार अस्त्र-शस्त्रो के आधिक्य के कारण रोमाचित हो उठा है, लोगो मे सहिष्णुता नाममात्र को भी नही रह गई,

१. पारसीकों और अरबों ने ६१६, ६७५, ७१७ ई० में, बल्गेरियनों ने ८१३ ई० में और रूसियों ने ८६६, ९०४, ९३६, १०४३ ई० में आक्रमण किए थे।

सारे पुरुषो, स्त्रियो और बच्चो के मन आनेवाली तवाही की सन्निकटता की आशका से इतने आक्रान्त हो उठे हैं कि सडको पर बम-वर्षा से वचने के लिए तहखानो के आश्रय-स्थल वना दिए गए है, निजी घरो मे भी ज़हरीली गैसो से बचाव करनेवाले कमरे निर्मित हैं, नागरिको को गैस-मास्को (विषैली गैसो से रक्षा करनेवाले टोपो) का प्रयोग करना सिखाया जा रहा है—इन सब बातो से क्या यह निष्कर्ष नही निकलता कि हमारा सामान्य अध पतन हो गया है ? अपनी दुष्टता के कारण, सहकारिता के साधनो की वकालत न करके विघटनकारी शक्तियो को बढावा देकर, शक्ति और लाभ के आदर्शों के प्रति निष्ठा दिखाकर मनुष्य आज उस यत्किंचित को भी नष्ट करने पर तुल गया है जिसे उसने धैर्य और विदग्धता के साथ निर्मित किया था। कहा तो हम उदारता या दयालुता की ओर बढते और कहा हम शत्रुताओ की वृद्धि करने मे लगे हुए हैं ! ऐसा लगता है कि हम जीना तो चाहते हैं, परन्तु जीवन का विवेक खो बैठे हैं। विश्व-शान्ति एक पकड मे न आनेवाला स्वप्न बन गई है। यदि आधुनिक सभ्यता अपने वर्तमान आधारो पर ही खडी रहती है, तो वह बचाने योग्य नही है।

चीनी और हिन्दू सभ्यताए उन उच्च गुणो की दृष्टि से महान नही हैं जिन्होंने पश्चिम के उमगशील राष्ट्रो को विश्व-इतिहास के रगमच पर गत्यात्मक शक्ति बना दिया है, वे गुण है महत्त्वाकाक्षा और साहसिकता, श्रेष्ठता और साहस, सार्वजनिक भावना और सामाजिक उत्साह के गुण। चीन और भारत के लोगो के नाम हम प्राय उन लोगो मे नही पाते जो वैज्ञानिक शोध के लिए अपने जीवन को सकट मे डालते हैं, जो उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव के पथ पर भटकते फिरते हैं, जो महाद्वीपो की खोज करते है, जो पूर्व-स्थापित मानो (रेकर्डों) को तोडते हैं, जो पर्वत-शिखरो को पदमर्दित करते हैं और अज्ञात भूखण्डो का अनुसन्धान करते हैं। किन्तु, ये दोनो सभ्यताए चिरकाल से जीवित रही हैं, अनेक सकटो का इन्होने सामना किया है और अपने वैशिष्ट्य को बनाए रखा है। इतने युगो से इनका टिके रहना यह सूचित करता है कि इनमे जीवन की एक स्वस्थ मूलचेतना है, एक विचित्र जीवनी-शक्ति है, एक ऐसी धारण-शक्ति है जिसके कारण इन्होने ऐसे सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनो को झेल लिया है जिनमे पडकर कम शक्तिशाली सभ्यताए तो विनष्ट हो चुकी होती। भारत का ही उदाहरण लें, सदियो तक इसने युद्धो, आक्रमणो, महामारियो और मानवीय कुशासन को सहन किया है। कदाचित् थोडी समझदारी और सहनशीलता का गुण अर्जित करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति काफी दु ख और पीडा का अनुभव करे। कुल मिलाकर, प्राच्य सभ्यताए जीवन की यथार्थ परिस्थितियो को समुन्नत करने और सुधारने मे उतनी रुचि नही रखती जितनी इस बात मे कि इस अपूर्ण ससार का अधिकतम सदुपयोग किया जाए, इससे सतोष और तृप्ति प्राप्त की जाए, प्रसन्नता और सतुष्टि, धैर्य तथा सहिष्णुता के गुणो का विकास किया जाए। वे प्रतिद्वन्द्विता या प्रतियोगिता की सम्भावना से प्रसन्न नही होती। उनका तो उद्देश्य रहा है कम इच्छा करना और चिरन्तन ज्ञान-जिज्ञासाओ की तृप्ति

दूसरो के अधीन हो गया, तब मेरी जीभ तालु से चिपक जाती है और सिसकियो के कारण मेरा गला रुध जाता है।" ईसाइयो और काफिरो (मूर्तिपूजको) सभीने एक स्वर से कहा कि एक असम्भव, अचिंत्य घटना घट गई है। जो रोम दूसरो का भाग्य-विधाता था, जो चिरन्तन नगर था, जिसका आधिपत्य सदा स्थापित रहनेवाला था, उसीका पतन हो गया !

रोमन साम्राज्य दो भागो मे बाट दिया गया। पश्चिमी भाग की राजधानी रोम हुआ और पूर्वी भाग की राजधानी कुस्तुनतुनिया। पाचवीं शताब्दी का अन्त होते न होते, समस्त पश्चिमी और उत्तर-पश्चिमी यूरोप बर्बर जातियो के अधिकार मे आ गया। इटली पर ऑस्ट्रोगॉथो का, गॉल पर और आज जिसे जर्मनी कहते है, उसपर फ्रैंको का, उत्तरी अफ्रीका पर, वैण्डलो का, और स्पेन पर विसिगॉथो का प्रभुत्व स्थापित हो गया। पूर्वी साम्राज्य बाइजैन्टाइन कहलाता था, कुस्तुनतुनिया (कॉन्स्टैंन्टिनोपुल) इसकी राजधानी थी जिसकी स्थापना कॉन्स्टैंन्टाइन ने प्राचीन बाइजैन्टियम नगर के स्थान पर की थी। बाइजैन्टियम एक ऐसा कस्बा था जिसे प्रकृति ने एक विशाल साम्राज्य का केन्द्र बनने के लिए ही बनाया था। सात पहाड़ियो से घिरा यह नगर यूरोप और एशिया को जानेवाले मार्गों का नियत्रण करता था। इसके सकरे दर्रे पूर्व और पश्चिम को मिलाते थे। इस सारे अन्धकार मे प्रकाश की एक किरण बाइजैन्टियम नगर की सकरी दीवारो के बीच सुरक्षित रखी गई थी, जो सभ्यता को प्रकाशित करने के लिए बच गई थी। थिओडोसियस ने इस नगर के विशाल दुर्ग का निर्माण किया और उसके उत्तराधिकारी जस्टिनियन ने नगर की सस्थाओं का पुनर्निर्माण कराया। किन्तु, ससार के प्रत्येक भाग से बर्बर गिरोहो के आक्रमण का भय तो हर समय बना ही रहता था।[1] सतत भय और आसन्न विनाश के ऐसे वातावरण मे आध्यात्मिक मूल्यो का पोषण हो भी कैसे सकता था? परिणाम यह हुआ कि दर्शन-शास्त्र निष्फल हो गया, साहित्य निर्जीव बन गया और धर्म कठोर तथा अन्ध-विश्वासी हो गया। तुर्कों द्वारा १४५३ ई०मे किए गए आक्रमण मे जब बाइजैन्टियम का पतन हुआ, उसके पहले ही उसने यूनान और रोम से प्राप्त सभ्यता तथा सस्कृति को पश्चिमी जगत् मे फैलाने मे सफलता पा ली थी। ऐसा लगता है कि बाइजैन्टियम के पतन के उपरान्त उन्नत होनेवाली इस आधुनिक सभ्यता के भी दिन अब पूरे हो आए है, क्योकि आश्चर्यजनक रूप से आज इसमे वे सारे लक्षण दिखाई दे रहे हैं जो सभ्यताओ के पतन के लक्षण हुआ करते है, जैसे सहनशीलता और न्याय का लोप, दु ख के प्रति असवेदनीयता, आराम और सुख-सुविधा के प्रति प्रेम और व्यक्तियो एव समूहों की स्वार्थपरता, विचित्र धार्मिक सम्प्रदायो का उद्भव, जो मनुष्य की मूढता का उतना दुरुपयोग नही करते जितना बौद्धिक शक्तियो का प्रयोग करने की उसकी अनिच्छा का, रक्त और देश के आधार पर मनुष्यों का समूहो के रूप मे पृथक्करण। सारा ससार अस्त्र-शस्त्रो के आधिक्य के कारण रोमाञ्चित हो उठा है, लोगो मे सहिष्णुता नाममात्र को भी नही रह गई,

१. पारसीकों और अरबों ने ६१६, ६७५, ७१७ ई० में, बल्गेरियनों ने ८१३ ई० में और रूसियों ने ८६६, ९०४, ९३६, १०४३ ई० में आक्रमण किए थे।

सारे पुरुषो, स्त्रियो और बच्चो के मन आनेवाली तबाही की सन्निकटता की आशका से इतने आक्रान्त हो उठे हैं कि सडको पर बम-वर्षा से बचने के लिए तहखानो के आश्रय-स्थल बना दिए गए है, निजी घरो मे भी ज़हरीली गैसो से बचाव करनेवाले कमरे निर्मित हैं, नागरिको को गैस-मास्को (विषैली गैसो से रक्षा करनेवाले टोपो) का प्रयोग करना सिखाया जा रहा है—इन सब बातो से क्या यह निष्कर्ष नही निकलता कि हमारा सामान्य अध पतन हो गया है ? अपनी दुष्टता के कारण, सहकारिता के साधनो की वकालत न करके विघटनकारी शक्तियो को बढावा देकर, शक्ति और लाभ के आदर्शों के प्रति निष्ठा दिखाकर मनुष्य आज उस यत्किंचित को भी नष्ट करने पर तुल गया है जिसे उसने धैर्य और विदग्धता के साथ निर्मित किया था। कहा तो हम उदारता या दयालुता की ओर बढते और कहा हम शत्रुताओ की वृद्धि करने मे लगे हुए हैं ! ऐसा लगता है कि हम जीना तो चाहते हैं, परन्तु जीवन का विवेक खो बैठे हैं। विश्व-शान्ति एक पकड मे न आनेवाला स्वप्न बन गई है। यदि आधुनिक सभ्यता अपने वर्तमान आधारो पर ही खडी रहती है, तो वह बचाने योग्य नही है।

चीनी और हिन्दू सभ्यताए उन उच्च गुणो की दृष्टि से महान नही हैं जिन्होंने पश्चिम के उमगशील राष्ट्रो को विश्व-इतिहास के रगमच पर गत्यात्मक शक्ति बना दिया है , वे गुण हैं ' महत्त्वाकाक्षा और साहसिकता, श्रेष्ठता और साहस, सार्वजनिक भावना और सामाजिक उत्साह के गुण । चीन और भारत के लोगो के नाम हम प्राय उन लोगो मे नही पाते जो वैज्ञानिक शोध के लिए अपने जीवन को सकट मे डालते हैं, जो उत्तरी या दक्षिणी ध्रुव के पथ पर भटकते फिरते है, जो महाद्वीपो की खोज करते हैं, जो पूर्व-स्थापित मानो (रेकर्डों) को तोडते हैं, जो पर्वत-शिखरो को पद-मर्दित करते हैं और अज्ञात भूखण्डो का अनुसन्धान करते हैं। किन्तु, ये दोनो सभ्यताए चिरकाल से जीवित रही हैं, अनेक सकटो का इन्होंने सामना किया है और अपने वैशिष्ट्य को बनाए रखा है। इतने युगो से इनका टिके रहना यह सूचित करता है कि इनमे जीवन की एक स्वस्थ मूलचेतना है, एक विचित्र जीवनी-शक्ति है, एक ऐसी धारण-शक्ति है जिसके कारण इन्होने ऐसे सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवर्तनो को झेल लिया है जिनमे पडकर कम शक्तिशाली सभ्यताए तो विनष्ट हो चुकी होती। भारत का ही उदाहरण लें , सदियो तक इसने युद्धो, आक्रमणो, महामारियो और मानवीय कुशासन को सहन किया है। कदाचित् थोड़ी समझदारी और सहनशीलता का गुण अर्जित करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि व्यक्ति काफी दुख और पीडा का अनुभव करे। कुल मिलाकर, प्राच्य सभ्यताए जीवन की यथार्थ परिस्थितियो को समुन्नत करने और सुधारने मे उतनी रुचि नही रखती जितनी इस बात मे कि इस अपूर्ण ससार का अधिकतम सदुपयोग किया जाए, इसमे सतोष और तृप्ति प्राप्त की जाए , प्रसन्नता और सतुष्टि, धैर्य तथा सहिष्णुता के गुणो का विकास किया जाए। वे प्रतिद्वन्द्विता या प्रतियोगिता की सम्भावना मे प्रसन्न नही होतीं। उनका तो उद्देश्य रहा है कम इच्छा करना और चिरन्तन ज्ञान-जिज्ञासाओ की तृप्ति

करना। "सज्जनता का गुण मनुष्य को अदम्य बना देता है" (लाओ-त्जे) अधिकाश व्यक्ति जीवन के लिए जितनी चीजो की आवश्यकता समझते हैं, उनसे बहुत कम चीजे आवश्यक है। यदि पूर्वीय लोग सरल और स्वावलम्वी तथा भाग्य की पहुच के वाहर के जीवन को अपना लक्ष्य बनाना चाहते है, यदि वे ऐसे शालीन आचरणो का विकास करना चाहते हैं जिनमे घातक घृणा की भावना का लेश न हो, तो हमे उनको भीरु और निर्वल नही समझ लेना चाहिए और यह नही मान लेना चाहिए कि वे अन्धकार की ओर लौट जाने को उत्सुक हैं। पाश्चात्य जन जवकि सघर्ष मोल लेकर भी स्वतन्त्रता को बनाए रखने के लिए लालायित रहते हैं तब प्राच्य जन पराधीन बनकर भी शान्ति पाने के इच्छुक रहते हैं। वे अपने जीवन के अभावो को भी वरदान में वदल देते हैं और कम से कम कामनाओ वाले व्यक्ति को वह सर्वाधिक सुखी मनुष्य कहकर उसको पूजनीय मानते है। डायोगेनीज़ ने प्लेटो को यह ताना मारकर चिढा दिया था कि यदि वह सस्ती शाक-भाजियो को खाकर अपने दिन गुज़ार सकता है तो उसे निरकुश राजाओ का चाटुकार वनने की आवश्यकता ही क्या है? भविष्य तो अभी अज्ञात है, किन्तु भूतकाल की घटनाए हमे चेतावनी देती है कि ससार अन्तत उन्हीका होगा जो असासारिक है। पूर्वीय सस्कृतियो का पोषण जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण से हुआ है और इससे जीवन के प्रति उनमे अटूट विश्वास भर गया है तथा जीवन के अगणित परिवर्तनो के प्रति एक प्रवल सामान्य सूझ-बूझ उनमे आ गई है। एक विशुद्ध मानववादी सभ्यता, जैसीकि आधुनिक सभ्यता है, जिसकी जीवन-पद्धति सेना और शक्ति पर आधारित है, सर्वनाश का सकट उपस्थित होने पर, निर्भ्रान्त मनोदशा मे पूर्व की ओर देख रही है। एक यूनानी पौराणिक कथा मे ऐसा उल्लेख आता है कि युवक इकेरस को बहुत ऊचाई पर उडने के लिए वाध्य किया गया, परन्तु अधिक ऊचे उडने से उसके डैनों का मोम पिघल गया और वह समुद्र मे गिर पडा। उधर वृद्ध पिता डेडैलस कम ऊचाई पर उडा, किन्तु सुरक्षित घर लौट आया। यह केवल एक सनक नही है। पूर्वीय सस्कृति मे ऐसे गुण है जो जीवन और स्थायित्व लाते हैं, जबकि पश्चिमी सस्कृति मे प्रगति और साहसिकता लानेवाले गुण हैं।

प्राच्य सभ्यताए किसी भी प्रकार आत्म-निर्भर नही हैं। वे आज अस्त-व्यस्त है, निस्सहाय है, और ऐक्यवद्ध होकर आगे वढ़ने मे असमर्थ है। उन सभ्यताओ के लोग अव्यावहारिक और अकुशल हैं, वे अपने ही प्रदेशो मे खोये-खोये और अधमरे-से भटक रहे हैं, अब भी वे इस पुरानी मान्यता पर आस्था टिकाए हुए है कि शक्ति के आगे न्याय की विजय होती है। वे ऐसी निर्बलताओ से पीडित है जिनको यदि वार्द्धक्य का नही तो अधिक आयु का लक्षण तो कहा ही जा सकता है। इस समय उनकी जो प्रमादग्रस्त तथा असगठित दशा है, उसका कारण उनकी शान्तिप्रियता तथा मानवता नही हैं, वरन् इनकी रक्षा करने मे उनकी खेदजनक विफलता का परिणाम है यह। उन्होने अन्तर्दृष्टि के रूप मे कुछ प्राप्त किया है, तो शक्ति के रूप मे उतना ही खो दिया लगता है। उनका कायाकल्प करने की आवश्यकता है। जीवन के हमारे एकागी तत्त्वज्ञानो के कारण कितनी अच्छाई और कितने रचनात्मक प्रयत्न ससार मे

विफल हो जाते है। आधुनिक सभ्यता जो इतनी चमक-दमकवाली और पराक्रमशील है, यदि सहिष्णु और मानवीय भी बन जाए, यदि उसमे कुछ अधिक सवेदनशीलता और कुछ कम स्वार्थपरता आ जाए, तो यह इतिहास की महानतम उपलब्धि होगी।

पूर्व और पश्चिम अपने ऐतिहासिक अतीत की खोल से बाहर निकलकर एक ऐसी विचार-पद्धति की ओर अग्रसर हो रहे है, जिसको अन्तत सारी मानव-जाति ठीक वैसे ही समान रूप से अपना लेगी, जैसे आज भौतिक उपकरणो को उसने अपना लिया है। हम एक महाद्वीप पर रहते हुए दूसरे महाद्वीप के लोगो से बोल सकते हैं, सगीत को सग्रह करके रख सकते हैं, ताकि उसे इच्छा होने पर पुन सुना जा सके, फोटो-चित्रो को जीवन और गति से अनुप्राणित कर सकते हैं, परन्तु ये चीजें सस्कृति के आधारो तथा जीवन और मन के विन्यास को स्पर्श नही कर पाती। ये चीजें पुराने साचो में, जिनको कभी तोडा नही गया है, ढाली जाती है, हालाकि उन साचो मे नये पदार्थ उडेले जा चुके हैं। वे साचे अब तडकने लगे हैं। कई पीढियो पहले जो चीरे इन सभ्यताओ मे दिखाई दी थी, वे अब मुह फाडती दरारो का रूप ले चुकी है। साचो के तडकने के साथ ही, खुद सभ्यता भी तड़कने लगी है। पुराने साचो मे फैलाव की अब गुजाइश नही है। आज हमे इन सभ्यताओ के पुनर्नवीकरण की आवश्यक्ता है—पूर्व से प्राप्त जीवन-मूल्यो, आन्तरिक जीवन के सत्यो से इन्हे सयुक्त करना है। ये हमारे जीवन को सुखी बनाने के लिए उतने ही आवश्यक हैं जितने बाह्य सगठन। हमारी सभ्यता मे जो चचलता और दम्भ की भावना है, वह इसके यौवन, इसकी कच्चाई तथा अप्रौढता का लक्षण है। प्रौढता आने के साथ यह स्वयमेव दूर हो जाएगी। मानव-जाति का भाग्य इस बात पर निर्भर है कि हम पूर्व के रहस्यवादी धर्मो मे पाए जानेवाले गुणो को कितनी शीघ्रता से आत्मसात् कर पाते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया के लिए अब परिस्थिति अनुकूल है।

इस शताब्दी के आगमन के पहले तक ससार एक विस्तृत स्थान था और इसके लोग एक-दूसरे से अलग-थलग अपने-अपने स्थानो मे रहते थे। सुस्थापित व्यापार-मार्गो और सवाद-वहन तथा यातायात के साधनो के अभाव तथा आर्थिक विकास की आदिम अवस्था के कारण लोगो मे अपरिचितो, विशेषत दूसरी प्रजाति के लोगो के प्रति शत्रुता की भावना विकसित होने मे सहायता मिली। कोई एक ऐसी प्रवहमान धारा नही रही जिसमे समग्र मानव-सभ्यता प्रविष्ट हो जाती। इसके बजाय कई स्वतत्र स्रोत रहे और उनका बहाव भी निरन्तर नही रहा। कुछ स्रोत तो अपने जल को मुख्य धारा-प्रवाह मे पहुचाने के पहले ही सूख गए। आज समस्त ससार मे मिश्रण की प्रक्रिया चल रही है और सारी चीजें गतिमान हैं। पूर्व और पश्चिम एक-दूसरे को उर्वर बना रहे हैं, और ऐसा वे पहली बार ही नहीं कर रहे। क्या हम किसी ऐसे तत्त्वज्ञान के लिए चेष्टा नहीं कर सकते जिसमे यूरोपीय मानववाद और एशियाई धर्म की सर्वोत्तम बातें सम्मिलित हो ? निश्चय ही, वह तत्त्वज्ञान इन दोनो से ही अधिक परिपूर्ण और अधिक सजीव होगा, उसमें इनसे अधिक आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति होगी, और वह लोगो के हृदयो को जीत लेगा तथा अपना आधिपत्य स्वीकार

करने के लिए लोगो को बाध्य कर देगा।

[२]

यह पूछा जा सकता है कि क्या पश्चिमी सभ्यता धार्मिक मूल्यो पर आधारित नही है ? ऐसा कहा जाता है कि यूनानी कला और सस्कृति, रोमन विधि-नियम तथा सगठन, ईसाई धर्म और आचार-शास्त्र और वैज्ञानिक ज्ञान आधुनिक सभ्यता को ढालनेवाली शक्तिया रहे हैं। यदि हम विचार कर लें कि पश्चिम के धार्मिक जीवन का ठीक स्वभाव क्या रहा है और उसने पाश्चात्य सभ्यता को किस सीमा तक प्रभावित किया है तो यह उपयोगी रहेगा। यदि हम शताब्दियो मे हुए विकास का वर्णन कुछ अनुच्छेदो में करना चाहे, तो यह अति-सरलीकरण ही कहलाएगा, किन्तु ऐसी स्थिति मे यह अपरिहार्य हो जाता है। हम कह सकते हैं कि पाश्चात्य धार्मिक परम्परा मे तीन धाराए देखी जा सकती हैं जो एक-दूसरे को बार-बार काटती हुई प्रवहमान रहती हैं। सुविधा की दृष्टि से हम उन तीन धाराओ को ग्रीक-रोमन, हिब्रू और भारतीय नामो से पुकार सकते हैं।

ग्रीक-रोमन धारा के मुख्य तत्त्व हैं बुद्धिवाद, मानववाद और राज्य की प्रभुसत्ता। विचार और वितर्क की भावना का प्रारम्भ यूनानियो से हुआ। धार्मिक विचारो के विषय मे तर्क किये जाने लगे और अपने को असुविधा होने के बावजूद सत्य का अनुसरण करने की आवश्यकता बताई जाने लगी। ज़ेनोफेनीज़ ने अपने लोगो को अन्धविश्वास तथा मिथ्याचार से उबारने की बडी चेष्टा की। उसने ऐसे देवताओ मे विश्वास न करने की शिक्षा दी जो इस तरह के गर्हित कार्य करते हैं जिनको करते बुरा से बुरा मनुष्य भी लज्जित होता है। डेमॉक्रिटस ने स्वयभू को अणु मे और हेराक्लिटस ने अग्नि मे पाया। हेराक्लिटस कहता था "ससार की रचना न किसी एक देवता ने की, न किसी मनुष्य ने, यह तो पहले भी था, आज भी है और आगे भी एक चिरन्तन अग्नि के रूप मे रहेगा—एक प्रकार से यह अग्नि स्वय ही प्रज्ज्वलित होगी और स्वय ही बुझ जाएगी।" कोई भी चीज़ पूर्ण नही है, अभी पूर्णता प्राप्त करने की प्रक्रिया से गुज़र रही है। प्रोटैगोरस की दृष्टि मे मनुष्य ही सभी वस्तुओ का मापदण्ड है, और जहा तक ईश्वर का प्रश्न है, उसका यदि अस्तित्व हो, तो भी उसको प्राप्त नही किया जा सकता। वह कहता है "जहा तक देवताओ का सवाल है, उनके सम्बन्ध मे मैं कुछ नही कह सकता, न तो यही कह सकता हू कि उनका अस्तित्व है और न यही कि उनका अस्तित्व नही है, यह भी नही कह सकता कि उनका स्वरूप क्या है, क्योकि बहुत सारी चीज़ें ऐसी हैं जिनके कारण मनुष्य उनको नही जान पाता, उदाहरण के लिए इस विषय की अनिश्चितता और मानव-जीवन की अल्पायुता।" क्राइटियस के मत मे "सिवाय इस बात के कि जो जन्मता है वह मरता अवश्य है, तथा जीवन विनाश से नही बच सकता, ससार मे कोई भी चीज़ निश्चित नही है।" गॉर्जिअस के अनुसार, प्रत्येक मनुष्य को स्वतन्त्रता है कि वह सत्य के लिए अपने प्रतिमान स्वय निर्धारित करे।

अगर प्लेटो पूर्णत पक्षपाती न हो जाए, तो उसे भी यह मानना पडता कि कुछ हेत्वाभासवादी (सोफिस्ट्स) दार्शनिक ढग से इस बात का औचित्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत थे कि 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत सही है। पुरातनपथी लोग सुकरात तक को सदेह की दृष्टि से देखते थे और उसपर यह आरोप लगाते थे कि वह अधार्मिक है और एथेन्स के युवको को भ्रष्ट कर रहा है। यूरीपिडीज़ की कविता, स्टोइकवादियो के बुद्धिवाद, सशयवादियो के विचार-सप्रदायो, और एपिक्यूरियनो के भौतिकवाद मे सन्देह और अनास्था की भावना ओतप्रोत है। स्टोइकवादियो और एपिक्यूरियनो की प्रवृत्तियो मे भिन्नता होने के बावजूद दोनो विश्व-रचना के पदार्थवादी सिद्धान्त को स्वीकार करते थे। वे विश्व को ही नही, मनुष्य की आत्मा को भी एक पदार्थ के रूप मे देखते थे। एपिक्यूरस ने डेमॉक्रिटस के आणविक विचार को ही पुनरुज्जीवित किया। इसका उद्देश्य वैज्ञानिक सिद्धान्तो के आधार पर ससार का निर्माण करना था, ताकि मनुष्यो के मन को देवताओ के भय और अन्धविश्वास की बुराइयो से मुक्त किया जा सके। मृत्यु हो जाने पर आत्मा पुन. उन्ही अणुओ के रूप मे विलय हो जाती है जिन्होने उसकी रचना की थी। जब उसने देवताओ के अस्तित्व को स्वीकार किया, तब उसने लोक-प्रचलित विश्वासो के सामने सिर ही झुकाया, किन्तु उसका यह कथन था कि देवता लोग सिवाय इसके कि आदर्श सौभाग्य का नमूना उपस्थित करें, कुछ भी नही करते थे। देवतागण मानवीय कार्यों के प्रति उदासीन हैं, अत उनकी प्रार्थना करना निरर्थक है। देवताओं पर आस्था भला कैसे बनी रहती जब मनुष्यो की आखो के सामने ही नित्य नये देवता गढे जाते थे। सिकन्दरिया के प्टोलेमियो को स्पष्ट रूप से देवता कहा जाता था। १९६ ई० पू० मे लिखित और काल्विस मे प्राप्त एक अभिलेख मे क्लिनिविटयम फलेमिनिनम के नाम का उल्लेख जीयस, अपोलो, हेराक्लीज़ और मूर्तिमन्त रोमा के साथ हुआ है। जूलियस सीज़र को तो अपने जीवन-काल मे ही दैवी सम्मान प्राप्त होने लगा था, और उसकी मृत्यु के एक ही दिन बाद 'सीनेट' (राज्य-सभा) ने एक राज्यादेश निकाला कि उसको देवता के रूप मे माना जाए, ४४ ई० पू० मे एक कानून बनाया गया जिसमे उसको 'डाइवस' की उपाधि दी गई, और महान ऑगस्टस ने २९ ई० पू० मे 'डाइवस जूलियस' के नए मन्दिर को न्यायालय (फोरम) मे जाकर विधिवत् समर्पित कर दिया।[1] इन सारी बातो ने यूहेमीरस के सशयवाद की इस मान्यता की पुष्टि ही की कि देवता लोग और कुछ नही दैवीकृत मनुष्य ही हैं।

यद्यपि रोम के विद्वान् यूनानी विद्वानो की अपेक्षा बहुत ही कम वितर्कशील थे, तथापि रोम ने प्राचीन काल के एक महानतम सशयवादी (नैयायिक) ल्यूक्रेटियस को जन्म दिया। एक नये मुल्ला के उत्साह और जोश के साथ उसने धर्म पर तीव्र आक्षेप किए और उसके प्रति अवज्ञा तथा घृणा प्रकट की। अपनी कविता 'डी रेरुम नेचुरा' के माध्यम से उसने मानव-मन को उन भयो से मुक्त करने की चेष्टा की जो

१. टेसिवि, लीलि टेले : 'फेज़ेज इन द रिलीजन ऑव् एन्श्येन्ट रोम' (१९३२), पृष्ठ १३८-४० ।

उसे आक्रान्त करते तथा उसपर छाए रहते है । उसने लोगो को इस विचार से सुपरिचित कराया कि मृत्यु के वाद एकदम शून्यता की स्थिति आ जाती है। रोमन साम्राज्य के प्रारम्भिक दिनो मे मार्कस ओरेलियस जैसा सरल तथा सयमी स्टोइक-वादी तक ईसाई धर्म को भय और तिरस्कार की दृष्टि से देखता था। पुनर्जागरण-काल (रेनेसा) के पूर्व तक यह स्थिति थी कि ईसाई चर्च के अत्याचार और निष्ठुरता के कारण स्वतन्त्र विचारणा का कुशलता के साथ दमन किया जा रहा था, यद्यपि तेरहवी शताब्दी मे सम्राट् फ्रेडरिक द्वितीय ने यह कहा था, यदि यह कहानी सच हो तो, कि तीन धूर्तों—मूसा, ईसा और मुहम्मद ने दुनिया को धोखा दिया है। रोगर वेकन निश्चित रूप से सशयवादी विचारक था। मैकियावेली ने अपने ग्रन्थ 'प्रिन्स' मे इस पुरानी धारणा को फिर से ताज़ा कर दिया कि धर्म लोगो को अधीन किए रखने का एक साधन है। ईसाइयत के विरुद्ध अपने मन की वितृष्णा को उसने छिपाया नही। रैबेले (१६६० ई०) तप.वाद और रूढिवादी धर्म को सहन नही कर सकता था। मध्ययुग मे विज्ञान मुख्यत तन्त्रक्रिया और जादू-टोना तक सीमित था , प्रकृति भूत-प्रेतो से भरी हुई थी और उसके साथ कुछ भी छेडछाड करने का अर्थ था लोगो का कोपभाजन वनना। फ्रायर वेकन को ऐन्द्रजालिक कहकर गिरफ्तार कर लिया गया था। सोलहवी और सत्रहवी शताब्दी मे कोपरनिकस, केपलर, गैलिलिओ, हार्वे और न्यूटन जैसे वैज्ञानिको के नेतृत्व में वैज्ञानिक आन्दोलन ने प्राकृतिक व्यापारो के लिए अतिप्राकृत व्याख्या देने की प्रवृत्ति को निरुत्साहित किया और लोगो के मन मे यह वात वैठाई कि यह सारा विश्व एक यन्त्र के समान है जो कारण-कार्य की प्रक्रिया के कठोर सुनिश्चित नियमो के द्वारा चालित होता है। विज्ञान के क्षेत्र मे जो नई-नई खोजें हुई और जो मानसिक हलचल दिखाई दी, उसने लोगो मे एक नई जागृति पैदा की और लोग विज्ञान से वडी-वडी आशाए वाधने लगे। ऐसा लगा कि लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि विश्व का अन्तिम रहस्य भी अव उद्घाटित हुए विना न रहेगा और एक स्थायी सभ्यता का वडे पैमाने पर ताना-वाना बुना जा सकेगा। ऐसा जान पडने लगा कि लोग अपने को सृष्टि का स्वामी मानने लगे हैं। हालाकि वे स्वय को स्वर्ग का उत्तराधिकारी नही मानते थे। यद्यपि डेकार्ट, वोयल, वेकन और न्यूटन जैसे कुछ लोग, जो वैज्ञानिक आन्दोलन के अग्रणी व्यक्ति थे, धर्म-विरोधी नही थे, तथापि कुल मिलाकर उस आन्दोलन ने लोगो को स्वतन्त्र चिन्तन के लिए प्रोत्साहित किया। धार्मिक सघर्षो ने, जिन्होंने आगे चलकर सुधार-आन्दोलन को जन्म दिया, सशयवाद और युद्धो को वढाने मे योग दिया। ईसाई धर्म-सस्था (चर्च) अनेक सम्प्रदायो मे विभक्त हो गई और उसमे वहुत-से झगडे-टटे खडे हो गए , लोग दण्डित किए जाने लगे और आए दिन युद्ध होने लगे। मोटेन (१५३३-९२) कहने को तो कैथोलिक था, परन्तु असल मे वह नास्तिवादी (ऐग्नॉस्टिक) था। वह कहता है "तुम जीवित हो या मृत, मृत्यु से तुम्हारा कोई वास्ता नही, क्योकि तुम जीवित हो तो इसका अर्थ है कि तुम 'वर्तमान हो', और तुम मृत हो, तो इसका अर्थ है कि तुम हो ही नही—फिर मृत्यु की तुम्हे क्या चिंता ?" लियोनार्दो द विंची किसी भी ऐसे धार्मिक सिद्धात

को मानने के लिए प्रस्तुत न था जिसे तर्क की कसौटी पर न कसा जा सके, वह पूरा सशयवादी था। शेक्सपीयर का भी यही हाल था। जे० आर० ग्रीन लिखते है "अपने चतुर्दिक के धर्मशास्त्रीय निष्कर्षों पर ध्यान दिए बिना ही वह (शेक्सपीयर) जीवन और मृत्यु की पहेली को अन्त तक एक पहेली ही रहने देता है।" फ्रैंसिस बेकन के मत मे "दिव्य सत्ता (ईश्वर), सृष्टि, उद्धार के रहस्य केवल ईश्वर के शब्द तथा दैवी प्रेरणा पर ही आधारित हैं, प्रकृति के प्रकाश पर नहीं।"[1] अलौकिकतावाद और इल्हाम के द्वारा प्राप्त धर्म के प्रति हॉब्स की नफरत तो किसीसे छिपी है नही। ईश्वर के विषय मे हम इतना ही वैध रूप से कह सकते हैं कि वह प्राकृतिक ससार का अज्ञात कारण है, इसलिए हमारा उच्चतम कर्त्तव्य है नागरिक नियम के अनुसार चलना। उसने धर्म को राज्य के एक विभाग से अधिक महत्त्व नही दिया। उसका विचार था कि राज्य की प्रभुसत्ता निरपेक्ष है और वह किसीके प्रति उत्तरदायी नही है।[2] लॉक आस्तिवाद का समर्थन इसलिए अधिक करता था, क्योकि इसमे राज-काज मे सहायता मिलती है। यह सामाजिक सुरक्षा के लिए आवश्यक था। 'द रीजनेबुलनेस ऑव् क्रिश्चियैनिटी' शीर्षक अपने ग्रथ मे उसने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि ईसाई धर्म के सिद्धान्त तर्कसगत हैं। यह माना गया है कि अपनी तर्कसगति के कारण ही ये सिद्धान्त लोगो को स्वीकार्य हो सके। अत उसकी दृष्टि मे तर्कज्ञान का एक पूर्ण विश्वसनीय साधन है और निश्चयता की शोध मे यह अचूक पथप्रदर्शक है। तर्कना के जो विषय है, वे बौद्धिक सहजबोध मे नही मिलते, जो वास्तविक अस्तित्व के अन्तराल मे झाक आता है, वरन् सवेदना और इन्द्रिय-बोध मे मिलते हैं। यदि ज्ञान के केवल यही विषय हैं, इससे तो यही निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य की तर्कना धार्मिक सत्यो तक नही पहुच सकती। लॉक इल्हाम द्वारा होनेवाले ज्ञान (श्रुतिप्रकाश) की वास्तविकता को स्वीकार करता है, हालाकि वह स्वय धार्मिक क्षेत्र मे भी बौद्धिक ज्ञान को ही तरजीह देता है। उसका विश्वास है कि धर्म की सभी मुख्य धारणाएं बौद्धिक रूप से प्रमाणित की जा सकती हैं।[3] लॉक का युवक आयरिश शिष्य टोलैण्ड आस्तिकतावाद की पुष्टि करता है और इसके लिए इजीलो से भी समर्थन ढूढ लेता है।[4] "मानववादी पुस्तको को जिस उचित ढग से और ध्यानपूर्वक

१ 'एडवान्समेंट ऑव् लर्निङ्ग' ii।

२ और भी देखिए, इस पुस्तक का परिशिष्ट, टिप्पणी ६।

३ "क्योंकि स्वाभाविक धर्म के उपदेश सीधे-सादे होते हैं, और मानव-जाति उनको बहुत सरलता से समझ सकती है तथा उनमें मतभेद की भी शायद ही कोई गुजाइश होती है, और इल्हाम के द्वारा उपलब्ध अन्य सत्य जिनको हम पुस्तकों और भाषाओं के माध्यम से जान पाते हैं, उनमें सामान्य तथा स्वाभाविक अस्पष्टताएं तथा शब्दों की व्याख्याओं के कारण कठिनाइयां हो सकती हैं। इसलिए मुझे यह ठीक जान पड़ता है कि हमें स्वाभाविक धर्म का पालन करने में अधिक सावधान और अधिक प्रयत्नशील रहना चाहिए और इल्हामी सत्य (श्रुतिप्रकाश) पर आधारित धर्म पर अपना समझ और व्याख्या को लादने में कुछ कम प्रगल्भ, निश्चयात्मक एव धृष्ट होना चाहिए।" ('एस्से कन्सर्निंग ह्यूमन अण्डरस्टैंडिंग', ४४४, ix, २२)।

४ 'क्रिश्चियैनिटी नॉट मिस्टीरियस', ११, iii, २२ (१६९६)।

हम पढते है, उसीसे यदि लोग पवित्र ग्रन्थो को पढें, तो वे उस सत्य को जान सकेंगे जिसका समर्थन मैं करता हू। अन्य सामान्य पुस्तको का अर्थ समझने के लिए जो नियम हैं, उनसे कुछ भिन्न नियम धर्मशास्त्रो का अर्थ समझने के लिए नही हैं।" आस्तिकतावादी यह मानते हैं कि धार्मिक जीवन के लिए जो सत्य आवश्यक है, उनको बौद्धिक ढग से प्राप्त किया जा सकता है और केवल इसी प्रकार का स्वाभाविक धर्म लोगो के लिए आदरास्पद हो सकता है। आर्कबिशप टाइलॉटसन कहता है "ईसाई धर्म द्वारा प्रतिपादित सभी कर्त्तव्य, जो ईश्वर का आदर करते हैं, वही हैं जो स्वाभाविक प्रकाश मनुष्यो को करने के लिए प्रेरित करता है, केवल दो पवित्र धार्मिक सस्कार इसके अपवाद हैं, साथ ही वे क्राइस्ट के नाम पर अथवा उनकी मध्यस्थता के द्वारा ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।" ऐन्थोनी कौलिन्स कहता है "और ये भी धर्म के उन अशो की अपेक्षा कम आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है जो स्वाभाविक रूप से मानव-समाज के सुख के उपयोगी है।"[1] हम यह निश्चयपूर्वक नही कह सकते कि ईसाइयत इल्हाम या श्रुतिप्रकाश के द्वारा प्राप्त धर्म है, क्योकि स्थिति यह है कि कोई भी यह नही जानता कि दैवी सदेश से जो चीज़ प्राप्त हुई वह क्या है, हर आदमी यही सोचता है कि धार्मिक सिद्धान्तो को वह जिस रूप मे प्रकट कर रहा है, वही सच्चा श्रुतिप्रकाश है और शेष दूसरो का कहा हुआ भयकर रूप से गलत है, भ्रमात्मक है। कहने को तो लोग कहते है कि बाइबिल भी अन्त स्फूर्त्त प्रेरणा के फलस्वरूप रचित रचना है, परन्तु यह तथ्य भी ईसाई धर्म के अधिकारी व्याख्याताओ को उसकी मूलभूत बातो पर एकमत नही कर पाया है। आस्तिकतावाद (डीइज्म) विकसित हुआ। आस्तिकतावादी बुद्धिवादी हैं, परन्तु उनमे धर्म के प्रति भावना भी है। उनमे जो बुद्धिवाद था उसने उनको लकीर का फकीर होने से, रूढिवादी बनने से रोका और धर्म के प्रति उनमे जो भावना थी, उसने उनको नास्तिकतावादी नही बनने दिया। सत्रहवी शताब्दी के कुछ 'नॉनकन्फर्मिस्ट' (प्रोटेस्टैंट) लोगो के कथनानुसार, उन्तालीस अनुच्छेद (आर्टिकिल्स) जिन धर्मग्रन्थो पर आधारित हैं उनकी माग करने पर एक पादरी ने २ टिमोथी IV, १३ के उद्धरण देते हुए यह उत्तर दिया था "ट्रोआस मे मैंने अपना जो लबादा छोडा था उसे तू ले आना, तू अपने साथ पुस्तको को भी, विशेषतया चर्मपत्राकित पाण्डुलिपियो को अवश्य ले आना।" यदि टिमोथी ने सेंट पॉल की आज्ञा का पालन करने मे प्रमाद न दिखाया होता, तो हमे आज वे चर्मपत्राकित पाण्डुलिपिया उपलब्ध होती जिनसे प्रमाण मिल सकते, जिनको हम किसी प्रकार आज नही प्राप्त कर पा रहे। जब ऐन्थोनी कॉलिन्स से यह पूछा गया कि देवताव [illegible] खने के बावजूद वह अपने नौकरो को गिरजाघरो मे क्यो भेजता है, तब [illegible] था [illegible] न मुझे लूट सकें और न मेरी हत्या कर सकें।" [illegible] ईमा [illegible] 'उपदेशप्रद उपाख्यान' समझता था, परन्तु साथ [illegible] था [illegible] को इग्लैण्ड के चर्च [illegible] को भी स्वीकार [illegible] २८ [illegible] अपने छ

१. [illegible] -थिकिग' (१७१३
२ [illegible] 'इगलिश थॉ [illegible] री

'डिसकोर्सेज ऑन द मिरैकिल्स ऑव् क्राइस्ट' (क्राइस्ट के चमत्कारो के विषय मे दिए हुए छ भाषणो) मे यह प्रतिपादित किया था कि इजील के आख्यान 'बेहूदगी-भरी बातें' है। ह्यूम ने यह कहा था कि चमत्कारवाली बातें असम्भव है और यह स्वीकारा था कि ईश्वर के अस्तित्व को तर्कों से नही सिद्ध किया जा सकता। बैरन डी' होलबैश् विश्व-सम्बन्धी भौतिकवादी धारणा के पक्ष मे था और वह ईश्वर के अस्तित्व तथा आत्मा की अमरता को स्वीकार नही करता था। श्री नोयेस का कथन है कि वॉल्टेयर आस्तिकतावादी था, किन्तु इसमे कोई सन्देह नही कि वह चर्च (ईसाई धर्म-सस्था) का कटु आलोचक था, उसका कहना था कि चर्च निर्दयता, अन्याय और असमानता को उकसानेवाली सस्था है। तनिक उसकी प्रार्थना पर दृष्टिपात कीजिए जिसमे फासीसी ज्ञानोद्दीप्ति की मानवतावादी भावना की झलक मिलती है

> "तूने हमे हृदय इसलिए नही दिया है कि हम एक-दूसरे को घृणा करें, न हाथ ही इसलिए दिए है कि हम एक-दूसरे का गला दबोचें, वरन् ये चीजें हमे इसलिए मिली है ताकि हम थकानेवाले और परिवर्तनशील जीवन के बोझ को वहन करने मे एक-दूसरे की सहायता कर सकें। हमारे दुर्बल शरीरो को ढकनेवाले वस्त्रो, हमारी अपर्याप्त भाषाओ, हमारे बेतुके रीति-रिवाजो, हमारे अपूर्ण कानूनो, हमारी सारी निरर्थक सम्मतियो, और हमारे सारे सामाजिक स्तरो मे कुछ हलके अन्तर है, इनको हम बहुत तूल दे देते है : एक-दूसरे से इनको बिलकुल भिन्न मान बैठते है, परन्तु तेरी दृष्टि मे वे सब एक-जैसे ही है। 'अणुओ' को जिनको हम 'मनुष्य' कहते है, परस्पर अलग करनेवाली जो सूक्ष्म विशेषताए है, वे ऐसी तो नही है कि जिनके कारण हम एक-दूसरे को घृणा करें और एक-दूसरे पर अत्याचार करें।"

निश्चय ही वह रूढिवादी पादरी नही था। अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे जब वह एक बार बीमार पडा, तब एक पुरोहित को उसने बुलाया। पुरोहित ने जीवन मे किए बुरे कार्यों की आत्म-स्वीकृति करने को उससे कहा। बीमार वॉल्टेयर ने उससे पूछा "किसने तुम्हे भेजा है ?" उत्तर मिला "ईश्वर की ओर से मैं भेजा गया हू।" तब उसने उससे इसका प्रमाण-पत्र मागा। इसके बाद वह पुरोहित क्या कहता, वह चुपचाप वहा से चला गया। दिदेरो और विश्वकोशकारो के मन मे रूढिवादी धर्म के प्रति स्पष्ट ही तिरस्कार की भावना थी। अपनी पुस्तक 'इन्टरप्रिटेशन ऑव् नेचर' को समाप्त करने पर दिदेरो चिल्ला उठा था.

> "हे ईश्वर, मैं तुझसे कुछ नहीं मागता, यदि तू नही है, तो प्रकृति की

आस्तिकतावादी (डाइस्टिक) काल का उल्लेख करते हुए कहता है : "उच्च वर्गों में जो सशयवाद परिव्याप्त था, वह अकर्मण्य प्रकार का था, इसमें यह बात भी निहित थी कि उनकी यह पूरी इच्छा थी कि ईसाई धर्म भले ही विनष्ट हो जाए, परन्तु ईसाई धर्म-सस्था (चर्च) को तो बने रहना चाहिए।" (खण्ड [illegible], पृष्ठ ३७५)।

> क्रिया एक आन्तरिक आवश्यकता है , और यदि तू है, तो यह तेरी आज्ञा है, हे ईश्वर, मैं नही जानता कि तू है या नही, किन्तु मैं यही सोचूगा कि तू मेरी आत्मा मे देखता है, मैं यह मानकर तुझसे मागूगा कि मैं तेरे सामने खडा हू यदि मैं भला हू और दयालु हू, तो मेरे साथी किसी प्राणी को इस बात से क्या लेना-देना कि मैं ऐसा अपने स्वस्थ एव सुखी शरीर के कारण हू या अपनी स्वतंत्र इच्छा के कारण हू या तेरी कृपा के कारण हू ?"

रूसो के भावनात्मक आस्तिकतावाद मे और ईसाई रूढिवादिता के मध्य कुछ भी समानता नही है। लाइब्निज को चीन का 'श्रुतिप्रकाशरहित धर्म' अच्छा लगता था। काण्ट का कथन है कि यद्यपि हमे व्यावहारिक जीवन के लिए ईश्वर की आवश्यकता है, तथापि ईश्वर के अस्तित्व को किसी सैद्धान्तिक प्रदर्शन के द्वारा सिद्ध नही किया जा सकता। हीगेलवादी तर्कशास्त्र मे किसी ऐसे ईश्वर को स्थान नही है जिसके सामने हम प्रार्थना कर सकें और जिसकी पूजा कर सकें। उसकी दृष्टि मे प्रशिया का राज्य 'पृथ्वी पर वर्तमान दैवी विचार का अवतार' था। राष्ट्रीय समाजवाद हीगेल की विचार-परम्परा को अभी जारी रखे हुए है और वह प्रशिया के राज्य की ओर नही देखता, वरन् नॉर्डिक जाति को देखता है और उसे ब्रह्माण्डीय बुद्धि की पूर्ण तथा श्रेष्ठतम आत्माभिव्यजना मानता है। राष्ट्रीय समाजवाद के मान्य दार्शनिक हेर रोजेनबर्ग अपनी पुस्तक 'द मिथ ऑव द ट्वेन्टिएथ सेन्चुअरी' (१९३०) मे यह स्पष्ट कर देता है कि उसे आस्तिक के अतीन्द्रिय ईश्वर मे कोई आस्था नही है। उसका ईश्वर तो है मानवीय चेतना और जातीय समाज। फिक्ते ने अपने 'ऐड्रेसेज टु द जर्मन नेशन' मे 'श्रेष्ठ जाति' के विचार पर काफी विस्तार से प्रकाश डाला है। गॉविनो की पुस्तक और मानव-जातियो की असमानता-सम्बन्धी उसके सिद्धान्त मे फिक्ते के विचारो को आगे बढाया गया है। हाउस्टन स्टिवर्ट चेम्बरलेन की पुस्तक 'फाउन्डेशन्स ऑव् द नाइन्टीन्थ सेन्चुअरी' मे जातिवादी विचार कृत्रिम वैज्ञानिक परिवेश मे पुन व्यक्त हुआ है। रोजेनबर्ग का 'मिथ' इस प्रश्न पर लिखित श्रेष्ठ ग्रन्थ है। प्रत्येक जाति की अपनी एक विशेष आत्मा होती है जिसमे उसका सबसे अन्तरग अस्तित्व अभिव्यक्त होता है। उसके विशेप गुण प्रजातिगत रक्त की विशिष्ट विशेषताए समझे जाते हैं। मानव-जाति एक सूक्ष्म, भावात्मक वस्तु है केवल कुछ ही प्रजातिया हैं, कौन प्रजाति किस नस्ल की है, यह उसके रक्त की वशक्रमागत रचना से निश्चित किया जाता है। मानव प्रजातिया न केवल एक-दूसरे से भिन्न हैं, वरन् असमान महत्त्व की हैं। सबसे उत्तम प्रजाति नॉर्डिक है। इस प्रजाति की शाखाए मिस्र के अमोराइटो, भारत के आर्यों, प्रारम्भिक काल के यूनानियो, प्राचीन रोमनो, और सबसे बढ़कर जर्मनीय लोगों, जिनके मुख्य प्रतिनिधि जर्मन हैं, मे पाई जाती हैं। इस प्रजाति की चेतना वोटन नामक देवता के रूप मे प्रतिमूर्त्त हुई है, जो उनकी आध्यात्मिक शक्तियो को लिए हुए है। विश्व-इतिहास के सभी कालो मे यह खतरा बना रहा है कि श्रेष्ठ प्रजाति का रक्त घटिया प्रजाति के रक्त से दूषित न हो जाए। भारत और फारस,

यूनान और रोम मे प्रजातिगत ह्रास के उदाहरण मिलते हैं। नॉर्डिक प्रजाति के लोग किसी सार्वभौमवादी धर्म से परिचित नही। कैथोलिक धर्म फ्रीमैसोनरी तथा साम्यवाद नॉर्डिक प्रजाति की श्रेष्ठता के शत्रु हैं। जर्मनीय आत्मा 'तृतीय राइख' के रूप मे व्यक्त हुई है। जिसमे 'क्रॉस' के स्थान पर 'स्वस्तिक' को प्रतीक बनाया गया है। राष्ट्रीय समाजवादी दल (नेशनल सोशलिस्ट पार्टी) का उद्देश्य है रक्त को दूषित होने से बचाना और इस मूल्यवान, नॉर्डिक तत्त्व को उन्नत करना।

लेसिंग यह मानता है कि मानव-जाति का सारा धार्मिक इतिहास दैवी प्रशिक्षण का एक प्रयोग है। वह कहता है कि आकस्मिक ऐतिहासिक सत्य कभी भी शाश्वत और आवश्यक बौद्धिक सत्यो के साक्ष्य नही बन सकते। हैमन का कथन है कि काण्ट की नैतिकता का अर्थ मनुष्य की सकल्प-शक्ति का दैवीकरण है और लेसिंग के बुद्धिवाद का अर्थ मनुष्य की बुद्धि का दैवीकरण। नीत्शे ने प्रभुओ की नैतिकता और दासो की नैतिकता मे अन्तर किया था। उसकी दृष्टि मे रोमन जाति के लोग बलशाली, समृद्ध, अभिजातवर्गीय एव रईस हैं। ईसाइयत दासो का नैतिक विद्रोह है—ठीक वैसा ही विद्रोह जैसा क्षुब्ध होकर दुर्बल व्यक्ति सबल व्यक्तियो के विरुद्ध किया करते हैं। ईसाइयो की रोम पर विजय रोगी व्यक्तियो की स्वस्थ व्यक्तियो पर प्राप्त विजय थी, गुलामो की रईसो पर पाई जीत थी। दासो मे जो क्षोभ की भावना थी, उसीको व्यक्त करने के लिए उन्होंने 'स्वर्ग के राज्य' मे सर्वप्रथम स्थान पाने का अधिकार अपने लिए सुरक्षित रखा। जो स्थान अब तक ईश्वर को दिया गया था, उस स्थान पर ओगस्त कोंते ने मानवता को ला बैठाया। प्रत्यक्षवादियो का आदर्श है ईश्वरहीन विश्व मे सेवा की नैतिकता का पालन। जी० एच० रोमनीज़ (१८४८–९४) ने 'ए कैनडिड एग्ज़ामिनेशन ऑव् थीइज़्म' शीर्षक अपने ग्रन्थ मे लिखा है "यहा जो निष्कर्ष निकाले गए हैं, उनको मैं अत्यन्त दु ख के साथ विवशतापूर्वक स्वीकार कर रहा हू मुझे यह स्वीकार करने मे कोई लज्जा नही कि एक प्रकार से ईश्वर को अस्वीकार करके ससार ने मेरी दृष्टि मे अपने सौन्दर्य की आत्मा को खो दिया है।" आगे चलकर उसने अपने इस विचार मे परिवर्तन कर दिया।[1] औरो की बात तो छोड दीजिए, यहा तक कि स्वय ईसाई विचारको ने ईसाइयत की पुनर्व्याख्या करने की चेष्टा की। श्लेयरमेकर ने धर्म को ईश्वर की अधीनता का रूप दे दिया। परित्राण या उद्धार से रिशल का तात्पर्य इस विश्वास से था कि ईश्वर ने मनुष्य के सामने कोई आदर्श रख दिया है जिसकी ओर वह बढता चले।[2] कई ईसाइयो की दृष्टि मे उनके धर्म का अर्थ मनुष्य से प्यार करना और नि स्वार्थ सेवा से है। भले ही रूढ़िवादी ईसाई अनुग्रह, ससर्ग और परित्राण की पुरानी शब्दावलि का प्रयोग

१. और भी देखिए इस पुस्तक का परिशिष्ट, टिप्पणी १०।

२. डॉ० ए० ई० गार्वी के अनुसार, रिशल का तात्पर्य 'स्वर्गीय राज्य' मे यह है कि "वह एक ऐसा नैतिक आदर्श है जिसको प्राप्त करने के लिए समाज के सदस्य एक-दूसरे के प्रति सौजन्य का व्यवहार करके अपने को एक सगठन के सूत्र में आबद्ध कर लेते हैं।" ('इनसाइक्लोपीडिया ऑव रिलीजन एण्ड एथिक्स', खण्ड X, पृ० ८१२–२०)।

करें, तो भी वे केवल विशुद्ध नैतिकता या मानवतावादी आचार-नीति पर ही जोर देते हैं। स्ट्रौस, रेनान, कार्ल मार्क्स और नीत्शे के ग्रन्थो ने और विकास के वैज्ञानिक सिद्धान्तो ने नास्तिकतावाद को लोकप्रिय बना दिया है। अधार्मिक होने की प्रवृत्ति तो इस समय सर्वत्र पाई जाती है। अनास्था का भाव आज उग्र है और सर्व-व्यापक है।

सशयवाद ने पाश्चात्य मन को सदा से आक्रान्त किया है। उसने कई रूप ग्रहण किये हैं। धर्म मे आधुनिकतावाद, विज्ञान मे मानववाद, या प्रकृतिवाद—ये सब उसीके रूप रहे हैं। आधुनिकतावाद केवल उन्ही आन्दोलनो तक ही अपने को सीमित नही रखता जो उसके नाम से चलाए जाते हैं। ऐसे सभी लोग, जो एक ही साथ परम्परागत रूप से धार्मिक भी रहना चाहते हैं और बौद्धिक मनवाले भी, वे आधुनिकतावादी ही है—उनमे मात्राओ की न्यूनाधिकता का अन्तर भले हो। 'चर्च ऑव् इग्लैण्ड' के ईसाई-सिद्धान्तो की छानबीन करने के लिए जो आयोग नियुक्त किया गया था उसकी रिपोर्ट की भूमिका मे यार्क के आर्कबिशप ने लिखा है

"चर्च (इग्लैण्ड के चर्च) मे मुझे जो उत्तरदायित्वपूर्ण पद प्राप्त है, उसको ध्यान मे रखते हुए मैं यहा बलपूर्वक यह कहना चाहता हू कि हमारे प्रभु ईसा के कुमारी माता ('वर्जिन मदर') की कोख से पैदा होने और मर जाने के बाद कब्र से उनके भौतिक शरीर के पुन जीवित हो जाने की घटनाओ को मैं ऐतिहासिक तथ्य मानता हू और पूरे दिल से ऐसा मानता हूं। परन्तु मैं उन लोगो की स्थिति को भी समझता हू जो ईमानदारी से प्रभु ईसा के अवतारी दिव्य पुरुष होने की बात तो स्वीकार करते है, लेकिन इन दोनो या इनमे से किसी एक घटना को वास्तविक ऐतिहासिक घटना मानने से इन्कार करते हैं , जो इन घटनाओ को नीति-कथा या अन्योक्ति मानते हैं, इतिहास नही , जो इनको आख्यान के रूप मे आध्यात्मिक सत्य की अभिव्यक्ति मात्र मानते हैं।"[1]

हर धर्म के बारे मे यह कहा जाता है कि दैवी सदेश की प्रेरणा से, इल्हाम से उसकी उत्पत्ति हुई। अब हम इस बात को किस रूप मे ग्रहण करते हैं, यह हमारी भक्ति, धर्मनिष्ठा और हमारी बौद्धिक चेतना पर निर्भर करता है। फिर भी, यह प्रश्न किसी आस्था-सम्बन्धी इस या उस घटना के मानने या न मानने से उतना सम्बन्धित नही है जितना इस बात से कि धर्म के तत्त्व-दर्शन के किसी अश को किस रूप मे समझा जाता है और किस रूप मे उसका औचित्य सिद्ध किया जाता है। यह किसी विश्वास के इस या उस आलेख को मानने का प्रश्न नही है, वरन् उसको बौद्धिक ढग से सोचने की आदत का प्रश्न है। किसी भी तथ्य या सत्य का निश्चय करने की केवल एक विधि है और वह है आनुभाविक विधि। जो चीज़ अनुभव मे सच्ची सिद्ध हो जाती है, वही सही होती है। जबकि आधुनिकतावाद और मानववाद न्यूनाधिक रूप से मध्यवर्ती मार्ग हैं, वे किसी बात को नरम ढग से प्रस्तुत करते हैं, तब द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद बडी दृढता और स्पष्टता के साथ प्रश्न पर अपने विचार उपस्थित करता है। ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे इसके अपने विचार हैं, मनुष्य की उत्पत्ति और उसकी प्रकृति

१. 'डॉक्ट्रीन इन द चर्च ऑफ् इग्लैण्ड' (१६३८), पृ० १२।

के बारे मे इसके निजी सिद्धान्त हैं तथा इसकी अपनी आर्थिक तथा अपनी सामाजिक योजना है, इसका अपना अलग धर्म है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद पुरजोश दलील देता है कि बुद्धि की स्थिर और शान्त सर्चलाइट फेंकने की आवश्यकता है, जिससे हम अतीत काल के उस अन्धकार तथा वर्बरता का भेदन करके उनमे बाहर निकल सकें जिसको पाखण्डी साधुओ और वचको ने जन-मानस मे फैला रखा है, भ्रान्तियो तथा विषादो से परिपूर्ण अन्धविश्वास की मूढता को दूर हटा सकें, विवेकशीलता, सस्कृति तथा सभ्यता के प्रशस्त पथ पर बढते चले जाए। जब हम स्वर्ग और ईश्वर की बात करते है तब हम 'एक वायवीय शून्य को स्थानीय बस्ती और नाम दे देते हैं।' स्वर्ग और ईश्वर घिसे-पिटे अन्धविश्वास हैं जो पुरातत्त्वविदो की रुचि के ही विषय रह गए हैं। धर्मों ने मानव-जाति की एक उपयोगी सेवा अवश्य की है और वह यह कि इन्होंने सभी गलत सिद्धान्तो को पहले से ही निरर्थक सिद्ध कर दिया है। भूत-द्रव्य और गति की परिभाषा मे प्रत्येक वस्तु के अस्तित्व को समझाया जा सकता है। मार्क्स हीगेल के इस दृष्टिकोण को स्वीकार करता है कि कोई अन्तर्निहित सर्वव्यापक सत्य है जो आतरिक तर्क-न्याय के द्वारा अपने को उद्घाटित करता है। परन्तु, वह हीगेल के अन्तर्निहित सर्वव्यापक सत्य के स्थान पर भूत-द्रव्य को रखता है। भूत-द्रव्य आत्म-गति और स्वगत्यात्मकता की शक्ति से सम्पन्न है। एक आत्म-निश्चयात्मक गति को, जिसकी उच्चतम अभिव्यक्ति मानव व्यक्तित्व है, भूत-द्रव्य का ही रूप माना जाता है और मनुष्य के अह को स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व से वचित कर दिया जाता है। एक ऐसा भी समय था जब अपराधियो और पापियो के भाग्य मे अनन्त काल की नरक-यातना ही लिखी होती थी, अन्य कोई निस्तार नही था उनके लिए, किन्तु आज उनको स्वस्थ और नैतिक नागरिको के रूप मे पुन बदला जा सकता है—और ऐसा ईश्वर की कृपा से नही किया जा सकता, बल्कि उनकी थायरायड ग्रन्थि मे आयोडीन पहुचाकर! नरक या स्वर्ग वशानुक्रम को बदल देने या शरीर मे फास्फोरस के अनुपात पर निर्भर करता है। यद्यपि मनुष्य की उत्पत्ति भौतिक प्रक्रियाओ के द्वारा होती है, तो भी उसको दैवी अस्तित्व से सम्बद्ध माना जाता है। चूकि स्पष्ट ही कोई व्यक्ति देवत्व के लिए बहुत तुच्छ जान पडता है, इसलिए मार्क्सवाद मे मानव-समाज को यह सम्मान दिया जाता है।

यूनानियो के साथ-साथ हम भी यह मानने लगे हैं कि विध्यात्मक कर्म, ठोस तर्कना और सार्वजनिक भावना से ही सच्ची प्रगति हो सकती है। हम रीति-रिवाज के सामने प्रकृति का विरोध करते हैं और रीति-रिवाजो को धोखाधडी तथा प्रवचना कहकर उनका प्रत्याख्यान करते हैं। रीति-रिवाजो के विशाल ढाचे को, जिसे हम नैतिकता कहते हैं, और जिसका निर्माण हमने जगलीपन की स्थिति से उन्नति करने के दौरान किया है तथा जिसको हम एक निरपेक्ष महत्त्व प्रदान करते हैं, एक परम्परा कहकर टाल दिया जाता है। प्रकृति न तो न्याय जानती है, न दया। वह तो केवल अधिक बलशाली की शक्ति को जानती है 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धान्त को मानती है। धर्म जिन शान्ति और भ्रातृत्व पर बल देता है, उनकी सम्भावनाए

ससार मे मृगमरीचिका के तुल्य हैं। समाज के जीवन और स्वास्थ्य को जो बातें और दशाए निश्चित करती हैं, उनको जानने के लिए हमे जीवशास्त्र के क्षेत्र की ओर मुडना होगा। मनुष्य के शरीर मे एक जीव-कोष का जो कार्य होता है, उससे भिन्न कार्य मनुष्य का समाज मे नही होता। सघर्ष और युद्ध का मानव-जाति के विकास मे बहुत हाथ है। पेरिक्लीज़ ने किसीकी अत्येष्टि-क्रिया के बाद जो भाषण किया था, उसमें इसका सकेत मिलता है। अपने उस भाषण मे उसने राज्य के गौरव का और युद्ध-क्षेत्र मे वीरगति पाने का बखान किया है। मेलोज के लोगो से बहस करते हुए एथेन्स-वासियो ने इस सिद्धान्त का उद्घोष किया था कि जो चीज़ एथेन्स को लाभ पहुचाने-वाली है, वह न केवल उपयोगी है, बल्कि उचित भी। इस प्रकार एथेन्सवासियो ने क्या सच है और क्या झूठ, क्या सही है और क्या गलत इसका स्वयभू निर्णायक भी अपने आपको बना लिया था। ईसाई धर्म इस आदत को बदलने में समर्थ नही हो सका है। सर टॉमस ब्राउनी ने अपने 'रिलिजिओ मेडिसी' मे कहा था . "सभी लोग एक साथ सुखी नही हो सकते, क्योंकि एक राज्य का गौरव दूसरे राज्य के विनाश पर निर्भर करता है।" वॉल्टेयर ने कहा था "मनुष्य के कार्यों का तो हाल यह है कि वह अपने देश की महानता की कामना करने का अर्थ मानता है अपने पडोसियो का अनिष्ट चाहना।" फिक्ते का कथन है कि "सदा ही, अनपवाद रूप से, सबसे अधिक सभ्य राज्य सबसे अधिक आक्रामक राज्य होता है।" ट्रीट्श्के ने लिखा था "जब तक इतिहास रहेगा तब तक युद्ध भी रहेगा। मानवीय विचार और स्वभाव के नियम ऐसे हैं कि इसके अतिरिक्त कोई विकल्प नही रह जाता, इनमे कोई एक भी वाञ्छित नही है।" स्पेंग्लर का कथन है कि 'मनुष्य एक मृगव्य जीव है' और हमारे तानाशाह हमे इस बात का स्मरण कराते हैं कि "मनुष्य के जीवन मे युद्ध का वही महत्त्व है जो नारी के जीवन मे मातृत्व का। मातृत्व नारी के लिए एक बोझ है, अकथ पीडा का एक साधन है, परन्तु फिर भी कितना गरिमामय है यह! यही बात युद्ध के लिए भी कही जा सकती है।" मुसोलिनी कहता है "केवल युद्ध ही मानव-शक्ति को उसके चरम तनाव की स्थिति मे ला सकता है और जो लोग इसका सामना करने का साहस रखते हैं उनपर श्रेष्ठता की छाप लगा सकता है।" डॉ० गोयबेल्स की दृष्टि मे "युद्ध जीवन का सबसे अधिक सीधा-सादा अनुमोदन है।" 'बायो-पॉलिटिक्स' नामक पुस्तक में, जिसे सर आर्थर कीथ ऐडम स्मिथ की पुस्तक 'वेल्थ ऑव् नेशन्स'[1] के समकक्ष रखते हैं, यह कहा गया है कि "युद्ध वैसा ही अयुक्तियुक्त है जैसे भूकम्प तथा रोग अनुचित हैं। परिपूर्ण और चिर-स्थायी शान्ति तो मृत्यु ही है, यदि सही बात कही जाए तो शान्ति एक युद्ध-विराम है। शान्ति एक प्रकार की सहनशीलता है—एक ऐसी सहिष्णुता है जो दोनो पक्षो मे समान रूप से पाई जानी चाहिए।" और फिर, "सभी विकासशील प्रगति मे मद्धिम और प्रच्छन्न शत्रुता का स्थान रहता ही है।" इस प्रकार हम युद्ध के विचार को सभ्य

१. मॉर्ले रॉबर्ट्स द्वारा 'बायो पॉलिटिक्स' की समीक्षा में लिखा गया निबन्ध "ऐन एसे इन द् फिजिओलॉजी, पैथॉलॉजी एण्ड पॉलिटिक्स ऑव् द सोशल एण्ड सोमैटिक ऑर्गेनिज्म" (द ऑब-ज़र्वर, १६ जनवरी, १६३८)।

जीवन का एक साधारण भाग मान लेने के लिए अपने को अभ्यस्त करते जा रहे हैं।

यह स्वीकार करना अत्यावश्यक है कि अपने अधिकाश जीवन मे हम लोग भौतिकवादी हैं। हम भौतिक शक्ति और मशीन की पूजा करते हैं, हममे शक्ति-सचय और अधिकार-प्राप्ति की लालसा होती है। इस हमारे पृथ्वी ग्रह का शासन आत्मा नही करती, वरन् शक्ति करती है। मानवतावाद एक प्रकार की आत्मनिरति है, यह कोई आदर्श नही है। रूस और मेक्सिको मे साम्यवाद ने खुल्लमखुल्ला धर्म का प्रत्याख्यान किया है। जर्मनी मे एक नया कबायली धर्म विकसित हो रहा है। इग्लैण्ड मे तो पूर्ववत् ही कोई चीज तर्कसगत रूप से नही होती। वहा सन्त नही हैं तो नास्तिक भी नही हैं। न तो वहा सक्रिय आस्था है, न सक्रिय अनास्था। सभ्य-सस्कृत अग्रेज का रुख 'चर्च' के प्रति वैसा ही है जैसा राजतत्र के प्रति। यदि वह गिरजाघर मे नही जाता या प्रार्थना नही करता, तो वह चर्च का उसी प्रकार आदर करता है जिस प्रकार वह राजतत्र का—दोनो को ही वह पुनीत सम्माननीय सस्थाए मानता है। रूढिनिष्ठता विवेक का विषय है। अग्रेज लोग मुख्यत राजनीतिक व्यक्ति हैं। उनकी राजनीतिक मूल-प्रवृत्ति उनसे कहती है कि वृद्ध प्लूटार्क ने ठीक ही कहा था कि यदि कोई नगर स्वशासित होना चाहता है, तो उसमे दो चीजें तो होनी ही चाहिए ईश्वर और स्थानीय सरकार के लिए प्रशासकीय भवन, एक गिरजाघर और एक सार्वजनिक सभा-भवन (टाउन-हॉल)। वे धर्म का आदर उसके राजनीतिक महत्त्व के कारण करते हैं। यदि वे गिरजाघर मे जाते हैं और वहा जाकर घुटने टेककर प्रार्थना करते हैं, तो वे इस रूप मे सामाजिक व्यवस्था को ही श्रद्धाजलि अर्पित करते हैं; किन्तु इस प्रकार का दृष्टिकोण निश्चय ही धार्मिक जडता की भावना उत्पन्न करनेवाला होता है। ईश्वर तो हो भी सकता है और नही भी। वह हो तो और न हो तो, उससे कुछ ज्यादा फर्क नही पडता। लोग धर्म को अस्वीकार भी नही करते, परन्तु उसे मन से स्वीकार भी नही करते, उसके प्रति अन्यमनस्क से रहते हैं। सभ्य और सस्कृत व्यक्ति जैसे अपने खेलते-कूदते बच्चो को रोकते-टोकते नही, वैसे ही वे आस्तिक और धर्म-विश्वासी लोगो की आस्था मे कोई हस्तक्षेप नही करते।

[३]

पाश्चात्य धार्मिक जीवन मे दूसरी धारा यहूदी धारा है। इज़रायल को यह चिरगौरव प्राप्त है कि उसमे महान पैगम्बर पैदा हुए हैं। उन पैगम्बरो की मानवता को आवश्यक देन उत्साहपूर्ण एकेश्वरवाद की रही है। उन्होंने ब्रह्म की स्थूल सजीव ईश्वर के रूप मे धारणा की है और माना है कि उसके विचार और तरीके मनुष्य के विचारो और तरीको से भिन्न है।[1] यहूदी लोग आध्यात्मिक या निर्गुण ब्रह्म मे नही विश्वास करते थे, वरन् एक ऐसे सगुण ईश्वर मे उनका विश्वास था जो शाश्वत रूप से सक्रिय है और जो अपने इतिहास मे विशेष रूप से आबद्ध अपने जीवो मे अनवरत रूप से रुचि लेता है। पाश्चात्य चेतना जो शुद्ध बुद्धि और राज्य के गौरव पर बल

1 इसायह IV ८

देती थी, का मिश्रण यहूदी तत्त्वो से हो गया और ईसाई धर्म के धार्मिक कट्टरता-विहीन और सार्वभौम पक्षो पर वह हावी हो गई। ईसाई धर्म ब्रह्म-सम्बन्धी कवायली तथा बुद्धिवादी मान्यताओ के विरुद्ध विद्रोह के रूप मे आरम्भ हुआ था। सामी (सेमेटिक) विचार—अनन्यता और मतानुराग—पश्चिमी मनुष्य की सशक्त मूलप्रवृत्तियो को बहुत भाये, बाद मे उन्होने यूनानी भाषा मे उनको अभिव्यक्त किया और रोमन सगठन के रूप मे उनको साकार किया। कुछ समय के लिए जब यूरोप के राजनीतिक भाग्य का सितारा मद्धिम पड गया था, जब रोमन साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया था और उसकी प्रजा की हानियो तथा कष्टो का कोई वार-पार न था, बर्बर जातियो के क्रूर आक्रमणो का वह शिकार होने लगी थी, यूरोप भयाक्रान्त था, तब ऐसे थके-हारे और दुर्दिन-ग्रस्त लोगों को ईसाइयत के द्वारा नवजीवन का सन्देश मिला। जो लोग जीवन से बुरी तरह भयभीत थे, उनको ईसाइयत ने अपने आंचल में समेटकर उनके घावो पर प्रलेप लगाया। परन्तु ईसाइयत की सारी भावना यूरोपीय प्रवृत्ति के लिए विजातीय है। पश्चिम का सदा से यह विश्वास रहा है कि दौड का मैदान उसका है जो तेज दौड सकता है और युद्ध मे विजय-वैजयन्ती उसकी है जो बलशाली है। जो निर्बल हैं, भीरु हैं, नम्र हैं, वे या तो पलायन का आश्रय लेते है या घुटने टेक देते हैं। किन्तु जिनमे शक्ति है, ऊर्जा है, और जिनकी धमनियो मे गर्म लहू प्रवाहित है, उनके लिए नम्रता या दैन्य एक घृणास्पद और भयावह पाप है। ईसाइयत सादे और महत्त्वाकाक्षाहीन जीवन पर जोर देती है और उसमे पारलौकिकता पर भी बल दिया गया है। इसलिए ईसाइयत मे उन लोगो को एक स्वाभाविक आश्रय प्राप्त हो गया जो इस जीवन की भौतिक सफलताओ मे आस्था खो बैठे थे, परन्तु आध्यात्मिक जीवन की सफलताओ मे जिनकी आस्था अभी बनी हुई थी। ईसाइयत के चरण जब यूरोप मे पडे तब यूरोप की मनोदशा एक हताश व्यक्ति की मनोदशा जैसी थी, वह इस ससार से थक गया था, ऊब गया था, अत ईसाइयत के इस सदेश का कि भले ही पृथ्वी पर सूर्य पर ग्रहण लग गया हो, स्वर्ग मे यह अभी चमक रहा है, लोगो ने दिल खोलकर स्वागत किया। (इस ग्रन्थ का परिशिष्ट भाग भी देखिए)।

यद्यपि पिछली कई शताब्दियो से ईसाइयत यूरोप का धर्म रह चुकी है, तथापि यूरोप की मनोवृत्ति के साथ यह अभी तक आत्मसात् नही हो पायी है। सेंट पॉल ने कोरिन्थियनों के लिए जो धर्म-पत्र (एपिस्टिल्स) लिखे उनसे सूचित होता है कि आरम्भिक धर्म-प्रचारको ने जब ईसाई-धर्म स्वीकार करनेवालो को अपनी पार्थिव वस्तुओं का अपरिग्रह करने की बात कही, तब कितनी कठिनाई से यह बात उनके गले उतर पायी और प्रचारको को इसके लिए कितनी शक्ति लगानी पडी थी। पश्चिम के जीवन पर ईसाइयत की विजय सदा से ही एक दूरस्थ स्वप्न रहा है। ईसाई चर्च का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि किस प्रकार एक पूर्वीय धर्म ने अपने को धीमे-धीमे पश्चिमी भावना के अनुरूप ढाल लिया है। ईसाइयत की जीत नही हुई है, जीत हुई है पश्चिम की भावना की। ईसाइयत के सयम और तपश्चर्या-पूर्ण सिद्धान्तों मे इस जीवन के दुर्धर्ष सघर्षो और प्रतियोगिताओ मे भाग लेने के

वजाय उनसे दूर ही रहने की प्रेरणा थी, परन्तु उनको यूरोपीय चेतना के अनुसार अपने को रूपान्तरित करना पडा । पाश्चात्य जातिया ससार का परित्याग करने या उसकी सफलताओ को अस्थायी मानने के लिए तैयार नही थी । उनकी कर्मशक्तिया अथाह थी और उनमे जो प्राकृतिक मनुष्य छिपा था, उसको दवाना, झुकाना असम्भव था ।[1] ईसा को सिद्धान्त-सम्वन्धी हठधर्मिता से घृणा थी और उन्होने अपने मत मे आध्यात्मिक और धर्मतात्त्विक उलझनो को कभी उत्साहित नही किया, क्योकि ये उलझनें ही धर्माधर्मविचारणा, वाक्छल, असहिष्णुता तथा सुधार-विरोध के लिए उत्तरदायी होती हैं । ईसा के मुख्य विरोधी वे ऊचे पादरी-पुरोहित थे जो इस वात पर जोर देते थे कि मुक्ति यदि पाई जा सकती है तो केवल शास्त्रसम्मत रूढिनिष्ठ सिद्धान्तो का पालन करके ही । मात्राओ का अन्तर भले हो, परन्तु कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट—दोनो ही ईसाई सम्प्रदायो मे ईसाइयत का रूप सत्ताधिकारी धर्म का हो गया है और वह अपना स्थान एक ऐसी परम्परा मे खोजती है जिसके वारे मे यह विश्वास किया जाता है कि किसी अलौकिक शक्ति ने उसको हम मर्त्यों को प्रदान किया है । अरूप ईश्वर का ध्यान-चिन्तन करने के वजाय सगुण ईश्वर या उसके अवतार मे हम ईश्वर का एक निश्चित स्वरूप पाने लगे हैं । धार्मिक सस्कारो, अनुष्ठानो और मत्रो के प्रति उदासीनता के स्थान पर हम उनपर सवसे अधिक जोर दिया जाता पाते है। यद्यपि ईसा ने सगठन या सस्था पर विलकुल ध्यान नही दिया था, तो भी आज उन्हीकी शिक्षाओ के नाम पर एक धार्मिक सस्था तथा पादरी-पुरोहितो का वडा विशाल ढाचा खडा हो गया है । एक ऐसे राज्य की स्थापना की चेष्टा करते-करते, जो इस ससार का नही होगा, इस पृथ्वी पर ऐसे धार्मिक सगठनो की स्थापना कर दी गई है जिनमे सासारिकता अपनी चरम सीमा पर है । ईसा की मूल शिक्षाओ का तो उद्देश्य यह था कि ऐसे आध्यात्मिक लोगो का निर्माण किया जाए जो मतवादो के झगडे-झझट से दूर हो और जिनके हृदय मे किसी एक राष्ट्र का मोह न हो, जिनका दृष्टिकोण विश्वजनीन हो, परन्तु आज उन शिक्षाओ का उपयोग ईसाई धर्म-सस्था (चर्च) के प्रति वफ़ादार सदस्यो की भरती मे किया जा रहा है ।

जीवन मे भौतिक सफलता प्राप्त करने पर जोर दिया गया है । धर्म को इस जीवन मे सासारिक शान्ति और समृद्धि प्राप्त करने और पारलौकिक जीवन मे नरक से वचने तथा स्वर्ग मे जाने का एक साधन माना गया है । यूनान और रोम ने हमे राज्य की पूजा करना सिखाया है और हमने राजनीतिक समस्याओ से धर्म को सम्वद्ध करके उसको एक राष्ट्रीय सस्था वना दिया है । १०९५ ई० मे क्लेरमान्ट की परिषद् मे ईश्वर की इच्छा का अर्थ इस रूप मे निकाला गया था कि मानो ईश्वर की ही यह आज्ञा है कि गैर-ईसाइयो (अरवो) का कत्ल कर दिया जाए । स्पष्ट ही, यह सलीव पर सूली चढ़े ईसा के ऊपर यूरोपीय पश्चिम की विजय थी । धर्म का उपयोग मानवीय लालसाओ को पवित्र और शुद्ध करने मे किया जाता है । मनुष्य के जीवन की गम्भीरतम दु खान्त स्थिति वह होती है जव शक्ति का प्रेम आध्यात्मिक गरिमा

१. देखिए . दिक्सन द्वारा लिखित 'द ह्यूमन सिचुएशन' (१९३७), पृष्ठ ३७–८ .

की पोशाक पहनकर सामने आता है। सासारिकता जब धर्म के वेश मे उपस्थित होती है तब वह एक ऐसी वेड़ी बन जाती है जिसे तोडना सबसे अधिक कठिन हो जाता है। यह सच्चे धर्म का अदृष्ट शत्रु है, अलक्षित हत्यारा है जिसको पहचाना नही जा सकता और इसीलिए वह अधिक दुर्बोध और भयकर है। कोई भी धर्म, यदि वह सार्वभौम दृष्टिकोण वाले मनुष्यो का निर्माण नही करता, तो सार्वभौम धर्म नही रह जाता।

ज्ञान-ध्यान का आध्यात्मिक धर्म मतान्ध और सासारिक धर्म बन जाता है, विश्वास और अनुष्ठान की एक पद्धति हो जाता है, वह भावना और भावावेश तो उत्पन्न करता है, किन्तु मनुष्यो के जीवन को बदलने मे असफल रहता है। आइए, हम इस रूपान्तरण की प्रक्रिया को सक्षेप मे जानने की चेष्टा करें।

जब सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियो के साम्राज्य की विरासत रोम को मिली और उसने एक बडे साम्राज्य की स्थापना की जो पश्चिमी ससार के नाम से ज्ञात भूभाग मे फैला हुआ था, तब उसने उस समय तक लोगो के धार्मिक विश्वासो के विषय मे कोई छानबीन नही की जिस समय तक उन्होंने राज्य के प्रशासन में हस्त-क्षेप नही किया। यदि सम्पत्ति और अनुबन्ध से सम्बन्धित कुछ खास-खास नियमो का लोग पालन करते रहते थे, यदि लोग निजी युद्धो और लूटमार से अपने को बचाये रखते थे, तो उनको यह स्वतन्त्रता रहती थी कि वे चाहे जो विश्वास रखें और चाहे जिन धार्मिक अनुष्ठानो का पालन करें—बस शासक जाति की चेतना पर उनका किसी प्रकार आघात करना सहन नही किया जा सकता था। कोई ऐसी आराधना-पद्धति नही थी जिसे समान रूप से सारा साम्राज्य मानता हो, केवल सम्राट् की पूजा ही ऐसी थी जिसे कोई अस्वीकार नही कर सकता था। कालान्तर मे जनता ने ईसाइयत को, जिसमे रहस्यवादी धर्म के सारे गुण थे, स्वीकार कर लिया। चर्च को एक व्यक्तित्व तो प्राप्त था ही, उसने रहस्यवादी धर्म-सम्प्रदायो की रीति का अनुसरण करते हुए इस अधिकार का दावा किया कि वह ईसाई धर्म को अगीकार करने के इच्छुक तथा उसके लिए योग्य पाए गए लोगो को एक विशेष प्रकार के दीक्षा-सस्कार के द्वारा शिक्षा दे सकता है और अपना सदस्य बना सकता है। ईसाई चर्च मानता था कि उसकी स्थापना ईश्वरीय गुणो से युक्त एक मनुष्य ने की थी और उसके अधिकारी भी यह दावा करते थे कि सस्थापक ने कुछ विशिष्ट प्रयोजन के लिए आरम्भ मे जो अधिकारी नियुक्त किये थे, उन्हीकी अखण्ड परम्परा मे वे भी है और उनको समस्त ईसाइयों पर जो अधिकार प्राप्त है, वे धर्म के सस्थापक द्वारा दिये हुए हैं। चर्च एक कठोर नियमानुशासित निगम था, वह एक गुप्त समाज के समान था जिसके द्वारा 'एक्लीसिया' कहलानेवाले रहस्यात्मक समारोह मनाये जाते थे, चर्च के अपने दीक्षा-सस्कार होते थे, बलि चढाने के धार्मिक अनुष्ठान (यूकैरिस्ट) भी थे, बपतिस्मा, हाथो का रखना और पाप-कर्मो के लिए आत्म-स्वीकृति आदि क्रियाए भी चर्च मे प्रचलित थी ही। समस्त रोमन साम्राज्य मे कई छोटे-छोटे सगठन उठ खडे हुए, प्रत्येक चर्च कहलाता था और उसका धर्माधिकारी एक 'एपिस्कोपोस' या 'बिशप' होता था। 'चर्च' मे ये सारे सगठन सम्मिलित थे। शीघ्र ही 'एक्लीसिया' धर्म-सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रन्थो एव

लेखो को लिखनेवालो की सख्या बन गई । चर्च ने अपने सदस्यो की जानकारी और सिद्धान्तो को अविस्मृत बनाए रखने के लिए इन कृतियो को सुरक्षित रखा । जब ईसाई धर्म-सिद्धान्तो के विषय मे मत-भेद उठ खडे हुए तब चर्च को यह निश्चय करना पडा कि सच्ची ईसाई-परम्परा क्या है । आगे चलकर इन सिद्धान्तो की छानबीन हुई और इनमे से कुछ को ईश्वर-प्रेरित और प्रामाणिक मानकर धर्मशास्त्र के रूप मे स्वीकार कर लिया गया । यह प्रक्रिया सुचिन्तित न होकर स्वत स्फूर्त थी । 'न्यू टेस्टामेट' के भागो की सूची मे चार इजीलें, प्रारम्भिक चर्च के मिशनरियो द्वारा लिखे गए कुछ धर्म-पत्र जिन्हे 'एपिस्टिल्स' कहा जाता है, पोप-विषयक कार्य का एक प्रारम्भिक लेखा जिसे 'ऐक्ट्स ऑव द अपॉस्टिल्स' कहते है, और पैगम्बरी दिवास्वप्न से सम्बन्धित एक कृति जिसको हम 'अपोकैलिप्स' के नाम से जानते हैं, सम्मिलित हैं । जब सेंट पॉल और ईसाई धर्म-प्रचारक (अपॉस्टिल्स) पवित्र ग्रन्थ (स्क्रिप्चर) की बात कहते हैं, तो उनका तात्पर्य यहूदी चर्च के पवित्र लेखो से होता है जिनको हम 'ओल्ड टेस्टामेट' के रूप मे जानते हैं । स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहित नही किया जाता था । टेरटुलियन सिकन्दरिया के क्लीमेट की इस स्थापना की आलोचना करता है कि दर्शनशास्त्र एक 'प्रीपेरशियो इवैजेलिका' है जो उतना ही विशुद्ध है जितना 'ओल्ड टेस्टामेट' का दिव्य सदेश । वह एक प्रसिद्ध गद्याश मे प्रश्न कर उठता है—"ईसाई का दर्शनशास्त्र से, ईश्वर के शिशु का यूनान के शिशु से भला क्या सम्बन्ध है ?"[१] जिन कारणो से ईसाइयत को सफलता मिली, उनमे से एक कारण उसकी मतान्धता, हठधर्मिता भी थी । लोग और आगे सोचने से तग आ गए थे और इस ओर से अनिच्छुक हो गए थे । जो भी धार्मिक सम्प्रदाय उनके अशान्त मन को शान्ति दिलाने का वादा कर सकता, सन्देह के स्थान पर निश्चयता दे सकता, परेशान करनेवाली अनेक समस्याओ का एक अन्तिम समाधान निकाल सकता, उसका लोगो द्वारा तुरन्त खुले दिल से स्वागत किया जाता । विचार के असमजस से तग आकर लोग प्रलुब्ध होकर एक ऐसे धर्म-सम्प्रदाय की ओर मुडे, जो तत्त्वदर्शन की जगह उन्हे धर्मशास्त्र, तर्क की जगह परम्परागत सिद्धान्त देता था । तर्क-बुद्धि न तो यहा सुख दे सकती थी और न यहा के बाद सुख देने का वादा कर सकती थी, परन्तु धर्म ने सुख देने का आश्वासन दिया—कम से कम मृत्यु के उपरान्त तो सुख के लिए उसने आश्वस्त किया ही । फिर भी, 'लोगस' धर्मतत्त्व के द्वारा ईसाई परम्परा का यूनानी विचारणा के साथ सामजस्य बैठाने की चेष्टाए की गई । जस्टिन मार्टियर (१५५ ई०) ने चतुर्थ इजील का अनुसरण किया और ईसा तथा शाश्वत लोगस (वाक्) को उसने एक ही बताया । इस चीज से ईसा के व्यक्तित्व और ईश्वर के साथ उनके सम्बन्ध के बारे मे धर्मशास्त्रीय समस्या उठ खडी हुई । 'लोगस'-सम्बन्धी धर्मतत्त्व को मानने मे कुछ कठिनाइया अवश्य आई, परन्तु अन्तत उसको अधिकतर लोगो ने स्वीकार कर लिया । जब चर्च राज्य के भीतर एक राज्य जैसा बन गया, तब उसका नागरिक प्रशासन के साथ सघर्ष होने लगा । यह कठिनाई कॉन्स्टेन्टाइन के ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने पर दूर हो गई । किन्तु, अब

१. अपोलॉजिटिकस, ४६ ।

की पोशाक पहनकर सामने आता है। सासारिकता जब धर्म के वेश मे उपस्थित होती है तब वह एक ऐसी बेडी बन जाती है जिसे तोडना सबसे अधिक कठिन हो जाता है। यह सच्चे धर्म का अदृष्ट शत्रु है, अलक्षित हत्यारा है जिसको पहचाना नही जा सकता और इसीलिए वह अधिक दुर्बोध और भयकर है। कोई भी धर्म, यदि वह सार्वभौम दृष्टिकोण वाले मनुष्यो का निर्माण नही करता, तो सार्वभौम धर्म नही रह जाता।

ज्ञान-ध्यान का आध्यात्मिक धर्म मतान्ध और सासारिक धर्म बन जाता है, विश्वास और अनुष्ठान की एक पद्धति हो जाता है , वह भावना और भावावेश तो उत्पन्न करता है, किन्तु मनुष्यो के जीवन को बदलने मे असफल रहता है। आइए, हम इस रूपान्तरण की प्रक्रिया को सक्षेप मे जानने की चेष्टा करें।

जब सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियो के साम्राज्य की विरासत रोम को मिली और उसने एक बडे साम्राज्य की स्थापना की जो पश्चिमी ससार के नाम से ज्ञात भूभाग मे फैला हुआ था, तब उसने उस समय तक लोगो के धार्मिक विश्वासो के विषय मे कोई छानबीन नही की जिस समय तक उन्होने राज्य के प्रशासन मे हस्त-क्षेप नही किया। यदि सम्पत्ति और अनुबन्ध से सम्बन्धित कुछ खास-खास नियमो का लोग पालन करते रहते थे, यदि लोग निजी युद्धो और लूटमार से अपने को बचाये रखते थे, तो उनको यह स्वतन्त्रता रहती थी कि वे चाहे जो विश्वास रखें और चाहे जिन धार्मिक अनुष्ठानो का पालन करें—बस शासक जाति की चेतना पर उनका किसी प्रकार आघात करना सहन नही किया जा सकता था। कोई ऐसी आराधना-पद्धति नहीं थी जिसे समान रूप से सारा साम्राज्य मानता हो, केवल सम्राट् की पूजा ही ऐसी थी जिसे कोई अस्वीकार नही कर सकता था। कालान्तर मे जनता ने ईसाइयत को, जिसमे रहस्यवादी धर्म के सारे गुण थे, स्वीकार कर लिया। चर्च को एक व्यक्तित्व तो प्राप्त था ही, उसने रहस्यवादी धर्म-सप्रदायो की रीति का अनुसरण करते हुए इस अधिकार का दावा किया कि वह ईसाई धर्म को अगीकार करने के इच्छुक तथा उसके लिए योग्य पाए गए लोगो को एक विशेष प्रकार के दीक्षा-सस्कार के द्वारा शिक्षा दे सकता है और अपना सदस्य बना सकता है। ईसाई चर्च मानता था कि उसकी स्था-पना ईश्वरीय गुणो से युक्त एक मनुष्य ने की थी और उसके अधिकारी भी यह दावा करते थे कि सस्थापक ने कुछ विशिष्ट प्रयोजन के लिए आरम्भ मे जो अधिकारी नियुक्त किये थे, उन्हीकी अखण्ड परम्परा मे वे भी है और उनको समस्त ईसाइयो पर जो अधिकार प्राप्त हैं, वे धर्म के सस्थापक द्वारा दिये हुए हैं। चर्च एक कठोर नियमानुशासित निगम था, वह एक गुप्त समाज के समान था जिसके द्वारा 'एक्लीसिया' कहलानेवाले रहस्यात्मक समारोह मनाये जाते थे, चर्च के अपने दीक्षा-सस्कार होते थे, बलि चढाने के धार्मिक अनुष्ठान (यूकैरिस्ट) भी थे, बपतिस्मा, हाथों का रखना और पाप-कर्मो के लिए आत्म-स्वीकृति आदि क्रियाए भी चर्च मे प्रचलित थी ही। समस्त रोमन साम्राज्य मे कई छोटे-छोटे सगठन उठ खडे हुए, प्रत्येक चर्च कहलाता था और उसका धर्माधिकारी एक 'एपिस्कोपोस' या 'बिशप' होता था। 'चर्च' मे ये सारे सगठन सम्मिलित थे। शीघ्र ही 'एक्लीसिया' धर्म-सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रन्थो एव

लेखो को लिखनेवालो की सस्था वन गई । चर्च ने अपने सदस्यो की जानकारी और सिद्धान्तो को अविस्मृत वनाए रखने के लिए इन कृतियो को सुरक्षित रखा । जब ईसाई धर्म-सिद्धान्तो के विषय मे मत-भेद उठ खडे हुए तब चर्च को यह निश्चय करना पडा कि सच्ची ईसाई-परम्परा क्या है । आगे चलकर इन सिद्धान्तो की छानवीन हुई और इनमे से कुछ को ईश्वर-प्रेरित और प्रामाणिक मानकर धर्मशास्त्र के रूप मे स्वीकार कर लिया गया । यह प्रक्रिया सुचिन्तित न होकर स्वत स्फूर्त थी । 'न्यू टेस्टामेट' के भागो की सूची मे चार इजीले, प्रारम्भिक चर्च के मिशनरियो द्वारा लिखे गए कुछ धर्म-पत्र जिन्हे 'एपिस्टिल्स' कहा जाता है, पोप-विषयक कार्य का एक प्रारम्भिक लेखा जिसे 'ऐक्ट्स ऑव द अपॉस्टिल्स' कहते है, और पैगम्बरी दिवास्वप्न से सम्बन्धित एक कृति जिसको हम 'अपोकैलिप्स' के नाम से जानते हैं, सम्मिलित हैं । जब सेंट पॉल और ईसाई धर्म-प्रचारक (अपॉस्टिल्स) पवित्र ग्रन्थ (स्क्रिप्चर) की बात कहते हैं, तो उनका तात्पर्य यहूदी चर्च के पवित्र लेखो से होता है जिनको हम 'ओल्ड टेस्टामेट' के रूप मे जानते है । स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहित नही किया जाता था । टेरटुलियन सिकन्दरिया के क्लीमेट की इस स्थापना की आलोचना करता है कि दर्शनशास्त्र एक 'प्रीपेरशियो इवैंजेलिका' है जो उतना ही विशुद्ध है जितना 'ओल्ड टेस्टामेट' का दिव्य सदेश । वह एक प्रसिद्ध गद्याश मे प्रश्न कर उठता है—"ईसाई का दर्शनशास्त्र मे, ईश्वर के शिशु का यूनान के शिशु से भला क्या सम्बन्ध है ?"[१] जिन कारणो से ईसाइयत को सफलता मिली, उनमे से एक कारण उसकी मतान्धता, हठधर्मिता भी थी । लोग और आगे सोचने से तग आ गए थे और इस ओर से अनिच्छुक हो गए थे । जो भी धार्मिक सम्प्रदाय उनके अशान्त मन को शान्ति दिलाने का वादा कर सकता, सन्देह के स्थान पर निश्चयता दे सकता, परेशान करनेवाली अनेक समस्याओ का एक अन्तिम समाधान निकाल सकता, उसका लोगो द्वारा तुरन्त खुले दिल से स्वागत किया जाता । विचार के असमजस से तग आकर लोग प्रलुब्ध होकर एक ऐसे धर्म-सम्प्रदाय की ओर मुडे, जो तत्त्वदर्शन की जगह उन्हे धर्मशास्त्र, तर्क की जगह परम्परागत सिद्धान्त देता था । तर्क-बुद्धि न तो यहा सुख दे सकती थी और न यहा के बाद सुख देने का वादा कर सकती थी, परन्तु धर्म ने सुख देने का आश्वासन दिया—कम से कम मृत्यु के उपरान्त तो सुख के लिए उसने आश्वस्त किया ही । फिर भी, 'लोगस' धर्मतत्त्व के द्वारा ईसाई परम्परा का यूनानी विचारणा के साथ सामजस्य बैठाने की चेष्टाए की गईं । जस्टिन मार्टियर (१५५ ई०) ने चतुर्थ इंजील का अनुसरण किया और ईसा तथा शाश्वत लोगस (वाक्) को उसने एक ही बताया । इन चीज मे ईसा के व्यक्तित्व और ईश्वर के साथ उनके सम्बन्ध के बारे में धर्मशास्त्रीय समस्या उठ खडी हुई । 'लोगस'-सम्बन्धी धर्मतत्त्व को मानने मे कुछ कठिनाइया अवश्य आई, परन्तु अन्तत उसको अधिकतर लोगो ने स्वीकार कर लिया । जब चर्च राज्य के भीतर एक राज्य जैसा बन गया, तब उसका नागरिक प्रशासन के साथ संघर्ष होने लगा । यह कठिनाई कॉन्स्टेन्टाइन के ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने पर दूर हो गई । किन्तु, अब

१. अपोलिटिक्स, ५६ ।

की पोशाक पहनकर सामने आता है। सासारिकता जब धर्म के वेश मे उपस्थित होती है तब वह एक ऐसी वेडी वन जाती है जिसे तोड़ना सबसे अधिक कठिन हो जाता है। यह सच्चे धर्म का अदृष्ट शत्रु है, अलक्षित हत्यारा है जिसको पहचाना नही जा सकता और इसीलिए वह अधिक दुर्वोध और भयकर है। कोई भी धर्म, यदि वह सार्वभौम दृष्टिकोण वाले मनुष्यो का निर्माण नही करता, तो सार्वभौम धर्म नही रह जाता।

ज्ञान-ध्यान का आध्यात्मिक धर्म मतान्ध और सासारिक धर्म वन जाता है, विश्वास और अनुष्ठान की एक पद्धति हो जाता है , वह भावना और भावावेश तो उत्पन्न करता है, किन्तु मनुष्यो के जीवन को बदलने मे असफल रहता है। आइए, हम इस रूपान्तरण की प्रक्रिया को सक्षेप मे जानने की चेष्टा करें।

जव सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियो के साम्राज्य की विरासत रोम को मिली और उसने एक वडे साम्राज्य की स्थापना की जो पश्चिमी ससार के नाम से ज्ञात भूभाग मे फैला हुआ था, तव उसने उस समय तक लोगो के धार्मिक विश्वासो के विषय मे कोई छानवीन नही की जिस समय तक उन्होने राज्य के प्रशासन मे हस्त-क्षेप नही किया। यदि सम्पत्ति और अनुवन्ध से सम्वन्धित कुछ खास-खास नियमो का लोग पालन करते रहते थे, यदि लोग निजी युद्धो और लूटमार से अपने को वचाये रखते थे, तो उनको यह स्वतन्त्रता रहती थी कि वे चाहे जो विश्वास रखें और चाहे जिन धार्मिक अनुष्ठानो का पालन करें—वस शासक जाति की चेतना पर उनका किसी प्रकार आघात करना सहन नही किया जा सकता था। कोई ऐसी आराधना-पद्धति नही थी जिसे समान रूप से सारा साम्राज्य मानता हो, केवल सम्राट् की पूजा ही ऐसी थी जिसे कोई अस्वीकार नही कर सकता था। कालान्तर मे जनता ने ईसाइयत को, जिसमे रहस्यवादी धर्म के सारे गुण थे, स्वीकार कर लिया। चर्च को एक व्यक्तित्व तो प्राप्त था ही, उसने रहस्यवादी धर्म-सप्रदायो की रीति का अनुसरण करते हुए इस अधिकार का दावा किया कि वह ईसाई धर्म को अगीकार करने के इच्छुक तथा उसके लिए योग्य पाए गए लोगो को एक विशेष प्रकार के दीक्षा-सस्कार के द्वारा शिक्षा दे सकता है और अपना सदस्य वना सकता है। ईसाई चर्च मानता था कि उसकी स्था-पना ईश्वरीय गुणो से युक्त एक मनुष्य ने की थी और उसके अधिकारी भी यह दावा करते थे कि सस्थापक ने कुछ विशिष्ट प्रयोजन के लिए आरम्भ मे जो अधिकारी नियुक्त किये थे, उन्हीकी अखण्ड परम्परा मे वे भी हैं और उनको समस्त ईसाइयो पर जो अधिकार प्राप्त हैं, वे धर्म के सस्थापक द्वारा दिये हुए हैं। चर्च एक कठोर नियमानुशासित निगम था, वह एक गुप्त समाज के समान था जिसके द्वारा 'एक्लीसिया' कहलानेवाले रहस्यात्मक समारोह मनाये जाते थे, चर्च के अपने दीक्षा-सस्कार होते थे, वलि चढाने के धार्मिक अनुष्ठान (यूकैरिस्ट) भी थे, वपतिस्मा, हाथो का रखना और पाप-कर्मो के लिए आत्म-स्वीकृति आदि क्रियाए भी चर्च मे प्रचलित थी ही। समस्त रोमन साम्राज्य मे कई छोटे-छोटे सगठन उठ खडे हुए, प्रत्येक चर्च कहलाता था और उसका धर्माधिकारी एक 'एपिस्कोपोस' या 'विशप' होता था। 'चर्च' मे ये सारे सगठन सम्मिलित थे। शीघ्र ही 'एक्लीसिया' धर्म-सम्वन्धी शास्त्रीय ग्रन्थो एव

लेखो को लिखनेवालो की सस्था बन गई । चर्च ने अपने सदस्यो की जानकारी और सिद्धान्तो को अविस्मृत बनाए रखने के लिए इन कृतियो को सुरक्षित रखा । जब ईसाई धर्म-सिद्धान्तो के विषय मे मत-भेद उठ खडे हुए तब चर्च को यह निश्चय करना पडा कि सच्ची ईसाई-परम्परा क्या है । आगे चलकर इन सिद्धान्तो की छानबीन हुई और इनमे से कुछ को ईश्वर-प्रेरित और प्रामाणिक मानकर धर्मशास्त्र के रूप मे स्वीकार कर लिया गया । यह प्रक्रिया सुचिन्तित न होकर स्वत स्फूर्त थी । 'न्यू टेस्टामेट' के भागो की सूची मे चार इजीलें, प्रारम्भिक चर्च के मिशनरियो द्वारा लिखे गए कुछ धर्म-पत्र जिन्हे 'एपिस्टिल्स' कहा जाता है, पोप-विषयक कार्य का एक प्रारम्भिक लेखा जिसे 'ऐक्ट्स ऑव द अपॉस्टिल्स' कहते हैं, और पैगम्बरी दिवास्वप्न से सम्बन्धित एक कृति जिसको हम 'अपोकैलिप्स' के नाम से जानते हैं, सम्मिलित है । जब सेंट पॉल और ईसाई धर्म-प्रचारक (अपॉस्टिल्स) पवित्र ग्रन्थ (स्क्रिप्चर) की बात कहते है, तो उनका तात्पर्य यहूदी चर्च के पवित्र लेखो से होता है जिनको हम 'ओल्ड टेस्टामेट' के रूप मे जानते हैं । स्वतन्त्र चिन्तन को प्रोत्साहित नही किया जाता था । टेरटुलियन सिकन्दरिया के क्लीमेट की इस स्थापना की आलोचना करता है कि दर्शनशास्त्र एक 'प्रीपेरशियो इवैंजेलिका' है जो उतना ही विशुद्ध है जितना 'ओल्ड टेस्टामेट' का दिव्य सदेश । वह एक प्रसिद्ध गद्याश मे प्रश्न कर उठता है—"ईसाई का दर्शनशास्त्र से, ईश्वर के शिशु का यूनान के शिशु से भला क्या सम्बन्ध है ?"[१] जिन कारणो से ईसाइयत को सफलता मिली, उनमे से एक कारण उसकी मतान्धता, हठधर्मिता भी थी । लोग और आगे सोचने से तग आ गए थे और इस ओर से अनिच्छुक हो गए थे । जो भी धार्मिक सम्प्रदाय उनके अशान्त मन को शान्ति दिलाने का वादा कर सकता, सन्देह के स्थान पर निश्चयता दे सकता, परेशान करनेवाली अनेक समस्याओ का एक अन्तिम समाधान निकाल सकता, उसका लोगो द्वारा तुरन्त खुले दिल से स्वागत किया जाता । विचार के असमजस से तग आकर लोग प्रलुब्ध होकर एक ऐसे धर्म-सप्रदाय की ओर मुडे, जो तत्त्वदर्शन की जगह उन्हे धर्मशास्त्र, तर्क की जगह परम्परागत सिद्धान्त देता था । तर्क-बुद्धि न तो यहा सुख दे सकती थी और न यहा के बाद सुख देने का वादा कर सकती थी, परन्तु धर्म ने सुख देने का आश्वासन दिया—कम से कम मृत्यु के उपरान्त तो सुख के लिए उसने आश्वस्त किया ही । फिर भी, 'लोगस' धर्मतत्त्व के द्वारा ईसाई परम्परा का यूनानी विचारणा के साथ सामजस्य बैठाने की चेष्टाए की गई । जस्टिन मार्टियर (१५५ ई०) ने चतुर्थ इजील का अनुसरण किया और ईसा तथा शाश्वत लोगस (वाक्) को उसने एक ही बताया । इस चीज से ईसा के व्यक्तित्व और ईश्वर के साथ उनके सम्बन्ध के बारे मे धर्मशास्त्रीय समस्या उठ खडी हुई । 'लोगस'-सम्बन्धी धर्मतत्त्व को मानने मे कुछ कठिनाइया अवश्य आई, परन्तु अन्तत उसको अधिकतर लोगो ने स्वीकार कर लिया । जब चर्च राज्य के भीतर एक राज्य जैसा बन गया, तब उसका नागरिक प्रशासन के साथ सघर्ष होने लगा । यह कठिनाई कॉन्स्टेन्टाइन के ईसाई धर्म स्वीकार कर लेने पर दूर हो गई । किन्तु, अब

१. 'अपॉलॉजेटिक्स', ४६ ।

एक धर्मशास्त्रीय सकट उठ खडा हुआ । ब्रह्म की एकता को बनाए रखने की आतुरता में ऐरियस ने 'लोगस' सम्बन्धी धारणा की व्याख्या इस रूप मे की कि उसको लेकर काफी विरोध खड़ा हो गया। उसका विचार था कि वाक् (शब्दब्रह्म) सृष्टि का स्वामी है और इसीलिए वह मनुष्य से बढकर है, और चूकि वह अन्य सभी वस्तुओं का सर्जक है, इसलिए उसको ईश्वर कहना भी उचित ही है । परन्तु 'पुत्र' के रूप मे वह 'पिता' से घटकर है । चूकि उसकी भी उत्पत्ति हुई है, इसलिए वह किसी न किसी रूप में जीव है और निश्चय ही वह शाश्वत नही है । यद्यपि उसकी रचना काल के आरम्भ होने से भी पहले हो चुकी थी, तथापि कोई तो समय ऐसा रहा होगा जब उसका अस्तित्व नही रहा होगा । स्पष्ट ही, उसको भी पीडा का अनुभव होता है और वह भी परिवर्तनशील है, परन्तु अपने सकल्प के प्रयोग द्वारा वह अच्छा बना रहा। प्रारम्भ से ही यह जानते हुए कि यह तो ऐसा होगा ही, 'पिता' ने पहले से समझ-बूझकर 'उसे' अपना 'पुत्र' बना लिया था । आत्मा 'पुत्र' से वैसे ही सम्बन्वित है जैसे 'पुत्र' अपने 'पिता' से । कुस्तुनतुनिया के समीप नाइसीया में बिशपो की एक परिषद् का अधिवेशन बुलाया गया जिसमे ईसा की दिव्यता से सम्बन्धित पूरे सिद्धान्त पर विचार करने और उसकी व्याख्या करने का कार्यक्रम रखा गया, क्योकि एरियन की स्थापना को लेकर जो विचार-भेद उठ खड़ा हुआ था उसने ईसाई चर्च को आपस मे लडने के लिए उतारू दलों मे बाट दिया—चर्च मे फूट पड गई इस प्रश्न को लेकर । इस मामले का सार-तत्त्व एकता थी और उससे भिन्न मत रखने की बात सहन नही हुई । जो ईश्वर का शत्रु था, उसे राजा सीजर का भी शत्रु समझ लिया जाता था । ईसाई-सिद्धान्त के धर्म-सूत्रो और पाप की आत्म-स्वीकृतियो का विकास यह निश्चय करने की दृष्टि से हुआ कि 'एक्लीसिया' मे प्रविष्ट होनेवाले नये प्रत्याशियो पर किसी प्रकार ईसाई-विरोधी मतो का प्रभाव तो नही है । ऐथेनेसियस ने सर्जित 'लोगस' (वाक्) के विचार का विरोध किया और इस बात का समर्थन किया कि ईसा प्रकृत्या ही ईश्वर हैं। उसकी दृष्टि मे ईश्वरीय पुरुष मे आस्था ईसाई धर्म का सार-तत्त्व है । ऐथेनेसियन पथ के शब्द नीचे दिये जा रहे हैं

> "इसके आगे, चिरन्तन मोक्ष के लिए यह आवश्यक है कि हम सही ढग से यह विश्वास भी करें कि हमारे प्रभु जीसस क्राइस्ट ईश्वर के अवतार थे।
>
> "क्योकि सही वर्म-आस्था यह है कि हम यह विश्वास करें और स्वीकार करें कि हमारे प्रभु जीसस क्राइस्ट, जो ईश्वर के बेटे थे, वह ईश्वर और मनुष्य दोनो हैं ।
>
> "ईश्वर के रूप मे, वह 'पिता' के तत्त्वो से युक्त हैं और ससारो की उत्पत्ति से भी पहले उनकी उत्पत्ति हुई थी और मनुष्य के रूप मे वह 'माता' के तत्त्वो से युक्त हैं और ससार मे पैदा हुए हैं ।
>
> "वह पूर्ण ईश्वर और पूर्ण मनुष्य दोनो हैं उनमे शुद्ध बुद्धि-युक्त आत्मा है और मानवीय देह से भी वह युक्त है ।

" चूंकि वह 'पिता' के ब्रह्म-रूप को स्पर्श करते हैं, इसलिए 'पिता' के समकक्ष हैं , और चूंकि मानवत्व को स्पर्श करते हैं, इसलिए 'पिता' से घटकर हैं।

" किन्तु भले ही वह ईश्वर और मनुष्य दोनो हैं, तो भी वह दो नही है, बल्कि केवल एक क्राइस्ट हैं। "

एरियस और ऐथेनेसियस के बीच का द्वन्द्व आज भी मनुष्यो के हृदय मे चल रहा है। ऐथेनेसियस ने चर्च को उसकी सहिष्णुता और विद्वत्ता की परम्पराओ से, क्लीमेंट और ऑरिगेन से अलग हटा दिया। नाइसेने की रूढिनिष्ठता ने प्राचीन यूनानी धर्म और गैर-ईसाइयो की धर्म-पद्धतियो पर विजय पा ली। जिन लोगो की स्वाभाविक रुझान अनुमानात्मक सन्देह करने की थी, उन्होने अपने सशयवाद का प्रयोग ईसाई धर्म-सिद्धान्तो पर भी किया।[1] इसके कुछ ही समय बाद चर्च ने ऑरिगेन की निन्दा की और उसे दोषी ठहराया। धर्मशास्त्रीय विचार-वितर्क की भावना जस्टिनियन की परम्परा की अनुवर्ती बन गयी। जस्टिनियन ने एथेन्स के धार्मिक स्कूलो को बन्द कर दिया था, नियमो की सहिता बना दी थी और बाइजैन्टाइन चर्च को पुनरुज्जीवित कर दिया था। विद्या का ह्रास होने लगा और उसके साथ ही विचार-वितर्क करने की, चिन्तन-अनुशीलन करने की क्षमता भी नष्ट हो गयी। मूर्तिपूजकों या विधर्मियो का मत-परिवर्तन करने की झोंक मे ईसाइयत ने विधर्मियो के बहुत-से विश्वासो और आचारो को आत्मसात् कर लिया और ईसा के धर्म की सादगी तथा बौद्धिकता को जटिल बना दिया गया, अस्पष्ट कर दिया गया। अपना प्रसार करने की आतुरता मे ईसाइयत ने प्रत्येक जाति, वर्ग और देश की भाषा का उपयोग किया।[2] यह चू-चू का मुरब्बा बन गया। सब आदमियो को उसमे अपने ही विचारो और मान्यताओ की झलक मिलने लगी। अपने धार्मिक सस्कारो-सम्बन्धी सिद्धान्तो, प्राचीन पवित्र अवशेषो और चमत्कारो को बनाये रखने को प्रोत्साहन, सन्तो एवं शहीदो द्वारा प्रचलित धर्म-सम्प्रदायो के कारण ईसाइयत ने अपनी सारी विशिष्टता खो दी और अन्य धर्मो से उसमे कोई विशेष अन्तर नही रह गया। श्रेणियो मे विभक्त सस्था के समान जो उसका सगठन था, वह धर्म की अपेक्षा प्रशासन मे अधिक सबल बन गया।

१ पाचवीं शताब्दी में कुस्तुनतुनिया के आर्कबिशप क्राइसोस्टोम की सम्मति में उन ईसाई बिशपों की संख्या जिनका परित्राण हो सकता, उन बिशपों की सख्या से अनुपात में बहुत कम थी जिनको ईसाई-सिद्धान्त के अनुसार नरक मिलता।

२. "कुछ गिने-चुने धार्मिक सिद्धान्तों को छोड़कर शेष बातों में ईसाइयत ने विभिन्न राष्ट्रों की आवश्यकताओं और रीति-रिवाजों के अनुसार अपने रूप में परिवर्तन कर लिया। अनातोलिया के सुखाड़-ग्रस्त प्रदेशों में ईसाई धर्म-प्रचारकों ने लोगों को एक ऐसे स्वर्ग के सब्ज-बाग दिखाए जिनमें सदा जल के झरने बहते होंगे; मिस्र के शोषित किसानों को उसने मठों में आश्रय दिया, सीरिया के 'दरिद्र' दलित लोगों को उसने 'सुसमाचार' धनिकों और अत्याचारी जमीदारों के विरुद्ध विद्रोह का नारा दिया; मिनूसियस फेलिक्स और लैक्टैन्टियस जैसे शिक्षित रोमनों को उसने सिसेरो

पाचवी शताब्दी के अन्त से लेकर ग्यारहवी शताब्दी तक, जब सामन्तवादी समाज की स्थापना हुई, अन्ध युग का प्रसार माना जाता है। इस युग मे यूरोप मे अज्ञान और दु:ख-दैन्य का दौर-दौरा था, लोग सतत सकट और आतक के वातावरण मे रह रहे थे।

मध्य युग—ग्यारहवी, बारहवी और तेरहवी शताब्दियो—मे आस्था बलवती थी और सन्देह दब गया था। ईसाई धर्म के पादरी-पुरोहितो का अत्याचार इतना व्यापक हो गया था कि स्वीकृत धार्मिक सिद्धान्तो के विरुद्ध एक भी शब्द कहना खतरे से खाली न था। चर्च के पदाधिकारियो की तूती बोलती थी, ईसाई जाच-अदालत तो वस्तुत तेरहवी शताब्दी के आरम्भ मे स्थापित हुई थी। काफिर केवल ईसाई धर्म के अविश्वासी ही नही, उसके शत्रु माने जाते थे। स्पेन मे मूर खलीफाओ के शासन के अतर्गत एक मुस्लिम विचारक ऐवेरोज ने एक स्वतन्त्र आन्दोलन का विकास किया जिसको पोप जॉन इक्कीसवें ने कुचल दिया। जो धर्म कभी सन्तो का धर्म था, उसे ईसाइयत ने जोर-जबर्दस्ती से और शिकजा कसकर कायम रखने की कोशिश की और इस प्रकार ईसा की मूल भावना से यह धर्म दूर हटता गया। यदि सयोग से कही मध्य-युगो मे वह यूरोप मे लौट आए होते, तो वे स्वय अपने विषय मे प्रचलित कट्टर मतो को न मानने के कारण जीवित ही जला दिए गए होते! तीन शताब्दियो मे, अकेले मैड्रिड नगर मे तीन लाख व्यक्तियो को उनके धार्मिक विचारो के कारण प्राण-दण्ड दिया गया था! धर्मशास्त्रज्ञो की नरक की भयकर यातनाओ-सम्बन्धी कल्पनाए उनकी नैतिक भावनाओ को तनिक भी नही उभारती थी। चूकि वे समझते थे कि ईश्वरीय न्याय ही जब इस प्रकार की नरक-यन्त्रणाए दे सकता है तब वे उन यातनाओ का कुछ सशोधित रूप यदि मानवीय आचरणो के सदर्भ मे प्रयोग करें तो कोई हर्ज नही। इस युग में विश्वविद्यालयो, ससदो (पार्लमिंटो) और गॉथिक गिरजाघरो का उद्‌भव हुआ, साथ ही धर्म-युद्धो (क्रूसेड्स) की घटनाए भी बढीं।

मध्ययुग मे दर्शनशास्त्र मे पाण्डित्य और सूक्ष्म तर्कना की प्रवृत्ति अधिक थी। उस काल के महानतम पण्डितो मे टॉमस ऐक्विनास का नाम लिया जा सकता है। उसने तत्त्वदर्शन का धर्म के साथ और अरस्तू द्वारा प्रतिपादित विवेक का कैथोलिक रूढि-निष्ठता के साथ सामजस्य करने की चेष्टा की। टॉमस की आत्म-विद्या सम्बन्धी पद्धति बहुत भारी-भरकम और सुग्रथित है, उसको सक्षेप मे बतलाना एक कठिन कार्य है, किन्तु उसकी मुख्य बातो को सक्षेप मे कहा जा सकता है। सॅट टॉमस सत्य को अस्तित्व के एक श्रेणीबद्ध रूप मे देखता है जिसका आरम्भ ईश्वर से होता है। ईश्वर का अस्तित्व पूर्णत उसीमे है, वह स्वयभू है, उसका अस्तित्व किसी भी प्रकार पार्थिव नही है और वही पूर्ण वास्तविकता है। केवल ईश्वर ही विशुद्ध अस्तित्व वाला है, वही विशुद्ध कर्म है। अन्य जितने भी अस्तित्व हैं वे व्यक्तिगत है, किन्तु अपूर्ण हैं और

और वर्जिल के ग्रन्थों के अध्ययन की अनुमति दे दी; इसी प्रकार उसने वास्तविक यूनानियों को होमर और प्लेटो के ग्रन्थों को पढने से वचित नहीं किया।'' (टेनी फ्रैंक. 'आस्पेक्ट्स ऑव् सोशल बिहेवियर इन ऐश्येन्ट रोम' पृ० ६३)।

उनका वास्तविक किन्तु सीमित पद ईश्वर पर निर्भर है, क्योकि अकेले उसीका अस्तित्व सत्य है । उसका अस्तित्व न तो सीमित है और न उसका कोई निमित्त कारण है । वह अपने सार-तत्त्व के कारण ही अस्तित्वमय है, कोई और वस्तु उसके अस्तित्व के लिए उत्तरदायी नही है । उसको लेकर ही हमारी सारी विचारणा है । गति और परिवर्तन या सम्भाव्यता से तर्क करते-करते हम ऐसे अस्तित्व तक पहुच सकते हैं जो स्वय अगतिमय होते हुए भी दूसरो को गति देता है, जो स्वय न चलते हुए भी चलाता है, न करते हुए भी करता है , कार्य-कारण की शृखला की कल्पना करते-करते हम जगत् के प्रथम कारण तक पहुच सकते हैं , सापेक्ष से निरपेक्ष, स्वतन्त्र आवश्यक अस्तित्व की कल्पना कर सकते हैं , सीमित अस्तित्व वाली वस्तुओ मे भी जब उत्कृष्टता की सरणिया पाते हैं तब इसी तर्क मे हम यह भी सोच सकते है कि कोई परम उत्कृष्टता भी होगी जिसका अस्तित्व श्रेष्ठतम होगा , और ससार की प्रयोजनशीलता तथा इसको नियन्त्रित करनेवाली सरकार मे हम तर्क करते-करते एक उच्चतम व्यक्तित्व तक भी पहुच सकते हैं जो इस जगत् का भी नियन्ता होगा । भूत-द्रव्य का अस्तित्व पूर्णत अस्तित्व की उच्चतर सरणियो पर निर्भर करता है, इसका सार विशुद्ध पार्थिवता है, ऐहिकता है, इसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति पूर्णत अनिश्चित क्षमता की है । ससार कोई ऐसी अस्तव्यस्तता नही है जिसका पार न पाया जा सके या जिसका कारण न जाना जा सके, यह कोई दुर्लंघ्य द्वित्व भी नही है । निचली श्रेणियो के अस्तित्व केवल छायाभास या किसी एक अस्तित्व के जिससे उनका अस्तित्व भी नि सृत है, प्रकटीकरण मात्र नहीं है, वरन् उनका अपना एक विशिष्ट व्यक्तित्व भी है जो अपने मूल अस्तित्व से भिन्नता रखता है । अस्तित्व की प्रत्येक श्रेणी के अपने निजी विशेष कार्य तथा प्रवृत्तिया हैं । एक से दूसरी वस्तु के अस्तित्व का तर्क हम केवल सादृश्य के सिद्धान्त के अनुसार कर सकते हैं, एकरूपता के आधार पर नहीं—एक जैसी दो वस्तुए हो सकती है, परन्तु दोनो एक ही वस्तु नही हो सकती । इस सादृश्यात्मक तर्क-पद्धति से हम इन्द्रियगम्य अस्तित्व से उस अस्तित्व तक पहुच सकते हैं जो सभी अस्तित्वो का स्रोत है तथा जो स्वय विशुद्ध अस्तित्व है । भले ही हम ईश्वर को अपनी शुद्ध बुद्धि की प्रत्यक्ष क्रिया के द्वारा न जान सकें, पर हम पूर्णत विवश नही हैं—ऐसा नही है कि हम उसे किसी प्रकार जान ही नही सकते—क्योकि हममे और ईश्वर मे जो सादृश्य है, वही उसको जानने के साधन हमे देता है । इससे यह बात सामने आती है कि यदि हम बुद्धिग्राह्य अस्तित्व तक, परम तत्त्व तक पहुचना चाहते हैं, तो पहले हमे इन्द्रियग्राह्य विश्व के सत्य को जान लेना चाहिए, क्योकि इसको हमारे मन भली प्रकार जानने और समझने मे समर्थ हैं । इसी कारण से, अरस्तूवादी समस्त पद्धति को उन सबका विवरण मान लिया जाता है जिसको हमारी शुद्ध बुद्धि प्रकृति के अध्ययन के द्वारा अब तक उपलब्ध करने मे समर्थ हुई है । वस्तुओ के निहितार्थ पर विचार करने से हम ईश्वर की धारणा तक पहुच सकते हैं और उसको एक आध्यात्मिक अस्तित्व के रूप मे समझ सकते हैं जिसके तीन गुण है बुद्धि, संकल्प और शिवत्व , परन्तु उसकी इस त्रयात्मक विशेषता का साक्षात् परिचय तो हमे दैवी रहस्योद्घाटन द्वारा, इस्लाम

द्वारा ही प्राप्त हो सकता है ।

मनुष्य ईश्वर से पूर्णतया भिन्न है । ससार और ईश्वर के बीच में मनुष्य का स्थान है । बुद्धिहीन पदार्थ-तत्त्व तो एक ओर है और शुद्ध बुद्धि दूसरी ओर है—इनके मध्य मे है मनुष्य जिसमे इन दोनो का अश है । सादृश्य के सिद्धान्त के आधार पर यह ज़ोर देकर कहा जाता है कि उसकी पूर्णता का वही अर्थ नही है जो अर्थ पशुओ की या देवदूतो की पूर्णता का है , उसकी पूर्णता इन दोनों से भिन्न प्रकार की है । चूकि मनुष्य देह और आत्मा दोनो के सयोग से बना है, इसलिए उसके जीवन का उद्देश्य, न तो पाशविक जीवन होना चाहिए, न देवदूत का अलौकिक जीवन । ईश्वर ही वह लक्ष्य है जिसकी ओर सभी वस्तुए प्रधावित हैं, परन्तु हर श्रेणी का अस्तित्व उस पूर्णता तक अपने-अपने तरीके से पहुचता है । यदि मनुष्य की बौद्धिक शक्ति, जिसका अश-भागी वह अन्य जीवो के साथ बनता है, का स्वाभाविक विकास नही होता, तो मनुष्य का जीवन अपूर्ण ही रहता है । सत्य का चिन्तन-मनन मनुष्य का उच्चतम लक्ष्य है, और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आवश्यक है शारीरिक स्वास्थ्य, और नैतिक गुणो के द्वारा लालसाओ-जनित चित्त-चाचल्य से मुक्ति । सेंट टॉमस का निश्चित मत है कि मानव-जीवन दिव्य नही है, इसीलिए ऐन्द्रिक सुख उसके विशुद्ध अग हैं—हालाकि वे पूर्णत मानव-जीवन को सुखी नही बना सकते । मनुष्य की पूर्णता मे देह का भी भाग है, उसके साथ उसकी भी सगति है । देह किसी भी प्रकार आत्मा के लिए बेडी नहीं है । वह इस बात पर ज़ोर देता है कि आनन्दकर दर्शन के लिए आवश्यक है आनन्द-कर चेतना (ल्यूमेन ग्लोरियाइ), यह सामान्य चेतना (ल्यूमेन नेचुरेल) और आर्ष चेतना (ल्यूमेन ग्रेटिआइ) से भिन्न है । इतना होने पर भी दैवी सार-तत्त्व की अव-धारणा नही की जा सकेगी । चिन्तन-मनन के जीवन से सेंट टॉमस का तात्पर्य 'अध्य-यन-अनुशीलनमय जीवन से और सत्य के प्रति लालसा से है ।'[1] यह दैवी सार-तत्त्व का अन्तर्ज्ञान द्वारा प्रत्यक्षीकृत दर्शन नही है । पृथ्वी पर रहते हुए ईश्वर का साक्षात् दर्शन पाना हमारे लिए असम्भव है । मानसिक छायाभास द्वारा ही हम ईश्वर का आशिक ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । यदि मूसा और सेंट पॉल ने अपने चरमोल्लास के क्षणो मे, समाधि की स्थिति मे दिव्य दर्शन प्राप्त किया था, तो इससे यह तो प्रकट है ही कि मनुष्य के लिए चरमोल्लास की प्राप्ति असम्भव नहीं है या प्रकृति के यह विपरीत नही है ।[2]

ऐथेनेसियस ने स्वीकार किया था कि आत्मा अपने स्वभावानुसार ईश्वर का साक्षात् दर्शन पा सकती है और वह इसके लिए समर्थ भी है , और इसके लिए एक ही शर्त है—हृदय की पवित्रता ।[3] सेंट टॉमस इस विचार से सहमत नहीं हैं । सेंट

१. टॉम चेपमैन : 'इनसाइक्लोपीडिया ऑव् रिलीजन एण्ड एथिक्स', खण्ड IX, पृ० ६६.

२. डॉ० कर्क का कथन है : "मूसा और सेंट पॉल से घटकर जो लोग हैं, जैसे सेंट पीटर और डेविड, उनके लिए वह दो प्रकार के चरमोल्लास का विधान करता है जिसमें ईश्वर का ध्यान उतना दूरस्थ या विप्रकृष्ट नहीं होता जितना साधारण श्रेणी के लिए हम इस जीवन में उपलब्ध करने की आशा कर सकते हैं ।" ['द विज़न ऑव् गॉड्' (१९३१), पृ० ३९२].

३. कन्ट्रा जेन्टीज़, ३

टॉमस की दृष्टि मे अच्छा जीवन वह होता है जो विधि-नियम का पालन करे। बुरा कार्य करना नियम-भंग करना है। यह मान लिया गया है कि ईश्वर की आज्ञाए मनमानी या सनक से भरी नही होती।

जब हम नैतिकता का अर्थ केवल यह समझते हैं कि किसी बाह्य अधिकारी के द्वारा हम पर लादे गए आदेशो के अनुसार कार्य करना—आज्ञापालन मे भी जब हमारी दृष्टि यह हो कि हम उस आदेश की आन्तरिक अच्छाई के कारण नही, बल्कि इसलिए उसका विवश होकर पालन करें कि हमे आदेश दिया गया है और यदि उसका पालन हमने न किया, उसकी अवज्ञा की, तो इसके कुपरिणाम हमे भुगतने होगे, तब यह नैतिकता नही, वरन् एक प्रकार की स्वार्थपरता हो जाती है। अगर हम पुण्य-कृत्य इसलिए करते हैं कि जीवनोपरान्त हमे दुःख न उठाना पडे, तो यह भावना ही पुण्य को दूषित कर देती है; मध्यकाल के धर्मशास्त्रज्ञो ने भावी यन्त्रणाओ का भयावह चित्र उपस्थित करके लोगो को अच्छे कार्य करने की प्रेरणा देकर यही किया था। अन्धविश्वासपूर्ण उपाख्यान गढ लिए गए और धर्माधिकारियो के अनुग्रह को यान्त्रिक सेवा जैसा बना दिया गया। लोग आध्यात्मिक लाभो को खरीदने मे भी वैसे ही विश्वास करने लगे जैसे वे पैसे के बल से दूकान से दवाई खरीदने मे विश्वास करते हैं। धार्मिक सस्थाओ (मन्दिरो और मठो) को लोग खूब दान देते थे, इस प्रकार उनमे देश के अतिरिक्त धन का अच्छा-खासा भाग जमा हो गया था। इन सस्थाओ को दिए हुए अग्रहार दान को कुछ लोग अपनी व्यक्तिगत सम्पत्ति मानने लगे थे जिसमे लोग वैसे ही अपने धन का विनियोग कर सकते थे जैसे वे स्टॉक और शेयर खरीदने मे करते हैं। वे धन के द्वारा अपने बच्चो तक के लिए पुरोहित-पद या महन्तगीरी खरीद सकते थे।

पाण्डित्याभिमान ने बौद्धिक शक्ति को जागृत रखा। अपनी परिभाषा की शक्तियो और प्रखर अनुमिति और बौद्धिक क्षमता के द्वारा इसने वैज्ञानिक सस्कृति की जडो को पोषित किया। कहा जाता है कि 'त्रिगुट' ('पिता', 'पुत्र' तथा 'पवित्रात्मा' की त्रयी की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति) के सिद्धान्त के ही अध्याहार से कॉपर्निकस ने सूर्य के चारो ओर पृथ्वी के चक्कर लगाने की परिकल्पना की थी। मध्यकाल का अन्त होते-होते विज्ञान और अनुसन्धान के द्वारा ससार के सम्बन्ध मे हमारे ज्ञान मे क्रमश. वृद्धि होने लगी थी। लोग साहसिक कार्य करने की शक्ति और भावना से परिपूर्ण थे।

चौदहवी शताब्दी के प्रारम्भ मे धार्मिक आस्था मे ह्रास होने के लक्षण स्पष्ट होने लगे और पोप के अधिकार को चुनौती दी जाने लगी। धार्मिक सिद्धान्तो तथा चर्च के सत्ताधारियो के प्रति लोगो के मन मे शकाए बढने लगी, किन्तु मतान्ध लोग सदा ही रूढिवादी, अनुदार एव अनुशासनप्रिय होते है, वे प्रगतिशील और दिव्य भाव वाले नही होते। जब किसीको सत्ता प्राप्त हो जाती है और उसका प्रभुत्व अत्यन्त शक्तिसम्पन्न बन जाता है, तब यह हृदयहीन, निर्दय यन्त्र की तरह कार्य करने लगता है और जीवन तथा आत्मा के मूल्यो का वह सगठित विरोध करने लगता है। पन्द्रहवीं और सोलहवी शताब्दियो मे धर्म के नाम पर आतक का नियमित राज्य था। यूरो-

पीय समाज अधिकाधिक अस्थिर, डावाडोल होने लगा। उस समय हम अपने को एक ऐसे भयंकर तथा युद्ध-रत ससार मे पाते हैं जिसमे विभिन्न सम्प्रदायो मे लड़ाई-झगडे थे, मत-मतान्तरो मे उग्र प्रतिद्वन्द्विता थी और ऐसा उत्पीडन था जिसके विरुद्ध विद्रोह अनिवार्य हो गया था। वैज्ञानिक चेतना के प्रसार ने लोगो के मन को धार्मिक सिद्धान्तो के विषय मे वैसे ही अशान्त बना दिया, जैसे पादरी-पुरोहितो के भ्रष्टाचार ने धार्मिक सस्कारो एव अनुष्ठानों के औचित्य के प्रति लोगो को शकालु बना दिया था। कोई भी धार्मिक सस्कार तब तक वैध नहीं माना जा सकता जब तक उस सस्कार को कराने वाला व्यक्ति स्वय पवित्र तथा गरिमामय स्थिति मे न हो। इससे लोगो मे यह विश्वास घर कर गया कि पादरी ही धार्मिक सस्कार कराने का अधिकारी है, यह मात्र एक छलना है। इग्लैण्ड मे वाइक्लिफ ने जो आदोलन छेडा, उसको इसी विचार से प्रेरणा मिली थी। चर्च की सम्पत्ति का जो दुरुपयोग पादरियो तथा मठाधीशो द्वारा हो रहा था, उसके विरुद्ध लोगो मे बहुत असन्तोष फैल गया था। पादरियो और मठाधीशो के भ्रष्टाचरण को देख-देखकर जनता के मन मे ईश्वर के प्रति भी सन्देह होने लगा था। पवित्र अवशेषो की पूजा, भिक्षा-दान, अनुग्रहो का दुरुपयोग तथा मृत व्यक्तियो के लिए प्रार्थना-समारोह सामान्य जनता को धार्मिक वस्तु-विनिमय के समान जान पडते थे—लगता था कि आध्यात्मिक शक्ति को बेचा-खरीदा जा रहा हो। जब ईसाई-जगत् मे 'तबेले मे लतियाहुज' की कहावत चरितार्थ होने लगी, आन्तरिक वैर-विरोध बहुत बढ गया तब धर्म-सुधार-आन्दोलन ('रिफॉर्मेशन') के रूप मे यह विरोध प्रकट हुआ। जब मार्टिन लूथर तथा अन्य सुधारको ने कुछ धार्मिक सिद्धान्तो को मानने से इन्कार कर दिया और रोमन कैथॉलिक चर्च द्वारा स्वीकृत कुछ आचारो का विरोध किया, तब उन्होने यह सब धार्मिक आलेखो—विशेपकर 'न्यू टेस्टामेट' को अपना आधार बनाकर किया था। विश्वास का आधार क्या हो, इसी प्रश्न पर मत-भेद था। रोमन कैथॉलिको और प्रोटेस्टैंटो मे यह अन्तर था कि रोमन कैथॉलिक चर्च का विचार यह था कि लोग उसके सिद्धान्तो को इसलिए स्वीकार करते हैं, क्योकि उनको अमोघ, दोषरहित चर्च ने, जिसने एक अमोघ 'पुस्तक'—'न्यू टेस्टामेंट'—की व्याख्या प्रस्तुत की है, सच्चा घोपित किया है, तब प्रोटेस्टैंट धर्मशास्त्रज्ञों ने परम्परा का तो तिरस्कार कर दिया, किन्तु अमोघ 'पुस्तक'—बाइबिल—को स्वीकार कर लिया। दोनो एक बात पर सहमत थे कि विश्वास को आधार देने के लिए कोई वाह्य अमोघ प्रमाण आवश्यक है। जब एक बार यह स्वीकार कर लिया जाता है कि मनुष्य ईश्वर के साक्ष्य की अपने लिए स्वय व्याख्या करने मे असमर्थ है तब कैथॉलिको की स्थिति प्रोटेस्टैंटो की अपेक्षा अधिक दृढ और सही हो जाती है। हम केवल एक 'पुस्तक', सम्पूर्ण 'पुस्तक' और एकमेव उस 'पुस्तक' को ही अपना आधार बनाकर नही चल सकते। क्या बाइबिल के सभी भाग दैव-प्रेरित हैं और क्या सभी भाग समान रूप से प्रामाणिक हैं? क्या उन्हे किसी मनुष्य लेखक ने लिखा है या वे किसी दिव्यात्मा की प्रेरणा हैं? क्या बाइबिल के सभी भागो मे सिद्धान्त की कोई पूर्ण, सुसगत और सुसम्बद्ध पद्धति परिलक्षित होती है? यदि हां, तो वह पद्धति क्या है? लूथर ने कहा था—

"हमारे पास यह जाचने की सही कसौटी है कि वे सभी पुस्तकें जो क्राइस्ट-सम्बन्धी हैं, उनमे ईसा की बातें ही है या नही।" वह आगे कहता है : "जो पुस्तक क्राइस्ट की शिक्षाओ को हमे नहीं बताती, वह दिव्य सदेश-वाहक पुस्तक नही है, भले ही उसे सेंट पीटर या सेंट पॉल ने लिखा हो। पुन, जो पुस्तक क्राइस्ट के बारे मे हमे बतलाती है, वह दिव्य सदेश-वाहक होगी, भले ही उसे जूडा, हन्ना, पाइलेट और हेरोद ने ही लिखा हो।" जबकि कैथॉलिक परम्परा एक अमोघ, निर्दोष 'पुस्तक' (बाइबिल) की अमोघ व्याख्या प्रस्तुत करती है, तब प्रोटेस्टैंट चर्च उस 'पुस्तक' के विषय मे अनिश्चय के स्वर मे बोलते हैं और जितने मुह उतने उत्तर देते है। वे दो अतियो के बीच डावाडोल स्थिति मे रहते हैं, दोनो ही उनकी स्थिति के लिए महत्त्वपूर्ण हैं वे अतिया हैं एक बाह्य प्रमाण (बाइबिल) की बिना शर्त स्वीकृति, और स्वतत्र निर्णय का अधिकार। वैज्ञानिक भावना का यह तकाजा है कि हम यह स्वीकार करें कि किसी पुस्तक मे जो लिखा है या चर्च जिसका प्रतिपादन करता है, वही सत्य नही है, वरन् सत्य है वह जिसका यथार्थ के साथ मेल हो। प्रोटेस्टैंटो के सुधार-आन्दोलन का उद्देश्य विश्वजनीन धर्म के सिद्धान्तो के अनुसार ईसाई धर्मसूत्रो की एक नई व्याख्या करना था, उसका उद्देश्य था इस कार्य मे हमारी सहायता करना कि हम सत्य और शिव को परम्परागत शिक्षाओ के द्वारा नहीं, वरन् विवेक और अन्तरात्मा के प्रकाश मे जानें। धर्मसुधार-आन्दोलन का यह एक आवश्यक लक्षण था, जिसने अब तक भी अपने सभी वायदो को पूरा नही किया है। फिर भी, प्रारम्भिक प्रोटेस्टैंट धर्म इस बात के लिए कृत-सकल्प था कि वह एक ऐसी धार्मिक पद्धति की नीव रखेगा जो उतनी ही मतान्ध, कट्टर, दूसरो का बहिष्कार करने की इच्छुक तथा सदस्यो के प्रवेश एव चयन करने मे सावधान होगी, जितनी कि कैथॉलिक धर्म-पद्धति भी, साथ ही वह प्रारम्भिक ईसाई चर्च की शिक्षाओ को अधिक विश्वसनीय ढग से और सत्य-निष्ठा के साथ व्यक्त करने की चेष्टा करेगी। 'द एपिस्टिल टु द रोमन्स' (१५१५–१६) [रोमन लोगो के लिए लिखे धर्म-पत्र] के विषय मे अपने भाषण का प्रारम्भ लूथर इन शब्दो से करता है "इस धर्म-पत्र (एपिस्टिल) का सार देह के सब प्रकार के ज्ञान और न्यायनिष्ठा को, चाहे वे मनुष्य की आखो मे और हमारी दृष्टि मे कितने ही महान क्यो न लगे और चाहे जितने सच्चे और ईमानदार क्यो न हो, पूर्णतया नष्ट-भ्रष्ट करना और उन्मूलित करना है तथा उनके स्थान पर पाप की जड जमाना है, चाहे वह पाप कितना ही कम क्यो न हो या ऊपरी दृष्टि से वह कितना ही निर्दोष क्यों न लगे।" यदि हम चाहते हो कि हमारा उद्धार हो, तो हमे अपने-आपको निराश करना सीखना चाहिए। प्रोटेस्टैंट धर्म मे भी मताग्रहता, कट्टरधर्मिता तो रह ही गई, केवल सार्वभौमवाद उसमे से गायब हो गया। परिवर्तन बस इतना-सा हुआ कि कैथॉलिक यूरोपीय ईश्वर का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। लूथर ने प्रश्न किया था : "हम जर्मनो को सेंट पीटर से क्या लेना-देना है ?" ईश्वर एक जर्मन इष्टदेव बनता जा रहा था। स्वय चर्च (ईसाई धर्म-सस्थाए) तक राष्ट्रीय रग मे रग गए। लूथर के ये शब्द "कि पोप के समर्थको (रोमन कैथॉलिक

मतावलम्बियो), तुर्कों, यहूदियो मे और हममे, जिन्हे ईश्वरीय सदेश का सच्चा ज्ञान है, वडा भारी अन्तर है" सिद्ध करते हैं कि उसमे भी मतान्धता की भावना कम न थी।

कात्विन ने एक सुविकसित सिद्धान्तयुक्त चर्च (धर्म-सस्था) की स्थापना की। उसके सिद्धान्तो का सार यह था . ईश्वर की इच्छा ही सर्वोपरि है। मनुष्य के अच्छे कार्यो से आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने मे कोई सहायता नही मिलती, क्योंकि वे अच्छे कार्य उसकी आत्मा के साथ नही जाते। ईश्वर की प्रभुसत्तात्मकता और मनुष्य का इस जीवन से पूर्व भी अस्तित्व होना—ये दो काल्विन के प्रमुख सिद्धान्त थे। ईश्वर की प्रभुसत्ता की वात पर इस हद तक ज़ोर दिया गया है कि मनुष्य को किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नही दी गई है। मनुष्य का प्रारब्ध तो पूर्व-निश्चित है, उसको वदलने के लिए वह कुछ भी नही कर सकता। यदि हमारे प्रारब्ध मे यह लिखा है कि हमारा उद्धार होगा, तो हम ईश्वरीय ज्ञान की ओर झुकेंगे, उसपर ध्यान देंगे, और यदि हमारे प्रारब्ध में नरक का दु ख-भोग लिखा है, तो हम ईश्वरीय ज्ञान पर कोई ध्यान न देंगे। प्रकृत्या मनुष्य की रुझान केवल वुराई की ओर है। मनुष्य की प्रकृति के इस पूर्ण कालुष्य-सम्वन्धी विचार का तार्किक परिणाम यह हुआ कि जीवन के रहन-सहन की अप्राकृतिकता का उन्नयन होने लगा। "यदि स्वर्ग ही हमारा असली देश है, तो यह पृथ्वी हमारे निर्वासन का स्थान होने के अतिरिक्त और है क्या ? यदि ससार से विदा लेने का अर्थ जीवन मे प्रवेश करना है, तो यह ससार श्मशान के अलावा और क्या है ? यहा सिवाय मृत्यु मे निरत रहने के और किस वात की निरन्तरता है ? हमको इस ऐहिक जीवन को घृणा करना सीखना चाहिए, ताकि यह हमे पाप का वन्दी न वना डाले।"[१] काल्विनवाद ने उस नये प्रोटेस्टैंट आन्दोलन के लिए एक ढाचा तैयार कर दिया, जो सारे यूरोप पर छा गया, और एक समय तो वह इंग्लैंड पर हावी ही हो गया, और स्कॉटलैंड मे धर्म की प्रतिष्ठापित पद्धति वन गया।

समाज के सामन्तवादी सगठन के छिन्न-भिन्न हो जाने पर मनुष्य के सारे कार्यों मे प्रतियोगिता की भावना और मुनाफे की चाह ही प्रधान वन गई। आरम्भिक ईसाई विचारक इस चीज़ पर जोर देते हैं कि मनुष्य को पार्थिव सम्पत्ति कम-से-कम रखनी चाहिए, अपरिग्रह का व्रत उसे अपनाना चाहिए, और मनुष्य को इस ससार को निस्सार समझकर इससे घृणा करने का अभ्यास करना चाहिए, किन्तु जिस धनोपार्जन की प्रवृत्ति को एक वार आत्मा के लिए भयावह और घातक समझा गया था, उसी धनोपार्जन को काल्विनवाद के व्यावहारिक रूप मे एक नई पवित्रता प्राप्त हो गई। लालसा या लोलुपता से आत्मा को उतना वडा खतरा नही है जितना आलस्य या प्रमाद से। पॉल ने 'व्यवसाय मे आलस्य न दिखाने' का जो उपदेश दिया है, उसका अर्थ यह लगाया गया है कि व्यापार और वाणिज्य के द्वारा समृद्ध होना अधिक अच्छा है, न कि दरिद्र वनना। नये विज्ञान के उदय के साथ पूजीवादी उद्योगो के लिए भी अधिक अवसर उपस्थित हो गए। एक अनात्म अर्थशास्त्रीय पद्धति और भारी जन-

सख्या को पराधीन बनानेवाले साम्राज्यों की स्थापना को ईसाई चर्च का आशीर्वाद प्राप्त हो गया।[1] व्यापार और साम्राज्य के हित मे शक्ति-प्रयोग की अनुमति धर्म ने दे दी। क्रॉमवेल यह अनुभव कर सकता था कि राजाओ के विरुद्ध संघर्ष छेडने के लिए ईश्वर ने ही उसे भेजा है। नई मशीनो और यातायात की सुविधाओ मे वृद्धि हो जाने के कारण धन-सचय पर से सामाजिक नियत्रणो का प्रभाव घट गया और अठारहवी शताब्दी के समाप्त होते न होते, पूजीवाद का उद्भव हो गया, और उन्नीसवी शताब्दी मे तो वह सर्वशक्तिमान बन गया। जनता का एक विशाल भाग अपनी दुरवस्था के प्रति जागरूक हो गया और उसने विद्रोह करने की तैयारी कर ली। काल्विन के अनुयायियो के अन्तर्गत रहकर ईसाइयत ने पूजीवादी व्यवस्था का समर्थन किया और बढ रही बुराइयो तथा जीवन के यत्रीकरण को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

धर्म के क्षेत्र मे कैथॉलिक और प्रोटेस्टैंट सप्रदायो मे एक दूसरे के प्रति घृणा बढने लगी। धर्म के प्रश्न पर युद्ध होने लगे, उनकी सख्या मे बढोतरी होने लगी। ईसाई जाच न्यायालय के वहशीपन, सेंट बार्थोलोम्यू द्वारा कराए गए हत्याकाण्ड और लूथर, काल्विन तथा नॉक्स जैसे धर्म-गुरुओ की दुरभिसन्धियो से यह स्पष्ट हो गया कि धार्मिक दृष्टि से ईसाई कहलानेवाले लोग किस प्रकार एक-दूसरे से केवल इसलिए घृणा कर सकते है कि वे अलग-अलग मुहर-छाप लगाए हुए ईसाई हैं।

धर्म मे व्यवहारत तो राष्ट्रीय आवश्यकताओ के अनुसार परिवर्तन कर लिया गया, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से वह पहले की तरह ही सकीर्ण और अत्याचारी बना रहा। जेनेवा झील के तट पर स्थित चैम्पेल पहाडी पर सरवेटस (१५११–३३) को मन्द-मन्द आग पर जीवित ही जला दिया गया। जो प्रोटेस्टैंट नेता काल्विन के विरुद्ध थे, उन्होने इस मृत्यु-दण्ड का समर्थन किया था। यहा तक कि सज्जन और सहृदय समझे जानेवाले मेलान्चथॉन ने धर्म-विरोधी सरवेटस की इस हत्या पर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा था कि "यह घटना आनेवाली पीढियो के लिए एक पवित्र और

१ तुलना कीजिए - मैक्स वेबर द्वारा लिखित 'प्रोटेस्टैंट एथिक्स एण्ड द स्पिरिट ऑव् कैपिटलिज्म'। यह लेखक यह तर्क रखता है कि आधुनिक काल की पूंजीवादी पद्धति प्रोटेस्टैंट सुधार-आन्दोलन, विशेषतया काल्विनवादी धर्मशास्त्र और जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न हुई। अपनी प्रस्तावना में प्रोफेसर आर० एच० टानी इस निष्कर्ष को इस प्रकार रखते हैं: "वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के अग्रणी वे लोग थे जिन्होंने भूमि और वाणिज्य के क्षेत्र में जड़ जमाए श्रीमन्तों और रईसों को धकियाकर अपना मार्ग बनाया और सफलता पाई थी। वे लोग स्वय धनी नहीं थे, परन्तु उनमें साहसिकता थी, अध्यवसाय था और आगे बढ़ने की तड़प थी। जिस भावना ने उन्हें इस सघर्ष में बल प्रदान किया, वह धर्म के प्रति एक नई धारणा थी जो धनोपार्जन को केवल लाभप्रद कार्य ही नहीं मानती थी, बल्कि कर्त्तव्य भी। 'इनमें जो चीज महत्त्वपूर्ण है, वह आर्थिक स्वार्थ का प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह तो सभी युगों में एक साधारण-सी चीज रही है और इसी युग के लिए उसमें कोई विशेषता नहीं। महत्त्वपूर्ण चीज तो रही नैतिक मानदण्डों में परिवर्तन, जिसके अनुसार धनलोलुपता की जो स्वाभाविक कमजोरी मनुष्य में है, उसको भावना का आभूषण बना दिया गया और प्रारम्भिक युगों में जिन आदतों को दुर्गुणों की संज्ञा दी गई थी, उन्हींको आर्थिक गुणों के रूप में स्वीकार कर लिया गया। जिस शक्ति ने मानदण्डों का यह परिवर्तन ला दिया, वह काल्विन का सम्प्रदाय था। पूंजीवाद काल्विनवादी धर्मशास्त्र का सामाजिक समकक्ष सिद्धान्त था।" (पृ० २)।

मतावलम्बियो), तुर्कों, यहूदियो मे और हममे, जिन्हें ईश्वरीय सदेश का सच्चा ज्ञान है, बडा भारी अन्तर है" सिद्ध करते हैं कि उसमे भी मतान्धता की भावना कम न थी।

काल्विन ने एक सुविकसित सिद्धान्तयुक्त चर्च (धर्म-सस्था) की स्थापना की। उसके सिद्धान्तो का सार यह था ईश्वर की इच्छा ही सर्वोपरि है। मनुष्य के अच्छे कार्यों से आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने मे कोई सहायता नही मिलती, क्योकि वे अच्छे कार्य उसकी आत्मा के साथ नही जाते। ईश्वर की प्रभुसत्तात्मकता और मनुष्य का इस जीवन से पूर्व भी अस्तित्व होना—ये दो काल्विन के प्रमुख सिद्धान्त थे। ईश्वर की प्रभुसत्ता की बात पर इस हद तक जोर दिया गया है कि मनुष्य को किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नही दी गई है। मनुष्य का प्रारब्ध तो पूर्व-निश्चित है, उसको बदलने के लिए वह कुछ भी नही कर सकता। यदि हमारे प्रारब्ध मे यह लिखा है कि हमारा उद्धार होगा, तो हम ईश्वरीय ज्ञान की ओर झुकेंगे, उसपर ध्यान देंगे, और यदि हमारे प्रारब्ध में नरक का दुःख-भोग लिखा है, तो हम ईश्वरीय ज्ञान पर कोई ध्यान न देंगे। प्रकृत्या मनुष्य की रुझान केवल बुराई की ओर है। मनुष्य की प्रकृति के इस पूर्ण कालुष्य-सम्बन्धी विचार का तार्किक परिणाम यह हुआ कि जीवन के रहन-सहन की अप्राकृतिकता का उन्नयन होने लगा। "यदि स्वर्ग ही हमारा असली देश है, तो यह पृथ्वी हमारे निर्वासन का स्थान होने के अतिरिक्त और है क्या? यदि ससार से विदा लेने का अर्थ जीवन मे प्रवेश करना है, तो यह ससार श्मशान के अलावा और क्या है? यहा सिवाय मृत्यु मे निरत रहने के और किस बात की निरन्तरता है? हमको इस ऐहिक जीवन को घृणा करना सीखना चाहिए, ताकि यह हमे पाप का बन्दी न बना डाले।"[1] काल्विनवाद ने उस नये प्रोटेस्टैंट आन्दोलन के लिए एक ढाचा तैयार कर दिया, जो सारे यूरोप पर छा गया, और एक समय तो वह इग्लैंड पर हावी ही हो गया, और स्कॉटलैंड मे धर्म की प्रतिष्ठापित पद्धति बन गया।

समाज के सामन्तवादी सगठन के छिन्न-भिन्न हो जाने पर मनुष्य के सारे कार्यों मे प्रतियोगिता की भावना और मुनाफे की चाह ही प्रधान बन गई। आरम्भिक ईसाई विचारक इस चीज़ पर ज़ोर देते हैं कि मनुष्य को पार्थिव सम्पत्ति कम-से-कम रखनी चाहिए, अपरिग्रह का व्रत उसे अपनाना चाहिए, और मनुष्य को इस ससार को निस्सार समझकर इससे घृणा करने का अभ्यास करना चाहिए, किन्तु जिस धनोपार्जन की प्रवृत्ति को एक बार आत्मा के लिए भयावह और घातक समझा गया था, उसी धनोपार्जन को काल्विनवाद के व्यावहारिक रूप मे एक नई पवित्रता प्राप्त हो गई। लालसा या लोलुपता से आत्मा को उतना बडा खतरा नही है जितना आलस्य या प्रमाद से। पॉल ने 'व्यवसाय मे आलस्य न दिखाने' का जो उपदेश दिया है, उसका अर्थ यह लगाया गया है कि व्यापार और वाणिज्य के द्वारा समृद्ध होना अधिक अच्छा है, न कि दरिद्र बनना। नये विज्ञान के उदय के साथ पूजीवादी उद्योगो के लिए भी अधिक अवसर उपस्थित हो गए। एक अनात्म अर्थशास्त्रीय पद्धति और भारी जन-

१. 'इन्स्टि०' *iii*, ६, ४।

सख्या को पराधीन बनानेवाले साम्राज्यो की स्थापना को ईसाई चर्च का आशीर्वाद प्राप्त हो गया।[1] व्यापार और साम्राज्य के हित मे शक्ति-प्रयोग की अनुमति धर्म ने दे दी। क्रॉमवेल यह अनुभव कर सकता था कि राजाओ के विरुद्ध सघर्ष छेडने के लिए ईश्वर ने ही उसे भेजा है। नई मशीनो और यातायात की सुविधाओ मे वृद्धि हो जाने के कारण धन-सचय पर से सामाजिक नियत्रणो का प्रभाव घट गया और अठारहवी शताब्दी के समाप्त होते न होते, पूजीवाद का उद्भव हो गया, और उन्नीसवी शताब्दी मे तो वह सर्वशक्तिमान बन गया। जनता का एक विशाल भाग अपनी दुरवस्था के प्रति जागरूक हो गया और उसने विद्रोह करने की तैयारी कर ली। काल्विन के अनुयायियो के अन्तर्गत रहकर ईसाइयत ने पूजीवादी व्यवस्था का समर्थन किया और बढ रही बुराइयो तथा जीवन के यत्रीकरण को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

धर्म के क्षेत्र मे कैथॉलिक और प्रोटेस्टैट सप्रदायो मे एक दूसरे के प्रति घृणा बढने लगी। धर्म के प्रश्न पर युद्ध होने लगे, उनकी सख्या मे बढोतरी होने लगी। ईसाई जाच न्यायालय के वहशीपन, सेंट बार्थोलोम्यू द्वारा कराए गए हत्याकाण्ड और लूथर, काल्विन तथा नॉक्स जैसे धर्म-गुरुओ की दुरभिसन्धियो से यह स्पष्ट हो गया कि धार्मिक दृष्टि से ईसाई कहलानेवाले लोग किस प्रकार एक-दूसरे से केवल इसलिए घृणा कर सकते हैं कि वे अलग-अलग मुहर-छाप लगाए हुए ईसाई है।

धर्म मे व्यवहारत तो राष्ट्रीय आवश्यकताओ के अनुसार परिवर्तन कर लिया गया, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से वह पहले की तरह ही सकीर्ण और अत्याचारी बना रहा। जेनेवा झील के तट पर स्थित चैम्पेल पहाडी पर सरवेटस (१५११–३३) को मन्द-मन्द आग पर जीवित ही जला दिया गया। जो प्रोटेस्टैट नेता काल्विन के विरुद्ध थे, उन्होने इस मृत्यु-दण्ड का समर्थन किया था। यहा तक कि सज्जन और सहृदय समझे जानेवाले मेलान्चथॉन ने धर्म-विरोधी सरवेटस की इस हत्या पर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा था कि "यह घटना आनेवाली पीढियों के लिए एक पवित्र और

१ तुलना कीजिए. मैक्स वेबर द्वारा लिखित 'प्रोटेस्टैंट एथिक्स एण्ड द स्पिरिट ऑव् कैपिटलिज्म'। यह लेखक यह तर्क रखता है कि आधुनिक काल की पूजीवादी पद्धति प्रोटेस्टैंट सुधार-आन्दोलन, विशेषतया काल्विनवादी धर्मशास्त्र और जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न हुई। अपनी प्रस्तावना में प्रोफेसर आर० एच० टानी इस निष्कर्ष को इस प्रकार रखते हैं. "वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के अग्रणी वे लोग थे जिन्होंने भूमि और वाणिज्य के क्षेत्र में जड़ जमाए श्रीमन्तों और रईसों को धकियाकर अपना मार्ग बनाया और सफलता पाई थी। वे लोग स्वय धनी नहीं थे, परन्तु उनमें साहसिकता थी, अध्यवसाय था और आगे बढने की तड़प थी। जिस भावना ने उन्हें इस सघर्ष में बल प्रदान किया, वह धर्म के प्रति एक नई धारणा थी जो धनोपार्जन को केवल लाभप्रद कार्य ही नहीं मानती थी, बल्कि कर्त्तव्य भी। इसमें जो चीज महत्त्वपूर्ण है, वह आर्थिक स्वार्थ का प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह तो सभी युगों में एक साधारण-सी चीज रही है और इसी युग के लिए उसमें कोई विशेषता नहीं। महत्त्वपूर्ण चीज तो रही नैतिक मानदण्डों में परिवर्तन, जिसके अनुसार धनलोलुपता की जो स्वाभाविक कमजोरी मनुष्य में है, उसको आत्मा का आभूषण बना दिया गया और प्रारम्भिक युगों में जिन आदतों को दुर्गुणों की सज्ञा दी गई थी, उन्हींको आर्थिक गुणों के रूप में स्वीकार कर लिया गया। जिस शक्ति ने मानदण्डों का यह परिवर्तन ला दिया, वह काल्विन का सम्प्रदाय था। पूंजीवाद काल्विनवादी धर्मशास्त्र का सामाजिक नगकक्ष सिद्धान्त था।" (पृ० २)।

मतावलम्बियो), तुर्कों, यहूदियो मे और हममें, जिन्हे ईश्वरीय सदेश का सच्चा ज्ञान है, बड़ा भारी अन्तर है" सिद्ध करते हैं कि उसमें भी मतान्धता की भावना कम न थी।

कात्विन ने एक सुविकसित सिद्धान्तयुक्त चर्च (धर्म-सस्था) की स्थापना की। उसके सिद्धान्तो का सार यह था . ईश्वर की इच्छा ही सर्वोपरि है। मनुष्य के अच्छे कार्यों से आत्मा को मोक्ष प्राप्त करने मे कोई सहायता नही मिलती, क्योकि वे अच्छे कार्य उसकी आत्मा के साथ नही जाते। ईश्वर की प्रभुसत्तात्मकता और मनुष्य का इस जीवन से पूर्व भी अस्तित्व होना—ये दो काल्विन के प्रमुख सिद्धान्त थे। ईश्वर की प्रभुसत्ता की बात पर इस हद तक ज़ोर दिया गया है कि मनुष्य को किसी भी प्रकार की स्वतन्त्रता नही दी गई है। मनुष्य का प्रारब्ध तो पूर्व-निश्चित है, उसको बदलने के लिए वह कुछ भी नही कर सकता। यदि हमारे प्रारब्ध मे यह लिखा है कि हमारा उद्धार होगा, तो हम ईश्वरीय ज्ञान की ओर झुकेंगे, उसपर ध्यान देंगे, और यदि हमारे प्रारब्ध मे नरक का दुख-भोग लिखा है, तो हम ईश्वरीय ज्ञान पर कोई ध्यान न देंगे। प्रकृतया मनुष्य की रुझान केवल बुराई की ओर है। मनुष्य की प्रकृति के इस पूर्ण कालुष्य-सम्बन्धी विचार का तार्किक परिणाम यह हुआ कि जीवन के रहन-सहन की अप्राकृतिकता का उन्नयन होने लगा। "यदि स्वर्ग ही हमारा असली देश है, तो यह पृथ्वी हमारे निर्वासन का स्थान होने के अतिरिक्त और है क्या? यदि ससार से विदा लेने का अर्थ जीवन में प्रवेश करना है, तो यह ससार श्मशान के अलावा और क्या है? यहा सिवाय मृत्यु मे निरत रहने के और किम बात की निरन्तरता है? हमको इस ऐहिक जीवन को घृणा करना सीखना चाहिए, ताकि यह हमे पाप का वन्दी न वना डाले।"[1] काल्विनवाद ने उस नये प्रोटेस्टेंट आन्दोलन के लिए एक ढाचा तैयार कर दिया, जो सारे यूरोप पर छा गया, और एक समय तो वह इग्लैंड पर हावी ही हो गया, और स्कॉटलैंड मे धर्म की प्रतिष्ठापित पद्धति वन गया।

समाज के सामन्तवादी सगठन के छिन्न-भिन्न हो जाने पर मनुष्य के सारे कार्यों मे प्रतियोगिता की भावना और मुनाफे की चाह ही प्रधान वन गई। आरम्भिक ईसाई विचारक इस चीज़ पर ज़ोर देते हैं कि मनुष्य को पार्थिव सम्पत्ति कम-से-कम रखनी चाहिए, अपरिग्रह का व्रत उसे अपनाना चाहिए, और मनुष्य को इस ससार को निस्सार समझकर इससे घृणा करने का अभ्यास करना चाहिए, किन्तु जिस धनोपार्जन की प्रवृत्ति को एक बार आत्मा के लिए भयावह और घातक समझा गया था, उसी धनोपार्जन को काल्विनवाद के व्यावहारिक रूप मे एक नई पवित्रता प्राप्त हो गई। लालसा या लोलुपता से आत्मा को उतना वडा खतरा नही है जितना आलस्य या प्रमाद से। पॉल ने 'व्यवसाय मे आलस्य न दिखाने' का जो उपदेश दिया है, उसका अर्थ यह लगाया गया है कि व्यापार और वाणिज्य के द्वारा समृद्ध होना अधिक अच्छा है, न कि दरिद्र वनना। नये विज्ञान के उदय के साथ पूजीवादी उद्योगो के लिए भी अधिक अवसर उपस्थित हो गए। एक अनात्म अर्थशास्त्रीय पद्धति और भारी जन-

१. 'इन्स्टि०' *III*, ६, ४।

संख्या को पराधीन बनानेवाले साम्राज्यो की स्थापना को ईसाई चर्च का आशीर्वाद प्राप्त हो गया।[1] व्यापार और साम्राज्य के हित मे शक्ति-प्रयोग की अनुमति धर्म ने दे दी। क्रॉमवेल यह अनुभव कर सकता था कि राजाओ के विरुद्ध सघर्ष छेड़ने के लिए ईश्वर ने ही उसे भेजा है। नई मशीनो और यातायात की सुविधाओ मे वृद्धि हो जाने के कारण धन-सचय पर से सामाजिक नियत्रणो का प्रभाव घट गया और अठारहवी शताब्दी के समाप्त होते न होते, पूजीवाद का उद्भव हो गया, और उन्नीसवी शताब्दी मे तो वह सर्वशक्तिमान बन गया। जनता का एक विशाल भाग अपनी दुरवस्था के प्रति जागरूक हो गया और उसने विद्रोह करने की तैयारी कर ली। काल्विन के अनुयायियो के अन्तर्गत रहकर ईसाइयत ने पूजीवादी व्यवस्था का समर्थन किया और बढ रही बुराइयो तथा जीवन के यत्रीकरण को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दी।

धर्म के क्षेत्र मे कैथॉलिक और प्रोटेस्टैंट सप्रदायो मे एक दूसरे के प्रति घृणा बढने लगी। धर्म के प्रश्न पर युद्ध होने लगे, उनकी सख्या मे बढोतरी होने लगी। ईसाई जाच न्यायालय के वहशीपन, सेंट बार्थोलोम्यू द्वारा कराए गए हत्याकाण्ड और लूथर, काल्विन तथा नॉक्स जैसे धर्म-गुरुओ की दुरभिसन्धियो से यह स्पष्ट हो गया कि धार्मिक दृष्टि से ईसाई कहलानेवाले लोग किस प्रकार एक-दूसरे से केवल इसलिए घृणा कर सकते हैं कि वे अलग-अलग मुहर-छाप लगाए हुए ईसाई हैं।

धर्म मे व्यवहारत तो राष्ट्रीय आवश्यकताओ के अनुसार परिवर्तन कर लिया गया, किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से वह पहले की तरह ही सकीर्ण और अत्याचारी बना रहा। जेनेवा झील के तट पर स्थित चैम्पेल पहाड़ी पर सरवेटस (१५११–३३) को मन्द-मन्द आग पर जीवित ही जला दिया गया। जो प्रोटेस्टैंट नेता काल्विन के विरुद्ध थे, उन्होने इस मृत्यु-दण्ड का समर्थन किया था। यहा तक कि सज्जन और सहृदय समझे जानेवाले मेलान्चथॉन ने धर्म-विरोधी सरवेटस की इस हत्या पर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हुए कहा था कि "यह घटना आनेवाली पीढियों के लिए एक पवित्र और

१ तुलना कीजिए : मैक्स वेबर द्वारा लिखित 'प्रोटेस्टैंट एथिक्स एण्ड द स्पिरिट ऑव् कैपिटलिज्म'। यह लेखक यह तर्क रखता है कि आधुनिक काल की पूंजीवादी पद्धति प्रोटेस्टैंट सुधार-आन्दोलन, विशेषतया काल्विनवादी धर्मशास्त्र और जीवन के प्रति उसके दृष्टिकोण के कारण उत्पन्न हुई। अपनी प्रस्तावना में प्रोफेसर आर० एच० टानी इस निष्कर्ष को इस प्रकार रखते हैं "वर्तमान आर्थिक व्यवस्था के अग्रणी वे लोग थे जिन्होंने भूमि और वाणिज्य के क्षेत्र में जड़ जमाए श्रीमन्तों और रईसों को धकियाकर अपना मार्ग बनाया और सफलता पाई थी। वे लोग स्वय धनी नहीं थे, परन्तु उनमें साहसिकता थी, अध्यवसाय था और आगे बढ़ने की तड़प थी। जिस भावना ने उन्हें इस सघर्ष में बल प्रदान किया, वह धर्म के प्रति एक नई धारणा थी जो धनोपार्जन को केवल लाभप्रद कार्य ही नहीं मानती थी, बल्कि कर्त्तव्य भी। इसमें जो चीज महत्त्वपूर्ण है, वह आर्थिक स्वार्थ का प्रयोजन नहीं, क्योंकि वह तो सभी युगों में एक साधारण-सी चीज रही है और इसी युग के लिए उसमें कोई विशेषता नहीं। महत्त्वपूर्ण चीज तो रही नैतिक मानदण्डों में परिवर्तन, जिसके अनुसार धनलोलुपता की जो स्वाभाविक कमजोरी मनुष्य में है, उसको आत्मा का आभूषण बना दिया गया और प्रारम्भिक युगों में जिन आदतों को दुर्गुणों की सज्ञा दी गई थी, उन्हींको आर्थिक गुणों के रूप में स्वीकार कर लिया गया। जिस शक्ति ने मानदण्डों का यह परिवर्तन ला दिया, वह काल्विन का सम्प्रदाय था। पूंजीवाद काल्विनवादी धर्मशास्त्र का सामाजिक समकक्ष सिद्धान्त था।" (पृ० २)।

तिरस्कार एव अस्वीकार इस्लाम के धार्मिक मत का एक अग है; दूसरी ओर, ईसाइयत को स्वीकार करना इस्लाम को एक भूल समझकर उसका प्रत्याख्यान करना होगा। इस प्रकार की मतान्धताए मनुष्य मे दम्भ की सृष्टि करती हैं, उसे नम्र नही बनाती। धर्म बुद्धि अथवा तर्क के विपरीत नही हो सकता। अन्तरात्मा और बुद्धि को अधिशासित करने का, उन्हे अस्वीकृत करने का इसे कोई अधिकार नही है।

इन सकीर्ण रूढिवादी धर्मों की कमजोरी यह है कि एक तो इनमे आध्यात्मिक भीरुता है और दूसरे, यथार्थ का सामना करने मे ये असफल है। ऐसी सम्भावना है कि ये धर्म को ही पूरी तरह नष्ट कर देंगे।

दोष-स्वीकरण की प्रथा वाले ईसाई चर्च राज्य की अनधिकार चेष्टाओ के विरुद्ध जो वीरतापूर्ण प्रतिरोध कर रहे है, उसकी प्रशसा करनी चाहिए, किन्तु प्रशसा करते हुए हमे यह न भूल जाना चाहिए कि कार्ल वार्थ के नेतृत्व मे धर्म-युद्ध से पूर्व के दिनो की जिस ईसाइयत ने 'पुनर्जागरण' (रेनेसा) और अतीत की परम्परा को लेकर चलनेवाले ज्ञान को मिलाने की चेष्टा की थी, वह मृत हो चुकी है। युद्ध (प्रथम महायुद्ध) के सौ से भी अधिक वर्ष पहले काण्ट, हीगेल, श्लेयरमेकर, रित्शल, हर्डर और हरमान आदि दार्शनिको के प्रभाव के अन्तर्गत ईसाई धर्मशास्त्र ने आधुनिक विचारणा के साथ समझौता करने का प्रयत्न किया। उन लोगो की दृष्टि मे ईश्वर-सम्बन्धी ज्ञान आदर्श मनुष्य-सम्बन्धी ज्ञान ही था। कार्ल वार्थ कहता है कि जब तक ईसाइयत मानववाद, उदारतावाद (लिबरलिज्म), मनोविज्ञान और धर्म के तत्त्व-दर्शन से समझौता करने की चेष्टा करती है, तब तक वह निरपेक्ष अतिप्राकृत सत्य को जानने का दावा नही कर सकती। कैथॉलिक चर्च भी ईसाइयत और प्लेटो (जैसा कि सेंट ऑगस्टीन की कृतियो से पता चलता है) या अरस्तू (जैसा कि ऐक्विनास की शिक्षाए सूचित करती हैं) मे तालमेल वैठाने की कोशिश करता है। परन्तु, तर्क-बुद्धि और इल्हाम या दैवी शक्ति-स्फुरण के मध्य सामजस्य करने के किसी भी प्रयत्न का कार्ल वार्थ समर्थन नही करता।

प्रोटेस्टैंट होने के नाते वार्थ रोमन कैथॉलिक चर्च के दावो का खडन करता है :

> "रोमन कैथॉलिक चर्च (ट्रिडेन्टिनम) जो परम्परा को दैवी शक्ति-स्फुरण का स्रोत उसी प्रकार मानता है जिस प्रकार पवित्र धर्मग्रन्थ (वाइविल), और पोप-शासनवाद (वैटिकैनम) जो पोप की अमोघता और निरपराध्यता को मानता है, दोनो ही चर्च की आत्म-देवत्वारोपण प्रवृत्ति को प्रकट करते हैं, यह रोमन कैथॉलिक चर्च की सबसे गम्भीर और भारी भूल है। इसके विपरीत, सुधार-आन्दोलन द्वारा पवित्र-धर्मग्रन्थ (वाइविल) को ही मान्यता देने के सिद्धान्त ने चर्च को सदैव के लिए पैगम्वरी आर्ष वाइविल-वाणी के प्रभुत्व के अधीन कर दिया।"[१]

यद्यपि कार्ल वार्थ का तार्किक धर्म-तत्त्व हिटलर के राष्ट्रीय समाजवाद का

१. 'क्रेडो', पृ० १७६–८०।

विरोधी है, तथापि वे दोनो उदारतावाद (लिबरलिज्म), जिसका जर्मन जीवन के हर पहलू पर प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है, के विरुद्ध समान रूप से प्रतिक्रिया करते हैं। दोनो इतिहास-सम्बन्धी हिब्रू दृष्टिकोण को अपना आधार बनाकर चलते हैं। इतिहास के सम्बन्ध मे हिब्रू दृष्टिकोण यह है कि इतिहास स्रष्टा (ईश्वर) के शक्तिशाली कार्यों का एक सिलसिला है जो बहुत पहले से ही जाने जा चुके और चाहे गए परिणामो की ओर ले जाता है। बार्थ तर्क से सिद्ध करता है कि दैवी शक्ति-स्फुरण का श्रेष्ठतम रूप हमे ईसा मे देखने को मिलता है, नाज़ीवादी का कथन यह है कि दैवी शक्ति-स्फुरण ईसा पर ही समाप्त नही हो गया। दोनो के मन की गठन एक ही प्रकार की है। यदि बार्थवादी धर्मशास्त्र नाज़ीवाद से कम प्रभावशाली है, तो इसका कारण यह है कि उसे राज्य-सत्ता मे प्रतिष्ठित करनेवाला कोई 'फ्यूहरर' (हिटलर) नही मिला। वह हमसे कहता है कि हम विश्व-रचना के सम्बन्ध मे चर्च द्वारा दिये गए विवरण को विश्वस्त रूप से स्वीकार कर लें। वह केवल उन्ही तार्किक और नैतिक मूल्यो को स्वीकार करता है जिनका उपयोग उसके अपने ससार के लिए है, अन्यो के विषय मे उसकी कोई धारणा नही और है भी तो बहुत कम। इस प्रकार के सन्देश के प्रति आकर्षण होना तो स्वाभाविक है, पर वह आकर्षण स्थायी नही हो सकता। एक ऐसे ससार मे जिसमे शाश्वत अशान्ति है और कोई चिरन्तन नगर नही है, जहा कोई निश्चित मानक नही हैं और कोई ऐसा लक्ष्य नही है जिसकी ओर सब लोग बढ रहे हो, एक विचार का आदमी नक्कारखाने मे किसी तरह अपनी तूती की आवाज़ सुनाने मे समर्थ भले हो जाए, किन्तु यह तो निश्चित ही है कि उसकी आवाज़ अधिक देर तक नही सुनी जाएगी। स्वर्ग कोई ऐसा सर्वसत्तात्मक राज्य नही है जहा उसमे विश्वास न रखनेवालों के लिए यातना-शिविर बने हो। उसमे विभिन्न रुचियो के लोगो के लिए उपयुक्त प्रासाद हैं। नया जर्मन धर्म रूढिवादिता के लिए एक उत्तर है। यदि जर्मनी मे एक नए और सशक्त प्रकार की आध्यात्मिक ईसाइयत का उदय हो सका होता, जो युद्धोपरान्त काल के युवको के मन को अपनी ओर आकर्षित कर सकती, तो जर्मन-धर्म-आन्दोलन (जर्मन फेथ-मूवमेंट) को ऐसी सफलता न मिल पाई होती। हिटलर का राष्ट्रीय समाजवाद, कम से कम धार्मिक मामलो में तो रूढिवादी चर्चों से उदार कहा ही जाएगा, क्योकि उसने यह घोषणा की कि अपने सौभाग्य के लिए, अपनी आध्यात्मिक मुक्ति के लिए हर आदमी अपनी पसन्द का रास्ता चुनने के लिए स्वतन्त्र है।[1]

जर्मनी मे चर्च के विरुद्ध जो विद्रोह हुआ, उसका केवल राजनीतिक कारण ही न था। प्रोफेसर हौअर कहते हैं

१. "किसी भी राष्ट्रीय समाजवादी को इस कारण से कोई क्षति नहीं उठानी पड़ेगी कि वह एक खास धर्म या विश्वास को मानता है, या कि वह किसी भी धार्मिक विश्वास को नहीं मानता। हर आदमी का धर्म उसका अपना व्यक्तिगत मामला है जिसके लिए वह केवल अपनी अन्तरात्मा के सामने उत्तरदायी है। अन्त करण के मामलों में ऊपर की कोई ज़ोर-ज़बर्दस्ती नहीं चलती।" [१३ अक्तूबर १९३३ का राज्यादेश (डिक्री), 'जर्मनीज न्यू रिलीजन' (१९३७), पृ० ३०]। राइखमिनिस्टर कर्ल द्वारा लिखित : 'रिलीजन एण्ड फिलॉसफी ऑव् लाइफ' (१९३८), पृ० ३।

> "ईसाइयत का दावा है कि निरपेक्ष सत्य तो बस उसीके पास है। इस दावे के साथ यह विचार भी सम्बद्ध है कि लोग केवल एक ही मार्ग से मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं और वह भी क्राइस्ट-निर्दिष्ट मार्ग होगा। जो लोग क्राइस्ट के धर्म को नही मानते, उसके अनुसार अपना जीवन नही ढालते, उनको खम्भे से बाधकर जीवित ही जला दिया जाना चाहिए, या उनके लिए तब तक ईश्वर-प्रार्थना करनी चाहिए जब तक वे अपनी भूल समझकर ईश्वरीय राज्य तक पहुचने के अपने मार्ग को बदल नही लेते। निस्सन्देह, किसी आदमी को सूली पर चढाने के लिए भेजने और उसकी सुबुद्धि के लिए प्रार्थना करने मे अन्तर है। परन्तु इन दोनो क्रियाओ के पीछे जो दृष्टिकोण है, वह मूलत. एक-सा है। दोनो ही मामलो मे सारा जोर इस बात पर दिया जाता है कि वह आदमी यदि अपने मनचाहे मार्ग पर चलेगा, तो नरक की आग मे कूदना उसके लिए अपरिहार्य हो जाएगा, इसलिए उस विधर्मी को इस खतरे से जबर्दस्ती बचाना बहुत आवश्यक है।"[1]

जिस प्रकार ये अलग-अलग प्रकार के धार्मिक सप्रदाय ससार को अलग-अलग भागो मे बाट देते है, उसी प्रकार ये देश-देश के लोगो को भी विभक्त कर देते हैं। हिन्दुओ और मुसलमानों, कैथॉलिको और प्रोटेस्टैटो के आपसी सघर्ष हमारे सामने हैं। जर्मनी मे धर्म दो परस्पर विरोधी सप्रदायो—कैथॉलिक और प्रोटस्टैट मे बटा हुआ है और इनका विरोध बचपन से ही लोगों के दिलो को बाट देता है। जब राष्ट्रीय नेता लोगो को ऐक्यबद्ध करने की अपनी आतुरता मे दोनो ही सम्प्रदायो को जहन्नुम रसीद करते हैं, तो उसके पीछे उनकी जो भावना रहती है, उसे समझना कठिन नही है। प्रोफेसर हौअर ने एक ईसाई मिशनरी के रूप में कुछ वर्ष भारत मे विताए थे; वे हिन्दुओ की धार्मिक सहिष्णुता की भावना से बहुत प्रभावित हैं। वह कहते हैं' "यदि यह दृष्टिकोण कि सत्य को प्राप्त करने का एक ही मार्ग है और केवल एक ही रास्ते से ईश्वर तक पहुचा जा सकता है, ईसाइयत की एक अविच्छेद्य विशेषता हो, तो ईसाइयत बुनियादी तौर पर जर्मन मनीषा के विरुद्ध वस्तु है।"[2] वह इस दृष्टिकोण की पूर्वधारणाओ को भी स्वीकार करते हैं। दूसरे धार्मिक विश्वासो को स्वतन्त्रता देने और उनके प्रति उदारता बरतने की जो भावना हिन्दू धर्म मे पाई जाती है, उसका सम्बन्ध इस दृढ विश्वास से है कि धार्मिक जीवन का स्रोत और उसकी निश्चयात्मकता मनुष्य की आतमा की अथाह गहराइयो मे है। प्रोफेसर हौअर कहते हैं' "विशेषत हम लोग जो जर्मन धर्म को मानते है, इस बात से पूर्ण आश्वस्त हैं कि सभी मनुष्य, विशेषतः जर्मन लोग धार्मिक स्वतन्त्रता की क्षमता रखते हैं, क्योकि यह सच है कि प्रत्येक व्यक्ति का ईश्वर से सीधा सम्बन्ध है, प्रत्येक मनुष्य वस्तुत. अपने अन्तरतम मे ससार के चिरन्तन आधार के साथ एकात्म है।" ईश्वर की अनुभवातीतता की पूर्णता-सम्बन्धी सिद्धान्तों और मानव-प्रकृति के विकारो पर जब एकान्तिक

१. जर्मनीज न्यू रिलीजन, पृ० ४५।
२. जर्मनीज न्यू रिलीजन, पृ० ४५।

रूप से वल दिया जाता है, तब मानवात्मा मे उन जैसी कोई चीज़ नही मिलती। यह सम्भव है कि तार्किक धर्मशास्त्र (डायालेक्टिकल थियोलॉजी) के प्रतिपादक इस निष्कर्ष पर गत (प्रथम) महायुद्ध मे मनुष्य की निस्सहायता को देखकर पहुचे हो। हम केवल ऊपर से सहायता प्राप्त कर सकते हैं। मनुष्य की निर्बलता और विवशता के प्रति उत्कट भावना के कारण ही रूढिगत मतो के अनुयायियो ने धार्मिक सिद्धातो मे सुधार करने का विरोध किया।

किन्तु नये जर्मन धर्म ने कदम पीछे हटा लिया, वह मानने लगा कि किसी व्यक्ति का धर्म उसकी प्रजाति और नस्ल के द्वारा निर्धारित होता है और जब तक वह अपनी प्रजाति की विचित्र धार्मिक मूल-प्रवृत्तियो का अनुगमन करता रहता है, तब तक वह ईश्वर के विषय मे उतना ज्ञान प्राप्त कर लेता है जितना उसके लिए सम्भव है। इस सिद्धान्त मे यत्किचित् सचाई थी भी तो वह उस समय से विकृत हो गई जब से जर्मन जीवन को प्रत्येक अनार्य तत्त्व से, दूसरे शब्दो मे, सामी ईसाइयत से मुक्त करने की चेष्टाए होने लगी हैं। यह मानना कि राष्ट्र की इच्छा ईश्वर की इच्छा है, धर्म की भावना के विपरीत है, हालाकि श्रद्धालुता के साथ-साथ राष्ट्रवाद भी ईसाइयत पर सदा से थोपा जाता रहा है।

यूनानी और सामी—दोनो प्रकार के धर्म ईश्वर को राजनीतिक दलो का उपयोगी मित्र मानते रहे हैं। ज़ीयस यूनानियो की रक्षा करता है और याहवेह यहूदियो की। हम ईश्वर से अपनी प्रार्थनाओ मे सदा यह याचना करते हैं कि वह हमारी योजनाओ को सफल करे और हमारे शत्रु की योजनाओ को विफल करे। सोफोक्लीज़ फिलोक्रीटीज़ से यह प्रार्थना कराता है

> "किन्तु, हे मेरी पितृभूमि
> और तेरे सभी देवता जिनकी कृपा-दृष्टि मुझपर है,
> प्रतिशोध लो, सदा भविष्य मे मेरा प्रतिशोध उनसे लो,
> यदि तुम दया करते हो मुझपर।"[1]

एलेक्ट्रा 'चोफोरो' (Choephoroe) मे चिल्ला-चिल्लाकर कहता है "अन्यायियो के विरुद्ध मुझे न्याय मिले और बुरा काम करनेवालो को कष्ट मिले—यही मेरी माग है।" यहूदियो को तो यह बात अच्छी तरह मालूम है कि ईश्वर स्वर्गदूतो का भी स्वामी है। हमारे राष्ट्र-गीतो मे भी इसी भावना की अभिव्यक्ति मिलती है। हमारे व्यावहारिक लाभ के लिए धर्म का उपयोग करने के सम्बन्ध मे दो पद्धतिया अपनाई जाती हैं। यदि हम तनिक धर्मशील हैं और अपनी कथनी तथा करनी की विषमता का अनुभव करते हैं, तव हम इस बात का समर्थन करते हैं कि हमको धर्म और जीवन को घुला-मिला नही देना चाहिए। यदि हम ऐसा करते हैं तो हम दो अच्छी चीज़ो को खराब करते है। किन्तु यह भी सही है कि यदि धर्म को जीवित रहना है, तो उसे अपने को जीवन के अनुरूप बना लेना चाहिए, हमारे व्यवसायो और निर्णयो के साथ

१ प्लम्त्रे द्वारा किए अंग्रेजी अनुवाद से।

उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होना चाहिए। जीवन से धर्म को अलग कर देने की बात को अधिक समर्थन नही मिल पाया है।

लोगो की यह सामान्य प्रवृत्ति है कि वे अपने आचरण को तो धर्म के स्तर तक नही उठाना चाहते, उलटे वे धर्म को हीं अपने आचार-व्यवहार के स्तर तक उतार लाते है। लोगो की यह कहने की भी प्रवृत्ति हो गई है कि हमारी सभ्यता का ढाचा यदि पूरी तरह धार्मिक नही है, तो कम से कम उसकी राह पर तो है ही। यद्यपि हमारे पास कीमती और शानदार मन्दिर व गिरजाघर हैं, और तड़क-भड़कवाले धार्मिक अनुष्ठान तथा सगीत है, तो भी अभी हम इतने निर्लज्ज नही हो गए है कि यह कह सकें कि हमारे वाणिज्य-व्यापार, खेल-कूद, हमारा स्वार्थपूर्ण राष्ट्रवाद एव अन्तर्राष्ट्रीय अराजकता धार्मिक है, धर्म-सम्मत हैं। चाहे व्यक्तियो की बात हो या राष्ट्रो की, हम धनी और सफल की, बलवान और शक्तिशाली की प्रशसा करते है। जो आदमी पाच सौ रुपये भी वार्षिक नही कमा पाता, उसका समाज मे उपहास किया जाता है, और जो निर्बल राष्ट्र दूसरे राष्ट्रो से यह आशा करता हो कि वे निस्वार्थ होगे, उसपर हम तरस ही खा सकते हैं, वह राष्ट्र ससार के नक्शे से मिटा देने के योग्य है। यदि कोई जनता अपने सामूहिक पुरुषार्थ को सैन्य-शक्ति मे बदलने के लिए अनिच्छुक होती है, तो उसको पतनोन्मुख मानना चाहिए। जीवन मे सफल होने के लिए हमे जीवन और उसके मूल्यो मे विश्वास करना चाहिए और वे मूल्य हैं . आर्थिक सफलता और राजनीतिक शक्ति। ढेर सारे कुतर्कों और वाक्छलो के द्वारा हम अपने मन को यह समझाने की चेष्टा करते हैं कि ईश्वर हमसे आशा करता है कि हम उनमे विश्वास करें और यदि हम उत्साह तथा साहस से, और आवश्यकता हो तो प्रवचना और चालाकी से भी, उनके अनुसार कार्य करें, तो वह हमारी सहायता करेगा। हम जो कुछ करते हैं ईश्वर के नाम पर। हम अपना मतलब गाठते हैं और ईश्वर को उसके लिए धन्यवाद देते हैं। हम अपने शत्रुओ पर चोट करते हैं और ईश्वर को इस कार्य मे सहायक होने के लिए धन्यवाद देते हैं। हम सकट मोल लेते हैं, जान-बूझकर आग मे कूदते हैं, दूसरो को धकेलकर अपनी राह बनाते हैं, लोगो का शोषण करते हैं और साम्राज्यो का निर्माण करते है—और इस सबके लिए धन्यवाद देते हैं ईश्वर को। अग्रेज़ आधी दुनिया के शासक बने बैठे हैं और अपने साम्राज्य की रक्षा करने के लिए वे लड़ने के लिए भी तैयार हैं, क्योकि वे आश्वस्त हैं कि वे यह ईश्वर का ही कार्य कर रहे हैं। यदि वे अपनी इस बपौती को छोड दें तो उनको यह निश्चय नही है कि यह उनसे अधिक ईमानदार लोगो के हाथो मे जा सकेगी और ईश्वर की इच्छा तथा मानवता के आदर्शों की रक्षा उनसे अधिक अच्छी तरह कोई कर सकेगा। हिटलर कहता है "भगवान जर्मनी के साथ है, उसके शत्रुओ के साथ नही।"[1] वह जो कुछ करता है, ईश्वर के सेवक के रूप मे करता है। स्पेन मे साडो की लडाई का शौक लोगो को इतना पडा कि जिस अखाड़े मे उनकी लडाई का आयोजन होता था, उसको 'ईश्वर

१. 'द टाइम्स', २८ मार्च १९३८।

की रेत' कहा जाता था।[1] डॉ० अल्फ्रेड रोजेनबर्ग अपनी पुस्तक "द मिथ ऑव् द ट्वेण्टिएथ सेंचुअरी" मे कैथॉलिक चर्च के सिद्धान्तो को अस्वीकार कर देता है और एक नये जर्मन धर्म की प्रस्तावना करता है जो राष्ट्र के सम्मान के सामने अपने साथियो के प्रति प्रेम को कम महत्त्व देता है। पोप अबीसीनिया पर इटली के आक्रमण को अपना आशीर्वाद देते हैं और इस प्रकार अपने को कैथॉलिक चर्च के नही, बल्कि इटालवी राष्ट्र के पुरोहित के रूप मे प्रदर्शित करते है।

आज अधिकाश मानव-जाति जिस धर्म को अपने व्यवहार मे ला रही है, वह अन्धविश्वासो, वर्जनाओ, आदिकालीन पुराण-कथाओ, अनैतिहासिक परम्पराओ, अवैज्ञानिक हठवादिताओ और राष्ट्रीय मूत्तिपूजाओ का एक गडबडझाला है।

[४]

यदि अनीश्वरवादी साम्यवादी रूस को ऐसे धर्मों से जीता जाए जो दूसरे धर्म के अनुयायियो का बहिष्कार करते हैं, तो यह किसी प्रकार भी कोई दैवी या मानवी विजय न होगी। रूस का अनीश्वरवाद भी एक अति है और दूसरी अति है सकीर्ण धर्मों का बहिष्कारवाद—इन दोनो अतियो का विरोध करके कोई भी आध्यात्मिक मन वाला व्यक्ति ईश्वर के प्रति बडी से बडी श्रद्धा प्रकट कर सकता है। यदि हमे अपनी नैतिक और आध्यात्मिक एकता के महत् उद्देश्य को पूरा करना है तो हमे इन दो अतियो के बीच डावाडोल रहना छोडकर सत्य को उसकी पूर्ण गहराई मे उतरकर खोजना होगा।

पश्चिम के धार्मिक जीवन मे रहस्यवादी परम्परा लगातार चलती आई है। जैसाकि हम देख चुके हैं, इसका मूलस्रोत कदाचित् भारत था। प्रोफेसर एफ० हेलर कहते हैं कि

> "धर्म के इतिहास मे विकास की केवल तीन महान स्वतन्त्र धाराए लक्षित होती हैं, उनको कदाचित् दो धाराओं के रूप में भी सीमित किया जा सकता है। एक ओर तो वैदिक उपनिषदो के आत्मन्-ब्रह्मन रहस्यवाद से लेकर शकराचार्य के वेदान्त तक तथा दूसरी ओर योग-पद्धति की रहस्यात्मक प्रविधि से लेकर मोक्ष के बौद्ध सिद्धान्त तक विकास की एक धारा अविच्छिन्न रूप मे प्रवाहित होती रही है। इसी प्रकार की अटूट शृखला मे एक दूसरी धारा भी चलती चली आई है, जो एक ओर तो ऑर्फियाई-डायोनिसियाई रहस्यवाद से लेकर प्लेटो तक और दूसरी ओर फिलो तथा परवर्ती हेलनवादी रहस्यवादी सप्रदायो से लेकर प्लॉटिनस के 'अनन्त' ईश्वर-सम्बन्धी नवप्लेटोवादी

१ ३० जून १९३४ की घटना के पश्चात् एक जर्मन महिला ने अपने एक अमेरिकी मित्र को पत्र में लिखा था · "हिटलर ने जर्मनी के लिए अपने मित्रों तक को मरवा डाला। क्या वह एक अद्भुत व्यक्ति नहीं है?" वही लेखिका एक जर्मन बालक के विषय में लिखती है कि बपतिस्मा पाने के बाद उसकी प्रार्थना यही थी कि वह 'अपनी छाती में किसी फ्रासीसी की गोली खाकर मरे'। (फिलिप गिब्स 'यूरोपियन जर्नी')।

रहस्यवाद तक पहुची है और यही ऐरिओपैगाइट कृत्रिम डायोनिसस के 'रहस्यवादी धर्मशास्त्र' का स्रोत रही है। कदाचित् यह दूसरी शृंखला धर्म की पहली शृखला की ही उपशाखा है, क्योकि एलीएटिक विचार और वितर्क तथा परित्राण के रहस्यमय सिद्धान्त ने अपने आवश्यक तत्त्वो को प्रारम्भिक भारतीय रहस्यवाद से ग्रहण किया है। बाइबिल के पैगम्बरी धर्म ने भी, जो रहस्यवाद से कोसो दूर है, इसी प्रकार का नैरन्तर्य प्रदर्शित किया है। मूसा से—कदाचित् अब्राहम से—चलकर यह पैगम्बरो और स्तोत्रकारो से होते हुए ईसा मे पहुचकर अपनी यात्रा की परिणति पा लेता है। पॉल और जॉन उस बाइबिल के पैगम्बरी धर्म को स्थायित्व प्रदान करते हैं। धर्म की यह शृखला आनेवाली ईसाई शताब्दियों मे भी इसी तरह चलती रहती है, हालाकि रहस्यवाद और सहतिवादी धार्मिक मत के प्रभाव के कारण यह निर्बलतर होता जाता है, और तब तक इसकी यही दशा रहती है जब तक यह धर्म-सुधारको (रिफॉर्मर्स) की बाइबिल-आधारित ईसाइयत के रूप मे उपस्थित होकर अपनी मूल शक्ति को पुन प्राप्त नही कर लेता।"[१]

दूसरे शब्दो मे, वह दो प्रकार के धर्मों—रहस्यवादी और पैगम्बरी, या बाइबिल-सम्बन्धी या ईसाई मत-सम्बन्धी मे अन्तर करते हैं। रहस्यवादी धर्मों का मूल स्रोत वह आशिक रूप से भारत को समझते हैं, यद्यपि वे यह भी मानते हैं कि भारतीय विचारणा मे एक ऐसी आस्तिकतावादी धारा है जो व्यक्तियो की विशिष्टता को, उनके व्यक्तित्व को धुधला नही करना चाहती और ईश्वर को वह केवल सर्वान्तर्यामी ही नही मानती, वरन् अनुभवातीत भी मानती है और ध्यान-चिन्तन तथा मौन की अपेक्षा वह ईश्वर की प्रार्थना तथा उसके प्रति आत्म-निवेदन को अधिक महत्त्व देती है और ऐसा ही करने के लिए लोगो से कहती है। श्वेताश्वतर उपनिषद्, भगवद्गीता, और रामानुज, मध्वाचार्य जैसे आस्तिक सुधारक एव तुकाराम तथा तुलसीदास जैसे सन्त-भक्त इसी प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व करते हैं। इन लोगो मे हम सगुण ईश्वर को समर्पित उत्कट, कोमल, स्पष्ट और स्फूर्तिमय प्रार्थनापूर्ण जीवन पाते है तथा उसके प्रति उनमे एकात्म भाव देखते हैं। यह होते हुए भी, धर्म की दूसरी प्रवृत्ति अधिक महत्त्वपूर्ण है और ईसाई रहस्यवाद अपने विकास के लिए इसका बहुत-कुछ आभारी है। फिर भी, यह मान बैठना उचित नही होगा कि दोनो मे से किसीका दूसरे से सम्बन्ध नही है। वास्तव मे, उपनिषदो मे ऐसा कुछ नही है जिसकी सगति दूसरो के साथ न बैठ सके।[२] असंगति या वैपरीत्य तो केवल तब होता है जब हम रहस्यवाद की एकागी व्याख्या करना आरम्भ कर देते हैं, जैसाकि हेलर ने किया है। हेलर के मत मे रहस्यवाद "ईश्वर के साथ एक ऐसा समागम है जिसमे ससार और 'स्व' दोनो की पूर्णत अवहेलना करनी आवश्यक है, जिसमे मानव-व्यक्तित्व बिलकुल विलुप्त हो

१ 'प्रेयर', अग्रेजी अनुवाद (१९३२), पृ० ११६–१७।

२. लेखक की अन्य पुस्तक 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑव् लाइफ' (१९३७), द्वितीय सस्करण, अध्याय ३ और ४ को भी देखिए।

जाता है, शून्यवत् बन जाता है और ब्रह्म की अनन्त एकता मे आत्मसात् हो जाता है।"[1] जब कोई व्यक्ति अन्तर्मुख हो जाता है, अन्तर्दृष्टि के क्षणो मे होता है तब उसे आत्मा और ईश्वर के स्वभाव मे एकत्व की अनुभूति होती है और जब वह उस अनुभूति से अलग हो जाता है, वे क्षण बीत जाते हैं तब उसे एक अलग जीवन की निस्सारता और एकान्तता खलने लगती है। उसकी आत्मा की गहराइयो तक पैठकर इस सूनेपन और असहायता की भावना उसको अशान्त बना देती है। वह महान ईश्वर की सम्भ्रमपूर्ण गरिमा के सम्मुख अपने मे हीन-भाव अनुभव कर काप जाता है, दारुण व्यथा से मथ उठता है, अपने पापो की क्षमा और सहायता तथा सुरक्षा पाने के लिए ईश्वर से प्रार्थना करने लगता है। परमोज्ज्वल प्रकाश की ओर उत्थान, क्षमा के लिए प्रार्थना, अनन्त ईश्वर के साथ मगलमय सयोग का आनन्द और पश्चात्ताप की कठोर, रूक्ष मनोदशा—ये दोनो रहस्यात्मक जीवन के दो पक्षो का प्रतिनिधित्व करते हैं। ब्रह्म के जो निर्गुण और सगुण पक्ष हैं उनका अन्तर वैचारिक जगत् मे ही किया जाए तो किया जाए, तथ्यात्मक दृष्टि से उनमे अन्तर करना सम्भव नही है। सच्चे रहस्यवाद के अनुसार तो प्रत्येक व्यष्टि-जीवन का अपना अलग महत्त्व है, एक अनूठा प्रयोजन है, और यह महत्त्व तथा प्रयोजन तब तक ऐसा ही बना रहेगा जब तक यह ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया चलती रहेगी। हम अपने जीवन की पूर्णता और उसके मूल्यो को इसी काल मे पा लेना चाहते हैं, उसके लिए चेष्टा भी करते हैं, परन्तु उसका स्रोत और उसकी परिणति तो चिरन्तनता मे है—जहा काल की सीमा भी समाप्त हो जाती है। प्रत्येक व्यक्तिगत जीवन का आन्तरिक अर्थ और सत्य आत्मिक जीवन मे अपना अलग अस्तित्व बनाए रखना है और उस समय तक इसी दशा मे पडा रहता है जब तक चिरन्तनता मे, जहा काल और ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया की समाप्ति हो जाती है, उनको पूर्णता नही मिल जाती।[2] परन्तु यह मान लेना भी उचित नही होगा कि ईसा, जॉन और पॉल मे रहस्यवाद का जो रूप हमे मिलता है, वह पूर्ण या निर्णयात्मक नही है। हमने अन्यत्र इस विषय पर चर्चा की है। यह घोषणा करना कि "ईश्वर का राज्य तुम्हारे भीतर है" यही निहितार्थ रखता है कि वह दैवी राजा हमारे अन्त करण मे है। ऑक्सीरिन्कस की पाण्डुलिपि मे, जो २०० ई० की मानी जाती है, यह कथन है जिसे ईसा का बताया गया है "और स्वर्ग का राज्य तुम्हारे भीतर है, और जो भी अपने-आपको जान लेगा, वही इस राज्य को पाएगा।" डॉ० इन्गे ने अपने 'क्रिश्चियन मिस्टिसिज्म' नामक ग्रन्थ मे उल्लेख किया है कि प्रारम्भिक विचारको मे कुछ रहस्यवादी भावना पाई जाती है। परन्तु, प्रोफेसर हेलर से वे भी इस बात मे सहमत हैं कि ईश्वर का जहा नकारात्मक वर्णन आया है और आचार-शास्त्र मे ससार से विरक्ति की जहा बात आई है, वहा भारतीय प्रभाव है, उनका मूल स्रोत भारत है। वह कहते हैं "यह सिद्धान्त कि ईश्वर का वर्णन केवल निषेधात्मक कथन के रूप मे किया जा सकता है, न तो ईसाई है, न यूनानी, वरन् भारत के प्राचीन धर्म से उसका सम्बन्ध है।"[3]

१. 'प्रेयर' अ० अ०, पृष्ठ १२६। २. देखिए: 'ऐन आइडियलिस्ट व्यू ऑव् लाइफ', पृष्ठ ३०३।
३. 'क्रिश्चियन मिस्टिसिज्म' (१८९९), पृष्ठ १११।

ये ईसाई रहस्यवाद की व्यापक विशेषताए हैं और इनसे यह पता चल जाता है कि ईसाई रहस्यवाद पर भारतीय विचारणा का निर्णयात्मक प्रभाव पडा है। ईश्वर का नकारात्मक वर्णन करना उसकी महत्ता का, उसकी अनन्तता का समर्थन करना है। जब कहा जाता है कि उसका कोई व्यक्तित्व नही है, वह गुण-रहित है, तो इसका अर्थ यही तो होता है कि वह अति-वैयक्तिक है , निर्गुण है, निर्विशेष है। जब हमसे यह समझने के लिए कहा जाता है कि पार्थिव वस्तुए नाशवान हैं, क्षणभगुर हैं, तब इसका अर्थ हमको यही बताना होता है कि हम चिरन्तन मूल्यो के प्रकाश मे अपने जीवन को ढाल सकें। उपनिषदो और 'भगवद्गीता' की भी यही शिक्षा है। 'थिओ-लॉजिया जर्मेनिका' के अज्ञात लेखक ने क्राइस्ट की आत्मा के विषय मे कहा है कि उसकी दो आखें हैं। दाईं आख चिरन्तनता पर और ब्रह्म (गॉडहेड्) पर लगी हुई है। इसको पूर्ण अन्त प्रेरणा प्राप्त है और यह दैवी सार-तत्त्व तथा चिरन्तन पूर्णता का आनन्द लेती है। बाईं आख सर्जित वस्तुओ और काल-सापेक्ष वस्तुओ पर लगी हुई है। उनकी आत्मा की दाहिनी आख को जब उनकी दिव्य प्रकृति की चेतना रहती है, तब उनकी आत्मा की बाईं आख उनके सम्पूर्ण कष्ट-सहन और सासारिक अनुभव की जानकारी रखती है। मनुष्य की सर्जित आत्मा की भी दो आखें है। एक आख मनुष्य को चिरन्तनता के अन्तराल मे देखने की शक्ति देती है और दूसरी आख उसको समय मे देखने की सहायता देती है। यदि मनुष्य चाहता है कि उसकी दाईं आख चिरन्तनता के भीतर देखे, तो उसको अपनी आत्मा की बाईं आख को बन्द रखना चाहिए। "इसलिए जिस आदमी को अपनी एक ही आख रखनी है, उसे अपनी दूसरी आख को जाने देना चाहिए, क्योकि कोई भी व्यक्ति एक साथ दो मालिको की सेवा नही कर सकता।"[1] लेखक ने इस विचार को ऐरियोपैगाइट डायोनिसस का विचार बताया है।

इस प्रकार पश्चिम मे जो रहस्यवादी तत्त्व है उसे भारतीय मानने का पर्याप्त औचित्य है। इससे हमे यह नही समझ लेना चाहिए कि यह बात एकान्तिक और विचित्र है। विभिन्न स्थानो और विभिन्न कालो मे हर धर्म की छाया मे रहस्यवाद पनपा है। इसको हम इस रूप मे ले सकते हैं कि सामान्यत समान परिस्थितियो के रहने पर मानव-मन ने अपनी अभिव्यक्ति समान रूपो मे की है। यद्यपि मनुष्य के सोचने के ढग मे भिन्नताए हैं और उसके निष्कर्ष भी एक-दूसरे से नही मिलते, विपरीत होते हैं, तथापि यदि कोई चीज़ ऐसी है जिसे सार्वभौम सत्य कहा जा सकता है, तो यह सर्वथा स्वाभाविक ही है कि अन्त प्रेरणा, तत्त्वज्ञान और आचार-नीति भिन्न परिस्थितियो के होते हुए भी कभी-कभी समान निष्कर्षों पर पहुचें। भारतीय रहस्यवाद मे यह सार्वभौमता स्पष्ट रूप से स्वीकार की गई है और इसीके आधार पर धर्म के तत्त्वज्ञान का सघटन किया गया है। यह तथ्य की पुष्टि करता है कि रहस्यवाद की प्रवृत्ति सर्वत्र मानवता मे प्रच्छन्न रूप से विद्यमान है, इसको प्रकट होने के लिए केवल अनुकूल दशाओ की आवश्यकता है। आज जब हम खोखले और अविश्वसनीय

१. *viii*, विकवर्थ का अग्रेज़ी अनुवाद।

विश्वासो तथा असामाजिक परम्पराओ से दूर हटते जा रहे हैं, तब आध्यात्मिक मन वाले व्यक्तियो के लिए रहस्यवाद मे एक गहरा आकर्षण मौजूद है।

विज्ञान आत्मा की आवश्यकताओ की पूर्ति नही कर सकता, मतान्धता या हठवादिता बुद्धि की जरूरतें पूरी नही कर सकती। नास्तिकता और मतान्धता, सशयशीलता और अन्धविश्वास ही एकमात्र विकल्प नही हैं। वे एक ही शाखा पर लगे हुए जुडवें फल हैं, एक ही प्रवृत्ति के विध्यात्मक और निषेधात्मक दो सिरे हैं। एक का सामना किए विना हम दूसरे का सामना नही कर सकते। स्पेन के युद्ध-क्षेत्रो मे हम खूरेज़ी, आगजनी और स्वेच्छाचारी नियत्रण पाते हैं। दोनो ही युद्ध-रत पक्ष अपने कार्यो, धार्मिक सप्रदायो-सम्बन्धी अपने झगडो और पाशविक वस्तुओ—मार्क्सवादी नास्तिकता या मतान्ध ईसाइयत—को उखाड फेंकने के अपने प्रयत्नो मे एक समान निर्दय हैं। यदि कुछ लोग यह सोचते हो कि अभागी मानव-जाति के पालने के पास एक दुर्दान्त दैत्य बैठा हुआ है, तो इसमे आश्चर्य ही क्या ?

हमको एक ऐसे धर्म की आवश्यकता है जो वैज्ञानिक और मानवतावादी दोनो हो। प्राचीन भारत मे धर्म, विज्ञान और मानववाद भाई-भाई की तरह थे, यूनान मे भी वे परस्पर मित्र की भाति रहे। यदि उन सभी लोगो को, जो सगठित धर्म और नास्तिकता, लोकोत्तरवाद और निषेधवाद (शून्यवाद) के प्रति समान रूप से अन्यमनस्क हैं, हम आकृष्ट करना चाहते हैं, तो धर्म, विज्ञान और मानववाद को आज एक बार फिर आपस मे सयुक्त करना होगा। हमे एक आध्यात्मिक घर की आवश्यकता है, जहा हम तर्क और बुद्धि के अधिकारो या मानवता की आवश्यकताओ का परित्याग किए विना रह सकें। सत्य का समादर एक नैतिक मूल्य है। हमारे लिए यह बुद्ध या ईसा से भी अधिक प्रिय है। सत्य न तो बुद्धि के विरुद्ध है, न यूनानी भावना के, वह तो मतान्धता और जडीभूत परम्परा के विरुद्ध है। हम मतान्ध लोकोत्तरवाद के भरोसे धर्म के मामले को अब और अधिक नही छोड सकते। सेल्सस ऐसे कई पैगम्बरो का उल्लेख करता है जो सीरिया और फिलस्तीन मे भीख मागते हुए, इस तरह की भविष्यवाणी करते, घूमते फिर रहे थे ·

> "हर आदमी के लिए यह कहना सरल और सामान्य है कि मैं ईश्वर हू या ईश्वर का बेटा हू या कोई दैवी आत्मा हू। मैं दुनिया मे इसलिए आया हू, क्योकि दुनिया तुम्हें पहले से ही बरबाद कर रही है, ओ मनुष्यो ! तुम अपने अन्याय के कारण विनाश के मुह मे जा रहे हो। मैं तुम्हारी रक्षा करना चाहता हू, और तुम मुझे पुन स्वर्गीय शक्ति के बल मे कार्य करते देखोगे। वह आदमी सौभाग्यशाली है जिसने अब मेरी पूजा कर ली है, जिसने मेरी पूजा नही की है, वह चाहे नगरो मे रहता हो या देहातो मे, उसपर मैं सदा प्रज्वलित रहनेवाली आग डालूगा। और जो लोग यह नही जानते कि वे कौन-से दण्ड भुगत रहे है, वे व्यर्थ ही पश्चाताप और आर्त्तनाद करेंगे, परन्तु जिन्होने मेरी आज्ञा का पालन किया है, उनको मै चिरन्तनता का निवास दूगा।"[१]

१ ऑरिगेन द्वारा लिखित 'कन्ट्रा सेल्सम', *vii*, ९ में सेल्सस की उक्ति।

जब एक-दूसरे के प्रतिपक्षी धार्मिक सम्प्रदाय हमे अपनी ओर खीचने का प्रयास कर रहे हो, तब क्या हम यह बात सयोग पर छोड दें कि किस सम्प्रदाय के अनुयायी हम बनेंगे ? सेल्सस पूछता है "यदि वे इसको (क्राइस्ट को) तुम्हारे सामने पेश करें और दूसरे लोग किसी दूसरे व्यक्ति को सामने रखें और सभी एक बधा-बधाया गुर तुम्हारे सामने प्रस्तुत करें 'अगर चाहते हो कि तुम्हारा परित्राण हो, तो हमारे कहे पर विश्वास करो या फिर तुम जानो, तुम्हारा काम' . तो वे बेचारे क्या करें जो सचमुच चाहते हों कि उनका उद्धार हो जाए ? क्या वे पासा फेंककर शकुन निकालें कि किस मार्ग को उन्हें ग्रहण करना है और किन लोगों का साथ पकडना है ?"[1]

रहस्यवाद प्रमाण्य सत्य को अपना आधार बनाता है, धर्म-मत-सम्बन्धी पहेलियो के सही हल को नही । यह विज्ञान या तर्क-बुद्धि के विपरीत नही है । यह किसी भूत या भविष्यत् की घटना का सापेक्ष नही है, उसको अपनी शर्तें बनाकर नही चलता । कोई भी वैज्ञानिक आलोचना या ऐतिहासिक खोज इसको झुठला नही सकती, क्योकि यह किन्ही असम्भव चमत्कारो या अनूठे ऐतिहासिक रहस्योद्घाटन पर निर्भर नही करता । इसे तो केवल एक ही चीज़ की हिमायत चाहिए और वह है—आध्यात्मिक अनुभव । इसको किन्ही धार्मिक आलेखो से अपने लिए प्रमाण ढूढने की आवश्यकता नही, न ससार का आरम्भ कैसे हुआ और कैसे उसका अन्त होगा, इस सम्बन्ध मे गढी गई कहानियो से उसे कुछ लेना-देना है । कोरिन्थियनो को लिखते हुए सेंट पॉल कहते हैं . "जिस ईश्वर ने कहा था 'अन्धकार मे से प्रकाश की ज्योति फूटेगी', वही ईश्वर मेरे हृदय मे प्रभासित हुआ है ।" धर्म आत्मा की रचनात्मक शक्ति और बल है । यदि ईश्वर प्रत्येक आत्मा मे न पाया जाता हो, तो वह कही भी नही पाया जा सकता । नैतिक मूल्यो-सम्बन्धी धर्म का मानदण्ड निरपेक्ष और शाश्वत है । समस्त ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया की परमगति एक ऐसे राज्य मे है जहा सब लक्ष्यो की निष्पत्ति हो जाती है , उस राज्य मे हम पहुच पाते हैं या नही, यह हमारे प्रयत्नो पर निर्भर है ।

रहस्यवाद द्वारा अपनाई गई आचार-सहिता उत्तम और सरल है, उसमे कोई बाकपन नही । यह इस बात पर ज़ोर देता है कि कष्ट-सहन और त्याग धर्म के जीवन-प्राण हैं । विलामोवित्ज़ के सुन्दर शब्दो मे कहें तो हमे अपने आदर्शों-रूपी प्रेतो को अपना रक्त देना चाहिए जिसे पीकर वे जी सकें । धर्मों मे ससार-स्वीकरण के जितने सुझाव हैं उनको हमारी आचार-सहिताओ मे बडी सरलता से सम्मिलित किया जा सकता है, ससार-त्याग का जो रूक्ष तत्त्व है, उसपर आचरण करना अत्यन्त कठिन है । हम तो मानो इस बात के लिए तैयार ही बैठे रहते हैं कि कोई बहाना मिल जाए इससे बचने का और कोई तरकीब सूझ जाए इससे पिण्ड छुडाने की । अपने 'एथिक्स' शीर्षक ग्रन्थ की समाप्ति स्पिनोज़ा ने जिस उत्तम शब्दावलि मे की है, उसमे वह लिखता है

"चतुर मनुष्य शायद ही कभी अपनी आत्मा को अशान्त होने देता है,

१. नॉक द्वारा लिखित 'कन्वर्शन' (१९३३), पृष्ठ २०६ में उद्धृत ।

किन्तु चूकि वह स्वयं के, ईश्वर के और वस्तुओ के सत्य रूप के प्रति जागरूक होता है, इसलिए वह किसी चिरन्तन आवश्यकता के वशीभूत होकर अपना विकास कभी नही रोकता, और सदैव अपनी आत्मा की सच्ची मौन सहमति प्राप्त किए रहता है। इस परिणाम को प्राप्त करने के लिए मैंने जो मार्ग सुझाया है, वह आपको यदि अत्यन्त कठिन लगे, तो भी मै आपसे चाहूगा कि आप उस मार्ग पर एक बार चलकर देखें, वह मार्ग चलने योग्य है। इस मार्ग को कठिन तो होना ही चाहिए, क्योकि इसपर कोई-कोई ही चल पाता है और इसपर चलकर भी कोई-कोई ही लक्ष्य तक पहुच पाता है। यदि मोक्ष तश्तरी मे सजा-सजाया लोगो के सामने पेश कर दिया जाता और बिना अधिक श्रम किए ही लोग उसको पा सकते, तो क्या आप नही समझते कि प्राय सभी लोग उसकी उपेक्षा कर देते ? परन्तु ससार मे जितनी उत्कृष्ट वस्तुए है, विरल हैं और उनको पाना भी उतना ही कठिन है।"

सभी धर्मों के अनुयायियो को अपने-अपने धर्म मे यह आदेश सुनने को मिलता है कि दैहिक वासनाओ को नियन्त्रित करो, ऐसी वस्तुओ का विचार करो और उनको स्नेह दो जो अच्छी हैं, सच्ची हैं और सुन्दर हैं, सादा जीवन बिताओ, मानवता को निस्सग भाव से प्रेम करो और उसके बदले मे किसी पुरस्कार की आशा न करो। रहस्यवाद उन सारी प्रवृत्तियो का विरोधी है जो सत्य के ऊपर सत्ता को, प्रमाण को, और मानवता के ऊपर राष्ट्र को तरजीह देती हैं। वह उन प्रवृत्तियो को आध्यात्मिक जीवन और सभ्यता के लिए आपत्ति के समान समझता है, उनको चुपचाप सहकर या अपनी मौन स्वीकृति उन्हे देकर हम उनमे निहित बुराई को जड जमाने मे सहायता करते हैं। इसलिए यह बहुधा बहुत जोश-खरोश और रोष के साथ सगठित धर्मों की बुराइयो का विरोध करता है। यह सस्थावाद और रूढिवद्ध धार्मिक जीवन के विरुद्ध विद्रोह का झडा ऊचा करता है। सभी धर्मों के रहस्यवादियो ने अपने जीवन मे एक न एक अवसर पर बाह्य सत्ताधिकारियो, धार्मिक बन्धनो और आध्यात्मिक तानाशाहियो के विरुद्ध अपना विरोध प्रकट किया ही है।

यूरोप मे रहस्यवाद की एक महती परम्परा है जो यूनान के रहस्यवादी धर्मो से प्रारम्भ होती है और पाइथागोरस तथा प्लेटो, सिकन्दरियाई धार्मिक तत्त्वज्ञान, ईसा, पॉल और जॉन, क्लीमेंट और ऑरिगेन, नवप्लेटोवादियो, मध्ययुगीन ईसाई रहस्यवादी, कैम्ब्रिज के प्लेटोवादियो और बीसियो दूसरे व्यक्तियो के माध्यम से जिसका विकास हुआ है। रहस्यवादी धारा के प्रति चर्चो का जो आधिकारिक दृष्टिकोण है, हमे उसको अपनाने की आवश्यकता नहीं है। वे ईश्वरत्व को माननेवाले विभिन्न सम्प्रदायो के सिद्धान्तो को लेकर भले ही उग्रतापूर्वक लडें-झगडें, परन्तु आध्यात्मिक धर्म की सामान्य धारणा मे कोई परिवर्तन नही होता, सीधे-सादे सरल सत्य, विशुद्ध नैतिकता, अन्तर्मुखी आराधना, और ससार-निष्ठा आध्यात्मिक धर्म की मुख्य-मुख्य बातें हैं। यह आध्यात्मिक धर्म निरपेक्ष और चिरन्तन मूल्यो

को विश्व की सर्वाधिक वास्तविक वस्तुए मानकर उनपर दृढ विश्वास करता है और मानता है कि इन मूल्यो को बुद्धि और सकल्प का मनोयोगपूर्वक सस्कार करके जाना जा सकता है। इन मूल्यो को जानने के लिए यह भी आवश्यक माना गया है कि ईश्वर की महान शोध के लिए हृदय मे लगन होनी चाहिए, कबीलो, प्रजातियो और राष्ट्रो के प्रचलित मूल्याकनो के प्रति अवहेलना और विश्व-समाज के आदर्श मे भक्ति होनी चाहिए। ये रूढिवादी लोगों को चाहे जितने विरोधी जान पड़ें, परन्तु हैं ये उसी सत्य के रूप। ये बातें सभी महान धर्मों मे समान रूप से मिल जाती हैं, हालाकि ये बहुधा अन्धविश्वास-भरी रूढियो और विसगतियो मे छिपी हुई रहती है। धार्मिक अनुभव के महान तथ्य ससार के सभी धर्मों मे एक जैसे मिलते हैं, जातिगत और कालगत भिन्न परिस्थितियो के होते हुए भी उन अनुभवो मे बहुत घनिष्ठ सादृश्य होता है, इस बात से यह प्रमाणित हो जाता है कि सभी धर्मों की मूल चेतना एक है।[1] इस धर्म-मत के अनुयायी उस ससार के नागरिक होंगे जो अभी अजन्मा है, जो अभी तक काल के गर्भ मे है। वे उस आन्दोलन से सम्बन्धित हैं जिसका विस्तार सारे ससार-भर मे है, उनका मन्दिर एक सम्प्रदाय का देवालय नही है, बल्कि वह एक विशाल सर्वदेवमन्दिर है जिसमे सभी देवताओं के लिए स्थान है, इस आन्दोलन मे विश्वास रखनेवाले लोग कोई सनकी नही हैं, न उनकी सख्या ससार मे इक्की-दुक्की है, वे विश्व मे सर्वत्र बिखरे हुए हैं, यद्यपि अपने सघर्षो और आदर्शो के बारे मे उनमे एकता है, और यदि निहित स्वार्थों को दूर कर दिया जाए तथा धार्मिक विश्वासो के लिए किसी प्रकार की दण्ड-व्यवस्था न रहे, तो उनकी सख्या मे वृद्धि होगी। ससार की उपचेतना की गहराइयो मे रहस्यवाद प्रच्छन्न रूप से पडा हुआ है। यह एक ऐसा विचार है जिसको प्रत्येक समझदार और निष्ठावान व्यक्ति स्वीकार करता है, परन्तु ससार ने अभी व्यापक रूप से उसे नही जाना है। इस विचार का बडी तेज़ी से उदय हो रहा है, इस धरा पर और क्षितिज पर उसकी अरुणाभा फूटने लगी है।

प्रत्येक धर्म मे जो आधुनिकतावादी हैं, वे इसके लिए रास्ता बना रहे है। अर्न्स्ट ट्रोल्श और डॉ० इन्गे[2] कहते हैं कि यदि ईसाइयत को लौकिकता या व्यवहार-वादिता और अत्यधिक सस्थावाद से बचाना है, तो इसको पुन रहस्यवादी दृष्टिकोण अपनाना होगा। उनकी सम्मति मे केवल ऐसा ही आन्दोलन, जो ईसाइयत की प्रगति को रोकनेवाले अनेकानेक निर्जीव उपचयो को इससे दूर कर दे, ईसाई-जीवन को पुन

१. "ससार के सभी देशों और कालों में बिखरे हुए ये रहस्यवादी एक अदृश्य बिरादरी की भावना में आबद्ध है ; हालाकि स्थान और काल के व्यवधान के बावजूद वे हाथ बढ़ाकर एक-दूसरे से मिल रहे हैं और सभी इस बात पर एकमत हैं कि ईश्वर और मनुष्य केवल ऊपरी तौर से अलग-अलग जान पड़ते हैं, असल में ये दोनों अभिन्न रूप से एक हैं। आध्यात्मिक साधना के समय वे यह महान रहस्यवादी प्रार्थना करते हैं : 'मैं तू हू और तू मैं है।'" (हेलर 'प्रेयर', अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ १६१)।

२. अपनी पुस्तक 'द प्लेटोनिक ट्रैडिशन इन् इंग्लिश रिलीजस थॉट' (१६२६) डॉ० इन्गे इस बात की वकालत करते हैं कि "ईसाइयत जिन दो प्रकार के विश्वासों को मानती है, जिन्हें किसी अच्छे नाम के अभाव में सामान्यतया कैथोलिक और प्रोटेस्टैंट विश्वास कहते हैं, उनके अलावा उसे एक तीसरे प्रकार के ईसाई विश्वास को मान्यता प्रदान करनी चाहिए।" (पृष्ठ ५)।

शक्ति प्रदान कर सकता है, परम्परा के मृत-भार से ईसाई धर्म को पवित्र कर सकता है और न्याय तथा उदारता के आधार पर एक नये समाज का उद्घाटन कर सकता है।

यह दुर्भाग्य की बात है कि एक ऐसे समय, जब रहस्यवाद एक बार पुन अपने पूर्व गौरव और स्थान को प्राप्त करने जा रहा है, तब कार्ल बार्थ जैसे एक प्रसिद्ध धर्म-शास्त्री, जिन्हे कुछ लोग 'चर्च का एक सबसे बडा जीवित विचारक' मानते हैं,[1] इस विचारधारा की सच्ची भावना और फलितार्थों के प्रति अनजान बने रहे। यदि अच्छी तरह विचार करें तो हम यह देखेंगे कि रहस्यवादी धर्म मे बार्थ के धर्मशास्त्रीय जेहाद की कुछ मूलभूत बातो के लिए गुजाइश है और उन्होंने रहस्यवाद की जो आलोचना की है, उसमे काफी गलतफहमी है। उदाहरण के लिए, बार्थ रहस्यात्मक दशाओ को चित्त-विभ्रम या उन्माद की दशाए मानते हैं, वे उनको चेतना की दशाए नही मानते जिनमे हम चिरन्तन वास्तविकता के ससार के साक्षात् सम्पर्क मे रहते हैं। इस बात से तो इन्कार नही किया जा सकता कि रहस्यवाद के कुछ मूर्त्तरूप अत्यधिक भावात्मक हो गए हैं। इसके समर्थको ने अपने-आपको असाधारण और एक तमाशा-सा बना दिया है। यह सच है कि रहस्यवादी अपने व्यक्तिगत अनुभव की ही चिन्ता करता है, परन्तु वह एक ऐसी वास्तविकता के विषय मे कहता है जो सबके ऊपर होते हुए भी सबके भीतर है, जो स्थान और काल-सापेक्ष जगत् से भिन्न होते हुए भी इसका प्रेरक सिद्धान्त है। बार्थ की यह मान्यता है कि रहस्यात्मक अनुभव की दशा मे हम एक काल्पनिक क्षेत्र मे होते है, परन्तु उद्दिष्ट लक्ष्य के रूप मे ईश्वर सदा ही अनुभव के दूसरे छोर पर रहता है। जब तक हम रहस्यात्मक अनुभव मे तल्लीन रहते हैं, तब तक 'हम अपने विचारो की सदेहास्पद मानसी सृष्टि' मे रहते है। बार्थ जिसे 'असीम क्षण का चमत्कार' कहते हैं, यदि वह विषयीगत नही है, तो रहस्यात्मक अनुभव भी विषयीगत या काल्पनिक नही है। यह मनुष्य का दैवी शक्ति के आगे आत्मार्पण है, इस दशा मे आकर मनुष्य उस सब कुछ से विमुख हो जाता है जो केवल मानवीय और विषयीगत है। मनोविज्ञान की दृष्टि से देखें तो रहस्यात्मक अनुभव आत्म-रिक्ति की एक प्रक्रिया है जिसमे रिक्त शून्य मे दैवी तृप्ति भर जाती है। बार्थ धर्म की विशेषता यह मानते हैं कि वह अपनी गारण्टी स्वय होता है। रहस्यवादी भी इस धारणा को स्वीकार करते हैं। रहस्यवादी जिस सत्य का साक्षात्कार करता है, वह उसके परे का होता है, वह बाहर से उसमे उद्भूत होता है, वह शका या अनुमान, परिकल्पना अथवा सम्मति का विषय नही होता। ब्रूनर ने अपनी पुस्तक 'थिओलॉजी ऑव् क्राइसिस' मे बोध के तीन रूप माने हैं—वैज्ञानिक बोध-रूप जो बाह्य तथ्यो का निरूपण करता है, आध्यात्मिक बोध-रूप जो अन्तर्निहित सिद्धान्तो से सम्बन्धित होता है, बोध का तीसरा रूप वह है जिसमे व्यक्ति "लौकिक मूल्यो के विषय मे आधुनिक फिलस्तीनी चिन्ता के साथ विचार नही करता, जिसमे व्यक्ति शुष्क वैज्ञानिक वस्तुपरकता का दृष्टिकोण नही अपनाता, या ससार की ओर सौम्य सौन्दर्यात्मक दृष्टि से नही देखता, वरन् उस लालसा या उद्वेग के साथ देखता है जिससे कोई डूबता हुआ आदमी सहा-

१ 'क्रेडो', अग्रेजी अनुवाद, (१६३६), पृष्ठ vii।

यता के लिए चिल्लाता है।"[1] यह पूर्ण सत्ता के लिए आतुर शोध होती है, जिसपर रहस्यवादी भी वल देता है।

वार्थवादी धर्मशास्त्र मे जिस बुनियादी बात पर ज़ोर दिया गया है, उसको रहस्यवादी धर्म भी मानता है, क्योंकि अपने सभी रूपो मे यह पुनर्जन्म पर वल देता है। जिस प्रकार हम अपने सासारिक जीवन मे जन्म लेते हैं, उसी प्रकार हमे आत्मिक जीवन मे भी अवश्य 'पुन जन्म लेना चाहिए।' शारीरिक मृत्यु होने तक हमे इस पुनर्जन्म के लिए प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नही है। काल की सीमा मे रहते हुए भी हम चिरन्तनता मे पुनर्जन्म ले सकते हैं। प्लेटो का कथन है कि यदि कोई मनुष्य अमरता के जीवन मे प्रवेश करना चाहता है, जो सत्य-शिव-सुन्दरम् पर केन्द्रित जीवन है, जो ससार के प्रति उसका दृष्टिकोण अब से विलकुल उलटा हो जाना चाहिए। यदि आप चाहते है कि आपकी आत्मा पर सच्चे प्रकाश की किरणें पडें, तो 'आत्मा की दिशा एकदम पलट देनी चाहिए।' परिवर्तन अवश्य होना चाहिए, एक नई सृष्टि होनी चाहिए, जो पुरानी सृष्टि का ही पुछल्ला न हो।

ब्रह्म के नकारात्मक वर्णन और माया के सिद्धान्त का, जिनको हिन्दू रहस्यवाद की विशेषताए वताया जाता है, उपयोग काल और अकाल, नश्वर और अनश्वर, वाह्य रूप और वास्तविकता के वीच की दूरी को वताने के लिए किया जाता है। वास्तविक और अवास्तविक, सच और झूठ के मध्य जो उग्र असगति है, इससे तो धार्मिक प्रयासो की अत्यावश्यकता और भी अधिक सिद्ध हो जाती है। ईश्वर अविज्ञात है, वह पूर्णत औरो से भिन्न है, वह निरपेक्ष है और कालातीत है, वह ऐसा है जिसे हम अपने प्रयत्नो से नही जान सकते और न जिसे हम अपनी समझ-बूझ से पहचान सकते है। "ईश्वर मनुष्य के लिए सदैव अनुभवातीत, नया, दूरस्थ, विजातीय, परमोत्कृष्ट, मनुष्य-जगत् के वाहर, मनुष्य की पहुच के सदा परे है। जो कहता है कि मैंने ईश्वर को पा लिया है, वह चमत्कार की वात कहता है।"[2] मनुष्य ईश्वर के स्वरूप का निश्चय कभी नहीं कर सकता, क्योंकि ईश्वर उद्देश्य है विधेय नही, कर्त्ता है कर्म नही, विपयी है विपय नही। उसका नकारात्मक ढग से या परस्पर-विरोधी ववतव्यो के द्वारा ही वर्णन किया जा सकता है।

> "जो-कुछ हम हैं, जो-कुछ हमारे पास है और जो-कुछ हम करते हैं, उस सवका ईश्वर ही शुद्ध आरम्भ और शुद्ध अन्त है, मनुष्य और जो कुछ मनुष्य-कृत है, उससे गुणात्मक दृष्टि से ईश्वर विलकुल अलग है, असीम है, जिसको हम ईश्वर कहते हैं, ईश्वर के नाम पर जिसका अनुभव करते हैं, जिसकी कल्पना या अनुमान करते हैं और प्रार्थना करते हैं, वह सच्चे ईश्वर के किसी भी प्रकार समरूप नही है, सभी मानवीय विक्षोभ के विपरीत वह

१ लेक्चर, *ii*।

२ कार्ल वार्थ : 'द एपिस्टिल टु द रोमन्स', सर एडविन हॉस्कीन्स कृत अंग्रेजी अनुवाद (१९३३), *iv*, २१।

असीम विश्राम है, और सभी मानवीय विश्राम के विपरीत वह असीम प्रगति है, जो हमारा 'है' है, वह उसका 'नही' है, जो हमारा 'नही' है वह उसका 'है' है, वह आदि और अन्त दोनो है, और इसलिए अविज्ञात है, परन्तु कही भी और कभी भी कोई दूसरी चीज़ नही है, जो हमसे उतनी परिचित हो जितना वह है, ईश्वर जो हमारा प्रभु है, स्रष्टा है और परित्राता है—वही सच्चा ईश्वर है।"[1]

चूकि ईश्वर पूर्णत हमसे भिन्न है, इसलिए उसके सम्बन्ध का ज्ञान हमे स्वय ईश्वर की ओर से प्राप्त होना चाहिए। उपनिषद् कहता है "वह जिसे आत्मा वरण करती है, उसके द्वारा ही आत्मा को प्राप्त किया जा सकता है।"[2] सत्य की शक्ति साक्षात् ईश्वर की शक्ति है, वह ईश्वर ही है। इस सत्य का उद्घाटन मनुष्य के लिए ईश्वर का मुक्तदान है। ईश्वर यह दान देता है या नही, या किसे देता है, किसे नही—यह उसकी स्वेच्छा पर निर्भर है। इस दान के लिए हम अपना जीवन और अपना सर्वस्व न्यौछावर करके, ईश्वर के सामने निहग नग्नावस्था मे खडे होकर, अपने मे पात्रता उत्पन्न कर सकते हैं। जब तक व्यक्ति पूर्ण रूप से नि स्व नही हो जाता, तब तक वह कुछ प्राप्त नही कर सकता।

रहस्यवाद धार्मिक प्रयत्न मे दोहरी क्रिया को स्वीकृति प्रदान करता है। ब्रह्म एक ही साथ हमे मन्त्रमुग्ध भी करता है और विक्षुब्ध भी, वह हमारे बहुत निकट है और हमसे बहुत दूर भी, वह एक ही सग मानव-प्रकृति की पूर्णता है और उसका रूपान्तरण भी। द्वन्द्व, क्लेश, पाप सम्भव हैं, क्योकि हमे एक ऐसी सत्ता का बोध करना है जो निरपेक्ष है, असीम है। जब हम पाप के विरुद्ध सघर्ष करते हैं और उसका समर्थन नही करते, तो हम तनिक भी पापपूर्ण नही होते। "तूने मुझे कैसे त्याग दिया है?" जैसे अत्यन्त हताश होकर कहे गए शब्द भी तभी मुह से निकल सकते हैं जब परमपिता परमेश्वर पर किसी की अडिग आस्था हो। अनन्त ईश्वर हमे तीव्र तनाव की स्थिति मे रखता है और हमे यह अनुभव कराता है कि हम कितने अयोग्य और कितने इन्द्रियासक्त हैं। यह हिंसा, विध्वस और फूट को भी स्थान देता है। धर्म की उत्पत्ति हार्दिक वेदना की स्थिति मे होती है। जिस व्यक्ति को ईश्वर का बोध हो, किन्तु उसे ईश्वर से अपनी दूरी का भी भान हो, उस व्यक्ति की एक ही पुकार होती है कि मैं पापी हू—'पापोऽहम्'। वह जब अपनी त्यक्तावस्था की अनुभूति करता है, तब उसकी पीडा और भी बढ जाती है। परन्तु मनुष्य की यह दु खद स्थिति उसकी सबसे बडी गरिमा भी है। उस क्षण भी, जब वह ईश्वर की पूर्ण अनुभवातीतता को समझता होता है, वह उसकी सर्वव्यापकता, उसके अन्तर्निहितत्त्व की पुष्टि करता है। ईश्वर के दिव्य शक्ति-स्फुरण का योग्य पात्र मनुष्य है और उसको झेलने की क्षमता भी उसमे है, यह बात तथा दैवी-जीवन को अपने जीवन मे प्रत्यक्ष करने का उसका सघर्ष—इसके प्रचुर प्रमाण है कि ईश्वर का वास मनुष्य मे है। यह दावा करना तो

१ वही, पृ० ३१५।

२. कठोपनिषद्, *i*, २,२३।

एक अत्युक्ति ही होगी कि "ईश्वर की शक्ति का पता न तो प्रकृति-जगत् मे लगाया जा सकता है और न मनुष्य की आत्मा मे ही ।"[1] इस प्रकार का दृष्टिकोण मनुष्य के अस्तित्व की सर्वथा उपेक्षा कर देता है, उसको नितान्त महत्त्वहीन मान लेता है। कैथॉलिक चर्च की भी यह मान्यता है कि मनुष्य केवल अपने प्रयत्नो से मोक्ष की प्राप्ति नही कर सकता, परन्तु साथ ही वह यह भी मानता है कि ईश्वरीय कृपा को स्वीकार या अस्वीकार करने की मनुष्य को स्वतन्त्रता है। इस प्रकार का विचार युक्तिसंगत भले ही न हो, परन्तु निश्चय ही वह महत्त्वपूर्ण है। ईश्वर केवल अज्ञात, अप्राप्य और अगम्य ही नही है, प्रत्युत् वह मानवीय चेतना मे इतना ओतप्रोत है कि हमसे उसका अलगाव हमे स्पष्ट ही अनुभव हो जाता है। वह हमारे अत्यन्त समीप है। जब हम उससे अपना अलगाव अनुभव करते है, तो उसकी अनुभवातीतता पर ही हमारा ध्यान पहले जाता है। जबकि रहस्यवादी काल और कालातीतता (चिरन्तनता) के बीच के अनन्त गुणात्मक अन्तर को और ईश्वर की नितान्त अनुभवातीतता को तथा अपनी अपात्रता या ब्रह्म के समक्ष अपनी पतितावस्था को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहता है, तब वह यह नही स्वीकार करता कि मनुष्य पूर्णत पतित है, दुराचारी है, और पुन ईश्वर के पास लौटने के अयोग्य है। दु ख प्रतिरोध की सारी शक्तियो को कुचल देता है, किन्तु वह भी अनिवार्यत· इस भावना को नष्ट नही कर पाता कि मनुष्य का उद्देश्य एक महत् जीवन की उपलब्धि है। यह भावना मनुष्य की निराश्रयता को, उसके एकाकीपन को भी महत्त्वपूर्ण बना देती है। धार्मिक प्रयास के भी दो रूप हैं · एक वह जिसमे मनुष्य ईश्वर से अलग कर दिया जाता है और दूसरा वह जो मनुष्य को ईश्वर से ला मिलाता है। जब तक मनुष्य विद्रोह की स्थिति मे है तब तक उसकी प्राणिशीलता एक बेडी के समान है। मृत्यु उसका प्रारब्ध है। सकट-काल धार्मिक जीवन का अनिवार्य पक्ष है , जब मनुष्य इसको पार कर जाता है, जब मनुष्य अपने प्रति एकात्म भाव अनुभव करता है, क्योकि वह ईश्वर के साथ एकात्म होता है, तब उसे अपने अत करण मे स्थित दिव्य शक्ति—ईश्वर—की चेतना होती है। पैगम्बर और दिव्य-सन्देशवाहक, ऋषि और सन्त को धार्मिक अनुभव के समय जो आनन्द प्राप्त होता है, उसका और क्या कारण हम बतला सकते है? वे लोग ऐसे अनुभव के बाद महसूस करते हैं कि वे एक नये आदमी हो गए हैं, अपने जीवन का द्वैत मिट जाने से वे अब द्विधा व्यक्तित्व वाले व्यक्ति नही रहे। बार्थ इसको इन ओजस्वी शब्दो मे प्रकट करते हैं

> "अब कोई भय नही हैं, क्योकि पूर्ण प्रेम ने उसे दूर कर दिया है।" निस्सीमता ससीम पर जो भारी बोझ डालती है, वह विलीन हो गया है। प्रत्येक ससीम वस्तु निस्सीमता को जिस उलझन मे डाल देती है, उसका भी लोप हो गया है। हमारे जीवन का वह द्वैत भी विलुप्त हो गया है जिसके कारण हम प्रतिक्षण आलोचनात्मक निषेध के तग द्वार मे से कठिनाई से निकलने की चेष्टा करते हैं, क्योकि इस द्वित्व के कारण ही हम भयभीत होते

१. 'रोमन्स', पृ० ३६

> हैं, उसीके कारण हम अपने जीवन की अस्पष्टता और अपने अस्तित्व की पहेली से उद्विग्न वने रहते है। जीवात्मा, जिसको हमने प्राप्त किया है और जिसके द्वारा हम मृत्यु से जीवन मे प्रविष्ट हुए हैं, इस द्वैत को समाप्त कर देता है।"[1]

उपनिषद् कहता है 'ब्रह्माभयम्'—ब्रह्म को कोई भय नही है। जव ईश्वर का दर्शन प्राप्त हो जाता है तव द्वैत समाप्त हो जाता है, ईश्वर का परायापन और खुद हमारा परायापन मिट जाता है। "वह स्वय ईश्वर, साक्षात् ईश्वर वन जाता है। पुत्रत्व की यह भावना, यह नया मनुष्य, जोकि मैं नही हू, मेरा उपेक्षणीय अह है। इस उपेक्षणीय अह के प्रकाश मे मुझे अपने दृश्य और सासारिक जीवन को विताना चाहिए।" निश्चय ही, यह आवश्यक नही है कि हम ईश्वर को मनुष्य से पूर्णत असमान मानें, क्योकि वार्थ हमारे वर्तमान मानव अस्तित्व के विपय मे कहता है कि "यह स्वय चिरन्तनता नहीं है, तो भी अपने भीतर अजात चिरन्तनता को धारण किए हुए है।"[2] 'महाभारत' मे कहा है "चिरन्तनता और काल, अमरता और मृत्यु—ये दोनो साथ-साथ मनुष्य-जीवन मे पाए जाते हैं। मिथ्या विचार या मोह के कारण हम मृत्यु मे प्रवेश करते हैं, सत्यानुसरण के द्वारा हम चिरन्तन जीवन की प्राप्ति करते हैं।"[3] मानव-जीवन जटिल है, इसमे उलझन है तो स्पष्टता भी, पापमयता है तो आशा भी। जव उपनिषद् यह कहते हैं कि 'तत् त्वमसि' तव उनका यह आशय नही होता कि हम सरल एव प्रत्यक्ष रूप से ईश्वर हैं, वे तो इस वात पर ज़ोर देते है कि ईश्वरत्व या दिव्यत्व मनुष्य के प्रारव्ध का अन्तिम प्राप्तव्य है। "क्योकि वह तव प्रयास और सघर्ष करने पर तुम्हे मिलेगा, जव तुम अपने स्वाभाविक अह को त्याग दोगे। ईश्वर के वेटे के जन्म की यह शर्त है कि मनुष्य मे जो विद्रोही अह छिपा है, पहले उसको मार दिया जाए। यदि 'सूली पर चढाने' की घटनाए न हो तो 'मृतोत्थान' की घटनाए नही होगी, वलिदान होने पर ही पुनर्जीवन की प्राप्ति होती है।

रहस्यवादी लोग इस वात को मानेंगे कि धर्म-मत और धर्म-सिद्धान्त स्वय धर्म नही हैं, वरन् वे धर्म तक मनुष्य को ले जानेवाले साधन हैं। उनको तार्किक कथन-मात्र न रहकर सजीव आन्दोलन का रूप ले लेना चाहिए। जैसाकि उपनिपद् कहता है—शव्द यदि मनुष्य का रूपान्तरण नही कर डालते तो 'शव्द क्लान्ति हैं'। वार्थ के इस विचार को रहस्यवादियो ने भी स्वीकार किया है कि "जो शव्द मनुष्य के कानो मे प्रविष्ट होता है, और मनुष्य के ओठो से उच्चरित होता है, वह ईश्वर का शव्द है—परन्तु यह तभी, जव शव्द जादू की तरह मनुष्य के जीवन मे परिवर्तन उपस्थित कर दे, यदि ऐसा नही कर पाता, तो 'शव्द' मनुष्य के मुह से कहे जानेवाले वहुत-से शव्दो मे से एक सामान्य शव्द है।"[4]

१. 'रोमन्स', पृ० २९७। २ वही, पृ० ३०१।
३ अमृत चैव मृत्युश्च द्वय देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्यु आपद्यते मोहात्, सत्येनापद्यते अमृतम्॥
(xii, १७४,३०)।
४ 'रोमन्स', पृ० ३६६।

वार्थ की दृष्टि मे जो ज्ञान आत्मा को ज्योतित कर देता है, वह मनुष्य के तार्किक ज्ञान मे कोई वृद्धि नही करता, वल्कि उसमे तो मनुष्य को रूपान्तरित कर देने की, उसका कायाकल्प कर देने की शक्ति होती है। जब वह धर्म की प्रशसा करते हैं और कहते हैं कि धर्म का नीतिशास्त्र से कोई सम्बन्ध नही—वह अ-नैतिक है,[1] तब उनका सकेत आचारिक प्रगति और आध्यात्मिक परिपूर्णता की अतुलनीयता की ओर होता है, इसीको रहस्यवादी इस रूप मे कहते है कि आध्यात्मिक दशा हमे अच्छे और बुरे से परे ले जाती है—भलाई और बुराई दोनो से हम उस दशा मे ऊपर उठ जाते हैं। जो आध्यात्मिक है, वह आचारिक विधि से कभी नही प्राप्त किया जा सकता। 'नास्त्य अकृत कृतेन'। शकराचार्य की दृष्टि मे सारा कर्म धूल और राख है। कर्म के द्वारा मोक्ष पाना असम्भव है, क्योकि सारे कर्म अनुभव-सिद्ध होते हैं और उनके परिणाम अनुभवातीत नही हो सकते। जितनी क्रियाए है वे गोचर जगत् मे घटित होती है और उनका परिशोधन तथा प्रायश्चित भी केवल इसी गोचर जगत् मे किया जा सकता है। ऊपर की ये बातें जहा आनुभाविक और अनुभवातीत के बीच दूरी होने पर ज़ोर देती हैं, वहा रहस्यवादी धर्म इन दोनों मे सम्बन्ध होने की पुष्टि करता है। हम काल से कालातीतता—चिरन्तनता—तक, विवर्त से वास्तविकता—सत्य—तक पहुच सकते हैं, यदि ऐसा न हो, तो दर्शन और धर्म हमारे किसी काम के नही, और इस प्रकार के कथनो मे भी कोई सार नही कि 'जैसा मैं धर्मात्मा हू, वैसा ही तू भी धर्मात्मा वन जा', या 'तू पूर्ण हो जा'। धर्म किसी माग की पूर्त्ति करता है तभी धर्म रह पाता है, वह किसीका सापेक्ष होता है, और सापेक्षता तो मानवीय गुण है। ईश्वर हमारे अन्त करण मे जो आत्म-प्रकाश करता है, उसको पहचानने की क्षमता हममे है। हम ईश्वरीय वाणी को समझ सकते हैं, हम चिरन्तनता के आह्वान को, उसकी पुकार को सुन सकते हैं और ऐसा हम इसीलिए कर सकते हैं, क्योकि हम दिव्यात्मा के अश हैं। यदि ससार और आत्मा ईश्वर की सृष्टिया हैं, तो क्या स्रष्टा की उपस्थिति उसकी कृतियो मे दिखाई न देगी ? काल चिरन्तनता की चलती-फिरती प्रतिमा है, और अनुभव अक्षर ब्रह्म का गोचर रूप है। यदि हम काल और कालातीत के बीच एक खाई खोद दें, तो एक से दूसरे मे आने का कोई मार्ग नही रह जाएगा। वार्थ इस द्वैत के साथ खीच-तान ही करते हैं जब वे यह कहते हैं "जब कभी लोग दावा करते हैं कि हमने 'ईश्वर के राज्य' को एक सजीव प्राणी के रूप मे—या अधिक ठीक कहे तो एक उठती हुई इमारत के रूप मे—देखा है, तब वे 'ईश्वर का राज्य' नही देखते, वरन् देखते हैं 'वैवेल का टावर' (शीनार देश की ऊची मीनार)।"[2] वार्थ कहते हैं कि 'पाप या बुराई मनुष्य के कर्म का निष्क्रिय पिण्ड है'[3], इसलिए हम जो कुछ करते हैं, उसका कोई महत्त्व नही, क्योकि कोई भी चीज़ हमपर निर्भर नही करती—करनेवाला कोई और ही होता है। "मनुष्य के पास यदि धन-सम्पत्ति हो, तो

१. "कर्म मनुष्य का सम्बन्ध एक ऐसे ईश्वर से जोड़ते हैं जिसकी अवधारणा वे कर सकते हैं, परन्तु ऐसा ईश्वर आवश्यकतावश चमत्कार करनेवाला नही होता।" ('रोमन्स', पृ० ३६७)।

२. वही, पृ० ४३२।

३. वही, पृष्ठ ४६७।

वह ईश्वरीय अनुग्रह का भी पात्र होगा, यह आवश्यक नही, क्योकि कोई भी उपलब्धि—भले ही वह सम्भ्रम और जागृति ही क्यो न हो—ईश्वर के सम्मुख कोई महत्त्व नही रखती और उसकी कोई स्वतन्त्र वैधता नही होती।"[1] वार्थ इस पर जोर देते हैं कि प्रकृति और ईश्वरीय कृपा मे कोई भी सम्बन्ध नही है और इस बात से इन्कार करते हैं कि धर्म के क्षेत्र मे मानव-आत्मा और ईश्वर की कोई सहक्रिया या सहयोग सम्भव है। धर्म ईश्वर की कृपा का एक दान है जो हमारा आह्वान करता है, साथ ही हमें शक्ति देता है, ताकि हम ईश्वरीय कृपा को ग्रहण कर सकें। यह एक दैवी चमत्कार है, एक गुह्य वस्तु है। स्वभावत वार्थ मे, जिसका विचार है कि ससीम असीम को ग्रहण करने का पात्र नही है, ईसा के मानवत्व का महत्त्व कम करके दिखाने की प्रवृत्ति है। वार्थ की दृष्टि मे 'लोगस' (शब्दब्रह्म) ही ईसा के व्यक्तित्व का निर्माण करता है, कुमारी माता के गर्भ से उनका जन्म और सूली पर चढाए जाने के बाद उनके पुन प्रकट होने से सम्बन्धित मान्यताए वार्थ के आगे बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं। ईसा ने फिर मानव-प्रकृति को धारण ही क्यो किया और क्यो सलीब पर उन्होंने मृत्यु-दण्ड भोगा, यह एक ऐसा रहस्य है जिसका कोई मनुष्य पार नही पा सकता। हम केवल यही कह सकते हैं कि ईश्वर की ऐसी ही इच्छा थी। ईश्वर ब्रह्माण्डीय प्रक्रिया से अलग, तटस्थ रहता है और वह मनुष्यो को अपने विशिष्ट प्रयोजन की सिद्धि के लिए ससाररूपी रगमच पर उपस्थित करता है। वह मानव-जीवन और मानव-जाति के क्रिया-कलापो मे सकट की स्थितिया उत्पन्न करता रहता है। वह अपने-आपको घटनाओ की प्रक्रिया मे विभक्त कर लेता है, जैसाकि उसने जीसस क्राइस्ट के अवतार के ऐतिहासिक क्षण मे किया था। वह क्या करना चाहता है और उसका उपयोग किस कार्य के लिए किया जाता है, इसका हमारी उन्नति और अवधारणा मे कोई सम्बन्ध नही है। ईश्वरीय कृपा प्रकृति से श्रेष्ठ होती है। हम इस विचारधारा के साथ एक भोडे प्रकार के काल्विनवाद की ओर लौट जाते हैं। "स्वर्ग से पतन की घटना सृष्टि-रचना के युगो पूर्व निर्धारित की जा चुकी थी और उस पूर्व-निर्धारण के फलस्वरूप ही वह घटना हुई थी। सर्व-शक्तिमान् परमेश्वर ने किसी भी व्यक्ति को अस्तित्व मे लाने से बहुत पहले ही उसके भाग्य के विषय मे अटल निश्चय कर दिया था, लाखो लोगो को उसने अपनी घृणा का और नरक-भोग का पात्र पहले से ही निश्चित कर दिया है, और इसी उद्देश्य को लेकर उसने सभी मनुष्यो को प्राणी का अस्तित्व दिया है।"[2]

वार्थवादी धर्मशास्त्र मे मानव-प्रकृति को जिस निराशाजनक स्थिति मे रख दिया गया है, वह उस काल की सामाजिक दशा का प्रतिबिम्ब है। संसार के सर्वाधिक उन्नत राष्ट्र जिस रूप से आत्म-घातक नीतियो का अनुगमन कर रहे हैं और जिस प्रकार इतिहास की शिक्षाओ और विवेकपूर्ण सम्मतियो की नितान्त अवज्ञा कर रहे हैं, उसको देखकर कोई भी व्यक्ति मानव-प्रकृति पर अपनी आस्था खो दे सकता है और वह इस रूप मे बात करने लग सकता है मानो कोई अदम्य, दुर्दान्त शक्तिया हमे अपरिहार्य

१. वही, पृ० ५९।

२. 'इन्स्टीच्यूट्स', *iii*, २१,३।

विनाश की ओर तेज़ी से ढकेलती लिए जा रही है। भौतिकवादियो की मान्यता के अन्ध-भाग्य के स्थान पर बार्थ ईश्वर के सर्वातिशायी पूर्व-विधान को रखते हैं। ईश्वर ने अब्राहम को 'उर' से बुलाया था। ईश्वर ने ही मिस्र मे से इजरायल का निर्माण किया था। उसीने सिनाइ में धर्म-नियम का प्रकाशन किया। उसीने डेविड को राजा बनाया। उसीने हमारे पास जीसस क्राइस्ट को भेजा। इस प्रकार के दृष्टिकोण का तकाजा है कि हम यह विश्वास करें कि ससार में जो कुछ होता है, वह सब कुछ ईश्वर की इच्छा या आज्ञा ने अनुसार, और ससार में परिवर्तन लाने के लिए हमें किन्ही चमत्कारपूर्ण घटनाओ की प्रतीक्षा करनी होगी। तो भी, मानव-चेतना के पुनरुत्थान में, उसकी नमनीयता में और मानवीय क्रिया-कलापो को सही दिशा में मोडने के मनुष्य के उत्तरदायित्व में आस्था रखना सच्चे धर्म का अनिवार्य लक्षण है। यदि आज हमारी स्थिति निराशापूर्ण है, तो यह हमारी पिछली गलतियो और पापो का दैवी प्रतिशोध है। हमारी सस्थाओ में स्वेच्छाचारिता और उदाराशयता के बीच जो द्वन्द्व है, वह उनमें ही नही, हमारे अपने भीतर भी है। यदि सभ्यता आज खड-खड हो रही है, तो इसका कारण यह है कि आज भी हम इस आस्था पर विश्वास करते हैं और उसके अनुसार कार्य करते हैं कि वर्ग-हित और राष्ट्र-हित में जो कुछ किया जाए सब ठीक है। आज के युग को एक ऐसे 'राज्य' की आवश्यकता है जो इस भौतिक जगत् का नही है, जहा मास-मदिरा खाने-पीने का ही नाम जीवन नही है, वरन् जहा जीवन का अर्थ है न्यायनिष्ठा, शान्ति और आनन्द। रहस्यवाद में तपश्चर्या और पारलौकिकता पर बल दिया गया है, अत धार्मिक अनुभव के तथ्यो और सामाजिक आवश्यकताओ की दृष्टि से वह बार्थवादी धर्मशास्त्र की अपेक्षा अधिक उपयुक्त है।

ऐतिहासिक धर्मों द्वारा सार्वदेशिकता प्राप्त करने की हर कोशिश उन्हे भारत के धर्मों के अधिक निकट ला रही है। पिछले वर्षों से, भारतीय धर्मों के प्रति लोगो मे जो रुचि बढ रही है, उसका कारण यह चेतना है कि भारतीय धर्मों मे रहस्यवाद अधिक सफल रहा है।[1] रहस्यवाद का मूल उत्पत्ति-स्थान भारत है, इसको अब प्राय स्वीकार कर लिया गया है। विद्वान लोग इस बात से भी इन्कार नहीं करते कि इसने पाश्चात्य परम्परा को प्रभावित किया है। यह सर्वविदित है कि भारत मे धर्म का रहस्यात्मक स्वरूप ससार के किसी भी भाग से अधिक लम्बे समय तक बना रहा है। यदि हजारो खुले दिल-दिमाग के ईसाई और नास्तिवादी यह मानने लगे हैं कि पूर्व के इन नये विचारो मे उनकी धार्मिक उच्चाकाक्षाओ को स्फुरित करने की अधिक क्षमता है, और यदि उनका विचार है कि ईसा की शिक्षाओ को इन परिपक्व धारणाओं से जिनमे ईसाई-जगत् किसी तरह भी अपरिचित नही है, बहुत-कुछ सीखकर अपने अभाव को दूर करना और अपने को सुदृढ बनाना है, तो हमारे लिए यह आनन्द का

१. मैं पाश्चात्य पाठक को आगाह कर देना चाहता हू कि यूरोप और अमेरिका में भारतीय ध्यान के नाम से जो कुछ जाना जाता है, वह सब भारतीय नहीं है। भारत का श्रेष्ठतम रहस्यवाद पूर्णत बौद्धिक है और उसका सम्बन्ध एक समृद्ध तत्त्व-दर्शन की सस्कृति से रहा है : वर्ग के नाम पर प्रचलित गुह्य सस्कारों और अधकचरे विश्वासों से उसका कोई साम्य नहीं है।

विषय है । मैक्समूलर ने कहा था · "यदि मुझे स्वय से ही यह पूछना हो कि हम यूरोप वाले—जो यूनानियो, रोमनो और सामी जातियो मे से एक, अर्थात् यहूदियो के विचारो के द्वारा ही पूर्णत पालित-पोषित हुए हैं—किस साहित्य के द्वारा अपना सुधार कर सकते हैं (जिस सुधार की आज हमे बडी आवश्यकता है), ताकि हम अपने आन्तरिक जीवन को अधिक पूर्ण, अधिक व्यापक, अधिक सार्वभौम, वस्तुत , अधिक सही अर्थ मे मानवीय बना सकें—अपना जीवन ऐसा बना सकें जो केवल इहलौकिक जीवन तक ही सीमित होकर न रह जाए, वरन् रूपान्तरित और चिरन्तन जीवन बन जाए, तो मुझे पुन भारत की ओर ही इगित करना होगा ।"[1] ईसाइयत, जो एक पूर्वीय पृष्ठभूमि लेकर उठ खडी हुई थी और जिसे अपनी उठान के प्रारम्भ मे ही यूनानी और रोमन सस्कृति से सम्बद्ध हो जाना पडा था, कदाचित् भारत के उत्तराधिकार मे ही आज फिर से नया जीवन पा सके ।

दो महान सभ्यताओ का सम्पर्क हो जाने से, जिनके मुख्य शक्ति-स्रोत एक-दूसरे से बहुत अलग-अलग नहीं हैं, कुछ कटु आध्यात्मिक असामजस्य, राजनीतिक दु खद परिस्थिति और व्यक्तिगत मानसिक पीडा उत्पन्न हो गई है । तो भी, भविष्य को नया रूप देने के बहुत-से अवसर उसके सामने उपस्थित हैं—इस क्षेत्र मे कोई उसका प्रतिद्वन्द्वी नही हो सकता । भारतीय जीवन और विचारणा को रूपान्तरित किया जा चुका है और उसके मन को एक नई दिशा मिल चुकी है । यदि बिना बहुत विलम्ब किए, भारत की वैध आशाए और न्यायोचित उच्चाकाक्षाए पूर्ण कर दी जाती हैं, तो ब्रिटिश राष्ट्रमडल और समग्र ससार पर उसके प्रभाव का उपयोग व्यक्ति के जीवन मे उत्तम गुणो के विकास और आध्यात्मिक आदर्शों पर आधारित एक विश्व-राष्ट्र-कुल की स्थापना के निमित्त किया जा सकेगा । राजनीतिक पराधीनता ने भारत को उसकी आत्मा से पूरी तरह वचित नही किया है, भारत अपनी आध्यात्मिक ज्योति को झझावातो से बचाकर किसी तरह जगाए चल रहा है । भारत के वर्तमान वाइसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने भारतीय विज्ञान काग्रेस और 'ब्रिटिश एसोसिएशन ऑव् साइन्स' के कलकत्ता मे हुए सयुक्त अधिवेशन मे भाषण करते हुए, गत वर्ष के प्रारम्भ मे यह कहा था—

> "पाश्चात्य सभ्यता मे विश्वास रखनेवाले बडे से बडे उत्साही व्यक्ति को भी आज इस बात से कुछ हताश होना ही चाहिए कि पश्चिम वैज्ञानिक

[1] तुलना कीजिए—डब्ल्यू० जे० ग्रान्ट के इस कथन से "वास्तव में भारत के पास कुछ ऐसा बहुमूल्य वस्तु है जिसको खो देने का खतरा इस भौतिकवादी युग के सामने उपस्थित है । कोई दिन ऐसा आएगा जब उसकी विचारणा की सुगन्धि लोगों के हृदयों को मुग्ध कर लेगी । कुत्ता जैसे अपनी ही दुम को पकड़ने के लिए बेचैनी से चक्कर काटता रहता है, वैसे ही हम आज अपने ही खींचे एक दुश्चक्र में जा फसे हैं, आधुनिक युग की यह प्रवृत्ति सदा नहीं बनी रह सकती । हमारा भविष्य एक नई उत्कट मानवीय प्रेरणा चाहता है जो जीवन के सच्चे सौन्दर्य और पवित्रता की ओर हमें ले जा सके । जब वह समय उपस्थित होगा, तब हम स्नेहपूरित नेत्रों से भारत की ओर देखेंगे और शौर्यपूर्ण भुजाओं से उसकी छाती की रक्षा करेंगे ।" ['द स्पिरिट ऑव इण्डिया' (१९३३), पृ० ५]।

अनुसन्धानो पर अपना नियन्त्रण रखने मे स्पष्टत. असफल रहा है, और वह किसी ऐसे समाज का स्वरूप विकसित नही कर सका है जिसमे भौतिक प्रगति और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता हाथ मे हाथ डाले सहज रूप से आगे कदम बढा सकें। पश्चिम वालो को शायद ऐसा लगेगा कि भारत मे सादगी और प्रत्येक वस्तु की मूलभूत आध्यात्मिकता पर साधारणतया अधिक बल दिया जाता है, वहा ऐसे सत्यो के अधिक प्रत्यक्ष उदाहरण मिलेंगे जिनकी खोज पश्चिम के श्रेष्ठ विचारक अब करने लगे हैं। सज्जनो! क्या मैं आपसे आशा करू कि आप वह माध्यम बनेंगे, जिसके द्वारा भारत पाश्चात्य जगत् और विश्व-विचारणा को अधिक से अधिक मात्रा मे अपनी देन दे सके ? हममे से वे लोग, जो भारत को जानते और प्यार करते हैं, इस बात से पूर्णत आश्वस्त हैं कि वह इस देन को पूरी मात्रा मे देने मे समर्थ है।"

८

धर्मों का सम्मिलन

[१]

ससार मे जो विभिन्न प्रकार के धर्म फैले हैं, वे अब समीप आ गए हैं। पारस्परिक सघर्ष और प्रतियोगिता को मिटाने के लिए आवश्यक है कि उनमे वैचारिक सहिष्णुता की भावना का विकास हो। इससे उनका पूर्वाग्रह मिटेगा, आपस की गलतफहमी दूर होगी और वे एक ही सत्य की विविध अभिव्यक्तियो के रूप मे एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हो जाएगे। हिन्दू धर्म के विकास मे सहिष्णुता की यह भावना सतत पाई जाती रही है। यह धर्म गत पाच सहस्र वर्षों से अखण्ड रूप से विकसित हो रहा है। हिन्दू सस्कृति[1] की भूतकालीन शक्ति और निरन्तरता तथा उसकी वर्तमान दुर्बलता और अव्यवस्था—दोनो ही समस्याए समान रूप से रोचक हैं। किन्तु, वास्तव मे, उसकी दुर्बलता उसकी शक्ति के विपरीत नही है। हिन्दू धर्म किसी प्रजातिगत समस्या पर आधारित नही है। इसको उत्तराधिकार मे ऐसी विचारणा और ऐसी महत्त्वाकाक्षाए प्राप्त हैं जिनमे भारत की प्रत्येक प्रजाति ने अपना योगदान किया है।

हडप्पा और मोहेनजोदडो मे जो खुदाई हुई है और उसमे जो वस्तुए प्राप्त हुई हैं, उनसे पहली बार हमे पता चलता है कि बहुत प्राचीन काल में भी भारत का नागरिक जीवन विकसित था। मिट्टी के बर्तनो पर जो चित्रकारी की गई है, उसे देखकर लगता है कि हस्त-लाघव की दृष्टि से, इतने युग बीत जाने पर भी, मनुष्य के हाथ ने कुछ अधिक उपलब्धि नही की है। खुदाई में अस्थि-पिञ्जरो के जो अश मिले हैं, उनसे पता चलता है कि उन नगरो में चार प्रकार की नस्लें "आद्य-आस्ट्रेलियाई, भूमध्यसागरीय, मगोलियाई और अल्पाइनी नस्लें—रहती थी। अतिम दो प्रकार की नस्लो की तो केवल एक-एक खोपडी मिली है।"[2] ऐसा जान पडता है कि इस क्षेत्र के निवासी अपने अस्तित्व के लिए निरन्तर लडते-भिडते रहने के बजाय न्यूनाधिक रूप से शान्तिपूर्ण जीवन बिताते थे। "जैसाकि सुमेर में होता था, यहा के नगरो के बार-बार विध्वस्त किए जाने या जलाए जाने के साक्ष्य नही मिलते।"[3] आधुनिक हिन्दू धर्म की कुछ बातें "बहुत आदिकाल से चली आ रही है, कदाचित् वे मोहेनजोदडो और हडप्पा के निवासियो द्वारा ईंट से बनाए विशाल नगरो के समय से भी बहुत पहले की हैं।"[4] खुदाई

१ "भारत शेष ससार से विशेषत इस बात में भिन्न है कि उसने दूरस्थ अतीत से जो कुछ उत्तराधिकार में पाया है उसको दृढता से बचाकर अभी तक रख छोडा है।" [डॉडवेल · 'इण्डिया' (१९३६), खण्ड १, पृ० २]।

२ अर्नेस्ट मैके 'द इण्डस सिविलाइज़ेशन' (१९३५), पृ० २००।

३. वही, पृ० १४।

४ वही, पृ० ६६ · तुलना कीजिए—डॉडवेल "हिन्दू सभ्यता इस प्रकार की बच रहनेवाली

में प्राप्त अवशेषो में शिव की या उनके पुरातन आदिरूप की एक प्रतिमा भी हमें मिली है। "भारत में मातृशक्ति की पूजा बहुत प्रारम्भिक काल से होती आ रही है और सम्भवत यह उस समय से प्रचलित है जिस समय सिन्धु-घाटी-सभ्यता के लोगो का इस देश में आगमन भी नही हुआ था। यह बात वृक्ष-पूजा के बारे में भी सही है।... अत्यन्त आदिकालीन समाजो में पशु-पूजा भी प्रचलित थी और भारत में तथा अन्यत्र भी वह पाई जाती है और इतने समय से पाई जाती है कि उसका आरम्भ कब और कहा हुआ, यह खोजना असम्भव है।"[1] हमें कई पालथी मारकर बैठी प्रतिमाए मिली हैं जिनके दायें-बायें आराधक घुटने टेके बैठे हुए हैं, नागो, पीपल वृक्ष, और बैल, हाथी, गैंडा आदि पशुओ की भी प्रतिमाए प्राप्त हुई है। इन पशुओ मे से गैंडा अब सिन्धु-घाटी मे नही मिलता। स्पष्ट है कि उस समय विभिन्न प्रजातिया और धार्मिक मत साथ-साथ रहते थे और उनमे परस्पर सौमनस्य भी था। वे सभी 'जीओ और जीने दो' के दृष्टिकोण को अपनाकर चलते थे।

ऋग्वेद और यजुर्वेद के रचना-काल तक आते-आते हम अपने को पूर्वापेक्षा सुदृढ धरातल पर पाते हैं। हम इन ग्रन्थो मे विभिन्न सम्प्रदायो मे सघर्ष होने और अन्तत उनमे समझौता हो जाने की प्रतिध्वनि पाते हैं, इस युग मे जीवन के दृष्टिकोण और परिस्थिति मे बडी तेजी के साथ परिवर्तन हो रहे थे। जैसाकि ऋग्वेद मे कहा गया है "देखो, प्रकाशो का भी परम प्रकाश चला आ रहा है, नानारूपी जागरण हो रहा है जिसकी कोई सीमा और अन्त नही दिखाई दे रहा।" ईसा से दो हज़ार वर्ष पहले इस पूरे महाद्वीप मे द्रविड़ जाति के लोग फैले हुए थे। उनकी सभ्यता बहुत बढी-चढी थी। वैदिक आर्यों का दासो (दस्युओ) से सघर्ष हुआ था। उनको उन्होंने 'अनास' (नासिकारहित) बताया है। स्पष्ट ही, इस वर्णन से उनके प्रजातीय प्रकार का सकेत मिलता है। वेदो मे लिंग-पूजा का समर्थन नही किया गया है। देवो और असुरो मे सघर्ष होने का कई बार उल्लेख हुआ है।[2] ऋग्वेद मे[3] वरुण और मित्र को 'असुरा आर्या' (श्रेष्ठ असुर) कहा गया है। ऐसा जान पडता है कि इन्द्र की पूजा करनेवाले लोग कुछ-कुछ असस्कृत, घुमक्कड और बर्बर किस्म के लोग थे, जबकि वरुण और मित्र सस्कृति के कुछ ऊचे स्तर से सम्बन्धित लगते हैं। अन्तत देवो ने अपने प्रतिद्वन्द्वी असुरो को भगा दिया।[4] वास्तविकता तो यह है कि वैदिक आर्यो ने द्रविडो को अपने मे खपा लिया। जबकि वेदो मे वर्ण-धर्म का निरूपण किया गया है, तब हम

अन्तिम महान सभ्यता है। सुमेर और मिस्र में जिस प्राचीन ससार का निर्माण हुआ, उसमें इसकी जड़ें मिलती हैं। आज का सनातनी ब्राह्मण 'उर' या मेम्फिस के किसी पुरोहित के साथ अपनी जितनी समानता पा सकता है, उतनी आधुनिक शिक्षित यूरोपीय के साथ नहीं।" ['इण्डिया' (१९३९) खण्ड १, पृ० १]।

१ अर्नेस्ट मैके 'द इण्डस सिविलाइजेशन' (१९३५), पृ० ९७।

२ ऋग्वेद, I, १०८, ६; X, १२४, यजुर्वेद, V, ४, १।

३ VII, ६५, २, अथर्ववेद I, १० में वरुण को 'असुर' बताया गया है। कहा गया है कि वह देवताओं का शासक है। जैमिनीय ब्राह्मण, IV, १५२ भी देखिए।

४. शतपथ ब्राह्मण, XIII, ८, २, १।

पाते हैं कि सामान्य जनता अपने परम्परागत देवताओ—यक्षो और नागो—की ही पूजा करती रही। वैदिक रूढिनिष्ठता और गूढ प्रतीको के माध्यम से अपनी वात कहने की उसकी प्रवृत्ति के पीछे यदि हम देखें तो हम पाएगे कि जनता मे लोकप्रिय विश्वासो, धर्म-मतो और अवतारवादी प्रवृत्ति काफी गहराई मे जड जमाए और विस्तार मे फैली हुई थी। फिर भी, वैदिक धर्म ने अपने से पुराने धर्म-मतो के स्वरूपों और अनुष्ठानों को आत्मसात् कर लिया, उनको अपना अग वना लिया और सुरक्षित रखा। उनको नष्ट करने के वजाय उसने अपनी आवश्यकतानुसार उनमे हेर-फेर कर लिया। वैदिक धर्म ने द्रविडो और भारत के अन्य आदिवासियो के सामाजिक जीवन की इतनी वातें अपने भीतर ग्रहण कर ली कि आज यदि हम चाहे कि मूल आर्य तत्त्वो को उनसे अलग कर लें, तो यह वहुत कठिन है। एक धर्म की वातो ने दूसरे धर्म मे प्रवेश पा लिया और यह अन्तर्भेदन इतना जटिल, इतना सूक्ष्म तथा इतना अनवरत था कि इसका परिणाम यह हुआ कि एक सुस्पष्ट हिन्दू सभ्यता का विकास हुआ जिसे न हम आर्य कह सकते हैं, न द्राविडी और न आदिम। जव से लोगो के मानस-क्षितिज पर वौद्धिकता या चिन्तन-मनन का उदय हुआ तव से विभिन्न धर्मों मे एकता लाने का विचार समाज के नेताओ की कल्पना मे मडराता रहा है।

दूसरे धर्म-मतो को स्वीकार करने की प्रवृत्ति की सैद्धान्तिक व्याख्या 'ऋग्वेद' मे प्रस्तुत की गई है। "सत्य (ईश्वर) एक है, इसे पण्डित लोग अग्नि, यम, मातरिश्वन् आदि विविध नामो से पुकारते हैं।"[1] आगे कहा गया है कि "पुरोहित और कविगण वहुत-सी प्रच्छन्न वास्तविकताओ (सत्यो) को, जो एक ही सत्य के विभिन्न रूप हैं, अपने शव्दो से प्रकट करते हैं।"[2] एक ही सत्य है जिसे लोग भिन्न-भिन्न प्रकार से कहते हैं (वदन्ति) और कल्पना करते हैं (कल्पयन्ति)। उपनिषदो का भी यही दृष्टिकोण है। व्रह्म के एकत्व पर तो जोर दिया गया है, पर उसका अलग-अलग प्रकार से वर्णन करने की अनुमति दी गई है। यह कहा जाता है कि निरपेक्ष सत्य का प्रकाश जव विकृत मानव-प्रकृति से होकर गुज़रता है तव वह भी विखण्डित हो जाता है। व्रह्म के असीम अस्तित्व मे वे सारी सजीव शक्तिया निहित हैं जिनको लोगो ने देवताओ के रूप में पूजा है, ऐसा नही कि वे देवता एक-दूसरे से विलकुल भिन्न अगल-वगल खडे हो, वरन् हर देवता एक पहलू है जो सम्पूर्ण को प्रतिविम्वित करता है। जितने भी देवता हैं, वे सव उसी एक असीम, अनन्त व्रह्म के प्रतीक हैं।

इस उदार दृष्टिकोण को वुद्ध ने भी स्वीकार किया है। एक वार वुद्ध ने एक दृष्टान्त-कथा सुनाई काशी का एक राजा था। एक दिन उसने अपना मन वहलाने के लिए वहुत-से जन्मान्ध भिखारियों को वुलाया और उनसे कहा कि जो कोई एक हाथी का सही-सही विवरण दे सकेगा, उसे पुरस्कृत किया जाएगा। पहला भिखारी जव हाथी को जाचने के लिए चला, तो सयोग से उसका हाथ उसके पैर पर पडा, अत. उसने राजा को वताया कि हाथी वृक्ष के तने के समान होता है, दूसरे भिखारी के हाथ पूछ लगी, उसने कहा कि हाथी तो एक रस्सी की तरह होता है, तीसरे ने हाथी के कान

1. 'ऋग्वेद', i, १६४, ४६। 2. वही, x, ११४।

को जा पकडा और बोला कि हाथी तो ताड के पत्ते के समान होता है, इसी प्रकार उन अन्धो ने अपने-अपने ढग से हाथी का वर्णन किया। सभी अपनी-अपनी बात पर अड गए, उनमें झगडा होने लगा, और यह देखकर राजा का अच्छा दिल-बहलाव हुआ। जो साधारण गुरु होते हैं, वे सत्य के इस या उस पक्ष को ही जान सके होते हैं, और उसीको लेकर आपस में झगडते हैं—केवल एक बुद्ध ही उस पूर्ण सत्य को जान सकते हैं। धर्मशास्त्रीय विषयो पर वाद-विवाद करते समय हम आपस में लडने-झगडने वाले उन अन्धे भिखारियो के समान हो जाते हैं। सत्य का पूर्ण दर्शन करना कठिन है, बुद्ध तो विरले ही लोग होते हैं। अशोक ने अपने आदेश में बौद्ध विचारों को ही वाणी दी है "जो मनुष्य अपने धार्मिक सम्प्रदाय के प्रति अधिक मोह के कारण, अपने सम्प्रदाय के गौरव को बढाने की नीयत से दूसरो के सम्प्रदायो की निन्दा करता है और अपने सम्प्रदाय का सम्मान करता है, वह मनुष्य वास्तव में, इस आचरण से अपने ही सम्प्रदाय को भारी क्षति पहुचाता है।"[1]

चीन में ताओवाद, कन्फ्यूशियसवाद और बौद्ध धर्म—ये तीनो इस खूबी से परस्पर घुल-मिल गए हैं कि उनको एक-दूसरे से अलग-अलग करना सरल नही रह गया है।[2] यह जानते हुए भी कि ताओवाद, कन्फ्यूशियसवाद और बौद्ध धर्म के धर्म-शास्त्र आपस में एक-दूसरे के विपरीत हैं, यदि चीनी लोग इन तीनो धर्मों के मिले-जुले अनुष्ठानो का पालन करते हैं और उनके सिद्धान्तों का समादर करते हैं तथा इससे अपने मन में किसी प्रकार की अशान्ति भी नही आने देते, तो इससे हमे परेशान होने की कोई आवश्यकता नही है, क्योकि पूर्व की तो यह परम्परा रही है। आध्यात्मिक जीवन के एक लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कोई सस्कृत चीनी जब तीन प्रकार के मार्ग अपनाता है, तब उसका यह दृष्टिकोण बिलकुल तर्क-सगत होता है। औसत जापानी बौद्ध मन्दिर और शिन्तो मन्दिर में साथ-साथ पूजा करने जाता है।

'रामायण' और 'महाभारत' महाकाव्यो में हिन्दू-धर्म के प्रसार का वर्णन आया है। यद्यपि उनमें पौराणिक आख्यानो की बुध में इतिहास के तथ्य अस्पष्ट हो गए हैं, तथापि उन महाकाव्यो में एक ऐसे महान युग का चित्रण है जो संघर्ष, प्रवास और सामजस्य का युग था। ऐसे ही उथल-पुथल-पूर्ण युग में से एक ऐसी सभ्यता का विकास

१. बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण अपरिवर्तित रहा है। प्रोफेसर प्रैट वर्षों तक पूर्वीय देशों की यात्रा करने और वहा के साहित्य तथा धर्मों का अध्ययन करने के बाद लिखते हैं "अधिकाश बौद्ध ईसाइयों और ईसाइयत के प्रति मैत्रीभाव रखते हैं। यदि कभी इन दो धर्मों के बीच भयकर और लम्बे युद्ध का अवसर आ जाए तो यही मानना होगा कि उसके लिए ईसाई ही उत्तरदायी हैं। जहा तक बौद्ध धर्म का प्रश्न है, वह अपने इस महान प्रतिद्वन्द्वी धर्म (ईसाइयत) से स्थायी शान्ति के लिए मित्रता की सन्धि करने में बड़ी प्रसन्नता का अनुभव करेगा।" ('द पिल्ग्रिमेज ऑव् बुद्धिज्म', पृष्ठ ७३५—६)।

२. "विद्वान लोग तो कन्फ्यूशियस के अनुयायी थे, चिन्तन-मननशील तपस्वी पर्वतीय मठों में रहकर बुद्ध की उपासना करते थे और सीधी-सादी अज्ञानी जनता ताओवादी धर्म के अनुसार 'स्वर्ग की रानी' तथा ढेर सारे दूसरे देवी-देवताओं की पूजा करती थी, ताकि वह दैवी आपत्तियों से बची रहे" [फिट्जगेराल्ड : 'चाइना' (१९३५), पृष्ठ ५६२]। कन्फ्यूशियस ने अपनेको न तो किसी देवता का समर्थक बताया, न विरोधी। जनता में लोकप्रिय किसी भी देवता को स्वीकार करने और उसे अपने देव-कुल में स्थान देने के लिए ताओवादी सदा प्रस्तुत रहते थे।

हुआ जिसके विचार तो पुराने थे, पर उनको नई समस्याओ के अनुरूप ढाला गया था। भारत की सास्कृतिक विजय का युग जब तक समाप्त हुआ, सभ्यता में जीवन-मूल्यो का भी परिवर्तन हो चुका था। समस्त वातावरण में श्रद्धा और भक्ति की भावना ओतप्रोत हो उठी। ब्रह्म की पूजा नाना नामो एव रूपो मे होने लगी। 'भगवद्‌गीता' के अनुसार, हम भगवान की उपासना चाहे जिस विधि से करें, भगवान तो हमे हमारी भावना के अनुसार प्राप्त होता है, क्योकि जिन रास्तो पर हम उसके लिए भटकते फिरते हैं, वे सारे रास्ते भी तो उसके ही हैं। अर्जुन को कृष्ण ने अपने शरीर म जो विराट दर्शन कराया, उसमे अर्जुन ने ब्रह्म के असीम रूप मे विभिन्न देवी-देवताओ के दर्शन किए थे।

पुराणो मे भी यही परम्परा चलती चली गई है। ब्रह्म तो अनिवार्यत एक है, किन्तु 'विष्णु पुराण' के अनुसार, ब्रह्म सृष्टि करते समय ब्रह्मा का, सृष्टि का पालन-पोषण करते समय विष्णु का और सृष्टि का सहार करते समय शिव का रूप धारण कर लेता है।[1] कहते हैं कि धर्मप्रचारक टॉमस भारत मे ५२ ई० मे आया था। मलाबार के सीरियाई ईसाई उन ईसाइयो से अपनी उत्पत्ति बतलाते हैं जिनको सेंट टॉमस ने ईसाई धर्म मे दीक्षित किया था। मलाबार मे ईसाइयत नेस्टोरियन मिशनरियों के द्वारा प्रचारित हुई, इस धारणा का ये ईसाई प्रतिवाद करते हैं।[2] यूसेबियस (२६४–३४० ई०) अपने ग्रन्थ 'एक्लिजियास्टिकल हिस्ट्री'[3] मे लिखता है कि पैन्टैनॉस को भारत मे क्राइस्ट की शिक्षाओ का उपदेश करने के लिए भेजा गया था, परन्तु उसने वहा पहुचकर पाया कि "मैथ्यू द्वारा कथित इजील तो वहा उसके पहुचने के पूर्व ही प्रचारित किया जा चुका था और वहा के मूल निवासियो को उसका ज्ञान था। वे क्राइस्ट को मानते थे।"[4] कई विद्वानो का यह भी मत है कि इस अश मे 'भारत' का अर्थ दक्षिणी अरब से है। मलाबार मे परम्परा से यह बात प्रचलित है कि चौथी शताब्दी के मध्य मे 'पूर्व के कैथॉलिको ने' एक सौदागर को, जिसका नाम टॉमस था और जो यरूशलम का रहनेवाला था, मलाबार भेजा था। सम्भवत यह टॉमस ही भारत मे ईसाई चर्च का प्रथम सस्थापक था और उसीने सीरियाई रीति-रिवाजों का प्रचलन वहा किया। जब चौथी शताब्दी मे फारस के सम्राट् समैनिद ने ईसाइयो पर निर्दय अत्याचार करने प्रारम्भ किए तब "बहुत से ईसाई, जिनमे बिशप और पादरी भी थे, भागकर भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर अधिक सहिष्णु और उदार भारतीय राजाओ की शरण मे चले गए।"[5] कोट्टायम मे ऐसे ताम्रपत्र-लेख मिले है जिनमे उल्लिखित है कि चू गनोर के राजा ने ईसाइयो को ऐसी सुविधाए प्रदान की थीं जो उच्चतम जाति के लोगो को दी जाती हैं। उसने उन्हे पूजा की पूरी स्वतन्त्रता

१ सृष्टिस्थित्यन्तकरणीं ब्रह्माविष्णुशिवाभिधान् ।
न सज्ञा याति भगवान् एक एव जनार्दन ।

२. "मलाबार की ईसाइयत का उद्भव धर्मप्रचारक टॉमस से हुआ, इसको एक सन्देहास्पद आख्यान ही मानना चाहिए।" [एड्रियन फॉर्टेस्क : 'द लेसर ईस्टर्न चर्चेज' (१९१३), पृष्ठ ३५६]।

३. ५, १०। ४. मैक्रिंडिल : 'ऐन्श्येन्ट इण्डिया' (१९०१), पृष्ठ २१४।

५ एड्रियन फॉर्टेस्क : 'द लेसर ईस्टर्न चर्चेज' (१९१३), पृष्ठ ३५८।

दे रखी थी। त्रावनकोर मे पहला ईसाई गिरजाघर हिन्दू राजा की उदार आर्थिक सहायता से निर्मित हुआ था।

यहूदियो की गोरी और काली दो नस्लें बहुत काल से भारत के दक्षिणी-पश्चिमी समुद्र-तट पर बसी हुई हैं। हिन्दू राजाओ ने राज्यादेश निकालकर उनको पूजन-आराधन की पूरी स्वतन्त्रता दे रखी थी।[1] ईसाइयो और यहूदियो को दिए गए राज्यादेशो की चर्चा करते हुए डॉ० फॉर्टेस्क लिखते हैं· "ये दोनो इस बात के रोचक प्रमाण है कि भारतीय राजा कितने धर्म-सहिष्णु थे।"[2]

कहा जाता है कि शकराचार्य (आठवी शताब्दी) ने छ विभिन्न धर्म-मतो को फिर से स्थापित किया (षण्मतस्थापनाचार्य)। धर्मान्ध व्यक्तियों की दृष्टि मे शकराचार्य या तो पाखण्डी जान पड़ेंगे, या किसी भी धर्म-मत में विश्वास करते नही जान पडेंगे, या उनमे आस्था के गुण का अनिवार्यत अभाव जान पडेगा, क्योकि कुछ लोग यह मानते हैं कि कोई भी आदमी दो या अधिक धर्म-मतो को एक समान वैध नहीं मान सकता। शकराचार्य का विश्वास ऐसे ईश्वर मे नही था जो अपने प्रतिद्वन्द्वियो के अस्तित्व को अस्वीकार करता हो। बाण के 'हर्षचरित' के अनुसार, दिवाकरमित्र के सरक्षण मे जैनो, बौद्धो, भौतिकवादियो और विभिन्न दर्शनशास्त्रो के अनुगामियों तथा नास्तिकतावादी विश्वासो को माननेवालो का एक सम्मेलन हुआ था। युआन च्वाग (ह्वेनसाग) ने वर्णन किया है कि राजा हर्ष ने बुद्ध, सूर्य और शिव की मूर्तियो को प्रतिष्ठापित किया था। हिन्दू धर्म के इतिहास मे यह धार्मिक उदारता और सहिष्णुता की भावना निरन्तर पाई जाती है। बिल्वमगल लिखते है "निस्सन्देह मैं शैव-मतानुयायी हू। इसके विषय मे किसीको शका नही होनी चाहिए और शिव की दृष्टि मे पवित्र, पचाक्षर मत्र (नम शिवाय) के जप मे मेरी उचित श्रद्धा के प्रति भी किसी को सन्देह नही करना चाहिए। फिर भी गोपियो के प्यारे, सुन्दर मुख-मण्डल वाले बाल कृष्ण के चित्र को देखकर मेरे हृदय में आनन्द की हिलोरें उठने लगती हैं।[3] अप्पय दीक्षित कहते हैं "मै ससार के स्वामी शिव और विश्व की चेतना विष्णु मे कोई अन्तर नही पाता। फिर भी, मैं शिव की भक्ति करता हू।"[4]

जरस्तुत मत (पारसी धर्म) के अनुयायियो पर जब मुसलमानो ने अत्याचार

१. एशियाटिक जर्नल, एन० एस०, खण्ड *vi*, पृष्ठ ६-१४।

२. 'द लेसर ईस्टर्न चर्चेज़', पृष्ठ ३६३।

३.
शैवावय न खलु तत्र विचारणीयम्,
पचाक्षरी जपपरा नितरा तथापि,
चेतो मदीयमतसीकुसुमावभासम्,
स्मेराननं स्मरति गोपवधूकिशोरम्।

४
महेश्वरे व जगतामधीश्वरे
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि,
न वस्तुभेद प्रतिपत्तिरस्ति मे
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे।

ब्रह्मा, विष्णु और महेश का एकत्व रहस्यपूर्ण प्रतीक ओउम् के द्वारा व्यक्त किया गया है। 'ओउम्' शब्द में 'अ' विष्णु का, 'उ' शिव का और 'म्' ब्रह्मा का प्रतिनिधित्व करते हैं।

करना आरम्भ किया और उन्हे उनके देश से निकाल बाहर किया, तब उन्होने भारत मे आकर शरण ली। स्थिति यह है कि सारे ससार मे केवल भारत मे ही इस मत के अनुयायी मिलते हैं।[1] कहा जाता है कि सबसे पहले वे सजम मे ७१६ ई० मे आए और वहा उन्होने अग्निदेव का प्रथम मन्दिर वहा के हिन्दू राजा की सहायता से बनवाया। जबकि पारसी लोग इस देश मे शरणार्थियो के रूप मे आए, तब मुसलमान और ईसाई विजेताओ के रूप मे।

हिन्दुओ ने इस्लाम के साथ भी सहिष्णुता ही दिखाई .

> "(कालीकट के) लोग काफिर हैं, फलत मैं [फारस के राजा की ओर से पन्द्रहवी शताब्दी के मध्य मे भेजा गया राजदूत अब्दुल रज्जाक] अपने को शत्रु-देश मे अनुभव करता हू, क्योकि मुसलमान हर उस आदमी को अपना शत्रु समझता है जो कुरान को स्वीकार नही करता। फिर भी मैं स्वीकार करता हू कि लोगो मे काफी सहिष्णुता है, लोग मुझसे अच्छी तरह पेश आते है, उनकी कृपा है मुझपर, हमारी दो मस्जिदें हैं और हम खुलेआम नमाज पढ सकते है।"[2]

यद्यपि इस्लाम और ईसाइयत दोनो धर्मों के लडाकूपन के कारण कभी-कभी हिन्दू धर्म मे प्रतिक्रियास्वरूप उसी तरह की प्रवृत्ति दिखाई देती है, तो भी उसमे सामान्यतया दूसरे धर्मों को सहानुभूति से समझने और उनकी सच्चाई को स्वीकार करने की भावना मिलती है। रामकृष्ण परमहस ने विभिन्न धर्मों के साथ प्रयोग किया, अपने ऊपर सबको जाच कर देखा और यह जानना चाहा कि उनमे कौन-सी स्थायी मूल्य की बातें हैं। उन्होने कुरान की शिक्षाओ के अनुसार ध्यान-मनन किया और उसके धार्मिक अनुष्ठानो का अभ्यास भी किया। उन्होन ईसाई धर्म का भी अध्ययन किया और ईसाई वैरागी की तरह रहकर भी देखा। उन्होने घोषित किया कि बुद्ध, ईसा और कृष्ण ब्रह्म के ही अलग-अलग रूप हैं, पर वे भी ब्रह्म के सम्पूर्ण रूप नही है। रामकृष्ण परमहस के अनुयायी सन्यासी उस प्रत्येक आराधना मे सम्मिलित हो जाते हैं जो शुद्ध और भली होती है। वे कृष्ण, क्राइस्ट और बुद्ध के जन्म-दिवस मनाते हैं। राममोहन राय ने कहा है कि ब्रह्म समाज को जाति और वर्ण, नस्ल और राष्ट्र के किसी भेदभाव के बिना सभी लोगो के लिए प्रार्थना-भवन का काम करना चाहिए। कवीन्द्र रवीन्द्रनाथ ठाकुर के शान्तिनिकेतन के मुख्य द्वार पर यह लेख अकित है "इस स्थान मे न केवल किसी प्रतिमा की पूजा की जाएगी, वरन् किसी भी धर्म से घृणा नही की जाएगी।" गाधीजी कहते हैं "यदि मुझसे कोई हिन्दू-मत की परिभाषा देने के लिए कहे, तो मैं बस यही कहूगा—अहिंसात्मक विधियो से सत्य की

१. "फारसी या पारसी भगोडे काफी कठिनाइया सहने के बाद, लगभग बरबाद हो जाने के बाद, किसी तरह भारत के समुद्री तट पर आ पहुचे। वहा एक हिन्दू राजा ने उन्हें शरण दी और उनके बसने की सुविधा कर दी।" ['हिस्ट्री ऑव् दी पारसीज', लेखक . कराका (१८८४) खण्ड १, पृष्ठ ४१]।

२. मुरे 'डिसकवरीज एण्ड ट्रैवेल्स इन एशिया', खण्ड II, पृष्ठ २०।

शोध करना। कोई आदमी ईश्वर मे विश्वास करे या न करे, फिर भी वह अपनेको हिन्दू कह सकता है। सत्य की कठोर साधना का नाम हिन्दू धर्म है।"[1] हिन्दू धर्म "सत्य का धर्म है। सत्य ही ईश्वर है। ईश्वर के विषय में तो आप एक बार भले कह लें कि वह नही है, पर, सत्य से आप कैसे इन्कार कर सकते हैं ?"[2] उन्होने अभी हाल ही में 'हरिजन' में लिखा था "मै जैसे गीता मे विश्वास करता हू, वैसे ही बाइबिल मे भी। मै अपने धर्म को तो सच्चा मानता ही हू, परन्तु साथ ही यह भी मानता हू कि ससार के सारे महान धर्म भी सच्चे हैं। जब इनमे से किसी धर्म की मखौल उड़ाई जाती है, जैसेकि आजकल उन धर्मों के अनुयायियो के द्वारा ही होता है, तो मुझे इससे चोट पहुचती है।" सच्चे हिन्दू के लिए कदाचित् ही ऐसा कोई स्थान होगा जहा वह चुपचाप ईश्वर की पूजा न कर सके, शायद ही ऐसी कोई प्रार्थना होगी जिसमे वह श्रद्धापूर्वक सम्मिलित न हो सके।

इस सहनशील दृष्टिकोण के कारण स्वय हिन्दू धर्म सभी प्रकारो और सभी स्तरो की धार्मिक उच्चाकाक्षाओ और प्रयत्नो की एक पच्चीकारी बन गया है। हिन्दू धर्म ने मनुष्य की प्रत्येक आवश्यकता के अनुरूप अपनेको ढाल लिया है, मनुष्य ईश्वर की जितने रूपो मे कल्पना कर सकता है, उन रूपो का अपने भीतर समावेश करने की उसने चेष्टा की है और इतना होने पर भी विभिन्न ऐतिहासिक रूपो को उसने ब्रह्म के ही प्रकार, उसीके निस्सरण तथा पक्ष मानकर अपनी एकता बनाए रखी है।

[२]

भारत और हिन्दू धर्म, तथा उसकी शाखा बौद्ध धर्म ने दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता और सहानुभूति के इस दृष्टिकोण को जितने अनवरत रूप से और दृढतापूर्वक अपनाए रखा है, उतना ससार के किसी अन्य देश तथा धर्म ने नही। इस दृष्टिकोण का कारण क्या है ? क्या यह उदारता का परिचायक है या उदासीनता का या नीति का ? गिब्बन का सनकीपन तो प्रसिद्ध ही है "रोमन ससार मे पूजा-आराधना की जितनी विधिया प्रचलित थी, लोग उनमे से सभीको सही समझते थे, दार्शनिक उनमे से सभीको एक-सा गलत समझते थे और न्यायाधीश उन सभीको एकसमान उपयोगी मानते थे।" नास्तिकतावादी जूलियस सीज़र और सशयवादी टाइबेरियस रोमन शिष्ट समाज के अन्यमनस्क दृष्टिकोण का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। आधुनिक आलोचक तो यही कहेंगे कि रोमन समाज के रईस लोग इतने सम्पन्न और समर्थ थे कि उनको किसी दैवी सहायता की आवश्यकता नही जान पडती थी। देवताओ की सहायता की जरूरत तो उन असामियो और दासो को है जिनसे आशा की जाती है कि वे धनियो और शक्तिशालियो के आदेशो का विनीत बनकर पालन करेंगे। कोई टाइ-

१. 'यग इण्डिया', २४ अप्रैल १९२४ ई०।
२. 'कन्टेम्पोरेरी इण्डियन फिलॉसॉफी'—सपादक, सर्वपल्ली राधाकृष्णन् और म्यूरहेट (१९३६), पृष्ठ २१।

वेरियस ही यह कह सकता था "देवता लोग अपना काम देखें।" किन्तु कष्ट और दासता से पीडित जनता, 'जिसके लिए इस ससार मे कोई आशा नही है' को एक दूसरे ससार का आश्वासन मिलना चाहिए जिसपर वह अपनी आशाए लगा सके। धर्म का अविश्वास सामान्य जनता नही करती, वल्कि उच्च वर्ग के लोग ही उसपर अविश्वास करते हैं और उसको भोली-भाली जनता पर थोप देते हैं। इसीको लक्ष्य करके कार्ल-मार्क्स ने कहा था "धर्म आत्माहीन परिस्थितियो की आत्मा है, वह हृदयहीन ससार का हृदय है और सामान्य जनता के लिए अफीम।"[1] यह असख्य दु खी आत्माओ का निराश क्रन्दन है जिनके लिए समस्त सासारिक सुख स्वप्नवत् हैं।

हिन्दू दृष्टिकोण सशयवाद का परिणाम नही है। सशयवाद किसी भी स्थिर सत्य के पास फटकने से पहले ही उसके विषय मे निराशा प्रकट करने लगता है। अधिक से अधिक जो आशा हम कर सकते हैं, वह है सापेक्ष सत्य की, एक अस्थायी उपकल्पना की, हम किसी भी विचार या दृष्टिकोण की पूर्णता और निरपेक्षता का दावा नही कर सकते। जहा कोई भी चीज़ निश्चित न हो, वहा किसी वात का कोई महत्त्व नही होता। जहा दृढ सकल्प की गहराई नही होती, वहा सहिष्णुता लाना वहुत सरल होता है। यदि हम समझते हैं कि हम सभी अज्ञानी हैं, तो हम सभी एक सम्वन्ध-सूत्र मे वधे होगे, भले ही वह सूत्र निराशा का ही क्यो न हो। कुछ आधुनिक सशयवादी, जो धार्मिक विचारो को इच्छाओ की पूर्ति मानते हैं, वे यह भी मानते है कि हमारे आपसी सम्वन्धो का आधार भी हमारी गहरी से गहरी आवश्यकताए ही हैं।

जो मनुष्य आस्थावान होगा, चाहे वह हिन्दू हो या वौद्ध, मुस्लिम हो या ईसाई, उसके जीवन मे निश्चयता होगी, विश्वास का एक सम्वल (धर्म) उसे प्राप्त होगा—फिर भी इन दो युग्मो मे अन्तर है।[2] सस्कृत हिन्दू और वौद्ध पूजा-आराधना के अपने से भिन्न रूपो के प्रति भी सहानुभूति और समादर की भावना रखते हैं, वे आलोचना और तिरस्कार का रुख नही अपनाते। इस मैत्रीपूर्ण सहानुभूति का अर्थ यह नही है कि हिन्दुओ मे अनुभूति और विचार की गहराई कम है। सहानुभूति और सहिष्णुता की भावना अनुभूति और विचार के साथ असगत नही है। हिन्दू मतान्धता को धर्म नही मानता। यह उन लोगो को अधार्मिक या नास्तिक नही समझ लेता जो पूर्णत उसके विचार के समर्थक नही हैं। जव हम किसी वात पर हठधर्मिता

१ 'क्रिटिसिज़्म ऑव् हीगेल्स फ़िलॉसॉफ़ी ऑव् लॉ'।

२ काउन्ट हरमान केसरलिंग लिखते हैं "रूढ़िवादी ईसाई की धारणा यह होती है कि धर्म के सिद्धान्त में ही मोक्ष निहित है। इस धारणा के वशीभूत होकर वह हर उस आदमी को ईसाई वनाने का वीड़ा उठा लेता है जो दूसरे धर्म का अनुयायी होता है और जव तक वह ऐसा कर नहीं लेता तव तक वह उनको घृणा करता है। मुझे आज तक कोई ऐसा हिन्दू नहीं मिला जिसका किसी न किसी धर्म-सिद्धान्त में पूरी तरह विश्वास न हो, परन्तु दूसरी ओर, मुझे एक भी हिन्दू ऐसा नहीं मिला जो किसी विधर्मी को अपने धर्म का अनुयायी वनाना चाहता हो, या जो किसी भी व्यक्ति को उसके अन्धविश्वास के कारण घृणा की दृष्टि से देखता हो।" ['द ट्रैवेल डायरी ऑव् ए फिलोसॉफर' (१९२५), खण्ड १, पृष्ठ २९२]।

प्रकट करने लगते है, तो उसका कारण श्रद्धा-भक्ति नही होती, वरन् दृष्टिकोण की सकीर्णता, कड़ाई और अनुदारता होती है। अशकित विश्वास से पूर्ण होते हुए भी हिन्दू मतावलम्बी कठोर निर्णय से दूर ही रहता है। यह ऐतिहासिक दृष्टि से सत्य नही है कि सत्य का ज्ञान करने की प्रक्रिया मे मनुष्य को काफी असहिष्णु बनने की आवश्यकता होती है।

[३]

पश्चिमी एशिया, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिणी तथा मध्य यूरोप के असख्य लोग रोमन साम्राज्य के अन्तर्गत आ गए थे, किन्तु रोमन साम्राज्य ने उनके विश्वासो और आचारो मे तब तक कोई हस्तक्षेप नही किया जब तक उसे किसी राजनीतिक खतरे की उनसे शका नही हुई। पश्चिमी जगत् मे कई युगो मे सहनशीलता का वातावरण रहा, परन्तु उसका कारण बौद्धिक जिज्ञासा और बहुधा राजनीतिक आवश्यकता होती थी। सस्कृत मन वाले व्यक्तियों का यह गुण होता है कि वे दूसरे लोगो की भावनाओ और विचारो के साथ सहानुभूति रखते हैं। एथेन्सवासियों मे जो विवेक-बुद्धि थी, वह उनके मन के सुसस्कार की सूचक थी। इन्ही एथेनियाई लोगो के विषय मे पेरिक्लीज ने कहा था . "हम दूसरे लोगो की सम्मतियो को प्रसन्नतापूर्वक सुनते हैं और जो लोग हमारे विचारो से सहमत नही होते, उनकी ओर से अपना मुह नही फेर लेते।" यूनानियो को देवताओ और धार्मिक अनुष्ठानो की एक परम्परा विरासत में मिली थी, उसको उन्होने राज्य की स्थिरता के निमित्त स्वीकार कर लिया था। वे लोग दूसरे देवताओ का स्वागत उसी सीमा तक करने के लिए प्रस्तुत रहते थे, जिस सीमा तक राज्य की सुरक्षा पर कोई आच नही आती हो। पीसीस्ट्रेटस 'ओडीसी' मे कहता है . "यह अनजान आदमी भी, जहा तक मैं समझता हू, देवताओ की प्रार्थना करता है, क्योकि सभी मनुष्यो को देवताओ की आवश्यकता होती है।"[१] जेनोफोन कहता है "वही धर्म प्रत्येक मनुष्य के लिए सही और सच्चा धर्म कहा जा सकता है जो अपने ही देश का धर्म हो।"[२] यूनानी मनोवृत्ति ने धार्मिक कर्त्तव्य को स्वीकार किया, किन्तु उसने मनुष्य पर धार्मिक सिद्धान्त लादे नही। परन्तु राजनीतिक पक्ष-पात के कारण कभी-कभी असहिष्णुता के दृश्य दिखाई दे जाते थे। गिब्बन के अनुसार रोमन न्यायाधीशो ने —

> "उन्ही सार्वजनिक पर्वों या त्योहारो को अपना समर्थन दिया जो लोगो के आचरण को मानवीय बनाते हैं। उन्होने शकुन-परीक्षण या भविष्यवाणी की कलाओ को नीति के सुविधाजनक साधनो के रूप मे प्रयोग किया, और उन्होने इस उपयोगी बात को समाज को जोड़ रखनेवाली सबसे मजबूत कड़ी स्वीकार किया कि झूठी गवाही देने या शपथ-भग करने के अपराध के लिए बदला लेनेवाले देवताओ द्वारा निश्चय ही इस जीवन मे या भावी

१. III, ४८। २. 'मेम'. IV, ३, २६।

> जीवन मे दण्ड दिया जाएगा। परन्तु, जबकि वे धर्म के सामान्य लाभो के कायल थे, तब वे इस बात को भी अच्छी तरह समझते थे कि भजन-पूजन की विभिन्न विधिया मनुष्य के लिए समान रूप से कल्याणकर हैं और सबका एक ही प्रयोजन है, वे यह भी मानते थे कि वर्षों के अनुभव और मान्यता के बाद हर देश मे अन्धविश्वास का जो रूप रूढ हो जाता है, वह वहा के जलवायु तथा निवासियो के लिए सबसे अधिक उपयुक्त होता है।"[1]

दूसरी शताब्दी ईस्वी मे एक महान सम्राट ने ईसाइयत पर ईश्वर-प्रेम के कारण अत्याचार नही किया, वरन् राज्य के कारणो से।

२०४ ई० पू० मे रोमन सीनेट ने देवताओ की 'महामाता' की आडम्बरपूर्ण पूजा-अर्चना को, जो फ्राइगिया से रोम मे आई थी, स्वीकृति प्रदान कर दी। आइसिस, मिथ्र, सीबेली से सम्बन्धित रहस्यवादी धर्मों की स्थापना भूमध्यसागर के पूर्वीय भागो मे हुई थी। द्वितीय प्यूनिक युद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद रोम मे यूनानी तत्त्व-दर्शन का प्रभाव अनुभव किया जाने लगा, इसीके परिणामस्वरूप स्टोइकवाद सामने आया। मनुष्य मे ससार की शुद्धबुद्धि का निवास है और यदि एपिक्टेटस के उल्लेखनीय शब्दो मे कहे तो हम सभी 'ईश्वर के अश हैं'। रोमन साम्राज्य मे जैसा धार्मिक आचार प्रचलित था, स्टोइकवादी शिक्षाए उसके उपयुक्त सिद्ध हुईं। यदि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड सार्वभौम शुद्धबुद्धि (विवेक) से अनुप्राणित है, तो इसका प्रत्येक भाग सजीव है और हम विभिन्न धर्म-मतो मे एक ही ब्रह्म की पूजा देख सकते हैं।

> मडौरा के मैक्सिमस ने कहा था "एक ही परब्रह्म परमेश्वर है, वही मानो ईश्वर है और है सबका सर्वशक्तिमान पिता। ईश्वर ने जिस विश्व का निर्माण किया है, उसमे उसने अपनी शक्तियो को भी व्याप्त कर दिया है, और चूकि हम उसके सच्चे नाम से अनजान होते हैं, इसलिए विश्व मे व्याप्त उसकी शक्तियो को ही हम विभिन्न नामो से पूजते है। इस प्रकार होता यह है कि हम ऊपरी तौर से तो ईश्वर के अलग-अलग अशो के प्रति नाना प्रकार से अनुनय-विनय करते दिखाई देते है, परन्तु असल मे हम उसी एक परमेश्वर के पुजारी है जिसमे ये सारे अलग-अलग दिखाई देनेवाले अश एकाकार हो जाते हैं।"[2]

ब्रिटिश सरकार भारत मे किसी भी धार्मिक सम्प्रदाय की भावना को ठेस नही पहुचाना चाहती और जहा तक सम्भव हो सकता है, वह अपने मान्य धर्म (ईसाइयत) को कोई सुविधा या लाभ भी नही पहुचा रही। वह न्याय-मार्ग पर चलने की चेष्टा कर रही है, परन्तु यह नही कहा जा सकता कि उसकी चेष्टाए सदा सफल ही रही हैं। हिन्दू लोगो का दृष्टिकोण किसी राजनीतिक आवश्यकता या स्वार्थ

१. 'डिक्लाइन एण्ड फाल ऑव रोम', ii।
२. एस्टलिन कार्पेण्टर . 'कम्परेटिव रिलीजन' (१९१९), पृष्ठ ३५।

की पूर्ति का प्रयोजन लेकर नही चलता। वह उनके धर्म से सम्बन्धित है, न कि उनकी नीति से।

[४]

हिन्दू लोग अपने विचारो को दूसरो पर थोपने से जो हिचकते हैं, इसका कारण यह नही है कि वे केवल मानवीय अपूर्णता को रियायत देते हैं, या मानवीय दुर्बलता के प्रति उनमे सवेदना तथा मानवीय भूलो के प्रति उनमे सहानुभूति है। यदि लोग अपने छोटे-छोटे सकीर्ण धार्मिक दायरो मे ही अपने को सुरक्षित और सुखी अनुभव करते हैं, तो हमारा यह काम नही है कि हम उन दायरो मे से उन्हे बाहर घसीट लावे, हालाकि हमारे लिए यह आनन्द का विषय है कि हम खुद उन दायरो से बाहर हैं—हिन्दुओ का यह दृष्टिकोण नही है।

[५]

हिन्दू दृष्टिकोण जीवन के एक निश्चित तत्त्वज्ञान पर आधारित है जो यह मानकर चलता है कि धर्म व्यक्ति की निजी साधना का विषय है। धर्म-मतो और सिद्धान्तो का, शब्दो और प्रतीको का महत्त्व केवल साधन के रूप मे है। इनकी उपयोगिता इतनी ही है कि ये बिलकुल एक निजी कार्य के लिए समर्थन देकर आत्मा के विकास मे सहायक बनते हैं। आत्मा एक स्वतन्त्र अस्तित्व है, रूढियो से अपनेको मुक्त करने और सत्य अस्तित्व (ईश्वर) मे प्रविष्ट होने मे ही उसके अस्तित्व की सार्थकता है। आध्यात्मिक जीवन की अरूप विभा मानव-वाणी द्वारा अभिव्यक्त नही की जा सकती। हम ऐसी तरल और विरल हवा मे चलते है कि हमारे चरण-चिह्न दिखाई नही देते। जिसने सत्य अस्तित्व के दर्शन कर लिए है, वह समस्त सकुचितता, सापेक्षता और आकस्मिकता से ऊपर उठ जाता है। जब हम आत्मा मे स्थित होते हैं, तब 'इमिटेशन' के शब्दो मे, हम बहुविध सकल्प-विकल्प से छूट जाते हैं, शास्त्र-प्रमाण से हम बधे नही रहते और धार्मिक सस्कारो एव अनुष्ठानो से हमे कोई सहायता नही मिलती। हम किस नाम से ईश्वर को पुकारते हैं और भजन-पूजन की किस विधि से हम उस तक पहुचने की चेष्टा करते हैं, इनका भी तब अधिक महत्त्व नही रह जाता। कार्ल हीम कहते हैं कि रहस्यवादी जब अपने "चरम भावोन्माद की स्थिति मे होता है तब ईसा के व्यक्तित्व-सम्बन्धी सारे विचार लुप्त हो जाते हैं और आत्मा अकथ ईश्वर के महासागर मे डूब जाती है।"[१] ईश्वर के अस्तित्व के सर्वत्र वर्तमान होने की भावना और अपने अत करण मे उसके निवास की अनुभूति से उत्पन्न आनद के कारण रहस्यवादी यथार्थ जगत् की सारी समस्याओं के प्रति अन्यमनस्क हो जाता है। सान्त मन ईश्वर की अनन्तता के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि सहिष्णुता के रूप मे अर्पित करता है।

१. 'स्पिरिट एण्ड ट्रुथ', पृ० १०६।

ससार के महानतम चिन्तको और साधको ने ब्रह्म का जो अनुभव किया है, उसीके रूप मे हम उसका विशुद्ध बोध पा सकते हैं , यह आध्यात्मिक अनुभव असृप्ट आत्मा के प्रति प्राणी का समर्पण होता है। हम अपने स्वभाववश प्रतीको और प्रतिमाओ का प्रयोग करने लगते हैं। जिस भौतिक वातावरण मे हम रहते हैं, उसीसे हमारी विचारणा और अनुभूति घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहती हैं। हम जो वस्तुए अपनी आखो से देखते हैं, उन्हीके सदर्भ मे हम अदृष्ट सत्य की अन्तर्प्रेरणा को ठोस रूप देने की चेष्टा करते हैं। प्रतीकवाद मानव-जीवन का अत्यावश्यक अग है,[1] स्थान और काल की सीमाओ मे आबद्ध प्राणी कालातीत और स्थानातीत सत्य (ईश्वर) को केवल प्रतीको का सहारा लेकर ही जानने की कोशिश कर सकता है। चाहे हम स्थूल मन्दिरो-मूर्तियो मे आस्था करें या सूक्ष्म विचारो और भावनाओ मे, हम ठोस प्रतीको का ही उपयोग करते हैं, परन्तु प्रतीक कभी भी ब्रह्म के पूर्ण रूप को व्यक्त नही कर सकते । भूत-प्रेत और जादू-टोना आदि मे विश्वास करते समय हम प्रतीकात्मक वस्तुओ का उपयोग करके अपने विश्वासो को भोडे और असस्कृत रूप मे प्रस्तुत करते हैं , यह बात अन्धश्रद्धा के क्षेत्र मे ही नही, वरन् धर्म के उच्चतम स्वरूपो मे भी पाई जाती है। ऊचा से ऊचा प्रतीक भी आखिर प्रतीक ही होता है , प्रतीक एक स्थायी वास्तविकता को जानने का चिह्न मात्र होता है , मनुष्य की धारणा या उसके चित्र से भी बडी होती है वास्तविकता (सत्य), मनुष्य न उसकी ठीक-ठीक अवधारणा कर सकना है, न उमको सही-सही मूर्त कर सकता है। सेंट टॉमस कहते हैं

> "यह तो सब मानते है कि किसी पात्र मे कोई वस्तु उतनी ही ग्रहण हो पाती है जितने की पात्रता या अवकाश उस पात्र मे होता है। तदनुसार, हमारी बुद्धि पर दैवी सार-तत्त्व की पडी हुई छाप कैसी है, यह इस बात पर निर्भर है कि हमारी बुद्धि कैसी है , किन्तु बुद्धि कैसी भी हो, कितनी ही उसमे पात्रता हो, उसमे दैवी सार-तत्त्व पूरी तरह कभी अट ही नही सकता , और बुद्धि तथा दैवी सारतत्त्व के मध्य पूर्ण सादृश्य का अभाव उतने ही रूप ग्रहण कर सकता है जितने रूप दोनो का असादृश्य ग्रहण कर सकता है।"[2]

धार्मिक सिद्धान्तो की पद्धति एक बन्द वृत्त से, जिसकी कम या अधिक परिधि-रेखा उसको खीचनेवाले व्यक्तियो के मानसिक विस्तार के द्वारा निर्धारित होती है, किसी भी रूप मे घटकर नही है। प्रतीक कैसा भी हो, होता तो वह क्षणभगुर और सान्त है, इसलिए उसे अनूठा, निश्चित और निरपेक्ष नही समझा जा सकता।

यद्यपि प्रत्येक सामाजिक समूह के अपने प्रतीक और धार्मिक सस्कार होते हैं,

१ तुलना कीजिए : ह्वाइटहेड् : "ऐसा जान पडता है कि मनुष्य-जाति को एक प्रतीक ढूंढना है जिनके माध्यम से वह अपने-आपको अभिव्यक्त कर सके। वास्तव में, अभिव्यक्ति तो प्रतीकवाद ही है। प्रतीकवाद कोरी कपोल-कल्पना या भ्रष्ट अध पतन नहीं है, वरन् यह मानव-जीवन के ताने-बाने में अनुस्यूत है। भाषा भी प्रतीकवाद के सिवाय और क्या है?" ['सिम्बोलिज्म' (१९२८), पृ० २३]।

२ 'सुम्मा थिओलॉजी', III, क्यू. ६२, ए० १।

प्रत्येक एक आदर्श समाज की अपनी कल्पना रखता है, प्रत्येक का अपना 'ईश्वरीय नगर' होता है जिसके नागरिक उसके सब सदस्य हो सकते है, तथापि हम यह नही कह सकते कि जिन विचारो या सस्कारो या धार्मिक सिद्धान्तो से हम परिचित हैं, वही सर्वाङ्ग पूर्ण हैं और उनके अतिरिक्त कुछ है ही नही। सत्य सदा ही इतना महान होता है कि मनुष्य जितना कुछ अश उसका पाता है उससे बहुत अधिक अपनापा रह जाता है। हम ईश्वर के विषय मे जितना कुछ जानते है, उतना ही वह नही है, वरन् उससे भी बहुत अधिक है। ऋषि या द्रष्टा 'दिव्य अधकार' की चर्चा करते हैं, उनका यह श्रद्धालु सशयवाद उन कुछ मतान्ध व्यक्तियो की उस क्षुद्र अशिष्टता से तो कही अच्छा है जिससे वे दैवी रहस्यो के विषय मे बातें करते हैं। दिव्य सत्य (ईश्वर) क्या है—कैसा है, इसके विषय मे हम कई बौद्धिक प्रयासो से, जो उस दिव्य सत्य के सवर्गीय होते हैं, कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, इन बौद्धिक प्रयासो के वे क्षण ही सफल माने जा सकते हैं जिनमे अवगुण्ठन हट जाता है और हमको ब्रह्म की एक झलक मिल जाती है। काल से कालातीत की ओर जाने के कई मार्ग हैं, उनमे से कोई एक मार्ग हमे अपने लिए चुन लेना चाहिए।

धर्म मे विकास की प्रक्रिया बहुत महत्त्वपूर्ण होती है। हम एक सीमित पक्ष को लेकर चलते है, और यदि हम आस्थापूर्वक उस दिशा मे निरन्तर बढते रहें, तब हम अज्ञेय सत्य तक पहुच जाते हैं। इस कार्य के लिए हम जिस धार्मिक सिद्धान्त को अपनाते हैं और जिस तत्त्वज्ञान को स्वीकार करते है, उसका उस भाषा से, जिसे हम बोलते हैं और उस वस्त्र से जिसे हम पहनते हैं, अधिक महत्त्व नही होता। नीचे हम कुछ धर्म-ग्रन्थो के उद्धरण दे रहे हैं और ऐसे उद्धरण अनेकानेक दिए जा सकते हैं, जिनसे इस तथ्य पर प्रकाश पडेगा

> "पण्डितो ने व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्म को कई नामो से पुकारा है, जैसे विधि, आत्मा, सत्य।"
>
> "साख्य दर्शन को माननेवालो ने इसको 'पुमान्' या 'पुरुष' कहा है; वेदान्तियो ने इसे 'ब्रह्म' कहा है, विज्ञानवादियो ने इसे एकान्त निर्मल 'चेतना' या 'विज्ञान' माना है, शून्यवादियो ने इसे 'शून्य' के रूप मे देखा है, सूर्योपासको ने इसको 'भास्कर' कहा है। उसे 'वक्ता', 'विचारक', 'द्रष्टा', कर्म का 'भोक्ता' और 'कर्त्ता' भी कहा गया है।"
>
> "यह शिवोपासको के लिए 'शिव' है और काल मे आस्था रखनेवालो के लिए 'काल' (समय) है।"[1]

१. ···ऋत आत्मा परब्रह्म सत्य इत्यादिका बुधै',
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य सज्ञा महात्मनः,
य. पुमान् साख्यदृष्टीना ब्रह्म वेदान्तवादिनाम्,
विज्ञानमात्र विज्ञानविदा एकान्तनिर्मलम्,
य शून्यवादिनां शून्यो भासको योऽर्कतेजसाम्,
वक्तामन्ताऋत भोक्ता द्रष्टा कर्त्ता सदैव स,

'भगवद्गीता' मे कहा है .

> "जिस प्रकार बहुत गुणवाला कोई तत्त्व इन्द्रियो की बहुविध क्रियाओ के कारण कई गुना हो जाता है, उसी प्रकार ब्रह्म तो एक ही होता है, पर वह विभिन्न शास्त्रीय परम्पराओ के द्वारा विभिन्न रूपो मे कल्पित किया जाता है।"[1]

धर्मप्राण आत्मा की शान्ति के लिए यह आवश्यक नही है कि उसकी अन्तर्दृष्टि पूर्ण एव दोषरहित हो, वरन् आवश्यक यह है कि उसकी आस्था अडिग हो। हम सर्वज्ञाता नही बन सकते, किन्तु जितना कुछ हम जानें, जो कुछ हमारा विश्वास हो, उसके विषय मे तो हम सन्देह मे नही रह सकते। 'भगवद्गीता' के अनुसार, वे लोग भी जो अन्य देवताओ की पूजा करते हैं, पैतृक देवी-देवताओ को पूजते हैं, प्राकृतिक तत्त्व-शक्तियो की पूजा करते हैं—यदि पूरी आस्था से ऐसा करते हैं, तो उनकी आस्था सर्वथा उचित है, क्योकि ईश्वर अपने आराधक के भावो को पहचानता है और वह जिस भाव से उसे भजता है, उसी भाव को वह स्वीकार करता है। रोमन शतसेनानायक के प्रति ईसा का जो दृष्टिकोण था, उसे भी देखिए "मैंने इतनी अधिक आस्था किसीमे नही देखी, इज़रायल-भर मे नही देखी।" जो कोई व्यक्ति गहनचेतस् होता है, जिसमे पूर्ण आन्तरिक निष्ठा होती है, वह आध्यात्मिक गौरव को अवश्य उपलब्ध करता है। 'लार्जर कैटेसिज्म' मे लूथर इसकी चर्चा करते हुए कहता है—

> "केवल हृदय की आस्था और विश्वास मे ही यह शक्ति है कि वह पत्थर को ईश्वर बना दे या उसे जड प्रतिमा मात्र रहने दे। यदि तुम्हारा विश्वास सही है और नैष्ठिक है, तो तुम्हें सत्य ईश्वर के दर्शन होगे ही—इसके विपरीत यदि तुम्हारी आस्था और विश्वास मिथ्या और भ्रामक हैं, तो तुम्हें सच्चे ईश्वर के दर्शन नही होंगे, क्योकि आस्था और ईश्वर—ये दोनो साथ-साथ चलते हैं और इन दोनो को सयुक्त कर देना चाहिए।"

डेनमार्क के विचारक किर्केगार्द कहते हैं

> "एक ओर तो वह व्यक्ति है जो ईसाइयत के मध्य रहता है, गिरजाघर मे—सच्चे अर्थों मे ईश्वर के घर मे—अपने मन मे ईश्वर के सम्बन्ध मे सही विचार लेकर जाता है और वहा जाकर प्रार्थना करता है—परन्तु सच्ची

पुरुष· साख्यदृष्टीना ईश्वरो योगवादिनाम्,
शिव शशिकलाङ्काना काल. कालैकवादिनाम् ·
('योगवासिष्ठ', III, १, १२;
III, ५, ६, ७, ४, ८, १६)

१. यथेन्द्रियै· पृथग्द्वारै· अर्थो बहुगुणाश्रय· ।
एको नानेयते तद्वद् भगवान् शास्त्रवर्तनभि ॥
(तृतीय अध्याय, ३२, ३३)

आस्था से प्रार्थना नही करता , और दूसरी ओर वह व्यक्ति है जो मूर्तिपूजक काफिरो के देश मे रहता है, वह प्रार्थना करता है, अनन्तता की प्राप्ति के लिए पूर्ण एकाग्र चित्त से भावावेश मे प्रार्थना करता है, हालाकि उसकी आखें एक मूर्ति पर टिकी होती है , तो आप ही बताइए कि सत्य किस स्थान पर अधिक है ? एक व्यक्ति है जो सच्चे मन से, पूरी आस्था से ईश्वर की प्रार्थना करता है, हालाकि वह मूर्ति की पूजा कर रहा होता है , और दूसरा व्यक्ति है जो सच्चे ईश्वर की प्रार्थना मिथ्याभाव से करता है ; हम तो कहेंगे कि वह मूर्ति को न पूजते हुए भी सच्चे अर्थ मे मूर्तिपूजा ही करता होता है ।"[1]

कोई भी धार्मिक पूजा हो, यदि वह निष्ठापूर्ण है, तो वह ब्रह्म की, परमेश्वर की ही पूजा है । परमेश्वर अपनी अगम्य और अलभ्य ऊचाई तक पहुचनेवालो के प्रत्येक प्रयास को सहानुभूति से देखता है, उसमे सहायता पहुचाता है । जिस भावना के साथ हम उसके पास जाते हैं, उसी भावना से वह हमारा स्वागत करता है ।

हिन्दू धर्मावलम्वी नास्तिक तक को अपने धर्म मे सम्मिलित कर लेता है, क्योंकि उसका विश्वास है कि यदि नास्तिक अपनी सत्य-शोध के प्रति निष्ठावान है और सच्चे अर्थ मे उसमे अन्तर्मुखता आ जाती है, तो वह अपनी आस्था की त्रुटि को देर-सवेर समझ ही लेगा । अस्तिवाद और नास्तिवाद एक-दूसरे के कितने ही विपरीत क्यो न जान पड़ें, पर वे केवल ऊपरी बौद्धिक धरातल पर समान रूप से युक्तिसगत जान पडते हैं ।

कोई भी नियम या सिद्धान्त, चाहे जितना व्यापक हो, अपने-आपमे कभी पूर्ण नही होता । उसे तव तक स्वीकार करना होता है जव तक वह अपना उपयोग करनेवालो के लिए आध्यात्मिक जीवन का सही मार्ग वनाता चले । उसका महत्त्व इसमें है कि उसमे कितने सूक्ष्म सकेतात्मक गुण हैं, उसकी शक्ति इसमे है कि वह रहस्यात्मक ईश्वर का कहा तक आह्वान कर सकता है या उसे व्यक्त कर सकता है । यदि हिन्दू धर्म अत्यन्त वचकानी चीजो को भी स्वीकार कर लेता है, तो इसका कारण यह है कि वह उनमे अदृष्ट आत्मा की ओर उन्मुख होने का प्रयत्न पाता है । कोई व्यक्ति कितना धार्मिक है, इसका निर्णय इस वात से नही किया जा सकता कि वह किन धार्मिक सिद्धान्तो को मानता है और कितना तत्त्वज्ञानी है, वल्कि उसके धर्मात्मापन की कसौटी यह है कि वह आत्मा के क्षेत्र मे कितनी महत् उपलव्धिया कर सका है । कौन इस वात से इन्कार कर सकता है कि सुकरात की शान्त, गौरवपूर्ण शहादत का अमर महत्त्व है ? यदि ईसाई धर्म-विरोधी जगत् मे प्रेम और करुणा से परिपूर्ण व्यक्ति उत्पन्न हो सकते हैं तो हम कैसे यह मान लें कि किसी एक धर्म मे ही ससार की सारी सच्चाई और अच्छाई निहित है । ईसाई धर्म का स्तोत्रकार पुकार-पुकार कर कह रहा है "यह है प्रभु का द्वार . न्यायनिष्ठ व्यक्ति इसमे प्रवेश करते हैं ।" विस्मयविमुग्ध सेंट पीटर कहते . "मुझे तो यही सत्य जान पडता है कि ईश्वर व्यक्तियो का आदर नही

१ देखिए : ऐलेन, 'किर्केगार्द' · 'हिज लाइफ एण्ड थॉट' (१९३५), पृष्ठ १४९ ।

करता, परन्तु प्रत्येक राष्ट्र मे ,जो व्यक्ति उससे डरता है और न्यायनिष्ठ होकर कर्म करता है, उसीको ईश्वर स्वीकार करता है।"[1] समेरिया की धार्मिक रीति का दयालु अनुयायी ईसा की इस घोषणा के अनुसार ईश्वर मे विश्वास करता है "जो आदमी ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करता है, वही मेरा भाई, मेरी वहिन और मेरी माता है।" एथेनियाई धर्म-मत मे दण्डाज्ञापूर्ण जो नियम हैं उनसे ठीक विपरीत हैं ईसा द्वारा शिष्यत्व के लिए निर्धारित सरल नियम। धार्मिक मनुष्यो की परख हमे उनकी 'कथनी' से नही, उनकी 'करनी' से करनी चाहिए। अध्यात्मवादी धर्मो, जो जीवन के उर्वर सम्प्रदायो के साथ मनुष्य का सम्बन्ध स्थापित करते है, की जाच भी हम उनके द्वारा व्यक्त किए जानेवाले सिद्धान्तो तथा सम्मतियो से नही कर सकते, वल्कि उन आदतो और व्यवहारो के आधार पर कर सकते हैं जिनकी प्रेरणा उनसे प्राप्त होती है। यदि वे धर्म अपने अनुयायियो को अपनी व्यक्तिवादी प्रवृत्तियो से लडने मे और स्वार्थपरता के खतरो पर कावू पाने मे सहायता करते हैं, तो भले ही उनमे विचारो या भावनाओ की ऊचाई न मिले, परन्तु उनमे सजीवता और शक्ति है, इसका पता हमे चल जाता है।"[1]

जो लोग ईसाई धर्म के अनुयायी नही हैं, किसी इतर धर्म को मानते हैं, परन्तु जिनमे प्रामाणिक रहस्यात्मक अनुभव और आध्यात्मिक जीवन के लक्षण पाए जाते हैं, उनके विषय मे एम० जैक्वीज़ मैरिटैन का कथन है

> "हर चीज हमे इसी निष्कर्ष पर पहुचाती है कि ऐसी वातो का अस्तित्व है, क्योकि हम जानते हैं कि जिन लोगो को विधिवत् वपतिस्मा प्राप्त नही हुई होती, वे ईसाई चर्च के नियमानुसार चर्च के नियमित कार्यो मे भाग नही ले सकते और वे ईसाइयत की विरादरी से एकता के सूत्र मे भी वधे नही होते, इस प्रकार कोई समझ सकता है कि चर्च मनुष्य का जो उद्धार करता है, उससे वे वचित रह जाते होगे, परन्तु नही, वपतिस्मा-सस्कार से अनजान रहकर भी वे उस अलौकिक जीवन के विषय मे, जो चर्च का जीवन-प्राण है, और आत्मा के उस निर्देश के विषय मे जो चर्च का पथ-प्रदर्शन करता है, परिचित हो सकते है, वे अप्रत्यक्ष रूप से क्राइस्ट के चर्च से ही सम्वन्धित होते हैं और

१ साम्स, अध्याय १०, ३४।

१ 'प्रगति' के सम्बन्ध में लिखी मैथ्यू आर्नल्ड की ये पंक्तियां देखिए :

"ओ मनुष्य की सन्तानो! वह अदृष्ट शक्ति,
जिसकी आखें सदा मानवजाति को देखती रहती हैं,
किसी भी धर्म को
जिसको मनुष्य ने कभी खोजा है,
नफरत की निगाह से नहीं देखता।
कौन-सा धर्म है जिसने निर्बलों को उनके प्रच्छन्न पराक्रम की याद नहीं दिलाई?
कौन-सा धर्म है जो मुरझाए दिलों पर दया की शीतल फुहार बनकर नहीं बरसा?
कौन-सा धर्म है जिसने हताश, अपने से हारे हुए मनुष्य को पुकारकर कहा न हो—
'तुझे फिर से नवजीवन पाना है'।"

उनको भगवान की महती, पवित्र करनेवाली कृपा प्राप्त हो चुकी होती है, और इस प्रकार वे भी धर्मशास्त्रीय आस्था तथा सद्‌गुणो से ओतप्रोत हो सकते हैं।"

और फिर,

"क्योकि गडरिया भेडो के पूरे रेवड का नेतृत्व करता है, इसलिए वह उन 'अन्य भेडो' का भी पथ-दर्शक है, जो उसको जाने विना भी उसकी व्याप्ति का, उसकी पूर्णता का अनुभव करती रहती हैं और उसकी आवाज़ को सुने विना भी उसका अनुगमन करती रहती हैं। चूकि ईसाई चर्च को दैवी शक्ति का रहस्य ज्ञात हो चुका है और उसको उस शक्ति का भण्डार प्राप्त हो चुका है, इसलिए वह हमे इस वात की अनुमति देता है कि जिन-जिनमे और जहा-जहा हम उस दैवी शक्ति-स्फुरण को विखरा हुआ पावें, उन-उनका हम आदर करें। जो लोग इस अदृश्य चर्च के सन्त-महात्मा हैं, वे हमे प्रेरित करते हैं कि हम अपने उन दूरवर्ती भाइयो को भी जानें-समझें जो चर्च से अनजान हैं और जो अदृश्य रूप से ही उसके विचार से सम्वन्धित हैं। सेंट जॉन ऑव् क्रॉस हमे इसके योग्य वनाता है कि हम रामकृष्ण परमहस के साथ भी न्याय कर सकें।"

ऐसा कोई भी सिद्धान्त सत्य से पूर्णत रहित नही हो सकता जिसने सदियो से लोगो के मन को प्रभावित किया हो और जिसने मनुष्यो को पवित्र तथा श्रद्धालु जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरणा दी हो। हिन्दू धर्म मे आध्यात्मिक जीवन को अपना लक्ष्य वनाने पर ज़ोर दिया गया है, इसी कारण यह विभिन्न प्रकार की आराधना-विधियो को माननेवालो को अपने आलिंगन मे समेटे रह सका है और इसीने हिन्दुओ को आध्यात्मिक दम्भ और छिछोरपन से वचाया है।

यह दलील दी जाती है कि यह या वह धर्म अधिकतर प्रगति का साधन रहा है, इसलिए उसमे अन्य धर्मों की अपेक्षा उच्चतर सत्य है। उसको श्रेष्ठ प्रकार की सम्यता की शक्ति के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। यह निर्धारित करना कठिन है कि प्रगति और श्रेष्ठता किसे कहा जाए—क्या होने पर कहा जाएगा कि हमने प्रगति की है या हम औरो से श्रेष्ठ हैं। अगर मान लिया जाए कि हम प्रगति और श्रेष्ठता की कसौटी निश्चित कर सकते हैं, तो यह कहना कठिन होगा कि किसी देश या जाति के लोगो की उन्नति उनके अपने कार्य और आचरण के कारण हुई है या धर्म का प्रत्याख्यान करने के कारण।[2] इसमे कोई सन्देह नही कि ईसाइयत यूरोप और अमेरिका

१ 'द डिग्रीज़ ऑव नॉलेज', अंग्रेजी अनुवाद (१९३७), पृष्ठ ३३६, ३३८। तुलना कीजिए: "ग़ैर-ईसाई देशों में जितने भी प्रामाणिक रहस्यवादी धर्म विकसित हुए हैं, उनको उसी एक अतिप्राकृत जीवन का फल समझना चाहिए, जिसके विषय में क्राइस्ट ने अपनी महती उदारता के वशीभूत होकर, उन शुभ सकल्प वाले मनुष्यों को भी वताया है, जो प्रत्यक्षत: उनकी शिष्य-परम्परा में नहीं आते।" (वही, पृष्ठ ३५७)।

२. स्वर्गीय श्री जी० लॉवेस डिकिन्सन ने लिखा है : "पश्चिमी राष्ट्र वास्तव में कभी ईसाई

का धर्म है, और आज उन्हींके हाथो मे ससार के नेतृत्व की वागडोर है, परन्तु क्या यह कहा जा सकता है कि उनकी उन्नति अपने समाज मे ईसाई-सिद्धान्तो का समावेश करने के कारण हुई है ? कई यूरोपीय जातिया ईसाइयत मे दीक्षित हुई, उसके वहुत पहले ही अवीसीनिया (इथोपिया) के निवासियो ने ईसाई धर्म को अगीकार कर लिया था किन्तु अभी हाल तक उन वेचारो को सभ्यता और प्रगति के आशीर्वाद नही मिल पाए थे। कार्यदक्षता एक ऐसा गुण है जिसमे पश्चिम का मुकावला कोई नही कर सकता। इसने कृषि और उद्योगो, आर्थिक कार्यो और राजनीतिक प्रशासन मे कार्यकुशलता वढाने की विधिया खोज निकाली हैं। इसने पूर्वीय देशो में शैक्षणिक सस्थाओ, अस्पतालो और मिशनो की स्थापना करके लोगो को अपनी सदेच्छा, दया और करुणा का सगठित प्रयोग करने का कौशल दिखाया है। पश्चिमी देशो की ओर से गैर-ईसाई ससार मे ऐसे स्त्री और पुरुष भेजे गए हैं जिन्हे अपने कार्यों के लिए विशेष प्रशिक्षण दिया गया है। इन मिशनरियो का मुख्य कार्य तो ईसाई धर्म का प्रचार करना है, परन्तु मानव-जीवन के कष्टो, दु खो को कम करना तथा जीवन की भौतिक दशाओ को उन्नत करना भी उनका कर्त्तव्य है। परन्तु, इस कार्यदक्षता को हम क्या धर्म की अभिव्यक्ति मानें ? क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जाएगा कि चूकि हम सैन्य-व्यवस्था मे वहुत दक्ष हैं, इसलिए हमारा धर्म भी सर्वोत्तम है ? अथवा क्या हमे पैट्रियार्क जैकव के नीति-वचन को अपनाना है "यदि प्रभु मुझे खाने के लिए भोजन और पहनने के लिए वस्त्राभूषण देगा, तभी वह प्रभु मेरा ईश्वर वन सकेगा।" क्या ईश्वर हमारी आवश्यकताओ को पूर्ण करने का एक साधन-मात्र है ? 'न्यू टेस्टामेट' हमे वतलाता है कि ईश्वर और कुवेर (धन के देवता) की सेवा साथ-साथ करना सम्भव नही है, और इसपर भी हमसे यह कहा जाता है कि भौतिक समृद्धि सफलता की मुख्य कसौटी है, हमे यह मानने को कहा जाता है कि 'सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ति'। धनी लोग कल्पना करते है कि वे ईश्वर की अनुकम्पा से धनी हैं, दूसरी ओर गरीवी को नैतिक भ्रष्टाचार और पाप समझा जाता है। यदि हम सासारिक लाभो की दृष्टि से धर्म का समर्थन करते हैं, तो हम धर्म की सच्ची भावना को नही समझते। यह जो अनवरत घूसखोरी चल रही है, उसकी धर्म से क्या समानता ? धर्म का लक्ष्य तो आत्मा की रक्षा करना है, भले ही इसके लिए हमे ससार को खो देना पडे। आध्यात्मिक लाभो को ससार के चलन के साथ भ्रमित नही कर देना चाहिए। प्लॉटिनस ने वडी वुद्धिमत्ता की वात कही है "यदि कोई आदमी अच्छा जीवन विताने की शर्त के रूप मे कोई ऐसी चीज चाहता है जो उसके वूते के वाहर की हो, तो यह मानना होगा कि वह आदमी अच्छे जीवन का इच्छुक नहीं है।" इतिहास के विद्यार्थी के नाते, हम महान साम्राज्यो और उनके प्रासादो तथा पिरामिडों की प्रशसा करते हैं। जव वेवीलोन, नीनेवेह, एथेन्स और रोम अपने उत्कर्ष के चरम शिखर पर थे, तव कौन-सी चीज उनसे अधिक चिरस्थायी, अधिक वास्तविक और अधिक

नहीं रहे।" ['एसे ऑन द सिविलाइजेशन्स ऑव् इण्डिया, चाइना एण्ड जापान' (१९१४), पृष्ठ १५]।

प्रभावुक जान पड़ी होगी ? परन्तु आज कहा है वे ? एक बात और भी है कि शताब्दियो पूर्व ससार के प्रभावशाली व्यक्ति दूसरे देवताओ की पूजा करते थे। यदि देवतापूजक यूनान महान था, तो इसका अर्थ क्या यह हुआ कि ओलिम्पस के देवता पूजार्ह थे ? हमे स्पष्टतया यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि किसी धर्म की दक्षता की जाच इस बात से होती है कि उसमे अपने अनुयायियो मे अडिग विश्वास, आन्तरिक शान्ति, सद्भावना, पडोसी के प्रति प्रेम, सभी प्राणियो के प्रति दया, निरकुश इच्छाओ का विनाश और आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के लिए उच्चाकाक्षा आदि गुणों को विकसित करने की क्षमता है या नही, और हमारे पास कोई भी ऐसे विश्वसनीय आकडे नही हैं जिनसे हमे पता चल सके कि ये गुण कार्यदक्ष राष्ट्रो मे ही अधिक पाए जाते हैं।[1]

यदि हममे ईमानदारी हो, तो हम स्वीकार कर लेंगे कि हिन्दू, बौद्ध और ईसाई समाज—जिस रूप मे वे इस समय हैं—मे कई दुर्गुण हैं और इनमे से कोई भी सतोपप्रद नही समझा जा सकता। पर, हम यह सोचकर अपनेको धोखे मे रखते हैं कि हमारे समाज के दोष तो परिधीय हैं, जबकि दूसरे समाजो के दोष उनके धर्मों मे केन्द्रीय है। अगर दोष परिधीय ही हो, परिवेश से सम्बन्ध रखते हो, तो सिद्धान्तो का कडाई से पालन करके उनको दूर किया जा सकता है, किन्तु दोष यदि किसी समाज मे केन्द्रीय बन गए हो, उसकी बुनियादी कमी हो गए हो, तो उनको केवल केन्द्रीय सिद्धान्तो को त्याग कर ही ठीक किया जा सकता है। "अगर ईसाइयत केवल अपने प्रति भी सच्ची होती, तो वह ससार का कायापलट कर सकती थी, जब तक हिन्दू धर्म अपने प्रति शानदार ढग से अनिष्ठावान ही न हो, जैसाकि कोई भी व्यक्ति आशा करेगा कि वह होगा, उसके ससार का आखिर तक परित्राण हुए बिना ही रह जाएगा।"[2] हम अपनी सम्मतियो की सत्यता के विषय मे कितने सुनिश्चित होते है। अपनी निर्दोषता के प्रति विश्वास रखने से बढकर कोई दूसरा बुरा पूर्वाग्रह नही है।

१. श्री बैबिट लिखते हैं "प्राचीनी आलेखों का अध्ययन करते समय हमें यह प्रतीति हुए बिना नहीं रहती कि बुद्ध और उनके कई आरम्भिक अनुयायी केवल शाब्दिक रूप से ही नहीं, वरन् वास्तविक रूप से साधु पुरुष थे। यदि सचमुच ही मुझे अपनी सम्मति देनी हो, तो मैं अपनी ओर से भूल-चूक हो जाने और इस प्रकार की तुलनाओं में सन्तुलन रखने की विकट कठिनाई का पूरा-पूरा अहसास करते हुए भी, यही कहूंगा कि बौद्ध धर्म ने भी उतने ही सन्तों को पैदा किया जितनों को ईसाइयत ने, फिर भी ईसाइयत में असहिष्णुता और मतान्धता का जितना बोलबाला रहा है, उतना बौद्ध धर्म में नहीं, इस कारण उसकी अपेक्षाकृत कम क्षति हुई है।" ['ऑन बींग क्रीएटिव' (१९३२), पृ० *xxxiii*]। तुलना कीजिए सर चार्ल्स ईलियट से, जो इस बात की पुष्टि करते हैं कि 'स्पष्ट ही यूरोप की यह बेहूदगी है कि वह मानवता और सभ्यता के बारे में शिक्षा देने का सारा ठेका अपने ऊपर ही ले लेता है।' वह लिखते हैं : "यदि यूरोपीय लोग एशियाइयों से किसी क्षेत्र में श्रेष्ठ हैं, तो वे क्षेत्र हैं : व्यावहारिक विज्ञान, अर्थ-प्रबन्ध और प्रशासन; तत्त्वज्ञान या कला के क्षेत्र में तो एशियाई ही यूरोपियनों से बढे-चढे हैं। सगठन और शासन करने की शक्ति यूरोपीय लोगों की देन है, अन्य मामलों में उनकी श्रेष्ठता का दावा कोरा काल्पनिक है।" ['हिन्दूइज्म एण्ड बुद्धिज्म', खण्ड १ (१९२१), पृ० *xcvi* और *xcviii*]।

२. मैकनिकोल द्वारा लिखित 'इज क्रिश्चियैनिटी यूनीक?' (१९३६), पृ० ५२। वह लिखते

दुर्भाग्य से, ईसाई धर्म ने 'ईर्ष्यालु ईश्वर' की सामी धार्मिक मान्यता को विरासत मे प्राप्त किया, जिसमे क्राइस्ट को ही 'ईश्वर का एकमात्र औरस पुत्र' माना गया, इसलिए वह क्राइस्ट के किसी प्रतिद्वन्द्वी को ईश्वर के सिंहासन के पास बैठा हुआ नही सहन कर सकता था।[1] ईसाइयत के आगमन के पूर्व यूरोप मे उदार मानवतावाद का प्रसार था, परन्तु अपने इस मानवतावाद के बावजूद यूरोप ने ईसाई धर्म को स्वीकार किया, साथ ही उसने ईसाइयत की भयकर धार्मिक असहिष्णुता की भावना को भी अगीकार कर लिया। असहिष्णुता की यह प्रवृत्ति उन धर्मों मे आए बिना नही रहती—एक प्रकार से यह स्वाभाविक परिणाम होता है—जो यह विश्वास करते हैं कि 'जो सत्य था वह सदा-सदा के लिए सन्तो को सौंप दिया गया।' जब किसी दृढ विश्वास मे सशोधन या विकास की गुजाइश नही रह जाती, तब मतान्धता, हठधर्मिता, स्वेच्छाचारिता, अतिययार्थता और रक्त-पिपासा के रूप मे उसका सरलता से अध-पतन होने लगता है। स्वतत्र चिंतन के नाम से इसकी रूह कापती है और रूढिवादिता से किसी भी तरह हटने की प्रवृत्तियो को यह बलात् दबा देता है। जिन धार्मिक सिद्धान्तो का विकास रुद्ध हो गया है, उनके विरुद्ध जो भी चीज होती है, उसे अधर्म:

है "दक्षिण भारत के पैरिया जाति के शूद्रों पर होनेवाले अत्याचारों से अधिक घृणास्पद कार्य ईसाई राष्ट्रों ने किया है—और किया है ईसाइयत के नाम पर। परन्तु यदि उसकी यह कहकर पुष्टि की जाए कि वह तो हिन्दू धर्म की भावना की फैली हुई बेल है, जैसीकि वह वस्तु होती है जो प्रकृत्या जीवन को महत्त्वहीन बना देती है और उसके उत्स को ही विपाक्त कर देती है, जबकि दूसरी ओर ईसाइयों ने जो भद्दी और बुरी चीजें तैयार की हैं, उन्होंने उनके धर्म के सारे प्रयोजन को ही नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है और धर्म के लिए एक चुनौती पैदा कर दी है, तो इन दोनों प्रकार के धर्मों के बीच में चुनाव करने का वस्तुत. अर्थ होगा मिथ्या और सत्य के मध्य चुनाव करना, जीवन को समृद्ध करनेवाले मूल्यों को अस्वीकार करनेवाले धम तथा उनको सुरक्षित रखनेवाले धर्म के बीच चुनाव करना।" (पृ० ६७)।

डॉ० मैकनिकोल ने ईसाइयत की शिक्षाओं और उसके यथार्थ आचरण में—प्रोफेसर एच० फिंक के शब्दों में इंजील और ईसाइयत में—अन्तर करने की चेष्टा की है। वह लिखते हैं "दूसरे धर्म हमारे धर्म की अपेक्षा इतने रूपों में श्रेष्ठ हैं कि हमारा सिर लज्जा से झुक जाता है। उन धर्मों में गहरी धार्मिक निष्ठा, अपनी धार्मिक आस्था के लिए स्वेच्छया बलिदान करने की भावना, भद्र जीवन, समाज में हार्दिक सयम तथा अनुशासन के इतने अधिक उदाहरण मिलते हैं कि हम ईसाई तो उनको देख-सुनकर अवाक् रह जाते हैं। हमारी दलीलें कोई काम नहीं आतीं, क्योंकि हमारे धर्म में जो उदाहरण मिलते हैं वे अपने सच्चे रग-रूप में प्रकट होने पर मनुष्य के वृथा प्रयत्न जान पड़ते हैं, वे किसीको प्रभावित करने में असमर्थ हैं। यह असफलता, जो एक अनुभवसिद्ध तथ्य है, निस्सन्देह यह प्रकट कर देती है कि इंजील और ईसाइयत में सैद्धान्तिक दृष्टि से अन्तर होने की उपर्युक्त बात नही है।" ['द गास्पेल, क्रिश्चियैनिटी एण्ड अदर फेथ्स' (१९३८), पृ० ५७]। यदि ईसाइयत इंजील से भिन्न हो गई है, तो क्या अन्य धर्म अपने आदर्शों से अलग नहीं हट गए होंगे? यदि दूसरे धर्म ऐसे आध्यात्मिक गुणों का विकास करने में सक्षम हैं 'जो हम ईसाइयों को अवाक् बना देते हैं', तो उनको उखाड़ फेंकने की क्या कोई आवश्यकता है?

१ "हम या आकाश का कोई देवदूत यदि किसी ऐसे इंजील का उपदेश करने लगे, जो हमारे उपदिष्ट इंजील से भिन्न हो, तो उसे अभिशप्त हो जाने देना चाहिए।" "किसी भी एक नाम में मोक्ष प्रदान करने की शक्ति नहीं है, क्योंकि भूतल पर कोई ऐसा नाम नहीं है जो जनता में लोकप्रिय भी हो और जिसका सहारा लेकर हम भवसागर से भी पार उतर जाए।"

शास्त्रीय और इसीलिए मिथ्या करार दे दिया जाता है। विकास को भल माना जाता है और लकीर के फकीर बने रहने को कर्त्तव्य। प्राचीन अज्ञानता को दैवीशक्ति द्वारा स्फुरित सत्य कहकर उसको धार्मिक समर्थन प्रदान किया जाता है। मतान्धता एक रोग है जो मानव स्वतन्त्रता और प्रगति का बहुत अपकार करता है, चाहे यह रोग धर्म, राजनीति या सामाजिक विचारणा मे किसी भी क्षेत्र मे क्यो न हो। रूस मे रहनेवाले गैर-कम्युनिस्ट, इटली मे रहनेवाले गैर-फासिस्त और जर्मनी मे रहनेवाले यहूदियो तथा सोशलिस्टो के साथ उसी भावना के साथ व्यवहार होता है जिस भावना से रूढिवादी चर्च ईसाई धर्म के रूढिगत सिद्धान्तो को न माननेवाले 'डिसेन्टर्स' और 'नॉन कन्फर्मिस्ट्स' के साथ व्यवहार करते थे।[1]

आधुनिक उत्पीडक, जो धर्म को जड से उखाड फेंकने की चेष्टा कर रहे हैं, जैसाकि रूस मे हो रहा है, या इसकी प्रकृति को बदलने की कोशिश कर रहे हैं, जैसा कि जर्मनी मे वे पुराने घिसे-पिटे दिखावटी तर्कों की पुनरावृत्ति कर रहे हैं, जिनको बहुत समय नही हुआ कि ईसाइयत मे काफी समर्थन प्राप्त था।[2] पन्द्रह सौ वर्षों से भी अधिक समय तक ईसाई लोग उन लोगो पर अत्याचार करने के लिए हरदम तैयार रहे हैं, जो लोग उनके एक विशेष प्रकार के मुहर-छाप वाले धर्म को मानने मे इन्कार करते थे। वे होड लगाकर लडाकू भावना

१. एक प्रकार की कट्टरपन्थिता की स्थापना करनेवाले ऐथेनेसियस के विषय में कहते हुए डॉ० स्टैनले लिखते हैं : "यह एक ऐसा शब्द है जो कुछ हद तक, सकीर्णता और जब्ता, कदाचित् बुद्धि की कठोरता और भावना की निर्जीवता कभी-कभी विषाक्त विद्वेष को भी प्रकट करता है। एरियनों के विरुद्ध उसकी कटूक्तियों से यह सिद्ध हो जाता है कि किस सीमा तक एक वीरात्मा पुरुष भी दलगत भावना और अपने युग की हिंसात्मक उग्रता से पथभ्रष्ट हो सकता है। उनके लिए जिन विशेषणों का उसने खुलकर प्रयोग किया है, उनके कुछ नमूने ये हैं : शैतान, क्राइस्ट-विरोधी, दीवाने, यहूदी, बहुदेवपूजक, नास्तिक, कुत्ते, भेड़िये, शेर, खरगोश, गिरगिट, जलव्याल, ईल, मसीछेपी, पिस्सू, गुबरैले, जोंकें आदि। कुछ ऐसे मामले भी हो सकते हैं जब ऐसी भाषा का प्रयोग उचित कहा जा सके, किन्तु सामान्यतः और इसके प्रयोक्ता के प्रति पूर्ण समादर की भावना रखते हुए, हम वाद-विवाद की इस शैली के विरुद्ध चेतावनी ही देंगे, इसे उदाहरण के रूप में प्रयोग करने के लिए नहीं कहेंगे।" ['लेक्चर्स ऑन द हिस्ट्री ऑव् द ईस्टर्न चर्च'—लेखक ए० पी० स्टैनले (१८६२), पृष्ठ २४६-७]।

२. फल्जेन्टियस (५०० ई०) कहता है कि "बिना रचमात्र सन्देह के, सभी यहूदी, काफिर और सम्प्रदायवादी नरक की चिरन्तन आग में झोंके जाएंगे।" शिष्ट सेंट लुई तक यह कह सके थे : "किसी झगडालू यहूदी को एक साधारण आदमी सबसे अच्छा उत्तर यही दे सकता है कि जहा तक जा सके सारी तलवार वह उसके भीतर घुसेड दे।" लूथर ने जब यह सुना कि स्विस सुधारक ने ऐरिस्टीडीज़, सुकरात और कैटो जैसे 'सन्त-स्वभावी, वीर, निष्ठावान और चरित्रवान लोगों की सभा के रूप में' स्वर्ग का चित्रण किया है तब उसे ज़्विंगली के मोक्ष के बारे में निराशा हुई। मैकाले कैथॉलिक सिद्धान्त के विषय में इन शब्दों में बतलाता है : "मैं सही हूं और तुम गलती पर। जब तुम मुझसे अधिक बलवान होओ, तो तुम्हें मेरी बातें सहन करनी चाहिए, क्योंकि यह तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम सत्य को सहन करो : किन्तु जब मैं तुमसे अधिक बलवान होऊं, तो मैं तुमपर अत्याचार करूंगा, क्योंकि गलती करनेवाले व्यक्ति को उत्पीड़ित करना मेरा कर्त्तव्य है।" विश्वयुद्ध (प्रथम) में सेना के एक पादरी ने अपने ही समकक्ष पद वाले एक दूसरे पादरी से जो कहा था, उसकी याद यहां आ जाती है; उसने कहा था : "मैं और आप दोनों एक ही 'स्वामी' की सेवा कर रहे हैं, आप अपने ढंग से कर रहे हैं, और मैं उस ढंग से जो ढंग 'स्वामी' को प्रिय है।"

से अनास्तिक रूस के विरुद्ध उसी प्रकार का धर्म-युद्ध छेडने के लिए तैयार हैं जैसा युद्ध बारहवीं शताब्दी मे एकेश्वरवादी इस्लाम के विरुद्ध उन्होंने छेडा था। अगर बोलशेविक लोग (रूसी साम्यवादी) जिस चीज़ को सत्य समझते है, उसके हित में वैसे ही उपाय काम लाते है, तो हम उनको दोष नही दे सकते। हम यह कहने के अधिकारी नही रह जाते कि हमारा आचरण जबकि एक तत्त्वज्ञान पर आधारित है, तब उनमे मतान्धता या हठधर्मिता की सनक है। यदि हम श्रेष्ठतम सत्य के ठेकेदार बनकर, उसके नाम पर अत्याचार और उत्पीडन का समर्थन करते हैं तब दूसरो को भी तो अधिकार है कि वे नास्तिकतावाद के हित मे अन्य धर्मो को उत्पीडित करें—हम किस तर्क के आधार पर उनके कार्यों पर आपत्ति कर सकते हैं? सच्ची बात तो यह है कि शक्ति का, हिंसा का सहारा लेकर कोई भी सिद्धान्त दृढतर नही होता और न कोई सत्य अधिक सत्य बन जाता है। बिशप बार्नेस मामले की जड तक पहुच जाते हैं, जब वे कहते है .

> "इसके बावजूद कि धार्मिक अत्याचार के हज़ारो मामलो को 'ओल्ड टेस्टामेंट' के आधार पर न्यायोचित ठहराया जा सकता है, बिना इसका विचार किए कि मनुष्य की गहनतम धर्मनिष्ठा की यह स्वाभाविक उपज हो सकता है, भले ही यह सत्य हो कि कान्स्टैंनटाइन के समय से ही ईसाई चर्च की प्रत्येक शाखा द्वारा इसका व्यवहार किया गया है, नरम से नरम रूप मे भी धार्मिक उत्पीडन उचित नही है, यह भूल तो है ही, अपराध भी है। भूल तो वह यो है, क्योकि वह कभी सफल नही होता।[1] अपराध वह इसलिए है, क्योंकि पुण्य के नाम पर आप मानव-जाति की अधम लालसाओ को खुल खेलने की छूट दे देते है।"[2]

हमारे आध्यात्मिक अस्तित्व को इतिहास और भूगोल, देश और काल ने प्रभावित किया है। विचार शून्य मे जन्म नही लेते। जिस प्रकार एक विशेष प्रकार के भौगोलिक क्षेत्र के पेड-पौधो तथा पशुओ पर वहा की भौतिक दशाओ, मिट्टी, जलवायु इत्यादि का प्रभाव पडता है, उसी प्रकार विचारो को सोचनेवाला मन जिस ढग का होता है उसी ढग मे विचारो का विकास भी ढल जाता है। आखिर, अपने धर्म या राष्ट्र के प्रति हमारा जो कर्त्तव्य होता है, वह हमारी इच्छा या हमारे चाहने न चाहने का प्रश्न नही होता, वरन् वह एक अन्ध-भाग्य या यूथ-मनोवृत्ति की छूत होता

१ उत्पीडन सदा असफल नहीं होता। इसीके कारण ईसाइयत को उत्तरी अफ्रीका से अपना बोरिया-बिस्तर गोल कर भागना पड़ा। उत्पीडन के द्वारा अल्बीजेन्सीज़ को कुचल दिया गया। इन्होंने स्पेन मे प्रोटेस्टैंट मत का नाम-निशान मिटा दिया। लेकी हमसे कहता है कि फ्रांस में कैथॉलिक मत का जो प्रचार हुआ उसका कारण मुख्यत सेंट बार्थोलोम्यू दिवस का हत्याकाण्ड और नान्तीज़ के धर्मलेख का मन्सूखी थी। ईसाई-विरोधी धर्मों ने ईसाई धर्म के लिए जो खतरा पैदा कर दिया था, उससे ईसाइयत ने अपना बचाव तलवार के बल से किया, उसीसे अपनी शक्ति बढ़ाई और उसीके बल से हजारों आदमियों को ईसाई बना डाला।

२. 'शुड सच ए फेथ ऑफेण्ड' ?, पृष्ठ xxvii।

है।[1] यदि हिन्दू गगा के तट पर वेद-मत्रो का पाठ करता है, यदि चीनी साहित्यिक झाकियो के सग्रहो (ऐनालेक्ट्स) का चिन्तन-मनन करते हैं, यदि जापानी बुद्ध की प्रतिमा की पूजा करते हैं, यदि यूरोपीय लोग क्राइस्ट की मध्यस्थता पर विश्वास करते हैं, यदि अरब लोग मस्जिदो मे कुरान पढते हैं, और यदि अफ्रीकी लोग भूत-प्रेतो या जड़ वस्तुओ के आगे सिर झुकाते हैं, तो इनमे से हरेक के पास अपने विशेष प्रकार के *विश्वास के लिए ठीक एक जैसे ही कारण हैं।* आस्था का प्रत्येक रूप अपने अनुयायियो के आन्तरिक दृढ विश्वास और भक्ति को ठीक एक ही प्रकार से अनुप्राणित करता है। इस विधि से ईश्वर का गहनतम बोध उन्हें हो जाता है और ईश्वर की शक्ति पूर्ण रूप से उनमे स्फुरित हो जाती है। हर धर्म अपनी वैधता का दावा इस आधार पर करता है कि केवल उसीके माध्यम से उसके अनुयायी वह सब बन सके हैं जो कि वे हैं। वे उसके वातावरण में रहकर बड़े हुए हैं और वह उनके अस्तित्व का एक अग बन गया है।

> "धर्म ईश्वर का चेहरा है जो हमारे सामने अनावृत रूप में प्रकट होता है, यह वह रीति है जिससे, हम जैसे भी हैं वैसे रहते हुए, ईश्वर की दिव्य शक्ति के स्फुरण को स्वीकार करते हैं और उसके अनुसार अपने जीवन मे परिवर्तन करते है। यह हमारे लिए अनिवार्य और अपरिहार्य है और इससे हमे मोक्ष प्राप्त होता है। यह हमारे लिए अन्तिम सम्बल है और इसके लिए कोई शर्त हम नही लगा सकते, क्योंकि इसके सिवाय हमारे पास दूसरा चारा नही है, और क्योकि हमारे पास जो कुछ है, उसमे हम ईश्वर की वाणी के बलाघातो को पहचान सकते हैं। परन्तु, इससे इस बात की सम्भावना का कही निषेध नही होता कि बिलकुल भिन्न सास्कृतिक दशाओ मे रहते हुए दूसरे प्रजातीय समूहो के लोग दिव्य जीवन के साथ अपना सम्पर्क बिलकुल दूसरे ही प्रकार से अनुभव कर सकते हैं, और उनका अपना एक धर्म भी हो सकता है जो उनके साथ-साथ विकसित हुआ है और जिससे वे अपने को तब तक विलग नही कर सकते जब तक वे अपने वर्तमान रूप मे बने रहते हैं। और उनको इस बात का भी अधिकार है कि वे उस धर्म को पूरी निष्ठा और भक्ति के

१. तुलना कीजिए - चित्रकार जैन स्टाइका को लिखा गया टॉल्सटॉय का पत्र जो 'ले थिओसॉफी' (६ जनवरी १९११) में पुनर्मुद्रित हुआ : "ईसा का सिद्धान्त मेरी दृष्टि में उन बहुत से सुन्दर सिद्धान्तों में से एक है जिनको हमने प्राचीन मिस्र, इजरायल, हिन्दुस्तान, चीन और यूनान से प्राप्त किया है। ईसा द्वारा उपदिष्ट जो दो सिद्धान्त हैं - पहला, ईश्वर से अर्थात् निरपेक्ष पूर्णता मे प्रेम करना, और दूसरा, अपने पड़ोसी से प्रेम करना अर्थात् बिना किसी भेद-भाव के सभी लोगों को प्यार करना - उनका उपदेश ससार के सभी महान सन्तों ने किया है। ईसाइयत के लिए मेरे मन में कोई पक्ष-पात नहीं है। यदि मैं विशेषतः ईसा की शिक्षाओं के प्रति आकर्षित हुआ हू तो इसके ये कारण हैं : (१) मैं ईसाई माता-पिता मे पैदा हुआ और ईसाइयों में ही रहकर बड़ा हुआ। और (२) ईसाई धर्म-संस्थाओं (चर्चों) ने जो चकित कर देनेवाला मिथ्याचार फैला रखा है, उसमें से शुद्ध सिद्धान्तों को छाटने में मुझे बहुत आध्यात्मिक आनन्द प्राप्त हुआ है।"

साथ अपने लिए पूर्णत वैध मान सकते हैं और इस पूर्ण वैधता को अपनी धार्मिक भावना के तकाज़ो के अनुसार अभिव्यक्ति प्रदान कर सकते हैं।"[1]

अलग-अलग प्रकार के धर्म-मत स्वरूपहीन सत्य के ऐतिहासिक स्वरूप हैं। जबकि खज़ाना एक और अभेद्य है, तब उसको ग्रहण करनेवाला मृत्तिका पात्र अपने समय और वातावरण का स्वरूप और रग अपना लेता है। प्रत्येक ऐतिहासिक दृष्टिकोण ईश्वर की सम्भावित और पूर्ण अभिव्यक्ति है, जो इसके बावजूद नही, प्रत्युत् अपनी विशिष्टता के कारण हमको उच्चतम वस्तु तक ले जाने मे सक्षम है। हर धर्म मे जो थोडी-बहुत भिन्नता और विशेषता रहती है, उसके कारण प्रजातिगत समूहो को उनके प्रति एक विशेष आकर्षण रहता है। डॉ० इन्गे कहते हैं कि कोई भी अग्रेज़ रोमन कैथॉलिक नही हो सकता इस कथन की व्याख्या सन्तयान ने इस प्रकार की है

"अगर कोई अग्रेज अपनेको कैथॉलिक कहलाना पसन्द करता है, तो यह भी उसकी उन हज़ारो सनको मे से एक है, जिसकी ओर उसके अन्त करण मे गम्भीर रूप से छिपे विनोदी मनुष्य की रुझान हो सकती है। वह भले ही आध्यात्मिक तीर्थयात्रा पर रोम चला जाए, परन्तु यदि वास्तव मे उसका विश्वास परिवर्तित हो जाता है और हृदय से वह कैथॉलिक बन जाता है, तो समझ लीजिए कि वह पहले जैसा व्यक्ति रहा ही नही। उसके घर पर जो वातावरण है, उससे वह कैथॉलिक बन जाने के बाद कितना अलग हो जाएगा, कितनी चौडी दरार उसके आगे के जीवन और पूर्व-जीवन मे पड जाएगी, इसको शब्दो मे व्यक्त नही किया जा सकता। एक आधुनिक अग्रेज़, जिसके रक्त मे ही स्वतत्रता, प्रयोग और अमिलनशीलता (रिज़र्व) घुली हुई है, वह यदि रोम की तीर्थ-यात्रा करने जाए, तो अवश्य ही यह उसका आत्मघात है, इसके पहले कि वह कैथॉलिक मत के गढ को सिजदा करने पहुचे, उसके अत करण के मनुष्य को दम तोड देना होगा। ऐसा अग्रेज सन्त भी बन सकता है, परन्तु यह तभी सम्भव होगा जब वह एक विदेशी बन जाए, या अपने देश मे रहते हुए भी अपनेको विदेशी-सा अनुभव करने के लिए प्रस्तुत रहे।"

यह परिवर्तन आंशिक नही होगा, वरन् एक स्वभाव की दूसरे स्वभाव के साथ अदला-बदली होगी। धर्म वायोलिन के तार की तरह होता है. यदि उसे अपने अनुनादित शरीर से (वायोलिन मे) अलग कर दिया जाए, तो या तो उसकी झकृति ही बन्द हो जाएगी, या यदि वह झकृत होगा भी, तो गलत स्वर उसमे से निकलेगा।

जिस प्रकार मनुष्य का व्यक्तित्व स्मृति की स्थिरता पर निर्भर करता है, उसी प्रकार सामाजिक जीवन परम्परा की स्थिरता पर निर्भर करता है। परम्परा के द्वारा समाज अपने अतीत को याद रखता है। यदि हम व्यक्ति को अपनी परम्परागत जड से उखाड़ लें, तो वह असम्बद्ध, अस्पष्ट और उद्भ्रान्त हो जाता है। जिन लोगों

१. ट्रोल्टस्च - 'क्रिश्चियन थॉट' (१६२३), पृष्ठ २६-७।

का धर्म-परिवर्तन मे विश्वास है, वे ऐतिहासिक प्रक्रिया को मनुष्य के ऊपर वाहर से थोपी हुई निरकुशता मानते हैं और यह सोचते हैं कि धर्म का चुनाव एक प्रक्रिया के द्वारा किया जाता है जो किसी सिक्के के चक्कर के समान होता है। इतिहास आगिक या समन्वित प्रक्रिया है, यह मनुष्य के ऐहिक प्रारव्ध का एक पक्ष होता है जो मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक होता है जितनी व्यक्तिगत पहचान के लिए स्मृति की आवश्यकता है। यह विकृति की भावना के ऊपर स्मृति की विजय है। अपने सामाजिक अतीत को भूल जाने का अर्थ अपने उद्गम को, अपने वशानुक्रम को भूल जाना है। अत मनुष्य के धर्म को मनुष्य के जीवन की अन्य वातो से अलग कर लेना उतना ही कठिन हो जाएगा जितना सोने की एक लकीर को उस चट्टान मे से, जिसमे वह प्राकृतिक रूप से निहित होती है, अलग करना कठिन होता है। भगवद्गीता, जिसमे ऐतिहासिक प्रक्रिया को वहुत अच्छी तरह समझने की चेष्टा है, लोगो की आस्थाओ को डिगाकर उनका मनोवैज्ञानिक सुख छीन लेने के विरुद्ध हमको चेतावनी देती है।[1] हमसे आशा की जाती है कि हम दूसरो की आस्थाओ मे भले ही विश्वास न करें, परन्तु उनकी पुष्टि हम करें।[2] मानव-स्वभाव कोई साफ स्लेट या तख्तास्याह नही है जिसपर हम खडिया से चाहे जो लिख मारें और फिर एक स्पज से उसे मिटा डालें। यह एक सवेदनशील चेतना है जो सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रभावो को अकित कर लेती है। हमको यह वात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि एक सामाजिक व्यवस्था को उत्पन्न करने मे कितना ज़ोर आता है, स्वतन्त्रता और स्थिरता के वीच सन्तुलन स्थापित करने मे समाज को कितनी परेशानी होती है, उसे कितना प्रयत्न करना पडता है, क्योकि अगर कोई सामाजिक व्यवस्था न हो, स्वतत्रता और स्थिरता का कोई सतुलन न हो, तो अच्छा जीवन विताना असम्भव हो जाता है। चूकि प्रत्येक धर्म सामाजिक सश्लेषण का उद्देश्य लेकर चलता है और एक सीमा तक उसे पूरा भी करता है, इसलिए उसको हटाकर उसके स्थान पर उसके किसी प्रतिद्वन्द्वी धर्म को रखने मे वहुत सतर्क रहने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त यह भी है कि दूसरो के दृढ विश्वासो या मान्यताओ को छिन्न-भिन्न कर देना या उनका खण्डन करना किसी धर्म के लिए वाहवाही की वात नही है। यह कोई ऐसी मूढतापूर्ण मन की मौज नही है जो धर्म मे प्राचीन प्रतीको का या जलकुम्भी की तरह उगे चिह्नो को पसन्द करने की ओर हमे प्रवृत्त करे। नवीनता हमारी कुतूहल-वृत्ति को जागृत भले करे, परन्तु पुराने सवेगो

१ III, २६।

२. रावर्ट लुई स्टीवेन्सन ने एक वार एक महिला धर्म-प्रचारिका (मिशनरी) को लिखा था "अपने मिथ्याविनय को पूर्णतः और सदैव के लिए भूल जाओ और याद रखो कि क्या सही है और क्या गलत है, इस सम्बन्ध में मनुष्य की जो परम्परागत या पैतृक भावनाए हैं उनको उनकी हत्या किए विना तुम नहीं वदल सकतीं। तुम्हें ऊपर से वे भले ही जगली या असभ्य जान पड़ें, परन्तु सदा धैर्य से उनको सहो, सदा कोमलता से उनको परखो, सदा ही उनमें से कुछ न कुछ अच्छाई के वीज ढूढो इस वात का ध्यान रखो कि तुम्हारा काम उस अच्छाई के वीज को अकुरित और पल्लवित करना है: याद रखो कि तुम्हें जो करना है वह केवल यह कि मनुष्य को उसकी सभ्यता की परम्परा में, जैसी भी वह है, रखते हुए उसे सभ्य वनाना है।"

के कारण मनुष्य के गहनतर भावात्मक स्तर हिल-डुल जाते है और उनकी प्रतिध्वनि मनुष्य के बचपन और उसकी प्रजाति तक पहुचती है। आधुनिकता के द्वारा मनुष्य के जीवन मे नई जागृतिया आ सकती हैं, परन्तु पुरानी स्मृतिया शक्तिशाली स्वप्नो को जन्म देती हैं। 'भगवद्गीता' ने यह अनुभव किया था कि इन्द्रिय-ग्राह्य प्रतीक, भले ही वे कितने ही भोडे और अनगढ क्यो न हो, और पूजन-आराधन के आदिम से आदिम सकेत या भगिमाए पवित्र ईश्वर का बोध कराने के साधन बन सकती हैं। यद्यपि इन विचारो, स्नेहो, कल्पनाओ मे से कोई भी उस अवर्णनीय शक्ति को, जिसकी पूजा हम करते हैं, जानने के लिए पर्याप्त नही है, तथापि धर्म के अनुशासन का यह तकाजा है कि हमको, हम जहा है और जैसा भी हम कर सकते हैं, ईश्वर की आराधना करने के लिए इच्छुक रहना चाहिए। नाना प्रकार के जो प्रतीक हैं, वे वास्तविक वस्तु के सादृश्य से चाहे जितने दूर हो, फिर भी वे मनुष्य के मन मे एक समृद्ध धार्मिक अनुभव को जगाते हैं और उसे पोषित करते हैं। किसी देश मे जो धर्म-सम्प्रदाय बहुत काल से चला आता है, वह उसके रग मे रग जाता है, वह किसी भी ऐसे धर्म की अपेक्षा जो बाहर से आयातित हो, रचनात्मक धर्म का अच्छा साधन बन सकता है, वह उसकी अपेक्षा अधिक लाभप्रद स्थिति मे होता है।[1] कारण यह है कि किसी भी नये धर्म मे दीक्षित होनेवाला व्यक्ति उस धर्म के परिवेश मे अपनेको बिलकुल अजनबी-सा अनुभव करता है। वह उस अवैध शिशु की तरह अपनेको समझता है जिसका कोई उत्तराधिकार नही होता, जिसका अपने पूर्ववर्ती लोगो से कोई सम्बन्ध-सूत्र नही होता। दूसरे लोगो मे जो चीज़, आदत या मूलप्रवृत्ति बन गई होती है, वह उस व्यक्ति मे एक दिखावा, बनावट या आडम्बर जान पडती है। नया धर्म मनुष्य के जीवन का आन्तरिक विकास या स्वाभाविक प्रगति नही होता। यह पुरानी आस्थाओ मे से उद्भूत नही होता, वरन् न जाने कहा से उसके जीवन मे आ टपकता है।

दुर्भाग्यवश, जिस तरह अपने राष्ट्र मे आस्था रखने से हम मानव-जाति पर अपनी आस्था खो बैठते है, उसी तरह अपने धर्म मे आस्था रखकर हम दूसरो की

१. महात्मा गाधी लिखते हैं : "धर्म के मामले में मुझे अपने पैतृक धर्म से ही सन्तोष करना चाहिए, अर्थात् धर्म में अपने आसपास के वातावरण का ही उपयोग करना चाहिए। यदि मुझे अपना धर्म दोषपूर्ण जान पडे, तो मुझे उसके दोषों को दूर कर उसे शुद्ध करके उसकी सेवा करनी चाहिए।" उन्होंने ईसाई मिशनरियों से कहा था : "मैं आपको यह बतला दू कि आपके यहां आगमन का यह उद्देश्य नहीं होना चाहिए कि पूर्व के लोगों के जीवन को आप उनकी जड़ों से उखाड़ दें।" (सी० एफ० ऐण्ड्र्यूज लिखित 'महात्मा गांधीज़ आइडियाज़,' पृ० ९६)। प्रसिद्ध नृतत्त्वशास्त्री पिट रान्वर्स लिखते हैं "हमारी देशवासी जनता कदाचित् इस बात को नहीं समझ पाती कि मानव-जातियों के विषय में खोज करनेवाले अधिकांश नृशास्त्रलेखक जो ससार के सभी भागों में काम करते हैं और उन देशों के मनुष्यों के रीति-रिवाजों और धर्म के बारे में सहानुभूतिपूर्वक सब कुछ जानना चाहते हैं, न चाहते हुए भी कितनी दृढ़ता से इस निष्कर्ष पर पहुच गए हैं कि आदिम जातियों का पुराना धर्म उनसे छुड़ाकर और उन्हें ईसाई बनाकर तथा उनकी सस्कृति को छिन्न-भिन्न करके मिशनरियों ने उन जातियों की अपूरणीय क्षति की है और हमें भी नुकसान पहुचाया है, क्योंकि उनके इस कार्य से स्थानीय जनता में अशान्ति और हम पाश्चात्यों के प्रति शत्रुता की भावना फैल गई है।" ('द क्लैश ऑव् कल्चर एण्ड कॉन्टैक्ट ऑव् रेसेज़,' पृष्ठ २४०)।

धर्मास्थाओ को नष्ट करते जान पडते हैं। हर धर्म का अनुयायी अपने-अपने धर्म को उसी प्रकार निर्यात की सामग्री मान बैठा है जिस प्रकार चीनी मिट्टी के वर्तन या जापानी रगीन छपाई के वस्त्र निर्यात की वस्तुए हैं। वे सभी आत्माओ को खदेडकर एक ही आध्यात्मिक वाडे मे वन्द कर देना चाहते हैं। अगर सारी मनुष्य-जाति पर एक-सा धर्म-मत लाद दिया जाए, तो मानवता की कितनी महान क्षति होगी, इससे वे अनजान हैं। ससार मे जितनी अलग-अलग प्रकार की धार्मिक परम्पराए प्रचलित हैं, उनका यदि दमन कर दिया जाए, तो इससे ससार मे एक भारी कमी आ जाएगी। जिस चीज़ को अभी हमने ठीक से समझने की कोशिश ही नही की है, उसको नष्ट करने का अधिकार क्या हमे है? लोगो की आत्मा के लिए जो वस्तु मूल्यवान है, जिसे युगो से मनीषी विद्वानो ने परिश्रमपूर्वक निर्मित किया है, उसे धूल मे मिला देना, आध्यात्मिक सत्यानाश करना है। मानवीय चेतना जिन विभूतियो से प्रेरणा ग्रहण कर सकती है, उनमे से एक हैं गौतम बुद्ध। उनकी पवित्र स्मृति का प्रभाव हमारे लाखो-करोडो साथी मनुष्यो पर बहुत गहरा है। सदियो से मानव-जीवन को भव्य और गरिमामय बनाने की दिशा मे इससे जो प्रेरणा प्राप्त हुई है, वह अकूत है। मनुष्य की आत्मा को सुसस्कृत करने और उसके सामाजिक सम्बन्धो को मानवीय बनाने मे इसका योगदान बहुत प्रभावशाली रहा है। फिर भी, दूसरे झण्डो के नीचे रहकर लडनेवाले लोगो द्वारा, जो निस्सन्देह अपने धर्म और जाति के नैष्ठिक प्रेमी हैं, उस महान आत्मा की स्मृति को नष्ट करने और उनके प्रभाव को मिटाने की चेष्टाए की जा रही हैं। इसका कारण उनका अन्ध-पूर्वाग्रह और उनकी दयनीय अज्ञानता है। जो धर्म हृदय का इतना कठोर हो सकता है, जो इस प्रकार की जातीय आपदा को शान्त-चित्त होकर चुपचाप देखता रह सकता है, उसको धर्म की सज्ञा देना भी उचित नही जान पडता। ईसा कहते हैं "यह मत सोचो कि मैं प्रचलित विधि-नियम को या पैगम्बरो की शिक्षाओं को नष्ट करने के लिए आया हू मैं विनाश करने के लिए नहीं, बल्कि जो अभाव है उसकी पूर्ति करने के लिए आया हू।"[1] वह हमसे कहते हैं कि धुधुआती हुए सन के डठल को मत बुझाओ (क्योकि उससे किंचित् प्रकाश तो मिलता है) और कुचली हुई वासुरी को मत तोड़ो (क्योकि उससे बेसुरी ही सही, रागिनी तो निकलती है)।

चूकि प्रत्येक धर्म एक विकासशील आन्दोलन है, इसलिए इसकी कोई भी अवस्था या रूप पूर्ण होने का दावा नही कर सकता। कोई भी ऐतिहासिक धर्म निरपेक्ष और अपरिवर्तनीय सत्य नही माना जा सकता। आखिर, पृथ्वी पर जो प्राचीनतम चट्टानें है, उनकी आयु को देखा जाए, तो उसकी तुलना मे मनुष्य का इतिहास कितना नगण्य है, और यदि हम किसी धर्म की आयु का विचार करें, तो उसको देखते हुए मनुष्य का जीवन और भी कम महत्त्वपूर्ण जान पडता है, फिर, यह मानना तो एक दु साहस ही है न कि इतनी थोड़ी-सी अवधि में हमने निरपेक्ष, पूर्ण एव अन्तिम सत्य को जान लिया है।

१ मैथ्यू, ५, १७।

हम यह मान ले सकते हैं कि चूंकि मनुष्य को ईश्वर ने सबसे पहले बनाया, इसलिए वह मनुष्य मे न केवल अविच्छेद्य रूप से अन्तर्निहित है, वरन् वह उसके भीतर शक्ति का सचार करनेवाला भी है। हम चाहे जितने परित्यक्त जान पड़ें, परन्तु ईश्वर हमारे अस्तित्व को पूर्णत सभाले हुए है। ईश्वर सब जगह है, आध्यात्मिक साधना की ऊचाइयो की ओर श्रमसाध्य चढाई करते समय मानव-जाति के कदम जब लडखडाने लगते हैं तब ईश्वर अपनी चेतना से उसको सहारा देता है। हम प्रकृति को तीव्रगति नही दे सकते, हालाकि हम उसके क्रिया-कलापो मे सहायता अवश्य कर सकते हैं। यदि हम इतने दम्भी हैं कि चुपचाप यह प्रतीक्षा किए बिना कि ईश्वर हमको कब (माया-मोह के आवरण हटाकर) नगा करता है, हम धर्म को ही सारी समझदारी और कल्पना की चीजों से नग्न करने लगते हैं, तो शायद जीवन के अन्तिम समय तक भी हम कोई ऐसी चीज़ नहीं छोड जाएगे जिसपर हमारे इन्द्रिय-प्रतिबन्धित मन और लालसा-प्रसीमित हृदय अपने को टिका सकें।

जो लोग एक सर्वव्यापक 'लोगस' (शब्दब्रह्म) मे विश्वास करते है, उनको दूसरे धर्मों के महत्त्व को स्वीकार करना ही पडता है। दिव्य सन्देशवाहकों (ईसाई धर्म के आदि प्रचारको) ने यह माना है कि मनुष्य मे ईश्वर की शोध करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उन्होंने यह कहा है कि मूर्तिपूजक काफिरो के मन मे भी ईश्वर का साक्ष्य मौजूद है, उन्होंने गैर-ईसाइयो (जेन्तिलों) के धार्मिक सस्कारो तथा विश्वासो को अन्धविश्वास और भ्रम की उपज माना है। 'मूर्तिपूजक काफिरो की मूर्तियो' के प्रति सेंट पॉल ने भी वैसी ही घृणा प्रकट की है जैसी हिब्रू पैगम्बरो ने। जस्टिन मार्टियर (१५० ई०) की यह मान्यता थी कि जो लोग विवेकपूर्ण जीवन जीते थे, जैसे कि सुकरात और हिराक्लिटस, वे ईसाई ही थे। सिकन्दरिया के क्लीमेंट का कहना था कि दर्शनशास्त्र यूनानियो को ईसा के पास लाने का वैसा ही साधन है, जैसा मूसा के पास जाने के लिए 'ओल्ड टेस्टामेंट' यहूदियो का साधन था। सेंट ऑगस्टीन का तो यह विचार था कि मानव-जाति के आरम्भ-काल से ही सभी भले आदमियो ने ईसा को ही अपना मुखिया माना है।

'लोगस' सिद्धान्त से निस्सृत सारे विचार यहूदी उत्तराधिकार के द्वारा तहस-नहस हो गए हैं।[1] यहूदियो की दृष्टि मे याहवेह ही ईश्वर था, और अन्य सारे देवताओं को वे अपने शत्रुओं के देवता मानते थे। यहूदी अपने को ईश्वर की प्यारी जाति के लोग मानते थे जिनकी अपनी विधि-पद्धतिया और वर्जनाए थी। उनकी दृष्टि मे सबसे बडा पाप था नैतिक नियमो को तोडना, अपने सच्चे ईश्वर को छोडकर दूसरो के ईश्वर के फेर मे पडना। हिन्दू-धर्म जैसे धर्म की दृष्टि मे, जो ईश्वर की सर्वव्या-

१. प्रोफेसर पैगन यह कहने के उपरान्त कि "ईसाइयत का उद्भव जिस युग में हुआ, उससे अधिक सहिष्णुतापूर्ण युग दूसरा नहीं हुआ", कहते हैं कि "धार्मिक असहिष्णुता के मामले में ईसाइयत समस्त 'पैगन' धर्मों (ईसाई, यहूदी और इस्लाम तीनों धर्मों से अलग काफिरों के धर्म) से भिन्न थी और उसने इस मामले में जूडावाद को भी पीछे छोड़ दिया : इस अर्थ में ईसाइयत अपने युग की भावना के प्रत्यक्ष विरोध में जा खड़ी हुई थी।" ('द मिस्ट्री रिलीजन्स एण्ड क्रिश्चियैनिटी', पृ० २७७-८)।

धर्मास्थाओ को नष्ट करते जान पडते हैं। हर धर्म का अनुयायी अपने-अपने धर्म को उसी प्रकार निर्यात की सामग्री मान बैठा है जिस प्रकार चीनी मिट्टी के वर्तन या जापानी रगीन छपाई के वस्त्र निर्यात की वस्तुए हैं। वे सभी आत्माओ को खदेडकर एक ही आध्यात्मिक वाडे मे वन्द कर देना चाहते हैं। अगर सारी मनुष्य-जाति पर एक-सा धर्म-मत लाद दिया जाए, तो मानवता की कितनी महान क्षति होगी, इससे वे अनजान हैं। ससार मे जितनी अलग-अलग प्रकार की धार्मिक परम्पराए प्रचलित हैं, उनका यदि दमन कर दिया जाए, तो इससे ससार मे एक भारी कमी आ जाएगी। जिस चीज को अभी हमने ठीक से समझने की कोशिश ही नही की है, उसको नष्ट करने का अधिकार क्या हमे है ? लोगो की आत्मा के लिए जो वस्तु मूल्यवान है, जिसे युगो से मनीषी विद्वानो ने परिश्रमपूर्वक निर्मित किया है, उसे धूल मे मिला देना, आध्यात्मिक सत्यानाश करना है। मानवीय चेतना जिन विभूतियो से प्रेरणा ग्रहण कर सकती है, उनमे से एक हैं गौतम बुद्ध। उनकी पवित्र स्मृति का प्रभाव हमारे लाखो-करोडो साथी मनुष्यो पर वहुत गहरा है। सदियो से मानव-जीवन को भव्य और गरिमामय वनाने की दिशा मे इससे जो प्रेरणा प्राप्त हुई है, वह अकूत है। मनुष्य की आत्मा को सुसस्कृत करने और उसके सामाजिक सम्वन्धो को मानवीय वनाने मे इसका योगदान वहुत प्रभावशाली रहा है। फिर भी, दूसरे झण्डो के नीचे रहकर लडनेवाले लोगो द्वारा, जो निस्सन्देह अपने धर्म और जाति के नैष्ठिक प्रेमी हैं, उस महान आत्मा की स्मृति को नष्ट करने और उनके प्रभाव को मिटाने की चेष्टाए की जा रही हैं। इसका कारण उनका अन्ध-पूर्वाग्रह और उनकी दयनीय अज्ञानता है। जो धर्म हृदय का इतना कठोर हो सकता है, जो इस प्रकार की जातीय आपदा को शान्त-चित्त होकर चुपचाप देखता रह सकता है, उसको धर्म की सज्ञा देना भी उचित नही जान पडता। ईसा कहते हैं "यह मत सोचो कि मैं प्रचलित विधि-नियम को या पैगम्वरो की शिक्षाओ को नष्ट करने के लिए आया हू मैं विनाश करने के लिए नही, वल्कि जो अभाव है उसकी पूर्ति करने के लिए आया हू।"[1] वह हमसे कहते हैं कि धुधुआती हुए सन के डठल को मत वुझाओ (क्योकि उससे किंचित् प्रकाश तो मिलता है) और कुचली हुई वासुरी को मत तोड़ो (क्योकि उससे वेसुरी ही सही, रागिनी तो निकलती है)।

चूकि प्रत्येक धर्म एक विकासशील आन्दोलन है, इसलिए इसकी कोई भी अवस्था या रूप पूर्ण होने का दावा नही कर सकता। कोई भी ऐतिहासिक धर्म निरपेक्ष और अपरिवर्तनीय सत्य नही माना जा सकता। आखिर, पृथ्वी पर जो प्राचीनतम चट्टानें हैं, उनकी आयु को देखा जाए, तो उसकी तुलना मे मनुष्य का इतिहास कितना नगण्य है, और यदि हम किसी धर्म की आयु का विचार करें, तो उसको देखते हुए मनुष्य का जीवन और भी कम महत्त्वपूर्ण जान पडता है, फिर, यह मानना तो एक दु साहस ही है न कि इतनी थोड़ी-सी अवधि मे हमने निरपेक्ष, पूर्ण एव अन्तिम सत्य को जान लिया है।

१. मैथ्यू, ५, १७।

हम यह मान ले सकते हैं कि चूकि मनुष्य को ईश्वर ने सबसे पहले बनाया, इसलिए वह मनुष्य मे न केवल अविच्छेद्य रूप से अन्तर्निहित है, वरन् वह उसके भीतर शक्ति का सचार करनेवाला भी है। हम चाहे जितने परित्यक्त जान पडे, परन्तु ईश्वर हमारे अस्तित्व को पूर्णत सभाले हुए है। ईश्वर सब जगह है, आध्यात्मिक साधना की ऊचाइयो की ओर श्रमसाध्य चढाई करते समय मानव-जाति के कदम जब लडखडाने लगते हैं तब ईश्वर अपनी चेतना से उसको सहारा देता है। हम प्रकृति को तीव्रगति नही दे सकते, हालाकि हम उसके क्रिया-कलापो मे सहायता अवश्य कर सकते हैं। यदि हम इतने दम्भी हैं कि चुपचाप यह प्रतीक्षा किए बिना कि ईश्वर हमको कब (माया-मोह के आवरण हटाकर) नगा करता है, हम धर्म को ही सारी समझदारी और कल्पना की चीजो से नग्न करने लगते हैं, तो शायद जीवन के अन्तिम समय तक भी हम कोई ऐसी चीज नही छोड जाएगे जिसपर हमारे इन्द्रिय-प्रतिबन्धित मन और लालसा-प्रसीमित हृदय अपने को टिका सकें।

जो लोग एक सर्वव्यापक 'लोगस' (शब्दब्रह्म) मे विश्वास करते हैं, उनको दूसरे धर्मों के महत्त्व को स्वीकार करना ही पडता है। दिव्य सन्देशवाहको (ईसाई धर्म के आदि प्रचारको) ने यह माना है कि मनुष्य मे ईश्वर की शोध करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, उन्होने यह कहा है कि मूर्तिपूजक काफिरो के मन मे भी ईश्वर का साक्ष्य मौजूद है, उन्होंने गैर-ईसाइयो (जेन्तिलो) के धार्मिक सस्कारो तथा विश्वासो को अन्धविश्वास और भ्रम की उपज माना है। 'मूर्तिपूजक काफिरो की मूर्तियो' के प्रति सेंट पॉल ने भी वैसी ही घृणा प्रकट की है जैसी हिब्रू पैगम्बरों ने। जस्टिन मार्टियर (१५० ई०) की यह मान्यता थी कि जो लोग विवेकपूर्ण जीवन जीते थे, जैसे कि सुकरात और हिराक्लिटस, वे ईसाई ही थे। सिकन्दरिया के क्लीमेट का कहना था कि दर्शनशास्त्र यूनानियो को ईसा के पास लाने का वैसा ही साधन है, जैसा मूसा के पास जाने के लिए 'ओल्ड टेस्टामेट' यहूदियो का साधन था। सेंट ऑगस्टीन का तो यह विचार था कि मानव-जाति के आरम्भ-काल से ही सभी भले आदमियो ने ईसा को ही अपना मुखिया माना है।

'लोगस' सिद्धान्त से निस्सृत सारे विचार यहूदी उत्तराधिकार के द्वारा तहस-नहस हो गए हैं।[1] यहूदियो की दृष्टि मे याहवेह ही ईश्वर था, और अन्य सारे देवताओ को वे अपने शत्रुओ के देवता मानते थे। यहूदी अपने को ईश्वर की प्यारी जाति के लोग मानते थे जिनकी अपनी विधि-पद्धतिया और वर्जनाए थी। उनकी दृष्टि मे सबसे बडा पाप था नैतिक नियमो को तोडना, अपने सच्चे ईश्वर को छोडकर दूसरो के ईश्वर के फेर मे पडना। हिन्दू-धर्म जैसे धर्म की दृष्टि मे, जो ईश्वर की सर्वव्या-

१ प्रोफेसर ऐंगस यह कहने के उपरान्त कि "ईसाइयत का उद्भव जिस युग में हुआ, उससे अधिक सहिष्णुतापूर्ण युग दूसरा नहीं हुआ", कहते हैं कि "धार्मिक असहिष्णुता के मामले में ईसाइयत समस्त 'पैगन' धर्मों (ईसाई, यहूदी और इस्लाम तीनों धर्मों से अलग काफिरों के धर्म) से भिन्न थी और उसने इस मामले में जूडावाद को भी पीछे छोड दिया इस अर्थ में ईसाइयत अपने युग की भावना के प्रत्यक्ष विरोध में जा खड़ी हुई थी।" ('द मिस्ट्री रिलीजन्स एण्ड क्रिश्चियैनिटी', पृ० २७७-८)।

पकता और अन्तर्यामिता पर ज़ोर देता है, सारी मानव-जाति ही ईश्वर की प्यारी है और सभीको ईश्वर को प्राप्त करने का अधिकार है। यदि हमारे पास अपने पडोसियो को सिखाने योग्य कुछ है, तो हमे उनसे भी तो कुछ सीखना है। हिन्दू ऋषियो को यह पता था कि सत्य-शोध के जिस मार्ग को उन्होने पकडा है, वह वडा कठिन है और हिन्दू समाज के लोगो की एक वडी सख्या उस मार्ग पर सरलता से नही चल सकती, हालाकि उस अधिकाश सामान्य जनता मे भी धर्म की भावना तो है ही। उनके भी अपने अधिकार हैं, ईश्वर का दर्शन पाने के वे भी अधिकारी हैं, यद्यपि उनसे यह आशा नही की जाती कि वे उसी तीव्र गति से ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग पर आगे बढ सकेंगे जिस गति से ज्ञानी पुरुष बढते हैं, क्योकि उनको वे सुविधाए भी तो प्राप्त नही जो ज्ञानियो को अपने ज्ञान के कारण प्राप्त होती है। उनको भी उसी लक्ष्य तक पहुचाना है, परन्तु पहुचाना है उनके अपने मार्ग से।

जीवन के दो प्रतिद्वन्द्वी दर्शन हैं जिनका प्लेटो (अफलातून) और रूसो के शब्दो मे वर्णन किया जा सकता है। प्लेटो कहता है :

> "उसको (स्मृतिकार को) यह जानने के लिए कि कौन-से दृढ विश्वास किसी नगर के लिए सर्वाधिक लाभकारी होगे, अपने आविष्कारो को टटोलना होगा, और फिर उसे सब प्रकार के उपायो को एक मे सम्बद्ध करके यह आश्वासन देना होगा कि इस प्रकार का सारा समाज इस विषय पर जीवन-पर्यन्त एक-से ही स्वर-लय मे बोलेगा, एक जैसा ही सोचेगा—गीत मे, कहानी मे और वार्तालाप मे।"[1]

रूसो कहता है

> "केवल वही व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार कार्य कर सकता है जिसको उस कार्य को करने के लिए न तो दूसरो की सहायता लेनी पडती है, न अपने हाथो को ही उसमे लगाना पड़ता है, इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि सर्वाधिक अच्छी वस्तु अधिकार नही है, वरन् कार्य करने की स्वतन्त्रता है। जो आदमी सच्चे अर्थो मे स्वतन्त्र है, वह उन्ही वस्तुओ की चाह करता है जिनको वह प्राप्त कर सकता है और वही कार्य करता है जिसे करने की उसे इच्छा होती है। इसीको आप मेरा बुनियादी सिद्धान्त-वाक्य कह सकते हैं।"[2]

मानव-जीवन से सम्बन्धित इन प्रकृत्या विरोधी विचारो की यह अनिश्चितता सदियो पुराने मानव-इतिहास के पृष्ठो पर लिखी हुई है। कुछ लोग ऐसा मान बैठते हैं कि मनुष्य मे सत्य के लिए कोई मूल प्रवृत्ति नही है और उसकी अपनी बुद्धि उसको हानि पहुचा सकती है, अत उसे सत्य का दर्शन करने और सही कार्य करने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए। हमको गिनी-पिगो (कण्टमूपको) की तरह मनुष्यो की नस्ल बढानी चाहिए, मनुष्यो को मिट्टी की तरह साचे मे ढालना चाहिए, अभ्यासवश

१. 'लाज', लेखक . ए० ई० टेलर का अग्रेज़ी अनुवाद। २. 'एमिली'।

उनमे जो आदतें पड गई हैं उनको असीमित कर देना चाहिए और उनके विचार तथा जीवन को निश्चित धारा मे प्रवाहित करना चाहिए। मनुष्य का यह विचार फासिस्तो और कम्युनिस्टो द्वारा अपने सदस्यो को दी जानेवाली सिद्धान्त-शिक्षा को उचित ठहराता है, किन्तु दूसरा विचार लोकतन्त्र और उदारतावाद की रीति-नीति का समर्थन करता है। यह मनुष्य को जजीर मे बधा हुआ पशु नही मानता, वरन् उसे एक प्रभ-विष्णु चेतना मानता है। यही वह वस्तु है जो शक्ति और स्वतन्त्रता, एकरूपता और वैयक्तिकता, मत परिवर्तन और विकास के अन्तर को स्पष्ट कर देती है। कम से कम धर्म को तो स्वतन्त्रता का घर होना ही चाहिए। वह हम लोगो पर किसी वाहरी सगठन या व्यवस्था के द्वारा नही थोपा जा सकता। आत्मा के विकास का नियम वस्तुओ के विकास-नियम से भिन्न है। वस्तुओ के विकास-नियम मे हम परिग्रह या सम्पत्ति के छलनापूर्ण बन्धन के शिकार बन जाते है। बीज को तब तक अपना विकास करते जाना चाहिए जब तक वह इस योग्य न हो जाए कि स्वय उसके भीतर से उसकी पूर्णता—फल—बहिर्गत होकर प्रकट हो जाए। सत्य अपने अन्वेषी मन का गुण जिस मात्रा मे है उसी मात्रा मे वह उन वस्तुओ का भी गुण है जिनमें मन उसको प्राप्त करता है। खोज उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी उपलब्धि। सत्य को बलात् किसीपर लादा नही जा सकता। हम बहाना करने और व्यवहार करने के लिए तो दूसरो पर दबाव डाल सकते हैं, परन्तु हम उनपर दबाव डालकर उनसे किसी चीज़ को स्वीकार या उसपर विश्वास नही करा सकते। हम बाह्य रूप और बाह्य साधन तो किसीपर लाद दे सकते हैं, किन्तु किसीको गुप्त जीवन का रहस्य नही दे सकते। गुप्त जीवन अपने आयातित रूप मे भी बना रहता है। पूर्व और पश्चिम के ईसाई लोग एक-से रूपो (बाह्याचारो) तथा एक समान शब्दो का भले ही प्रयोग करे, तथापि वे उनका भिन्न अर्थ निकाल सकते हैं और भिन्न अनुभव कर सकते हैं। पश्चिम ने ईसाइयत को ग्रहण तो कर लिया, परन्तु उसके अनिवार्य तत्त्व उसकी (पश्चिम की) आन्तरिक सम्पत्ति कभी बन ही न सके। उसने धार्मिक अभिव्यक्ति करने के लिए एक नई रीति की रचना कर डाली, जो बातें उसे अच्छी लगी उनको उसने स्वीकार कर लिया और अन्य बातो को उसने या तो छोड दिया या गलत ढग से समझ लिया। जब हम अपना धर्म परिवर्तन करते हैं तब हम अपने मन की आदतो और जीवन के आचरण-व्यवहारो को नही परिवर्तित कर सकते।[1]

जिन नियमो से हमारी मानसिक क्रियाए शासित होती हैं, उन्ही नियमो से

१ ग्वाटेमाला के 'इण्डियन' लोग वास्तव में शायद ही जानते थे कि वे अपने देवता गुकुमात्स की प्रार्थना कर रहे थे या जीसस क्राइस्ट (ईसा मसीह) की। उनके धार्मिक समारोह आधे 'पेगन' (ईसाई-विरोधी) होते थे और आधे ईसाई, परन्तु किसी भी कैथोलिक पादरी को यह साहस नहीं होता था कि 'पवित्र सप्ताह' के दौरान वह इण्डियनों को बनावटी चेहरे-मोहरे लगाकर नाचने से मना कर दे। वे नाचते थे ईसा के सम्मान में नहीं, वरन् जूडास के सम्मान में। पादरी को तो यह भय रहता था कि यदि उसने इण्डियनों को उनका नाटक खेलने से मना कर दिया, तो बस्ती से जो रुपया उसे प्राप्त होता है, वह बन्द हो जाएगा। और इस नाटक में आप जानते हैं क्या दिखाया जाता था? उन्हें सिखाया जाता था कि ईसा को जिस दिन सूली पर चढ़ाया गया उसी रात को

धार्मिक जीवन भी शासित होता है। हम अपनी-अपनी बौद्धिक क्षमताओं के अनुसार कोई नया दृष्टिकोण ले लेते हैं या किसी नये विचार को आत्मसात् कर लेते हैं।[1] ईसाइयत के बहुत सारे विचारों और प्रतीकों का स्रोत आरम्भिक काल मे ढूढा जा सकता है। सर आर्थर इवान्स ने क्रीट द्वीप मे कनॉसॉस के महल के पास खुदाई कराते हुए एक चिकने काले सगमरमर का 'क्रॉस' प्राप्त किया, उस समय सयोग से यूनानी

सेंट जान और 'दैवी कुमारी' फरार हो जाते हैं और इस प्रकार दोनों अपने प्रभु को पापपूर्ण ढग से धोखा देते हैं।" ['द सैवेज विट्स बैक'—लेखक जूलियस ई० लिप्स (१९३७), पृ० २२]।

श्री आल्डुअस हक्सले लिखते हैं : "कैथॉलिक देव-कुल में बडी आश्चर्यजनक वृद्धि हो गई, इजील की कहानी में भी सब प्रकार के सशोधन हो गए। उदाहरण के लिए अधिकतर रूढिपंथी नगरों की जैसी पद्धति है, जूडाज को ईस्टर के शनिवार को जलाया न जाकर कई गावों में उसकी देवता के रूप में पूजा की जाती है। एस० के० लोथ्रॉप के अनुसार पेटिटलान में यह विश्वास प्रचलित है कि ईसा को सूलो दी जानेवाली रात को सेंट जॉन और 'कुमारी' (वर्जिन) का प्रेम-सम्बन्ध हो गया था। इस घटना की पुनरावृत्ति न हो, इसलिए गुड फ्राइडे को सेंट जॉन और 'कुमारी' की प्रतिमाएं कस्बे के जेलखाने में अलग-अलग कोठरियों में बन्द कर दी जाती हैं। अगले दिन सुबह उन दोनों समुदायों से सम्बन्धित लोग जेलखाने में पहुचते हैं और कुछ सौ पेसो (स्पेनिश रजत मुद्रा) देकर उनको जेलखाने से जमानत पर छुडाते हैं। आनेवाले एक साल के लिए इज्जत बच जाती है, सेंट जॉन और 'कुमारी' दोनों की प्रतिमाएं पुनः अपनी-अपनी वेदिकाओं पर ले जाकर स्थापित कर दी जाती हैं।" उनके धार्मिक बाह्याचारों के रूप का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करने के बाद श्री हक्सले अन्त में कहते हैं : "ग्वाटेमाला के पर्वतीय प्रदेशों के इन लोगों की दृष्टि में आदिम धर्मों में से किसी एक के समान ही ईसाइयत भी एक धर्म है। उनका कैथॉलिकवाद जादू-टोना, तन्त्र-मन्त्र और सामाजिक पूजा-पाठ को लेकर खडा है।" ['बियौण्ड द मेक्सिक बे' (१९३४), पृ० १६० और १६३]। यह तो बहुप्रसिद्ध है ही कि कई भारतीय ईसाई धर्म स्वीकार करने के बाद भी हिन्दू विश्वासों और आचारों का पालन करते हैं। 'बैप्टिस्ट मिशनरी रिव्यू', अप्रैल १९३७ के अक में कई महिला मिशनरियों ने एक लेख लिखते हुए ईसाई स्त्रियों में आदिम जातियों के आचारों के प्रचलित रहने की भर्त्सना की है। "किसी ईसाई गाव में प्रवेश करने पर यह देखकर आश्चर्य होता है कि स्त्रियों और बच्चों के गले में तरह-तरह के जादू-टोने के तावीज लटक रहे होते हैं। खास तौर से बच्चे छः-छः, सात-सात हसुलिया या कठिया पहने होते हैं, उनमें कुछ चादी की होती हैं, कुछ घोडे के बाल की, कुछ काले पटसन या सूत के धागों की। इनमें से प्रत्येक कठी के साथ एक चादी का छोटा-सा चपटा, चौकोर तावीज लटक रहा होगा जिसपर भोंडे ढग से हनुमानजी की तस्वीर खुदी हुई होगी या फिर तांबे या चादी की एक गुल्ली होगी जिसके दोनों सिरे बन्द होंगे और जिसके भीतर या तो मकडे का सूखा शरीर, या छिपकली की पूछ या कोई छोटा-सा कागज ही रखा होगा जिसपर कुछ मन्त्र लिखे हुए होंगे। जो हिन्दू ईसाई बन गए होते हैं उनमें हिन्दू त्योहारों में भाग लेने का वास्तविक उत्साह देखा जाता है।" एक बडे पैमाने पर हिन्दुओं के गाव के गाव को ईसाई बनाने का अर्थ है ईसाइयत का हिन्दूकरण। हिन्दू विश्वासों और आचारों पर ईसाई लेबुल चिपका दिए जाते हैं। फिर, "अधिकाश चीनी तो अब भी ईसाइयत को अनिवार्यतः एक विदेशी धर्म समझते हैं, उसे वास्तव में वे पश्चिम का धर्म मानते हैं : और यह सन्देह करने के पर्याप्त कारण हैं कि जिन तीस लाख लोगों ने ईसाइयत को कबूल किया है, उनमें से अधिकाश अपने इस नये धर्म में आकर घरेलूपन नहीं अनुभव करते।" [ह्यूस : 'द इनवेजन ऑव् चाइना बाइ द वेस्टर्न वर्ल्ड' (१९३७), पृ० ५४-५]।

१. मार्क कॉनेली के नीग्रो (हब्शी) नाटक 'द ग्रीन पैश्च्योर्स' में जो चित्रण है, उसे पढकर हमें आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता कि हम ब्रह्म के रग के विषय में अपने अन्तःकरण में इतने निश्चित

सनातनी (ऑर्थोडॉक्स) चर्च का एक पादरी वहा उपस्थित था। उसने झट से उस 'क्रॉस' को आदरपूर्वक चूम लिया और उसकी पूजा की। उसने यह विश्वास करने से इन्कार कर दिया कि वह 'क्रॉस' ईसाई क्रॉस नही है, वरन् कोई और क्रॉस है जो 'कैलवरी के क्रॉस' से भी तीन हज़ार वर्ष पहले का रहा होगा।[1] जे० एच० ब्रेस्टेड के कथनानुसार 'इतिहास के प्रथम व्यक्ति' अखनातोन के गूढाक्षर लिपि मे लिखे लेख मे यह कहा गया है : "तू, पिता, मेरे हृदय मे है। मेरे सिवाय कोई दूसरा नही है जो तुझे जानता हो। मै तेरा पुत्र हू न ?" रहस्यवादी धर्मों ने परित्राता देवताओ की रचना कर डाली और यहूदियों मे जिस तरह मसीहा पर आशाए लगाई जाती हैं, वैसी

कैसे है। मार्क कानेर्ली के इस नाटक में जिस ईश्वर का चित्रण है, वह नीग्रो लोगों का ईश्वर है, उन्हींकी तरह वह भी काला है और बड़े आराम से रहता है। नीग्रो उपदेशक की-सी पोशाक वह ईश्वर पहनता है, सावले रग के देवदूत और अप्सराए उसे घेरे रहती है; वह एक ऐसे स्वर्ग में रहता है जो बड़ा सजा-सजाया खूबसूरत स्थान है, उसके चारों ओर सुनहली बाड़ है, बादल ऐसे मुलायम है जैसे धुनी रुई के गाले, वहा पच्चर शिशुओं के झूलने के लिए झूले पड़े हैं, आमोद-प्रमोद के लिए हरे-भरे मैदान हैं, हरेक को रवड़ी-मलाई और दूध की फिरनी खाने के लिए मिलती है, तली हुई मछलियों की भरमार है। 'डी लॉर्ड' दयालु तो है, किन्तु न्यायनिष्ठ और सतर्क भी है। वह स्वर्ग के व्यय का सारा हिसाब-किताब अप्सरा गैब्रिएल की मदद से रखता है। ईश्वर का बैठकखाना रोज धुलाई-पुछाई करनेवाले देवदूतों के द्वारा बुहारा जाता है—इन देवदूतों के पखों के पीछे चितकबरे लम्बे 'एप्रन' (झूल) बधे होते हैं। यह सब होते हुए भी ईश्वर चिन्ता से रहित नहीं है। उसे सूर्य, चन्द्र और उस छोटे-से ग्रह के बारे में, जिसे पृथ्वी कहते हैं, चिन्ता लगी रहती है। पृथ्वी को उसने एक बार कुछ अतिरिक्त आकाशीय तत्त्व मिलाकर बना दिया था। और लगभग हर हजार वर्ष के बाद वह अपने स्वर्ग के सुनहले दरवाजों को खोलता है और उसके नीचे जानेवाली लम्बी सीढ़ी से उतरता है यह देखने के लिए कि आदम और उसके सारे बच्चे पृथ्वी पर, जिसपर इसरायल के नीग्रो बच्चे आधुनिक वस्त्र पहने हुए घूम-फिर रहे हैं, किस हालत में रहते हैं। वह देखता है कि पृथ्वी पर तो सब तरह के पाप और झगड़े-झझट हैं, इससे दु:खी होकर वह कुछ अच्छे आदमियों को उत्पन्न करता है जो परिताप के लिए ससार को मार्ग-दर्शन करा सकें। पहली बार, इन अच्छे आदमियों की श्रेणी में नूह का नाम सर्वप्रथम आता है, यह बेचारा एक दुःख का मारा नीग्रो उपदेशक था, इसको सबसे अधिक परेशानी है खटमलों से और विशेषत आर्क में सापों से, वह जलप्लावन के चालीस दिनों को 'एक भारी वर्षा' मानता है। दूसरी बार नम्बर आता है हजरत मूसा का। वह मिस्र का एक सीधा सादा गड़रिया था, वह यह सोचकर बड़ा चमत्कृत होता है कि सिद्धातत वह एक जादूगर जैसा बनेगा, किंतु जितने भी बड़े-बड़े चमत्कार वह दिखाता है, उनके लिए वह अपनेको क्षमाप्रार्थी अनुभव करता है। "फरोह, मुझे खेद है, किन्तु तुम जानते हो, प्रभु से लड़ा तो नहीं जा सकता। मेरे भक्तजनों को चले जाने दो।" मूसा के बाद, जोशुआ का नम्बर आता है जो जेरिको की प्राचीरों के सामने अपनी बासुरी मजे-मजे में प्रसन्नता के साथ बजाता दिखाया जाता है। अन्त में आता है पाखण्डपूर्ण हेजकेल, वह एक ऐसा आदमी है 'जिसके विषय में किसीने कभी सुना तक न था' वह 'डी लॉर्ड' की परेशानी का कारण बन जाता है, वह उसे प्रार्थना कर-करके इतना परेशान कर डालता है कि अन्तत. उसे पृथ्वी पर उतरकर यरूशलम के लोगों को बचाना पड़ता है; वह ईश्वर से विचित्र और बेतुके ढग से वार्तालाप करता है और कहता है कि प्रतिशोध लेनेवाले ईश्वर को दयालु ईश्वर भी बनना चाहिए। यह एक आदर्श चित्र है जिसमें धर्म की किसी ऐसी बात पर चोट नही की गई है, जो वास्तविक हो और जिसकी जड़ गहरे विश्वासों पर जमी हो। नीग्रो लोगों का वास्तविक धर्म इतना साफ-सुथरा नहीं है।

१. 'द पैलेस ऑव् मिनोज ऐट क्नॉसॉस', पृ० ५१७।

ही आगए स्वरचित देवताओ से बावनी शुरू कर दी। जब, ईसाइयत विशुद्ध यहूदी वातावरण से निकलकर यूरोप मे आ गई, तब उसने यूनानी-रोमन ससार के धार्मिक विश्वासो और आचारो के साथ समझौता कर लिया। क्रिसमस अपने मूल रूप मे एक 'पैगन' (ईसाई, यहूदी और इस्लाम धर्मों से इतर किसी धर्म को माननेवाले लोग—काफिर) त्योहार था जो उनके मकर-सक्रान्ति पर्व से निकला है। वृक्ष का इस त्योहार के साथ सम्बन्ध होना हमे उन दिनो की याद दिला देता है जब वृक्षो को सवेदनशील चेतना से युक्त माना जाता था, और जब वे देवताओ की इच्छा और उनके ज्ञान के विषय मे भविष्यवाणिया करते थे। क्रिसमस की रात को हम बच्चो के लिए 'क्रिसमस वृक्ष' पर जो खिलौने लटकाते है, उससे हमे वर्जिल लिखित 'द जॉर्जिक्स' की वे पक्तिया याद आ जाती हैं जिनमे कहा गया है कि किस प्रकार उसके ज़माने मे किसान 'ऊचे-ऊचे चीड के वृक्षो की डालो से कठपुतलियो के मुखौटे लटका दिया करते थे ताकि वे झूलते रहे', और यह वे करते थे 'बच्चुस' देवता के सम्मान मे। 'लोगस' (शब्दब्रह्म या वाक्) सम्बन्धी धारणा चतुर्थ इजील के रचयिता ने यूनानी दर्शन-शास्त्र से ग्रहण की थी। कैथॉलिक आराधना की कुछ विधिया हमे सिकन्दरियाई देवता 'आइसिस' के सप्रदाय की आराधना-विधि की याद दिला देती हैं। 'मदर' (मातृकाशक्ति) की पूजा और रोमन काल के कई सत हमे 'पैगन' ससार मे होने-वाली शक्ति-पूजा तथा अन्य सन्तो की स्मृति दिला देते हैं। ईसा के उपदेशो का जो प्रामाणिक और स्वीकृत पाठ है, उसमे हमे 'मदर' (मा) की पूजा के लिए न के बराबर समर्थन मिलता है। एल्यूसिस मे 'डिमीटर' के मन्दिर के स्थान पर सेंट 'डिमिट्रियस' का गिरजाघर बनाया गया। जो भी व्यक्ति ईसाइयत के लेटिन, रूसी और प्राच्य स्वरूपो से परिचित होगा, वह इस बात से प्रभावित हुए बिना न रहेगा कि ईसाइयत ने हर जगह अपने पूर्ववर्ती धर्मों के साथ समझौता किया है। यह उदारता केवल न्याय है, न कि आदिम 'पैगनो' (काफिरो) की धर्म-सस्कार से हीन मूल-प्रवृत्तियो को भड़काना मात्र।

[६]

इस सबका मतलब यह नही है कि धार्मिक सुधार या विकास जैसी कोई चीज़ है ही नही। परम्परा के प्रति निष्ठा रखने का यह तात्पर्य नही है कि हम दूसरे धर्मों की परम्पराओ के अनुकूल अपने धर्म मे आवश्यक सशोधन न करें। हिन्दू धर्म यह मानता है कि प्रत्येक धर्म अपनी सस्कृति से जटिल रूप से बधा हुआ है और उसका विकास समन्वित रूप से हो सकता है। हिन्दू धर्म यह तो स्वीकार करता है कि सभी धर्म सत्य और शिव के समान स्तर तक नही पहुच पाए हैं, परन्तु वह इस बात पर जोर देता है कि सभी धर्मों को अपने ढग से अपनी अभिव्यक्ति करने का अधिकार है। सभी धर्म कालान्तर मे अपने सिद्धान्तो की व्याख्या के अनुसार अपना सुधार करते जाते हैं और दूसरे धर्मों के साथ सपर्क मे आने पर एक-दूसरे के साथ सामजस्य भी स्थापित करते हैं। हिन्दू धर्म का दृष्टिकोण विध्यात्मक साहचर्य का है, नकारात्मक सहिष्णुता का नही।

हिन्दू धर्म के विभिन्न धर्म-सप्रदायो को इस प्रकार एक-दूसरे के निकट ला दिया गया है, ताकि सब आपस मे सहायक हो सकें। हिन्दू धर्म और उसकी एक शाखा—बौद्ध धर्म—एशिया के एक विस्तृत भू-भाग मे फैल गए थे। इनका प्रसार केवल कश्मीर और आसाम, ब्रह्मदेश (बर्मा) और सिहल (लका) मे ही नही हुआ, वरन् चीन, कम्बोडिया, कोरिया और जापान मे भी। यह आन्दोलन उत्तर की ओर बैक्ट्रिया तक भी जा फैला और उसमे भी आगे चीनी तुर्किस्तान, तिब्बत और मगोलिया तक पहुच गया। भारतीय धार्मिक भावना का प्रशान्त महासागर से लेकर लगभग भूमध्यसागर तक जो प्रसार हो गया, उसका आधार यह नही था कि हिन्दू धर्म केवल अपनी ही विशिष्ट आस्थाओ की पूर्णता मे दृढ विश्वास रखता है और अन्य धर्मों को बेकार समझता है। हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म बाहर से भीतर की ओर नहीं जाते, वरन् भीतर से बाहर की ओर जाते हैं। वे पहले 'लेबुल' मे परिवर्तन करके बाद मे जीवन मे परिवर्तन आने की प्रतीक्षा नही करते, बल्कि वे जीवन मे परिवर्तन तो ले ही आते हैं, साथ ही अपने पुराने 'लेबुल' भी बनाए रखते हैं।[1] शब्द उस सूत्र का काम देते हैं जिनमे हम अपने अनुभवो को गूथते हैं। स्मरणीय शब्द हमारे जीवन और विचारो को नैरन्तर्य और निर्देश प्रदान करते हैं। जिन शब्दो और प्रतीको के माध्यम से किसी समूह या सम्प्रदाय को उसके आध्यात्मिक अनुभवो को स्पष्टता और साम्प्रदायिक अभिव्यक्ति प्राप्त होती है, उन शब्दो और प्रतीको के प्रति उस विशेष समूह के मन मे पूर्वाग्रह होना स्वाभाविक है। जिस तरह ससार की सारी स्त्रिया अपने पति या प्रिय से किसी दूसरे की तुलना पसन्द नही करती, उसी तरह ससार के सभी धर्म अपने सिद्धान्तो, अपने शब्दो और अपने प्रतीको के साथ किसी अन्य धर्म की बराबरी पसन्द नही करते—वे अपनी वस्तु को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। यदि अनजान व्यक्ति किसी धर्म के सिद्धान्तो को सशय की दृष्टि से देखते हैं, तो इसका कारण यह है कि वे उनको जानते नही। हिन्दू धर्म लोगो की इस भावना का समादर करता है, इसलिए वह अत्यावश्यक बातो मे ही परिवर्तन कराने की चेष्टा करता है। हम दिव्य सत्य का केवल उतना ही अश समझ सकते हैं जिसका कुछ सम्बन्ध और सादृश्य हमारे अपने स्वभाव और उसके पूर्व-विकास से होता है। मनुष्य का रातो-रात पुनर्निर्माण नही हो सकता। जैसे-जैसे अनुभवो मे गहराई आती जाती है, वैसे-वैसे विचारो में

१. "संसार में जिन धर्मों में दूसरे धर्मों को पचाने की शक्ति है, उनमें से आर्य धर्म भी एक है।" [एफ० डब्ल्यू० टॉमस : 'द म्यूचुअल इन्फ्लुएन्स ऑव् मोहमडन्स एण्ड हिन्दूज' (१८९२ ई०), पृ० २]। "यह सागर की तरह अनन्त रूप से दूसरों को खपाने की क्षमता रखता है। मुसलमान जब भारत में आए, उनसे पहले भी कई भयंकर और लड़ाकू कबीले तथा जातियां बार-बार भारत के उत्तरी मैदानों पर आक्रमण करती आई थीं, यहां के राजाओं को राज्यच्युत करके, उनके नगरों पर अधिकार जमाकर और उन्हें बरबाद करके इन्होंने अपने नये राज्य स्थापित किए, अपनी नई राजधानियां बनवाईं और फिर मानवता के महान ज्वार की लपेट में पड़कर वे कबीले तथा जातियां न जाने कहां लुप्त हो गईं—अपने बाद में आनेवाले वंशधरों को वे छोड़ गईं केवल देशी के साथ मिश्रित विजातीय और विदेशी रक्त, और कुछ इक्के-दुक्के विदेशी रीति-रिवाज, जो शीघ्र ही अपने चतुर्दिक के वातावरण के प्रभाव में आकर रूपान्तरित होकर देशी रीति-रिवाजों के सजातीय बन गए।" [गॉर्डन : 'इण्डिया' (१९३१), खण्ड १, पृ० २]।

परिवर्तन होता जाता है। मनुष्य जितना भला होगा, सज्जन होगा, ईश्वर-सम्बन्धी उसकी धारणा उतनी ही योग्य होगी और उसकी पूजा-आराधना की विधि भी उतनी ही पवित्र होगी। धार्मिक जीवन के मानदण्ड को ऊंचा करके हम अपनी कल्पना और दृष्टि को अधिक स्वच्छ बनाते हैं, ताकि उनसे ईश्वर की अवधारणा की जा सके। जब आप सूर्य के प्रखर प्रकाश को कमरे के भीतर आने देते हैं तब मकड़ी के जाले स्वयमेव गायब हो जाते हैं। जो विश्वास अबौद्धिक होते हैं और हमारे जो आचार हमारी चेतना की विगर्हणा के पात्र होते हैं, वे एक नया वातावरण पाकर उसके अनुरूप अपने को रूपान्तरित कर लेते हैं। मिथ्यात्व मे उसके क्षय के बीज अन्तर्निहित रहते हैं—झूठ अधिक समय तक नहीं टिकता—यदि उसको कुछ समय के लिए अप्रतिवादित भी छोड़ दिया जाए, तो निश्चय ही वह विनष्ट हो जाएगा। यदि हम एक प्रकार के शब्दो के स्थान पर दूसरे प्रकार के शब्द रख दें, तो एक पुराने आदमी को, जो अनुभव को अधिक महत्त्व देता है, शब्दो की इस तुम्बाफेरी से कोई तथ्य या महत्त्वपूर्ण सत्य हाथ नही लगता। एक सजीव प्रक्रिया से गुज़रने के बाद ही किसी नये रूप को सार्थकता प्राप्त हो सकती है।

हिन्दू गुरु यह स्वीकार करते हैं कि आदिम जाति के लोगो के असंस्कृत विश्वासो मे भी सत्य तो है, परन्तु उनकी सीमित समझ के अनुसार वह सत्य भी संकीर्ण बन गया है, फिर भी वे इस बात पर ज़ोर देते हैं कि उन्हें उच्चतम सत्ता का बोध प्राप्त करने के लिए अपने को ऊपर उठाना चाहिए। हमे कोई अधिकार नही है कि हम किसी ऐसे अस्तित्व के सामने साष्टाग दण्डवत् करें, जिसके विषय मे हमे पता हो कि उससे भी श्रेष्ठतर कोई दूसरा है। 'तू मेरे रहते किसी दूसरे को ईश्वर नही समझ सकेगा' का वास्तव मे अर्थ यह है कि 'तू जीवन को किसी ऐसी चीज़ मे परिवर्तित नही करेगा जो मृत हो, या जानते-बूझते सत्य के सदृश जान पडनेवाली वस्तु को सत्य के स्थान पर नही रखेगा।' आस्था ईश्वर के प्रति आत्मा की सजीव संवेदनीयता है। यह अनवरत क्रिया है, शाश्वत पुनर्नवीकरण है। मनुष्य की गतिशीलता ही उसका जीवन है जब हम जड या स्थिर हो जाते हैं, तब हम मृतप्राय हो जाते हैं। यदि हम पूर्णता की उपलब्धि के लिए प्राणपण से चेष्टा नही करते तो हमारा पौरुष व्यर्थ है। पूरी-पूरी कोशिश करना मनुष्य के जीवन मे सबसे ऊंची चीज़ है। गायत्री मंत्र[1] हिन्दुओ की सार्वभौम प्रार्थना है। यह भारत के सांस्कृतिक इतिहास के समकालीन है, कोई भी स्त्री या पुरुष, भले ही वह उच्च हो या नीच, इस प्रार्थना को बोल सकता है, किसी भी समय या स्थान का प्रतिबन्ध इसके उच्चारण के लिए नही है। यह हमसे कहती है कि हम निर्भय होकर, एकाग्रचित्त की निष्ठा के साथ सत्यान्वेषण करें। यह मानवात्मा की शक्ति मे आस्था रखती है और यह मानकर चलती

१ यद्यपि इसका आरम्भ सूर्य-पूजा के एक आदिम रूप में हुआ होगा, परन्तु इसकी विषय-वस्तु को बहुत शीघ्र सुसंस्कृत कर लिया गया। इसको जावा के अ-भारतीय अ-हिन्दुओं को सिखाया गया था, हालांकि दुर्भाग्य से आज यह प्रार्थना केवल उच्च वर्गों और ऊंची जातियों के लोगों के लिए ही सीमित कर दी गई है। देखिए सरकार द्वारा लिखित 'इण्डियन इनफ्लुएन्स ऑन द लिटरेचर्स ऑव् जावा एण्ड बाली,' पृ० ७०–१।

है कि मनुष्य के प्रयास को कही तो जाकर कृतकार्यता प्राप्त होगी। धर्म-प्राण व्यक्ति के प्रयास कभी थकते नही, उसकी बराबर चेष्टा रहती है कि वह उसको देखे जिसको वह अब तक नही देख सका है और वह बने जो अभी तक वह नही बन पाया है। जो लोग हमसे यह कहते है कि यदि हम केवल यह विश्वास कर सकते कि हमारे मानसिक इतिहासो का अन्त हो जाएगा, तो हमारी आध्यात्मिक यात्राओ की भी समाप्ति हो जाएगी, वे धार्मिक जीवन के मर्म को नही समझते। "जो भी व्यक्ति शैथिल्य छोडकर अपने प्रयास मे सतत दत्तचित्त रहता है, उसीका उद्धार हम कर सकते हैं।"[1] गायत्री प्रार्थना चाहती है कि हम अपने को खो न दें, वरन् नग्न होकर, मिथ्यात्व का मुखौटा उतारकर अपने सच्चे आत्म-स्वरूप को जानने की चेष्टा करें, आत्मालोचना और मानवीय महत्त्वाकाक्षा के उच्चतम स्तर पर अपने जीवन को जियें। बुद्ध हमे मानसिक प्रमाद और जडता के विरुद्ध चेतावनी देते हैं। हमे प्रतिदिन अपने जीवन और विचार की परीक्षा सत्य के प्रकाश मे करनी चाहिए और जो भी मिथ्या है, असत्य है अथवा निरुपयोगी हो चुका है उसको दूर फेक देना चाहिए। सत्य अपना प्रमाण स्वय है, उसे अपने लिए किसी बाह्य साक्ष्य या प्रमाण की आवश्यकता नही है। बस, हमे यह नही भूलना चाहिए कि एक-दूसरे को प्यार करने का जो आदेश दिया गया है, वह स्वत्र सत्य का ही एक भाग है जिसका पालन हर कीमत पर होना चाहिए। मनुष्य के जीवन की सबसे बडी आवश्यकता यह है कि वह सत्य का जैसा दर्शन करे उसके उसी रूप के प्रति निष्ठावान रहे। सबसे बढकर बात तो यह है कि व्यक्ति को दूसरे लोगो की निष्ठा-भावना के प्रति निष्ठावान रहना चाहिए, भले ही वह सत्य के उस रूप से सहमत न हो जिसका दर्शन उन लोगो ने किया है। विश्व-भावना के प्रति निष्ठा रखना धर्म का सार-तत्त्व है। यही है गहनतम सत्य और विस्तृततम उदारता। धर्म के विकास मे हम अपना सबसे बडा योगदान यही कर सकते हैं कि हम जिज्ञासु आत्मा को सत्य के प्रति भक्ति-भावना रखने की सीख दें, सत्य के प्रति भक्ति किसी भी परम्परा या विश्वासो और प्रतीको की किसी भी पद्धति से महत्तर है। पूर्ण सत्य का स्पष्ट दर्शन प्राप्त करना मानव-जीवन का लक्ष्य है, विभिन्न परम्पराए और विचार इस लक्ष्य-प्राप्ति के ही साधन हैं, धर्म इन परम्पराओ और विचार को परस्पर आबद्ध करने का कार्य करता है, इस प्रकार धार्मिक जीवन एक सहकारी अध्यवसाय बन जाता है।

धार्मिक सुधारो की इस विधि की सफलताए उल्लेखनीय रही हैं, परन्तु उनसे कम उल्लेखनीय उनकी असफलताए नही। इतनी शताब्दियो के उपरान्त हिन्दू धर्म उपपादरी के अण्डे की तरह केवल अशत ही अच्छा है। यह प्रशसनीय भी है और घृणास्पद भी, इसमे साधुता भी है और जगलीपन भी, यह सुन्दर विवेक से पूर्ण है और भयकर रूप मे क्रूरतापूर्ण भी है, अकूत उदार है यह, तो नीचता भी इसमे इतनी है कि जिसका उदाहरण दूसरा नही। यदि हम कडाई से पेश नही आते, तो कहा नहीं जा सकता कि कब तक ये आदिम अन्धविश्वास हिन्दू-समाज मे बने रहेंगे।

1 गेटे द्वारा लिखित 'फॉस्ट', भाग २, अक ५।

जब हिन्दू धर्म ने इनको ग्रहण किया तब इनका सम्मान और अधिक बढ गया। लोगो से उनके पुराने तौर-तरीको को छुडाना आसान नही होता, सरलता से उनका आलस्य और निश्चेष्टता दूर नही की जा सकती, नये रास्तो पर उनको चलाना भी कोई हसी-ठट्ठा नही है। यद्यपि हिन्दू-समाज के कुछ बहुत बुरे आचरण, जैसे नर-मास-भक्षण, बहुपतित्व, और नरबलिया आदि, जिनके स्मरण मात्र से आत्मा विद्रोह कर उठती है, शीघ्र ही उसमे से दूर कर दिए गए, परन्तु कुछ दूसरे आचरण, जैसे पशु-बलिया, जो हमारी नैतिक भावनाओ के लिए अरुचिकर हैं, अब भी प्रचलित हैं। हम भले ही समाज-सुधारकों के सस्ते आश्वासन की आलोचना करें, परन्तु वे एक बडी नैतिक शक्ति का काम देते हैं, अत वे स्वागतार्ह हैं, क्योकि उनमे वह आस्था होती है जो पर्वतो को भी हिलाकर रख दे। हिन्दुओ का तरीका लोकतान्त्रिक होने के कारण अधिक व्ययसाध्य है और अपव्ययी भी है। राजनीति की तरह धर्म मे भी अगर सबकी रज़ामन्दी से सुधार किए जाए तो बलात् या दबाव से कराए गए सुधारो की अपेक्षा उनकी गति अधिक धीमी होती है, किन्तु लोगो की स्वेच्छा से जो कार्य होते है, उनमे मानवीय भावना का स्पर्श भी होता है। जीवन धैर्य की पाठशाला है और 'उदारता को अधिक समय तक कष्ट सहना पडता है।' स्वतन्त्रता, समानता और भ्रातृत्व के सिद्धान्तो का हिन्दू धर्म मे इतना विस्तृत प्रयोग हुआ है कि उनके कारण हिन्दू धर्म सभी धर्मों की तुलना मे अधिक लचीला बन गया है, नई परिस्थितियो के अनुरूप अपने मे आवश्यक परिवर्तन करने के लिए यह सबसे अधिक सक्षम है। यह ऐतिहासिक तथ्यो पर कम निर्भर करता है और किसीका प्रभुत्व सहन नही करता। इसके देवताओ का सबसे कटा-छटा कोई अलग समूह नही है। इसके देवकुल मे नये देवी-देवताओ का प्रवेश सदा अबाधित रहा है, देवी-देवताओ को परब्रह्म परमेश्वर का स्वाभाविक पक्ष माना जाता रहा है। हिन्दू-दृष्टिकोण मे एक खतरा यह दिखाई देता है कि वह हर चीज़ को इसलिए स्वीकार करता है, क्योकि उस चीज़ का अस्तित्व है, और इससे उसकी प्रगति अनन्त काल के लिए विलम्बित हो जाएगी।

[७]

भारत मे जो अन्य धर्म आए, वे हिन्दू-भावना से प्रभावित हुए बिना न रहे। हिन्दू धर्म जबकि एक विशद सश्लेषण है, जिसकी उपलब्धि मे सदिया लग गई हैं, तब इस्लाम धर्म एक अकेले मस्तिष्क की रचना है और एक ही वाक्य मे उसे अभिव्यक्त कर दिया गया है। 'ईश्वर एक है और मोहम्मद उसके पैगम्बर हैं।' मोहम्मद यह दावा करते हैं कि आदम से आरम्भ होकर जो शृखला नूह, मूसा और ईसा से होती हुई आई है, वह उसकी अतिम कड़ी हैं। मोहम्मद का सिद्धान्त सीधा-सादा है, उसमे सच्चे भ्रातृत्व की पुष्टि की गई है और मूर्तिपूजा (बुतपरस्ती) के प्रति घृणा व्यक्त की गई है। इस अपने सिद्धान्त को ससार पर आरोपित करके इस्लाम ने केवल दो ही विकल्प छोड़े—या तो इस्लाम कबूल कर लो या इस्लाम की अधीनता स्वीकार करो। उसने सारे ससार पर राज्य करने का दावा किया। अपनी मृत्यु से

पूर्व ही मोहम्मद अरब के स्वामी बन गए थे और अपने पड़ोसियों पर धावा करना उन्होंने प्रारम्भ कर दिया था। चार वर्ष बाद, ६३६ ई० में कदीसिया के युद्ध में फारस की शक्ति तहस-नहस हो गई। हिज्र के एक शताब्दी पश्चात् तक अरब राज्य की उत्तरी सीमा जैक्सर्टीज़ तक विस्तृत हो गई थी और सिन्ध-विजय हो जाने पर इस्लाम हिन्दू धर्म के सम्पर्क में आ गया था। पश्चिम में, अन्तिओक का पतन ६३८ ई० में हुआ और सिकन्दरिया का ६४८ ई० में। साठ वर्ष बाद कार्थेज साम्राज्य से अलग कर लिया गया और ७१० ई० में स्पेन पर इस्लाम का आक्रमण हुआ। इस्लाम की इस आगे बढ़ती हुई ताकत को पश्चिम के युवा उत्साह ने चार्ल्स मारटेल के नेतृत्व में टाउअर्स के महत्त्वपूर्ण युद्ध-क्षेत्र में रोक दिया। लड़ाकू और हठी इस्लाम अब तक भी उन्हीं धार्मिक सिद्धांतों को कायम रखे है, उन्हीं कानूनों को अब भी लागू करता है, उसी विधान का अब भी समर्थन करता है और उन्हीं रीति-रिवाजों का आज तक पालन करता है, जिनको उसने आरम्भ में अपनाया था। उसने अपना मसीहा-सम्बन्धी विचार जूडावाद से, अपनी धार्मिक कट्टरता और तपश्चर्या ईसाइयत से, अपना तत्त्व-ज्ञान यूनान से और अपना रहस्यवाद भारत तथा सिकन्दरिया से उधार लिया।

इस्लाम का भारतीय रूप हिन्दू विश्वासों तथा आचारों के द्वारा संशोधित हो गया है। भारतीय जनता में इस्लाम का जो रूप प्रचलित है, उसपर हिन्दू धर्म का प्रभाव दिखाई देता है। शिया लोग सुन्नियों की अपेक्षा हिन्दू धर्म के अधिक निकट हैं। खोजा सम्प्रदाय के धार्मिक सिद्धान्त वैष्णव और शिया-सिद्धान्तों के सम्मिश्रित रूप हैं। खोजा लोग मानते हैं कि अली विष्णु के दसवें अवतार थे। सूफीवाद अद्वैत वेदान्त से मिलता-जुलता है। यह अद्वैत ब्रह्म में विश्वास करता है और संसार को ईश्वर की, जिसकी वह ज्योति के रूप में कल्पना करता है, प्रतिच्छाया मानता है। सूफी लोग मांस नहीं खाते और पुनर्जन्म तथा अवतारवाद में विश्वास करते हैं।[1] इस्लाम में जो धर्मान्धता थी, वह भारत में आकर कुछ नरम पड़ गई। सम्राट् अकबर की आस्था इस्लाम धर्म की पूर्णता पर से उठ गई थी। उसका कथन था : 'सभी धर्मों में समझदार आदमी हैं और सभी राष्ट्रों में संयमी विचारक और चमत्कारिक शक्ति वाले लोग हैं।' वह कहता है : "हर आदमी ने अपनी परिस्थिति के अनुसार परमेश्वर को एक नाम देने की चेष्टा की है, किन्तु वास्तव में जो अज्ञेय है उसको कोई नाम देने का प्रयत्न व्यर्थ ही तो है।"[2] मैक्स मूलर के अनुसार, "अकबर ही वह प्रथम व्यक्ति था जिसने संसार के धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने का साहस किया।"[3] परन्तु उसमें धार्मिक भावना का अभाव नहीं था। अकबर अपने आचरण में चाहे जैसा रहा हो, परन्तु वह एक नैष्ठिक धर्मात्मा पुरुष था। जहांगीर कहता है कि मेरे पिता

१. 'डैबिस्तान' का शीया और ट्रॉयर कृत अंग्रेजी अनुवाद, खण्ड III, पृ० २८१ : "देखा गया है कि सत्रहवीं शताब्दी का एक प्रसिद्ध सूफी ... रखता था, मस्जिदों का आदर करता था, मन्दिरों में हिन्दू विधि से पूजा करता था, मस्जिदों में धार्मिक हरकतों, पूजा और मुसलमानों के ढंग से साष्टांग दण्डवत आदि का पालन करता था।" (पृ० २०१-२)।

२. विन्सेंट स्मिथ : 'अकबर द ग्रेट मोगल' (१९१७), पृ० ३४९-५०।

३. 'इण्ट्रोडक्शन टु द साइन्स ऑफ् रिलीजन', पृ० ६८।

ने 'एक क्षण के लिए भी खुदा को नही भुलाया।' इस साक्ष्य को अबुल फजल ने भी प्रमाणित किया है। वह शपथपूर्वक कहता है कि उसका बादशाह 'अपने जीवन का प्रत्येक क्षण आत्म-निरीक्षण मे या खुदा की इबादत मे बिताता है।' जहागीर ने सन्यासी जदरूप के सम्बन्ध मे कहा है कि 'वह वेदान्त-ज्ञान का, जो सूफीवाद का ज्ञान है, प्रकाण्ड पण्डित है।'[1] शाहजहा के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह ने एक प्रबन्ध लिखा था जिसका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि हिन्दुओं और मुसलमानो मे जो भेद दिखाई देता है वह केवल भाषा तथा अभिव्यक्ति के कारण है। कबीर, नानक, दादू और अन्य बहुत-से सन्त हिन्दू और मुस्लिम सिद्धान्तो के मिश्रित रूप का उपदेश करते हैं। बाह-सम्प्रदाय यह मानता है कि अपने-अपने धर्म को मानते हुए भी सब धर्मों को आपस मे साहचर्य की भावना रखनी चाहिए। बाह-उ-ल्लाह ने अपने धर्म-प्रचारको को जो परामर्श दिया है, उसमे धर्मान्धता की गन्ध भी नही मिलती।

> "ऐ बाह की सन्तानो! ससार के सभी लोगो और सभी धर्मों के अनुयायियो से तुम पूर्ण आनन्द की भावना के साथ मिलो-जुलो, सम्पर्क रखो। उनको याद दिलाओ कि कौन-सी चीज़ उनके लिए अच्छी है, किन्तु ईश्वरीय ज्ञान को, दैवी सन्देश को आपस मे झगडे या घृणा का कारण मत बनाओ, उसे अपने मार्ग का रोडा मत बनने दो। यदि तुम जो जानते हो, उसे दूसरा आदमी नही जानता, तो उसे वह बात मैत्रीपूर्ण ढग से और प्रेम से समझा दो। यदि उसने तुम्हारी बात मान ली और उसको अगीकार कर लिया, तो तुम्हारा जो लक्ष्य था वह पूरा हो गया, यदि वह उसे अस्वीकार कर देता है, तो तुम उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करो और उसे उसके हाल पर छोड दो, अपनी बात मनवाने के लिए दुराग्रह मत करो।"

हिन्दू और मुसलमानो मे जो सघर्ष है, जो हाल के दिनो मे अधिकता से होने लगे हैं, वे हमे लज्जा और दु ख से भर देते हैं। धार्मिक प्रश्नो के साथ राजनीतिक और आर्थिक बातें भी आ जुडी है। भारत के नये विधान ने, जिसमे हिन्दू और मुसलमानो को उनकी सख्या के अनुपात से राजनीतिक शक्ति या प्रतिनिधित्व दिया गया है, इस तनाव को और बढाने मे मदद की है। आत्माओ की पुकार और पदो की छीन-झपट के लिए होड आज गडमगड्ड हो रही हैं।

[८]

ईसाइयत पर दूसरे धर्मों का क्या प्रभाव पडा है, इसका अध्ययन अधिक रोचक है, क्योकि इससे पता चलता है कि ईसाइयो के मन मे परम्परा और प्रयोग का सघर्ष किस रूप मे चला है। बिशप हेबर के स्तोत्र मे परम्परागत दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। इसके पीछे एक लम्बा इतिहास था। इसने धार्मिक प्रचार के लिए राजनीतिक शक्ति का उपयोग किया।[2] आधुनिक युग मे इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व कार्ल बार्थ

१. 'मेम्वॉयर्स ऑव् जहागीर' : बेवरिज कृत अग्रेजी अनुवाद, खण्ड १, पृ० ३५६।

२. सेंट फ्रांसिस ज़ेवियर ने २० जनवरी १५४८ ई० को कोचीन मे पुर्तगाल के राजा जॉन तृतीय

करता है जिसकी 'डायालेक्टिकल थिओलॉजी' (आध्यात्मिक विसंगतियों की समीक्षा तथा उनके समाधान से सम्बन्धित धर्मशास्त्र) बहुत प्रसिद्ध है। वह गैर-ईसाई धर्मों को ईसाई-जगत् के शत्रु करार देता है और कहता है कि ईसाई-जगत् को उन 'भेड़ियों के साथ गुर्राना नही चाहिए।' एक अच्छा ईसाई दूसरे धर्मों को अपनाने का प्रश्न उपस्थित होने पर असहिष्णुतापूर्वक 'नहीं' ही कह सकता है। वह लिखता है . "क्या ईसाई-जगत् जानता है कि इन विरोधी धर्मों से उसका जो अवश्यम्भावी संघर्ष है, उससे पलायन करने का प्रलोभन उसके कितने समीप उपस्थित है ? यदि वह तनिक भी अपने उचित कार्य के प्रति अनवधानता दिखावे तो यह प्रवृत्ति उसमे आ सकती है। क्या वह जानता है कि ऐसा होना नहीं चाहिए ? हम तो केवल यही प्रश्न कर सकते हैं "क्या ईसाई-जगत् जानता है कि किसी भी दशा मे उसे इन भेड़ियों के साथ गुर्राना नही है ?" दूसरे धर्मों मे कोई भी अच्छाई देखने का प्रयत्न बिलकुल छोड़ देना चाहिए, इसमे सोच-विचार की कोई आवश्यकता नही है। वे कोई भी धर्म क्यो न हो, ईसाई-जगत् को उनके बीच मे से होकर आगे बढना चाहिए और ईसाइयत के एकेश्वरवाद का तथा असहायों के प्रति ईश्वर की करुणा का सन्देश उन तक पहुचाना चाहिए, उनके 'दैत्यो' के आगे उसे बाल बराबर भी नहीं डिगना चाहिए और इसके लिए उसे जिन कठिनाइयो और विपत्तियों का सामना करना पड़े, उनके लिए पूरी तरह तैयार रहना चाहिए।"[1] वस्तुत दूसरे धर्म अस्पृश्य हैं। भारत मे ईसाइयत की उच्चतर शिक्षा (क्रिश्चियन हायर एज्यूकेशन) के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए डॉ० ए० डी० लिण्डसे की अध्यक्षता मे जो आयोग नियुक्त किया गया था,

---

को लिखा था : "आपको, जितने साफ शब्दों में हो सके उतने साफ शब्दों में, यह घोषणा कर देनी चाहिए कि आपके कोप से बचने और आपका अनुग्रह पाने का एक ही उपाय है कि पुर्तगाली लोग जिन देशों पर शासन करते हैं वहा के जितने अधिक से अधिक लोगों को ईसाई बनाना सम्भव हो, बनावें।" देखिए, मैकनिकॉल लिखित 'द लिविंग रिलीजन्स ऑव् इण्डिया' (१९३४), पृ० २६८ अफ्रीकी भू-भाग में अन्वेषण करनेवाले एच० एम० स्टैनले ने जब आदिवासियों को भयभीत करने के लिए रखी गई तोप को देखा तो कहा : "क्या ही शानदार साधन है यह अफ्रीका की जगली जातियों में ईसाइयत और सभ्यता का प्रसार करने का।"

१. मैकनिकॉल की पुस्तक 'इज क्रिश्चियैनिटी यूनीक ?' (१९३६) पृ० १९८-९ में उद्धृत। लन्दन के बिशप ने अपने ग्रन्थ 'व्हाइ एम आइ ए क्रिश्चियन ?' में लिखा है . "मै ससार में खूब घूम चुका हू, मैंने बहुत निकट से ससार के अन्य धर्मों को देखा है। निश्चय ही उनके पास अपने पथ को उजागर करने के लिए कोई दीपक नहीं है" (पृष्ठ ३०)। क्लीमेन्टाइन ने एक बहुत भिन्न और अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया है : "जो लोग दार्शनिक कहे जाते हैं, और विशेषत प्लेटोवादी, उन्होंने जो कुछ कहा है, वह यदि सत्य हो और हमारी आस्था के साथ उसका सामंजस्य हो, तो हमें उसको ग्रहण करने में हिचकिचाने की आवश्यकता नहीं, वरन् उसको तो हमें ऐसे ग्रहण कर लेना चाहिए मानो वह अब तक अनधिकारी, अवैध लोगों के पास था। मूर्तिपूजक काफिरों का सारा ज्ञान असत्य नहीं है और न वह अन्धविश्वासमूलक कपोल-कल्पना है" [कर्क . 'द विज़न ऑव् गॉड्' (१९३१) पृ० ३३४]। स्वर्गीय पादरी एच० आर० एल० शेपर्ड ने लिखा था : "यह विचार कितना असह्य है कि ईश्वर ने अपना दिव्य सन्देश केवल एक प्रकार के लोगों को दिया है और अन्य लोगों को उसने अज्ञानान्धकार में छोड़ दिया है। इस विचार को अब केवल वही लोग मानते हैं जिनको ज्ञान की ज्योति ने अभी बहुत कम ज्योतित किया है।" ('द इम्पेरेटिव्स ऑव् ए पारसन,' पृ० १०७)।

ने 'एक क्षण के लिए भी खुदा को नही भुलाया।' इस साक्ष्य को अबुल फज़ल ने भी प्रमाणित किया है। वह शपथपूर्वक कहता है कि उसका वादशाह 'अपने जीवन का प्रत्येक क्षण आत्म-निरीक्षण मे या खुदा की इबादत मे विताता है।' जहागीर ने सन्यासी जदरूप के सम्वन्ध मे कहा है कि 'वह वेदान्त-ज्ञान का, जो सूफीवाद का ज्ञान है, प्रकाण्ड पण्डित है।'[1] शाहजहा के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह ने एक प्रवन्ध लिखा था जिसका उद्देश्य यह सिद्ध करना था कि हिन्दुओ और मुसलमानो मे जो भेद दिखाई देता है वह केवल भाषा तथा अभिव्यक्ति के कारण है। कवीर, नानक, दादू और अन्य वहुत-से सन्त हिन्दू और मुस्लिम सिद्धान्तो के मिश्रित रूप का उपदेश करते हैं। वाह-सम्प्रदाय यह मानता है कि अपने-अपने धर्म को मानते हुए भी सब धर्मों को आपस मे साहचर्य की भावना रखनी चाहिए। वाह-उ-ल्लाह ने अपने धर्म-प्रचारको को जो परामर्श दिया है, उसमे धर्मान्धता की गन्ध भी नही मिलती।

> "ऐ वाह की सन्तानो! ससार के सभी लोगो और सभी धर्मों के अनुयायियो से तुम पूर्ण आनन्द की भावना के साथ मिलो-जुलो, सम्पर्क रखो। उनको याद दिलाओ कि कौन-सी चीज़ उनके लिए अच्छी है, किन्तु ईश्वरीय ज्ञान को, दैवी सन्देश को आपस मे झगडे या घृणा का कारण मत वनाओ, उसे अपने मार्ग का रोड़ा मत वनने दो। यदि तुम जो जानते हो, उसे दूसरा आदमी नही जानता, तो उसे वह वात मैत्रीपूर्ण ढग से और प्रेम से समझा दो। यदि उसने तुम्हारी वात मान ली और उसको अगीकार कर लिया, तो तुम्हारा जो लक्ष्य था वह पूरा हो गया, यदि वह उसे अस्वीकार कर देता है, तो तुम उसके लिए ईश्वर से प्रार्थना करो और उसे उसके हाल पर छोड़ दो, अपनी वात मनवाने के लिए दुराग्रह मत करो।"

हिन्दू और मुसलमानो मे जो सघर्ष हैं, जो हाल के दिनो में अधिकता से होने लगे हैं, वे हमे लज्जा और दु ख से भर देते हैं। धार्मिक प्रश्नों के साथ राजनीतिक और आर्थिक वातें भी आ जुडी हैं। भारत के नये विधान ने, जिसमे हिन्दू और मुसलमानों को उनकी सख्या के अनुपात से राजनीतिक शक्ति या प्रतिनिधित्व दिया गया है, इस तनाव को और वढाने मे मदद की है। आत्माओ की पुकार और पदो की छीन-झपट के लिए होड आज गडमगड्ड हो रही हैं।

[८]

ईसाइयत पर दूसरे धर्मों का क्या प्रभाव पडा है, इसका अध्ययन अधिक रोचक है, क्योंकि इससे पता चलता है कि ईसाइयों के मन मे परम्परा और प्रयोग का सघर्ष किस रूप मे चला है। विशप हेवर के स्तोत्र मे परम्परागत दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है। इसके पीछे एक लम्वा इतिहास था। इसने धार्मिक प्रचार के लिए राजनीतिक शक्ति का उपयोग किया।[2] आधुनिक युग मे इस विचारधारा का प्रतिनिधित्व कार्ल वार्थ

१. 'मेम्वॉयर्स ऑव् जहागीर' : वेवरिज कृत अग्रेजी अनुवाद, खण्ड १, पृ० ३५६।

२. सेंट फ्रासिस जेवियर ने २० जनवरी १५४८ ई० को कोचीन मे पुर्तगाल के राजा जॉन तृतीय

करता है जिसकी 'डायालेक्टिकल थिओलॉजी' (आध्यात्मिक विसगतियो की समीक्षा तथा उनके समाधान से सम्बन्धित धर्मशास्त्र) बहुत प्रसिद्ध है। वह गैर-ईसाई धर्मों को ईसाई-जगत् के शत्रु करार देता है और कहता है कि ईसाई-जगत् को उन 'भेडियो के साथ गुर्राना नही चाहिए।' एक अच्छा ईसाई दूसरे धर्मों को अपनाने का प्रश्न उपस्थित होने पर असहिष्णुतापूर्वक 'नही' ही कह सकता है। वह लिखता है : "क्या ईसाई-जगत् जानता है कि इन विरोधी धर्मों से उसका जो अवश्यम्भावी सघर्ष है, उससे पलायन करने का प्रलोभन उसके कितने समीप उपस्थित है ? यदि वह तनिक भी अपने उचित कार्य के प्रति अनवधानता दिखावे तो यह प्रवृत्ति उसमे आ सकती है। क्या वह जानता है कि ऐसा होना नहीं चाहिए ? हम तो केवल यही प्रश्न कर सकते हैं "क्या ईसाई-जगत् जानता है कि किसी भी दशा मे उसे इन भेडियो के साथ गुर्राना नही है ?" दूसरे धर्मों मे कोई भी अच्छाई देखने का प्रयत्न 'बिलकुल छोड देना चाहिए, इसमे सोच-विचार की कोई आवश्यकता नही है। वे कोई भी धर्म क्यो न हो, ईसाई-जगत् को उनके बीच मे से होकर आगे बढना चाहिए और ईसाइयत के एकेश्वरवाद का तथा असहायो के प्रति ईश्वर की करुणा का सन्देश उन तक पहुचाना चाहिए, उनके 'दैत्यो' के आगे उसे बाल बराबर भी नही डिगना चाहिए और इसके लिए उसे जिन कठिनाइयो और विपत्तियो का सामना करना पड़े, उनके लिए पूरी तरह तैयार रहना चाहिए।"[1] वस्तुत दूसरे धर्म अस्पृश्य हैं। भारत मे ईसाइयत की उच्चतर शिक्षा (क्रिश्चियन हायर एज्यूकेशन) के सम्बन्ध मे विचार करने के लिए डॉ० ए० डी० लिण्डसे की अध्यक्षता मे जो आयोग नियुक्त किया गया था,

---

को लिखा था "आपको, जितने साफ़ शब्दों में हो सके उतने साफ शब्दों में, यह घोषणा कर देनी चाहिए कि आपके कोप से बचने और आपका अनुग्रह पाने का एक ही उपाय है कि पुर्तगाली लोग जिन देशों पर शासन करते हैं वहा के जितने अधिक से अधिक लोगों को ईसाई बनाना सम्भव हो, बनावें।" देखिए, मैकनिकॉल लिखित 'द लिविंग रिलीजन्स ऑव् इण्डिया' (१९३४), पृ० २६८. अफ्रीकी भू-भाग में अन्वेषण करनेवाले एच० एम० स्टैनले ने जब आदिवासियों को भयभीत करने के लिए रखी गई तोप को देखा तो कहा, "क्या ही शानदार साधन है यह अफ्रीका की जगली जातियों में ईसाइयत और सभ्यता का प्रसार करने का।"

१ मैकनिकॉल की पुस्तक 'इज क्रिश्चियैनिटी यूनीक ?' (१९३६) पृ० १६८-९ में उद्धृत। लन्दन के बिशप ने अपने ग्रन्थ 'ह्वाइ एम आइ ए क्रिश्चियन ?' में लिखा है "मैं ससार में खूब घूम चुका हू, मैंने बहुत निकट से ससार के अन्य धर्मों को देखा है। निश्चय ही उनके पास अपने पथ को उजागर करने के लिए कोई दीपक नहीं है" (पृष्ठ ३०)। ऑगस्टाइन ने एक बहुत भिन्न और अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया है : "जो लोग दार्शनिक कहे जाते हैं, और विशेषत प्लेटोवादी, उन्होंने जो कुछ कहा है, वह यदि सत्य हो और हमारी आस्था के साथ उसका सामञ्जस्य हो, तो हमें उसको ग्रहण करने में हिचकिचाने की आवश्यकता नहीं, वरन् उसको तो हमें ऐसे ग्रहण कर लेना चाहिए मानो वह अब तक अनधिकारी, अवैध लोगों के पास था। मूर्तिपूजक काफिरों का सारा ज्ञान असत्य नहीं है और न वह अन्धविश्वासमूलक कपोल-कल्पना है" [कर्क 'द विजन ऑव् गॉड' (१९३१) पृ० ३३४]। स्वर्गीय पादरी एच० आर० एल० शेपर्ड ने लिखा था "यह विचार कितना असत्य है कि ईश्वर ने अपना दिव्य सन्देश केवल एक प्रकार के लोगों को दिया है और अन्य लोगों को उसने अज्ञानान्धकार में छोड़ दिया है। इस विचार को अब केवल वही लोग मानते हैं जिनको ज्ञान की ज्योति ने अभी बहुत कम ज्योतित किया है।" ('द इम्पेशेन्स ऑव् ए पारसन,' पृ० १०७)।

उसकी रिपोर्ट मे ईसाइयो के प्रयोजन को इन शब्दो मे व्यक्त किया गया है :

> "ईसाइयो को इसका दृढ विश्वास है कि उनके पास देने को एक सदेश है जो मानवता की समस्याओ का एकमात्र समाधान है, इसलिए भारत के लिए भी वह उपयोगी है । वे यह विश्वास करते हैं कि उनके पास ऐसा शुभ सवाद है जिसको वह सबको सुनाकर उसका सम्मिलित आनन्द उठाना चाहते हैं । उनको आशा है और उनकी इच्छा भी है कि भारत ईसाई बन जाए । वे इस स्थिति से कभी सहमत नही हो सकते कि विभिन्न धर्मों के लिए उनके अपने-अपने धर्म ही अच्छे हैं, कि सभी धर्म आधारभूत रूप से एक-से ही है और यह कि प्रत्येक धार्मिक समाज को सोचना है कि उसके अपने धर्म मे जितनी सम्भावनाए हैं, उनका वह अच्छा से अच्छा उपयोग कैसे कर सकता है, उसमे रहकर ही अपने जीवन को उत्तम से उत्तम कैसे बना सकता है ।"[1]

यह कुछ नरम शब्दो मे कार्ल बार्थ के ही रुख का अन्वय है, क्योकि उक्त रिपोर्ट मे आगे कहा गया है "न तो हिन्दू धर्म मे और न इस्लाम धर्म मे ही ऐसा कुछ है जो आर्थिक और मनोवैज्ञानिक नियतिवाद के अधार्मिक प्रभाव का प्रतिरोध कर सके ।"[2] रिपोर्ट मे यह स्वीकार किया गया है कि "आधुनिक हिन्दू धर्म की उल्लेखनीय विशेषता है इसकी विवेकसम्मत व्यापकता, इसकी विभिन्न विचारधाराओ के समावेश की क्षमता ।"[3]

यद्यपि उक्त रिपोर्ट मे जो बातें कही गई हैं, उनके पीछे समर्थन करनेवाली एक ऊची शक्ति और आज का यह पूरा युग है, तथापि इसको लोगो का सामान्य समर्थन नही मिला । चर्च से प्रामाणिक रूप मे ईसा की जो जीवनिया प्रकाशित हुई है, उनसे हमे पता चलता है कि वह अपने अनुयायियो की अपेक्षा अधिक सहानुभूतिशील तथा उदार थे ।

इस्लाम धर्म मे ईश्वर की महानता और परिणामस्वरूप उसकी आराधना मे श्रद्धा की जो भावना स्पष्ट है, ससार के दु ख-शोक के प्रति गहरी सहानुभूति और उनसे नि स्वार्थ रूप से पलायन करने की जो भावना बौद्ध धर्म मे है, अतिम पूर्ण सत्य के साथ सम्पर्क की जो इच्छा हिन्दू धर्म मे पाई जाती है, विश्व मे एक नैतिक नियम की व्याप्ति मे जो विश्वास और नैतिक आचरण पर जो ज़ोर कन्फ्यूशियस के धर्म मे है, उनको हम नगण्य कहकर टाल नही सकते । आज जिस युग मे हम रह रहे हैं, उसमे हमारे लिए यह विश्वास करना कठिन है कि केवल एक धर्म के पास ही दैवी

१ पृष्ठ १३३ ।

२. पृष्ठ १४८ ।

३ पृष्ठ १४७ । इस विशेषता की चर्चा करते हुए डॉ० एल० पी० जैक्स लिखते हैं : "भारत के आध्यात्मिक लोगों—और उनकी सख्या अगुलियों पर ही गिना जाने योग्य नहीं है, वरन् वे असख्य जागरूक लोग हैं, जिनके आध्यात्मिक स्तर तक पहुचना कठिन है—में बहुत-से लोग हम पश्चिमवालों की अपेक्षा कहीं अधिक 'कैथॉलिक' (सहिष्णु और सार्वभौम) हैं । 'कैथॉलिक' शब्द की भावना को जितनी गहराई तक वे समझ सके हैं, उसका अल्पाश भी हम पश्चिमवाले इस शब्द को नहीं दे सके हैं ।" ['दू लेटर्स' (१६३४), पृ० २६] ।

सन्देश की ठेकेदारी है, केवल एक ही धर्म ईश्वर के सत्य-स्वरूप को जान पाया है और वही दूसरो तक इसको पहुचाने का अधिकारी है तथा शेष धर्म इससे सर्वथा वचित है।

[६]

कार्ल वार्थ का निश्चित मत है कि ईश्वर की जो भाकिया तथा उसके जो अन्त स्फूर्त्त ज्ञान दूसरे धर्मों को प्राप्त हो सकते है, वे क्राइस्ट मे दैवी सन्देश के स्फुरण की तैयारी नही माने जा सकते, वरन् वे तो पथभ्रान्त हैं, गलत राह पर चलने के निर्देश हैं। इस मामले मे, सम्भव है, कार्ल वार्थ को सकीर्ण और कट्टर मस्तिष्क वाले लोगो का समर्थन प्राप्त हो गया हो, परन्तु साधारण ईसाई-परम्परा का समर्थन निश्चय ही उसे प्राप्त नही। यहा तक कि 'ओल्ड टेस्टामेट' मे भी स्थानीय धर्म-सम्प्रदायो को नष्ट नही किया गया, बल्कि उनको सुधारा गया था। यह सच है कि पैगम्बरो ने 'स्वर्ग की रानी' (क्वीन ऑव् हेवेन) की मान्यता का खण्डन किया था, किन्तु वह ईसाई धर्म मे 'कुमारी मा' (वर्जिन मदर) बनकर लौट आई है। त्रिदेवो की उपासना करनेवाले (ट्रिनिटेरियन) धर्म शब्दो की जादूगरी से अपने को भरमाने की चेष्टा करते है कि वे एक ईश्वर मे विश्वास करते हैं, और इस विषय पर जो सर्वोत्तम बात कही गई है, वह यह कि यह एक ऐसा रहस्य है जिसकी कोई बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत करना सम्भव ही नही है। मैडोना तथा सन्तो और देवदूतो की प्रार्थना करने और ब्रह्म के प्रतीक के रूप मे छोटे-मोटे देवताओ की पूजा करने मे क्या वास्तविक अन्तर है, इसको जानना कठिन है। ईसाई धर्म शून्य मे नही उठ खडा हुआ; यह नही हुआ कि ईश्वर और आत्मा का सीधे आमना-सामना हुआ और ईसाई धर्म का उद्भव हो गया। यह एक ऐसे ससार मे उत्पन्न हुआ जिसमे परस्पर युद्धरत जातियो और प्रतिद्वन्द्वी धर्मो की भरमार थी। उस समय जो साधन और जो वातावरण उसे उपलब्ध हुए, उन्हीको लेकर ईसाइयत ने अपना विकास किया। फिलस्तीन ने नैतिकता और एकेश्वरवाद की, यूनान ने कला और दर्शन की, रोम ने व्यवस्था और सगठन की, तथा पूर्वीय देशों ने रहस्यवाद तथा आराधना की देनें दी। ईसाई चर्च के महान धर्मगुरुओ ने कार्ल वार्थ की शैली मे गैर-ईसाई धर्मों का प्रत्याख्यान नही किया। क्लीमेट केवल ईसाई धर्म-गुरु ही न था, वरन् एक विद्वान दर्शनशास्त्री भी था, जिसने उपलब्ध यूनानी विचारणा से इस नये धर्म को सम्पन्न किया। सेल्सस की आलोचना का उत्तर देते हुए ऑरिगेन ने कहा था "जब ईश्वर ने ईसा को मानव जाति के पास भेजा, तो ऐसा नही कि वह चिरनिद्रा से उसी समय उठा था और तद्रा की स्थिति मे उसने यह कार्य किया। ईसा सदा-सदा से मानव-जाति का भला करते रहे हैं। ससार मे कोई भी अच्छा-भला काम मनुष्यो द्वारा तब तक नही हो पाया है जब तक ईश्वर ने अपने दिव्य सदेश को कुछ ऐसी आत्माओ तक नही पहुंचाया, जो, भले ही कुछ क्षणो के लिए, उसके दिव्यदान को ग्रहण करने मे समर्थ थे।"[1]

१. 'कॉन्ट्रा सेल्सम' ।।, ७८।

आॅगस्टाइन कहते हैं कि 'जिसे हम ईसाई धर्म कहते हैं, वह प्राचीन काल मे भी मौजूद था, मानव-जाति के आरम्भ से लेकर क्राइस्ट के हाड-मास का शरीर धारण करने के समय तक, ऐसा कभी नही रहा कि इसका अस्तित्व न रहा हो, ईसा के भौतिक शरीर धारण करने पर बस इतना ही हुआ कि जो सच्चा धर्म बहुत आदि काल से चला आ रहा था, वह ईसाइयत की सज्ञा से सम्बोधित किया जाने लगा।"[1]

दूसरा दृष्टिकोण मानता है कि ससार के अन्य धर्मों मे भी दैवी तत्त्व है, परन्तु धर्म का उच्चतम विकास ईसाइयत मे ही हुआ है। मानवीय धर्म की चरम श्रेष्ठता तथा पूर्णता इसमे प्रतिफलित हुई है, यह एक ऐसा प्रतिमान है जिसके अनुसार अन्य सभी धर्मों को परखा जा सकता है।[2] जबकि प्रथम दृष्टिकोण मे दूसरे धर्मो मे आध्यात्मिक तत्त्व और दैवी सन्देश के होने से ही इन्कार किया गया है, तब इस द्वितीय दृष्टिकोण मे यह स्वीकार किया गया है कि अन्य धर्मों मे भी ईश्वर को जानने का प्रयास किया गया है और वे भी ईश्वरीय इच्छा का पालन करते हैं, परन्तु वे ईसाई धर्म के लिए, जो एक अनूठा धर्म है, पृष्ठभूमि तैयार करने का कार्य करते हैं।

ईसाई धर्म और अन्य धर्मों मे वही अन्तर है जो उत्तम और सर्वोत्तम मे होता है, ईसाई धर्म जबकि सर्वोत्तम है तब अन्य धर्म अच्छे हैं, उत्तम हैं, जो उत्तम है वह सर्वोत्तम का शत्रु है। "ईश्वर बहुत प्राचीन काल से बोलता आया है विविध अशो मे और विविध रीतियो से उसने अपनी बात कही है, और अब अन्त मे, इन दिनो उसने 'अपने पुत्र' के माध्यम से हमसे बातें की हैं।"[3] अर्थात् पूर्णरूप और अन्तिम रूप से बातें की हैं। "क्राइस्ट वास्तव मे सच्चे प्रकाश हैं, चिरन्तन प्राशक के प्रकाश हैं। हम मानव-सन्तानो ने अपने भीतर टिमटिमाते चिराग, सन के घुघुआते डठल जला रखे हैं—क्योकि हम मनुष्य की सन्तानें हैं—प्रारम्भ मे तो ईश्वर ने अपने हाथ से सबको एक जैसी ज्योति से जलाया था, किन्तु अब उन बेचारे मन्द-मन्द जलते दीपको का तेल चुकता जा रहा है, उनसे तेज प्रकाश तो तभी निकल सकता है जब हम नये सिरे से पुन उनके मूल स्रोत से तेल लेकर उन्हे लबालब भर दें।"[4] डॉ० मैकनिकॉल और स्वर्गीय डॉ० फार्कहर जैसे कुछ लोग इस दृष्टिकोण के माननेवाले हैं। वे भारतीय लोगो के धर्म-ग्रन्थो और उनके धार्मिक सस्कारो का उपयोग ईसाइयत को उसके प्रकृत रूप मे लाने के लिए करेंगे। परन्तु, इस प्रक्रिया मे एक स्थान पर जाकर वे भी अनुभव करते हैं कि उनके सामने एक ऐसी चट्टान आ गई है जिसकी अवहेलना करने का उन्हे कोई अधिकार नही है। "हमारे ईसाई धर्म मे एक हीरे का अन्त करण है जो किसी एक आदमी की निजी सम्पत्ति नही है जिसका वह वस्तु-

१ एपिस रीट्रैक्ट, अध्याय १।

२. तुलना कीजिए : "ईसाई धर्म ही पूर्ण धर्म है, यही वह धर्म है जो परमात्मा के अस्तित्व को प्रत्यक्ष रूप में प्रस्तुत करता है; या स्वय के लिए, यह ऐसा धर्म है जो अपना लक्ष्य स्वय बन गया है।" [हीगेल : 'द फिलॉसॉफी ऑव् रिलीजन', अंग्रेजी अनुवाद, (१८६५), खण्ड II, पृ० ३३०]।

३. हिब्रूज, I, १, २।

४. मैकनिकॉल, 'इज क्रिश्चियैनिटी यूनीक ?' (१९३६) पृ० १६६।

विनिमय कर सके, खरीद सके या बेच सके ।"[1] सत्य और असत्य दोनो युद्धरत परस्पर विरोधी पक्ष हैं। जबकि ईसाइयत को अन्य धर्मों से अलग-थलग होकर नही खडा रहना चाहिए, तब उसको सापेक्ष रूप से उत्कृष्ट, मानव-जाति के कई प्रयासो मे से एक प्रयास भी नही समझा जाना चाहिए।

ये दोनो दृष्टिकोण सभी मिशनरी धर्मो मे समान रूप से पाए जाते हैं। प्रत्येक धर्म पूरी निष्ठा से यही दावा करता है कि केवल वही सच्चा प्रकाश है और दूसरे धर्म तो झाडन-बुहारन हैं, जो हमे सत्य के प्रति अन्धा बना देते हैं और हमे लुभाकर उससे दूर हटा देते हैं। जब उसमे कुछ कम कट्टरता होती है, जब दूसरे धर्मों को वह कुछ सहानुभूति से समझता प्रतीत होता है, तब भी वह इस बात पर ज़ोर देता है कि उसका प्रकाश दूसरे धर्मों के प्रकाश की तुलना मे वैसा ही है जैसा तारो के प्रकाश की तुलना मे सूर्य का प्रकाश होता है , लघु प्रकाशो को तभी तक सहन किया जा सकता है जब तक वे तीव्र प्रकाश के सामने अपने को हेठा मानें, उसके अधीनस्थ बने रहे ।

[१०]

ईसाइयो मे अब ऐसे लोगो की सख्या क्रमश बढती जा रही है जो एक तीसरे प्रकार का दृष्टिकोण, जिसे हम हिन्दू-दृष्टिकोण कहते है, अपनाते हैं। हिन्दू-दृष्टिकोण निश्चित रूप से धर्म-परिवर्तन के विरुद्ध है । सीरियाई ईसाई (मलाबार-तट पर बसे हुए ईसाई) जिनकी भारत मे सबसे प्राचीन ईसाई-परम्परा है, धर्म-परिवर्तन करने या कराने के विरुद्ध है। जो लोग ईसाई धर्म मे बहुत बाद के खेवे मे दीक्षित हुए हैं, उनमे इस दृष्टिकोण को स्वीकार करने की रुझान बढ रही है।[2] 'अन्तर्राष्ट्रीय मिशनरी परिषद्' ने सन १९२८ मे यरूशलम के अपने अधिवेशन मे यह घोषणा की थी "हम किसी भी धार्मिक साम्राज्यवाद के एक भी ऐसे लक्षण का प्रत्याख्यान करेंगे, जो अपने विश्वासो और आचरणो को इसलिए दूसरो पर थोपने की इच्छा करेगा, ताकि उनकी आत्माओ का अपने मनमाने हितो की दृष्टि से उपयोग किया जा सके। हम एक ऐसे ईश्वर के आज्ञाकारी है जो हमारी इच्छाओ का समादर करता है और हम दूसरो की इच्छाओ का आदर करने की इच्छा करते

1 वही, पृ० १९ । डॉ० फिक 'इन्टरनेशनल रिव्यू ऑव् मिशन्स' (अक्तूबर १९२९) में लिखते हैं : "जब तक हम कर्म और सत्य में ईसाई होने का दावा करते हैं, तब तक हमें अपने भीतर औरों से श्रेष्ठ समझने की चेतना उत्पन्न करनी चाहिए।" (पृ० १०)।

2. राजकुमारी अमृतकौर लिखती हैं : "किसी का धर्म-परिवर्तन कराना या किसी व्यक्ति को अपना धर्म बदल डालने के लिए प्रेरित करने की इच्छा रखना—ये ऐसी बाते हैं जिनमे सदा औद्धत्य की गन्ध आती रही है और यह मन की उत्तेजक प्रवृत्ति के तुल्य है। मन की यह उत्तेजना निश्चित रूप से प्रेम के उस सिद्धान्त के विरुद्ध है, जिसके लिए, मेरा विश्वास है, ईसा जिये और मरे। जबकि भारतीय ईसाई चर्च ने अपने ही घर में फैली अस्पृश्यता को दूर करने का कोई गम्भीर प्रयत्न नहीं किया है, तब हिन्दू धर्म में पाई जानेवाली अस्पृश्यता की भावना का इस हद तक दुरुपयोग किया गया है कि दलित जातियों की तथाकथित ईसाइयत में अछूतों को सामूहिक रूप से दीक्षित करने की चेष्टाएं हुई हैं। मैं 'तथाकथित ईसाइयत' शब्द का प्रयोग सोच-समझकर कर रही हूं, क्योंकि मैं

है।"[1] उक्त रिपोर्ट मे अ ईसाई धर्मों का आह्वान किया गया है कि वे उन लोगो के आक्रमण का प्रतिरोध करने मे ईसाइयत के साथ सहयोग करें, जो ईश्वर और आध्यात्मिक जगत् की सत्यता को अस्वीकार करते हैं। "हम अ-ईसाई धर्मों के अनुयायियो का आह्वान करते है कि वे अदृष्ट ईश्वर मे और उसकी चिरन्तनता मे अपनी आस्था को दृढ करें, क्योकि ससार मे भौतिकवाद का बोलवाला होता जा रहा है। सभी अ-ईसाई धर्मों से हम अनुरोध करते है कि धर्म-निरपेक्षता या सासारिकता की सारी बुराइयो के विरुद्ध वे ईसाइयत के साथ सहयोग करें।"[2] रिपोर्ट से लगता है कि लोगो को यह समझ आ गई है कि ससार की आज सबसे महती आवश्यकता क्या है और आध्यात्मिक क्षेत्र मे ईश्वर पर आस्था रखनेवाले सभी लोगो के साहचर्य तथा

इन गरीब लोगों में से किसी एक को भी व्यक्तिगत रूप से नहीं जानती। मैंने इन लोगों से बातें की हैं—और मैंने कइयों से बातें की हैं—परन्तु मुझे एक भी आदमी ऐसा नहीं मिला जो इस विषय में मुझे कुछ भी बता सके कि धर्म-परिवर्तन करने के क्या आध्यात्मिक फलितार्थ होते हैं। क्या हिन्दू धर्म में ईसा का कोई महत्त्व है? होना तो अवश्य चाहिए। मैं यह विश्वास नहीं कर सकती कि कोई भी व्यक्ति जो भावना और सच्चाई के साथ ईश्वर की आराधना करता है, वह ससार के महान धर्मों में से किसी की भी सीमा से बाहर है, क्योंकि सभी महान धर्म सब प्रकार के सत्य के मूलस्रोत ईश्वर से ही अपने लिए प्रेरणा प्राप्त करते हैं। मुझे निश्चय है कि ईसाइयों में ऐसे विचार रखनेवाली मैं अकेली ही नहीं हूँ, बहुत-से ईसाइयों के ऐसे ही विचार हैं।" ('द हरिजन', ३० जनवरी १९३७)।

१ 'द वर्ल्ड मिशन ऑव क्रिश्चियैनिटी,' पृ. १०। श्री बर्नर्ड ल्यूकास अपनी पुस्तक 'आवर टास्क इन इण्डिया' में किसी का धर्म-परिवर्तन कराके उसे ईसाई बनाने और ईसाई धर्मोपदेश या इजील का प्रचार करने—इन दो बातों में अन्तर करते हैं। धर्म-परिवर्तन कराने की निन्दा ईसा ने भी की थी जो उनके इस कथन से स्पष्ट होता है : "ऐ स्क्राइबो (प्राचीन यहूदी लेख्य-रचयिता के अनुयायी) और फारसीको, तुम पर खुदा का क़हर टूटे। तुम पाखण्डी हो। क्योंकि तुम एक आदमी को अपने धर्म में लाने के लिए आकाश-पाताल एक कर देते हो, जब वह तुम्हारा धर्म स्वीकार कर लेता है तब तुम उसको गेहेन्ना का दुगुना पुत्र बना देते हो जितने कि तुम खुद भी नहीं हो" (सेंट मैथ्यू)। परतु श्री ल्यूकास की दृष्टि में इजील का प्रचार करने की बात का समर्थन इन शब्दों में मिलता है : "किन्तु, तब तुम जाओ और बाहर जाकर ईश्वरीय राज्य का प्रकाशन करो" (सेंट ल्यूक)। ईसाई धर्मोपदेश या इजील के प्रचार पर टीका करते हुए श्री ल्यूकास लिखते हैं : "ईसाई धर्मोपदेश के प्रचार का दृष्टिकोण जाति के धार्मिक विकास में वशानुक्रम के नियम को स्वीकार करता है। भारत में एक विशिष्ट प्रकार की विचारणा और जीवन है जिसका विकास ईश्वर शताब्दियों से करता रहा है, अत उसको भारत और विश्व के हित में अवश्य बचाकर रखना चाहिए।" वह आगे कहते हैं कि यदि भारत अपनी विशिष्ट धार्मिक प्रतिभा को खो देता है तो यह केवल उसीकी हानि न होगी, वरन् यह सारे ससार की अपूरणीय और अपार क्षति होगी। "हिन्दू को हिन्दू के रूप में बचाना आवश्यक है।" डॉ० फ्लेमिंग अपनी पुस्तक 'व्हिदर बाउण्ड इन मिशन्स' (१९२५) में 'परस्पर लेन-देन' की वकालत करते हैं। वह दलील देते हैं कि ईसाई मिशनरियों द्वारा जो प्रयास किये जा रहे हैं उनका तरीका साम्राज्यवादी है, इसलिए उनके विरुद्ध जो असतोष लोगों में है, वह उचित ही है। वह यह अनुभव करते हैं कि हमको निष्पक्ष होकर यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि प्रत्येक प्रजाति में कुछ विशेष गुण हैं और वह सभ्यता को अपनी विशेष देन देने में समर्थ है। उनकी पुस्तक के प्रथम अध्याय का शीर्षक है : 'इरेडिकेटिंग ए सेन्स ऑव सुपीरियारिटी' ('वरिष्ठता की भावना का उन्मूलन करना')।

२ 'द वर्ल्ड मिशन ऑव् क्रिश्चियैनिटी', पृ० १८।

सहयोग का आज कितना महत्त्व है। 'अमेरिकन कमीशन ऑव् लेमेन' (सामान्यजन का अमेरिकी आयोग) की रिपोर्ट भी इस बात की पुष्टि करती है कि लोगो का अपनी परम्पराओ मे जो विश्वास है, उसको डिगाना बुद्धिमानी का काम नही है। "इस बात का वास्तविक खतरा है कि परम्परा की बुराइया परम्परा के अच्छे तत्त्वो को तिरस्कृत कर देंगी और प्राचीन सस्कृतियो के उस जाति पर जो नैतिक नियन्त्रण रहते है, उनके हट जाने पर उनका स्थान लेनेवाली कोई दूसरी चीज हम उसे नही दे सकेंगे। प्राचीन सस्कृतिया या परम्पराए चाहे जितनी बुरी हो, अयुक्तियुक्त हो, परन्तु कम से कम उनकी एक उपयोगिता तो है ही कि वे सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखती हैं।"[1] मिशनरियो (ईसाई धर्म-प्रचारको) का कार्य यह होगा कि वे अन्य धर्मों के साथ-साथ अपने धर्म को भी समृद्ध करें। "कदाचित् ईसाई-जगत् के आत्म-ज्ञान को गहरा करने के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि वह प्राच्य जीवन के साथ अपने जीवन को अधिकाधिक सयुक्त करे, उससे कुछ ले, अपना कुछ उसे दे। धर्मों के बीच आपस मे जो सम्बन्ध बनें, उनका रूप अब से यह होना चाहिए कि वे सब अब अधिकाधिक मिलजुलकर सत्य की शोध करें।" सत्य का अधिक और सही ज्ञान तभी होता है जब विभिन्न मन और उनकी अन्तर्दृष्टिया रचनात्मक भाव से परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया करती हैं, जब हर धर्म और सस्कृति दूसरे धर्मो और सस्कृतियो की अच्छाइयों की प्रशसा करती है, उनसे कुछ लेकर अपना विस्तार करती है और जब सभी धर्म तथा सस्कृतिया परस्पर आलोचना करती हैं। "सत्य के चारो ओर जो बाड़ें लगा दी जाती हैं, वे बेकार हैं, सत्य को निजी सम्पत्ति बनाने की जो चेष्टा की जाती है, वह भी निरर्थक है, अन्तिम और पूर्ण सत्य, वह चाहे जो हो, प्रत्येक वर्तमान धर्म का 'न्यू टेस्टामेट' ही है।" समस्त सभ्य ससार को प्रभावित करनेवाला नैतिक और धार्मिक आदर्श एक-सा ही है, प्रत्येक जाति और प्रत्येक धर्म के लोग उस आदर्श को अपने धर्म मे प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और वहाँ उसको प्राप्त कर भी लेते हैं। दूसरे शब्दो मे, यह रिपोर्ट स्वीकार करती है कि कोई भी धर्म अपने वर्तमान रूप मे पूर्ण नही है और वह अपनी अधिक अच्छी अभिव्यक्ति के लिए सचेष्ट है। यह आशा करती है कि एक ऐसा समय आएगा जब मनुष्यो को आपस मे अलग करनेवाले नाम अपना विभेदक अर्थ खो देंगे।"[2] डॉ० इन्गे कहते है : "मान लीजिए कि वे एक ऐसे अस्तित्व की पूजा करते हैं जिसकी विशेषताए एक समान हैं, तो इससे क्या अन्तर पडता है कि हम उसे बुद्ध कहते हैं या क्राइस्ट। हमे वस्तु-तत्त्व पर ध्यान

१ ऐसे ईसाई मिशनरी भी हैं जो इस विचार को अपनाते हैं और इसकी वकालत करते हैं। रेवरेण्ड वेरियर एलविन कहते है : "मैं गोण्ड जाति के लोगों मे रहता हूँ और उनको प्यार करता हूँ। मैंने कभी उनके धर्म में हस्तक्षेप नहीं किया और जब उनमें से कोई मुझसे ईसाई बनाने की प्रार्थना करता है, तब मैं मना कर देता हूँ। मेरा अपना यह विचार है कि यह सबके लिए अच्छा होगा कि सब लोग ऐसा ही निष्पक्ष दृष्टिकोण अपना लें और उनके पूर्वजों के धर्म के साथ छेड़छाड़ न करें।" ('इण्डियन सोशल रिफॉर्मर', २ नवम्बर, १९३५, पृ० १२६)।

२. (१९३२), पृ० ४४, ४६, ४७, ५८।

देना चाहिए, न कि शब्दो पर ।"[1]

इस प्रकार, ईसाई मिशनरी दूसरे धर्मों के प्रति जो रुख अपनाते हैं, उसके तीन रूप हैं—दक्षिण, मध्यम और वाम । अन्यत्र की तरह यहा भी भविष्य की आशाए उदार विचारवाले वामपक्षियो पर टिकी है, प्रतिक्रियावादियो या अनुदार विचारवालो पर नही । यदि हम ईश्वर पर निष्ठापूर्वक विश्वास करनेवालो और ईश्वर की इच्छा के अनुसार कार्य करने का प्रयत्न करनेवालों मे परस्पर प्रेम-भाव स्थापित नही कर सकते, यदि हम एक-दूसरे की धर्मशास्त्रीय दृष्टि से हत्या करने की अपनी कोशिश को छोडते नही, तो होगा यह कि हम ईश्वर पर लोगो की आस्था को ही निर्वल कर देंगे। यदि ससार के महान धर्म मानव-जाति के आध्यात्मिक जीवन को पोषित करने के महत्कार्य मे अपने को मित्रवत् भागीदार समझने की अपेक्षा अपने ही भाइयो का गला काटने मे अपनी शक्तियो का अपव्यय करते रहते हैं, तो धर्मनिरपेक्ष मानववाद और नैतिक भौतिकवाद के आगे वढते हुए कदमो को कोई रोक नही सकेगा । वर्तमान ससार अशान्त और अव्यवस्थित हो गया है, उसकी आस्थाए आज इतनी डिग गई है जिसकी हम कल्पना नही कर सकते, घातक अन्धविश्वास आज मनुष्य के मन पर छा गए है । जव ससार की ऐसी स्थिति हो, तव हम अपने इस निश्चय से तिलमात्र नही हट सकते कि सारी मानवता सयुक्त होकर रहेगी, हम इस ससार को ऐसा वना देंगे जहा मुस्लिम, ईसाई, वौद्ध और हिन्दू समान भक्ति-भावना मे आवद्ध होकर साथ-साथ रह सकेंगे—उनकी भक्ति किसी विगत के प्रति नही, वरन् उज्ज्वल आगत के प्रति होगी, जातीय अतीत या भौगोलिक इकाई पर उनकी दृष्टिया नही लगी होगी, प्रत्युत् वे एक ऐसे विश्व-समाज का स्वप्न देख रहे होगे जिसका एक सार्वभौम धर्म होगा । ऐतिहासिक धर्म तो उस सार्वभौम धर्म की मात्र शाखाए है । हमको नम्रतापूर्वक यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि हमारी एकल परम्पराओ का स्वरूप सदोष और एकागी है, हमे उस व्यापक परम्परा मे उनका निकास ढूढना चाहिए जिसमे से उन सवका स्रोत फूटा है ।[2]

प्रत्येक धर्म ऐसे गुरुओ, ऐसे महर्षियो के चरणो मे वैठता रहा है जिन्होने उसके अनुशासन के आगे सिर नही झुकाया है, उसके अधिकार को नही माना है । यही वात आज इतने वडे पैमाने पर हो रही है, जिस पैमाने पर यह मानवता के इतिहास मे इससे पूर्व कभी घटित नही हुई थी । धर्म पर इसका सवसे अधिक गहरा प्रभाव पडेगा । अपने-अपने विस्तृत वातावरण मे रहकर सभी धर्म अपनी आत्माओ का साक्षात्कार और अपना पूर्ण विकास करने मे एक-दूसरे के सहायक हो रहे हैं । जिन विचारो और अन्तर्दृष्टियो के पीछे शताब्दियो की प्रजातीय तथा सास्कृतिक परम्परा और नैष्ठिक प्रयास है, उनका परस्पर

१. 'इनक्वायरर', १२ जून १९२६ ।

२. तुलना कीजिए - प्रोफेसर हॉकिंग : "हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि एक विश्व-धर्म का अस्तित्व है । हम धार्मिक पद्धतियों को अलग नाम दे देते हैं, परन्तु वे अलग नहीं हैं, हम मुहबन्द गोलकों के सदृश नहीं हैं । सारी धार्मिक पद्धतिया एक सार्वभौम मानवीय धर्म में और उसके माध्यम से दैवी अस्तित्व में विलीन हो जाती हैं ।"—वैसिल मैथ्यूज लिखित 'रोड्स टु द सिटी ऑव् गॉड' (१९२८) पृ० ४३ में उद्धृत ।

आदान-प्रदान होने से विभिन्न विचारधाराए एक-दूसरे को उर्वर बना रही है। इस प्रकार मनुष्यो के विचारो की गहन रचना मे एकीकरण की एक बडी प्रक्रिया चल रही है। कदाचित् अचेतन रूप से ही, लोगो मे एक-दूसरे के विचारो का आदर करने की, दूसरी सस्कृतियो की अमूल्य निधियो की सराहना करने की, एक-दूसरे के नि स्वार्थ प्रयोजनो मे विश्वास करने की प्रवृत्ति बढती जा रही है। हम लोग धीरे-धीरे यह बात समझते जा रहे हैं कि विभिन्न मत-मतान्तरो मे एक व्यापक सश्लेषण लाने के लिए भिन्न-भिन्न विचारो और आस्थाओ के लोगो का होना एक-दूसरे के लिए आवश्यक है। मनुष्य के यान्त्रिक कौशल के कारण आज ससार एक घनिष्ठ इकाई मे परिणत हो गया है, परन्तु इसको आध्यात्मिक आधार तो तभी मिल सकता है जब ससार में पाए जानेवाले नाना प्रकार के मतो, सम्प्रदायो और धर्मो मे एक व्यापक सश्लेषण ला दिया जाए।

९

हिन्दू धर्म में व्यक्ति और सामाजिक व्यवस्था

[१]

पिछले पचास वर्षों मे इतने अधिक क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए है जितने मानव-इतिहास के किसी एक युग मे नही हुए थे ।[१] वैज्ञानिक आविष्कारो ने मनुष्य के पार्थक्य को समाप्त कर दिया है और भूतल पर एक महान समाज की रचना, जिसकी कल्पना ने सभी जातियो और राष्ट्रो के ऋषियो और पैगम्बरो को अनुप्रेरित किया है, के युग-युगीन स्वप्न को प्रत्यक्ष करने के लिए अद्भुत अवसर प्रदान कर दिए है। विज्ञान और प्राविधिकी (टेकनॉलॉजी) के प्रसार से जो सामाजिक और नैतिक समस्याए उठ खडी हुई हैं और विभिन्न जातियो तथा सस्कृतियो के मध्य जो नये सम्पर्क हुए हैं, वे पूर्व और पश्चिम दोनो मे ही समान हैं । हमको अब एकसाथ मिलकर रहना सीखना चाहिए और एक-दूसरे को समझना चाहिए ।

इस या उस जाति की श्रेष्ठता और राष्ट्रो के ऐतिहासिक उद्देश्यो (मिशनो) मे प्राय रहस्यात्मक आस्था, वह मुख्य बाधा है जो पूर्व और पश्चिम को परस्पर समझने नही देती । नेपोलियन के फ्रास ने अनुभव किया कि यूरोप मे क्राति के बीज-वपन का उत्तरदायित्व उसीपर आ पडा है , साम्राज्यवादी ब्रिटेन ने भी यही समझ लिया कि ससार-भर के पिछडे लोगो को सभ्य बनाने का पुनीत कार्य गौराग जातियो को ही करना है , सोवियत रूस ने पूजीवाद की दासता से सर्वहारा वर्ग को मुक्त करने का बीडा ही उठा लिया, और इसी प्रकार नार्डिक (उदीच्य) जर्मनी ने ईसा-मसीह-विरोधी साम्यवाद से ससार को बचाने की ज़िम्मेदारी अपनी ही समझ ली । हर राष्ट्र किसी काल्पनिक प्रारब्ध को पूर्ण करने का जो दर्प कर बैठता है, वह कोई पश्चिम तक ही सीमित नही है । ऐसे भारतीयो की भी कमी नही जो विश्वास करते हैं कि ससार मे यदि सच्ची आध्यात्मिकता कही अवतरित हुई है, तो वह भारत की पावन धरा पर ही—ससार मे अन्यत्र कभी नहीं । ऐसे चीनी भी हैं जो समझते हैं कि ससार मे उन जैसा सभ्य कोई है ही नही । जापान के सार्वजनिक नेता, सौ वर्ष पूर्व के शिन्तोवादी महात्मा हिराता की भाषा का प्रयोग करते हुए बहुधा कह देते हैं कि जापानी लोग देवताओ के वशधर हैं, अन्य सभी राष्ट्रो से वे मात्रा मे नही, वरन् प्रकार मे भिन्न हैं । वे मानते हैं कि ईश्वर के पुत्र मिकाडो को ससार के सभी राष्ट्रो पर शासन करने का दैवी अधिकार है । यदि प्राचीन काल मे कुछ समूह इस बात का दावा करते थे कि उनको विशेष दैवी सरक्षण प्राप्त है, तो वे अब अनर्गल वैज्ञानिक शब्दावली का प्रयोग करके यह घोषित करते हैं कि इतिहास के इस नये दौर मे वे

१. "पाषाण-युग से लेकर रानी विक्टोरिया के युग तक एक ऐतिहासिक युग मानना चाहिए । हम इस समय दूसरे युग में रह रहे हैं ।" [गेराल्ड हर्ड . 'दीज़ हरिंग ईयर्स', (१६३३), पृ० १] ।

विकास की परम्परा के साथ चल रहे हैं। जातियो के प्रारब्ध-सिद्धान्त का प्रतिपादन करके वे अपनी इच्छाओ को गरिमामय स्वरूप दे देते हैं और अपनी घृणाओ को सगठित कर लेते हैं। यद्यपि राष्ट्रो के बीच पारस्परिक हितो की घनिष्ठता होती जा रही है और रीति-रिवाजो तथा जीवन के तौर-तरीको मे दिनो-दिन समरूपता आती जा रही है, तो भी आधारभूत जातीय भिन्नताओ और राष्ट्रीय मिशनो के इस घातक सिद्धान्त के कारण, सही माने मे एक मानवीय समाज के विकास मे बाधाए उपस्थित हो रही हैं। फिर भी, विज्ञान बिलकुल भिन्न दृष्टिकोण का समर्थन करता है, वह मानता है कि सभी जातियो मे मानव-मस्तिष्क की बुनियादी गठन एक जैसी है। जितनी भी भिन्न-भिन्न सस्कृतिया हैं, वे आत्मा की वाणी की भाषाए मात्र हैं। इनमे भिन्नता है केवल स्वराघातो, ऐतिहासिक परिस्थितियो एव विकास की सरणियो के कारण। आज जातियो और राष्ट्रो को एक-दूसरे से अलग करनेवाली भिन्नताओ का यदि हम कोई समाधान प्राप्त करना चाहते हैं, तो इसके लिए हमे यह मानकर चलना होगा कि आधुनिक ससार अनिवार्यत आध्यात्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से एक है।

कुछ लोग जिनकी परम्परा और जिनका प्रशिक्षण यूरोपीय विचार-पद्धति तक ही सीमित है, यदि यह सोचें तो ठीक ही है कि सुकरात, प्लेटो, अरस्तू आदि यूनानी विचारकों के पूर्व वैचारिक दृष्टि से ससार मे बडी अस्तव्यस्तता थी, एक अरूप शून्य विश्रृखलता थी। जब हम यह महसूस करते हैं कि जिन विचार-पद्धतियो ने असख्य कोटि-कोटि मानवो को प्रभावित किया, उनका प्रणयन और विस्तार ऐसे लोगों द्वारा किया गया जिन्होने कभी इन यूनानी विचारको का नाम तक न सुना था, तब इस तरह का दृष्टिकोण हमे प्रान्तवाद जैसा लगने लगता है। हिन्दू ऋषियो और मनीषियो ने दर्शन और आचार की पद्धतियो की रचना की, यहूदियो ने उच्च कोटि के एकेश्वरवाद का विकास किया, पारसी धर्म के प्रणेता ज़रतुस्त्र ने यह घोषणा की कि यह विश्व न्यायपरायणता का सतत वर्द्धमान राज्य है, और बुद्ध ने मोह-मुक्ति (ज्ञान-बोध) का मार्ग बताया। चीनी सभ्यता उपर्युक्त यूनानी विचारको के समय भी दो हज़ार वर्ष पुरानी हो चुकी थी और मिस्र के पिरामिड तथा बेबीलोन के प्रासाद भी उस काल के लोगो की दृष्टि मे पुरातत्त्व की वस्तुए बन चुके थे। यदि हम थोडी देर के लिए मिस्र, असीरिया, क्नोसॉस और अन्य सभ्यताओ की बात छोड दें, जिनका प्रभाव आधुनिक ससार पर प्रत्यक्ष से अधिक अप्रत्यक्ष रूप से पडा है, तो भी यह बात कैसे भुलाई जा सकती है कि ईसा से ५०० वर्ष पूर्व भी इज़राएल मे पैगम्बरी विचार-सप्रदाय का, चीन मे कनफ्यूशियसवाद का और भारतवर्ष मे ब्राह्मण-धर्म तथा बौद्ध धर्म का उदय तत्कालीन इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटनाए थीं। उस समय तक जो जीवन-दर्शन प्रतिपादित हो चुके थे, आज के ससार पर उन्हीका अधिकतर प्रभाव दिखाई देता है। अब ऐसी सुविधाए और अवसर उपलब्ध हैं जिनसे इन विभिन्न प्रवृत्तियो का विश्व-इतिहास मे स्थान निर्धारित किया जा सकता है। भले ही उनमें से कुछ आधुनिक परिस्थितियो के उपयुक्त नही हैं, तो भी मनुष्य के क्रमिक उत्थान

और प्रगति की कहानी म उन लोगो की दिलचस्पी स्वाभाविक है जो मनुष्य की एकता मे आस्था रखते हैं। इसलिए यह महत्त्व का विषय है कि इन व्याख्यानो मे हम प्रमुख समस्या को उठा रहे हैं और विभिन्न ऐतिहासिक दृष्टिकोणो से इसका पर्यवेक्षण कर रहे हैं।

[२]

किसी भी सामाजिक सगठन पर विचार करते समय हमे उन तात्त्विक विचारो की, जिनपर उसकी नीव रखी गई है, उस जीवन-दर्शन की जिससे वह प्रेरणा लेता है और उन रूपो की जिनमे जीवन-सम्बन्धी ये विचार अभिव्यक्ति पाते हैं, जानकारी कर ही लेनी चाहिए। प्रेरणादायक विचार अपने मूर्तिमन्त ऐतिहासिक रूपो से कही बडे होते हैं। व्यक्ति और समाज के साथ व्यक्ति के सम्बन्ध के विषय मे हिन्दू धर्म के दृष्टिकोण को उत्तम रीति से समझने के लिए आगे लिखी हुई बातो के सश्लेषण और वर्गीकरण पर दृष्टिपात करना समीचीन होगा—(क) जीवन के चार पुरुषार्थ : काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष , (ख) समाज के चतुर्वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ; और (ग) जीवन के चार सोपान—आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एव सन्यास। इस त्रिविध अनुशासन के द्वारा हिन्दू लोग अपने जिस प्रारब्ध को प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं, वह हैं शरीर को आत्मा मे बदल देना, पुण्य (धर्म) के लिए ससार की सामर्थ्य का पता लगाना और इससे आनन्द की प्राप्ति करना। यह कहा जाता था कि ईश्वर ने विश्व की रचना इसलिए की कि वह अपने-आपको समझ सके। इस विषय मे हम चाहे जो अनुभव करें, पर इसमे कोई शका नही की जा सकती कि ससार का अस्तित्व ही इसलिए है कि इसमे विकासमान व्यक्तित्व के लिए जो भी चीज़ें सुसगत हो, उनका उपयोग करते हुए हम अपने पूर्व आत्मत्व को उपलब्ध करके स्वय को समझ सकें, जान सकें। परन्तु इस लक्ष्य तक सभी व्यक्तियो की पहुच बहुत आकस्मिक और तात्कालिक नही होनी चाहिए। व्यक्तित्व के उन्नत प्रशिक्षण तथा स्वाभाविक जीवन के समस्त प्रयोजनो का उत्थान करते हुए उसके क्रमिक विस्तार के द्वारा इस लक्ष्य तक पहुचना चाहिए। कोई व्यक्ति किस प्रकार का है, उसके जीवन का झुकाव किधर है और उसका विकास किस सीमा तक हुआ है, इन बातो पर विचार करके ही यह सोचा जा सकता है कि उसके लिए किन नियमों पर चलना, कैसा प्रशिक्षण लेना उपादेय होगा , और इन्ही दृष्टियो से प्रत्येक व्यक्ति की उपलब्धिया भी अलग-अलग होंगी। जीवन इतना जटिल है कि उसमे किसी आदर्श ऋजुता या सरलता के लिए स्थान नही है।

[३]

जीवन के चार पुरुषार्थ

१ : : मोक्ष—मनुष्य का मुख्य लक्ष्य है व्यक्ति का विकास। उपनिषद् हमे

बतलाता है कि व्यक्ति (पुरुष) से ऊचा और कुछ नही है।[1] परन्तु मनुष्य का शरीर, जीवन और मन जो भूत प्रकृति से उत्पन्न और उसके द्वारा अनुशासित होते हैं, की समष्टि-मात्र नही है। प्राकृतिक अर्द्ध-पाशव अस्तित्व, जिसे मनुष्य भूल से अपना रूप समझ लेता है, उसका सम्पूर्ण या वास्तविक अस्तित्व नही है। यह तो आत्मा के प्रयोग का एक साधन मात्र है। आत्मा ही मनुष्य का सच्चा अस्तित्व है। अपने व्यक्त बाह्य अस्तित्व का अतिक्रमण करके अपने अव्यक्त, वास्तविक आन्तरिक अस्तित्व को प्राप्त करने का महत्कार्य केवल मनुष्य ही कर सकता है।[2] "ओ गार्गी, जो व्यक्ति इस अनश्वर आत्मा को जाने विना ही ससार से विदा ले लेता है, वह निश्चय ही अधम और अभागा है।"[3] अपनी अन्तरात्मा की शोध करना, उसीमे और उसीसे निवास करना, उसकी निजी शक्ति से ही यह निश्चय करना कि वह आन्तरिक रूप से क्या होगी और अपनी बाह्य परिस्थितियो का वह क्या उपयोग करेगी, तथा सम्पूर्ण जीवन को आत्मा की शक्ति और सचाई पर आधारित करना ही 'मोक्ष' या आध्यात्मिक स्वतन्त्रता है। मनुष्य अपनी मनोवृत्ति के कारण अपने को अपने ही अह की खोल मे बन्द कर लेता है, अपने व्यक्त आत्मरूप मे अवस्थित रहकर उसीको भ्रमवश सत्य आत्मरूप समझ लेता है, और यही समस्त अशान्ति की जड है। अपने मन और बुद्धि, अपने हृदय और प्रेम तथा अपनी इच्छा और शक्ति के द्वारा सर्वोत्तम भाव की प्राप्ति के लिए आकाक्षा करना ही मनुष्य के मनुष्यत्व की उच्च भावना है।

२.: काम—क्या यह पूर्णत्व सामान्य जीवन-चर्या के साथ सगत है? लोगो मे यह धारणा घर कर गई है कि हिन्दू-दर्शन जीवन के यथार्थ पक्ष से आखे मूद लेता है और जीवन के महत्त्वपूर्ण उद्देश्यो तथा सतुष्टियो की अवमानना करता है, हिन्दू-दर्शन से मनुष्य को अपने कार्यो के लिए कोई प्रेरणादायक प्रयोजन नहीं मिलता। यदि आत्मा और जीवन परस्पर असम्बद्ध होते, तो आध्यात्मिक स्वतन्त्रता एक अप्राप्य आदर्श बन जाती, कुछ स्वप्न-द्रष्टाओ की दूरस्थ लालसा हो रहती। हिन्दू-विचारणा मे ऐसा कुछ नही है जिससे इस दृष्टिकोण को समर्थन मिलता हो कि सामान्य जीवन से अपने को एकदम विच्छिन्न करके ही कोई आध्यात्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत, हिन्दू-दर्शन यह कहता है कि हमे विवेकपूर्वक, समझ-बूझकर सामान्य जीवन-यापन करना चाहिए। मनुष्य का अस्तित्व जैसा भी हो, गहरा या छिछला, ध्यान-मननशील अथवा अनियमित मौज-बहार वाला, आध्यात्मिक जीवन उसका एक सघटन है। 'काम' मनुष्य के आवेगात्मक अस्तित्व, उसकी अनुभूतियो एव उसकी इच्छाओ का नाम है।[4] यदि मनुष्य को उसके सवेगात्मक जीवन से वचित कर दिया जाए, तो वह दमनात्मक आत्म-परीक्षण का शिकार बन जाता है और निरन्तर नैतिक उत्पीडन के दबाव मे रहता है। और जब इसकी प्रतिक्रिया होती है तब वह

१. 'पुरुषान्न परम किञ्चित्।'

२. 'भगवद्गीता' कहती है : "इस ससार में जीवन का मुख्य लक्ष्य स्वर्ग की प्राप्ति नहीं है जिसको लोग पुण्य कर्मों के फलस्वरूप प्राप्त होना बतलाते हैं। जीवन का लक्ष्य है सत्यान्वेषण की इच्छा होना।" (*I*, २, १०)। ३. 'बृहदारण्यक उपनिषद्', *III*, ८, १०। ४. 'भागवत', *I*, २, १०।

चरमोल्लास के जगलीपन पर उतर आता है, और यह स्थिति उसके मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए विनाशकारी होती है।

३ : : **अर्थ**—जीवन का तीसरा पुरुषार्थ धन और भौतिक कल्याण से सम्बन्धित है। यद्यपि यह अपने-आपमे कोई लक्षण नही है, तो भी यह जीवन को धारण रखने योग्य और सम्पन्न बनाता है। दारिद्रय या दुर्भाग्य भारतवर्ष मे कभी भी राष्ट्रीय आदर्श नही रहा। आध्यात्मिक जीवन को भी उन्ही समाजो मे विकसित होने का पूरा अवसर मिलता है जो आर्थिक-सकोच से कुछ हद तक मुक्त रहते हैं। जिन लोगो के जीवन बोझिल और बुभुक्षित होते हैं, वे धार्मिक नही हो सकते , यदि होगे भी तो आदिम रूप मे। आर्थिक असुरक्षा और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता—ये दोनो चीजें साथ-साथ नही रह सकती।

४ : : **धर्म**—रुचि और इच्छा की स्वत स्फूर्त्त क्रियाओ को स्वीकार करते हुए भी यह तो कहना ही पडेगा कि यदि उनकी क्रियाए अनियन्त्रित रहे, तो उनका पूरा महत्त्व नहीं समझा जा सकता। कोई नियम, कोई निर्देशन और कोई नियन्त्रण तो होना ही चाहिए। धर्म से जीवन के विभिन्न कार्यो मे सगति आती है और इससे उनको दिशा प्राप्त होती है। यह किसी नैतिक या सामाजिक नियम को ऊपर से थोपनेवाला कोई धार्मिक मतवाद या सम्प्रदाय नही है। यह जीवन का परिपूर्ण नियम है और ऐसे सम्पूर्ण मानव का सामजस्य है जो अपनी जीवन-चर्या को किसी सही और उचित नियम के अनुसार चलाता है। प्रत्येक मनुष्य और समूह का , आत्मा, मन, जीवन और शरीर की प्रत्येक क्रिया का अपना एक धर्म होता है। यद्यपि मनुष्य को अपनी इच्छाओ को सन्तुष्ट करने का न्यायोचित अधिकार है, क्योकि जीवन को अभि-व्यक्ति प्रदान करने के लिए यह अत्यावश्यक है, तो भी इच्छाओ की आज्ञाओ का आख मूदकर पालन करना भी मनुष्यत्व नहीं है। यदि मनुष्य 'धर्म' या सदाचार के नियम के अनुकूल न चले, तो वह अपनी इच्छाओं का सर्वोत्तम सुख नही प्राप्त कर सकता। 'महाभारत' के एक प्रसिद्ध श्लोक मे कहा गया है . "मैं बाह उठाकर कहता हू, पर कोई मेरी बात नही सुनता। 'अर्थ' और 'काम' का स्रोत 'धर्म' से फूटता है। फिर तू क्यो नही 'धर्म' का सेवन करता ?"[1] धर्म हमसे कहता है . हमारा जीवन जब प्रथमत· हमारी अपनी सन्तुष्टि के लिए है, तब यह उससे भी अधिक समाज के लिए है और सबसे बढकर उस विश्वात्मा के लिए है जो हम सबमें और सभी प्राणियो मे निवास करता है। नैतिक जीवन आध्यात्मिक स्वतत्रता का एक साधन है, साथ ही साथ पृथ्वी पर उसकी अभिव्यक्ति का भी।

धर्म का पालन मानव-जीवन का न तो आदि कर्त्तव्य है न अतिम कर्त्तव्य , क्योंकि धार्मिक नियम से भी बढकर है आध्यात्मिक स्वतत्रता। मनुष्य को भलामानुस ही नहीं बनना है, उसे सार्वजनीन भी बनना है , उसकी भलमनसाहत व्यक्तिगत ही न होकर समाजगत होनी चाहिए, क्योकि वही श्रेष्ठतर है। यह एक ऐसा लक्ष्य है जो

१. ऊर्ध्वबाहुर विरौम्येषः न हि कश्चित् शृणोति माम्।
धर्माद् अर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥

व्यक्ति के समग्र जीवन और समाज की सारी व्यवस्था को भद्रतापूर्ण बना देता है। मनुष्य के समस्त जीवन को इसी रहस्यात्मक पृष्ठभूमि की सन्निहित चेतनता के अंतर्गत रहकर अपना समय बिताना होता है।

जीवन के चार पुरुषार्थ (उद्देश्य) मानव-जीवन के भिन्न-भिन्न पक्षो को निर्दिष्ट करते हैं—ये पक्ष हैं मूलप्रवृत्यात्मक, सवेगात्मक, आर्थिक, बौद्धिक, नैतिक और आध्यात्मिक। मनुष्य मे आध्यात्मिक क्षमता आधारभूत रूप से बद्धमूल है। जब तक मनुष्य का जीवन विज्ञान और कला, प्राविधिक अन्वेषण और सामाजिक कार्यक्रमो तक ही सीमित रहता है तब तक वह अपूर्ण रहता है, वह सच्चा मनुष्य नही बन पाता। यदि हम उद्दण्ड और अधम हैं, परस्पर अन्याय और निष्ठुरता का आचरण करते है, हमारे व्यक्तिगत सम्बन्ध अच्छे नही हैं और उनके कारण हम दुखी हैं तथा एक-दूसरे को हम ठीक-ठीक नही समझ पाते, हम सहानुभूतिपूर्ण और सहनशील नही हैं, तो इसका कारण यह है कि हम जीवन की ऊपरी सतह पर ही अधिकतर रहते हैं और उसकी गहराइयो तक नही पहुच पाते। जब आत्मा का सोता, जिससे व्यक्ति और समाज का सृजनात्मक जीवन अपने लिए रस-सग्रह करता है, सूख जाता है तब बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक हर प्रकार की बीमारिया उठ खडी होती हैं। सतत वैचारिक स्वेच्छाचारिता, परस्पर विरोधी तत्त्वज्ञानो मे समय समय पर उपस्थित होनेवाला गडबडझाला तथा राष्ट्रीय सीमाओ एव भौगोलिक विभाजनो का अतिक्रमण करनेवाली प्रतिद्वन्द्वी विचार-पद्धतिया—ये सब आध्यात्मिक विस्थापन (उखडेपन) के लक्षण हैं। एक प्रकार से विक्षोभ पवित्र होता है, क्योकि यह एक ऐसे आत्मभरित मानववाद की असफलता का द्योतक है जिसकी दृष्टि ससार से परे नही जा पाती। हम चाहे जितनी आर्थिक योजनाए बना लें और चाहे जितनी राजनीतिक व्यवस्थाए कर डालें, किन्तु इनके द्वारा हम पृथ्वी पर शान्ति नही पा सकते। केवल वही लोग जो विशुद्ध हृदय के हैं, मन-मन की रहस्यात्मक एकता को बढावा देकर इस धरती पर न्याय और प्रेम की स्थापना कर सकते हैं। मनुष्य की सच्ची और अनिवार्य महानता तो उसमे खुद मे है। धर्मशास्त्र मनुष्य को राह तो दिखा सकते हैं, पर उस राह पर हर मनुष्य को चलना तो खुद ही पडेगा। कर्म का सिद्धान्त इस बात की पुष्टि करता है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन के लिए स्वय उत्तरदायी है। जैसाकि किपलिंग ने टौरजेबव के मुख से कहलाया था "जो पाप तुम दो-दो मिलकर करते हो, उसका फल तुम एक-एक को, बारी-बारी से भुगतना पडेगा।" यह नही हो सकता कि एक के बदले दूसरे को मुक्ति मिल जाए, या भेड़ियाधसान का लाभ उठाकर कोई मुक्ति पा जाए। असभ्य समाजो मे उत्तरदायित्व सामूहिक माना जाता है, परन्तु पुनर्जन्म की परिकल्पना के अनुसार किसी कार्य का पाप उसके कर्त्ता से सम्बद्ध होता है। पाप का दण्ड उसके कर्त्ता को भुगतना ही पडेगा, यदि इस जीवन मे नहीं, तो अगले जीवन मे, या कदाचित् बाद के किसी जीवन मे—पर, उससे छुटकारा किसी प्रकार नही हो सकता। इसमे व्यष्टिगत आत्मा की गरिमा और उत्तरदायित्व की स्वीकृति ही है।

[४]

चतुर्वर्ण[1]

धर्म का उद्देश्य मनुष्य के प्रकृत जीवन की विशदता, स्वतन्त्रता और विविधता मे अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप किए बिना उसको नियन्त्रण मे रखना है। इसके दो पक्ष हैं सामाजिक और व्यक्तिगत। अपने गुण और कर्म के आधार पर मनुष्यो का समाज मे अपना एक स्थान होता है और उस स्थान के अनुरूप उनको कुछ कर्त्तव्य भी करने होते हैं, इन्हीको 'वर्ण-धर्म' कहते हैं—ये धर्म का सामाजिक पक्ष उपस्थित करते हैं। व्यक्तिगत पक्ष 'आश्रम धर्म' कहलाता है जो जीवन के विभिन्न सोपानो—युवावस्था, प्रौढावस्था या वृद्धावस्था के अनुरूप कर्त्तव्यो से सम्बन्धित होता है। हम चतुर्वर्णो के सिद्धान्त का निरूपण तीन अलग-अलग दृष्टिकोणों से कर सकते हैं, वे हैं—आध्यात्मिक, सामाजिक, नैतिक-मनोवैज्ञानिक, और परम्परागत।

[१] चतुर्वर्णों का सर्वप्रथम उल्लेख हमे ऋग्वेद के[2] पुरुष-सूक्त मे मिलता है। वहा यह उल्लिखित है कि विधाता (ब्रह्मा) के शरीर से इनकी उत्पत्ति हुई—उसके सिर से ब्राह्मण की, भुजाओ से क्षत्रिय की, जाघो से वैश्य की और पैरों से शूद्र की। यह काव्यात्मक रूपक समाज के आगिक स्वरूप को व्यक्त करने के लिए कल्पित किया गया है। मनुष्य केवल व्यक्ति नहीं है, वरन् अपनी तरह के सभी मनुष्यो का एक सघट्ट है। मानव-जाति ससार के प्रति अपने लक्ष्यों मे सार्वभौमिकता पर जो बल देती है, वही मनुष्य की सामाजिकता का स्रोत है। समाज कोई ऐसी चीज नही है जो व्यक्ति का विरोधी हो, जो व्यक्ति पर थोपा गया हो या जो उसको कुचलने के लिए हो तथा जिसके विरुद्ध व्यक्ति अपने ज्ञान और कर्म द्वारा विद्रोह करता है। सामाजिक प्रारब्ध और वैयक्तिक प्रारब्ध दोनो परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। सार्वभौम प्रयोजन भौतिक और पराभौतिक स्तरों पर अपने को नाना प्रकार से व्यक्त कर सकता है, मानव-समाज सामाजिक जीवन मे उसी सार्वभौम प्रयोजन को अभिव्यक्त करने का एक प्रयास है।

व्यक्ति और मानव-जाति की समग्रता के मध्य सहायक के रूप मे कुछ लघुतर समूह निर्धारित किए गए हैं, हालाकि मानव-जाति की वृहत्तर एकता के मार्ग मे वे बहुधा बाधक सिद्ध होते हैं। जिन लघुतर समूहो का उपयोग एक वृहत्तर सार्वभौमिकता के निमित्त किया जाता है, उनका निर्माण दूरी और सगठन की कठिनाइयो तथा मानव-हृदय की कमियो एव जीवन की समृद्धि के कारण होता है। यदि मानवता जीवन की एक व्यवस्थित इकाई बन भी जाए, तो भी औसत मनुष्य की विभिन्न प्रवृत्तियो के विकास के लिए मध्यवर्ती समूहो का होना अनिवार्य रहेगा ही। सार्व-

१. देखिए, डॉ० भगवानदास कृत 'हिन्दू सोशल ऑर्गनाइजेशन' (१९३२), अरविन्द घोष कृत 'द साइकॉलॉजी ऑव् सोशल डेवलपमेंट', जी० एच० मीज कृत 'धर्म एण्ड सोसाइटी', १९३५।

२. x, ९०।

भौमिकता तक पहुचने के इस सतत प्रयास मे कुटुम्ब, कबीला, जाति, राष्ट्र क्रमिक सोपान होते हैं। इस प्रकार व्यक्ति न केवल मानवता से सम्बन्धित है, वरन् एक वर्ग या देश, एक जाति या धर्म से भी। जो समूह व्यक्ति और मानवता के बीच मध्यमार्ग मे स्थित है, वह न केवल अपने लिए होता है, वरन् एक-दूसरे के लिए, एक-दूसरे को पूर्ण करने मे सहायता देने के लिए।

यदि कोई सीमित समुदाय, चाहे वह धार्मिक हो या राजनीतिक या आर्थिक, अपने को निरकुश और आत्मभरित समझता हो और अपने निजी विकास के लिए व्यक्ति की सारी सेवाओ और सारे जीवन का उपयोग करना चाहता है, तो इसे उसकी धृष्टता ही समझा जाएगा, क्योंकि वह ऐसी चीज़ चाहता है जिसका अधिकारी वह नही है। जिस प्रकार किसी व्यक्ति को यह अधिकार नही है कि वह अपने को सर्वोपरि अस्तित्व मानकर चले और समाज की आवश्यकताओ का विचार किए बिना स्वार्थ-साधन के लिए ही जीवित रहने के अधिकार का दावा करे, उसी प्रकार किसी सामाजिक समुदाय को भी यह अधिकार नही है कि वह व्यक्ति के अधिकारों के सम्पूर्ण समर्पण की माग करे। व्यक्ति का स्वतन्त्र एव अबाधित विकास तथा समाज की स्वस्थ उन्नति—ये दो ऐसे सिद्धान्त हैं जिनके द्वारा सब प्रकार का सामुदायिक जीवन शासित होना चाहिए। व्यक्ति और समाज दोनो अन्योन्याश्रित हैं। व्यक्ति का सम्यक् विकास होने से समाज की भी अच्छी उन्नति होती है और समाज की स्वस्थ दशा मे व्यक्ति भली प्रकार उन्नति करता है। पिपीलिका-पुञ्ज या मधुमक्षिका-छत्र के नमूने पर मानव-समाज का सगठन नही किया जा सकता। व्यक्ति को दास बनाकर किसी सामरस्य की सिद्धि नही हो सकती।

मनुष्य एक निरपेक्ष व्यक्तित्व नही है। समाज मे रहते हुए उसका जैसा चरित्र होता है, उसके जैसे आचरण और कर्म होते हैं, उन्हींके अनुसार वह किसी न किसी विशिष्ट सामाजिक समुदाय से सम्बन्धित होता है। चार वर्णो के अन्तर्गत समाज के विभाजन को जब ईश्वर का अव्यादेश या आत्मा का विधान मान लिया जाता है, तब उसका अर्थ यह होता है कि आध्यात्मिक विवेक, क्रियात्मक शक्ति, कुशल उत्पादन और नैष्ठिक सेवा किसी भी सामाजिक व्यवस्था के अपरिहार्य तत्त्व हैं। समाज में जो चतुर व्यक्ति हैं, उनका काम है समाज-व्यवस्था की योजना बनाना, जो शक्तिशाली हैं उनका काम है उसको स्वीकृति प्रदान करना अर्थात् ऐसी सत्ता से उसका समर्थन करना जिसके पीछे शक्ति हो, और जो कुशल व्यक्ति हैं उनका काम है उस व्यवस्था को दृढ बनाने के लिए स्वय कार्य करना या नैष्ठिक श्रमिकों की सहायता से उसको करा डालना, लोक-समृद्धि के निमित्त ही चतुर्वर्ण की कल्पना की गई है।[1] यह विशेषता हिन्दुओ के लिए ही नही है, प्रत्युत् समस्त मानव-जाति के साथ इसका सम्बन्ध है। सारी मानव-जाति का प्रारब्ध एक है जिसको यह इतिहास की सहस्राब्दियो मे खोजती और अधिकाधिक उपलब्ध करती है। मनुष्य की सारी क्रियाओ का सच्चा लक्ष्य है लोक-सग्रह या विकास की स्थिति में मानव-जाति की एकता

१. 'लोकाना तु विवृद्ध्यर्थम्।'

बनाए रखना। इसी दृष्टिकोण को मानते हुए, हिन्दुओ के नेताओ ने आदिवासी समाजो को और यूनानी तथा सीथियन आदि विदेशी अधिवासियो को हिन्दू धर्म मे दीक्षित कर लिया और उनके पुरोहित परिवारो को ब्राह्मणो के रूप मे और उनके योद्धाओ को क्षत्रियो के रूप मे अगीकार कर लिया।

[२] चूकि व्यक्ति एक सामाजिक प्राणी है, अत समाज एक ऐसा आवश्यक साधन है जिसके द्वारा वह अपने व्यक्तित्व को विकसित करता है। अपने समाज मे उसका एक स्थान अवश्य सुरक्षित रहना चाहिए, ताकि वह उससे अधिकतम सहायता प्राप्त कर सके। प्रकृत्या चार प्रकार के मनुष्य होते हैं विद्वान और ज्ञानी मनुष्य, शक्तिशाली और कर्मशील मनुष्य, कुशल कारीगर और मजदूर। ये प्रकार मनुष्य की सक्रिय प्रकृति के प्रमुख तत्त्वो के आधार पर निश्चित किए जाते हैं।

जो लोग प्रधानतः बौद्धिक है, वे ब्राह्मण हैं। इनका कार्य है ज्ञान की शोध और प्राप्ति, दूसरो को ज्ञान सिखाना और ससार मे उसे प्रचारित करना भी इनका ही काम है। सकुचित दृष्टि से व्यावहारिक उद्देश्यों की सिद्धि इनका कार्य नही है। वे कला, विज्ञान या दर्शन के अभ्यास मे ही आनन्द लेते है और मन की निर्लिप्त प्रवृत्तियो के प्रति आसक्ति का उदाहरण रखते है। इस प्रकार के लोगो के विकृत रूप भी देखने मे आते है जिनमे केवल बौद्धिकता या विचारो के प्रति उत्सुकतामात्र होती है, परन्तु उसके साथ जो नैतिक श्रेष्ठता होनी चाहिए, वह उनमे नही होती; सकीर्ण विशेषज्ञता तो होती है, परन्तु अपेक्षित मानसिक उदारता नहीं होती, उनमे नवीनता की प्यास होती है, प्रचलित फैशनो की अनुकृति करने की प्रवृत्ति होती है, एक प्रभावहीन आदर्शवाद की ललक होती है, पर जीवन पर उनकी कोई पकड नही होती। सच्चा ब्राह्मण तो वह कहा जाता है जिसने निगूढतम आत्मा को जान लिया है और जो उसी चेतनता के कारण कार्य करता है।[१] उससे आशा की जाती है कि वह आत्म-समर्पित प्रेम के नियम को जानेगा और एक ऐसी भावी मानवता, जो घृणा, हिंसा और धर्मान्धता से अपरिचित होगी, की स्वतत्र, उच्च एव साहसपूर्ण सेवा की चेतना मे प्राप्त होनेवाले आत्मिक आनन्द और गौरव का अनुभव करेगा। ब्राह्मण समाज का नैतिक पथ-प्रदर्शन करते है। वे ज्ञान का प्रकाशन करते है पर उसे किसी पर बलात् नहीं लादते। व्यावहारिक प्रशासन उनका कार्य नही। वे सत्ता के प्रेम से दूर ही रहते है, साथ ही, तात्कालिक आवश्यकताओ के दबाव से भी बचे रहते हैं। प्लेटो का कथन है कि राजाओ को दार्शनिक होना ही चाहिए। गुफा के रूपक के अनुसार, जिस ज्ञानी पुरुष ने किसी प्रकार दिन के प्रकाश के दर्शन कर लिए है, उसे वहा नहीं रुकना चाहिए, बल्कि उसको दूसरो को उसी ज्ञान का दान देने के लिए पुन पीछे लौट जाना चाहिए। "हम उसे पीछे लौटने के लिए बाध्य कर देंगे, यद्यपि हम करेंगे यह उसके साथ अन्याय ही।" हिन्दुओ का यह विश्वास है कि शक्ति-प्रयोग से जिस व्यक्ति का प्रत्यक्ष और गहरा सम्बन्ध है, वह पूर्णत व्यक्ति-निरपेक्ष हो ही

१. "यः कश्चिद् आत्मानं अपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया वर्तते स एव ब्राह्मण।" 'वज्रसूचिक उपनिषद्।'

नही सकता । शासको का सम्बन्ध प्रशासन से रहेगा और चिन्तको का जीवन-मूल्यो से । यदि हम चाहते हो कि अन्धे हमारे समाज का नेतृत्व न करें, तो हमे मननशील विचारको को शीर्षस्थान पर प्रतिष्ठित करना चाहिए । प्रत्येक समाज को एक ऐसे वर्ग की आवश्यकता रहती ही है जो भौतिक चिन्ताओ, प्रतियोगितापूर्ण जीवन से मुक्त कर दिया गया हो और उसके प्रति उसका कोई उत्तरदायित्व न हो । स्वतत्रता उच्चतर जीवन के सत्त्व से सम्बद्ध है । बाध्यता या कर्त्तव्य की भावना के अंतर्गत रहकर महत् जीवन-मूल्यो की उपलब्धि नही की जा सकती ।

जो लोग सत्यान्वेषण मे रत हैं, उनमे अपने तात्कालिक वातावरण एव परिस्थितियो से निपट निर्लिप्त तथा असम्पृक्त रहने के आवश्यक गुण होने ही चाहिए । अदम्य धैर्य, सभी प्रकार के तुच्छ एव हीन सुखो के प्रति वितृष्णा, बिना किसी प्रकार की नीचता के नम्रता, अनन्त आशा और उच्चकोटि की निर्भयता आदि गुण सत्यान्वेषी के लक्षण है ।[1] ये गुण जहा उनके अपने व्यवसाय के उपयुक्त होते हैं, वहा जीवन मे सफलता प्राप्त करने के लिए अनुपयुक्त । समाज से उनको जो मिलना चाहिए, उसकी यदि उनको पूरी गारन्टी नही मिलती, तो वे समाज मे अकेले पड जाएगे और उनके भूखो मरने की नौबत तक आ जाएगी । उनमे जो शक्ति होती है, वही उनको उन वस्तुओ से समझौता करने से रोकती है जिनको वह घृणा करते है । इस प्रकार के निर्लिप्त सत्यान्वेषियो का यदि समाज मे एक वर्ग ही हो, जिसको समाज का समर्थन प्राप्त हो, जो समाज को प्रभावित करता हो तथा जो व्यक्ति को भ्रष्ट कर देनेवाली सत्तात्मक प्रवृत्तियो से ऊपर उठा हुआ हो, तो वह वर्ग सामाजिक स्थिरता तथा उन्नति का प्राण ही सिद्ध होगा । अन्तत. सभ्यता एक कल्पना, एक स्वप्न पर ही तो आधारित है ।

यदि ब्राह्मण वर्ग को उन कम सगठित तथा जटिल युगो मे आवश्यक समझा गया था, तो यह वर्ग आज तो और भी अधिक आवश्यक है, क्योकि आज राष्ट्रीय हितो और वस्तुनिष्ठ सत्य को भ्रमवश एक समझने की प्रवृत्ति बहुधा पाई जाती है । हमारे बुद्धिजीवी लोग आज, कुछ विरल अपवादो को छोडकर राजनीतिक शासको के अनुगामी और पिछलग्गू बन गए हैं । जब हीगेल ने नेपोलियन को अपनी सेना के आगे-आगे घोडे पर सवार देखा, तब उसने कहा "मैंने विश्व की आत्मा को घुडसवारी करते देखा ।" जब विचारक और मनीषी सामान्य जनता के स्तर पर उतरकर जाति, वर्ग या राष्ट्र की लालसाओं को पूर्ण करने लग जाते हैं, तब वे अपने कर्म से विरत हो जाते हैं । तब वे अपनी चेतना को राजनीतिक मनोवृत्ति के साथ सलग्न कर लेते है, जब वे समाज को मानवता और सभ्यता की दूरदर्शिता-पूर्ण कल्पना नही दे पाते, तब समस्त सामाजिक ढाचा लड़खडा जाता है । जो लोग समाज के आध्यात्मिक मन्त्रिमण्डल के सदस्य हैं, उन्हें अपने मन को एक पवित्र सम्पत्ति मानकर उसकी नैष्ठिकता की रक्षा करनी चाहिए, उनको पूर्णत अपना स्वामी

१. तुलना कीजिए वशिष्ठ "योगस्तपो दमो दान सत्य शौच दयाश्रुतम् ।
विद्या विज्ञान आस्तिक्य एतद् ब्राह्मणलक्षणम् ॥"

बन जाना चाहिए और इस सत्य की घोषणा कर देनी चाहिए कि सभी नगर, सभी प्रदेश, सभी राज्य नश्वर हैं, केवल मनुष्य की आत्मा ही अनश्वर है। थुसीडिडीज़ (Thucydides) एक ऐसे ससार के चित्र की कल्पना करता है, जिसमे 'एथेन्स' होता ही नही। पोलिबियस (Polybius) ने हमको कार्थेज के विजेता को जलते हुए नगर के ऊपर सोच-विचार करते हुए दिखाया है। "और 'रोम' भी अधोगति को प्राप्त होगा।"[1]

आज तो यही समझा जाएगा कि ब्राह्मण कमाए बिना ही आय के अधिकारी हैं। जिस प्रकार राज्य का कर्त्तव्य स्कूलो और कॉलिजो, विचित्रालयो (म्यूज़ियमो) और चित्र-दीर्घाओ का व्यय-भार सभालना है, उसी प्रकार उसको एक बहुत फुरसत वाले वर्ग का भी व्यय-भार उठाना चाहिए। आज के ससार मे फुरसत वाले लोग वे हैं जिनको उत्तराधिकार मे प्रभूत धनराशि प्राप्त होती है, हालाकि यह मानने का कोई कारण नहीं है कि धनी माता-पिताओ के बच्चे अपवादरूप से कुशाग्र-बुद्धि और सवेदनशील होते हैं। चीन मे इस वर्ग के लिए लडके और लडकियो का चुनाव प्रतियोगितापूर्ण परीक्षाओ के द्वारा होता था। परन्तु, परीक्षाए देने की आयु होने तक बच्चो के विशिष्ट प्रशिक्षण के कार्य को स्थगित नही रखा जा सकता। यदि इस प्रशिक्षण को काफी पहले से प्रारम्भ कर देना है, तो हमें इसके लिए प्रशिक्षार्थियो को जन्म के तुरन्त बाद से ही चुन लेना चाहिए। क्या ऐसा पर्ची डालकर तय किया जाएगा ? हिन्दुओ का विचार था कि जिस वर्ग के साथ सावकाश रहने की एक लबी परम्परा है, उसमे जन्म लेना इस समस्या का सबसे उत्तम समाधान है।

जबकि 'ब्राह्मण' का काम जीवन-मूल्यो के विज्ञान को निर्धारित करना है, सामाजिक पुनर्निर्माण की योजना तैयार करना है और जीवन के उच्चादर्शो को स्वीकार करने के लिए ससार से आग्रह करना है, तब 'क्षत्रिय' का काम है इन लक्ष्यो को प्राप्त करने के लिए उपाय करना। केवल प्राचीन महाकाव्यो मे ही नही, प्रत्युत राजपूत शौर्य के हाल के इतिहास मे भी हम क्षत्रिय राजाओ को वीरता के साचे मे ढला हुआ पाते हैं—ये क्षत्रिय राजा ऐसे मनुष्य थे जिनकी यशोगाथा आकाश के नक्षत्र तक गाते हैं, जिनको कोई डर डरा नही सकता था, जिनको कोई भी कठिनाई विचलित नहीं कर सकती थी। ये ऐसे मनुष्य थे जिनके लिए रण से पराङ्मुख होना मृत्यु से भी बुरा था। क्षत्रियो का यह जातीय गुण है कि वे एक बार जो वीरतापूर्ण निश्चय कर लेते हैं, उसमे कोई भी खतरा या कठिनाई उन्हे डिगा नहीं सकती, उनमें एक गत्यात्मक साहसिकता होती है जो कोई भी साहसिक कार्य करने से हिचकती नहीं, उनमे आत्मा का एक ऐसा आभिजात्य होता है कि कोई भी कुत्सित या अधम कृत्य उनसे नही हो सकता, अन्याय और दमन के विरुद्ध उनमे एक अडिग प्रतिरोधकता होती है। सत्ता के पुजारी, पाशविक शक्ति के पुरुष, स्वार्थान्ध स्वेच्छाचारी शासक इस वर्ग के विकृत रूप हैं। मानव-प्रकृति को पूर्ण बनाने के लिए क्षत्रियो के गुणो की भी उतनी ही आवश्यकता है जितनी ब्राह्मणो के गुणों की।

१. जूलियन बेन्डूस कृत 'द ग्रेट बिट्रेयल' अग्रेजी अनुवाद (१९२८)।

राजनीतिक प्रवर्ग उच्चतम प्रवर्ग नही है। राज्य का अस्तित्व इसीलिए है ताकि उसके नागरिक अच्छा जीवन व्यतीत कर सकें। यह एक सामाजिक सुविधा है। राज्य अपने आचरण का स्वय ही न्यायकर्त्ता नही वन सकता। यद्यपि भलमनसाहत शक्ति पर निर्भर करती है, तो भी यह कहना गलत है कि यह 'वलवान की इच्छा है।'[1] राज्य नैतिक नियमो से ऊपर नहीं होता। उसका अस्तित्व अनिवार्यत व्यक्ति के लाभ के लिए है, इसलिए उसको व्यक्ति से वलिदान की माग करने का कोई अधिकार नहीं है, यद्यपि उसको इस वात की माग करने का पूरा अधिकार है कि उसको कार्य करने के लिए आवश्यक परिस्थितिया मिलें। आजकल जिस प्रकार के राज्य की पूजा से हम परिचित हैं, वह ईश्वर की तरह ही सर्वशक्तिमान माना जाता है। उसके विषय मे लोग यह समझते हैं कि क्या गलत है और क्या सही, इसका निर्धारण राज्य के हाथ मे है, यदि राज्य के निमित्त कोई पाप भी किया जाए, तो वह भी उचित है, और यह भी कि शीलाचार शुद्ध रूप से व्यक्तिगत मामला है। परन्तु, स्पष्ट ही, हिन्दू-विचारणा राज्य के प्रति इस प्रकार की धारणा रखने के विरुद्ध है। राम लक्ष्मण से कहते हैं "मैं सत्य के लिए आयुध धारण करता हू। इस सारे विश्व को अपने अधिकार मे कर लेना मेरे लिए कठिन नही है, किन्तु यदि अधर्म से प्राप्त हो, तो स्वर्ग का राज्य भी मुझे नही चाहिए।"[2] राज्य जिस सीमा तक मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की चेष्टा करता है और उसकी रक्षा करता है, उसी सीमा तक राज्य अपना औचित्य सिद्ध करता है। लक्ष्य है व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सुख को प्राप्त करना, और सभी प्रकार की सरकारें इस लक्ष्य को प्राप्त करने के सुविधाजनक साधन हैं।

हीगेल का यह सिद्धान्त कि शक्ति ही सव कुछ है और प्रशिया का सैनिक राज्य पृथ्वी पर 'आत्मा' का श्रेष्ठतम रूप है, व्यवहारत नैतिक सत्ता का निषेध है। यह यथार्थ को ही भ्रमवश सत्य मान लेता है और उसकी दृष्टि मे वलवान जो कुछ करता है, अच्छा करता है और निर्वल जो करता है, वुरा करता है। शक्ति ही सव कुछ है, उसीका महत्त्व है, औचित्य का कुछ नहीं। किन्तु, इसीको दूसरे शब्दो मे उच्चतर शक्ति भी कह सकते हैं। इस विचार के अनुसार, किसी भी सरकार के पास कोई नैतिक अधिकार नहीं है, वर्गो और राष्ट्रो के वीच जो झगडे-झझट हैं, उनका फैसला केवल शक्ति के आधार पर हो सकता है। 'लीग ऑव् नेशन्स' (राष्ट्र-सघ) पर भी लोग एक दूसरा शक्ति सगठन होने की शका करते हैं, उसे युद्ध का एक विकल्प नही समझा जा रहा, वरन् एक धर्म-युद्ध का स्थानापन्न। 'लीग' इसलिए असफल नही हुई है कि उसके पास सैन्यशक्ति की कमी है, वरन् इसलिए कि उसके पास कोई नैतिक सत्ता नही। राज्यो के वीच जो सम्वन्ध हैं, उनमे लोकतान्त्रिक परम्पराओ का निष्ठा-पूर्वक प्रयोग और उस आधार पर ससार की पुनर्व्यवस्था 'लीग' को वह सत्ता प्रदान

1. 'महाभारत', III, १३४,३।
2. "सत्येन आयुध्यन् आलभे।
नेय मम मही सौम्य दुर्लभा सागराम्बरा।
न हि श्रेयम् अधर्मेण शक्त्व अपि लक्ष्मण!
(रामायण, II, ९७,६-७)।

कर सकती है जिसकी उसे आवश्यकता है। हमारी पीढी का एक बडा काम है हमारी सभ्यता के भौतिक ढाचे मे वास्तविक लोकतन्त्र का समावेश करना, एक ऐसे विश्व-समाज की स्थापना के लिए कार्य करना, जो सभी मनुष्यो के लिए सास्कृतिक अवसर प्रदान करने मे कही अधिक समर्थ हो और अपने सम्बन्धो मे वह कही अधिक भ्रातृत्व-पूर्ण हो।

हिन्दू-विचारणा व्यवस्था स्थापित करने और कानून को लागू करने के लिए शक्ति-प्रयोग की अनुमति देती है और कभी-कभी तो मानव-जीवन के विनाश तक की। किसी सर्वाङ्ग पूर्ण समाज मे जहा प्रत्येक व्यक्ति स्वभावत नि स्वार्थ और स्नेहशील हो, वहा सरकार अथवा शक्ति की कोई आवश्यकता नही होगी, परन्तु पूर्णता की यह स्थिति कदाचित् केवल मनुष्यो के लिए उपयुक्त न हो। जहा सचमुच अपूर्ण परि-स्थितिया हो, वहा राज्य को अनुशासनहीन व्यक्तियो को सही रास्ते पर लाने के लिए शक्ति का प्रयोग करना ही पड़ेगा। फिर भी, शक्ति-प्रयोग की आवश्यकता ही इस बात का चिह्न है कि राज्य अभी पूर्णता की स्थिति को नहीं पहुचा है। सिद्धान्तत किसी भी काम मे जिस सीमा तक जोर-जबर्दस्ती रहती है, उसी सीमा तक उसमे पूर्णता की कमी रहती है, जैसाकि 'महाभारत' मे भी लिखा है।[1] हम भले ही मन मे यह सन्तोष अनुभव कर लें कि बुरा काम करनेवाले को रोकने के लिए हमने शक्ति का प्रयोग किया। इस आवश्यक ज़ोर-ज़बर्दस्ती से दो प्रकार की हानिया होती हैं। एक तो यह प्रयोक्ता को अधर्म के कार्यों मे प्रयोग करने को प्रलुब्ध करता है, दूसरे, जिन लोगो के विरुद्ध इसका प्रयोग किया जाता है, उनमे असन्तोष उत्पन्न होता है। जब तक पापपूर्ण महत्त्वाकाक्षा, अभिमान, तृष्णा और लोभ मानव-प्रकृति के प्रेरक हैं, तब तक राजनीतिक व्यवस्थाओ मे हम जोर-जबर्दस्ती की आवश्यकता को नही टाल सकते, किन्तु यह भी अत्यावश्यक है कि उसके दुरुपयोग को रोका जाए और याद रखा जाए कि प्रेम की भी अपनी एक उच्चतर माग है जो कोरे न्याय की आवश्यकताओ का अतिक्रमण कर जाती है और जिसके प्रकाश मे न्याय के सभी नियमो की जाच होनी चाहिए। अप्रतिरोध का ब्राह्मणवादी आदर्श ही सही आदर्श है, क्योकि साधनो का भी उतना ही महत्त्व है जितना साध्यो का।[2] परन्तु, इस अपूर्ण ससार मे अप्रतिरोधी व्यक्ति अपने सिद्धान्तो और मान्य-

१. "हिसया सयुत धर्मं अधर्मं च विदुर्बुधाः।" और भी, "बिना युद्ध के जो विजय पाई जाती है, वह उस विजय की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठतर है जो युद्ध के द्वारा प्राप्त की जाती है।" (*xii*, ९४,२)। अशोक ने अपने तेरहवें शिलालेख में लिखवाया है "इसलिए कि मेरे पुत्र और पौत्र नई विजय करना अपना कर्त्तव्य न मान बैठें उनको धैर्य और सज्जनता का जीवन बिताकर आनन्दित होना चाहिए और करुणा के द्वारा प्राप्त विजय को ही एकमात्र सच्ची विजय मानना चाहिए।" ['अशोक के धर्मलेख' : विन्सेन्ट ए० स्मिथ (१९०९ ई०), पृष्ठ २१]।

२. 'महाभारत' की इन प्रसिद्ध उक्तियों से तुलना कीजिए .

"अहिंसान् सर्वभूतेषु धर्मं ज्यायसतर विदु ।
तस्य च ब्राह्मणे मूलम् ' ;
यद् अयुद्धेन लभ्येत तद् ते बहुमत भवेत् ।।"

ताओ को तभी कार्यान्वित करने मे समर्थ होते हैं, जब दूसरे लोग उन्ही सिद्धान्तो का, जिनका प्रत्याख्यान वे करते हैं, पालन करके उनको निश्चित और सुरक्षित बना देते हैं।

शक्ति का प्रयोग केवल ऐसे ही अवसरो पर करना चाहिए जब उसके अतिरिक्त कोई विकल्प न रह जाए। उसका प्रयोग नैतिक मूल्यो की वृद्धि के लिए अधिक उपयुक्त वातावरण उत्पन्न करने के निमित्त होना चाहिए, न कि ऐसे कार्यो के निमित्त जिनसे समाज में अस्तव्यस्तता फैलना अवश्यम्भावी हो जाता हो। यदि शक्ति का प्रयोग अपरिहार्य ही हो जाए, तो उसका प्रयोग नैतिक भावना से किया जाना उचित है। केवल उद्देश्य के नैतिक होने मात्र से शक्ति-प्रयोग को उचित नही ठहराया जा सकता। उसका प्रयोग भी नैतिक रीति से होना चाहिए।[1] जो शक्ति के प्रयोक्ता हैं, उनपर इस निर्णय का भार नही छोडा जा सकता कि किन कारणो से उसका प्रयोग होना है। क्षत्रिय राज्य के विधि-नियम के अभिभावक और प्रजा के सेवक के रूप मे ही शासन करते हैं। उनका समाज पर शासन करने का अधिकार उसी समय तक वैध माना जा सकता है जिस समय तक वे राज्य के विधि-नियम का पालन करते रहे, जो ब्राह्मणो और ऋषियो के नियंत्रण मे रखा जाता है और जिसको राजनीतिक या आर्थिक शक्ति के हस्तक्षेप से बचाया जाता है। राज्य का कार्य कानून और प्रतिरक्षा की सुरक्षा तक ही सीमित रहता है, जनता को अपने परम्परागत नियमो और रीति-रिवाजो के अनुसार अपना जीवन-यापन करने की छूट रहती थी। जब तक जन-जीवन में कोई विशृंखलता नही आती थी तब तक लोगो को यह चिन्ता नहीं रहती थी कि उनका राजा या शासक कौन है। यदि सामाजिक जीवन पूर्ववत् चलता रहे, तो उनकी दृष्टि मे एक राजकीय ध्वज उतना ही अच्छा था जितना दूसरा राजकीय ध्वज। इस मनोदशा का परिणाम यह हुआ कि हमारा देश आक्रान्ताओ का शिकार होता रहा। किसी राजा को गौरव तभी मिल सकता है जब वह नैतिक नियमो पर स्वय आचरण करे और अपनी प्रजा से भी करावे। यह उस राजा के वर्णन मे स्पष्ट है जो यह कह सकता था : "मेरे राज्य मे न कोई तस्कर है, न कृपण, न कोई मद्यप है, न अनाहिताग्नि (यज्ञ न करनेवाला), न कोई मूढ है, न कोई शीलहीन पुरुष या नारी।"[2]

सभी प्राचीन समाजो की तरह यहा भी केवल योद्धा जातियां ही युद्धों मे भाग लेती थी। उसमे उनको राष्ट्रीय गर्व से प्रेरणा न मिलकर एक राजा के प्रति स्वामिभक्ति

१ युद्ध के भी कुछ अपने शिष्टाचार-नियम होते हैं जिनका पालन राजा को करना चाहिए। उसे विषाक्त बाणों या गुप्तास्त्रों का प्रयोग करने तथा सुप्त, शरणागत एव भगोड़े मनुष्य की हत्या करने की अनुमति नहीं देनी चाहिए। विजय प्राप्त कर लेने पर उसे किसी भी दशा में वास्तु-शिल्प की सुन्दर कलाकृतियों को विनष्ट नहीं करना चाहिए और न विजित व्यक्ति के परिवार का मूलोच्छेद करना चाहिए; वरन् उसी परिवार के किसी उपयुक्त राजकुमार को राजकीय प्रतिष्ठा के साथ शासनारूढ कर देना चाहिए। ('महाभारत' XII, १००,५)। यद्यपि राजा लोग अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजनीतिक अस्त्रों का प्रयोग करते हैं, तथापि उन्हें भी अपने उद्देश्यों को बदले या प्रतिशोध की भावना से तोड़ना-मरोड़ना नहीं चाहिए। कौटिल्य के विचार में तो राज्य की सुरक्षा राजा का सर्वोच्च कर्तव्य है और जिस भी तरीके से राज्य की रक्षा की जा सके, वह तरीका न्यायोचित है।

२. छान्दोग्य उपनिषद्, ५, ११,५।

की भावना से मिलती थी। जब कबीलो के बीच आपस मे युद्ध हुआ करते थे, तब उन लोगो पर उसका कोई प्रभाव नहीं पडता था जो युद्ध-रत न होते थे। मेगस्थनीज लिखता है "यदि भारतीय लोग एक-दूसरे से युद्ध कर रहे हो, तो उनमे यह रिवाज नही है कि वे उन लोगो को भी हानि पहुचाने की चेष्टा करें जो लोग कृषि करते हैं। समाज का केवल एक समूह युद्ध-रत हो सकता है,···परन्तु समाज का दूसरा समूह युद्ध-भूमि के समीप ही शान्तिपूर्वक हल चलाने, निराई करने, फसल काटने या दवरी करने के कार्य मे जुटा रहता है।"[1] ये सिद्धान्त उस समय बनाए गए थे जब युद्ध छोटी-छोटी पेशेवर सेनाओ द्वारा कठोर नियमो के अन्तर्गत रहकर लडे जाते थे। आधुनिक युद्धो मे उनका प्रभाव सारी आबादी पर पड़ता है, युद्ध से कोई भी अलग नहीं रह पाता। सेनाओ को कुशलता के साथ और बिना किसी भेदभाव के कार्य करना पड़ता है। वे लोगों को मार सकती हैं, विकलाग कर सकती हैं, भूखो रख सकती हैं और पूर्णत. निर्दोष लाखो व्यक्तियो का सर्वनाश कर सकती हैं। बिना किसी भेदभाव के, जनता की ऐसी हत्या पूरे समाज के लिए विनाशकारी तो होगी ही, उससे समाज के हितो की रक्षा का तो प्रश्न ही नही उठता। जिन लोगो का यह विश्वास है कि समस्त प्राणियो की मूलभूत एकता मे आस्था रखनेवालो को आधुनिक परिस्थितियों मे, युद्धों के प्रति केवल शान्तिवादी दृष्टिकोण अपनाना ही उचित है, उनके सम्बन्ध मे बहुत-कुछ कहा जा सकता है। परन्तु, हम एक परिपूर्ण विश्व मे नही रहते, बल्कि एक ऐसे विश्व मे रह रहे हैं जिसके विषय मे अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि वह सुधार की ओर जा रहा है।

समाज की तृतीय श्रेणी है वैश्यों की जो धन कमाने, उसका सुखोपभोग करने और उसके देन-लेन की जीवनगत प्रवृत्ति को प्रश्रय देती है। अपनी वाह्य क्रिया मे समाज की यह शक्ति उपयोगितावादी और वाणिज्य तथा उद्योग मे लगे व्यावहारिक मस्तिष्क वाली जान पडती है। यद्यपि इस वर्ग के लोग प्राकृतिक साधनों का कुशलतापूर्वक प्रयोग करने मे निरत रहते हैं, तथापि इनमे मानवता और व्यवस्थित दयालुता के भी गुण मिलते हैं। यद्यपि इस श्रेणी के लोग ऐसे व्यवसायो मे लगे हुए हैं जहा धन कमाने के प्रलोभन वास्तविक होते हैं, तथापि उनसे यह आशा की जाती है कि वे मानवता और पडोसियो की सेवा के गुणो का अपने अन्दर विकास करेंगे। यदि उनकी अभिरुचि केवल धन के लिए धन कमाने मे है, तो वे 'विगर्हणा के पात्र' हैं।[2] समाज के आध्यात्मिक कल्याण या उनकी राजनीतिक सत्ता की सवृद्धि मे योगदान देना उनका प्रमुख कार्य नही है, फिर भी हम उनके सहयोग के बिना इन चीजो को उपलब्ध नहीं कर सकते। व्यावहारिक बुद्धि और समयानुकूल चातुर्य इस वर्ग के लोगो के प्रधान लक्षण हैं। जिन लोगो ने इस वर्ग का नाम बदनाम कर रखा है, उनमे भी हम लोग परिचित है ही, क्योंकि हमारा यह युग मुख्य रूप से वाणिज्य से सम्बन्वित युग है।

१. एरियन कृत 'इण्डिका' ११, ९, 'भागवत', प्रथम स्कन्ध ७, ३६ भी देखिये।

२. तुलना कीजिए : 'रामायण', द्वितीय काण्ड, २१, ५८ "द्वेष्यो भवति अर्थपरो हि लोके"। इसी प्रकार यदि हम सुख के आदी हो जाए, तो हम असफल हो जाते हैं—"कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता।"

अस्त्र-शस्त्रो के निर्माता लाभ कमाने के उद्देश्य से देशो के बीच फूट डालने और उसे भडकाने की चेष्टा करते हैं। 'लीग ऑव् नेशन्स' (राष्ट्र-सघ) के अभिलेखो से पता चलता है कि किस प्रकार एशियाई और यूरोपीय व्यापारी निकृष्ट और हानिकर दवाओ को, जो लोगो के तन, मन और आत्मा का नाश कर देती हैं, बेचकर लाखो करोड़ो रुपए कमाते रहे हैं। कुछ देशो मे तो, जो लोग इन दवाओ को खरीदते हैं, उनको इजेक्शन लगाने के लिए 'सिरिंज' भी मुफ्त मे दी जाती है। स्वर्ण के लोभ मे पडकर मनुष्य अपने साथी मनुष्यो को जातियो और राष्ट्रो के युद्ध और मद्यपता एव दवा की बुरी लत के भयावह कगारो की ओर धकेल देता है। वाणिज्य और उद्योग जो मानव-जाति के जीवन-प्राण हैं, का समुचित उपयोग न करके, जीवन-मूल्यो का एक मिथ्या प्रतिमान बनाकर उनका दुरुपयोग किया जाता है। हिन्दू दृष्टिकोण के अनुसार, सम्पत्तिशाली व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति का विनियोग सामान्य जन के उपयोग और मानव-समाज के लाभ के लिए करना चाहिए। 'भागवत' का कथन है कि हमारा दावा केवल उतने पर ही है जितने से हमारी क्षुधा-प्राप्ति हो सके। यदि कोई उससे अधिक चाहता है, तो वह चोर है और दण्डनीय है।[1] समाज को क्षति पहुचाकर धन और सत्ता प्राप्त करना एक सामाजिक अपराध है। जो उत्पादन हमारी आवश्यकता से अधिक हैं, बचत मे है, उनको केवल इसलिए नष्ट कर देना कि हम उनको लाभकर मूल्य पर बाजार मे नही बेच सकते, यह मानवता के प्रति अन्याय और अत्याचार है।

मानव-प्रकृति का चौथा प्रकार श्रम और सेवा मे अपनी अभिव्यक्ति खोजता है। श्रम समस्त मानवीय सम्बन्धो का आधार है। जबकि प्रथम तीनो वर्ण द्विजन्मा कहे जाते हैं, यह चौथा वर्ण एक बार का ही जन्मा बताया जाता है, इसलिए इसको हीन कोटि का माना जाता है। इसका अर्थ केवल यह है कि चतुर्थ वर्ण के सदस्यो की क्रियाए मूलप्रवृत्यात्मक हैं, ज्ञान, बल या पारस्परिक सेवा के आदर्शों के द्वारा शासित नहीं हैं। ज्ञान के शोधार्थी को अपनी शोध मे ही आनन्द का अनुभव होता है, इसलिए वह कार्य करता है, कर्मठ नायक प्रतिष्ठा की भावना से कार्य करता है, कलाकार और कुशल शिल्पी अपने कला-प्रेम के कारण अनुप्राणित होकर कार्य-रत होते हैं; इसी प्रकार निम्नतम श्रेणी के श्रमिक मे भी श्रम के गौरव की भावना काम करती है। यद्यपि ये सभी सामाजिक आचार-नियम से प्रभावित होते हैं, साथ ही अपने सामाजिक महत्त्व की भावना भी उनमे रहती है, तथापि अन्त्यज वर्ग के लोगो को साधारणतया सामाजिक व्यवस्था की योजना और उसमे उनके अपने स्थान की जानकारी नहीं होती। वे अपनी प्राथमिक आवश्यकताओ की सतुष्टि के लिए अपने कर्त्तव्यो को पूरा करते हैं और जब ये सतुष्ट हो जाती हैं, तब वे अकर्मण्यता और शिथिलता के जीवन मे अपने को भुला बैठते हैं। एक मूलप्रवृत्यात्मक आज्ञाकारिता और कर्त्तव्य की यथावत् सपूर्ति उनकी मुख्य देन है।

१ "यावद् भ्रियेत् जठर तावत् स्वत्व हि देहिनाम् ।
अधिक योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति ॥ (VII, १४, ८) ।

यह नही मान लेना चाहिए कि इन चारो वर्णों मे से जिस वर्ण मे जो गुण प्रधान रूप से पाए जाते हैं, वे केवल उसी वर्ण की वपौती हैं। वास्तव मे तो कोई भी ऐसा व्यक्ति नही है जिसमे ये आवश्यक गुण न हो। सामाजिक श्रेणियो को पण्डित, शूरवीर, कुशल या अकुशल के रूप मे जाना जाता है, उसका कारण यह है कि उनमे एक या दूसरा गुण मुख्यतया पाया जाता है। इनमे से कोई भी अपने-आप मे पूर्ण नही समझा जा सकता। यदि ब्राह्मण में नैतिक साहस तथा शूरता न हो, यदि उसमे यथार्थ जीवन की परिस्थितियो और समाज के विभिन्न वर्गों की आवश्यकताओ के अनुरूप श्रेष्ठतम सत्य को ढाल लेने की व्यावहारिकता न हो और उसमे मानवता की सेवा की भावना न हो, तो वह स्वतन्त्रता के साथ सत्य की सेवा भी नही कर सकता। कर्मठ व्यक्ति (क्षत्रिय), भले ही वह विद्याध्ययन मे न लगा हो, समाज की दिशा को, उसके उद्देश्यो को और उन तरीको को जिनसे उन उद्देश्यों को कार्यरूप मे परिणत करने की विस्तृत रूपरेखा तैयार की जा सकती है, समझता है, वह अपनी शक्ति का प्रयोग समाज के सेवार्थ करता है। व्यावहारिक योग्यतावाले मनुष्य (वैश्य) से अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कौशल और सम्पत्तियो का उपयोग समाज के लाभ के लिए करेगा। समाज-हित के सम्बन्ध मे उसमें एक सामान्य विचार होता है, प्राकृतिक स्रोतों का उपयोग करने का उसमे आवश्यक साहस और अध्यवसाय होता है और वह जैसे भी हो, जीवन की भौतिक दशाओ को उन्नत करने के लिए उत्सुक रहता है। श्रमिक मनुष्य (शूद्र) भी समाज पर भार-रूप नहीं होता। समाज-व्यवस्था के एक अग के रूप मे वह अपने विशेष कर्त्तव्य-कर्म के माध्यम से ज्ञान, सम्मान और कौशल के साथ समाज की सेवा करने का प्रयत्न करता है। समाज के प्रत्येक सदस्य मे ये चार प्रकार की भावनाए पाई जाती हैं—हर आदमी एक ही साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र होता है—और इसका सफल विकास प्रत्येक व्यक्ति की कुशलता की कसौटी है। कोई भी जीवन, जहा तक वह मनुष्य का जीवन है, ऐसा नही जिसमे एक ही साथ सत्य के प्रति जिज्ञासा, अन्तर्बाह्य शक्तियो के साथ सघर्ष, जीवन की परिस्थितियो के अनुरूप सत्य का व्यावहारिक ग्रहण और समाज की सेवा की प्रवृत्ति न मिलती हो। प्रत्येक व्यक्ति अपने ढग से सन्त, वीर नायक, कलाकार और सेवक बनने की अभिलाषा रखता है। किन्तु, जीवन की परिस्थितियो की माग है कि अपनी सीमाओ मे रहते हुए हर आदमी किसी न किसी चीज़ मे विशेषज्ञता प्राप्त करे। हर आदमी अपनी एकल जीवन-अवधि मे विभिन्न प्रकार की कुशलता का विकास नही कर सकता। नियमत', एक प्रकार की कुशलता या परिपूर्णता दूसरे प्रकार की कुशलता या परिपूर्णता की उपेक्षा करके ही प्राप्त की जा सकती है। यद्यपि यूनानी देवालय गॉथिक गिरजा दोनो ही देखने मे अपने-अपने ढग से सुन्दर लगते हैं, तथापि एक ही भूमि-खण्ड पर हम दोनो प्रकार की वास्तु-कलाकृतियो का निर्माण नही कर सकते। "सन्तो के गुण सामाजिक और गार्हस्थिक गुणों के साथ-साथ नहीं फल-फूल सकते। यदि आप विरक्त योगी बनना चाहते हैं, तो आप राजनीतिज्ञ नही बन सकते।"[1] एक साधु नही जान सकता कि पारिवारिक प्रेम का स्वरूप क्या

१. देखिए, डिक्सन : 'द ह्यूमन सिच्युएशन' (१९३७), पृष्ठ २१४।

है। एक सामाजिक कार्यकर्त्ता ज्ञान की प्रगति मे अपनी शक्ति नही लगा सकता। परन्तु, हम चाहे जिस दिशा मे अपने कदम बढाए, उच्चतम पूर्णता तक पहुचने का मार्ग हमारे लिए सदैव खुला हुआ है। और मनुष्य पूर्णता तक तभी पहुच सकता है जब प्रत्येक अपना-अपना कर्त्तव्य करने के लिए प्रयत्नवान हो।[1] "हर वर्ग और जाति के मनुष्य, यदि अपने निर्धारित कर्त्तव्यो को करते रहे तो उच्चतम अक्षर आनन्द का उपभोग कर सकते हैं।"[2]

यदि आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए, तो सब प्रकार के कार्यो मे मनुष्य को पूर्णता तक पहुचाने की शक्ति होती है, तो भी मनुष्य के सामाजिक स्थान और उसके वैयक्तिक सांस्कृतिक विकास को सम्बद्ध करनेवाला एक स्वाभाविक श्रेणी-विभाजन उठ खडा होता है। जीवन एक प्रकार की नसैनी है जिसकी सीढिया क्रमश उसके लक्ष्य की ओर जाती है और कोई भी आदमी तब तक सतुष्ट नही हो सकता जब तक वह सबसे ऊपरी सीढी पर न चढ जाए। कौन मनुष्य किस सीढी तक पहुच पाता है, यह उतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना उसका ऊपर की ओर चढना—उसकी ऊर्ध्वमुखी गति। सराय से अच्छी है सडक।[3] समाज का श्रेणी-विभाजन कोई बलपूर्वक थोपी गई क्रिया नही है, वरन् प्रकृति का नियम है। हिन्दू-समाज के चतुर्वर्ण हमारे जीवन के विकास की चार मजिलो के प्रतिनिधि हैं। प्रत्येक मानव-प्राणी अज्ञान और जडता की एक भारी गठरी को लेकर अपनी जीवन-यात्रा आरम्भ करता है। उसकी पहली मजिल कठिन परिश्रम की होती है, क्योकि शारीरिक आवश्यकताओ, जीवन के आवेग और समाज के नियम का यही तकाजा है। मनु कहते हैं कि सभी मनुष्य शूद्र के रूप मे ही पैदा होते हैं और बाद मे ैतिक तथा आध्यात्मिक सस्कार के पुनरुद्भव द्वारा ब्राह्मण बनते हैं। जब हम उपादेय सृजन करने की मूल प्रवृत्ति से अनुप्रेरित होते हैं तब हम निम्न स्तर से उठकर एक उच्च स्तर की ओर जाते हैं। यही पर हमे जीवनी-शक्ति से भरपूर मानव के दर्शन होते हैं। उच्चतर स्तर पर हमे महत्त्वाकाक्षा और इच्छाशक्ति से परिपूर्ण सक्रिय मनुष्य मिलता है। सबसे उच्चतम स्तर पर है ब्राह्मण, जो जीवन मे आध्यात्मिक नियम को समाविष्ट करता है। यद्यपि सभी मनुष्यो के विकास-क्रम की विभिन्न दशाओ मे ये चारो गुण पाए जाते है, तथापि आत्मा के साथ अपनी साकार प्रकृति के सपर्क मे इनमे से एक या दूसरा गुण प्रमुखता प्राप्त कर लेता है, और वही भावी विकास के लिए आधार बन जाता है। जैसे-जैसे वह अपने को व्यक्त करता जाता है और उन्नत होता जाता है, वैसे-वैसे मनुष्य अपना स्तर और अपनी श्रेणी बदलता जाता है।[4] साधारणतया विकास धीमे-धीमे क्रमिक रूप से ही

१. 'भगवद्गीता', १८वा अध्याय, श्लोक ४५। २ 'आपस्तम्ब स्मृति', II, ?,२,२।

३ "सभी लोगों को अपने से उच्चतर वर्णों के लोगों की सेवा करनी चाहिए।" 'गौतम', अध्याय १०, पृष्ठ ६६।

४. "कोई भी मनुष्य, चाहे वह ब्राह्मण हो या क्षत्रिय, वैश्य हो या शूद्र, वह वैसा अपनी प्रकृति के अनुसार होता है। दुष्कर्म करने पर द्विजवर्णा मनुष्य अपने स्थान से पतित हो जाता है। कोई क्षत्रिय या वैश्य यदि वह ब्राह्मण के सारे कर्त्तव्य करके उसके समान जीवन व्यतीत करता है, तो वह ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेता है।" ('महाभारत', अनुशासन पर्व, १४३,६)।

होता है। स्वभाव या प्रकृति परिवर्तित होने मे छलाग नही लगाती। ऋषि या द्रष्टा की दूरदर्शी कल्पना सक्रिय मनुष्य (क्षत्रिय) के लिए आदर्श हो सकती है, वह जब द्रष्टा का विश्वास करता है तब अन्य निम्नतर श्रेणिया ऐसा करने मे कदाचित् समर्थ नही हो पाती। वे व्यावहारिक मनुष्यो (वैश्यो) की ओर देखती हैं। हम केवल उन्ही लोगो को समझ सकते हैं और उन्हीका अनुसरण कर सकते हैं जो हमसे केवल एक कदम आगे हो। दूरस्थ दृश्य व्यवहारत दृष्टि से ओझल ही रहता है। सामाजिक व्यवस्था से आशा की जाती है कि वह एक प्रकार के लोगो को उत्पन्न करेगा और उनको आगे के विकास के लिए सुविधाए तथा वातावरण प्रदान करेगा।

यदि कोई आदमी निम्नतर प्रकृति का है और अपने से उच्च श्रेणी के सामाजिक कार्यों को, बिना उनको करने की योग्यता प्राप्त किए हुए, करने की इच्छा करता है, तो सामाजिक व्यवस्था अस्तव्यस्त हो जाएगी। ब्राह्मण का युद्ध करना पाप है, जबकि एक क्षत्रिय का तो यह कर्त्तव्य-कर्म ही है कि जब लड़ने के अलावा कोई दूसरा चारा न रह जाए तब मन मे किसीके प्रति कोई द्वेष रखे बिना धर्म-कार्य की सिद्धि के लिए युद्ध करे।[1] 'भगवद्-गीता' मे अर्जुन को अपनी प्रकृति (स्वधर्म) का अनुसरण करने के लिए कहा गया है। दूसरे की प्रकृति के नियम (परधर्म) का अनुसरण भयावह होता है। अर्जुन की प्रकृति का झुकाव लड़ने की ओर था, युद्ध-क्षेत्र से भाग जाना उसका अपनी प्रकृति से पलायन होता। मनुष्य सामान्यतया अपनी मनोवैज्ञानिक प्रतिभा का अतिक्रमण नही कर सकता। वास्तविक सामाजिक व्यवस्था में, कुछ लोग ऐसे हो सकते है जो लडने को उचित मानते हो और दूसरे ऐसे हो सकते हैं जो उससे दूर रहने को; और ये दोनो ही अपनी-अपनी जगह ठीक हैं। समाज का यह चतुर्वर्णी विभाजन सेना मे अनिवार्य भरती की आधुनिक धारणा के विरुद्ध है जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को बाध्यत. सैन्य-सेवा करनी होती है। यह सार्वजनीन मताधिकार के भी विरुद्ध है जिसमे शासनाधिकार सबमे वितरित कर दिया जाता है। प्राकृतिक स्तरीकरण मे सबके लिए एक ही नैतिक मानदण्ड नही हो सकता। सामाजिक दृष्टि से जो जितना ही उच्च होगा, उसका कर्त्तव्य-भार भी उतना ही अधिक होगा। दूसरो को भी अपने ही मापदण्ड से मापने की प्रवृत्ति हममे होती है, परन्तु हमको ऐसा करते समय प्रत्येक के विशिष्ट कार्य और समाज मे उसके स्थान को अधिक अच्छी तरह समझने की चेष्टा करनी चाहिए।

व्यक्ति और वर्ग परस्पर पद-गौरव की भावना से आबद्ध थे, न कि सावधि समाप्य अनुबन्ध से। प्रत्येक व्यक्ति का समाज मे अपना स्थान था और उस स्थान के अनुसार ही उसके कुछ कर्त्तव्य भी। सामाजिक सस्था हर आदमी से आशा करती थी कि वह अपना कर्त्तव्य करेगा, परन्तु हरएक को वह जीविका और आत्माभिव्यक्ति के अवसर की गारटी भी देती थी। प्रतियोगिता की भावना से लोग अपरिचित थे। मर्यादित नियत्रण, भले ही वह बलात् लादा गया हो, अन्ध प्रतियोगिता की अपेक्षा कम उत्पीडक

१. "यदि तू यह धर्म-युद्ध नहीं करेगा, तो तू अपने धर्म और अपनी प्रतिष्ठा को त्यागेगा और इससे तू पाप का भागी होगा।"

('भगवद्गीता', अध्याय २, श्लोक ३३)।

नही होता है। यह अनार्थिक और सास्कृतिक क्षेत्रो मे अधिक से अधिक व्यक्तियो को प्रभावशाली स्वतन्त्रता दिलाता है। परिपूर्ण स्वतन्त्रता के हित मे यदि कुछ विनियमन किया जाता हो, तो वह ठीक वैसा ही नही है जैसा व्यक्ति के लिए राज्य की पूर्ण दासता स्वीकार करना।

यथार्थ मे, चतुर्वर्ण की योजना लोकतान्त्रिक है। पहली वात तो यह है कि यह सभी मनुष्यो की आध्यात्मिक समानता पर वल देती है। यह मानकर चलती है कि प्रत्येक मानव-प्राणी के भीतर एक आत्मा है जो अपने तरीके से विकसित होने, अपने को प्राप्त करने और अपने जीवन को अपने अस्तित्व की पूर्ण और परितृप्त प्रतिमा तथा साधन वनाने का अधिकार रखती है। दूसरी वात यह है कि यह निश्चयात्मक रूप से वैयक्तिकता का प्रतिपादन करती है। प्रतिवन्धो और मर्यादाओ से दूर भागने से वैयक्तिकता की रक्षा नही होती, वरन् स्वेच्छा से उत्तरदायित्वो को स्वीकार करने से होती है। यह मान वैठना भ्रमपूर्ण है कि केवल विपथगामी और अराजक मनुष्य ही सच्चा व्यक्ति है। तीसरी वात यह है कि यह निर्दिष्ट करती है कि सभी कार्य सामाजिक दृष्टि से उपयोगी हैं और आर्थिक दृष्टि से भी सव एक समान महत्त्वपूर्ण हैं। चौथी वात यह है कि सामाजिक न्याय कोई अधिकार योजना नही है, वरन् अवसरो की योजना है। यह मान लेना गलत है कि लोकतन्त्र मे सभी व्यक्तियो को एक जैसा होना चाहिए। समाज एक ऐसा ढाचा है, एक ऐसा शरीर है जिसमे विभिन्न अगो के कार्य अलग-अलग है। उत्तमता तो कुछ लोगो तक ही सीमित रहती है, वह सार्वभौम नही हो सकती। समानता का तात्पर्य समान अवसर से है, समान क्षमता से नही। जवकि यह स्वीकार करती है कि मनुष्य श्रेणी और गुण की दृष्टि से असमान है, तव वह इस वात पर भी जोर देती है कि प्रत्येक मनुष्य को मानवीय उपलब्धि मे यथाशक्ति अपना अशदान करने का अधिकार होगा और इसके लिए उसे अवसर भी मिलेगा। समाज का सगठन कुछ इस प्रकार का होना चाहिए कि व्यक्तियो को अपनी शक्तियो का प्रयोग, दूसरो का हस्तक्षेप सहे विना, करने के लिए पर्याप्त क्षेत्र मिल सके। यहा तक कि मार्क्स भी इस विचार का समर्थक नही है कि सभी मनुष्य जन्म से समान पैदा हुए हैं और समाज द्वारा उत्पादित वस्तुओ मे एक समान भाग प्राप्त करने का उनका अधिकार जन्मसिद्ध है। अमूर्त समानता की वात पर जोर देना विलकुल वही वात नही है जैसा कि यह सिद्धान्त कि प्रत्येक व्यक्ति से उसकी सामर्थ्य के अनुसार कार्य लेना चाहिए और उसको उसकी आवश्यकताओ के अनुसार दिया जाना चाहिए।[1] पाचवी वात यह है कि लोकतन्त्र का सार है दूसरो का ध्यान रखना। व्यक्ति की

१ कम्युनिस्ट पार्टी की सत्रहवीं कांग्रेस में भाषण करते हुए स्टालिन ने स्थिति को यों स्पष्ट किया है : "समानता से मार्क्सवाद का तात्पर्य केवल व्यक्तिगत आवश्यकताओं और व्यक्तिगत जीवन की समानता से नहीं है, वरन् वर्ग-भेद को समाप्त करने से है—अर्थात् (क) पूंजीपतियों का स्वत्व-हरण करने और उनका सफाया करने के बाद समस्त श्रमिकों का समान रूप से उद्धार; (ख) उत्पादन के सम्पूर्ण साधनों का समाजीकरण करने के बाद सबके लिए समानरूप से व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति, (ग) अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करने का सब श्रमिकों का समान कर्तव्य और जितना काम उन्होंने किया है, उसके अनुसार पारिश्रमिक प्राप्त करने का अधिकार (जैसा कि

स्वतन्त्रता का अर्थ है उसकी निरकुश सत्ता पर अकुश लगाना। समाज का कोई भी एक वर्ग असीमित अधिकारो का दावा नही कर सकता। राज्य, धर्म-सस्था तथा अन्य सगठनों को स्वय ही अपने को मर्यादित कर लेना चाहिए और उन लोगो के लिए भी अवकाश छोड देना चाहिए जो न उनकी तरह सोच सकते है, न अनुभव कर सकते हैं। एक सुव्यवस्थित समाज मे आध्यात्मिक शक्ति, राजनीतिक शक्ति और आर्थिक शक्ति का समुचित समायोजन होना चाहिए। लोकतत्र और पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विताओ को गलती से एक ही नही समझ लेना चाहिए। कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' राज्य और व्यक्ति के कर्त्तव्यो और अधिकारो को क्रियान्वित करने के सामाजिक अनुबन्ध की चर्चा करता है। जबकि शासकगण को धर्म के नियमो के अनुसार शासन करने का अनुशासन स्वीकार करना पडता है तब नागरिकगण उस सरक्षण के बदले, जो वे राज्य से पाते हैं, कर आदि देते हैं। एकराजतत्र प्रशासन का एकमेव प्रकार न था। गणतत्रीय सविधान तो प्रसिद्ध ही हैं। मेगस्थनीज़ के आगमन के समय तक भी भारत मे प्रतिनिध्यात्मक स्वशासी सस्थाए प्रचलित थी। ग्राम-समाज पचायतो, जिनके पचो का चुनाव सभी जातियो मे से होता था और जो सभी वर्ग-हितो का प्रतिनिधित्व करते थे, के माध्यम से शान्ति और व्यवस्था बनाए रखते थे, कर-पद्धति पर नियंत्रण रखते थे, लडाई-झगडो को सुलझाते थे और देश की आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था को अक्षुण्ण बनाए रखते थे। व्यावसायिक सघो का प्रबन्ध भी इसी आधार पर होता था, कारीगरो के व्यावसायिक हितो की रक्षा होती थी और उनके कार्य के घटो तथा पारिश्रमिक का नियमन होता था। कृषक अपना और अपने परिवार का भरण-पोषण करने के लिए तो कृषि करते ही थे, वे समाज को भी अपने उत्पादन का कुछ भाग देते थे। कारीगर समाज के लिए आवश्यक औज़ारो और वस्त्रो का निर्माण करते थे और इसके बदले मे समाज की ओर से उनके लिए आवश्यक भोजन तथा आश्रय की व्यवस्था होती थी। अग्रेजी राज्य के प्रारम्भ होने के बाद तक यह पद्धति प्रचलित रही थी। सर विलियम हण्टर ने लिखा था . "नगरो मे व्यावसायिक सघ और देहातो मे ग्राम-समाज जाति के साथ सहयोगपूर्वक सहायक बीमा-समितियो की तरह कार्य करते हैं और सामान्य परिस्थितियो मे अपने सदस्यो को भूखा नही मरने देते। इसी के साथ-साथ जातिया और व्यापारिक तथा कृषि-सम्बन्धी सघ मिलकर भारत मे निर्धनो के एक कानून का रूप ले लेते हैं।"[1] यहा के इतिहास मे पहली बार वारेन हेस्टिंग्स के प्रशासन-काल मे भूमि क्रय-विक्रय की वस्तु बनी। भूमि पर व्यक्तिगत स्वामित्व, स्थायी भू-स्वामी के रूप मे ज़मीदार की नियुक्ति, जो राज्य और किसान के बीच दलाल की तरह था,

---

समाजवादी समाज में होता है), (ख) अपनी-अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करने का सब श्रमिकों का समान कर्त्तव्य और अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार प्राप्त करने का उनका समान अधिकार (जैसा कि साम्यवादी समाज में होता है)। और मार्क्सवाद इस स्थापना को मानकर चलता है कि चाहे वह समाजवादी समाज हो अथवा साम्यवादी समाज, लोगों की योग्यताएं और आवश्यकताएं गुण और परिमाण में एक समान नहीं है, न हो सकती हैं।" [वेब लिखित 'सोवियत रशिया' (१६३६), खण्ड २, पृष्ठ ७०२]।

१. 'इण्डियन एम्पायर', पृष्ठ १६६।

कृषि से उद्योग का अलगाव और कारखानो मे बडे पैमाने पर उत्पादन आदि बातें नई अर्थ-व्यवस्था की विशेषताए थी ; इन्होंने इस देश मे एक सामाजिक क्रान्ति ला दी है। अंग्रेजो के केन्द्रीकृत प्रशासन के अन्तर्गत स्थानीय स्वशासन सस्थाए और स्वायत्त-शासित सगठनो का लोप हो गया। लोगो मे एक विचित्र धारणा फैली हुई है कि भारतवर्ष मे जाति-पद्धति ने लोकतान्त्रिक सस्थाओ के विकास मे बाधा डाली। ग्रामो और नगरो, जातियो और व्यावसायिक सघो, प्रान्तो और यहा तक कि राज्य-संघों के प्रशासन मे लोकतान्त्रिक सिद्धान्त की, जिसमे प्रत्येक व्यक्ति को प्रभुता-सम्पन्न राजा और प्रजा दोनो माना गया है, पुष्टि मिलती है। निर्वाचनो के नियम, निर्वाचन-क्षेत्रो के विभाजन, कार्य-विधि और वाद-विवाद के नियम जैसी विस्तार की बातो का भी उल्लेख हुआ है—कोई चीज़ छूटने नही पाई है।[1] प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र या पचायत-पद्धति भारतीय मनोवृत्ति के लिए कोई विजातीय वस्तु नही, यह यही की धरती की उपज है। छठी बात यह है कि सभी वर्गो के मनुष्यो मे चोटी तक पहुचने की सामान्य प्रवृत्ति इस कारण से है कि उनकी धारणा मे सर्वोच्च पद सुख, लाभ और शक्ति का दाता होता है। इनको प्राप्त करने के लिए प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक नसैनी (निश्रेणी) पर चढने की इच्छा करता है। परन्तु, हिन्दुओ द्वारा परिकल्पित समाज-व्यवस्था मे हम जितना ही ऊचे उठते चले जाते हैं, हमारा जीवन कठिन से कठिनतर होता जाता है। हमारे यहा कहा गया है कि ब्राह्मण को सुख-प्राप्ति के लिए कुछ भी नही करना चाहिए। यदि हम यह अनुभव कर सकें कि ज्यो-ज्यो हम सामाजिक सीढी पर ऊपर चढते जाते हैं, त्यो-त्यो हमारे सामाजिक उत्तरदायित्व मे वृद्धि और व्यक्तिगत सुख की मात्रा मे कमी होती जा रही है, तो हम अपने स्थान और समाज मे अपने लिए निर्धारित कार्य से सतुष्ट रहेंगे। जो लोग समाज मे उच्चतर स्थान चाहते होगे, वे सादगी और स्वार्थ-त्याग (आत्म-निरोध) का जीवन व्यतीत करेंगे।

समाज की इस चतुर्वर्णी योजना के अतर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रकृति के अनुसार कार्य करना होता है और उसे अपने आन्तरिक विकास के द्वारा अपनी सभावित पूर्णता को पहुचना होता है। व्यक्ति शरीर का एक कोष (cell) मात्र नही है, न वह किसी भवन का एक पत्थर ही है, न इसके सामूहिक जीवन का केवल एक

१. जेटलैंएट के मार्क्विस लिखते हैं : "और कितनों को ही यह जानकर आश्चर्य होगा कि दो हजार वर्ष से भी अधिक पहले बौद्धों की विधान-सभाओं में हमारी आज की अपनी संसदीय कार्य-प्रणाली के प्रारम्भिक सिद्धान्त मिलते हैं। विधान-सभा की मर्यादा को बनाए रखने के लिए एक विशेषाधिकारी की नियुक्ति होती थी—हमारी लोक-सभा के 'मिस्टर स्पीकर' का अग्ररूप। एक दूसरा अधिकारी भी नियुक्त किया जाता था जिसका कर्तव्य यह देखना होता था कि सभा की बैठकों के समय आवश्यक कार्यवाह-संख्या ('कोरम') बना रहे—हमारी अपनी संसदीय पद्धति का 'मुख्य-सचेतक' (चीफ ह्विप) से मिलता-जुलता व्यक्ति। कोई सदस्य जब किसी विषय पर चर्चा छेड़ता था तब वह एक प्रस्ताव के रूप में उसे रखता था और फिर उसपर बहस होने लगती थी। कुछ मामलों में यह केवल एक बार ही किया जाता था, कुछ में तीन बार। इस प्रकार यह संसद में किसी 'बिल' के कानून बनने के पहले तीन बार वाचन की परंपरा का पूर्वरूप-सा था। यदि चर्चा से पता चलता कि लोगों में मतभेद है, तो वह विषय बहुमत से निर्णीत होता था और मत-दान शलाका-पत्र (बैलट) के द्वारा होता था।" ['द लिगेसी ऑव् इण्डिया', पृष्ठ xi (१९३७)]।

निष्क्रिय यत्र ही है। मनुष्य कोई वस्तु या मशीन नहीं है जिसे खरीदकर कोई अपना बना सके। पुरुष स्त्री को, पिता पुत्र को और राज्य व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति मानना छोड़ दे, यह आवश्यक है। कौन व्यक्ति क्या कार्य करे, इसका निर्णय उसमे पाए जाने वाले आवश्यक गुणो के अनुसार ही किया जा सकता है। अपनी प्रकृति (स्वभाव) को समृद्ध और पूर्ण बनाकर वह समाज का ही भला करता है, भले ही उसका इरादा ऐसा न हो। हमे उस उपदेशक के शब्दाडम्बर से बचना चाहिए जो गहरे समुद्र मे मछली मारनेवाले मछुआरों के बारे मे हमसे इस आधार पर अपील करता है कि वे नित्य-प्रति अपने जीवन को सकट मे इसलिए डालते हैं ताकि हमको अपने नाश्ते और भोजन के लिए मछलिया मिल सकें। असल मे वे मछुआरे ऐसा कुछ भी नही करते। वे समुद्र मे अपने लिए और अपने कुटुम्बीजनों की जीविका के लिए जाते हैं, हमारे नाश्ते या भोजन के लिए मछलिया जुटाने नही। यह बात और है कि लगे हाथ हमको भी उनसे कुछ सुविधा मिल जाती है।

सच्चा विधि-नियम (कानून) जो मनुष्य के भीतर से विकसित होता है, स्वतत्रता पर रोक नही लगाता, वरन् यह उसकी बाह्य प्रतिमा है, उसकी प्रत्यक्ष अभि-व्यक्ति। मानव-समाज केवल तभी वस्तुत और प्रधानत प्रगति करता है जब कानून स्वतन्त्रता की अभिव्यक्ति बन जाए। समाज अपनी पूर्णता को तभी पहुचेगा जब मनुष्य जानना सीख चुकने पर अपने साथ रहनेवाले मनुष्यों के साथ आत्मिक रूप से एक हो जाए। समाज का कानून मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति का केवल बाहरी साचा मात्र है। जो सही अर्थ मे मनुष्य होगा, वह विधिनियम का पालन इसलिए करेगा, क्योकि वह वैसा किए बिना रह नही सकता।[1] जब द्रौपदी अपने पति को विधि-नियम का उस समय भी पालन करने के लिए दोषी ठहराती है जब उसके कारण उन्हे धर्म-सकट मे पडना पडा, तब वह उत्तर देते है कि मैंने किसी पुरस्कार के लोभ मे कानून का पालन नही किया, वरन् इसलिए कि धर्म (कानून) मेरा मन ही बन गया—दोनो मे कोई अन्तर नही रहा।[2] मनुष्य अपने जीवन और विकास के द्वारा ससार की केवल उसी अनुपात मे सहायता कर पाता है जिस अनुपात मे वह अपने जीवन-पथ मे प्राप्त आदर्शों और अवसरो का उपयोग करते हुए अधिक मुक्त रूप से आत्मस्थ हो सकता है। वह उनका प्रयोग उसी दशा मे प्रभावपूर्ण ढग से कर सकता है जब वे उसके लिए भार-स्वरूप न हो उठें, वरन् उसकी उन्नति और विकास के वे साधक बन जाए। अपने साथी मनुष्यो के मन और जीवन से सामग्री एकत्र करते हुए और मान-वता के अतीत अनुभवो से लाभ उठाते हुए वह अपने मन को उदार और सदा-शय बनाता है और समाज को आगे धकेलता है। इस प्रकार समाज-व्यवस्था (क्षेम) और प्रगति (योग) दोनो की रक्षा होती जाती है।

१. न धनार्थं यशोऽर्थं वा धर्मस्तेपा युधिष्ठिर !
अवश्य कार्यं इत्येव शरीरस्य क्रियास्तथा।
('महाभारत', शान्तिपर्व, १५८,२६)

२. नाहमधर्मफलाकांक्षी राजपुत्री चराम्युत,
धर्म एव मनः कृष्णे स्वभावाश्चैव मे धृतम्।

[३] जब जन्म को अधिक महत्त्व प्राप्त होने लगा तब चतुर्वर्ण ह्रासोन्मुख होकर जातियो के रूप मे परिणत हो गए। जाति के मुख्य लक्षण ये हैं (i) 'वंशानुक्रम'। कोई व्यक्ति अपनी जाति नही बदल सकता। (ii) 'सगोत्र-विवाह'। एक जाति के प्रत्येक सदस्य को अपनी जाति के ही स्त्री या पुरुष से विवाह करना चाहिए, उससे बाहर के किसी व्यक्ति से नहीं। (iii) 'सहभोज-सम्बन्धी प्रतिबन्ध'। दूसरी जाति के सदस्यो के हाथ से खाद्य और पेय पदार्थ ग्रहण करने पर प्रतिबन्ध लगा दिए गए है। जाति-योजना समूह की वैयक्तिकता को स्वीकार करती है। जब आदिवासियो के देवी देवताओ को हिन्दू देव-कुल मे सम्मिलित कर लिया गया, तब उनके पुरोहित वर्ग को भी ब्राह्मण जाति के अतर्गत ले लिया गया, ठीक वैसे ही जैसे उस आदिवासी कबीले के शासक परिवारो को क्षत्रियो के रूप मे स्वीकार कर लिया गया था। इस प्रकार असख्य शाखाए-प्रशाखाए हो गई। भिन्न-भिन्न समूहो मे कालान्तर मे जो विश्वास तथा चलन विकसित हुए, उनको वैध मान लिया गया और उन्हींके अनुसार एक समूह का दूसरे समूह के साथ सम्बन्ध भी निर्धारित हुआ।

वैदिक-ऋचाओ के रचना-काल (१५०० ई० पू० से ६०० ई० पू०) मे, वर्ण थे, जातिया नही थी। वैदिक ऋचाओं मे हम विवाह या सहभोज-सम्बन्धी प्रतिबन्धो का कोई उल्लेख नही पाते। किसी भी तरह, व्यवसाय तो वंशक्रमागत नहीं ही थे। फिर भी गौरवर्ण आर्यो और कृष्णवर्ण दस्युओं (अनार्यो) मे काफी अन्तर किया गया है। नस्ल-सम्बन्धी ये बौद्ध-युग (६०० ई० पू० से ३०० ई० पू०) के आरम्भिक काल मे धुधले पडते-पडते महत्त्वहीन हो चुके थे। जातको मे चार वर्णो का उल्लेख है और क्षत्रियो को चारो मे श्रेष्ठ बतलाया गया है। जो कोई व्यक्ति पौरोहित्य के कार्यों मे लग जाता था, वह ब्राह्मण हो जाता था। सगोत्र विवाह-सम्बन्धी प्रतिबन्ध न थे। एक जातक के अनुसार बुद्ध ने, यद्यपि वे स्वय क्षत्रिय थे, एक निर्धन किसान की पुत्री से विवाह किया था। यद्यपि अपने वर्ण में ही विवाह करने को प्रोत्साहित किया जाता था, तथापि अन्तर्वर्णीय विवाह किसी भी प्रकार असामान्य या वर्जित नही थे। कुछ समय बाद ही व्यावसायिक सघो मे कार्य वंशानुगत हो गया। मेगस्थनीज़ कहता है कि उस समय सात जातिया थी और उनके मध्य अन्तर्जातीय विवाह वर्जित थे और कर्म वंशानुगत हो चुके थे, अपवाद केवल दार्शनिकों के साथ था। उनपर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध न थे। मेगस्थनीज के निष्कर्षों को स्वीकारने मे कुछ सावधानी बरतने की आवश्यकता है। चन्द्रगुप्त मौर्य स्वय वर्णसकर-कुल का था। फिर भी मेगस्थनीज़ के वर्णन से इतना तो पता चलता है कि चौथी शती ई० पू० तक मिश्रित विवाह अपवादस्वरूप ही होते थे, हालाकि बाद के दिनो मे वे प्राय होने लगे थे।[1] मनु और पुराणो के समय मे, जो गुप्तवंशीय राजाओ का समय (३३० ई० से ४५० ई० तक) था, जाति-प्रथा कडाई के साथ समाज में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। साथ,

१. 'मालविकाग्निमित्र' के अनुसार, शुगवंशीय राजा अग्निमित्र (१५० ई० पू०) ने अपने से निम्न जाति की एक स्त्री से विवाह किया था। 'मृच्छकटिकम्' के नायक चारुदत्त ने जो जन्म से ब्राह्मण किन्तु व्यवसाय मे व्यापारी था, एक गणिका वसन्तसेना से विवाह किया था।

यवन, पह्लव और कुषाण जैसी महान आक्रमणकारी जातियो को हिन्दू-समाज मे अगीकार कर लिया गया था। 'मुद्राराक्षस' मे कहा गया है कि चन्द्रगुप्त का विरोध "एक बर्बर कबीले के एक महान राजा" के सेनापतित्व मे एक सेना ने किया था, जिसमे विदेशी कबीलो के आदमी सैनिक रूप मे भरती थे। युआन च्वाग ने रक्त-पिपासु हूण-वंशी निरकुश शासक मिहिरकुल का जो विवरण दिया है, उससे पता चलता है कि हूण लोग मध्य एशिया के पठारो मे रहनेवाले असभ्य, बर्बर लोग थे। जब ये कबीले हिन्दू-समाज मे सम्मिलित कर लिए गए तब अन्तर्वर्णीय विवाह के सम्बन्ध मे लोगों मे एक असाधारण प्रबल अरुचि उत्पन्न हो गई। जिस सगोत्र-विवाह पद्धति को बौद्धकाल मे प्रोत्साहन मिला था, और मेगस्थनीज़ के आगमन के समय तक जो सामान्य रिवाज बन गई थी, वह स्मृतिकार मनु के द्वारा एक नियम ही बना दी गई। मनु ने तो इसके कुछ अपवाद भी रखे, परन्तु उनको सावधानी से नियन्त्रित कर दिया। समाज मे जब एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई कि विभिन्न नस्लो के लोगो को एक में घुले-मिले बिना भी साथ-साथ रहना अपरिहार्य हो गया, तब उस परिस्थिति की चुनौती के उत्तर मे जाति-प्रथा सामने आई।[१] कौन व्यक्ति किस वर्ण का माना जाना चाहिए, इसके लिए मनोवैज्ञानिक आधार निश्चित करना बहुत कठिन था। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए जन्म को वर्ण-विभाजन की कसौटी मान लिया गया। समाज तो एक मशीन है, जिसकी रुझान बाह्य सकेत या मापदण्ड को स्वीकार करने की ओर होती है। एक परम्परागत समाज की यह प्रवृत्ति होती है कि वह स्तरीकरण और क्रमानुसरण की पद्धतियो को स्थायी और औपचारिक बना देता है। इसके अतिरिक्त, एक प्रकार के लोग जब अपनी पद्धतियो मे रूढ हो जाते हैं तब शिक्षा और परम्परा के द्वारा उनको बनाए रखना आवश्यक हो जाता है और वशानुगत प्रणालियो का निर्माण होने लगता है।

वर्ण जबकि चार ही हैं तब जातिया असख्य हैं। हमारे समाज मे कबीलेवाली, कर्मगत और सम्प्रदायगत जातिया हैं, साथ ही जाति-च्युत लोगो की भी जातिया हैं। जातको मे अस्पृश्य लोगो के उल्लेख आते हैं।[२] चीनी यात्री फाह्यान (४०५ ई०-४११ ई०) ने बताया है कि किस प्रकार चण्डालो को बस्ती से दूर रहना पडता था और किस प्रकार उन्हे नगर मे प्रवेश करते समय अपने आगमन की सूचना देने के लिए काष्ठ-खण्डो (डण्डो) को बजाना पडता था। अस्पृश्यो मे मुख्यत वे लोग सम्मिलित थे जो सभ्यता के बाह्य छोर पर स्थित थे और जिनको हिन्दू धर्म मे आत्मसात् नही किया जा सका था और दूसरे कुछ ऐसे लोग थे जो नीच माने जानेवाले कार्य करते थे। चतुर्वर्ण-पद्धति[३] मे अस्पृश्यो का कोई पाचवा वर्ण न था।

सद्गुण और पराक्रम के स्थान पर जन्म के सिद्धान्त को मान्यता देना सामा-

१. 'हिन्दू व्यू ऑव् लाइफ' ५वा सस्करण, पृ० ९३ देखिए।

२. देखिए, 'सेतकेतु जातक', *iii*, श्लोक २३३; 'मातग जातक', *iv*, ३५८, 'चित्तसभूत जातक', *iv*, ३९१।

३. त्रिषु वर्णेषु जातोऽहि ब्राह्मणाद्ब्राह्मणो भवेत्,
स्मृतास्ु चतुर्वर्णाः चत्वार. पंचमो नाधिगम्यते।
('महाभारत', अनुशासन पर्व, श्लोक ४४)।

जिक स्वच्छता और जाति-पार्थक्यवाद की प्रक्रिया का मुख्य कारण है । मनुष्यो की मानसिक प्रवृत्तियो मे जो वास्तविक और स्थायी भिन्नताए है, उनका कारण भी जन्म को बताया जाता है, यद्यपि उन भिन्नताओ को नृतत्वशास्त्रविदो की स्थूल और सुगम विधियो से सरलता से नही मापा जा सकता । पुनर्जन्म के सिद्धान्त से, जिसके अनुसार मनुष्य की अन्तर्जात प्रकृति और उसके जीवन-क्रम का निर्धारण उसके पिछले जन्मो से होता है, इस दृष्टिकोण को अतिरिक्त-समर्थन प्राप्त होता है कि मनुष्य उसी सामाजिक कार्य को करने के लिए पैदा होता है जो उसकी प्रकृति से मेल खाता है। लोग यह नही समझते कि पूर्वज-परम्परा तथा वशावली और भौतिक जन्म सदा ही व्यक्ति की सच्ची प्रकृति की सूचना नही दे सकते । जब वर्णो के कर्त्तव्य मनुष्यो के आन्तरिक जीवन से स्वत स्फूर्त होकर उद्गीरित नही होते, तब वे मात्र रूढ़िया रह जाते है और नैतिक प्रकार के कर्त्तव्यो तथा उनमे बडा अन्तर होता है । ब्राह्मण का पुत्र सदा ही ब्राह्मण रहता है, भले ही उसमे ब्राह्मणत्व का एक भी लक्षण न हो । समाज मे व्यक्ति को जो स्थान प्राप्त होता है, वह उसके स्वाभाविक गुण के कारण नही, वरन् एक बाह्य शक्ति के द्वारा वह उस स्थान पर थोप दिया गया होता है । कोई भी पद्धति, जिसमे कोई सूक्ष्म शक्ति, कोई जाति या धर्म-संस्था किसी व्यक्ति के व्यवसाय और उसके स्थान का निर्धारण करती है, अस्वाभाविक पद्धति है । चूकि व्यक्तियो को ऊचा या नीचा उनकी ऊची या नीची सामाजिकता के कारण नही, प्रत्युत् उनके व्यवसाय, धन या सत्ता के कारण माना जाता है, इसलिए उन स्थानों मे वर्ग-सघर्ष उठ खडे होते है जहा सभी लोग शक्ति और विशेषाधिकार चाहने लगते हैं। वर्ण-व्यवस्था मे व्यक्ति के सामाजिक कर्त्तव्य पर ज़ोर दिया जाता है, उसके निजी अधिकारो पर नही । जाति-व्यवस्था मे व्यक्ति को मिलनेवाले विशेषाधिकारों को अधिक महत्त्व दिया जाता है । वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत, ऐसा कोई भी व्यक्ति जो अनुशासन मे रहने का साहस रखता हो तथा जिसमे जीवन के सुखो का त्याग करने का बल हो और इतनी क्षमता हो कि अपनी शक्तियो का विकास कर सके, वह उच्चतम स्थान तक उन्नति कर सकता है । परन्तु, जाति-व्यवस्था के अतर्गत ऐसा नहीं हो सकता ; क्योकि उसमे मनुष्य को रचनात्मक शक्तियो को खुलकर अपना विकास करने की सुविधा नही मिलती । जबकि उच्चतर जाति के मनुष्य को अपनी कर्त्तव्य-भावना और अन्तरात्मा के अनुसार कार्य करने की छूट दे दी जाती है तब निर्बलतर लोगो को उनकी समाज-विरोधी प्रवृत्तियो के लिए दण्डित होने की आशंका का अनुभव कराया जाता है । यथार्थ व्यवहार मे भिन्न-भिन्न जाति के अपराधियो के लिए दण्ड के भिन्न-भिन्न पैमानो का होना जाति-व्यवस्था का सबसे निर्बलतम अश है । यह स्मृतिकारो की न्याय-भावना और निष्पक्षता ही कही जाएगी कि उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि नैतिक नियमो का उल्लघन करने पर जो जाति जितनी ऊची हो, उसको उतना ही बडा दण्ड मिलना चाहिए।[1]

वशक्रमागत कार्यो और व्यक्ति की प्रकृति के मध्य जो असमानता थी उसको

१. 'गौतम', XII, १७ । मनु कहते है कि एक-से ही अपराध के लिए राजा को सामान्य जन

शिक्षा और प्रशिक्षण के द्वारा कुछ अशो मे कम किया जा सका । और इसीलिए धर्म-शास्त्र वशपरम्परागत आचरण को स्वीकार करते हुए इस बात पर बल देते हैं कि चरित्र और सामर्थ्य ही वास्तविक आधार हैं और उनके बिना सामाजिक पद-गौरव का कोई अर्थ नही ।

जब ब्राह्मण अपनी सामाजिक स्थिति को श्रमसाध्य कर्त्तव्य नही, वरन् एक सहज-प्राप्त विशेषाधिकार समझने लगे, तब इसके विरोध मे बातें कही-सुनी जाने लगी । मनु तथा अन्य स्मृतिकारो ने आदर्श ब्राह्मण जो नैतिक गुण-सम्पन्न है, तथा वर्तमान ब्राह्मण जो जन्म के आधार पर अपना दावा मनवाने की चेष्टा करता है, के अन्तर को स्पष्ट किया है ।[1] 'शुद्धार्थ चिन्तामणि' मे ब्राह्मण के तीन लक्षण बताए गए हैं : तप (मितोपभोग), पाण्डित्य और जन्म । जिस व्यक्ति मे तीसरा लक्षण तो हो, परन्तु प्रथम दो लक्षण न हो, तो वह केवल जाति से ही ब्राह्मण है ।[2] कौशिक को एक मास-विक्रेता से उपदेश मिला, जिसमे उसने कहा . "मेरी समझ मे, आप केवल इसी जन्म मे ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए हैं, क्योकि जो ब्राह्मण घमण्डी होता है और मनुष्य को पतित करनेवाले दुर्गुणो का व्यसनी होता है, वह शूद्र से किसी प्रकार भी अच्छा नही । और उस शूद्र को जो अपनी कामनाओ पर नियन्त्रण रखता है और जो सत्य तथा नैतिकता के प्रति आस्थावान है, मैं ब्राह्मण ही मानता हू, क्योकि चरित्र ही ब्राह्मणत्व का आधार है ।"[3] 'छादोग्य उपनिषद्' मे जबाला-पुत्र सत्यकाम की कथा दी हुई है । सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम ऋषि के पास पहुचा और उनसे बोला "श्रीमन्, मैं आपका शिष्य बनना चाहता हू, क्या मैं आपकी सन्निधि मे आ सकता हू ?" ऋषि ने उससे पूछा · "हे सौम्य ! तू किस गोत्रवाला है ?" उसने कहा · "भगवन् ! मैं गोत्र-वाला हू उसे नही जानता । मैंने माता से पूछा था । उसने मुझे उत्तर दिया कि 'पहले मैं पति के घर आए हुए बहुत-से अतिथियो की सेवा-टहल करनेवाली परिचारिका थी । उन्ही दिनो युवावस्था मे मैंने तुझे प्राप्त किया । इसलिए मैं यह नही जानती कि तू किस गोत्रवाला है ? मैं जबाला नामवाली हू और तू सत्यकाम नामवाला है ।' अत हे गुरो ! मैं सत्यकाम जाबाल हू ।" यह सुनकर ऋषि गौतम ने उससे कहा "ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नही कर सकता । अत' हे सौम्य ! तू समिधा

की अपेक्षा सहस्रगुना अधिक जुर्माना किया जाना चाहिए । ('मनुस्मृति', आठवां अध्याय, श्लोक ३३६) । 'महाभारत' तो इससे भी कड़ा रुख अपनाता है । वह कहता है—पुरोहितों को भी दण्ड देना चाहिए , जो आदमी जितना महत्त्वपूर्ण हो, उसको दिया जानेवाला दण्ड भी उतना ही भारी होना चाहिए । (अध्याय १२, २६८१,५) ।

१. "भले ही कोई ब्राह्मण धर्म-कर्म करे या उनकी उपेक्षा करे, जो सभी प्राणियों से मैत्री स्थापित करता है, वही ब्राह्मण है ।" ('मनुस्मृति' अध्याय २, श्लोक ८७) "भाट, चाटुकार, धूर्त्त और कठोर-कर्मी और लोभी इन पाच तरह के ब्राह्मणों को कभी भी श्रद्धास्पद नहीं मानना चाहिए, भले ही विद्वत्ता में वे बृहस्पति के समान ही क्यों न हों ।" (अत्रि० ३७६) ।

२. तप श्रुतम् च योनिश्च त्रय ब्राह्मण्य कारणम् ।
तपः श्रुताभ्याम् यो हीनो जाति ब्राह्मणि एव स. ॥

३. 'महाभारत', वनपर्व, *III*, ७५—८४ ।

ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूगा, क्योकि तूने सत्य का त्याग नही किया।"[1] जातिया जब परम्परागत हो गई थी, उसके बाद भी, एक दासी-पुत्र कवष् को ब्राह्मण वर्ण मे स्वीकार कर लिया गया था।[2] जाति की कठोरता को कम करके दिखाने के लिए जातिगत विभेदो का सापेक्ष स्वरूप पर बहुधा अधिक ज़ोर दिया गया है। 'रामायण' का कथन है कि कृतयुग मे केवल ब्राह्मण थे और सभी लोग केवल एक वर्ण के थे।[3]

यद्यपि आळवार और रामानुज के आस्तिकवादी आन्दोलनो ने तथा रामानन्द, कवीर, नानक, चैतन्य, नामदेव और एकनाथ आदि सन्तो ने जाति-पाति की असमानताओ का विरोध किया है, परन्तु वे असमानताए अभी विलुप्त नही हुई हैं। भारत की ईसाई धर्म-सस्थाओ ने अपना धर्म फैलाने की चिन्ता के कारण जाति-व्यवस्था से समझौता कर लिया है। पोप ग्रेगरी पन्द्रहवें ने एक धर्मादेश प्रसारित करके भारत की ईसाई धर्म-सस्था के लिए जाति-प्रतिवन्धो को स्वीकृत कर लिया।[4] पाश्चात्य सभ्यता का सामान्य प्रभाव इस जाति-सस्था को उदार वनाने की दिशा मे पड़ा है। हमारे देश मे राष्ट्रीयता का उद्भव देश के विचार और जीवन मे पाश्चात्य आदर्शों के समावेश का प्रत्यक्ष परिणाम है। भारत मे ब्रिटिश शासन के सम्वन्ध मे जो प्रतिकूल निर्णय किए गए हैं, उनका आधार न्याय और स्वतन्त्रता की वे धारणाए हैं जिनके लिए अग्रेज लोग ही मुख्यतः उत्तरदायी हैं। अग्रेजो की भारत मे जितनी दिलचस्पी अपने शासन को स्थायी वनाने की ओर है, उतनी भारतीय समाज के सुधार की ओर नही। अग्रेजो के रुख और उनकी नीति को हिन्दू कॉलिज कलकत्ता के प्रिंसिपल जेम्स कर्र ने एक वक्तव्य मे वहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है। उन्होंने १८६५ ई० मे ये शब्द कहे थे . "इस वात मे सन्देह किया जा सकता है कि जाति-प्रथा के वर्तमान रहने से हमारे शासन के स्थायित्व पर कुल मिलाकर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। यदि हम समझ-बूझकर और सहनशीलता से कार्य करें, तो यह हमारे शासन के लिए अनुकूल भी मानी जा सकती है। जाति-प्रथा की भावना राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे वाधक है।"[5] हाल ही मे जो वैधानिक सुधार हुए हैं, उनसे साम्प्रदायिक वर्गों और जातिगत विभेदो को स्थिर और विधि-सगत वनाने की चेष्टा हुई है। यद्यपि सामाजिक न्याय के नाम पर कुछ वर्गों को प्रतिनिधित्व-सम्वन्धी विशेषाधिकार दिलाने के लिए कुछ कदम उठाए गए हैं, तथापि उनमे शासको की दृष्टि यही रही है कि किसी प्रकार राष्ट्रीयता के विकास मे रुकावटें डाली जाए। स्वय हिन्दुओ की ओर से चलाए गए सुधार-आन्दोलन इस दृढ निश्चय से प्रेरित हैं कि हमारी वर्तमान परिस्थितियो में जाति-प्रथा का कोई उपयोग नही रह गया है, यह एक काल-दूषण मात्र है और यह मात्र हमारे प्रमाद, निष्क्रियता और शैथिल्य के कारण ही अपना अस्तित्व वनाए हुए है।

जो लोग जाति के नियमों की अवहेलना करते हैं, वे जाति-च्युत कर दिए जाते

१. II, ४, १–५ ।
२. 'ऐतरेय ब्राह्मण', II, १९ ।
३. 'उत्तरकाण्ड', ७४, ९–११, ३०, १९; 'भागवत' भी देखिये—XI, १७, १०–११; मनु I, ८३ ।
४. 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका,' ११ वा सस्करण, पचम खण्ड, पृष्ठ ४६८ ।
५. घुर्ये (Ghurye) कृत 'कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया' (१९३२), पृ० १६४ ।

शिक्षा और प्रशिक्षण के द्वारा कुछ अशो मे कम किया जा सका। और इसीलिए धर्म-शास्त्र वशपरम्परागत आचरण को स्वीकार करते हुए इस बात पर बल देते हैं कि चरित्र और सामर्थ्य ही वास्तविक आधार हैं और उनके बिना सामाजिक पद-गौरव का कोई अर्थ नही।

जब ब्राह्मण अपनी सामाजिक स्थिति को श्रमसाध्य कर्त्तव्य नही, वरन् एक सहज-प्राप्त विशेषाधिकार समझने लगे, तब इसके विरोध मे बातें कही-सुनी जाने लगी। मनु तथा अन्य स्मृतिकारो ने आदर्श ब्राह्मण जो नैतिक गुण-सम्पन्न है, तथा वर्तमान ब्राह्मण जो जन्म के आधार पर अपना दावा मनवाने की चेष्टा करता है, के अन्तर को स्पष्ट किया है।[1] 'शुद्धार्थ चिन्तामणि' मे ब्राह्मण के तीन लक्षण बताए गए हैं तप (मितोपभोग), पाण्डित्य और जन्म। जिस व्यक्ति मे तीसरा लक्षण तो हो, परन्तु प्रथम दो लक्षण न हो, तो वह केवल जाति से ही ब्राह्मण है।[2] कौशिक को एक मास-विक्रेता से उपदेश मिला, जिसमे उसने कहा . "मेरी समझ मे, आप केवल इसी जन्म मे ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए हैं, क्योकि जो ब्राह्मण घमण्डी होता है और मनुष्य को पतित करनेवाले दुर्गुणो का व्यसनी होता है, वह शूद्र से किसी प्रकार भी अच्छा नही। और उस शूद्र को जो अपनी कामनाओ पर नियन्त्रण रखता है और जो सत्य तथा नैतिकता के प्रति आस्थावान है, मैं ब्राह्मण ही मानता हू, क्योकि चरित्र ही ब्राह्मणत्व का आधार है।"[3] 'छादोग्य उपनिषद्' मे जबाला-पुत्र सत्यकाम की कथा दी हुई है। सत्यकाम हारिद्रुमत गौतम ऋषि के पास पहुचा और उनसे बोला "श्रीमन्, मैं आपका शिष्य बनना चाहता हू, क्या मैं आपकी सन्निधि मे आ सकता हू ?" ऋषि ने उससे पूछा : "हे सौम्य ! तू किस गोत्रवाला है ?" उसने कहा "भगवन् ! मैं गोत्र-वाला हू उसे नही जानता। मैंने माता से पूछा था। उसने मुझे उत्तर दिया कि 'पहले मैं पति के घर आए हुए बहुत-से अतिथियो की सेवा-टहल करनेवाली परिचारिका थी। उन्ही दिनो युवावस्था मे मैंने तुझे प्राप्त किया। इसलिए मैं यह नही जानती कि तू किस गोत्रवाला है ? मैं जबाला नामवाली हू और तू सत्यकाम नामवाला है।' अत हे गुरो ! मैं सत्यकाम जाबाल हू।" यह सुनकर ऋषि गौतम ने उससे कहा "ऐसा स्पष्ट भाषण कोई ब्राह्मणेतर नही कर सकता। अत हे सौम्य ! तू समिधा

की अपेक्षा सहस्रगुना अधिक जुर्माना किया जाना चाहिए। ('मनुस्मृति', आठवा अध्याय, श्लोक ३३६)। 'महाभारत' तो इससे भी कड़ा रुख अपनाता है। वह कहता है—पुरोहितों को भी दण्ड देना चाहिए ; जो आदमी जितना महत्त्वपूर्ण हो, उसको दिया जानेवाला दण्ड भी उतना ही भारी होना चाहिए। (अध्याय १२, २६८१,५)।

१ "भले ही कोई ब्राह्मण धर्म-कर्म करे या उनकी उपेक्षा करे, जो सभी प्राणियों से मैत्री स्थापित करता है, वही ब्राह्मण है।" ('मनुस्मृति' अध्याय २, श्लोक ८७) "भाट, चाटुकार, धूर्त और कठोर-कर्मी और लोभी इन पाच तरह के ब्राह्मणों को कभी भी श्रद्धास्पद नहीं मानना चाहिए, भले ही विद्वत्ता में वे बृहस्पति के समान ही क्यों न हों।" (अत्रि० ३७९)।

२. तप श्रुतम् च योनिश्च त्रय ब्राह्मण्य कारणम्।
तपः श्रुताभ्याम् यो हीनो जाति ब्राह्मण एव स॥

३. 'महाभारत', वनपर्व, iii, ७५—८४।

ले आ, मैं तेरा उपनयन कर दूगा, क्योकि तूने सत्य का त्याग नही किया।"[1] जातिया जव परम्परागत हो गई थी, उसके वाद भी, एक दासी-पुत्र कवष् को ब्राह्मण वर्ण में स्वीकार कर लिया गया था।[2] जाति की कठोरता को कम करके दिखाने के लिए जातिगत विभेदो का सापेक्ष स्वरूप पर वहुधा अधिक जोर दिया गया है। 'रामायण' का कथन है कि कृतयुग मे केवल ब्राह्मण थे और सभी लोग केवल एक वर्ण के थे।[3]

यद्यपि आळवार और रामानुज के आस्तिकवादी आन्दोलनो ने तथा रामानन्द, कवीर, नानक, चैतन्य, नामदेव और एकनाथ आदि सन्तो ने जाति-पाति की असमानताओ का विरोध किया है, परन्तु वे असमानताए अभी विलुप्त नही हुई हैं। भारत की ईसाई धर्म-सस्थाओ ने अपना धर्म फैलाने की चिन्ता के कारण जाति-व्यवस्था से समझौता कर लिया है। पोप ग्रेगरी पन्द्रहवें ने एक धर्मादेश प्रसारित करके भारत की ईसाई धर्म-सस्था के लिए जाति-प्रतिवन्धो को स्वीकृत कर लिया।[4] पाश्चात्य सभ्यता का सामान्य प्रभाव इस जाति-सस्था को उदार वनाने की दिशा मे पडा है। हमारे देश मे राष्ट्रीयता का उद्भव देश के विचार और जीवन मे पाश्चात्य आदर्शो के समावेश का प्रत्यक्ष परिणाम है। भारत मे ब्रिटिश शासन के सम्वन्ध मे जो प्रतिकूल निर्णय किए गए हैं, उनका आधार न्याय और स्वतन्त्रता की वे धारणाए हैं जिनके लिए अग्रेज लोग ही मुख्यतः उत्तरदायी हैं। अग्रेजो की भारत मे जितनी दिलचस्पी अपने शासन को स्थायी वनाने की ओर है, उतनी भारतीय समाज के सुधार की ओर नहीं। अग्रेजों के रुख और उनकी नीति को हिन्दू कॉलिज कलकत्ता के प्रिंसिपल जेम्स कर्र ने एक वक्तव्य मे वहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है। उन्होने १८६५ ई० मे ये शब्द कहे थे . "इस वात मे सन्देह किया जा सकता है कि जाति-प्रथा के वर्तमान रहने से हमारे शासन के स्थायित्व पर कुल मिलाकर प्रतिकूल प्रभाव पडा है। यदि हम समझ-वूझकर और सहनशीलता से कार्य करें, तो यह हमारे शासन के लिए अनुकूल भी मानी जा सकती है। जाति-प्रथा की भावना राष्ट्रीय एकता के मार्ग मे वाधक है।"[5] हाल ही मे जो वैधानिक सुधार हुए हैं, उनसे साम्प्रदायिक वर्गो और जातिगत विभेदो को स्थिर और विधि-सगत वनाने की चेष्टा हुई है। यद्यपि सामाजिक न्याय के नाम पर कुछ वर्गों को प्रतिनिधित्व-सम्वन्धी विशेषाधिकार दिलाने के लिए कुछ कदम उठाए गए है, तथापि उनमे शासको की दृष्टि यही रही है कि किसी प्रकार राष्ट्रीयता के विकास मे रुकावटें डाली जाए। स्वय हिन्दुओ की ओर से चलाए गए सुधार-आन्दोलन इस दृढ़ निश्चय से प्रेरित हैं कि हमारी वर्तमान परिस्थितियो मे जाति-प्रथा का कोई उपयोग नही रह गया है, यह एक काल-दूषण मात्र है और यह मात्र हमारे प्रमाद, निष्क्रियता और शैथिल्य के कारण ही अपना अस्तित्व वनाए हुए है।

जो लोग जाति के नियमो की अवहेलना करते हैं, वे जाति-च्युत कर दिए जाते

१. *iv*, ४,१–५। २. 'ऐतरेय ब्राह्मण', *ii*, १६।
३. 'उत्तरकाण्ड', ७४,६–११; ३०,१६, 'भागवत' भी देखिये—*xi*, १७,१०–११; मनु *i*, ८३।
४. 'इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका,' ११ वा सस्करण, पचम खण्ड, पृष्ठ ४६८।
५. घुर्ये (Ghurye) कृत 'कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया' (१६३२), पृ० १६४।

है। इस दण्ड-भय के कारण कुछ समय पहले तक जाति के प्रभाव को दुर्दमनीय बना दिया था। फिर भी, व्यक्ति की स्वतन्त्रता का पूर्णत. हनन नही किया गया था। जाति के नियम काफी लचीले थे। नैतिकता के नियमो की वाल की खाल निकालने की चेष्टा नही की गई थी। जो लोग जातिगत नियमो मे आमूलचूल सुधार की माग करते है, वे चाहे तो अपनी एक नई जाति बना सकते है। जाति के नियमो को सापेक्ष और परिवर्तनीय माना गया था। स्मृतियां घोषित करती है कि 'धर्म' का मूलस्रोत धर्मग्रन्थ, धर्मात्माओ के आचरण और प्रवुद्धचेता व्यक्तियो का प्रमाण है।[1] धर्मग्रन्थो मे जो नियम निर्धारित किए गए है, वे केवल एक ढाचा बना देते है, उन्हीकी सीमाओ के भीतर उनका समयानुकूल अर्थ करने की स्वतन्त्रता दी गई रहती है। चूकि बहुधा धर्मग्रन्थो के लेखो मे भी परस्पर विरोधी बातें मिलती हैं,[2] इसलिए ऐसी दशा मे व्यक्ति को छूट है कि वह अपनी बुद्धि और अन्तरात्मा के निर्देशो का पालन करे। नैतिक अन्तर्दृष्टि और साधु चरित्रवाले व्यक्ति स्थापित आचारो से अलग हटकर भी कार्य कर सकते थे और परम्परागत विधि-नियम मे परिवर्तन कर सकते थे। आपस्तम्ब कहते है "अच्छाई या बुराई इधर-उधर यह नही कहते फिरते कि 'हम यहा है,' न देवता, देवदूत और पितर ही ऐसा कहते है 'यह उचित है और यह अनुचित।' परन्तु उचित वह है जिसकी प्रशसा आर्यजन करते है और अनुचित वह है जिसकी वे निन्दा करते है।"[3] तैत्तिरीय उपनिषद् मे आचार्य अपने शिष्य को उसके अध्ययन-काल की समाप्ति पर आचरण के कुछ सामान्य नियमों का उपदेश देता था

> "सत्य बोल। धर्म का आचरण कर। देवकार्य और पितृकार्यों से प्रमाद नही करना चाहिए। तू मातृदेव (माता ही जिसका देवता है ऐसा) हो, *पितृदेव हो, आचार्यदेव हो, अतिथिदेव हो।* जो अनिद्य कर्म हैं उन्हीका सेवन करना चाहिए—दूसरो का नही। हमारे (हम गुरुजनो के) जो शुभ आचरण हैं, तुझे उन्हीकी उपासना करनी चाहिए, दूसरे प्रकार के कर्मों की नही। श्रद्धापूर्वक देना चाहिए, अश्रद्धापूर्वक नही देना चाहिए। अपने ऐश्वर्य के अनुसार देना चाहिए। लज्जापूर्वक देना चाहिए। भय मानते हुए देना चाहिए। सवित्—मैत्री आदि कार्य के निमित्त देना चाहिए।" (१,११,४)

विद्यार्थी कैसे जान सकता है कि क्या ठीक है और क्या नही? साधारणतया तो लोक-रीति ही मनुष्य का पर्याप्त पथ-निर्देशन करती है, परन्तु उसमे भी शका हो जाए तो विद्यार्थी को आदेश था कि वह ऐसी परिस्थितियो मे ब्राह्मणो के द्वारा किए आचरण को प्रमाण (आदर्श) मानकर चले। ब्राह्मण की परिभाषा करते हुए यह अवश्य कहा गया है कि ब्राह्मण वह है जो निर्णय करने मे समर्थ हो, जो सत्यनिष्ठ

१. "वेदोऽखिलो धर्ममूल स्मृतिशील च तद्विदाम।
आचारश्चैव साधूना आत्मनः तृप्तिरेव च॥

२ श्रुतिश्च भिन्ना स्मृतयश्च भिन्नाः, महर्षिणा मतयश्च भिन्नाः।

३. 1, २०, ६।

और श्रद्धावान् हो तथा धर्म का कठोर प्रेमी न हो।" यदि विद्वान डॉक्टरों मे किसी रोग के विषय मे मतभेद होता है, तो व्यक्ति को अपनी अन्तरात्मा की सलाह माननी होती है।[1] विधि-नियमो का निर्माण तो मनुष्य के हित के लिए ही होता है, आपद्-काल मे रूढियो का उल्लघन किया जा सकता है, नैतिक सिद्धान्तो का नही। एक सन्त ने यह कहा था कि यदि वह चाहे तो गोमास भी खा सकता है, और एक दूसरे सन्त ने अपनी बुभुक्षा की तृप्ति कुत्ते के मास से की और सो भी एक अशुद्ध, निम्न जाति के मनुष्य से लेकर। ऐसा उसने क्यो किया, यह पूछने पर उस सन्त ने कहा. "जो सत है, वह कुछ भी खा सकता है, और जब कोई व्यक्ति इतना क्षुधित हो जितना कि इस समय मैं हू, तब एक तरह का मास भी उतना ही अच्छा है जितना दूसरे तरह का मास।" उसने एक नियम का उल्लेख किया है कि "यदि कोई मनुष्य अशुद्ध, अस्वच्छ भोजन ग्रहण कर लेता है, परन्तु उसके विषय मे झूठ नही बोलता, तो उसका कार्य आपत्तिजनक नही है।"[2] इसमे से पहली बात—अर्थात् अशुद्ध भोजन को ग्रहण करना—रूढ़ि से सम्बन्ध रखती है जबकि दूसरी बात—अर्थात् उसके विषय मे झूठ न बोलना—नैतिक जीवन से सम्बन्धित है। जब विधि-नियम एक चतुर्मुखी आधार के साथ सहितावद्ध कर दिया गया और उसमे परिवर्तन करने के लिए कानून बनाने की आवश्यकता हो गई, तभी व्यक्ति की स्वतत्रता छिन्न-भिन्न हुई।

इस पद्धति का अन्तर्निहित सत्य यह धारणा है कि प्रत्येक व्यक्ति की प्रकृति की सुव्यवस्थित अभिव्यक्ति के लिए उचित कर्म आवश्यक हैं। हमारी अन्तर्जात विशेषता और आत्माभिव्यजक कर्म के अनुसार, प्रकृति हममें से प्रत्येक व्यक्ति के लिए उसके जीवन का मार्ग और क्षेत्र निर्धारित कर देती है। कही भी इसका सकेत नही मिलता कि व्यक्ति को अपने वशपरम्परागत व्यवसाय को अपनी व्यक्तिगत रुझान और क्षमताओ का ध्यान रखे बिना अपना लेना चाहिए। जाति-व्यवस्था वर्ण-व्यवस्था का बिगडा हुआ रूप है। यह नही मानता कि व्यक्ति को अपने भविष्य के सम्बन्ध में निश्चय करने और अपनी रुचियो के अनुकूल कार्य करने का अधिकार है। यद्यपि जाति-प्रथा का मूल रूप बडा आदर्शात्मक रहा है, इतिहास की एक लम्बी अवधि मे इसने समाज को लाभ पहुचाया है, और अब भी कुछ प्रकार से यह उपादेय है, तथापि इसका विकास रुक जाने और इसमे लचीलेपन का अभाव हो जाने के कारण यह प्रथा हमारी आज की परिस्थितियो के सदर्भ मे असगत हो गई है। मानव-जाति के एक बडे भाग को अनिवार्य रूप से पतित करार देनेवाली इस प्रथा के विरुद्ध सुसस्कृत प्रकृति के मनुष्यो मे, जिनमे मानव-जीवन की गरिमा और बहुमूल्यता के प्रति समा-

१ कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' में नायक दुष्यन्त शकुन्तला से प्रेम करने लगता है और कहता है कि उसका प्रणय-व्यवहार गलत नहीं हो सकता, क्योंकि जहा शका हो, वहा अन्तरात्मा की वाणी हमारा अचूक पथ-निर्देशक होती है।

असशय क्षत्रपरिग्रहक्षमा यद् आर्यमस्यामभिलाषी मे मनः।
सता हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाण अन्तःकरणप्रवृत्तय.॥

(अक १)

२. 'महाभारत', बारहवा अध्याय, २९८,७।

दर की भावना है, विद्रोह करने की इच्छा हो उठती है। हमे यह मानना ही होगा कि प्रत्येक मानवात्मा को यह अधिकार है कि वह अपनी प्रजाति (Race) के पूर्ण आध्यात्मिक उत्तराधिकार मे हिस्सा बटा सके। जाति-प्रथा अनैक्य एव दुष्टता का एक साधन बन गई है और यदि यह अपने वर्तमान स्वरूप मे बनी रही और चलती रही, तो इससे चिपके रहनेवाले लोगो को यह निर्बल और प्रवचक बना देगी।

[५]

जीवन के चार आश्रम

हिन्दुओ ने जो जीवन-योजना बनाई है, उसमे व्यक्ति के विकास को पूर्णत. उसके एकाकी उपक्रम के भरोसे नही छोड दिया जाता, वरन् उसके माग-निर्देशन के लिए एक खाका तैयार करके दिया जाता है। मानव-जीवन एक के बाद एक आनेवाले चार सोपानो (आश्रमो) के द्वारा मूर्त्त रूप लेता है, इनमे से प्रथम तीन सोपान वर्ण या जाति के अधिकार-क्षेत्र मे आते हैं।[1]

१ :: ब्रह्मचारी (विद्यार्थी) : मानव-सतति ससार के सभी प्राणियो की सततियो से अधिक असहाय है। मनुष्य के बच्चो का यदि उनके माता-पिता द्वारा पालन-पोपण न हो, तो उनके जीवित बचे रहने की सभावना नही के बराबर है। उनका लालन-पालन भी काफी समय तक करना पडता है—उस समय तक जब तक बच्चा बडा होकर आदमी न बन जाए। सास्कृतिक स्तर जितना ऊचा होगा, उतना ही लम्बा समय उसके शिक्षण के लिए आवश्यक होता है।

शिक्षा का उद्देश्य एक ऐसे मस्तिष्क मे, जो सीखना न चाहता हो, ज्ञान उडेलना नही है और न आचरण के किसी रूढिबद्ध नियम को उसके सघर्पशील मनोवेगो पर लादना है, वरन् शिक्षा का उद्देश्य है बच्चो को अपनी प्रकृति का विकास करने के लिए सहायता करना, उसको बाहर से दबाव देकर कुचल डालने की अपेक्षा उसको भीतर की ओर से बदलना। व्यक्ति को जो शिक्षा मिलती है, वह उसे जीवन मे उसके कर्म-दाय के उपयुक्त ही नही बनाती, वरन् उसे आध्यात्मिक जीवन की परिस्थिति के सम्बन्ध मे एक सामान्य परिचय भी दे देती है।

२ :: गृहस्थ : समाज मे अपना एक स्थान बनाकर, उसको बनाए रखने और जारी रखने मे सहायता करके व्यक्ति न केवल अपने अस्तित्व के नियम का ही पालन करता है, बल्कि समाज के प्रति भी अपना अश-दान करता है। मनुप्य अपने पूर्ण अस्तित्व को सामजस्यपूर्ण सामाजिक सम्बन्धों के मध्य रहकर ही प्राप्त करता है। यौन (सेक्स) एक सामान्य मानवीय कार्य हैं जिसका सम्बन्ध वश या नस्ल को शाश्वत बनाए रखने से भी है। विवाह, प्रेम और मातृत्व गौरवमय सम्बन्ध हैं। पत्नी को सभी घरेलू और धार्मिक कार्यो मे अपने पति के समकक्ष स्थान प्राप्त है। हर स्त्री को विवाह करने का और अपना एक घर प्राप्त करने का अधिकार है। ब्रह्मचर्य यौन-विचलन

१. 'बृहदारण्यक उपनिपद्', *iv*, ४, २२ ; 'छादोग्य उपनिपद्', *ii*, २३, १ , जाबाल उपनिपद्, ४।

का विरलतम रूप है। शारीरिक सौन्दर्य का सतत चिन्तन अपने-आपमे एक बुराई है, भले ही उसे इन्द्रिय-दमन के निमित्त ही क्यो न किया जाता हो। आत्मा और देह— दोनो ही चाहे जितने भिन्न जान पड़ें, इनका परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। कुछ आध्यात्मिक बातें भी शरीर की भोग-तुष्टि होने पर ही निर्भर करती है। शारीरिक और आर्थिक—ये दोनो पहलू जीवन मे भले ही महत्त्वपूर्ण न जान पड़ें, तो भी ये आध्यात्मिक जीवन के साधन के रूप मे महत्त्वपूर्ण हैं।

व्यक्ति को बाद के आश्रमो मे प्रवेश करने के पूर्व प्रारम्भिक सोपानों की शिक्षाओ से परिचित हो लेना चाहिए। उसको सन्त बनने की चेष्टा करने के पहले स्थिर बुद्धि का होना सीखना चाहिए। जो आदमी यह नही जानता कि पुत्र या पति या माता-पिता के रूप मे प्रेम करना कैसा होता है, वह ऐसा प्रेम करने का बहाना कर ही नहीं सकता जिसमे इन सभी प्रकार के प्रेमो का समावेश होता है। वैवाहिक जीवन से लेकर सन्यासी के जीवन तक जो श्रेष्ठतम मानवीय तत्त्व हैं, उनको उनसे विलग कर देना जीवशास्त्रीय और सामाजिक दोनो ही दृष्टियो से अस्वास्थ्यकर है। गृहस्थ-जीवन सामाजिक जीवन का मूलाधार है। यह कहा जाता है कि गृहस्थ चाहे जो कार्य करे, वह उसीके द्वारा अपने जीवन मे ब्रह्मनिष्ठ बन सकेगा और तत्त्व-ज्ञानपरायण हो सकेगा।[1] हिन्दू धर्म यह नहीं कहता कि आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि के लिए जीवन से विरक्त होकर पर्वत-शिखरो पर और अंधेरी गुफाओ मे जाकर तपस्या करने को अत्यावश्यक नही मानता। सामान्यत उच्चतर जीवन के लिए मार्ग ससार मे से होकर गया है।

३ :: वानप्रस्थी : मनुष्य का अस्तित्व केवल इतना ही नही है कि पैदा हो जाए, बड़ा हो जाए, विवाह कर ले, जीविकोपार्जन कर ले, एक परिवार की स्थापना कर ले, उसे संभाले और अन्त मे एक दिन इस ससार से विदा हो जाए। यह तो पशु-जीवन का ही एक मानव-सस्करण होगा। वह तो है अपनी पाशविक मूलप्रवृत्तियो का अतिक्रमण करके ऊर्ध्वमुखी विकास करना। समाज मे अपना कर्त्तव्य करके व्यक्ति आत्मा की, जो प्रकृति के अवगुण्ठनों मे छिपी हुई है और अपनी सच्ची सार्वभौमिकता को प्राप्त करना चाहती है, महत्ता को अनुभव करने लगता है। जब किसी व्यक्ति की सतानें अपने जीवन मे सुस्थापित हो जाती हैं और उसकी देखभाल की अपेक्षा नही रखती, तब वह सम्भवत. अपनी पत्नी के साथ ग्राम्यप्रदेश के किसी एकान्त स्थान पर चला जाता है और जिज्ञासा तथा ध्यान-आराधन का जीवन बिताने लगता है तथा सामाजिक बन्धनो के झमेलो से मुक्त वातावरण मे अपने अस्तित्व के सत्य को अपने ही भीतर से ढूढने की चेष्टा करता है। चाहे जीवन का रहस्य हो अथवा मृत्यु का, प्रत्येक व्यक्ति को उसका पता स्वय ही लगाना होता है। हम केवल अपनी ही जिह्वा से गा सकते हैं या स्वाद ले सकते हैं, किसी अन्य की जिह्वा से नहीं। यद्यपि हर आदमी को अपना उद्देश्य अपने ही प्रयत्न एव सघर्ष के द्वारा प्राप्त करना होता है

१ 'ब्रह्मनिष्ठो गृहस्थ स्यात् तत्त्वज्ञानपरायण ।
यद्यत् कर्म प्रकुर्वीत तद् ब्रह्मणि समर्पयेत् ॥"

तथापि उससे जो परिणाम निकलता है, वह सार्वजनीन महत्त्व का होता है।

४ :: संन्यासी : सन्यास ग्रहण करनेवाला व्यक्ति अपनी समस्त सम्पत्ति का परित्याग कर देता है, जातिगत विभेदो और धार्मिक क्रियाओ को छोड देता है। चूकि उसने अपने आपको पूर्ण बना लिया है, इसलिए वह अपनी आत्मा को विकास के लिए विस्तृत से विस्तृत क्षेत्र देना चाहता है, ससार की मुक्त गति मे वह अपनी सारी शक्तियों को झोककर ससार को रूपान्तरण के लिए बाध्य कर देना चाहता है। वह उच्च जीवन की धारणा ही नही बनाता, बल्कि इस प्रसिद्ध नियम का पालन करते हुए वैसा जीवन बिताता है . "विश्व ही मेरा देश है , भलाई करना ही मेरा धर्म है।" "सबको समत्व दृष्टि से देखते हुए उसे सभी सजीव प्राणियों के साथ मैत्रीपूर्ण होना चाहिए। और जीवन के प्रति श्रद्धावान् होने के कारण उसे किसी प्राणी को, चाहे वह मनुष्य हो या पशु, मनसा-वाचा-कर्मणा चोट नही पहुचानी चाहिए तथा सब प्रकार की आसक्ति का त्याग कर देना चाहिए।"[१] आत्मा की स्वतन्त्रता तथा निर्भयता, अत्यन्त साहस जो किसी पराजय या बाधा को न स्वीकार करे, विश्व मे व्याप्त सत्ता मे आस्था , ऐसा प्रेम जो प्रतिदान की आशा किए बिना अपने को दूसरो पर न्योछावर करता हो और जीवन को विश्वात्मा के प्रति दास्य भाव मे निरत करता हो—ये हैं लक्षण उस व्यक्ति के जिसको पूर्णत्व प्राप्त मनुष्य कहा जा सकता है। सन्यासी एक अति-सामाजिक मनुष्य है, वह एक परिव्राजक—एक यायावर शिक्षक है जो समाज से अलग रहते हुए भी आध्यात्मिक प्रतिमानो को प्रभावित करता है। एक ब्राह्मण और सन्यासी मे अन्तर यह है कि जब ब्राह्मण पत्नी-पुत्रादि के साथ सुव्यवस्थित, किन्तु सादे घर मे रहता हुआ और धार्मिक कृत्य करता हुआ समाज का पूर्ण सदस्य होता है, तब सन्यासी पत्नी से भी विलग, ब्रह्मचारी, गृहत्यागी और यदि किसी मठ या आश्रम मे न रहता हो तो सदा भ्रमणशील रहता है , वह समस्त धर्मकृत्यों एव अनुष्ठानो का भी परित्याग कर चुका होता है। वह न अपनी भाषा का होता है, न अपनी प्रजाति का, वरन् वह केवल स्वयं का होता है, इसीलिए समस्त ससार का हो पाता है।[२] संन्यासी होने के लिए किसी विशेष जाति का होना आवश्यक नहीं है, वह किसी भी जाति का हो सकता है, स्त्री या पुरुष कोई भी हो सकता है। चूकि सन्यास-जीवन मनुष्य के जीवन का अतिम लक्ष्य होता है, इसलिए जो लोग इस जीवन को जीते है, उनको समाज की निष्ठा-भक्ति प्राप्त होती है । महान भारतीय कवि कालिदास जीवन के इस परम आदर्श का वर्णन "अपने को त्यागकर ससार का हो रहना"[३] इन शब्दो मे करते हैं।

सन्यासी के रूप में हिन्दू धर्म ने हमारे सामने आदर्श मनुष्य का अपना चित्र प्रस्तुत कर दिया है। सन्यासी अपने अन्तर मे आत्मा की गतिवादिता, उसकी ज्योति-रूप प्रसरणशीलता को समाहित किए रहता है। उसका कोई निश्चित निवास-स्थान

१. विष्णुपुराण, iii, ६ ।

२. जब उनके सहकर्मियों ने इस बात की शेखी बघारी कि वे उस भूमि के मूलनिवासी हैं, तब अन्तिस्थेनीज़ ने उत्तर दिया कि ये इस सम्मान में शम्बुक कीटों और टिड्डों के सहभागी हैं ।

३. 'मालविकाग्निमित्र', प्रथम अक, श्लोक १ ।

नहीं होता और जीविका के किसी स्थिर रूप से वह बधा हुआ नहीं होता। हर प्रकार की स्वार्थपरता से, चाहे वह व्यक्तिगत हो, सामाजिक हो अथवा राष्ट्रीय हो, मुक्त रहता है। वह व्यक्तिगत या सामूहिक—किसी प्रकार की भी सत्ता के लिए अपने सिद्धान्तो के साथ समझौता नही करता। उसका व्यवहार कब-कैसा होगा, यह नहीं कहा जा सकता, क्योकि वह सामाजिक समुदाय या राज्य के विधि-नियमो का आज्ञानुसारी बनकर कार्य नही करता। वह अपने आचरण का स्वय स्वामी होता है। वह किन्ही नियमो से शासित नही होता, क्योकि उसने अपने अत.करण मे उस जीवन का साक्षात्कार कर लिया है जो समस्त नियमो का स्रोत होता है तथा जो स्वय नियमो के अधीन नही होता। उसकी आत्मा की शान्ति विचित्र होती है, क्योकि यद्यपि वह भीतर से शान्त, उद्वेगरहित होता है, तो भी उसके चारो ओर की हर चीज़ अशान्त और गत्यात्मक होती है। उसका तत्त्व अग्नि है और उसका चिह्न है गति, निरन्तर गति।

भारतवर्ष का आदर्श मनुष्य यूनान का उदाराशय मनुष्य या मध्यकालीन यूरोप का दुर्दान्त पराक्रमी योद्धा नही है, बल्कि वह मुक्त-आत्मा मनुष्य है, जिसने कठोर अनुशासन और निर्लिप्त धर्माभ्यास के द्वारा विश्वात्म शक्ति को देखने की अतर्दृष्टि प्राप्त कर ली है, जिसने अपने देश और काल के पूर्वाग्रहो से अपने को विमुक्त कर लिया है। भारतवर्ष को इस बात का गर्व है कि उसने इस आदर्श को कभी धूमिल नही होने दिया है और उपनिषदो के ऋषियो और बुद्ध के समय से लेकर रामकृष्ण परमहस और महात्मा गाधी के समय तक, हर पीढी मे और देश के हर भाग में ऐसे मनुष्यो को उत्पन्न किया है, जिन्होने इस आदर्श को अपने जीवन मे चरितार्थ करने का सफल प्रयास किया है।

सन्यासी का आदर्श अब भी भारतीय मन को प्रिय है। जब गाधीजी राजनीतिक नेताओ से यह अपेक्षा करते हैं कि वे ससार से अपने को बाध रखनेवाले समस्त बन्धनो को तोड दें, सर्वस्व-त्यागी साधु बन जाए, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करें; जब वे उनसे कहते हैं कि कारागृह ही उनका कृष्णमन्दिर हो जाना चाहिए, जेल की भद्दी पोशाक उनकी धार्मिक आदत बन जानी चाहिए और हथकडिया तथा बेडिया उनके लिए सन्यासियो के पहने जाने योग्य बालों का बना चोगा और धारण किया जानेवाला दण्ड बन जाए, तब वे त्याग के आदर्श को राजनीतिक क्षेत्र मे लागू करते हैं।

वर्णो और आश्रमो की पद्धति सहायक तो है, परन्तु अपरिहार्य नही है। मण्डन[1] कहते हैं कि यह एक सवारी के घोडे की तरह है जो मनुष्य को उसके लक्ष्य तक सरलता से और शीघ्रता से ले जाने मे सहायक होता है, परन्तु उनके बिना भी मनुष्य वहा पहुच सकता है। जीवन एक प्रगति है जो कई आश्रमो के माध्यम से पूरी होती है। दौड काफी लम्बी है और समाज को किसी एक पर इतना भारी बोझ नही लादना चाहिए जिसको वह वहन न कर सके। जब तक हम कुछ कम ऊची उडानें उडकर अपने को प्रशिक्षित नहीं कर लेते, तब तक हमे ऊची उडानें भरने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। फिर भी, हमे सदा ही निचले सोपानो पर रहकर सतुष्ट नहीं हो

१. 'ब्रह्मसिद्धि', पृष्ठ ३७।

जाना चाहिए। यदि हम ऐसा करेंगे, तो उस आदर्श तक कैसे पहुंच सकेंगे जिस तक पहुचने की आशा हमसे की जाती है। हमारे जीवन का लक्ष्य है ईश्वर का साक्षात्कार और इसके लिए हम सब प्रयास कर सकते हैं। ससार और उसके क्रिया-कलाप उसके मार्ग के अवरोधक नही, वरन् उसके लिए प्रशिक्षण-क्षेत्र का कार्य करते हैं।

[६]

जीवन के लक्ष्यो, वर्णों और आश्रमों की इस योजना का एक ही लक्ष्य है—व्यक्ति का विकास। यह व्यक्ति को अपने जीवन को व्यवस्थित और सगठित करने मे सहायता देती है, वजाय इसके कि वहुत-सी असगत इच्छाओ की गठरी बनाकर वह जीवन को छोड दे। यह योजना व्यक्ति को प्राणिशास्त्रीय जीवमूलो का केवल नमूना मात्र नही समझती, वरन् एक ऐसे सामाजिक समूह का सदस्य समझती है जो अपने सगठन मे उन जीवन-मूल्यो को प्रतिविम्वित करता है जिनको प्रत्यक्ष करने के लिए उस समूह का अस्तित्व है। शिक्षा और सामाजिक अनुशासन के द्वारा व्यक्ति के उस आन्तरिक आत्म-प्रत्यय को विकसित करने मे मदद मिलती है जो सामाजिक स्थिरता के लिए वहुत आवश्यक है। किन्तु सर्वत्र इस तथ्य पर वल दिया गया है कि उच्चतम जीवन-मूल्य अति-राष्ट्रीय हैं और सचमुच विश्वजनीन हैं। कला, विज्ञान, नैतिकता और धर्म के क्रिया-कलाप तथा उपलब्धिया रक्त और नस्ल के अवरोधो का अतिक्रमण करके घुलने-मिलनेवाली और सहज सवेदनीय मानव-चेतना का उच्चतम मूर्त्त-रूप हैं। यह हम इसलिए नही कह रहे कि हम सामुदायिक जीवन के महत्त्व को अस्वीकार करते हैं या उसे कम करके आकते हैं, वल्कि सच्ची वात यह है कि कला और साहित्य, विज्ञान और दर्शन के उच्चतम मूल्य सिद्धान्ततः सार्वभौमिक अपील रखते हैं। जो व्यक्ति जितना ही उच्च होगा, वह सामाजिक व्यवस्था से उतना ही मुक्त होगा। उच्चतम व्यक्ति सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक अनुशासन का अतिक्रमण कर लेने—अति-वर्णाश्रमी वन जाने के अनन्तर सवसे अधिक सार्वभौमिक हो जाता है। स्वय अपना राजा ('स्वयमेव राजा') हो जाने के कारण वह मनुष्यो मे राजा के तुल्य हो जाता है। वह विश्व का नागरिक वन जाता है और ऐसी भापा वोलता है जिसको वे सभी मनुष्य नामधारी लोग समझ सकते है। जीवन के चार लक्ष्यो—अर्थ, काम, धर्म, मोक्ष—मे से उच्चतम लक्ष्य है आध्यात्मिक मुक्ति, आध्यात्मिक प्रवृत्तियों मे निरत रहने के कारण, ब्राह्मण चारो वर्णों मे श्रेष्ठतम है, चार आश्रमो मे से सन्यासाश्रम सर्वाधिक श्रेष्ठ और गौरवमय है। मानव-अस्तित्व सार्थक तो तव हो पाता है जव उसकी चेतना उदार और विशाल हो जाती है, परन्तु मनुष्य उस चेतना को तव तक नहीं प्राप्त कर पाता जव तक वह अपनी वैयक्तिकता—अह—मे ही निवद्ध रहता है। पारिवारिक जीवन और सामाजिक आज्ञानुसरण के प्रतिवन्धो के कारण, आत्मा के मुख्य उद्देश्य—प्राणिमात्र के साथ एकात्म जीवन की प्रतीति—मे वाधा उपस्थित हो जाती है। तपस्या की निषेधात्मक विधि जिसके द्वारा व्यक्ति अपने शरीर की इन्द्रियो का दमन करता है, सारी सम्पत्तिया छोड देता है और सभी सामाजिक

सम्बन्धो को तोड लेता है, हिन्दू विचारणा के अनुकूल नही है। हिन्दू विचारणा चाहती है कि हम अपने जीवन के प्रत्येक पक्ष का इतना विस्तार करें कि वह अपनी सीमाओ का अतिक्रम कर जाए, और इस प्रकार हम आत्मा की विशालतर मुक्ति, अति-वैयक्तिकता के रूप मे अपना उत्कर्ष करें। गोधूलि—प्रकाश और अन्धकार के दु:खद सघर्ष—की इस घातक वेला मे मुक्तात्मा मनुष्यो का, जिन्होंने अज्ञानरूपी मेघ-मण्डल के पार छिपे सत्य के दर्शन कर लिए हैं, यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इस अन्धकार को दूर भगा देने के लिए जो भी उपाय सम्भव हो, करें और यदि उनसे यह न हो सके, तो वे इतना तो करें ही कि अपने दीपको को ज्योतित कर लें, ताकि रात का अँधियारा जब घनीभूत होने लगे तब वे अपने दीपको से हमे मार्ग दिखाने के लिए प्रस्तुत रहे।

[७]

हम इतिहास के एक निराशामय क्षण से गुजर रहे हैं। कभी भी भविष्य इतना अबूझ, असूझ और अज्ञेय नही रहा था। यह दारुण विपत्ति अपनी घोर प्राणघातकता के साथ आगे बढती ही जा रही है। आज राष्ट्रो का यह ससार उस चटशाला की तरह जान पडता है जो उद्दण्ड, जिद्दी और शरारती बच्चो से कोलाहलपूर्ण हो, जहा के बच्चे एक-दूसरे के साथ धक्कमधुक्की कर रहे हो तथा अपनी भौतिक सम्पदाओ-रूपी भारी-भरकम भद्दे खिलौनो का प्रदर्शन कर रहे हो। यह बात सभी देशो के लिए सत्य है। यह पूर्व या पश्चिम का, एशिया या यूरोप का प्रश्न नही है। कोई भी बुद्धिमान एशियाई व्यक्ति यूरोप की महान जातियो और उनकी श्रेष्ठ उपलब्धियो की प्रशसा किए बिना और समादर प्रकट किए नही रह सकता। परन्तु, जब वह क्षितिज पर दल के दल घिरते हुए काले बादलो को देखता है तब उसका दिल धडकने लगता है। हमारी सभ्यता के केन्द्र मे ही कोई ऐसी विकृति आ गई है जिसके कारण वह बार-बार छली जाती है। कोई भी सभ्यता, चाहे वह कितनी ही बढी-चढी हो, सामाजिक आक्रोशो और वर्ग-सघर्षो (जो श्रम और विश्राम के असन्तुलन के कारण उत्पन्न होते हैं) का प्रतिरोध नही कर सकती। यदि हम यह नही अनुभव करते कि ससार एक है और उसके राष्ट्र अन्योन्याश्रित हैं, तो हमे सदैव विक्षोभ और अशान्ति का कुफल भोगना पडेगा।[1] यदि हम सामाजिक पद्धति और अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था, जो शक्ति तथा निम्न श्रेणी के व्यक्तियो एव पिछडे हुए राष्ट्रो के शोषण पर आधारित है, के ढाचे को नही बदल डालते, तो विश्व-शान्ति का स्वप्न, स्वप्न ही बना रहेगा। यह पीढी कुछ परित्याग न करने का निश्चय करके त्याग के फलो का उपभोग करने की इच्छा रखती है।

'द इमिटेशन' मे एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण वाक्य है "सभी मनुष्य शान्ति

१. "यह मर्त्यलोक एक अन्योन्याश्रित अंगी है।"
—"सघातवन् मर्त्यलोक· परन्तप· अपाश्रत ।"
('महाभारत', xii, २९८,१७।)

चाहते हैं, परन्तु बहुत कम लोग उन चीज़ो की इच्छा करते हैं जिनसे शान्ति लाई जा सकती है।" हम शान्ति की कीमत चुकाने के लिए तैयार नही हैं। शान्ति की कीमत है—साम्राज्यो और उपनिवेशो का त्याग, आर्थिक राष्ट्रवाद की नीति का परित्याग, जातीय एकता और विश्व-समाज के लिए स्वतन्त्रता तथा निष्ठा के आधार पर विश्व की पुनर्व्यवस्था। इस बात को समझने के लिए बहुत बुद्धि की आवश्यकता नही, स्पष्ट ही यह सामान्य सूझबूझ की बात है। सामान्य जनता के मन में इस विचार का उदय हो सके, इसके लिए एक मानसिक और नैतिक क्रान्ति की आवश्यकता है। शान्ति के लिए चाहिए एक क्रान्तिकारी इच्छा, एक नवीन सादगी, एक नये प्रकार की तपश्चर्या। यदि लोग अपनी अमित इच्छाओ को जीत सकें, तो यह आन्तरिक विजय उनके बाह्य सम्बन्धो में अभिव्यक्त होने लगेगी। ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी मे अशोक ने एक ऐसे विशाल साम्राज्य की स्थापना की जो आधुनिक ब्रिटिश भारत से बडा था। अपने प्रारम्भिक जीवन मे उसने एक वीर योद्धा के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। परन्तु, युद्ध के कारण जनता की दुर्दशा के जो कारुणिक दृश्य उसने देखे, उनसे उसका हृदय पश्चात्ताप से भर गया और वह शान्ति का सन्देशवाहक तथा बुद्ध का शिष्य बन गया। उसके इस मत-परिवर्तन के परिणामो को उसीके शब्दो मे प्रस्तुत किया जा सकता है, क्योकि उसने उनको अपने विशाल साम्राज्य के एक छोर से दूसरे छोर तक शिलाओ और स्तम्भो पर उत्कीर्ण करा दिया था। अपने एक शिलालेख मे उसने हमे बताया है कि कलिंग-युद्ध में उसके द्वारा जो हज़ारों लोगों की हत्या हुई और युद्ध मे भाग न लेनेवाली निरीह प्रजा को भी जिस विपत्ति का सामना करना पड़ा, उसको देखकर उसके हृदय को कितना भारी शोक हुआ। उसीके शब्दों में पढिए . "यदि इनके सौवें या हज़ारवें भाग को भी अब उसी दुर्भाग्य को फिर भोगना पड जाए, तो 'देवाना प्रिय.' के लिए यह गहरे शोक का विषय होगा। यद्यपि कोई उसको भी आघात पहुचा सकता है, तथापि उसका अब यह विचार है कि उस आघात को, जहा तक उसे सहन करना सम्भव हो, धैर्यपूर्वक सहन करना चाहिए।"[1] ऐसा था यह शक्तिशाली सम्राट जिसने न केवल अपनी साम्राज्य-लिप्सा के लिए पश्चात्ताप किया, वरन् अपने पश्चात्ताप को उसने पाषाणो पर खुदवा दिया, ताकि भावी युगो के लोग उससे शिक्षा ले सकें। यदि विज्ञान और प्राविधिकी युद्धलोलुप सीज़रो और निरकुश तैमूरलगो के हाथो मे न पड़कर किन्ही दूसरे हाथों मे पड़ें, यदि हर समाज मे से काफी सख्या मे ऐसे स्त्री और पुरुष आगे आ सकें जो धार्मिक और राजनीतिक उन्मादो एव कठमुल्लेपन से मुक्त हो, जो हर प्रकार के मानसिक एव नैतिक अत्याचार का डटकर विरोध कर सकें, जो तीखी राष्ट्रीय भावना के स्थान पर उदार विश्व-बन्धुत्व की भावना को पनपा सकें, तो क्या नहीं किया जा सकता ?

१. तेरहवा शिलालेख। देखिए, विएटेन्स ए० स्मिथ कृत 'द एडिक्ट्स ऑव् अशोक', पृष्ठ १६ (१९०९ ई०)।

० ० ०

परिशिष्ट

टिप्पणी १

पृष्ठ १७२ की पहली पादटिप्पणी—

सिकन्दर की उपलब्धि मानवीय-प्रगति के पथ मे एक मील का पत्थर है। उसके महत्त्व को समझने के लिए यह जानना अत्यावश्यक है कि वह अपने गुरु अरस्तू से कितना आगे बढ पाया है। यूनानियो द्वारा यवनो और बर्बरो मे जो अन्तर किया गया है, वह होमर मे नहीं मिलता। जब वह केरियनो के विषय मे बर्बर भाषाभाषी शब्द का प्रयोग करता है, तब उसका तात्पर्य यही होता है कि वे एक भिन्न भाषा बोलते हैं और विदेशी हैं। उसका यह मतलब नहीं कि वे असभ्य हैं या अच्छे व्यवहार के पात्र नही हैं। आयनवादी (आयोनियन) दार्शनिको का मत था कि मानव-जाति 'स्वभाव' से एक है और उसके यूनानी और बर्बर, दास और स्वतन्त्र आदि जो भेद किए जाते हैं, वे सब 'परम्परा' पर आधारित हैं। छठी शताब्दी ई० पू० के बाद, जो यूनानी नही थे, अजनबी या विदेशी थे, उनको शत्रु समझा जाने लगा। जो अजनबी है और हमसे बिलकुल भिन्न है, वह हममे भय का सचार करता है, भय से तिरस्कार की और तिरस्कार से घृणा की उत्पत्ति होती है। प्लेटो (अफलातून) बर्बरो के विषय मे कहता है कि वे प्रकृत्या शत्रु है ('रिपब्लिक' ५, ४७०)। अरस्तू का कथन है कि कुछ लोग 'स्वभाव' से ही दास-मनोवृत्ति के होते हैं और बर्बरों के विरुद्ध युद्ध करना 'स्वाभाविक' है। (ऑगस्टाइन ने शैतान को विश्व का बर्बर—'बारबेरस मुण्डी'—कहा था। 'प्रवचन' १, २)। सिकन्दर ने अरस्तू की शिक्षाओ की उपेक्षा की और अपनी मान्यता प्रकट की कि यूनानियो और बर्बरो मे जो अन्तर है, वह प्रजातीय न होकर अच्छे और बुरे का, सस्कृत और असस्कृत के बीच का नैतिक अन्तर है। सिकन्दरियाई एरैटोस्थेनीज जो सिकन्दर से ७० वर्ष बाद पैदा हुआ था, के विषय मे स्ट्राबो कहता है "अपने प्रबन्ध के अन्त की ओर, एरैटोस्थेनीज उन लोगो की प्रशसा करने मे इन्कार कर देता है, जो समग्र मानव-जाति को यूनानी और बर्बर—दो समूहो में विभक्त कर देते हैं, तथा जिन्होंने सिकन्दर को यह सलाह दी थी कि वह यूनानियो के साथ मित्रवत् और बर्बरो के साथ शत्रुवत् व्यवहार करे। आगे वह कहता है कि यदि विभाजन करना ही है तो पुण्य और पाप के आधार पर वर्ग-भेद करना ठीक रहेगा, क्योंकि न केवल बहुत-से यूनानी बुरे हैं, बरन् बहुत-से बर्बर भी सस्कृत हैं, उदाहरण के लिए, भारतीयो और एरियनो को ही ले लीजिए, इसके अलावा रोमनो और कार्थेजिनियनों को भी लिया जा सकता है, क्योंकि इनका प्रशासन प्रशंसनीय है। और यही कारण है कि सिकन्दर ने अपने सलाहकारो की उपेक्षा करके अधिक से अधिक संख्या मे अच्छे प्रतिष्ठित विद्वानों का स्वागत किया और उनकी अच्छी सेवाए

की।" ['ज्योग्रैफी' १, ६६, हारहोफ द्वारा लिखित 'द स्ट्रैन्जर ऐट द गेट' (१६३८) मे उद्धृत]। सिकन्दर के वसीयतनामा का, जिस रूप मे वह डायोडोरस द्वारा दिया गया है, दस्तावेज़ के रूप मे बहुत कम महत्त्व है, किन्तु उसमे सम्भवत सिकन्दर द्वारा चर्चित तथा उल्लिखित विचारो का सग्रह हो सकता है। उसमे और बहुत-सी बातो के अलावा इस बात की भी चर्चा की गई है कि एशिया से यूरोप मे और यूरोप से एशिया मे स्त्रियो और पुरुषो की कलमे लगाई जाए—यूरोपीय पुरुष के साथ एशियाई स्त्री का और एशियाई पुरुष के साथ यूरोपीय स्त्री का विवाह किया जाए—इस प्रकार के अन्तर्महाद्वीपीय विवाहों से आध्यात्मिक-एकता (होमोनोइया) और मित्रता स्थापित होगी, जो पारिवारिक सम्बन्धो के कारण सम्भव होती है। प्लूटार्क कहता है कि सिकन्दर का उद्देश्य सारे ससार मे एकता (होमोनोइया), साहचर्य (कोइनोनिया) और शान्ति (ईरेनी) स्थापित करना था। वह चाहता था कि सभी लोग शुद्ध बुद्धि (लोगस) के सार्वभौम सिद्धान्त के अनुयायी और एक ही सविधान से अनुवर्ती बनें। यदि प्लूटार्क के कथन को प्रामाणिक माना जाए, तो सिकन्दर का विश्वास था कि ईश्वर ने उसको मनुष्यो में एकता और ससार के विभिन्न भागो मे सामजस्य लाने के विशेष प्रयोजन से ससार मे भेजा है ('द लाइफ ऑव् ऐलेक्जेंण्डर', २७)। वह प्रणयोन्मादी तथा त्वरित-गति ऐकिलीज़ का अपने को उत्तराधिकारी मानता था। प्लूटार्क ने आगे लिखा है कि "उसने सभी मनुष्यो को आज्ञा दी कि वे समस्त जनाकीर्ण ससार (आयकोमेनी) को अपनी पितृभूमि मानें।" जो हो, वही वह प्रथम व्यक्ति था जिसने 'पृथ्वी पर एक परिवार' के उच्चादर्श को व्यावहारिक उपलब्धि के रूप में चरितार्थ करने का प्रयास किया था। (प्रोफेसर टार्न का कथन है कि "सार्वभौम दृष्टिकोण रखनेवाले जो कुछ महान क्रान्तिकारी हुए हैं, उनमे सिकन्दर अग्रणी था, वह पहला व्यक्ति था जिसने मनुष्य के भ्रातृत्व और मानव-जाति के एकत्व की कल्पना की थी।" 'ऐलेक्जैण्डर एण्ड यूनिटी ऑव् मैनकाइण्ड', पृ० २८)।

टिप्पणी २

पृष्ठ १७४ की दूसरी पादटिप्पणी—

स्वात मे एक फूलदान प्राप्त हुआ है, जिसपर खरोष्ठी लिपि मे एक आलेख लिखा है। यह आलेख यूनानी मेरिडार्क थिओडोरस का है, जो बौद्ध होने के नाते बुद्ध के कुछ अवशेषो की स्थापना का उल्लेख करता है। यह आलेख ई० पू० प्रथम शताब्दी के आरम्भिक भाग का है।

टिप्पणी ३

पृष्ठ १७४ की तीसरी पादटिप्पणी—

भारत मे बस गए कुछ यूनानियो ने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया या उनमें इतनी रुचि तो ली ही कि उन्होंने बौद्ध धर्म की सेवा मे अपने कला-कौशल को अर्पित कर दिया। यह ठीक ही कहा गया है कि गान्धार शैली की कला बौद्ध करुणा से

उत्पन्न हुई थी और उसने यूनानी शिल्प (टेकनीक) का प्रयोग किया था। यह प्रभाव प्रथम शताब्दी ई० पू० में कुषाण-काल मे तो रहा ही, किन्तु उसके बाद मे भी रहा। फिर तो, उस गान्धार शैली का भी भारतीयकरण हो गया।

टिप्पणी ४

पृष्ठ १८१ की दूसरी पादटिप्पणी—

उन्हे न्यूनाधिक रूप से अपने राजद्रोहात्मक कार्यो के लिए प्राण-दण्ड दिया गया था, हालाकि उनके धर्मान्ध अनुयायियो ने उन्हे ईश्वर के पद तक उठा दिया।

टिप्पणी ५

पृष्ठ १८१ की तीसरी पादटिप्पणी—

प्राचीन काल मे टैसिटस, सेल्सस और पॉर्फीरी तथा यहूदी और मुसलमान भी ऐसा ही विचार रखते थे।

टिप्पणी ६

पृष्ठ १८१ की चौथी पादटिप्पणी—

रेनान ईसा को महानतम पैगम्बरो मे से मानता है। सैन्ते ब्यूवे के शब्दो मे ईसा को इस शर्त पर मानवता के शीर्षस्थान पर बैठाया गया है कि वे ईश्वर के सिहासन का परित्याग कर देंगे।

टिप्पणी ७

पृष्ठ १८१ की पाचवीं पादटिप्पणी—

एम० काउचाउड 'जीसस ले ड्यू फैट होमी'। ईसा के अस्तित्व के विषय मे पहली बार सन्देह सिकन्दरिया मे तीसरी शताब्दी ईस्वी मे सेल्सस के द्वारा उठाया गया, और उसके बाद तो हज़ारो व्यक्तियो ने अपनी शकाए व्यक्त की हैं। जबकि हम जूलियस सीजर के, जिसकी हत्या ईसा के जन्म से केवल ५० वर्ष पहले की गई थी, ऐण्टोनी और क्लिओपैट्रा के, जो २५ वर्ष पहले मरे थे, ऑगस्टस और टिबेरियस के, जो ईसा के समकालीन थे, सम्बन्ध मे काफी-कुछ जानते हैं, तब हमारे पास स्वय ईसा के लिए तत्कालीन बहुत कम साक्ष्य हैं। जोजेफस ने, जो ईसा के सूली पर चढाए जाने की घटना के केवल छ वर्ष बाद यरूशलम मे पैदा हुआ था, यहूदियो का एक इतिहास लिखा जिसमें ईसा का केवल एक स्थल पर उल्लेख आया है और उसके सम्बन्ध में भी लोगो का कहना यह है कि बाद के किसी लेखक ने अपनी ओर से क्षेपक जोड दिया है। प्लूटार्क और फिलो ने तो ईसा के विषय मे सकेत तक नही किया है। इन सबसे एम० काउचाउड ने यह निष्कर्ष निकाला है कि सेंट पॉल और उनके अनुयायियो की दृष्टि मे 'जीसस' (ईसा) ईश्वर का एक नाम ही था; द्वितीय शताब्दी में यही नाम एक मनुष्य का नाम मान लिया गया, जो उस समय तक भी

एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में अज्ञात ही था। सेंट पॉल की प्रेरणा के ईसा एक ऐतिहासिक व्यक्ति उतने नही थे जितने कि एक आत्मा जो सुकरात के 'डैमन' के समकक्ष थी। ईश्वर के सम्बन्ध में उस समय जो सामान्य परम्परा प्रचलित थी, वह ईसा के नाम के साथ जुड गई। 'बुक ऑव् एनक्' मे एक ऐसे स्वर्गीय पुरुष की कल्पना की गई है जो ईश्वर के सिंहासन के समीप खडा होगा और जिसे आदेश मिलेगा कि वह ईश्वर के बदले स्वय ससार का न्याय करे और उसे नष्ट कर दे। काफिरों (पैगन्स) के वातावरण में दैवी प्राणियो, जैसे कोरे, डायोनिसस, जैग्रियस, ओसिरिस, अत्तिस, की कथाए भरी पडी थी। ये ऐसे दैवी पुरुष थे जो एक वार मरने के वाद पुन जीवित हो गए थे। इन सभी रहस्यात्मक कथाओ मे एक वात को घुमा-फिराकर कहा गया है कि मनुष्यो को मोक्ष तभी प्राप्त हो सकता है जव वे एक दिव्य प्राणी से, जिसने मृत्यु को जीत लिया है, घनिष्ठ एकात्मता स्थापित करें। एम० काउचाउड इस वात की पुष्टि करते हैं कि "जव ईसा को जोरॉस्टर, कन्फ्यूशियस, मानी, मोहम्मद, लूथर जैसे धर्म-सुधारको की श्रेणी में रखा जाता है, तब उनकी सही श्रेणी निर्धारित नहीं होती। उनका सही स्थान तो पुनरुज्जीवित देवताओं, अपने पूर्ववर्तियों और अपने से न्यूनतर बन्धुओ डीमीटर, डायोनिसस, ओसिरिस, अत्तिस और मिथ् आदि के बीच है, जिनके रहस्यात्मक कृत्यो ने उनसे पहले ही, परन्तु उनसे कम शक्ति के साथ, लोगो को वडी आशा वधाई थी कि वे मृत्यु पर उनको विजयी वना देंगे।" (देखिए 'द हिस्ट्रॉसिटी ऑव् जीसस', हिव्वर्ट जर्नल, जनवरी १९३९)।

टिप्पणी ८

पृष्ठ १८२ की पहली पादटिप्पणी—

इजीलो (गॉस्पेल्स) से ईसा के सम्बन्ध मे जो ऐतिहासिक तथ्य संकलित किए जा सके हैं, उनके विषय मे आलोचको मे मतैक्य नही है। प्रत्येक आलोचक ने मन-माने ढग से ऐतिहासिक सार को तोडने-मरोड़ने और उसकी स्वैच्छिक व्याख्या करने की चेष्टा की है। उदाहरणार्थ, एम० ल्वायजी ईसा को सूली पर चढाने की घटना और ईसा के नाम को कुछ अधिक महत्त्व देकर ही स्वीकार करते हैं। इजीलो मे जो कुछ दिया गया है, उसमे से लगभग हर चीज आस्था की उपज जान पडती है।

टिप्पणी ९

पृष्ठ २८७ की दूसरी पादटिप्पणी—

जहा तक धर्मग्रन्थ का सम्बन्ध है, हॉब्स यह मानता है कि केवल राजा लोग ही यह निर्णय कर सकते हैं कि कौन-सी पुस्तक आप्त या धर्मानुसार है और किस प्रकार उसकी व्याख्या की जा सकती है। उन सारी बुराइयो मे से, जिनसे 'अन्धकार का राज्य' भरा हुआ है, सबसे बडी बुराई इस मिथ्या सिद्धान्त से उत्पन्न होती है कि "वर्तमान चर्च जो पृथ्वी पर लडाकू बना हुआ है, 'ईश्वर का राज्य' है।" "पोप-तन्त्र मृत रोमन साम्राज्य के प्रेत के अतिरिक्त और कुछ नही है, जो उसकी कब्र पर मुकुट

धारण किए बैठा है ।" कैम्ब्रिज के प्लेटोवादी धर्म के नैतिक और आध्यात्मिक पक्षो पर ज़ोर देते थे ; उनका यह दावा था कि धर्म को बौद्धिक सत्य के साथ ऐक्यमय होना चाहिए । वे किसी प्रकार की निजी प्रेरणा या इल्हाम के दावे के विरुद्ध थे। बेन्जामिन ह्विचकोट (१६१०-८३ ई०) लिखता है · "यदि तुम कहते हो कि ईश्वर ने तुम्हारे भीतर अपनी दिव्य शक्ति का स्फुरण (इल्हाम) किया है, तो इसके पहले कि मैं तुम्हारे इस कथन पर विश्वास करू मुझे भी ईश्वर की ओर से इल्हाम होना चाहिए।" 'ससार के किसी अन्य भाग की अपेक्षा' ईश्वर अपनी दिव्य शक्ति का स्फुरण मनुष्य के मन मे अधिक करता है । मानव-जाति की सार्वभौम शुद्ध बुद्धि के साथ इस दिव्य-शक्ति-स्फुरण (इल्हाम) का सघर्ष नहीं हो सकता । एक ही चीज़ अपरिवर्तनीय और पूर्ण है, वह है धर्म का नीति-शास्त्रीय पक्ष । हम धर्मशास्त्र के सिद्धान्तो के विषय मे विवाद कर सकते हैं, परन्तु नैतिकता के नियमो के विषय मे नहीं । उसने कहा था : "मैं दयालुता के निश्चित नियमो को किसी सदेहास्पद सिद्धान्त या अनिश्चित सत्य के लिए नही तोडूगा।" नैथेनिएल कल्वरवेल कहता है : "यदि चर्च कतिपय मिथ्या परम्पराओ पर आश्रित रहने की अपेक्षा विशुद्ध बुद्धि पर आश्रित रहे, तो उसकी स्थिति अधिक सुरक्षित रहेगी ।" इन दो प्रस्थापनाओ मे उसके सिद्धान्त का सार आ जाता है "(१) समस्त नैतिक नियम प्राकृतिक एवं सामान्य प्रकाश मे, शुद्ध बुद्धि के प्रकाश मे निर्मित हुए हैं , और (२) इजीलो (गॉस्पेल्स) की रहस्यात्मक कथाओ मे ऐसा कुछ भी नही है जो शुद्ध बुद्धि के प्रकाश के विपरीत हो।" कल्वरवेल एक नैष्ठिक बुद्धिवादी है, हालाकि वह मानता है कि बुद्धि को भी आस्था की दीप्ति की आवश्यकता रहती है ।

टिप्पणी १०

पृष्ठ २९१ की पहली पादटिप्पणी—

डब्ल्यू० के० क्लिफोर्ड (१८४५-७९) अपने अविश्वास मे कट्टर था । वह चर्च और धर्म-मत (क्रीड) पर बहुत कुपित था । उसने ईसाइयत की यह कहकर निन्दा की थी कि यह "एक भयकर महामारी (प्लेग) है जिसने दो सभ्यताओ का विनाश कर दिया है ।" उसने ईश्वर और मनुष्य के धर्म के स्थान पर मनुष्य को प्रतिष्ठा दी । 'कॉस्मिक इमोशन' (ब्रह्माण्डीय सवेग) शीर्षक अपने निबन्ध को उसने इन शब्दो से समाप्त किया था . "जो लोग समय के सकेतो को समझ सकते हैं, वे उनमें पढ रहे हैं कि 'मनुष्य का राज्य' आ गया है ।"

टिप्पणी ११

पृष्ठ २९६ का दूसरा अनुच्छेद—

एक बात तो स्पष्ट है · ईसाइयत की विजय पुरातन से हमारे अलगाव और मानव मन के इतिहास मे एक परिवर्तित प्रवृत्ति की सूचक है । लोग थक गए थे और आगे शोध करने के लिए अनिच्छुक थे । वे ललचाए-से एक ऐसे धर्म-मत की ओर

मुड गए, जो विक्षुब्ध मन को शान्त करने का वादा करता था, जो सन्देह के स्थान पर निश्चयात्मकता दे सकता था, ढेर सारी समस्याओ के लिए जो अन्तिम व पूर्ण समाधान प्रस्तुत कर सकता था, जो विज्ञान और तर्क की जगह धर्मशास्त्र की ओर उन्हे उन्मुख कर सकता था । अपने आन्तरिक जीवन का स्वय निर्देशन करने में अक्षम तथा अनिच्छुक होने के कारण उन्होने उसका नियन्त्रण एक परम सत्ता के हाथ मे सौप दिया, जो उनकी तुलना मे अपरिमेय, अतुलनीय था । शुद्ध बुद्धि (विवेक) न तो मानव-जाति को सुख देता था और न उसके लिए वादा ही करता था परन्तु विशेषतः ईसाई धर्म मृत्यूपरान्त मनुष्य को सुख का आश्वासन देता था । इस प्रकार गुरुत्वाकर्पण का केन्द्र बदल गया और लोगो की आशाए तथा आकाक्षाए भावी जीवन के साथ जा लगी । वे इस जीवन मे कष्ट पाने के लिए सहर्ष प्रस्तुत हो गए, क्योकि उन्हे विश्वास हो गया था कि जो चीज़ वे यहा नही प्राप्त कर सकेंगे, उसे मृत्यूपरान्त के जीवन मे प्राप्त कर लेंगे । इस प्रकार की मनोदशा प्राचीन ससार के लिए सर्वथा विजातीय थी, पूर्व के आरम्भिक राष्ट्र तक इस प्रवृत्ति से अपरिचित थे—फिर यूनानियो और रोमनो की तो बात ही क्या ? यूनानी व्यक्ति के लिए मृत्यूपरान्त के जीवन की कल्पना अस्पष्ट और भयावह थी, वह तो केवल इसी पार्थिव जीवन को अपने श्रद्धा-सुमन चढा सकता था ।" रोस्तोवज़ेफ लिखित 'ए हिस्ट्री ऑव् द ऐन्श्येन्ट वर्ल्ड', खण्ड ii, 'रोम' (१९२७), पृष्ठ ३५० ।

०

अनुक्रमणिका

●

पारिभाषिक शब्द

अनीश्वरवाद, नास्तिवाद	Agnosticism
अनुभवातीत, अतीन्द्रिय	Transcendental
अलौकिक, लोकोत्तर	Supernatural
अवधारणा	Conception
अहंवाद	Solipsism
आत्मस्वीकृति	Confession
आत्मा	Self
आनुभविक आत्मा, जीवात्मा	Empirical Self
आन्त प्रज्ञ, अन्तर्ज्ञानीय	Intuitive
आस्तिकवाद	Deism
उदारतावाद	Liberalism
उपलब्धि	Attainment
कालोचितता	Expediency
छायाभास	Phantom
जीवन-मूल्य	Values
ज्ञान	Gnosis
ज्ञानमार्ग	Gnosticism
तत्त्वमीमांसा, अध्यात्मविद्या	Metaphysics
तितिक्षावाद	Stoicism
दिव्य जीवन	Divine Life
दैवी सन्देश	Revelation
दैवी सत्ता	Divine Personality
द्वन्द्व विभाजन	Dichotomy
धर्मदर्शन, धर्मशास्त्र	Theology
धर्मनिरपेक्ष मानववाद	Secular Humanism
नास्तिकवाद	Atheism
नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र	Ethics
नृप्रकृतिशास्त्र	Anthroposophy

पाण्डित्यवाद : Scholasticism
रलौकिकता, परलोकवाद : Other-worldliness
पुनर्जागरण Renaissance
पुनर्मिलन Reconciliation
प्रज्ञा Nous
प्रत्यक्षवाद . Positivism
प्रायश्चित्त Atonement
बोधि, सम्बोधि Enlightenment
ब्रह्मवाद Theosophy
भोगवादी, तृप्तिवादी Epicurean
मुक्ति, मोक्ष Release
मृतोत्थान Resurrection
रहस्यवाद Mysticism
वर्णव्यवस्था Class system
विधर्मी, मूर्त्तिपूजक Pagan
विलासप्रिय Apolaustic
शब्दब्रह्म, वाक् Logos
शून्यवाद Nihilism
सकल्पवाद, स्वेच्छावाद . Voluntarism
सप्रदाय Cults
सशयवाद Scepticism
समाधि Ecstasy
सम्मोहन विद्या Hypnotism
सहजज्ञानमूलक . Instinctive
सुधारवादी : Apologist
सृष्टि-उत्पत्ति Genesis
सृष्टि-रचना Creation
हेत्वाभास Sophism

o